श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतः

ध्वन्यालोकः

श्रीमदभिनवगुप्तविरचित 'लोचन' समन्वितः

डॉ. गङ्गासागर रायः

THE
CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN SERIES
42

DHVANYĀLOKA

By

Śrī Ānandavardhanācārya
with 'Locana'
Commentary by Śrī Abhinavagupta
and
Hindi Translation of both Dhvanyāloka and Locana,
Introduction and Appendix

by
Dr. Ganga Sagar Rai, M.A., Ph. D.
All India Kashiraj Trust
Fort Ramnagar, Varanasi

CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN
VARANASI

वक्तव्य

भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि संप्रदाय की उद्भावना और स्थापना एक नूतन अध्याय का प्रारम्भ था जिसकी महत्ता और सर्वतोभावी प्रभाव ने परवर्ती सभी साहित्यशास्त्रियों को इतना अभिभूत और प्रभावित कर दिया कि इसकी महत्ता और याथार्थ्य को अधिकांश ने स्वीकार किया। परवती आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ सदृश आचार्यों ने इसको स्वीकार कर इसको पल्लवित और विकसित किया। इस ध्वनि संप्रदाय का प्रभाव और प्रकाश इतना व्यापक हुआ कि रस संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय, रीति संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय, औचित्य संप्रदाय आदि सभी सिद्धान्त और मत ध्वनिमत की आभा और महत्ता से अभिभूत हो गये। काव्य का मूल तत्त्व रस भी ध्वनि में ध्वनित होने लगा।

काव्य वा साहित्य का मूल आधार बाच्य या अभिधा है और उसी पर लक्षणा, व्यञ्जना और रस आदि सभी आधृत है। बिना वाच्य या अभिधा के अन्य किसी भी साहित्यिक या काव्यतत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती। इस स्थिति में यह स्वाभाविक प्रश्न होता है कि काव्य का अधिवास कहा है- अभिधा या वाच्य में या लक्षणा और व्यञ्जना में। यहाँ यह भी प्रश्न है कि वाच्य में ही वे सभी तत्त्व उपस्थित है जिनके आधार पर लक्षणा व्यञ्जना, ध्वनि आदि के प्रासाद निर्मित होते हैं। अलंकृति, वक्रोक्ति इत्यादि सभी काव्य तत्त्वों का संवाहक वाच्य है। वाच्य के योग्य या उपपन्न अथवा अयोग्य एवं अनुपपन्न होने पर भी अन्य तत्त्वों और वृत्तियों का आश्रय वही है। अत: काव्य की आत्मा का अधिवास वाच्य ही है। यह दूसरी अवस्था है कि सहृदय संस्कृत श्रोता, पाठक या आलोचक अपने आत्मा में जन्म-जन्मान्तर से से निगूढ अपने संस्कारों के अनुरूप उसका ग्रहण और आस्वादन करता है। एक ही काव्य का पाठ करते समय विभिन्न पाठकों की पृथक्-पृथक् भावावस्था होती है जो उनके सहृदय संस्कारों की द्योतक है। इस स्थिति में यथार्थ रूप में काव्य वाच्य ही ठहरता है।

ध्वनि तत्त्व के विषय में एक दूसरा तत्त्व यह भी विचारणीय है कि मुक्तक में तो ध्वनि का यथार्थ रूप में पुङ्खानुपुङ्ख प्रदर्शन किया जा सकता है पर प्रबन्ध काव्यों में सर्वत्र उसकी अवस्थिति को प्रदर्शित करना संभव नहीं प्रतीत होता। रामायण और महाभारत को तो सभी ने सिद्धरस कहा है परन्तु वहाँ भी सर्वत्र ध्वनि का सद्भाव ढूढना कठिन है। समग्र रूप में ही रामायण का पर्यवसान करुण में तथा महाभारत का पर्यवसान शान्त रस में होता है। ध्वनि-संप्रदाय के विरोधियों का सद्भाव तो स्वयं ध्वनिकार आनन्दवर्धन

ने स्वीकार या संभावित कर उनका समाधान किया। परन्तु उत्तरकाल में भी भट्टनायक, महिमभट्ट तथा कुन्तक आदि ने इसका खण्डन किया। परन्तु इस पूर्वापर सभी खण्डन के विपरीत ध्वनि संप्रदाय ने अपनी साख और प्रतिष्ठा सुरक्षित रखी और साहित्य-संप्रदायों में अपना वर्चस्व बनाया।

ध्वनि के इस महनीय ग्रन्थ की टीका में व्याकरणाचार्य पं० हीरामणि मिश्र ने मेरी सहायता की है और इसके संपादन, संशोधन तथा भूमिका में मेरे मान्य मित्र तथा सहपाठी साहित्य-वेदान्त-व्याकरण आदि विविध विषयों के परिनिष्ठित आचार्य कीर्तिशेष डा० रमाकान्त झा ने सहायता की है। इन दोनों आचार्यों का मैं अनुगृहीत हूँ। मेरे मान्य मित्र प्रो० देवेन्द्र कुमार राय का सहज स्नेह सदा सुलभ रहता है। पूर्व टीकाकारों से जो सहायता प्राप्त हुई है उसके लिये उनका मैं अधमर्ण हूँ। अन्त में अपने प्रमाद और अज्ञान से आई त्रुटियों और भ्रान्तियों के लिये मैं विज्ञजनों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

गणेशपुरी, सुसुवाही
वाराणसी
विजया दशमी, २०६१ वि०

गङ्गासागर राय

भूमिका

साहित्यशास्त्र

उपक्रम

साहित्यशास्त्र का क्षेत्र सुविशाल है। इस शास्त्र की सुरम्य वाटिका में अनेक शास्त्रीय सम्प्रदाय-पुष्प प्रस्फुटित हुए हैं। देवभूमिकल्प भारतवर्ष प्रकृति सुन्दरी का मनोरम प्राङ्गण है। प्रकृति-नटी ने अपने करकमलों से इस पावन भूमि को सजाकर सुषमा का निकेतन बनाया है। भारतवर्ष का बाह्य रूप जितना अभिराम है, आभ्यन्तर रूप भी उतना ही प्रभापूर्ण है। इसका बाह्यरूप—उत्तर में हिमाच्छादित हिमगिरि, जिसकी धवल शिखवरु पंक्ति शोभा की मूर्तिमती अवतरणिका है, दक्षिण में नीलाभ नीलार्णव, जिसकी चंचल लहरें इसके पादयुगल को प्रक्षालित कर सुषमा को विस्तार देती हैं; पश्चिम में अरबसागर और पूर्व में श्यामल बंगाल की खाड़ी इसके सुविस्तृत क्षेत्र के साक्षी हैं। इसके मध्य भाग में निरन्तर प्रवाहित हैं—गंगा-यमुना की विमल धारायें। बाह्य रूप की भाँति ही इसका आन्तरिक रूप भी नितान्त अभिराम है। यह ज्ञान-विज्ञान के विकास, गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन के साथ ही ललितकला तथा कमनीय कविता का भी उद्भव स्थल है।

नामकरण

साहित्यशास्त्र की उत्पत्ति तो प्राचीनकाल में ही हुई किन्तु इस विद्या को 'साहित्यशास्त्र' यह नाम अवान्तर में पड़ा। इससे पूर्व इस शास्त्र का नाम 'अलङ्कारशास्त्र' था। 'अलङ्कारशास्त्र' यह अभिधान उस युग का स्मारक है, जब अलङ्कार को काव्य में सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त था। अलङ्कारशास्त्र के मान्य आचार्य भामह, वामन, रुद्रट आदि ने अपने ग्रन्थों का नाम काव्यालङ्कार, काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति आदि रखकर इस शास्त्र में अलङ्कार के प्राधान्य को स्वीकार किया है। अलङ्कार-युग इस शास्त्र के इतिहास में अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा है। अलङ्कार की ही गम्भीर मीमांसा ने वक्रोक्ति और ध्वनि के सिद्धान्त को जन्म दिया है। इस सन्दर्भ में कुमारस्वामी का यह कथन—**'यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापिच्छत्रिन्यायेन**

अलङ्कार-शास्त्रमुच्यते' सर्वथा युक्तिसंगत है। **'प्राधान्यतो व्यपदेशा भवन्ति'** इस न्याय से अलङ्कार विवेचन की प्रधानता के कारण ही यह 'अलङ्कारशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है।

ऊपर कहा जा चुका है कि इस शास्त्र के लिए **'साहित्यशास्त्र'** यह नाम मध्ययुग में प्रयुक्त हुआ था। सर्वप्रथम राजशेखर (दशमी शती) ने इस शास्त्र के लिए **'साहित्यविद्या'** शब्द का प्रयोग किया है—**'पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः'**। साहित्य शब्द की उत्पत्ति के मूल में शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध की बात अन्तर्निहित है इसीलिए भामह ने काव्य का लक्षण किया है—**'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** (काव्यालङ्कार ११६)। साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति है—**'सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्'**। अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ का सहभाव हो वह साहित्य है। शब्द और अर्थ के मञ्जुल समन्वय का नाम ही साहित्य है। आनन्दवर्धन तक साहित्य शब्द का महत्त्व स्वीकृत हो चुका था। आचार्य कुन्तक 'साहित्य' के अभिप्राय प्रकाशकमान्य आलोचक हैं। पश्चात् रुय्यक ने 'साहित्यमीमांसा' और कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' लिखकर इस अभिधान को विशेष लोकप्रिय बनाया है। यद्यपि 'साहित्यशास्त्र' यह नाम 'अलङ्कारशास्त्र' से अर्वाचीन है तथापि इसकी व्यापकता और लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रही है।

उद्भव एवं विकास

भारतीय वाङ्मय में साहित्यशास्त्र एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है। इस शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन विक्रम के आरम्भिक काल से लेकर अद्यावधि प्रायः २००० वर्षों के सुदीर्घकाल में होता रहा है, परन्तु इस शास्त्र का प्रारम्भ किस समय में हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के आरम्भ में साहित्यशास्त्र के उद्भव की चर्चा की है। यह चर्चा किसी भी अलङ्कार-ग्रन्थ में अब तक उपलब्ध नहीं है। बहुत सम्भव है कि राजशेखर किसी पुरातन परम्परा का अनुसरण कर रहे हों। राजशेखर के अनुसार इस शास्त्र की शिक्षा सर्वप्रथम भगवान् शङ्कर ने ब्रह्मा को दी और ब्रह्मा ने इसका उपदेश अनेक देवताओं और ऋषियों को दिया। अट्ठारह उपदेशकों ने अट्ठारह अधिकरणों में इस शास्त्र की रचना की। भरत ने रूपक का, नन्दिकेश्वर ने रस का, बृहस्पति ने दोष का, उपमन्यु ने गुण आदि का निरूपण किया[1]।

---
१. राजशेखर—काव्यमीमांसा, पृ. १

'काव्यादर्श' की हृदयङ्गमा टीका के अनुसार काश्यप और वररुचि ने काव्यादर्श से पूर्व अलङ्कार-ग्रन्थ की रचना की थी। 'अग्निपुराण' में अलङ्कारशास्त्र का विषय प्रतिपादित है, किन्तु इसकी प्राचीनता संदिग्ध है। द्वितीय शतक के अभिलेखों (शिलालेखों) से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय अलङ्कारशास्त्र का उदय हो चुका था[१]।

वैदिक वाङ्मय में अलङ्कारशास्त्र का कहीं भी निर्देश नहीं मिलता, किन्तु आरम्भिक काव्यमय प्रयासों का संकेत अवश्य मिलता है। साहित्यशास्त्र के मूलभूत अलङ्कार उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि के मनोरम उदाहरण वैदिक संहिताओं तथा उपनिषदों में उपलब्ध हैं। अलङ्कारों में उपमा अत्यन्त प्राचीन अलङ्कार है। इसका सम्बन्ध काव्य के प्रथम आविर्भाव से ही है। प्राचीनतम काव्य ऋग्वेद में उषाविषयक एक ऋचा में एक साथ चार उपमाओं की योजना दृष्टिगोचर होती है[२]। एक अन्य मन्त्र में अतिशयोक्ति का सुन्दर प्रयोग हुआ है[३]। उपनिषदों में रूपकातिशयोक्ति के अत्यन्त हृदयावर्जक उदाहरण मिलते हैं[४]। इस प्रकार वेदों और उपनिषदों में अलंकारों की योजना स्थान-स्तान पर दीख पड़ती है[५]। इससे स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि काव्य के आलंकारिक तत्त्वों से सुपरिचित थे। आर्षकाव्य 'रामायण' और 'महाभारत' में ऐसी अनेक काव्यात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं, जो अलङ्कारों के प्रशस्त उदाहरण हैं। यास्क का 'निरुक्त' भी अलङ्कारशास्त्रविषयक कुछ तथ्य प्रस्तुत करता है। 'निरुक्त' में भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और रूपक आदि अलङ्कारों के विषय में कुछ मौलिक बातें कही गयीं हैं[६]। यास्क ने उपमालङ्कार के मूलतत्त्व को अपने पूर्ववर्ती गार्ग्य नामक आचार्य के नाम से उद्धृत भी किया है। इससे स्पष्ट होता है कि यास्क से पहले भी अलङ्कारों के मूलतत्त्वों और उदाहरणों पर विचार होता था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपमा के उपमित, उपमान एवं सामान्य आदि धर्मों का उल्लेख आया है[७]। स्पष्ट है कि वैयाकरणों में भी उपमा की विशेष चर्चा थी।

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग-२, पृ. २।
२. ऋग्वेद, १।१२४।७।
३. ऋग्वेद, १।१६४।२०।
४. कठोपनिषद्, १।३।३; श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४।५; मुण्डकोपनिषद्, ३।१।१।
५. द्रष्टव्य, पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग-१, पृ. ५-८।
६. निरुक्त, ३।१३।१८।
७. अष्टाध्यायी, २।३।७२; २।१।५५; २।१।५६। (निरुक्त ३।१३)

साहित्यशास्त्र (अलङ्कारशास्त्र) और नाट्यशास्त्र का सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। इसीसे अलङ्कारशास्त्र और नाट्यशास्त्र का विधिवत् विकास माना जा सकता है। आचार्य भरत ने सुवर्णनाभ, नन्दिकेश्वर और कुचुमार आदि प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है। इसकी पुष्टि वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से होती है[१]। भामह ने मेधाविन् और दण्डी ने काश्यप, वररुचि, ब्रह्मदत्त और नन्दिस्वामी (नन्दिकेश्वर) प्रभृति आलङ्कारिकों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में नन्दिकेश्वर के विषय में लिखा है—**'रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः'**। इससे प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर रस के प्रथम आचार्य थे। श्री रामकृष्णकवि के अनुसार नन्दिकेश्वर ने 'नन्दिकेश्वर-संहिता' का प्रणयन किया था जिसका केवल पात्र सम्बन्धी परिच्छेद वर्तमान 'अभिनयदर्पण' के नाम से अवशिष्ट है[२]। भरतमुनि को 'नाट्यशास्त्र' के प्रणयन की प्रेरणा नन्दिकेश्वर से मिली थी। 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार तण्डु अपरनाम नन्दिकेश्वर ने अङ्हारों, करणों और रेचकों के अभिनय की शिक्षा भरत को दी थी[३]। 'नाट्यशास्त्र' और 'अभिनयदर्पण' की विषयवस्तु का तुलनात्मक अध्ययन भी 'अभिनयदर्पण' की प्राचीनता को सिद्ध करता है[४]।

भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' सभी ललितकलाओं, नाट्य, संगीत, छन्द, अलङ्कार आदि का समृद्ध कोश है। इसके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। प्रो. मैक्डानल इसे छठी शती की, हरप्रसाद शास्त्री २०० ई. पूर्व की और सुशील कुमार दे ५०० ई. पूर्व की रचना मानते हैं। पी.वी. काणे इस ग्रन्थ के प्रणयन की पूर्वसीमा ई. सन् से पूर्व और उत्तर सीमा कालिदास के समय तक स्वीकार करते हैं[५]। जहाँ तक काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रश्न है 'नाट्यशास्त्र' में चार अलङ्कारों (उपमा, रूपक, दीपक, यमक), दस गुणों तथा ३६ लक्षणों की चर्चा की गयी है। भरतमुनि रसनिष्पत्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। सभी आलंकारिकों ने इस विषय में भरतमुनि का समादर किया है। 'नाट्यशास्त्र' पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमें

---

१. कामसूत्र, १।१।१३; १।१।१७।
२. दि क्वाटर्ली जर्नल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी, भाग-३, पृ. २५-२६।
३. नाट्यशास्त्र, ४।१७,१९।
४. द्रष्टव्य, नगेन्द्र उपाध्याय 'नन्दिकेश्वर', त्रिपथगा, जून १९५७, पृ. ७३-७९।
५. साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका, पृ. ८-१०।

अभिनवगुप्त की टीका 'अभिनव भारती' ही प्रसिद्ध तथा अवशिष्ट है, शेष टीकाएँ प्रायः लुप्त हो चुकी हैं[१]।

भरतमुनि के पश्चात् आलंकारिकों में प्रमुख भामह हैं जिन्होंने अलङ्कारशास्त्र पर 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ की रचना की। उसमें उन्होंने चमत्कृतिरूप अलङ्कृति को काव्य का सर्वस्व सिद्ध किया है। 'काव्यालङ्कार' में छः परिच्छेद हैं। भामह ने गद्यकाव्य के दो भेद किए हैं—कथा और आरव्यायिका। इन्होंने दस गुणों के स्थान पर केवल तीन गुण—माधुर्य, प्रसाद और ओजस् ही स्वीकार किए हैं। इन्होंने अलङ्कार और वक्रोक्ति को काव्य में महनीय स्थान दिया है। भामह ने वररुचिकृत 'प्राकृतप्रकाश' की भी एक टीका लिखी है।

कश्मीरनरेश जयापीड (७७९-८१९ ई.) के सभापण्डित उद्भट ने भामह के 'काव्यालङ्कार' पर 'भामहालङ्कारविवरण' नामक टीका लिखी। उद्भट का एक अन्य ग्रन्थ 'अलङ्कारसारसंग्रह' है जिसमें छः परिच्छेदों में प्रधानरूप से अलङ्कारों का वर्णन है। उद्भट ने ध्वनि पर आधृत तीन वृत्तियों—उपनागरिका, ग्राम्या, परुषा को स्वीकारा है। उद्भट ने ही सर्वप्रथम शान्तरस को नवम रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

नवम शती के मध्य भाग में आनन्दवर्धन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के माध्यम से ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना की। आनन्दवर्धन और ध्वन्यालोक पर आगे विस्तृत विचार किया जायेगा। ध्वनिसिद्धान्त के उदय और विकास-काल में ही कुछ ऐसे आचार्य भी हुए, जिन्होंने रस-सिद्धान्त का विवेचन किया। ऐसे आचार्यों में भट्ट लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त प्रमुख हैं। इन सभी ने 'नाट्यशास्त्र' पर टीकाएँ लिखीं। इन्होंने भरत के, रससूत्र—'विभावानुभावव्यभिचारिभावसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' की व्याख्या में अपने-अपने रसविषयक मतों की स्थापना की। इस सन्दर्भ में सबसे प्रामाणिक मत अभिगुप्त का माना जाता है। इसी समय कुछ ऐसे भी आचार्य हुए जिन्होंने ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया। ध्वनिविरोधी आचार्यों में कुन्तक और महिमभट्ट ने क्रमशः अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' और व्यक्तिविवेक' में ध्वनि का खण्डन कर काव्य में वक्रोक्ति और अनुमान-सिद्धान्त की स्थापना की।

इसी समय कतिपय ऐसे भी काव्यशास्त्री हुए जिन्होंने इन विवादों से तटस्थ रहकर काव्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे, किन्तु इनकी कृतियों में रस और

१. डॉ. सूर्यकान्तशास्त्री, संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, पृ. ३५३।

ध्वनि की झलक स्पष्ट दीख पड़ती है। रुद्रट (८००-८५० ई.) ने सर्वप्रथम अलङ्कारों का वैज्ञानिक आधार पर वर्गीकरण किया। उन्होंने १६ अध्यायों के 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों का, 'लाटी' नामक रीति का और रस-सिद्धान्त का विवेचन किया। राजशेखर (९०० ई.) की 'काव्यमीमांसा' भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है, इसमें कवि के लिए अपेक्षित सामग्री का संकलन है[1]। रुद्रभट्ट (१००० ई. से पूर्व) ने अपने 'शृङ्गारतिलक' में केवल रस का विवेचन किया है और नवम रस के रूप में शान्त को मान्यता दी है।

धारानरेश मुञ्ज के सभाकवि धनञ्जय (दशम शती) ने नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'दशरूपक' की रचना की, जिसमें चार प्रकाश और ३०० कारिकायें हैं। इस ग्रन्थ में रूपक के वस्तु, नेता और रस इन तीनों तत्त्वों का सम्यग् विवेचन है। धनञ्जय के अनुज धनिक ने दशरूपक पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी। अवलोकसहित 'दशरूपक' एक अत्यन्त प्रसिद्ध रचना बन गया और इसे नाट्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में मान्यता मिली।

धारानरेश भोज (१००५-१०५४ ई.) ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृङ्गारप्रकाश' नामक दो महनीय ग्रन्थों की रचना की। पाँच परिच्छेदों में विभक्त सरस्वतीकण्ठाभरण' में काव्य के गुण, दोष अलङ्कार, रीति और रस का प्रतिपादन हुआ है। इस ग्रन्थ में पूर्ववर्ती आचार्यों की रचनाओं से बहुशः उद्धरण दिए गये हैं। ३६ परिच्छेदों के 'शृङ्गारप्रकाश' में नाट्यशास्त्रसहित सभी काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का निरूपण समाविष्ट है। भोज ने रसों में शृङ्गार को सर्वप्रमुख रस माना है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के तीन परिच्छेदों पर रत्नेश्वर की 'रत्नार्णव' नामक प्रसिद्ध टीका है।

अभिनवगुप्त के पट्टशिष्य क्षेमेन्द्र (११वीं शती) ने काव्यशास्त्रविषयक दो ग्रन्थों की रचना की—'औचित्य विचारचर्चा' और 'कविकण्ठाभरण'। 'औचित्यविचारचर्चा' एक आलोचनात्मक ग्रन्थ है जिसमें औचित्य को रसका प्राणतत्त्व माना गया है। क्षेमेन्द्र का विवेचन ध्वनि सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से प्रभावित है। 'कविकण्ठाभरण' 'काव्यमीमांसा' की शैली का ग्रन्थ है, जिसमें काव्य सामग्री तथा कविकर्तव्यों का निरूपण हुआ है।

१. द्र.—काव्यमीमांसा-हिन्दी अनुवाद सहित। संपादक तथा अनुवादक डॉ. गंगासागर राय (पञ्चम संस्करण) चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

मम्मट (११वीं शती) ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'काव्यप्रकाश' में ध्वनिसिद्धान्त को एक नई चेतना प्रदान की। दश उल्लासों में विभक्त 'काव्यप्रकाश' में नाट्यशास्त्र को छोड़कर सभी काव्यशास्त्रीय विषयों का प्रौढ़ एवं युक्तियुक्त विवेचन हुआ है। 'काव्यप्रकाश' पर आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त का स्पष्ट प्रभाव है। अपने ग्रन्थ की कारिकाओं पर मम्मट ने स्वयं वृत्ति लिखी है। 'काव्यप्रकाश' की प्रसिद्धि और लोकप्रियता समस्त भारत में सुविख्यात है।

कश्मीरी राजानक रुय्यक (१२वीं शती का पूर्वार्ध) ने 'अलङ्कारसर्वस्व' की रचना की। इसके दो भाग हैं—सूत्र और वृत्ति। कुछ विद्वान् सूत्र भाग को रुय्यक की रचना मानते हैं और वृत्ति भाग को उनके शिष्य मङ्ख की, किन्तु अधिकतर विद्वान् दोनों को रुय्यक की ही कृति मानते हैं। रुय्यक ने 'अलङ्कारसर्वस्व' में अलङ्कारों की व्याख्या में वैज्ञानिक पद्धति अपनाई है। उनके अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं—सहृदयलीला, अलङ्कारानुसारिणी, साहित्यमीमांसा, नाटकमीमांसा तथा अलङ्कारवार्तिक। रुय्यक ने 'अलङ्कारसर्वस्व' पर अलक, जयरथ, समुद्रबन्ध और विद्याचक्रवर्ती ने टीकाएँ लिखी हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैन लेखक वाग्भट (१२वीं शती का पूर्वार्ध) ने 'वाग्भटालङ्कार' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसके पाँच परिच्छेदों में काव्य, काव्यरूप, भाषा, गुण, अलङ्कार, रस और कविसमय का विवेचन किया गया है। १२वीं शती के मध्यवर्ती प्रसिद्ध वैयाकरण और काव्यशास्त्री जैनाचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया, जिस पर उन्होंने स्वयं ही 'अलङ्कार चूडामणि' नामकी वृत्ति और 'विवेक' नामकी टीका लिखी। काव्यानुशासन एक संग्रहग्रन्थ है, जिसमें नाट्यशास्त्रसहित समस्त काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन है। १२वीं शती में ही रामचन्द्र और गुणचन्द्र के नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' का प्रणयन हुआ। इसमें भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से अनेक स्थलों पर भिन्नमतों को अपनाया गया है। जयदेव (१२वीं शती) ने 'चन्द्रालोक' की रचना की। इसमें नाट्यशास्त्र को छोड़कर समस्त काव्यशास्त्रीय विषयों का मनोरम शैली में वर्णन किया गया है[1]। शारदातनय (१३वीं शती) ने 'भावप्रकाशन' की रचना की, जिसमें

१. द्र.—चन्द्रालोक हिन्दी संस्कृत टीका सहित। टीकाकार डॉ. गङ्गासागर राय, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी (षष्ठ संस्करण)।

१० अध्याय हैं इस ग्रन्थ पर भरतमुनि का स्पष्ट प्रभाव है। शारदातनय रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। १४वीं शती के सिंहभूपाल नामक एक राजकुमार ने 'रसार्णव सुधाकर' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें तीन अध्यायों में रस और नाट्यशास्त्र का प्रतिपादन किया गया है[1]। इसी समय के मिथिलावासी भानुदत्त ने 'रसमञ्जरी' और 'रसतरङ्गिणी' नामक कृतियों में रस का विवेचन किया। १४वीं शती के पूर्वार्ध में ही उत्कलनिवासी विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्यदर्पण' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। इसमें १० परिच्छेदों में नाट्यशास्त्रसहित समस्त काव्यशास्त्रीय विषयों का सुबोध शैली में प्रतिपादन किया गया है।

१५वीं शती के आरम्भ में राजकुमार वेमभूपाल ने 'साहित्यचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें १३ अध्यायों में शब्दालङ्कारों तथा अर्थालङ्कारों का वर्णन है। १६वीं शती में बंगवासी रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमें कृष्ण की प्रशंसा के उदाहरण दिए गये हैं। रूपगोस्वामी के भाई जीवगोस्वामी ने इस पर 'लोचनरोचनी' नाम की टीका लिखी है। अप्पय दीक्षित (१६०० ई.) ने 'कुवलयानन्द', 'चित्रमीमांसा' और 'वृत्तिवार्तिक' नामक तीन काव्यशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनमें 'कुवलयानन्द' सर्वाधिक लोकप्रिय कृति है। इसका आधार जयदेव कृत 'चन्द्रालोक' का पंचम मयूख है, जिसमें अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। 'चित्रमीमांसा' में अलङ्कारों की वैज्ञानिक समीक्षा की गई है। 'वृत्तिवार्तिक' में दो अध्यायों में शब्दशक्ति पर विमर्श किया गया है। दाक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण पण्डितराज जगन्नाथ (१५९०-१६६५ ई.) ने काव्य, व्याकरण और काव्यशास्त्र इन तीनों विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे। पण्डितराज का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'रसगङ्गाधर' और 'चित्रमीमांसाखण्डन' हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में 'रसगङ्गाधर' अत्यन्त उच्चकोटि की पाण्डित्यपूर्ण कृति है। 'चित्रमीमांसाखण्डन' में पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित के ग्रन्थ 'चित्रमीमांसा' का खण्डन किया है। १८वीं शती के आरम्भ में विश्वेश्वर के 'अलङ्कारकौस्तुभ' तथा 'अलङ्कारकर्णाभरण नामक ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, जिनमें अलङ्कारों का विवेचन है।

---

१. कतिपय विद्वान् इस ग्रन्थ को सिंहभूपाल के आश्रित कवि वीरेश्वर की रचना मानते हैं। पा.टि. संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, पृ. ३५८।

संस्कृत काव्यशास्त्र में कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जिनमें उनके लेखकों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशस्ति में रचित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। ऐसी रचनाओं में विद्याधर की एकावली, विश्वेश्वर की 'चमत्कारचन्द्रिका', यज्ञनारायण का 'अलङ्कार-रत्नाकर' नृसिंहकवि का 'नञ्जराजयशोभूषण' तथा सदाशिवमखी का 'रामवर्मयशोभूषण' प्रमुख हैं।

इसके अतिरिक्त 'अग्निपुराण' में भी रीति, अलङ्कार, रस गुण, दोष तथा ध्वनि प्रभृति काव्यशास्त्रीय विषयों पर विचार किया गया है। पहले यह मान्यता थी कि 'अग्निपुराण' ही काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है किन्तु अब विद्वानों की सम्मति में 'अग्निपुराण' बहुत बाद की रचना है।

साहित्यशास्त्र के सम्प्रदाय

काव्य की आत्मा के विषय में काव्यशास्त्रियों का चिन्तन एकरूप नहीं रहा है। इस मतभिन्नता ने सम्प्रदायों को जन्म दिया। इन सम्प्रदायों के अध्ययन से समस्त काव्यशास्त्रीय प्रवृत्तियों का बोध हो जाता है। ये पाँच सम्प्रदाय और उनके प्रवर्तक आचार्य निम्नलिखित हैं—

१. रस-सम्प्रदाय—नन्दिकेश्वर, भरत
२. अलङ्कार-सम्प्रदाय—भामह, उद्भट, रुद्रट
३. रीति-सम्प्रदाय—दण्डी, वामन
४. वक्रोति-सम्प्रदाय—कुन्तक
५. ध्वनि-सम्प्रदाय—आनन्दवर्धन

रस-सम्प्रदाय

रस-सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य नन्दिकेश्वर हैं—**'रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः'**। कहा जाता है कि ब्रह्मा ने अपने १८ मानसजात शिष्यों में रसविषयक उपदेश नन्दिकेश्वर को दिया था। परन्तु रस का वास्तविक विवेचन तो भरतमुनिप्रणीत 'नाट्यशास्त्र' में ही प्राप्त होता है। भरतमुनि का रससूत्र है—**'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'**। अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरतमुनि के इस रससूत्र की अनेक प्रकार की आलोचना-प्रत्यालोचना हुई। इस सूत्र के चार प्रमुख व्याख्याता हुए, जिन्होंने रसविषयक चार सिद्धान्तों की स्थापना की—भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। रससूत्र की इन चार

व्याख्याओं का सार अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' और मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में उपलब्ध होता है।

रससूत्र के प्रथम व्याख्याकार भट्टलोल्लट के अनुसार रसास्वादन का यथार्थ आधान नायक-नायिका में होता है। सामाजिकों को नट-नटी के माध्यम से प्रतीतिजन्य रसानुभूति होती है। भट्टलोल्लट का यह मत 'आरोपवाद' कहा जाता है। भट्टलोल्लट ने विभावादि भावों में और रस में कार्यकारणभाव मानां है और 'निष्पत्ति' से उनका तात्पर्य 'उत्पत्ति' से है। इस मत में वास्तविक रसानुभूति दुष्यन्त प्रभृति विभावों में होती है। परन्तु सामाजिक नटादि पर विभावादि का आरोपकर रसानुभूति कर लेता है। इस मत में सामाजिक में रसानुभूति का स्थान गौण है। भट्टलोल्लट की अवधारणाओं का उनके परवर्ती आचार्य शङ्कुक ने खण्डन किया। शङ्कुक की मान्यता है कि रस की उत्पत्ति नहीं होती, उसकी तो अनुमिति होती है। उनके अनुसार सामाजिक दुष्यन्तादि विभावों में स्थित रस का नटादि के अभिनव द्वारा अनुमान करता है और यही रसानुमान उनकी रसानुभूति का कारण बनता है। शङ्कुक का यह मत 'अनुमितिवाद' के नाम से जाना जाता है। शङ्कुक की यह मान्यता लोकरुचि के प्रतिकूल होकर भी एक विशेषता रखती है और वह विशेषता है रस को वस्तुपरक स्थिति से उभार कर व्यक्तिपरक स्थिति में रखना।

रससूत्र के तृतीय व्याख्याकार हैं—भट्टानायक। इनके मत में रस की स्थिति न तो नायक-नायिका में होती है और न नट-नटी में। वह तो सहृदय सामाजिक में होती है। अपने मत की व्याख्या के लिए भट्टनायक ने अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व, इन तीन शक्तियों की कल्पना की है। अभिधाशक्ति से सामाजिक (प्रेक्षक) शब्दार्थ ग्रहण करता है। भावकत्व व्यापार द्वारा विभाव अनुभाव और संचारीभाव का साधारणीकरण सम्पन्न होता है। यह साधारणीकरण सीमित न होकर सर्वत्र व्याप्त रहता है। अत: रस इसके द्वारा सभी सामाजिकों के लिए सामान्य रूप से अनुमितियोग्य बन जाता है। तृतीय भोजकत्व शक्ति (व्यापार) से रसानुभव होता है। रस की भुक्ति के प्रतिपादन से भट्टनायक का यह सिद्धान्त 'भुक्तिवाद' कहलाता है। रससिद्धान्त के क्षेत्र में साधारणीकरण प्रक्रिया को प्रस्तुत करने का श्रेय भट्टनायक को ही है। इन्होंने रस को विषयगत न मानकर विषयिगत माना है।

रससूत्र की सबसे प्रामाणिक एवं स्वीकार्य व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त ने की है। उनके अनुसार रस की न तो उत्पत्ति होती है, न अनुमिति और

न भुक्ति ही। उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है, नित्य आत्मा में अतीत के अनुभव जन्मजन्मान्तर से वासनारूप में प्रसुप्त पड़े रहते हैं। विभाव, अनुभाव, और संचारिभाव के द्रावक प्रदर्शन से ये आत्मप्रसुप्त वासनायें उद्‌बद्ध होकर रस के रूप में परिणत हो जाती हैं। अभिनवगुप्त भट्टनायक के साधारणीकरण-सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, किन्तु भावकत्व व्यापार को न मानकर व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि सामाजिक (प्रेक्षक) के अन्त:करण में वासनारूप में निहित मनोभाव (स्थायिभाव) व्यञ्जना द्वारा साधारणीकृत होकर रसरूप में ढल जाते हैं और प्रेक्षक उसका अनुभव करने लगता है। इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति होती है। अतएव अभिनवगुप्त के इस सिद्धान्त को 'अभिव्यक्तिवाद' कहते हैं। मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।

अलङ्कार-सम्प्रदाय

अलङ्कार-सम्प्रदाय का सर्वप्रथम ग्रन्थ भामह का 'काव्यालङ्कार है। इसमें अलङ्कारों का सविस्तर वर्णन किया गया है। भामह अलंकृति अर्थात् चमत्कृति को ही काव्य का सर्वस्व स्वीकार करते हैं। उन्होंने रस तथा भाव को स्वतन्त्र महत्त्व न देकर अलङ्कारों के भीतर ही उनका समावेश किया है। 'काव्यालङ्कार' में ३८ अलङ्कारों का वर्णन हैं। अलङ्कार-सम्प्रदाय के दूसरे मूर्धन्य आचार्य हैं दण्डी। इन्होंने 'काव्यादर्श' के द्वितीय-तृतीय परिच्छेदों में अलङ्कारों का निरूपण किया है। इसमें उपमा और यमक अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशयोक्ति को अलङ्कार का प्राणतत्त्व माना है। अलङ्कार-सम्प्रदाय के तृतीय आचार्य उद्‌भट हैं। इन्होंने अपने 'अलङ्कारसंग्रह' में अलङ्कारों का सम्यक् विवेचन किया है। यहाँ अलङ्कारों की संख्या ५० तक पहुँच गई है। आचार्य वामन ने 'काव्यालङ्कारसूत्र' में अलङ्काररों के महत्त्व पर बल देते हुए उन्हें काव्य के बाह्य सौन्दर्य का साधनमात्र ही नहीं, वरन् काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य का पूरक भी माना है[१]। रुद्रट ने 'काव्यालङ्कार' में मुख्यरूप से अलङ्कारों का ही वर्णन किया है। आचार्य रुद्रट के समय तक अलङ्कारों की संख्या ७० तक पहुँच गई थी। अलङ्कारों के विवेचन करने वाले आचार्यों में मम्मट, प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक, भोज, राजशेखर, जयदेव, विश्वनाथ कविराज, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र, १।१२।

रीति-सम्प्रदाय

आचार्य वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनसे पहले भामह और दण्डी ने वैदर्भ और गौड, इन दो काव्यमार्गों का प्रतिपादन किया था किन्तु 'रीति' का यथार्थ वैज्ञानिक विवेचन वामन के काव्यालङ्कारसूत्र में हुआ है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। रीति से उनका तात्पर्य विशिष्ट पदरचना से है—'**विशिष्टपदरचना रीतिः**'। काव्यगत गुणों को वामन ने रीति का अनिवार्य धर्म माना है। यद्यपि रीति के मूलतत्त्व के रूप में गुणों का विवेचन भरतमुनि और दण्डी ने किया है, तथापि रस और अलङ्कार की भाँति रीति की परम्परा को एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित करने का श्रेय वामन को ही है। उन्होंने गुणों और अलङ्कारों के मौलिक भेद को स्पष्ट करके यह सिद्ध किया कि केवल अलङ्कारों को काव्य के शोभाधायक तत्त्व नहीं माना जा सकता। उनकी मान्यता है कि काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण हैं और गुणों की समृद्धि के कारण हैं—अलङ्कार[1]। वामन ने दश शब्द गुण और दश अर्थगुण माने हैं और वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली इन तीन रीतियों को स्वीकारा है। आचार्य रुद्रट ने उपर्युक्त तीन रीतियों के अतिरिक्त चौथी लाटी रीति की स्थापना की। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने गुणों तथा अलङ्कारों से रीति का पृथक् अस्तित्व नहीं माना। भोज ने मागधी और आवन्ती नामक दो अन्य रीतियों की उद्भावना कर रीतियों की संख्या छः तक पहुँचा दी।

ध्वनि और रस-सम्प्रदाय के अभ्युदय से रीति-सम्प्रदाय को आघात लगा; क्योंकि इन सम्प्रदायों से सम्बद्ध आचार्यों ने रीति को काव्य का प्राणतत्त्व स्वीकार नहीं किया। इन दो सम्प्रदायों के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ रीति-सम्प्रदाय की आधारभूमि खिसकती चली गई और उसे अधिक मान्यता नहीं मिल सकी।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं। उनका 'वक्रोक्तिजीवित' इस सम्प्रदाय का एकमात्र प्रौढ़ ग्रन्थ है। कुन्तक से पूर्व भामह और दण्डी ने 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग कथन की अलङ्कृति अर्थ में किया है। रुद्रट

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र, ३।२।१।२, 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।

ने भी वक्रोक्ति की व्यापकता पर कुछ प्रकाश डाल कर अन्ततः इसे शब्द का अलङ्कार मान कर छोड़ दिया। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के क्षेत्र को वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध रचना तक फैलाया। कुन्तक की वक्रोक्ति शब्द की अलङ्कृति मात्र न रहकर काव्य के शरीर और आत्मा दोनों को सुसज्जित कर देने वाला एक जीवन्त तत्त्व बन गई। कुन्तक ने रस और ध्वनि तक के समग्र व्यापारों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत घटित होने वाले व्यापार में समाविष्ट माना है।

ध्वनि-सम्प्रदाय

आनन्दवर्धन के प्रशस्त ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' ने जिस विचारधारा का सूत्रपात किया वही ध्वनि-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। 'ध्वन्यालोक' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी ध्वनि-तत्त्व पर विचार-विमर्श किया था और ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित किया था[१]। परन्तु उपलब्ध साहित्य में 'ध्वन्यालोक' ही ध्वनि-सम्प्रदाय का प्राचीनतम प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में यह स्थापित किया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है और उस ध्वनि की अभिव्यक्ति व्यञ्जना व्यापार के द्वारा होती है। विषय का प्रवर्तन करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि न तो अलङ्कारों में काव्य की आत्मा होने की क्षमता है और न अलङ्कृतिरूप गुणात्मा रीति में। अलङ्कार तो शब्दचित्र तथा अर्थचित्र रूप काव्य के बाहरी अङ्ग ही है। रीति भी पदसंघटनात्मक व्यापार होने के कारण काव्य की आत्मा नहीं हो सकती। परिणामतः काव्य की आत्मा ध्वनि है जो गुणों का आश्रय है और अलङ्कारों द्वारा अलंकार्य है। इस ध्वनि की अभिव्यक्ति अभिधा और लक्षणा व्यापार से न होकर व्यञ्जना द्वारा होती है।

आनन्दवर्धन द्वारा स्थापित ध्वनितत्त्व अत्यन्त व्यापक है. इसमें अलङ्कार, गुण तथा रीति आदि सभी का अन्तर्भाव है। आनन्दवर्धन रस को भी ध्वनि का ही अङ्ग मानते हैं। इसीलिए आनन्दवर्धन ने वस्तु-ध्वनि, अलङ्कार-ध्वनि एवं रस-ध्वनि के रूप में ध्वनि के तीन प्रमुख भेद माने हैं। 'ध्वन्यते इति ध्वनिः, इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कुछ भी काव्य के शब्दों से ध्वनित हो और व्यङ्ग्यार्थ के रूप में सामाजिक (प्रेक्षक) को अनुमृत हो वह ध्वनि है। अतः आस्वाद रूप रस भी ध्वनि का रूप ले लेता है।

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः। ध्वन्यालोक, १।१।

'ध्वन्यालोक' के माध्यम से काव्य शास्त्र-क्षेत्र में आनन्दवर्धन ने एक स्थायी महत्त्व के युग का प्रवर्तन किया है। इन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का ऐसा सशक्त रूप प्रस्तुत किया कि ध्वनिविरोधी आचार्यों की एक न चली। सभी परवर्ती आचार्यों ने सम्मानपूर्वक ध्वनि-सिद्धान्त को स्वीकार किया। मम्मट सदृश आचार्यों ने ध्वनि-सिद्धान्त का समर्थन करते हुए ध्वनिविरोधियों के सभी तर्कों को ध्वस्त कर दिया। आनन्दवर्धन से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन और उसकी व्याख्या होती रही। काव्य की आत्मा ध्वनि के भेदोपभेदों का सूक्ष्मतम वर्गीकरण १०४५५ संख्या तक पहुँच गया। 'ध्वन्यालोक' पर अभिनवगुप्त की 'ध्वन्यालोकलोचन' नाम की टीका अत्यन्त प्रामाणिक व्याख्या है। यह टीका स्वयं में एक मौलिक ग्रन्थ बन गई है। ध्वनितत्त्व की नींव को परिपुष्ट करने में इसका अत्यधिक महत्त्व है।

आनन्दवर्धन

ध्वनि-सिद्धान्त के उद्भावक के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन का नाम साहित्यशास्त्र के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा। व्याकरणशास्त्र में जो स्थान पाणिनि को प्राप्त है और अद्वैत वेदान्त में जो स्थान शंकराचार्य को मिला है, साहित्यशास्त्र के ध्वनिसिद्धान्त में वही स्थान आनन्दवर्धन का है। आलोचनाशास्त्र को एक नयी दिशा देने का श्रेय आनन्दवर्धन को प्राप्त है। पण्डितराज जगन्नाथ का यह कथन सर्वथा सत्य है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने आलङ्कारिकों का मार्ग सदा के लिए व्यवस्थापित तथा प्रतिष्ठित कर दिया[१]। इनकी प्रसिद्ध रचना 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तरकारी ग्रन्थरत्न है।

आचार्य आनन्दवर्धन के देश-काल से हम सुपरिचित हैं। ये काश्मीर के निवासी थे और काश्मीर नरेश अवन्ति वर्मा (८५५-८८४ ई.) के सभापण्डितों में अन्यतम थे। इस विषय में कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' में यह कथन सर्वथा मान्य एवं प्रामाणिक है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।।

(राजतरङ्गिणी, ५।४)

कल्हण के उपर्युक्त कथन की पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी होती है। 'ध्वन्यालोक' के टीकाकार अभिनवगुप्त ने अपने 'क्रमस्तोत्र' की रचना ९९१ ई. में की।

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ. २०४।

आनन्दवर्धन के अन्य ग्रन्थ 'देवीशतक' के ऊपर कैयट ने ९९७ ई. के आस-पास व्याख्या लिखी। राजशेखर (नवमशती का उत्तरार्ध तथा दशम शती का आरम्भ) ने आनन्दवर्धन के नाम तथा मत का स्पष्ट उल्लेख किया है। निष्कर्षत: आनन्दवर्धन का समय नवमशती का मध्यभाग सुनिश्चित होता है।

कुछ विद्वान् अवन्तिवर्मा के पुत्र शङ्करवर्मा (८८३-९२ ई.) के साथ भी आनन्दवर्धन की समसामयिकता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। कवि के रूप में प्रसिद्धि आनन्दवर्धन ने अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में प्राप्त की थी और जब उन्होंने 'ध्वन्यालोक' का प्रणयन किया तब निश्चितरूप से वे प्रौढावस्था में रहे होंगे; क्योंकि उन्होंने अपनी सभी काव्यकृतियों का उल्लेख 'ध्वन्यालोक' में किया है। अतएव आनन्दवर्धन का शङ्करवर्मा का समकालिक होना भी युक्तियुक्त है। न्यायमञ्जरी के रचयिता जयन्तभट्ट शङ्करवर्मा के समसामयिक थे। जयन्तभट्ट ने आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का 'न्यायमञ्जरी' में खण्डन किया है—

एतेन शब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः।
यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम्।।

यह सम्भव है कि आनन्दवर्धन जयन्तभट्ट से कुछ पहले, किन्तु समकालिक थे और साथ ही शङ्करवर्मा के भी समसामयिक थे। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण से भी आनन्दवर्धन का समय ९०२ ई. माना जा सकता है[१]।

आनन्दवर्धन के वंश के विषय में कुछ विशेष सूचना उपलब्ध नहीं है। केवल 'देवीशतक' के अन्त में उल्लेख है कि वे 'नोण' के पुत्र थे। 'काव्यानुशासनविवेक' में हेमचन्द्र ने 'देवीशतक' का उद्धरण देकर आनन्दवर्धन को 'नोणसुत' कहा है (पृ. २२५) श्रीविष्णुपद भट्टाचार्य के अनुसार 'इण्डिया आफिस लायब्रेरी' की पाण्डुलिपि की तृतीय उद्योत की पुष्पिका में आनन्दवर्धन के पिता नोण या नाणोपाध्याय प्रमाणित होते हैं[२]।

आनन्दवर्धन की रचनायें

आनन्दवर्धन ने आलोचना-ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के अतिरिक्त अनेक काव्यग्रन्थों की भी रचना की, जिनमें 'देवीशतक' 'विषमबाणलीला' और

---

१. द्रष्टव्य, ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, विष्णुपद भट्टाचार्य की भूमिका।
२. डॉ. जगन्नाथ पाठक, ध्वन्यालोक (विद्याभवन ग्रन्थमाला ९७ की भूमिका, पृ. २१)।

'अर्जुनचरित' प्रसिद्ध है। इनमें अन्तिम दो ग्रन्थों का उल्लेख ध्वन्यालोक (२।१.२।२७) में मिलता है। 'देवीशतक' की रचना उन्होंने विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' के बाद की थी, जैसा निम्नलिखित श्लोक से ज्ञात होता है—

येनानन्दकथायां त्रिदशानन्दे च लालिता वाणी।
तेन दुष्कृतमेतत् स्तोत्रं देव्याः कृतं मया।।

'देवीशतक' के अन्तिम उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में कैयट ने भी आनन्दवर्धन की 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' दोनों कृतियों का संकेत किया है और पेटर्सन की द्वितीय आख्या के अनुसार, जैसा कि विष्णुपद भट्टाचार्य ने लिखा है, 'सारमुच्चय' नामक ग्रन्थ में 'विषमबाणलीला' का उल्लेख है।

ध्वन्यालोक

आनन्दवर्धन की अमरकृति 'ध्वन्यालोक' भारतीय साहित्यशास्त्र का महनीय समुज्ज्वल ग्रन्थ रत्न है। यह एक युगप्रवर्तक अवदान है। इसके रचयिता ने अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर एक ऐसे सार्वभौम सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जो परवर्ती काल में सर्वथा सर्वमान्य रहा है। साहित्यशास्त्र में अब तक जो सिद्धान्त प्रचलित थे वे सभी प्रायः एकाङ्गी थे। अलङ्कार और रीति तो काव्य के बहिरङ्ग पक्ष का ही स्पर्श करते थे। वे काव्य के शरीर शब्द और अर्थ के ही शोभाधायक बन कर रह गये थे और इस आधार पर काव्य में अलङ्कार की अनिवार्यता मानी गई। गुण और वृत्तियों को भी काव्यशरीर की शोभा बढ़ाने वाले तत्त्व के रूप में ही स्वीकृति मिली। अलङ्कार को काव्य के सौन्दर्य के लिए अपरिहार्य माना गया—(काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्.....सौन्दर्यमलङ्कारः-वामन) 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र को 'अलङ्कारशास्त्र' एवं साहित्यिक आचार्यों को 'आलंकारिक' कहने की प्रवृत्ति अग्रसर हुई।

ऐसी स्थिति में एक ऐसे सशक्त ग्रन्थरत्न की आवश्यकता थी जो काव्यशरीर के शोभाधायक तत्त्वों की अपेक्षा काव्य के आत्मा के उज्ज्वल स्वरूप को आलोकित करता। साथ ही काव्य के प्रकीर्ण-व्याकीर्ण तत्त्वों को संगत कर काव्यालोचन को एक नयी चेतना प्रदान करता। निश्चितरूप से यह महत्त्वपूर्ण कार्य 'ध्वन्यालोक' के माध्यम से आनन्दवर्धन ने किया है। उन्होंने

ध्वनि को काव्य के आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया और इस ध्वनि की अभिव्यक्ति अभिधा, लक्षणा व्यापार की अपेक्षा व्यञ्जना व्यापार से स्वीकार किया।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन अपने समक्ष दो निश्चित लक्ष्य रखे हैं— १. ध्वनि-सिद्धान्त की सशक्त अभ्रान्त शब्दों में स्थापना करना, तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी भी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के अन्तर्गत ध्वनि का समाहार नहीं हो सकता। २. रस, अलंकार, रीति, गुण और दोष विषयक सिद्धान्तों का सम्यक् परीक्षण कर ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना और इस प्रकार काव्य के सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धान्त की एक रूपरेखा बाँधना। इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति में ध्वनिकार सर्वथा सफल हुए हैं। यह सब होते हुए भी ध्वनि-सिद्धान्त इतना लोकप्रिय न होता यदि अभिनवगुप्त की प्रतिभा का वरदहस्त उसे न मिलता। अभिनवगुप्त के 'लोचन' का साहित्यशास्त्र में वही गौरव है जो व्याकरण में महाभाष्य का। अभिनवगुप्त ने अपनी तलस्पर्शिनी प्रज्ञा और प्रौढ़ विवेचना से ध्वनि विषयक समस्त भ्रान्त धारणाओं और आक्षेपों को निर्मूल कर दिया और ध्वनि को काव्य का आत्मा सिद्ध कर रस की प्रतिष्ठा को अकाट्य शब्दों में स्थिर किया।

ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य विषय

स्वरूप—ध्वन्यालोक तीन भागों में विभक्त है—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। काव्यमाला प्रथम संस्करण के अनुसार कारिकाओं की संख्या १२६ है, परन्तु चौखम्भा संस्करण, काशी के अनुसार उनकी व्यवस्थित संख्या ११६ है। कारिकाओं के व्याख्यान रूप में वृत्तिभाग है, जो गद्य में है, कहीं-कही वृत्ति में परिकर-श्लोक, संक्षेप श्लोक और संग्रह-श्लोक भी हैं। उदाहरण भाग पूर्ववर्ती कवियों के ग्रन्थों से उद्धृत और आनन्दवर्धन के स्वरचित ग्रन्थों के पद्यों का है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार उद्योतों में विभक्त है।

विषय निर्देश—ध्वन्यालोक का उद्देश्य ध्वनि का सर्वाङ्गीण प्रतिपादन एवं स्थापना है। प्रथम उद्योत में ध्वनि के सम्बन्ध में तीन विमतियों की

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।। (ध्वन्या. १/१)

सम्भावना करके उनका निराकरण किया गया है। ध्वनिकार ने तीन प्रकार के विरोधियों की कल्पना की है—प्रथम अभाववादी, द्वितीय लक्षणा में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले भाक्तवादी और तृतीय वे जो ध्वनि का अनुभव तो करते हैं, किन्तु उनका निर्वचन असम्भव मानते हैं, इन्हें अनिर्वचनीयतावादी कहते हैं। आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त तीनों विरोधियों के मतों का खण्डन कर ध्वनि को काव्य का आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया है। आगे वाच्य अर्थ से प्रतीयमान अर्थ का भेद और प्राधान्य प्रतिपादित करके ध्वनि काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। द्वितीय उद्योत में, ध्वनि काव्य के भेदों का निरूपण है, इसी क्रम में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में रसादि ध्वनि का विवेचन किया गया है। रसवदलंकार से रसध्वनि का भेद दिखाकर गुण एवं अलङ्कार का लक्षण प्रस्तुत किया गया है। रस के अनुसार गुणों की व्यवस्था की गई है। रस की दृष्टि से, विशेष रूप से शृङ्गार-रस में रूपकादि अलङ्कारों के ग्रहण और त्याग का समीक्षण उदाहरणों के द्वारा किया गया है। शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के सन्दर्भ में श्लेष और शब्दशक्तिमूल ध्वनि का भेद दिखाया गया है। अन्त में ध्वनि के अन्य भेदों का सोदाहरण सविस्तर निरूपण किया गया है।

तृतीय उद्योत में ध्वनि के द्वितीय उद्योत में व्यंग्य के प्रकार से लक्षित भेदों का व्यञ्जक के प्रकार से सोदाहरण निर्देश किया गया है. अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का वर्ण, पद, पदावयव, वाक्य, संघटना और प्रबन्ध में भी लक्षित होने का निर्देश है। संघटना का स्वरूप-निरूपण और गुणों के साथ उनका सम्बन्ध सविस्तर प्रस्तुत किया गया है। प्रबन्धरूप अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के नियोजन का प्रकार रसादि की व्यञ्जकता के अनुसार बताया गया है। कथा-शरीर के निर्माण में औचित्य के ध्यान की अनिवार्यता का निर्देश करते हुए औचित्यबन्ध को रस का उपनिषद् (रहस्य-सार) कहा गया है और अनौचित्य को रसभङ्ग का कारण बताया गया है। पुनः रस के विरोधियों का परिहार किया गया है। मीमांसक के साथ वाक्य की व्यञ्जकता को लेकर विचार, व्यञ्जकता एवं गौणता का स्वरूपतः और विशेषतः भेद, व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का स्वरूपविवेक आदि विषयों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

चतुर्थ उद्योत में प्रतिभा की अनन्तता का सविस्तर निरूपण है। ध्वनि के भेदों के आधार पर प्रतिभाशाली कवि प्राचीन अर्थ, भाव, उक्ति आदि

में नूतन चमत्कार प्रदान कर सकता है। कवि की प्रतिभा का वैशिष्ट्य नवीन कल्पना की अपेक्षा पुरातन वस्तु में नवीन उद्‌भावना के माध्यम से उसे नवजीवन प्रदान करने में है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्यक्षेत्र के आनन्त्य को निर्दिष्ट किया है।

लोचनकार अभिनवगुप्त

'ध्वन्यालोक' तथा 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याता के रूप में अभिनवगुप्त की ख्याति सर्वविदित है। इनकी व्याख्यायें इतनी प्रौढ़, वैदुष्यपूर्ण एवं तलस्पर्शिनी है कि वे मूल-ग्रन्थों से भी अधिक समादृत हैं। साहित्यशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त को वही प्रशस्त स्थान प्राप्त है जो व्याकरणशास्त्र के इतिहास में पतञ्जलि को और दर्शनशास्त्र (विशेषकर अद्वैत वेदान्त) में भामतीकार वाचस्पति मिश्र को। वस्तुत: अभिनवगुप्त आलङ्कारिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक थे। अत: उन्होंने जब साहित्यशास्त्र में ग्रन्थरचना की तो इस शास्त्र को सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर दार्शनिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित स्थान पर पहुँचा दिया।

जीवनवृत्त

अभिनव गुप्त के देश, काल तथा जीवनवृत्त का परिचय पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। इनके 'परात्रिंशिकाविवरण' नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि इनके पितामह का नाम वराहगुप्त था, पिता का नाम नृसिंहगुप्त था। नृसिंहगुप्त को लोग चुक्खल भी कहते थे। इनके भाई का नाम मनोरथ था। इनके पितृव्य (चाचा) वामनगुप्त थे[१]। क्षेमगुप्त, उत्पलगुप्त, चक्रकगुप्त और पद्मगुप्त अभिनव के चचेरे भाई थे।

अभिनव के पूर्वज मूलत: काश्मीर के निवासी नहीं थे। उनके जन्म से लगभग २०० वर्ष पूर्व (अष्टमशती में) वे कन्नौज से काश्मीर गये थे। यशोवर्मा (७३०-७४० ई.) कन्नौज के तथा ललितादित्य (७२५-७६१ ई.) काश्मीर के समसामयिक शासक थे। 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार दोनों में युद्ध हुआ था और ललितादित्य ने यशोवर्मा को पराजित किया था। अन्तर्वेदी (गंगा-यमुना का मध्यवर्ती प्रदेश) के प्रसिद्ध विद्वान अत्रिगुप्त के वैदुष्य से

---

१. इनका उल्लेख 'अभिनवभारती' में इनके द्वारा रचित एक श्लोक के साथ किया गया है।

प्रभावित होकर ललितादित्य ने उन्हें काश्मीर में बसाया। अन्तर्वेदी के अन्तर्गत ही कन्नौज का राज्य था[१]।

आचार्य अभिनवगुप्त, जैसा कि जयरथ ने 'तन्त्रालोक' की अपनी टीका में लिखा है, अपने माता-पिता के 'योगिनीभू' पुत्र थे। बाल्यकाल में मातृ-पितृ वियोग से नीरस जीवन वाले अभिनवगुप्त अन्ततः दार्शनिक हो गये। ये एक उच्चकोटि के साधक भी थे। काश्मीरी किंवदन्ती के अनुसार श्रीनगर और गुलमर्ग के बीच 'मगम' नाम स्थान के समीप स्थित 'भैरवगुफा' में साधना करते थे। सम्भवतः उन्होंने अन्तिम सांस वहीं ली थी।

अभिनवगुप्त के गुरु

अभिनवगुप्त विविध शास्त्रों के पारंगत विद्वान् थे। इनके भिन्न-भिन्न शास्त्रों के भिन्न-भिन्न गुरु थे। इनके शैवदर्शन के गुरु लक्ष्मण गुप्त थे जिनसे इन्होंने शैवदर्शन की शिक्षा प्राप्त की थी। 'लोचन' में इन्होंने अनपे साहित्यशास्त्र के गुरु का नाम भट्टेन्दुराज दिया है। भट्टेन्दुराज एक सरस कवि होने के साथ ही महान् आलोचक भी थे। इस बात का संकेत 'लोचन' के इस वाक्य से मिलता है—**'यथा वा अस्मदुपाध्यायस्य विद्वत्कविसहृदय-चक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य'**। भगवद्गीता की अभिनवगुप्त विरचित टीका से ज्ञात होता है कि भट्टेन्दुराज कात्यायन गोत्र के थे। इनके पितामह का नाम सौबुक तथा पिता का नाम भूतिराज था। सम्भवतः अभिनवगुप्त के, ब्रह्मविद्या के गुरु भूतिराज ही थे। 'लोचन' में अभिनवगुप्त ने अपने गुरु के मत और श्लोकों को अनेक बार उद्धृत किया है. 'ध्वन्यालोक' के सन्देहास्पद स्थलों के निराकरण के लिए अपने गुरु के मत का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है कि प्रतीत होता है कि शिष्य ने गुरु की मौखिक व्याख्या सुनकर ही इस महत्त्वपूर्ण टीका का प्रणयन किया है। 'लोचन' के निर्माण की स्फूर्ति जिस प्रकार इन्हें भट्टेन्दुराज के व्याख्यानों से हुई, उसी प्रकार 'नाट्यशास्त्र' की टीका 'अभिनवभारती' के प्रणयन की प्रेरणा इन्हें अपने द्वितीय साहित्य गुरु भट्टतौत या भट्टतोत से मिली। 'अभिनव भारती' के विभिन्न अंशों में इन्होंने गुरु भट्टतौत के व्याख्यानों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख बड़े आदर से किया

---

१. अन्तर्वेद्यामत्रिगुप्ताभिधानः प्राप्योत्पत्तिं प्राविशत् प्रास्यजन्मा।
श्रीकाश्मीरांश्चन्द्रचूडावतारनिःसंख्याकैः पावितोपान्तभागान्॥

(परात्रिंशिकाविवरण, २८०)

है। भट्टतौत अपने समय के लब्धप्रतिष्ठ आलंकारिका थे जिनकी महनीय कृति 'काव्यकौतुक' आज भी विस्मृति के गर्भ में पड़ी हुई है। अभिनवगुप्त ने 'काव्यकौतुक' पर 'विवरण' नामकी टीका भी लिखी थी, जो अभी उपलब्ध नहीं है।

आविर्भाव काल

अभिनवगुप्त ने अपने अनेक ग्रन्थों में स्वरचित ग्रन्थों का रचनाकाल स्वयं दिया है। उन्होंने अपना 'भैरवस्तोत्र' ६८ लौकिक संवत् (९९३ ई.) में लिखा। आचार्य उत्पल के 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ पर इन्होंने 'विमर्षिणी' नामकी वृत्ति लिखी है। इस वृत्ति की रचना ९० लौकिक संवत् तथा कलिवर्ष ४११५ (१०१५ ई.) हुई थी। कालगणना का निर्देशक यही इनका अन्तिम ग्रन्थ है। इससे सिद्ध होता है कि इनका आविर्भावकाल दशम शती का अन्त और एकादशशती का आरम्भिक समय है[१]।

अभिनवगुप्त के ग्रन्थ

अभिनवगुप्त ने दर्शन तथा साहित्यशास्त्रविषयक अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। इनके दार्शनिक ग्रन्थों में 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्षिणी', 'तन्त्रसार', 'मालिनीविजयवार्तिक' 'परमार्थसार', 'परात्रिंशिकाविवरण' त्रिकदर्शन के इतिहास में नितान्त प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। इनके द्वारा रचित 'तन्त्रालोक' ग्रन्थ तन्त्र-शास्त्र का विश्वकोश ही है। साहित्य तथा दर्शन का शोभन समन्वय करने का श्रेय आचार्य अभिनवगुप्त को ही है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होने के साथ ही ये एक अलौकिक साधक पुरुष थे। ये मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल (तान्त्रिक) थे। साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त की तीन कृतियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये तीन कृतियाँ हैं—१. ध्वन्यालोकलोचन, २. अभिनवभारती और ३. काव्यकौतुकविवरण।

ध्वन्यालोक-लोचन—आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' की यह टीका वास्तव में आलोचकों को लोचन (आलोकदृष्टि) प्रदान करती है। वस्तुतः इस टीका की सहायता के बिना ध्वन्यालोक में प्रतिपादित तत्त्वों का सम्यक् बोध नहीं हो सकता था। इस टीका में रस-शास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारों के सिद्धान्त—जिनकी उपलब्धि अन्यत्र दुर्लभ है—एकत्र दिये गये हैं। यह टीका इतनी प्रौढ़ और पाण्डित्य पूर्ण है कि कहीं-कहीं पर मूल की अपेक्षा टीका

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ. २०७।

ही दुरूह हो गई है। ध्वन्यालोक पर 'लोचन' से पहले चन्द्रिका नाम की टीका लिखी गई थी[१] और इसके लेखक इन्हीं के कोई पूर्वज थे। 'लोचन' में इन्होंने इस टीका का खण्डन अनेक स्थलों पर किया है[२]। अन्त में इन्होंने यह भी स्पष्ट लिखा है—**'अलं निजपूर्ववंश्यैर्विवादेन'** अर्थात् अपने पूर्वजों के साथ अधिक विवाद करने से क्या लाभ?। साहित्यशास्त्र में 'लोचन' का महत्त्व व्याकरण में 'महाभाष्य' के समान है।

अभिनवभारती—भरत के नाट्यशास्त्र के ऊपर यही उपलब्ध टीका है[३]। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' को समझने के लिए इस टीका का गम्भीर परिशीलन नितान्त अपेक्षित है। इसमें प्राचीन आलंकारिकों और संगीतकारों के मतों का उपन्यास सुन्दर ढंग से हुआ है। भारत की प्राचीन नाट्यकला—संगीत, अभिनय, छन्द, करण, अङ्गहार आदि के रूप को यथार्थरूप में समझने के लिए इस टीका का परिशीलन अत्यन्त आवश्यक है। अभिनवभारती टीका नहीं, प्रत्युत एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ है। यह टीका अत्यन्त विशद, वैदुष्यपूर्ण और मर्मस्पर्शिणी है। इमसें भरत के रस सूत्र का, पूर्वाचार्यों के रस-विषयक मान्यताओं का खण्डन करते हुए रस सिद्धान्त का प्रामाणिक एवं युक्तिसंगत विवेचन किया गया है।

काव्यकौतुक विवरण—भट्टतौतरचित 'काव्यकौतुक' के ऊपर अभिनवगुप्त ने यह 'विवरण' लिखा है। खेद का विषय है कि यह ग्रन्थ मूल ग्रन्थ के साथ ही अनुपलब्ध है। इसके अस्तित्व का परिचय अभिनव भारती के उल्लेख से मिलता है[४]।

ध्वनितत्त्वविमर्श

ध्वनि का अर्थ—ध्वनि शब्द के अर्थ का निर्धारण ध्वनिकार के ही शब्दों से होता है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

---

१. किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयाऽपि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यघात्।। (लोचन, प्र.उ. का अन्तिम श्लोक)
२. लोचन, पृ. १२३,१७४,१८५,२१५ (काव्यमाला संस्करण)।
३. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज बड़ौदा से प्रकाशित।
४. अभिनवभारती, प्रथम खण्ड, पृ. २९१।

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके 'उस अर्थ को' व्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को मनीषियों ने ध्वनि कहा है।

ध्वनिकार ने उपर्युक्त कारिका की व्याख्या में आगे लिखा है—

यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः स काव्यविशेषो ध्वनिरिति'।

अर्थात् जहाँ विशिष्ट वाच्यरूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचकरूप शब्द 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं वह काव्यविशेष ध्वनि कहलाता है।

यहाँ उपर्युक्त कारिका में पठित 'तमर्थम्' 'उस अर्थ को' इस पद का स्पष्टीकरण इससे पूर्ववर्ती दो कारिकाओं में किया गया है। यथा—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।

प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो सुन्दरियों के मुखादि अङ्गों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में वाच्यार्थ से पृथक् ही भासित होता है।

'उस अर्थ' से आशय है उस प्रतीयमान स्वादु-सरस अर्थ का जो प्रतिभाजन्य है और जो महाकवियों की वाणी में वाच्याश्रित अलंकारादि से भिन्न, ललनाओं में अवयवों से अतिरिक्त लावण्य की भाँति कुछ अन्य ही वस्तु है। इसलिए यह विशिष्ट अर्थ प्रतिभाजन्य है, स्वादु (सरस) है, वाच्य से अतिरिक्त कुछ दूसरी ही चीज है और वह प्रतीयमान है।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःस्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।

उस सरस अर्थवस्तु को बिखेरती हुई महान् कवियों की वाणी विलक्षण तथा अतिभासमान प्रतिभाविशेष को प्रकट करती है।

इस पर लोचनकार अभिनवगुप्त की टिप्पणी है—**'सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननव्यापारः।......स (काव्यविशेषः) इति। अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवं व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव वाच्यरूपमुखतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्'।**

अर्थात् सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वननव्यापार होता है।.....यह 'काव्यविशेष' का अर्थ है—अर्थ या शब्द या व्यापार, वाच्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी, इसी प्रकार व्यङ्ग्य (अर्थ) भी ध्वनित होता है। अथवा शब्द अर्थ का व्यापार भी ध्वनन है। इस प्रकार कारिका के द्वारा मुखतया समुदाय शब्द, अर्थ-वाच्य (व्यञ्जक) अर्थ और व्यङ्ग्य अर्थ तथा शब्द और अर्थ का व्यापार ही ध्वनि है।

अभिनवगुप्त के कथन का अभिप्राय यह है कि कारिका के अनुसार ध्वनि संज्ञा केवल काव्य को ही नहीं दी गई, अपितु शब्द, अर्थ और शब्द अर्थ के व्यापार इन सबको ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों से भी उपर्युक्त पाँचों अर्थों की पुष्टि होती है—

१. ध्वनति यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः—जो ध्वनित करे वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।
२. ध्वनति यः स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः—जो ध्वनित करे वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।
३. ध्वन्यते इति ध्वनिः—जो ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है। इसमें रस, अलङ्कार और वस्तु-व्यङ्ग्यार्थ के तीनों भेद आ जाते हैं।
४. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार व्यञ्जना आदि शक्तियों का बोध होता है।
५. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः—जिसमें वस्तु, अलङ्कार, रसादि ध्वनित हो उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार ध्वनि का प्रयोग पाँच भिन्न-भिन्न किन्तु परस्पर सम्बद्ध अर्थों में होता है—१. व्यञ्जक शब्द, २. व्यञ्जक अर्थ, ३. व्यङ्ग्य अर्थ, ४. व्यञ्जना और ५. व्यङ्ग्यप्रधान काव्य।

संक्षेप में ध्वनि का अर्थ है व्यङ्ग्य, परन्तु यह व्यङ्ग्य वाच्यातिशायी होना चाहिए। वाच्य से प्राधान्य का आधार है रमणीयता का उत्कर्ष, '**चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा**'। अतः वाच्यातिशायी का अर्थ हुआ—वाच्य से अधिक रमणीय और ध्वनि का संक्षिप्त लक्षण हुआ—वाच्य से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य को ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि की मूल प्रेरणा : स्फोटवाद

ध्वनि की मूल प्रेरणा आनन्दवर्धन को वैयाकरणों के स्फोटवाद से प्राप्त हुई है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि **'सूरिभिः कथितः'**। इसमें में सूरिभिः (विद्वानों द्वारा कथित) से अभिप्राय वैयाकरणों से है क्योंकि वैयाकरण ही प्रथम विद्वान् है और व्याकरण ही सब विद्याओं का मूल है। जैसाकि भर्तृहरि ने कहा है—

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्।।

अर्थात् महान् व्याकरणशास्त्र की यत्नपूर्वक उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यह सभी विद्याओं के प्रदीपरूप में अवस्थित है। सभी विद्यायें व्याकरण से ही प्रकाशित होती हैं। वैयाकरणों ने श्रूयमाण वर्णों को ध्वनि कहा है और यह ध्वनि (श्रूयमान वर्ण) चूँकि व्यञ्जक होते हैं, इसी आधार पर काव्यमर्मज्ञ मनीषियों ने वाच्यवाचक-मिश्रित शब्द रूप काव्य को भी ध्वनि नाम से संकेतित किया और ध्वनिकार ने इसी पक्षके काव्यशास्त्रीय आधार पर समर्थन एवं प्रकाशन के लिए ध्वन्यालोक के रूप में अपना संरम्भ प्रस्तुत किया।

लोचनकार अभिनवगुप्त ने ध्वनिकार के अभिमत को भर्तृहरि के श्लोक को उद्धृत कर ध्वनि को व्यङ्ग्य, व्यञ्जक शब्द—अर्थ एवं व्यञ्जना व्यापार में चरितार्थ बताया है। इस सन्दर्भ में विषय के स्पष्टीकरण के लिए वैयाकरणों के ध्वनि के आधारभूत स्फोटवाद की चर्चा आवश्यक है।

स्फोटवाद—स्फोटवाद शब्द की सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बद्ध है। यह वह दर्शन है जिसमें शब्द के रूप तथा उससे अर्थ के विकास का निर्णय हुआ है। वैयाकरणों ने स्फोट शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है—**'स्फुटति अर्थः अस्मात् इति स्फोटः'** अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित होता है वह शब्द स्फोट कहलाता है। स्फोटवाद शब्द को नित्य मानता है। वैयाकरणों ने स्फोटवाद में शब्द को नित्य, एक तथा अखण्ड माना है। उस शब्द की अभिव्यक्ति ध्वनि से होती है जिसके दो भेद हैं—प्राकृत एवं वैकृत। उनके अनुसार वर्ण और पद सार्थक नहीं, अपितु वाक्य सार्थक होता है। अर्थ की प्रतीति वाक्य से ही होती है। पतञ्जलि ने स्फोट शब्द का ही लक्षण निर्देश किया है—**'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेनाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्'**। (महाभाष्य अ. २)

इसका अभिप्राय है—शब्द की उपलब्धि श्रोत्र के माध्यम से होती है। श्रोत्रेन्द्रिय एक आकाश ही है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि जब शब्द में निहित

वर्ण अपने उच्चारण के दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं तब शब्द ग्रहण कैसे सम्भव है? इसी के समाधान में बुद्धिनिर्ग्राह्य कहा गया है। उसका तात्पर्य है कि पूर्व-पूर्व ध्वनि से उत्पन्न संस्कार का परिपाक होने पर अन्त्य वर्ण के ज्ञान से शब्द का ग्रहण होता है। बुद्धि शब्दों को ग्रहण करती है। बुद्धि में ध्वनियाँ संस्कार छोड़ती जाती हैं और अन्तिम वर्ण से शब्द का ज्ञान होता है। प्रयोग से अभिज्वलित का तात्पर्य है कि शब्द सदा सर्वत्र विद्यमान रहता है, किन्तु उसकी उपलब्धि उच्चारण से ही होती है। जो विद्यमान शब्द है वही ध्वनि, वर्ण या प्रयोग है। आकाश तो शब्द का आश्रय है और जब वह आकाश एक है तो उसमें रहने वाला शब्द भी एक ही है।

आलंकारिकों के अनुसार भी प्रसिद्ध शब्द व्यापारों से भिन्न व्यञ्जकत्व नामका शब्द व्यवहार ध्वनि है। इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ व्यञ्जकत्व व्यापार—यह चार प्रकार की ध्वनि हुई। इन चारों के एक साथ रहने पर समुदाय रूप काव्य भी ध्वनि है। इस प्रकार तो लोचनकार ने वैयाकरणों का अनुसरण करके पाँचों में ध्वनित्वसिद्ध किया है।

स्फोट सिद्धान्त के सन्दर्भ में सारांश यह है—

(क) जिसके द्वारा अर्थ का स्फुटन हो उसे स्फोट कहते हैं।

(ख) शब्द के दो रूप हैं—व्यक्त (विकृतरूप); अव्यक्त (प्राकृतनित्य)। व्यक्त का सम्बन्ध वैखरी और अव्यक्त का सम्बन्ध मध्यमा वाक् से है जो वैखरी की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। प्रथम स्थूल ऐन्द्रिय रूप है, यह उच्चारणविधि के अनुसार परिवर्तनशील है। द्वितीय सूक्ष्म मानस रूप है जो नित्य और अखण्ड है। यह हमारे मानस में सदा वर्तमान रहता है और शब्द अर्थात् वर्णों के सङ्घात विशेष को सुनकर उद्बुद्ध हो जाता है। इसको शब्द का स्फोट कहते हैं। स्फोट का अपरनाम ध्वनि है।

(ग) जिस प्रकार अलग-अलग वर्णों को सुनकर भी शाब्दबोध नहीं होता है, वह केवल स्फोट या ध्वनि के द्वारा ही होता है, उसी प्रकार शब्दों का वाच्यार्थ ग्रहण कर भी काव्य के सौन्दर्य की प्रतीति नहीं होती, वह केवल व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनि के द्वारा ही होती है।

(घ) व्याकरण में व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ व्यञ्जनाव्यापार तथा व्यङ्ग्य काव्य ध्वनि के इन पाँचों रूपों के लिए निश्चित सङ्केत मिलते हैं। यह स्फोट शब्द, वाक्य और प्रबन्ध तक का होता है।

इस प्रकार शब्दसाम्य और व्यापारसाम्य के आधार पर ध्वनिकार ने व्याकरण के ध्वनि सिद्धान्त से प्रेरणा प्राप्त का अपने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की।

साहित्यशास्त्र का यही क्रमिक विवरण है। इसके अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारा साहित्यशास्त्र ६०० ई. से १८०० ई. तक, अर्थात् १२०० वर्षों के सुदीर्घकालों तक फैला हुआ था। इसका आरम्भ काल ६०० ई. से भी प्राचीन है। भरतमुनि (२०० ई.) के नाट्यसास्त्र में भी साहित्यशास्त्र का विवरण मिलता है, परन्तु उस समय यह शास्त्र नाट्यशास्त्र का ही एक सामान्य अङ्गमात्र था। आगे चलकर यह साहित्यशास्त्र एक स्वतंत्रशास्त्र के रूप में विकास के उच्चशिखर पहुँच गया।

भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास को मोटे तौर पर चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. आरम्भिककाल—अज्ञात काल से भामह तक।
२. रचनात्मककाल—भामह से आनन्दवर्धन तक।
३. निर्णायकात्मककाल—आनन्दवर्धन से मम्मट तक।
४. व्याख्याकाल—मम्मट से विश्वेश्वर पाण्डेय तक।

भारतीय साहित्यशास्त्र में ध्वनि का सिद्धान्त ही सर्वोत्तम माना जाता है। अत: ध्वनि की दृष्टि से साहित्यशास्त्र को तीन कोटियों में रखा जा सकता है—पूर्वध्वनि काल, ध्वनिकाल और पश्चात् ध्वनिकाल। पूर्वध्वनिकाल में रस, अलङ्कार तथा रीति मत का, ध्वनिकाल में ध्वनिविरोधी आचार्यों के मतों का खण्डन कर ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना और पश्चात् ध्वनिकाल में ध्वनिमत को अक्षुण्णमान कर काव्य के विविध अङ्गों पर ग्रन्थों की रचना की गई तथा प्राचीन ग्रन्थों को सुबोध बनाने के लिए लोकप्रिय टीकाएँ तथा व्याख्यायें लिखी गई।

वर्तमान युग में भी कतिपय आचार्य साहित्यशास्त्रय ग्रन्थों की रचना कर इस शास्त्र की श्रीवृद्धि में अपना योगदान कर रहे हैं।

आशा है भविष्य में भी भारतीय साहित्यशास्त्र विकास एवं समृद्धि के पथ पर अग्रसर होकर अपना महत्त्व अक्षुण्ण बनाये रखेगा।

—गङ्गासागर राय

डॉ० गङ्गासागर राय की कृतियाँ

मौलिक ग्रन्थ–

१. महाकवि भवभूति (स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, म०म० मिराशी, पं० बलदेव उपाध्याय प्रभृति विद्वानों से प्रशंसित तथा तदुत्तर (१९६५) एतद्विषयक समस्त ग्रन्थों द्वारा उद्धृत)। २. वैदिक आख्यान। ३. पौराणिक आख्यान। ४. अलङ्कारपीयूष। ५. संस्कृत के प्रमुख नाटककार। ६. Vedic Śākhās.

हिन्दी अनुवाद सहित–

१. काव्यमीमांसा। २. बालरामायण (डॉ० रामकरण शर्मा, पं० बलदेव उपाध्याय, पं० बदरीनाथ शुक्ल, पं० पट्टाभिरामशास्त्री प्रभृति विद्वानों द्वारा प्रशंसित तथा उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)। ३. शाङ्खायन ब्राह्मण (डॉ० आर० एन० दाण्डेकर, पं० बलदेव उपाध्या, पं० पट्टाभिराम शास्त्री प्रभृति विद्वानों से प्रशंसित तथा उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)। ४. वामनपुराण (संयुक्त रूप से)। ५. शांखायन गृह्यसूत्र (भाष्य सहित उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा विशिष्ट पुरस्कार से पुरस्कृत)। ६ शांखायन श्रौतसूत्र (भाष्य सहित)। ७. याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षरा टीका सहित)। ८. ध्वन्यालोक। ९. साहित्यदर्पण।

संस्कृत तथा हिन्दी टीका सहित–

१. नीतिशतक (अंग्रेजी अनुवाद भी), २. चन्द्रालोक, ३. अविमारक नाटक, ४. अभिषेक नाटक, ५. बालचरित, ६. प्रतिज्ञायौगन्धरायण, ७. प्रतिमा, ८. स्वप्नवासवदत्ता, ९. वेणीसंहार, १०. मुद्राराक्षस, ११. कर्पूरमञ्जरी, १२. बाल-भारत, १३. हरविजय (प्रथम सर्ग), १४. पञ्चतन्त्र (अपरीक्षित कारक), १५. रघुबंश (त्रयोदश-चतुर्दश सर्ग), १६. मृच्छकटिका, १७. चारुदत्त, १८. मध्यमध्यायोम, १९. अभिज्ञानशाकुन्तल, २०. मालतीमाधव, २१. दूतवाक्य, २२. पञ्चरात्र, २३. ऊरुभङ्ग, २४. दूतघटोत्कच, २५. कर्णभार।

अंग्रेजी अनुवाद–

१. कूर्मपुरा (संयुक्त रूप से), २. नीतिशतक।

संपादन–

१. बालरामायण, २. स्कन्दपुराणीय मानसखण्ड, ३. अष्टाविंशत्युपनिषद, ४. वासिष्ठलिङ्गपुराण, ५. श्लोकवार्तिक, ६. भासनाटकचक्रम्।

शोध पत्रिकाओं का संपादन–

१. पुराणम् (सह-संपादक), २. हिन्दुत्व (सहायक संपादक), ३. विद्यामन्दिर पत्रिका, ४. ध्रुपद वार्षिकी (सह संपादक)।

शोधपत्र–

एक सौ के लगभग शोधपत्र

प्रथम उद्योत:

ध्वन्यालोकः

।।श्रीनृहरये नमः।।

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः॥

गणाधिपं नमस्कृत्य भानुं साम्बं सदाशिवम्।
मातरं पितरं चैव गुरुं ज्ञानप्रदायकम् ।।१।।
आर्तार्तिविनिहन्तारं श्रेयःपदप्रदायकम्।
नृहरिं श्रद्धया वन्दे सर्वमङ्गलहेतवे ।।२।।
ध्वन्यालोकस्य कर्त्तारं वन्दे आनन्दवर्धनम्।
लोचनेन परिज्ञाय यस्यार्थोऽभिनवीकृतः ।।३।।
गङ्गासागररायोऽहं रामवर्णात्मजः कृती।
भाषाटीकां करोमीमां जिज्ञासूनां हितेच्छया ।।४।।
बुद्धेर्मान्ध्यात्प्रमादाद्वा या त्रुटिर्विहिता मया।
तत्सन्तः क्षन्तुमर्हन्ति गुणाराधनतत्पराः ।।५।।

ध्वन्यालोक के निर्माता आनन्दवर्धनाचार्य प्रारिप्सित ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये ग्रन्थ के आरम्भ में आशीर्वचनरूप मङ्गलाचरण करते हुये भगवान् श्रीनृसिंह के प्रपन्नार्त्तिच्छेदक नखों का स्मरण करते हैं। यद्यपि भगवत्स्मरण मानसिक व्यापार है, उसके लिखने की आवश्यकता नहीं थी किन्तु शिष्यों की शिक्षा के लिए ग्रन्थारम्भ में उसके लिखने की परिपाटी संस्कृत-साहित्य का एक सदाचारपूर्ण अङ्ग है, इसीलिये संस्कृत-ग्रन्थों के आरम्भ में प्रायः मङ्गलाचरण के लिखने की प्रथा पाई जाती है। इसलिये सर्वप्रथम इसे अङ्कित किया गया है।

नृसिंह भगवान् के उग्ररूप के स्मरण से ही अन्तरायसमूह विद्रुत हो जाता है तथा कार्य की पूर्ण परिसमाप्ति सुतरां सुनिश्चित है।

कहा भी 'मङ्गलादीनि' काव्य या साहित्य के ग्रन्थ लोक में प्रथित होते हैं और उनकी निर्मिति निर्विघ्न समाप्त होती है। यह मङ्गलाचरण कहीं मङ्गलवाची शब्दों के प्रयोग से ही पूर्ण होता है और कहीं अपने उपास्य देव की स्पष्ट वाचिक

व्याख्याने सौष्ठवं यत्तु तत्सर्वं पूर्वसूरिणाम् ।
मान्द्यं मद्बुद्धिजन्यं तु तत्क्षम्यन्तु हि साधवः ।।६।।

वन्दना से इसे सम्पन्न किया जाता है। यहाँ ध्वन्यालोककार ने भगवान् नृसिंह के नखों से रक्षा की प्रार्थना की है।

स्वयं अपनी इच्छा से नृसिंह रूप धारण किये हुये मधुरिपु (विष्णु भगवान्) के नख जो अपनी स्वच्छ कान्ति से चन्द्रमा को भी खिन्न (लज्जित) कर देते हैं तथा शरणागतों के दुःखनाशन में समर्थ हैं, आप सभी (व्याख्याकार और श्रोताओं) की रक्षा करें।

यहाँ ग्रन्थकार ने अपने इष्टदेव के वीररसाभिव्यञ्जक स्वरूप का स्मरण विघ्न-विनाश एवं विघ्नविजय-प्राप्ति के लिये किया है।

लोचनम्

श्रीभारत्यै नमः

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥

भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास-
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम् ।
यत्किंचिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्या-
लोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य ॥

जो कारण-सामग्री के लेशमात्र को बिना लिये ही किसी अपूर्व (अनिर्वचनीय) वस्तु को उत्पन्न कर उसे विस्तृत कर देता है; पत्थर के समान सारहीन जगत् में रस भर कर उसे सरस बना देता है तथा उसे क्रमशः प्रख्या (कविप्रतिभा) एवं उपाख्या (कविवाणी) के प्रसर से सौन्दर्यशाली बना कर भासित करता है ऐसा कविसहृदयाख्य सरस्वती का तत्त्व विजय (सर्वोत्कृष्टता) को प्राप्त करे।

जिसने भट्ट इन्दुराज के चरण-कमलों में निवास कर उन्हीं के द्वारा शास्त्रों को अधिगत कर हृदयस्थ किया है ऐसा मैं अभिनवगुप्तपाद अपने लोचन के प्रयोग द्वारा यत्किञ्चित् कथन कर (थोड़े शब्दों से लोगों के समक्ष) ध्वन्यालोक का स्पष्टरूप से व्याख्यान करने जा रहा हूँ।

लोचनम्

स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातृश्रोतृणामविघ्नेनाभीष्टव्याख्याश्रवणलक्षणफलसम्पत्तये समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमेश्वरसांमुख्यं करोति वृत्तिकारः– *स्वेच्छेति।*

मधुरिपोर्नखाः वो युष्मान्व्याख्यातृश्रोतृंस्त्रायन्ताम्, तेषामेव सम्बोधनयोग्यत्वात्; सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थः, त्राणं चाभीष्टलाभं प्रति सहायकाचरणं, तच्च तत्प्रतिद्वन्द्विविघ्नापसारणादिना भवतीति, इयदत्र त्राणं विवक्षितम्, नित्योद्योगिनश्च भगवतोऽसम्मोहाध्यवसाययोगित्वेनोत्साहप्रतीतेर्वीररसो ध्वन्यते, नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामव्यतिरिक्तत्वेन करणत्वात्सातिशयशक्तिता कर्तृत्वेन सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यतिरिक्तकरणापेक्षाविरहः, मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्त्रासापसारणोद्यम उक्तः, कीदृशस्य मधुरिपोः? स्वेच्छया केसरिणः, न तु कर्मपारतन्त्र्येण, नाप्यन्यदीयेच्छया, अपि तु विशिष्ट-

वृत्तिकार (आनन्दवर्धन) निरन्तर परमेश्वर के नमस्कार रूप संपत्ति से स्वयं कृतार्थ हो चुके हैं। उन्हें अपने इस ग्रन्थ में विघ्नप्राप्ति की कोई संभावना न होने से ग्रन्थ की निर्विघ्नता स्वयं प्राप्त है, किन्तु व्याख्याकारों और श्रोताओं को निर्विघ्न अभीष्ट व्याख्या तथा उसके श्रवणरूप समुचित फलसंपत्ति प्राप्त होती रहे, इसलिये आशीर्वादात्मक मङ्गल-प्रकाशन द्वारा परमेश्वर का सांमुख्य करते हैं। **–स्वेच्छेति।**

मधुरिपु (भगवान् विष्णु) के नख आप सभी व्याख्याकारों और श्रोताओं की रक्षा करें, क्योंकि प्रकृत में उन्हीं व्याख्याता और श्रोता में सम्बोधन की योग्यता है। सम्बोधन का सार (प्राण) अर्थात् 'युष्मान्' पद है; सम्बोध्य पदार्थ की उपस्थिति में ही युष्मद् (आप-तुम) का प्रयोग होता है। लोचनकार ने 'स्वयमव्युच्छिन्न' इत्यादि कारण का निर्देश करते हुये ग्रन्थकार को इस आशीर्वादात्मक वचन से अलग कर दिया है; जबकि एकशेष से पद का अर्थ ग्रन्थकार, व्याख्याकार और श्रोता सभी हो सकता था। श्लोक में 'त्राण' पद का अर्थ अभीष्ट लाभ के लिये सहायक होना है। वह सहायक का आचरण (सहायता प्रदान) अभीष्ट लाभ के प्रतिद्वन्द्वी विघ्नों के अपसारण आदि द्वारा ही संभव है। इस रूप में यहाँ त्राण विवक्षित है। यहाँ नित्य उद्योगशील भगवान् के असम्मोह और अध्यवसाय से युक्त होने के कारण उत्साह रूप स्थायीभाव की प्रतीति होने से वीररस ध्वनित होता है। नखों के प्रहरण (प्रहार में साधन) होने से और प्रहार रूप साधन द्वारा रक्षण रूप कर्त्तव्य होने से अव्यतिरिक्त (अपृथग्भूत) रूप से करण होने के कारण उन्हें कर्त्ता रूप से कह कर उनमें अतिशयशक्तिमत्ता व्यञ्जित की गई

लोचनम्

दानवहननोचिततथाविधेच्छापरिग्रहौचित्यादेव स्वीकृतसिंहरूपस्येत्यर्थः; कीदृशा नखाः? प्रपन्नानामार्तिं ये छिन्दन्ति; नखानां हि छेदकत्वमुचितम्; आर्तेः पुनश्छेद्यत्वं नखान्प्रत्यसम्भावनीयमपि तदीयानां नखानां स्वेच्छानिर्माणौचित्यात्सम्भाव्यत एवेति भावः।

अथ वा त्रिजगत्कण्टको हिरण्यकशिपुर्विश्वस्योत्क्लेशकर इति स एव वस्तुतः प्रपन्नानां भगवदेकशरणानां जनानामार्तिकारित्वान्मूर्तैवार्तिस्तं विनाशयद्भिरार्तिरेवोच्छिन्ना भगवतीति परमेश्वरस्य तस्यामप्यवस्थायां परमकारुणिकत्वमुक्तं, किं च ते नखाः स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन नैर्मल्येन; स्वच्छमृदुप्रभृतयो हि मुख्यतया भाववृत्तय एव; स्वच्छायया च वक्रहृद्यरूपयाऽऽकृत्यासितः–खेदित इन्दुर्यैः, अत्रार्थशक्तिमूलेन ध्वनिना बालचन्द्रत्वं ध्वन्यते, आयासनेन तत्तन्निधौ चन्द्रस्य विच्छायत्व-

है। इतना ही नहीं परमेश्वर ऐसा कह कर परमेश्वर को अपने से पृथग्भूत किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती है यह भी ध्वनित किया। 'मधुरिपु' कह कर उस परमेश्वर का उद्योग संसार के त्रास निवारणार्थ सदैव चलता रहता है यह ध्वनित किया। किस प्रकार के 'मधुरिपु' के? जो अपनी इच्छा से केसरी (नृसिंह) रूप बन गये, पूर्व कर्म की परतन्त्रता के कारण नहीं और किसी दूसरे की इच्छा से भी नहीं, अपितु एक विशिष्ट दानव के हननोचित उस प्रकार की इच्छा के परिग्रह के औचित्य से जिन्होंने सिंह रूप धारण करना स्वीकार किया। किस प्रकार के नख– जो शरणागतों की आर्त्ति का निवारण करते हैं। यहाँ नखों का छेदकत्व भी उचित है। यद्यपि नखों के द्वारा आर्त्ति का छेद्यत्व असंभव है किन्तु भगवान् के नख उनकी इच्छा से निर्मित होने के कारण उससे आर्त्ति के छेद्यत्व की संभावना संभावित ही है, यह भाव है।

अथवा तीनों जगत् का कण्टक हिरण्यकशिपु सारे संसार का क्लेशकारी था। इस प्रकार वस्तुतः वही प्रपन्न अर्थात् भगवच्छरणागतों का आर्त्तिकारी होने के कारण आर्त्ति का मूर्त्तिमान् स्वरूप था उसके विनाश से नखों द्वारा स्वयं आर्त्ति ही उच्छिन्न हो गई, इस प्रकार उस अवस्था में भी परमेश्वर का परम कारुणिकत्व द्योतित किया गया। और भी वे नख अपनी निर्मलता (स्वच्छ गुणों) के द्वारा क्योंकि स्वच्छ, मृदुप्रभृति शब्द (मुख्यतया भाववृत्ति है स्वच्छता आदि धर्म के) बोधक हैं। वे अपनी कान्ति से तथा वक्र एवं हृद्य (मनोहर) आकृति से इन्दु को आयासित (खेदित-लज्जित) करते हैं। यहाँ अर्थशक्ति मूलध्वनि से इन्दु का बालत्व ध्वनित किया गया। नखों द्वारा आयासित (लज्जित खेदित) होने के कारण तत्समीपस्थ चन्द्र में विच्छायत्व (कान्ति-राहित्य) तथा अहृद्यत्व की प्रतीति होती है और नखों का आयासकारित्व भी विशेषरूप

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥१॥

काव्य के आत्मभूत जिस तत्त्व को विद्वान् (वैयाकरण) लोग बहुत पहले से ध्वनि नाम से कहते आये हैं, कुछ लोग उसका अभाव मानते हैं, अन्य लोग उसे भक्ति (लक्षणागम्य गौण) कहते हैं और कुछ लोग उसकी स्थिति वाणी का अविषय (अनिर्वचनीय) बतलाते हैं। (इस प्रकार ध्वनि के विषय में उपर्युक्त नाना विप्रतिपत्तियों के कारण उनका निराकरण कर ध्वनि-स्थापन द्वारा) सहृदयों के मन की प्रसन्नता के लिए उस ध्वनि के स्वरूप को कहते हैं।

लोचनम्

प्रतीतिरहृद्यत्वप्रतीतिश्च ध्वन्यते, आयासकारित्वं च नखानां सुप्रसिद्धम्; नरहरिनखानां तच्च लोकोत्तरेण रूपेण प्रतिपादितम्, किं च तदीयां स्वच्छतां कुटिलिमानं चावलोक्य बालचन्द्रः स्वात्मनि खेदमनुभवति; तुल्येऽपि स्वच्छकुटिलाकारयोगेऽमी प्रपन्नार्तिनिवारणकुशलाः; न त्वहमिति व्यतिरेकालङ्कारोऽपि ध्वनितः, किंचाहं पूर्वमेकं एवासाधारण-वैशद्यहृद्याकारयोगात्समस्तजनाभिलषणीयताभाजनमभवम्, अद्य पुनरेवंविधा नखा दश बालचन्द्राकाराः सन्तापार्तिच्छेदकुशलाश्चेति तानेव

से सिद्ध होता है। अतः नृसिंह के नखों को लोकोत्तर रूप से प्रतिपातित किया गया। इतना ही नहीं— और उन नखों की स्वच्छता कुटिलिमा (टेढ़ापन) को देखकर बाल-चन्द्रमा स्वयं अपने आप में खेद का अनुभव करता है, उसी खेद को कहते हैं— चन्द्रमा सोचता हैं यद्यपि हम दोनों स्वच्छ और कुटिल आकार के सम्बन्ध समान होने के कारण समान हैं किन्तु ये नख प्रपन्न जनों की आर्त्ति के निवारण में कुशल है मैं नहीं। इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार भी ध्वनित होता है। और भी, मैं पहले अकेले असाधारण वैशद्य (स्वच्छता) तथा हृद्य आकार के योग से समस्त जनों की अभिलषणीयता का पात्र था परन्तु आज उसी स्वच्छता तथा कुटिलता के आकार वाले दश बालचन्द्र जो संताप तथा आर्त्तिछेदन में कुशल हैं और सारा संसार उन्हीं बालचन्द्रों को बहुमान से देख रहा है, मुझे नहीं। इस प्रकार आकलन करता हुआ बालचन्द्र

ध्वन्यालोकः

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभावादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति।

प्रस्तुत कारिका में 'बुधैः' शब्द का अर्थ काव्यतत्त्वज्ञ है। काव्य के मर्मज्ञों ने काव्य की आत्मा को ध्वनि इस संज्ञा से सम्बोधित किया है और जिसे परम्परा से पूर्वकाल से ही सम्यग्रूपेण प्रगट रूप से कहा गया है। सहृदयजनों के अन्तःकरण में प्रकाशमान होते हुये भी उस ध्वनि का अन्य लोग अभाव कहते है, उन अभाववादियों के इतने विकल्प संभव है।

लोचनम्

लोको बालेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामित्याकलयन्बालेन्दुरविरतमाया-समनुभवतीवेत्युत्प्रेक्षापह्नुतिध्वनिरपि, एवं वस्त्वलङ्कारसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातः।

अथ प्राधान्येनाभिधेयस्वरूपमभिदधदप्रधानतया प्रयोजनप्रयोजनं तत्सम्बद्धं प्रयोजनं च सामर्थ्यात्प्रकटयन्नादिवाक्यमाह– ***काव्यस्यात्मेति।***

काव्यात्मशब्दसंनिधानाद् बुधशब्दोऽत्र काव्यात्मावबोधनिमित्तक इत्यभिप्रायेण विवृणोति–काव्यतत्त्वविद्भिरिति। आत्मशब्दस्य तत्त्वशब्दे-

निरन्तर आयास का अनुभव करते जैसा प्रतीत हो रहा है। यह उत्प्रेक्षा तथा अपह्नुति की ध्वनि भी यहाँ है। इस प्रकार वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि तथा रसध्वनि तीनों प्रकार की ध्वनियों का व्याख्यान इस श्लोक में हमारे गुरु ने प्रदर्शित किया है।

प्रस्तुत ध्वन्यालोक ग्रन्थ का प्राधान्येन प्रतिपाद्य विषय या अभिधेय **ध्वनितत्त्व** है। ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान **प्रयोजन** है। सहृदय जनों के मन की प्रीति यह उसका प्रयोजन का भी प्रयोजन है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्राधान्येन अभिधेय की चर्चा करते हुये तथा अप्रधान रूप से उसके प्रयोजन तथा उस प्रयोजन से सम्बद्ध प्रयोजन को भी सामर्थ्य से प्रकट करते हुये प्रथम वाक्य कहते हैं— **काव्यस्यात्मेति ध्वनिरिति।।**

काव्य की आत्मा इस शब्द के सन्निधान से यहाँ 'बुध' शब्द काव्यात्माव-बोधनिमित्तक है। काव्य के मर्मज्ञ इस अभिप्राय से ग्रन्थकार ने बुध शब्द का व्याख्यान काव्यतत्त्ववेत्ता इस अर्थ में किया है। आत्मा शब्द का तत्त्वरूप अर्थ व्याख्यान कर उससे सारत्व एवं अपर प्रतिपाद्य शब्दों की अपेक्षा उसमें विलक्षणता भी सूचित किया

लोचनम्

नार्थं विवृण्वानः सारत्वमपरशाब्दवैलक्षण्यकारित्वं च दर्शयति। इतिशब्दः स्वरूपपरत्वं ध्वनिशब्दस्याचष्टे, तदर्थस्य विवादास्पदीभूततया निश्चयाभावेनार्थवत्त्वायोगात्। एतद्विवृणोति–*संज्ञित इति*। वस्तुतस्तु न तत्संज्ञामात्रेणोक्तम्, अपि त्वस्त्येव ध्वनिशब्दवाच्यं प्रत्युत समस्तसारभूतम्। न ह्यन्यथा बुधास्तादृशमामनेयुरित्यभिप्रायेण विवृणोति-तस्य सहृदयेत्यादिना। एवं तु युक्ततरम्– इतिशब्दो भिन्नक्रमो वाक्यार्थपरामर्शकः, ध्वनिलक्षणोऽर्थः काव्यस्यात्मेति यः समाम्नात इति। शब्दपदार्थकत्वे हि ध्वनिसंज्ञितोऽर्थ इति का सङ्गतिः? एवं हि ध्वनिशब्दः काव्यस्यात्मेत्युक्तं भवेद्, गवित्ययमाहेति यथा। न च विप्रतिपत्तिस्थानमसदेव, प्रत्युत सत्येव धर्मिणि धर्ममात्रकृता विप्रतिपत्तिरित्यलमप्रस्तुतेन भूयसा सहृदयजनोद्वेजनेन। बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाभिधानं स्यात्, न तु भूयसां तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। तदेव व्याचष्टे–*परम्परयेति*।

गया है। 'इति' शब्द ध्वनि के स्वरूप का तात्पर्य व्यक्त करता है, क्योंकि ध्वनि के अर्थ के विवादास्पद होने से वह निश्चयात्मक नहीं है इसलिये उसका अर्थवत्त्व सिद्ध नहीं होता। इसी बात की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि संज्ञित इति। वास्तव में उसे संज्ञा मात्र से ही नहीं कहा गया अपितु वह ध्वनि शब्द का वाच्य है और समस्त ध्वनि का सारभूत भी है। अन्यथा बुध जन उसको आम्नात नहीं करते। इसी अभिप्राय. से प्रदर्शित करते हुये कहते हैं— **'तस्य सहृदयेति'**। किन्तु इसका अर्थ इस प्रकार ठीक नहीं। इसका युक्तियुक्त अर्थ इस प्रकार होना चाहिये। यहाँ इति शब्द भिन्न क्रम रूप से पठित है जो वाक्यार्थ का परामर्शक है। अतः इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिये– ध्वनि रूप अर्थ काव्य की आत्मा के रूप में पूर्व से समाम्नात है। यदि ध्वनि शब्द को संज्ञा मात्र के अर्थ में मानते है तो काव्य की आत्मा ध्वनिसंज्ञा वाला यह अर्थ होगा। ऐसा कहने से उसकी संगति किस प्रकार बैठेगी? क्योंकि इस प्रकार ध्वनि शब्द, काव्य की आत्मा है ऐसा अर्थ होगा जैसे यह 'गौ' ऐसा कहता है। यदि कहा जाय कि ऐसा अर्थ करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है तो यह उचित नहीं, क्योंकि धर्मी के रहते हुये ही धर्म मात्र के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति है ही । इस विषय में सहृदय जनों को उद्विग्न करने वाली अप्रासङ्गिक चर्चा व्यर्थ है अतः यह पर्याप्त हो गया। किसी एक बुधजन का इस प्रकार का कथन प्रामादिक हो सकता है किन्तु बहुत बुधजनों का कथन प्रामादिक होना संभव नहीं इसलिये प्रकृत में 'बुध' शब्द का प्रयोग बहुवचनान्त से किया गया है। अब उसी की व्याख्या करते हुये कहते हैं। **–परम्परयेति।**

लोचनम्

अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः। न च बुधा भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः; एतत्त्वादरेणोपदिष्टम्। तदाह–सम्यगाम्नातपूर्व इति। पूर्वग्रहणेनेदम्प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च–*सम्यगासमन्ताद म्नातः प्रकटित* इत्यनेन। *तस्येति*। यस्याधिगमाय प्रत्युत यतनीयं, का तत्राभावसम्भावना। अतः किं कुर्मः, अपारं मौर्ख्यमभाववादिनामिति भावः। न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुताः, किं तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते, अतः परोक्षत्वम्। न च भविष्यद्वस्तु दूषयितुं युक्तम्, अनुत्पन्नत्वादेव। तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्; बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः। अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्याद्विशिष्टाद्यतनत्वप्रतिभानाभावाच्च लिटा प्रयोगः कृतः–*जगदुरिति*।

तद्व्याख्यानायैव सम्भाव्य दूषणं प्रकटयिष्यति। सम्भावनाऽपि नेयमसम्भवतो युक्ता, अपि तु सम्भवत एव, अन्यथा सम्भावनाम-

अविच्छिन्न प्रवाह-परम्परा से उन्होंने (काव्यमर्मज्ञों ने) ध्वनि का प्रतिपादन किया है यद्यपि इसका किन्हीं विशिष्ट पुस्तकों में उल्लेख नहीं है, क्योंकि बुद्धिमान् लोग किसी अनादरणीय वस्तु का उपदेश आदरपूर्वक नहीं करते। किन्तु ध्वनि का उपदेश तो उन्होंने आदरपूर्वक किया ही है इसी बात को कहते हैं— **समाम्नात पूर्व** इति। यहाँ पूर्व ग्रहण से यह सिद्ध किया गया है कि सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले पहल हमने ही नहीं किया है किन्तु यह बहुत पहले से समाम्नात (प्रकटित) है, इसी की व्याख्या भी करते हैं। **समाम्नात पूर्व इति- (सम्यगासमन्तात् म्नातः प्रकटितः) तस्येति।** जिसको प्राप्त करने के लिये अधिकाधिक यत्न करना चाहिये फिर उसके अभाव की संभावना किस प्रकार की जा सकती है इसलिये कहते हैं– क्यो करें अभाववादियों की मूर्खता की कोई सीमा नहीं। यद्यपि हमने अभाववादियों के विकल्पों को नहीं सुना है फिर भी उन अभावों की संभावना कर दोष देंगे। इसीलिये वृत्तिकार ने 'जगदुः' कह कर उसका परोक्षत्व सिद्ध किया है। भविष्य में होने वाली वस्तु में दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वे सर्वथा उत्पन्न नहीं हैं। यदि कहें कि बुद्धि में आरोपित कर दोष देंगे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि में आरोपित करने के कारण किसी वस्तु के होने की बात नहीं बनती। अतः काल के उन्मेष से परोक्षता के कारण विशिष्टाद्यतनत्व के प्रतिभान का अभाव होने से 'जगदुः' इस लिट् लकार का प्रयोग किया है।

उस अभाव की व्याख्या करने के लिये स्वयं ग्रन्थकार अपने मन से संभावना कर उस पक्ष में दोष प्रकट करेंगे। यह संभावना भी असंभव से युक्त है– ऐसी बात

लोचनम्

पर्यवसानं स्यात् दूषणानां च। अतः सम्भावनामभिधापयिष्यमाणां समर्थयितुं पूर्वं सम्भवन्तीत्याह। सम्भाव्यन्त इति तूच्यमानं पुनरुक्तार्थमेव स्यात्। न च सम्भवस्यापि सम्भावना, अपि तु वर्तमानतैव स्फुटेति वर्तमानेनैव निर्देशः। ननु च सम्भवद्वस्तुमूलया सम्भावनया यत्सम्भावितं तद् दूषयितुमशक्यमित्याशङ्क्याह— *विकल्पा इति*। न तु वस्तु सम्भवति तादृक् यत इयं सम्भावना, अपि तु विकल्पा एव। ते च तत्त्वावबोधवन्ध्यतया स्फुरेयुरपि, अत एव 'आचक्षीरन्' इत्यादयोऽत्र सम्भावनाविषया लिङ्प्रयोगा अतीतपरमार्थे पर्यवस्यन्ति। यथा–

यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत्।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत्॥

इत्यत्र। यद्येवं कायस्य दृष्टता स्यात्तदैवमवलोक्येतेति भूतप्राणतैव। यदि न स्यात्ततः किं स्यादित्यत्रापि, किं वृत्तं यदि पूर्ववन्न भवनस्य

नहीं किन्तु संभव होने से ही सम्भावना की युक्तता होती है। अन्यथा सम्भावनाओं तथा दूषणों का कभी अन्त न होगा। अत: ग्रन्थकार आगे अभिहित कराई जाने वाली सम्भावनाओं के समर्थन के लिये पहले पहल 'सम्भव हो सकते हैं' इस बात को यहाँ कहते हैं। यदि 'संभाव्यन्ते' पद का प्रयोग करते तो वह पुनरुक्तार्थ ही होता, जो पदार्थ संभव है उसकी सम्भावना नहीं होती प्रत्युत उसका वर्तमान रहना ही स्पष्ट है, इसीलिये वृत्तिकार ने वहाँ (सम्भवन्ति) इस वर्तमान से ही निर्देश किया है। यदि कहो कि सम्भवद्वस्तु मूल वाली संभावना से तो सम्भावित है उसमें दोष देना (दूषित करना) शक्य नहीं है। ''इस पर आशङ्का कर कहते हैं—'**विकल्पा इति**। प्रकृत में इस प्रकार की कोई वस्तु नहीं है जहाँ से इस प्रकार की सम्भावना की जाये अपितु विकल्प ही है। और वे विकल्प तत्त्वावबोध न होने के कारण स्फुरित हो सकते हैं इसलिये 'आचक्षीरन्' इत्यादि सम्भावनाविषयक लिङ् लकार का प्रयोग अतीतपरमार्थ विषय में पर्यवसित होता है। जैसे— यदि इस शरीर के जो भीतर है वह बाहर होकर दिखाई पड़े तो यह संसार डण्डा लेकर कुत्तों और कौओं को हाँकता फिरे।

इस स्थल में यदि शरीर इस प्रकार दृष्टिगोचर होता तब ऐसा देखा जाता कि काय पञ्चमहाभूत तथा प्राण स्वरूप ही है। वही अतीत परमार्थता है जहाँ भवेत् इत्यादि संभावना विषयक लिङ् लकार के प्रयोग अतीत परमार्थ में पर्यवसित हैं।

यदि नहीं होता तो क्या होता इस निषेध पक्ष में भी 'स्यात्' किं स्यात्' इस प्रकार के विधि लिङ् के प्रयोग भी इसी अर्थ में पर्यवसित हैं। यह प्रकृत विषय नहीं है इसलिये इतना ही कहना पर्याप्त है। इस विषय में समय (सङ्केत) की अपेक्षा से

लोचनम्

सम्भावनेत्ययमेवार्थ इत्यलमप्रकृतेन बहुना। तत्र समयोपेक्षणेन शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्यव्यतिरिक्तं नास्ति व्यङ्ग्यम्, सदपि वा तदभिधावृत्त्याक्षिप्तं शब्दावगतार्थबलाकृष्टत्वाद्भाक्तम्, तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीष्विव भर्तृसुखमतद्वित्सु इति त्रय एवैते प्रधानविप्रतिपत्तिप्रकाराः। तत्राभावविकल्पस्य त्रयः प्रकाराः-शब्दार्थ-गुणालङ्काराणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वाल्लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दर-शब्दार्थमयस्य काव्यस्य न शोभाहेतुः कश्चिदन्योऽस्ति योऽस्माभिर्न गणित इत्येकः प्रकारः, यो वा न गणितः स शोभाकार्येव न भवतीति द्वितीयः, अथ शोभाकारी भवति तर्ह्यस्मदुक्त एव गुणे वाऽलङ्कारे वाऽन्तर्भवति, नामान्तरकरणे तु कियदिदं पाण्डित्यम्।

अथाप्युक्तेषु गुणेष्वलङ्कारेषु वा नान्तर्भावः, तथापि काचिद्विशेष-लेशमाश्रित्य नामान्तरकरणमुपमाविच्छित्तिप्रकाराणामसंख्यत्वात्। तथापि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाव एव। तावन्मात्रेण च किं कृतम्? अन्यस्यापि

शब्दों के सङ्केत के अनुसार शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार वाच्यार्थ से अतिरिक्त कोई व्यङ्ग्य पदार्थ नहीं है, यदि है भी तो वह अमिधावृत्ति से आक्षिप्त होता हुआ शब्दावगत अर्थ के बल से आकृष्ट होने के कारण भाक्त (गौण) ही है। यदि वह आक्षिप्त नहीं हुआ है तो वह वाणी से नहीं कहा जा सकता। जैसे— कुमारी कन्याओं के लिये पतिसुख वाणी से कहना संभव नहीं, इस प्रकार तीन ही प्रधान रूप से विप्रत्तिपत्ति के प्रकार हैं। उसमें प्रथम अभाव विकल्प के तीन प्रकार इस तरह हैं- शब्द, अर्थ, गुण और अलङ्कार मात्र इतने ही शब्द-अर्थ शरीर वाले काव्य के शोभाकारी हैं। लोक शास्त्र से व्यतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ सुन्दर शब्दार्थमय काव्य की शोभा के हेतु नहीं है जिसकी हमने गणना नहीं की हो। यह अभाव विकल्प का प्रथम प्रकार है। जिसकी हमने गणना नहीं की है वह काव्य का शोभाधायक नहीं हो सकता यह दूसरा विकल्प है। यदि कोई काव्य का शोभाधायक हो सकता है तो उसका अन्तर्भाव हमारे कहे गये गुण अथवा अलङ्कार में हो जाता है। उसका केवल दूसरा नाम बदल देने में यह कौन सा पाण्डित्य है?

अथवा मान भी लिया जाय कि जिसका गुण एवं अलङ्कार में अन्तर्भाव नहीं है फिर भी कुछ उसका विशेष लेश का आश्रय मात्र नामान्तरकरण ही है। जिस प्रकार उपमा के ही विच्छित्ति (वैचित्र्य) प्रकार असंख्य है, तथापि उनका गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्तत्व शोभाकारी तत्त्व नहीं बनता और उतने मात्र से होता भी क्या है?

ध्वन्यालोकः

तत्र केचिदाचक्षीरन्– शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो रीतयोऽपि या कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तदव्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

अब अभाववाद का प्रथम विकल्प कहते हैं— यहाँ कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि काव्य का शरीर तो शब्द और अर्थ है। उसमें शब्दगत चारुत्व के हेतु अनुप्रासादि प्रसिद्ध हैं, अर्थगत चारुता के हेतु उपमादि प्रसिद्ध हैं और वर्णसंघटना धर्म माधुर्यादि गुण वे भी प्रतीत ही होते हैं, उन अलंकारों एवं गुणों से अभिन्न रहने वाली वृत्तियाँ और रीतियाँ भी जो किन्हीं लोगों के द्वारा उपनागरिका आदि वृत्तियों के नामों से प्रकाशित की गई हैं वे भी सुनने में आई हैं। वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ भी श्रवण गोचर हैं किन्तु उनसे व्यक्तिरिक्त (भिन्न) यह ध्वनि नाम वाला पदार्थ क्या है?

लोचनम्

वैचित्र्यस्य शक्योत्प्रेक्षत्वात्। चिरन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे एव शब्दार्थालङ्कारत्वेनेष्टे, तत्प्रपञ्चदिक्प्रदर्शनं त्वन्यैरलङ्कारकारैः कृतम्। तद्यथा-'कर्मण्यण्' इत्यत्र कुम्भकाराद्युदाहरणं श्रुत्वा स्वयं नगरकारादिशब्दा उत्प्रेक्ष्यन्ते, तावता क आत्मनि बहुमानः। एवं प्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः। एवमेकस्त्रिधा विकल्पः, अन्यौ च द्वाविति पञ्च विकल्पा इति तात्पर्यार्थः।

क्योंकि दूसरे वैचित्र्य की उत्प्रेक्षा भी हो सकती है? बहुत पूर्वकाल में होने वाले भरतमुनिप्रभृति ने यमक और उपमा इन दो अलङ्कारों को शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में स्वीकारं किया था। उन्हीं अलङ्कारों के प्रपञ्च की दिशा का प्रदर्शन अन्य अलङ्कारों ने किया, वह तो ऐसा ही हुआ जैसे 'कर्मण्यण्' सूत्र का उदाहरण कुम्भकार आदि सुन कर स्वयं 'नगरकार' आदि शब्दों की उत्प्रेक्षा कर ली जाती है। केवल उतने मात्र से अपने को गौरवान्वित समझना कौन बहुत बड़ी बात हुई? इस प्रकार प्रकृत अभाव में विकल्प से तीसरे प्रकार की भी बात है। इस प्रकार प्रथम अभाव विकल्प का ३ प्रकार और दूसरे दो विकल्प (भाक्त विकल्प और अलक्षणवादी विकल्प) कुल मिलाकर ५ विकल्प हुये यह तात्पर्य है।

लोचनम्

तानेव क्रमेणाह– शब्दार्थशरीरं तावदित्यदिना। तावद्ग्रहणेन कस्याप्यत्र न विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति। तत्र शब्दार्थौ न तावद् ध्वनिः, यतः संज्ञामात्रेण हि को गुणः? अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः। तथापि द्विविधं चारुत्वम्– स्वरूपमात्रनिष्ठं संघटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूपमात्रकृतं चारुत्वं शब्दालङ्कारेभ्यः, संघटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्यः। एवमर्थानां चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः। संघटनापर्यवसितं त्वर्थगुणेभ्य इति न गुणलङ्कारव्यतिरिक्तो ध्वनिः कश्चित्।

संघटनाधर्मा इति– शब्दार्थयोरिति शेषः। यद्गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्चारुत्वकारि न भवति, नित्यानित्यदोषा असाधुदुःश्रवादय इव। चारुत्वहेतश्च ध्वनिः, तन्न तद्व्यतिरिक्त इति व्यतिरेकी हेतुः। ननु वृत्तयो रीतयश्च यथा गुणालङ्कारव्यतिरिक्ताश्चारुत्वेहतवश्च, तथा ध्वनिरपि तद्व्यतिरिक्तश्च चारुत्वहेतुश्च भविष्यतीत्यसिद्धो व्यतिरेक इत्यनेनाभिप्रायेणाह–तदनतिरिक्तवृत्तय इति। नैव वृत्तिरीतीनां तद्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। तथा ह्यनुप्रासानामेव दीप्तमसृणमध्यवर्णनीयोप-

उन्हीं अभावों का क्रमशः व्याख्यान करते हैं– **शब्दार्थशरीरं तावदित्यादिना**— यहाँ 'तावत्' शब्द से यह प्रदर्शित करते हैं कि इस विषय में किसी को भी विप्रतिपपत्ति या (विरुद्ध आशङ्का) नहीं है। उस काव्यशरीर में रहने वाले शब्द अर्थ ध्वनि नहीं है। क्योंकि संज्ञामात्र से क्या लाभ? जब शब्द और अर्थ की चारुता ध्वनि है तो वह चारुता भी दो प्रकार की होती है– प्रथम स्वरूपमात्रनिष्ठ दूसरा संघटनाश्रित। उसमें शब्दों के स्वरूपमात्र से निर्मित चारुत्व शब्दालङ्कारों से और संघटनाश्रित चारुत्व शब्दगुणों से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अर्थों का भी स्वरूपमात्रनिष्ठ चारुत्व उपमादि अलङ्कारों से और संघटनाश्रित चारुत्व अर्थगुणों से उत्पन्न होता है। अतः गुण और अलङ्कार से भिन्न कोई ध्वनि पदार्थ नहीं हैं। **संघटनाधर्मा** इति यहाँ शब्द और अर्थ इतना शेष है। जो गुण और अलङ्कार से भिन्न है वह चारुत्व उत्पन्न नहीं कर सकता जैसे असाधु और दुःश्रवादि नित्य-अनित्य दोष। यद्यपि ध्वनि चारुत्व में हेतु है फिर भी वह गुणधर्म से व्यतिरिक्त नहीं यह व्यतिरेकी हेतु है। पुनः शङ्का करते हैं कि जिस प्रकार वृत्तियाँ और रीतियाँ गुणों और अलङ्कारों से व्यतिरिक्त होने पर भी साथ ही चारुत्व के हेतु है उसी प्रकार ध्वनि भी गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त होकर चारुत्व का हेतु होगा ही। इस प्रकार व्यतिरेक असिद्ध है इस अभिप्राय से कहते हैं– **तदनतिरिक्तवृत्तयो रीतियोऽपि**— वृत्तियों और रीतियों का उनसे व्यतिरिक्तत्व सिद्ध

लोचनम्

योगितया परुषत्वललितत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः, वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा आस्विति। यदाह–

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥ इति ॥

पृथक्पृथगिति। परुषानुप्रासा नागरिका। मसृणानुप्रासा उपनागरिका, ललिता। नागरिकया विदग्धया उपमितेति कृत्वा। मध्यममकोमलपरुषमित्यर्थः। अत एव वैदग्ध्यविहीनस्वभावासुकुमारापरुषग्राम्यवनितासादृश्यादियं वृत्तिर्ग्राम्येति। तत्र तृतीयः कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव। न चेह वैशेषिकवद् वृत्तिर्विवक्षिता, येन जातौ जातिमतो वर्तमानत्वं न स्यात्, तदनुग्रह एव हि तत्र वर्तमानत्वम्। यथाह कश्चित्–

लोकोत्तरे हि गाम्भीर्ये वर्तन्ते पृथिवीभुजः। इति।

नहीं है जैसा कि अनुप्रासों के ही दीप्त, मसृण, मध्यम वर्णनीयों की उपयोगिता के अनुसार परुषत्व, ललितत्व और मध्यमत्वस्वरूप के विवेचन के लिये तीन वर्गों के संपादनार्थ तीन अनुप्रास जातियाँ और तीन वृत्तियाँ कहीं गई हैं और इनमें अनुप्रास के भेद वर्तमान रहते हैं जैसा कि कहा भी है—**सरूपेति।**

कविजन इन तीन वृत्तियों में सजातीय व्यञ्जनों के न्यास के लिये पृथक्-पृथक् अनुप्रास का सन्निवेश सदा चाहते रहते हैं।

पृथक्-पृथक् इति परुष अनुपास वाली वृत्ति नागरिका है।

(स्निग्धवर्णो) के मसृण अनुप्रास वाली वृत्ति उपनागरिका या ललिता है। यहाँ उपमिता नागरिकया विदग्धयेति उपनागरिका इस प्रकार का समास है। मध्यमा नाम वाली तीसरी वृत्ति कोमलता तथा पारुष्यरहित होने से मध्यम है, अतएव वैदग्ध्य से विहीन स्वभाव वाली वह सौकुमार्य एवं पारुष्यरहित होने के कारण ग्राम्यवनिता के सदृश है। इसको ग्राम्या वृत्ति भी कहते हैं। यह तृतीया वृत्ति कोमल अनुप्रास वाली होती है। इस प्रकार वृत्तियाँ अनुप्रास की जातियाँ ही है उससे भिन्न नहीं हैं। यहाँ वैशेषिक मत की भाँति वृत्ति विवक्षित नहीं है। वैशेषिक जाति में जातिमान् का रूप जाति का वर्तमान होना नहीं मानता, किन्तु यहाँ तो वृत्ति रूप जाति का अनुग्रह सदा वर्तमान ही रहता है। जैसा कि किसी ने कहा है—

राजा लोग लोकोत्तर गाम्भीर्य में सदा वर्त्तमान रहते हैं। यहाँ गाम्भीर्यकर्तृक अनुग्रह ही है जिसके बिना राजा लोग कोई काम नहीं कर सकते। इसी प्रकार अनुप्रासादि में रसाभिव्यञ्जक व्यापार वृत्तियों का ही होता है। अतः वृत्तियाँ अनुप्रासादि

ध्वन्यालोकः

अन्ये ब्रूयुः– नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति। न च

(अब अभाववाद का दूसरा विकल्प कहते हैं **अन्य इति**) दूसरे अभाववादी कह सकते हैं कि ध्वनि है ही नहीं। प्रसिद्ध प्रस्थान (प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत् प्रस्थानं प्रसिद्धं च तत् प्रस्थानम् प्रसिद्धप्रस्थानम्) शब्द और अर्थ रूप लक्षण वाले काव्यमार्ग का अतिक्रमण करने वाले ध्वनिरूप किसी नवीन अर्थ को मानने से काव्य के काव्यत्व की ही हानि होगी। उसमें काव्य का लक्षण भी घटित नहीं होगा, क्योंकि सहृदयहृदयाह्लादक शब्दार्थयुक्तता ही काव्य का

लोचनम्

तस्माद् वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो नाभ्यधिकव्यापाराः। अत एव व्यापारभेदाभावान्न पृथगनुमेयस्वरूपा अपीति वृत्तिशब्दस्य व्यापारवाचिनोऽभिप्रायः। अनतिरिक्तत्वादेव वृत्तिव्यवहारो भामहादिभिर्न कृतः। उद्भटादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिन्नार्थः कश्चिदधिको हृदयपथमवतीर्ण इत्यभिप्रायेणाह–गताः श्रवणगोचरमिति। रीतयश्चेति। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमिति सम्बन्धः। तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषां च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां सङ्घातरूपतागमनं दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषयं गौडीयवैदर्भपाञ्चाल-देशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम्। जातिर्जातिमतो नान्या,

से अलग नहीं रहतीं किन्तु उससे अभिन्न ही हैं इसीलिये भामह आदि आचार्यों ने वृत्ति का व्यवहार नहीं किया। उद्भट आदि द्वारा उसका प्रयोग किये जाने पर भी कोई अधिक अर्थ हृदयपथ पर अवतीर्ण नहीं होता। इसी अभिप्राय से कहते हैं—**'गताः श्रवणगोचरम्'**।। **रीतयश्चेति** और रीतियाँ भी उससे भिन्न होकर नहीं रहतीं। यह बात सुनने में आई हैं। यहाँ तत् शब्द से माधुर्यादि गुण अभिप्रेत हैं। और उन गुणों के समुचित (ठीक-ठीक) रूप से वृत्ति में मिल जाने पर परस्पर सम्मेलन की क्षमता होने के कारण उचित मात्रा में सम्मिलित स्वरूप गुड, मरीचादि रसों का पानकर शिखरिणी शर्वत के समान हो जाता है जो दीप्त, ललित, मध्यम का वर्णनीय विषयस्वरूप गौडीय, वैदर्मी, पाञ्चाली देश के हेवाक (स्वभाव) की प्रचुरता की दृष्टि से त्रिविध होकर रीति रूप में कहा जाता है। जाति जातिमान् से अन्य नहीं होती,

ध्वन्यालोकः

तत्समतान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि न सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।

लक्षण है। उस शब्दार्थ शरीर वाले काव्य के मार्ग का अतिक्रमण करने वाले ध्वनि में उक्त लक्षणवाले काव्य का होना संभव नहीं है। यदि ध्वनिसंप्रदायान्तर्गत ध्वनिवादी किन्हीं व्यक्तियों को स्वेच्छा से सहृदय मान कर उनके कथनानुसार किसी परिकल्पित नवीन ध्वनि में काव्य नाम का व्यवहार प्रचलित किया भी जाय तो वह विद्वानों को कथमपि स्वीकार्य न होगा।

लोचनम्

समुदायश्च समुदायिनो नान्य इति वृत्तिरीतयो न गुणालङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित एवासौ व्यतिरेकी हेतुः। तदाह–तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति। नैष चारुत्वस्थानं शब्दार्थरूपत्वाभावात्। नापि चारुत्वहेतुः, गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वादिति। तेनाखण्डबुद्धिसमास्वाद्यमपि काव्यमपोद्धारबुद्ध्या यदि विभज्यते, तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिदतिरिक्तोऽर्थो लभ्यत इति नामशब्देनाह।

ननु मा भूदसौ शब्दार्थस्वभावः मा च भूत्तच्चारुत्वहेतुः तेन गुणालङ्कारव्यतिरिक्तोऽसौ स्यादित्यासशङ्क्य द्वितीयमभाववादप्रकारमाह–अन्य इति। भवत्वेवम्; तथापि नास्त्येव ध्वनिर्यादृशस्तव लिलक्षयिषितः।

समुदाय समुदायी से अन्य नहीं होती, इसी प्रकार वृत्ति तथा रीतियाँ और गुण अलङ्कार से भिन्न नहीं कहे जा सकते। इसलिये प्रकृत में व्यतिरेक हेतु तदवस्थ ही रहा। इसीलिये मूल में कहते हैं— **'तद् व्यतिरिक्तःकोऽयंध्वनिरिति।** शब्द, अर्थ एवं उन वृत्ति, रीति, गुण और अलङ्कार से भिन्न ध्वनि नाम का नया पदार्थ क्या है? यह ध्वनि चारुत्व का स्थान है यदि ऐसा कहो तो उचित नहीं, क्योंकि वह न तो शब्द स्वरूप है और न अर्थ रूप है। इतना ही नहीं वह च.ारुत्व का हेतु भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह गुण और अलंकार से व्यतिरिक्त है। इसलिये अखण्डबुद्धि से समास्वादन के योग्य काव्य को यदि अपोद्धार (विमाग) बुद्धि से विभक्त भी किया जाय तो भी ध्वनि शब्द का वाच्य कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं प्राप्त होता, इसी बात को वृत्ति में **'नाम' शब्द** से कहा गया है।

यहाँ शङ्का करते हैं कि यह ध्वनि शब्दार्थ स्वभाव वाला न हो। चारुत्व का हेतु भी न हो। इससे वह गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त (भिन्न) तो होगा ऐसी आशङ्का कर अभाववाद का दूसरा विकल्प कहते हैं– **अन्य इति।** यदि हमने मान लिया कि

लोचनम्

काव्यस्य ह्यसौ कश्चिद्वक्तव्यः न चासौ नृत्तगीतवाद्यादिस्थानीयः काव्यस्य कश्चित्। कवनीयं काव्यं, तस्य भावश्च काव्यत्वम्। न च नृत्तगीतादि कवनीयमित्युच्यते।

प्रसिद्धेति। प्रसिद्धं प्रस्थानं शब्दार्थौ तद्गुणालङ्काराश्चेति, प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम्। काव्यप्रकारस्येति। काव्यप्रकारत्वेन तव स मार्गोऽभिप्रेतः, 'काव्यस्यात्मा' इत्युक्तत्वात्। ननु कस्मात्तत्काव्यं न भवतीत्याह– सहृदयेति। मार्गस्येति। नृत्तगीताक्षिनिकोचनादिप्रायस्येत्यर्थः। तदिति। सहृदयेत्यादिकाव्यलक्षणमित्यर्थः। ननु ये तादृशमपूर्वं काव्यरूपतया जानन्ति, त एव सहृदयाः। तदभिमतत्वं च नाम काव्यलक्षणमुक्तप्रस्थानातिरेकिण एव भविष्यतीत्याशङ्क्याह– न चेति। यथा हि खड्गलक्षणं करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्राव्रियमाणः सकलदेहाच्छादकः सुकुमारश्चित्रतन्तुविरचितः संवर्तनविवर्तनसहिष्णुरच्छेदकः सुच्छेद्य उत्कृष्टः खड्ग इति ब्रुवाणः, परैः पटः खल्वेवंविदो भवति न खड्ग इत्ययुक्ततया पर्यनुयुज्यमान एवं ब्रूयात्– ईदृश एव खड्गो

गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त कोई ध्वनि है किन्तु तुम्हें जैसा लक्षणयुक्त ध्वनि बनाना अभिलषित है वैसा ध्वनि तो है ही नहीं। क्योंकि ध्वनि को काव्य का कोई तत्त्व होना चाहिये जो प्रस्तुत में लक्षणीय हो। कवनीय ही काव्य है, उसका भाव काव्यत्व कहा जाता है। काव्यत्व से पृथक् नृत्तगीतादि कवनीय नहीं कहे जाते।

प्रसिद्धेति— प्रसिद्ध प्रस्थान-शब्द और अर्थ तथा उन शब्दों और अर्थों के गुण और अलङ्कार–**प्रतिष्ठन्ते इति प्रस्थानम्** इस व्युत्पत्ति के अनुसार परम्परया जिस मार्ग से व्यवहृत होते हैं वही प्रस्थान है। **काव्यप्रकारस्येति**–काव्य के प्रकार रूप से जो मार्ग तुम्हें अभिप्रेत है, क्योंकि तुम उसे काव्य की आत्मा कह चुके हो। आशङ्का करते हैं कि किस कारण वह काव्य नहीं है? इसका उत्तर देते हैं— **सहृदयेति। मार्गस्येति** नृत्य, गीत आँखों का निकोचन (संकोच-विकास) आदि के सदृश वहाँ **सहृदयेत्यादि** काव्य का लक्षण जो उस प्रकार के अपूर्व को काव्य के लक्षण के रूप से जानते हैं वे ही सहृदय हैं, और उन सहृदयों को अभिमत इसका तात्पर्य यह कि काव्यलक्षण कहे हुये प्रस्थानों के अतिरिक्त का ही होगा। ऐसी आशङ्का कर कहते है—**न चेति** जिस प्रकार कोई कहे कि मैं खड्ग का लक्षण इस प्रकार करता हूँ ऐसा कह कर आतान-वितान स्वभाव वाला, प्रावरण से युक्त सारे शरीर को ढक देने वाला, सुकुमार चित्र-विचित्र तन्तुओं से बना हुआ, सङ्कोच-विकास को सहन करने वाला, किसी का छेदन

ध्वन्यालोक:

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः– न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात्।

तीसरे अभाववादी उस ध्वनि का अभाव अन्य प्रकार से कह सकते हैं– ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ संभव ही नहीं है। क्योंकि यदि वह कमनीयता का अतिक्रमण नहीं करता है तो उसका उक्त (गुण अलङ्कारादि) चारुत्व हेतुओं में ही अन्तर्भाव हो जायगा। अथवा यदि गुण अलङ्कारादि में वर्त्तमान होने पर किसी का ध्वनि यह नाम रख भी दिया जाय तो वह अकिञ्चित्कर ही होगा और वह बहुत तुच्छ बात होगी।

लोचनम्

ममाभिमत इति तादृगेवैतत्। प्रसिद्धं हि लक्ष्यं भवति न कल्पितमिति भावः। तदाह–सकलविद्वदिति। विद्वांसोऽपि हि तत्समयज्ञा एव भविष्यन्तीति शङ्कां सकलशब्देन निराकरोति। एवं हि कृतेऽपि न किञ्चित्कृतं स्यादुन्मत्तता परं प्रकटितेति भावः।

यस्त्वत्राभिप्रायं व्याचष्टे– जीवितभूतो ध्वनिस्तावत्तवाभिमतः, जीवितं च नाम प्रसिद्धप्रस्थानातिरिक्तमलङ्कारकारैनुक्तत्वात्तच्च न काव्यमिति लोके प्रसिद्धमिति। तस्येदं सर्वं स्ववचनविरुद्धम्। यदि हि

करने वाला किन्तु सुखपूर्वक स्वयं छिन्न होने की योग्यता रखने वाला ऐसा उत्कृष्ट खड्ग होता है ऐसा कहता है। किन्तु जब दूसरा कहता है कि यह खड्ग का लक्षण नहीं है। ऐसा तो खड्ग का लक्षण नहीं प्रत्युत पट का लक्षण है। इस प्रकार उसके अयुक्त होने के कारण किसी के द्वारा पूछे जाने पर वह व्यक्ति कहे कि हमें तो ऐसा ही खड्ग का लक्षण अभिप्रेत है उसी तरह की बात हुई। तात्पर्य यह कि लक्ष्य प्रसिद्ध होता है स्वकल्पित नहीं। इसीलिये कहते है **सकलविद्वदिति** विद्वान् भी उसी सङ्केत के जानने वाले होने चाहिये। इस शङ्का का समाधान वृत्तिकार **सकल** शब्द से करते हैं। तात्पर्य यह कि इतना सब कुछ कह कर दूसरे अभाववादी ने कुछ नहीं किया, केवल अपना पागलपन व्यक्त किया।

जो व्यक्ति इस संदर्भ की व्याख्या करता है कि तुम्हारा अभिमत है कि ध्वनि काव्य का जीवितभूत तत्त्व है और वह जीवित रूप ध्वनि प्रसिद्ध प्रस्थानों से भिन्न

ध्वन्यालोकः

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च।

किञ्चेति और वक्तीति वाग् अभिधा व्यापार। इस प्रकार इन व्युत्पत्तियों से शब्द, अर्थ और शब्दशक्तिस्वरूपा वाणी द्वारा कही जाने वाली कथनशक्तियों के अनन्त प्रकार होने से प्रसिद्ध काव्यलक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित कोई छोटा मोटा प्रकार संभव भी हो तो भी ध्वनि-ध्वनि कह कर और मिथ्या सहृदयत्व की भावना से आँखें बन्द कर जो यह अकाण्डताण्डव किया जाता है इसका कोई औचित्य हेतु प्रतीत नहीं होता। अन्य सहस्रों विद्वान् महात्माओं ने काव्य-शोभा संपादक सहस्रों प्रकार के अलङ्कार प्रकाशित किये है और प्रकाशित कर

लोचनम्

तत्काव्यस्यानुप्राणकं तेनाङ्गीकृतं पूर्वपक्षवादिना तच्चिरन्तनैरनुक्तमिति प्रत्युत लक्षणार्हमेव भवति। तस्मात्प्राक्तन एवात्राभिप्रायः।

ननु भवत्वसौ चारुत्वहेतुः शब्दार्थगुणालङ्कारान्तर्भूतश्च, तथापि ध्वनिरित्यमुया भाषया जीवितमित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्क्य तृतीयमभाववादमुपन्यस्यति–पुनरपर इति। कामनीयकमिति कमनीयस्य कर्म। चारुत्वधीहेतुतेति यावत्।

है। तो उससे क्या आलङ्कारिकों के द्वारा उसे काव्य न कहे जाने के कारण वह लोक में काव्यरूप से प्रसिद्ध नहीं हुआ। इस प्रकार कहे गये ये सभी वचन उस व्यक्ति के अपने ही कथन से विरुद्ध हैं, क्योंकि उस पूर्वपक्षवादी ने यह स्वीकार कर लिया है कि ध्वनि काव्य का ही अनुप्राणक तत्त्व है। उस ध्वनि का लक्षण प्राचीन आचार्यों द्वारा न किये जाने के कारण उसका लक्षण करना ही चाहिये। इसलिये इस दूसरे अभिप्राय को न मान कर पहला अभिप्राय ही ठीक है।

पुनः आशङ्का करते हैं– माना कि वह ध्वनि चारुत्व का हेतु है और शब्द, अर्थ, गुण और अलङ्कार के अन्तर्भूत भी है तथापि 'ध्वनि' उस भाषा से काव्य का प्राण है' ऐसा तो किसी के द्वारा नहीं कहा गया। इस आशङ्का के अभिप्राय से तीसरे अभाववाद का उपन्यास करते हैं— **पुनरपर इति।** कामनीयक कमनीय कर्म अर्थात् जो चारुत्व बुद्धि का हेतु भी है।

ध्वन्यालोक:

न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः-

भी रहे हैं। उनकी तो यह (मिथ्या सहृदयत्वाभिमानमूलक अकाण्ड ताण्डव वाली) अवस्था कभी सुनने में नहीं आती। (अत: ध्वनिवादी का यह अकाण्डताण्डव सर्वथा व्यर्थ है) इससे यह सिद्ध हुआ कि ध्वनि एक प्रवादमात्र है जिसमें विचारयोग्य तत्त्व कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इसी आशय का अन्य (ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के समकालीन मनोरथ कवि) का श्लोक है **यस्मिन्निति।**

लोचनम्

ननु विच्छित्तीनामसंख्यत्वात्काचित्तादृशी विच्छित्तिरस्माभिर्दृष्टा, या नानुप्रासादौ, नापि माधुर्यादवुक्तलक्षणेऽन्तर्भवेदित्याशङ्क्याभ्युपगमपूर्वकं परिहरिति-वाग्विकल्पानामिति। वक्तीति वाक् शब्दः। उच्यत इति वागर्थः। उच्यतेऽनयेति वागभिधाव्यापारः। तत्र शब्दार्थवैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः। अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः। अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽप्यसंख्येयः। प्रकार-लेश इति। स हि चारुत्वहेतुर्गुणो वालङ्कारो वा। स च सामान्यलक्षणेन संगृहीत एव। यदाहुः-'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारः' इति। तथा 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा

विच्छित्तियों (वैचित्र्यों) के असंख्य होने के कारण कितनी ऐसी विच्छितियाँ हमने देखी हैं जो न तो अनुप्रासादि अलङ्कारों में और न माधुर्यादि गुणों में जैसा कि उनके लक्षण कहे गये हैं अन्तर्भूत हैं, ऐसी आशङ्का कर उसे स्वीकार करते हुये परिहार करते हैं- किञ्च **वाग्विकल्पेति** वाक् की तीन व्युत्पत्तियाँ हैं उनके अनुसार **वक्तीति वाक्**' इस व्युत्पत्ति से वाक् का अर्थ शब्द हुआ। **उच्यते यत्तद् वाक्** इस व्युत्पत्ति से अर्थ, **उच्यते अनयेति वाक्** इस व्युत्पत्ति से अभिधाव्यापार इस प्रकार इन तीनों व्युत्पत्तियों से लब्ध शब्द, अर्थ, शब्दशक्ति द्वारा कहे जाने के कारण शब्दार्थ के वैचित्र्य के अनन्त प्रकार हैं। इसी प्रकार अभिधावृत्ति का भी व्यापार असंख्य है। **प्रकारलेश** इति वह चारुत्व का हेतु गुण हो अथवा अलङ्कार हो वह सामान्य लक्षण द्वारा संगृहीत हो जायेगा। जैसा कि वामन भी कहते हैं- काव्य के शोभाकारी धर्म गुण है और उस काव्य के अतिशय शोभाकारी हेतु अलङ्कार है तथा वक्राभिधेय को उद्देश्य कर कहीं जाने वाली शब्दोक्ति वाणी की अलङ्कृति है, फिर ध्वनिध्वनि इस वीप्सा (बारम्बार)

ध्वन्यालोकः

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालङ्कृति
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ॥

जिसमें अलङ्कारयुक्त एवं मन को आह्लादित करने वाली कोई वस्तु (अर्थ) नहीं है। (इससे अर्थालङ्कार का अभाव सूचित किया गया) जो चातुर्ययुक्त सुन्दर वचनों से विरचित नहीं है। (इससे शब्दालङ्कारशून्यता सूचित की गई) और जो वक्रोक्तियों से शून्य है (इससे गुणराहित्य सूचित किया) इस प्रकार जो शब्द के चारुत्वभूत अनुप्रासादि अलङ्कारों से शून्य अर्थ के चारुत्वभूत उपमादि अर्थालङ्कारों

लोचनम्

वाचामलंकृतिः' इति । ध्वनिर्ध्वनिरिति वीप्सया सम्भ्रमं सूचयन्नादरं दर्शयति– नृत्यत इति। तल्लक्षणकृद्भिस्तद्युक्तकाव्यविधायिभिस्तच्छ्रवणोद्भूतचमत्कारैश्च प्रतिपत्तिभिरिति शेषः ध्वनिशब्दे कोऽत्यादर इति भावः। एषा दशेति। स्वयं दर्पः परैश्च स्तूयमानतेत्यर्थः। वाग्विकल्पाः वाक्प्रवृत्तिहेतुप्रतिभाव्यापारप्रकारा इति वा। तस्मात्प्रवादमात्रमिति। सर्वेषामभाववादिनां साधारण उपसंहारः। यतः शोभाहेतुत्वे गुणालङ्कारेभ्यो न व्यतिरिक्तः, यतश्च व्यतिरिक्तत्वे न शोभाहेतुः, यतश्च शोभाहेतुत्वेऽपि

से कथन द्वारा ध्वनिवादियों का संभ्रम (हड़बड़ी) सूचित करते हैं। इतना ही नहीं, वे उस ध्वनि में आदर भी प्रदर्शित करते हैं कि यह कर वे नृत्य करते हैं। इस वाक्य में इतना शेष और जोड़ देना चाहिये– ध्वनि का लक्षण करने वाले, ध्वनियुक्त काव्य का निर्माण करने वाले तथा उसके सुनने मात्र से उत्पन्न चमत्कारों से प्रभावित होने वाले जन। तात्पर्य यह कि केवल 'ध्वनि' इस शब्दमात्र में इतने आदर की आवश्यकता क्यों? **एषा दशेति** इसका तात्पर्य यह कि स्वयं दर्प से परिपूर्ण और दूसरों से स्तूयमान वे ध्वनिवादी **वाग्विकल्पा इति** वाक्य प्रवृत्ति के हेतुभूत प्रतिभा व्यापार के प्रकार। **अतः प्रवाद मात्रमिति** इस वाक्य से समस्त अभाववादियों का सामान्य रूप से उपसंहार करते हैं, क्योंकि यदि ध्वनि काव्य शोभा का हेतु है तो वह गुण और अलङ्कारों से व्यतिरिक्त नहीं है। यदि वह गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त है तो वह काव्य शोभा का आधायक नहीं और यदि वह कथञ्चिद् शोभा का हेतु हो भी तो आदरास्पद नहीं इस कारण से भी । यह अभाव की सम्भावना बिना किसी मूल के है ऐसी बात नहीं।

ध्वन्यालोक:

भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।

और शब्दसंघटना के चारुत्वभूत माधुर्यादि गुणों से सर्वथा शून्य है) उस काव्य की 'यह ध्वनि से युक्त उत्तम काव्य है' यह कह कर (गतानुगतिक रूप से अथवा गड्डलिका प्रवाह से) प्रशंसा करने वाला ध्वनिवादी मूर्ख किसी बुद्धिमान् द्वारा पूछने पर मालूम नहीं ध्वनि का लक्षण या स्वरूप क्या बतायेगा? हम नहीं जानते।

भाक्तमिति दूसरे लोग उसको लक्ष्य या गौण कहते हैं। अन्य लोग उस ध्वनि नामक काव्य को गुणवृत्ति गौण कहते हैं। भाक्तवाद पुस्तकों में अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है।

लोचनम्

नादरास्पदं तस्मादित्यर्थः। न चेयमभावसम्भावना निर्मूलैव दूषितेत्याह– तथा चान्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना। यतो न सालङ्कृति, अतो न मनःप्रह्लादि। अनेनार्थलङ्काराणामभाव उक्तः। व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैरिति शब्दालङ्काराणाम्। वक्रोक्तिशून्यशब्देन सामान्यलक्षणाभावेन सर्वालङ्काराभाव उक्त इति केचित्। तैः पुनरुक्तत्वं न परिहृतमेवेत्यलम्। प्रीत्येति। गतानुगतिकानुरागेणेत्यर्थः। सुमतिनेति। जडेन पृष्टो भ्रूभङ्गकटाक्षादिभिरेवोत्तरं ददत्तत्स्वरूपं काममाचक्षीतेति भावः।

इस पर कहते हैं— तथा **चान्येन कृतं एवात्र श्लोक** इति ग्रन्थकार के समसामयिक मनोरथ कवि ने इसके मूल ध्वनि के अभाववाद की घोषणा इस श्लोक से की है। यत: वह वस्तु अलङ्कार से युक्त नहीं है, अत: वह आह्लादित करने वाली भी नहीं है। इससे अर्थालङ्कारों का अभाव कहा। व्युत्पन्न बचनों द्वारा विरचित नहीं, इससे शब्दालङ्कारों का अभाव कहा। वक्रोक्ति अर्थात् उत्कृष्ट संघटना से शून्य, इससे शब्द और अर्थ के गुणों का अभाव कहा। यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि वक्रोक्तिशून्य शब्द से उसका सामान्य लक्षण न होने के कारण यहाँ समस्त अलङ्कारों का अभाव कहा गया है। उन व्याख्याकारों ने परिहार नहीं किया इसलिये उनका कथन ठीक नहीं। **प्रीत्येति** बड़े प्रेम से अर्थात् गतानुगतिक (लकीर के फकीर होने के प्रति) अनुसरण के कारण। **सुमतिना** सुलझी बुद्धि वालों द्वारा। यदि कोई बुद्धिमान् उस जड़ बुद्धि वाले मूर्ख से प्रश्न करता है तो वह भ्रूभङ्ग के कटाक्ष से आँखें मटका कर ही उत्तर देते हुये ध्वनि के स्वरूप को पूरा-पूरा कह देता है। इसका यही तात्पर्य है।

लोचनम्

एवमेतेऽभावविकल्पाः शृङ्खलाक्रमेणागताः, न त्वन्योन्यासम्बद्धा एव। तथा हि तृतीयाभावप्रकारनिरूपणोपक्रमे पुनःशब्दस्यायमेवाभिप्रायः, उपसंहारैक्यं च सङ्गच्छते। अभाववादस्य सम्भावनाप्राणत्वेन भूतत्वमुक्तम्। भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेष्वित्यभिप्रायेण भाक्तमाहुरिति। नित्यप्रवृत्तवर्तमानापेक्षयाभिधानम्। भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः, तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः। यदाहुः—

अभिधेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥ इति ॥

गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः। भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः, तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधा, निमित्तं, प्रयोजनमिति त्रयसद्भाव

इस प्रकार ये अभाववाद के विकल्प शृङ्खलाक्रम से प्राप्त हैं न कि अन्योन्य से असम्बद्ध हैं, जैसा कि तीसरे अभाव प्रकार के निरूपण के प्रसङ्ग के उपक्रम में पुनः शब्द का अभिप्राय है जिससे उपसंहार की एकता संगत हो जाती है। यतः यह अभाववाद इस सम्भावना का प्राण है इसलिये उसमें जगदुः इस भूतकाल का निर्देश है। भाक्तवाद पुस्तकों में सतत चल रहा है। इस अभिप्राय से **भाक्तमाहुस्तमन्ये** यहाँ आहुः पद में वर्त्तमान काल है जो नित्यप्रवृत्त वर्त्तमान की अपेक्षा कर अभिहित किया गया है। भज्यते सेव्यते अर्थात् प्रसिद्ध होने के कारण उत्प्रेक्षित हो वह भाक्त कहा जाता है। यतः वह अभिधेय के द्वारा सामीप्यादि धर्म उत्प्रेक्षित होता है, उससे प्रतीत होने वाला लाक्षणिक अर्थ (लक्ष्यार्थ) भाक्त कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है– **अभिधेयेन**— अभिधेय के द्वारा सामीप्य, सारूप्य, समन्वय, वैपरीत्य तथा क्रियायोग रूप सम्बन्ध होने के कारण लक्षणा पाँच प्रकार की कही गई है।

गुण समुदाय में रहने वाले शब्द का अर्थांश तैक्ष्ण्यादि (सिंहो माणवकः इस स्थल में) भक्ति है। उससे आगत (प्रतीत होने वाला) गौण अर्थ भाक्त कहा जाता है। सामीप्य, तैक्ष्ण्यादि प्रतिपाद्य अर्थ में श्रद्धातिशय को भक्ति कहते हैं, उसी श्रद्धातिशय रूप भक्ति को प्रयोजन के रूप में उद्देश्य कर उससे आगत प्रतीत होने वाला भाक्त है, इस प्रकार निष्पन्न भाक्त के दो भेद हैं (१) गौण। (२) लाक्षणिक।

लोचनम्

उपचारबीजमित्युक्तं भवति। काव्यात्मानं गुणवृत्तिरिति। सामानाधिकरण्यस्यायं भावः– यद्यप्यविवक्षितवाच्ये ध्वनिभेदे 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादावुपचारोऽस्ति, तथापि न तदात्मैव ध्वनिः, तद्व्यतिरेकेणापि भावात्, विवक्षितान्यपरवाच्यप्रभेदादौ। अविवक्षितवाच्येऽप्युपचार एव न ध्वनिरिति वक्ष्यामः। तथा च वक्ष्यति–

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः ।
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तथा ॥ इति ॥
कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् । इति च ।

गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च। तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा। गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः। एतदुक्तं भवति–ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इति वा, ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तथाप्युपचरितशब्दार्थव्यापारातिरिक्तो नासौ कश्चित्। मुख्यार्थे ह्यभिधैवेति पारिशेष्यादमुख्य एव ध्वनिः, तृतीयराश्यभावात्।

इसका (भक्तिका) दूसरा भी अर्थ है मुख्य अर्थ का भङ्ग हो जाना भक्ति है। इस प्रकार की मुख्यार्थ-बाध, निमित्त और प्रयोजन इन तीनों का सद्भाव उपचार (लक्षणा) का बीज है। ऐसा कहा जा सकता है। **काव्यात्मानं गुणवृत्तिरिति** उस ध्वनिसंज्ञक काव्यात्मा को गुणवृत्ति कहते हैं। यहाँ ध्वनि और गुणवृत्ति को एक समानाधिकरण में रहने वाला बताया गया है। इसका तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये– यद्यपि अविवक्षित वाच्य नामक ध्वनि के एक भेद **निःश्वासान्ध इवादर्शः** इत्यादि स्थल में उपचार है तथापि ध्वनि उपचारात्मा ही नहीं है, क्योंकि उपचार के अभाव में भी ध्वनि होता है। जैसे वह विवक्षितान्यपरवाच्य रूप ध्वनि के प्रभेदादि में भी होता है। अविवक्षितवाच्य में उपचार ही होता है। जहाँ ध्वनि नहीं होती इसे हम आगे होंगे। जैसा कि आगे मूलकार स्वयं कहेंगे। भक्त्येति यह ध्वनि स्वरूपभेद के कारण भक्ति के साथ एकत्व प्राप्त नहीं करता। अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के कारण वह उस प्रकार लक्षित भी नहीं होता। हां, ध्वनि के किसी भेद का वह भक्ति उपलक्षण हो सकती है। अब लोचनकार गुणवृत्ति का अर्थ करते हैं—

सामीप्यादि गुण हैं, तैक्ष्ण्यादि धर्म हैं। उन (निमित्त रूप) उपायों द्वारा अर्थान्तर में जिसकी वृत्ति हो। अथवा उन उपायों द्वारा शब्द की वृत्ति हो जहाँ वह गुणवृत्ति जो शब्द भी है और अर्थ भी है। अथवा गुण के द्वारा जहाँ वर्तन हो वह गुणवृत्ति जो अमुख्य अमिधाव्यापार है। इसका तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये– '**ध्वनतीति**

ध्वन्यालोकः

यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुण-वृत्तिरन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्– 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति।

यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उल्लेख कर (ध्वनि नाम लेकर) गुणवृत्ति या अन्य गुण अलङ्कारादि कोई अन्य प्रकार प्रदर्शित नहीं किया है। तथापि अमुख्य वृत्ति से काव्यों में व्यवहार प्रदर्शित करते हुये प्राचीनों ने ध्वनि मार्ग का किञ्चित अंश स्पर्श कर भी उसका लक्षण नहीं किया है ऐसी परिकल्पना करके कहा गया कि **भाक्तमाहुस्तमन्ये** इति।

लोचनम्

ननु केनैतदुक्तं ध्वनिर्गुणवृत्तिरित्याशङ्क्याह–यद्यपि चेति। अन्यो वेति। गुणालङ्कारप्रकार इति यावत्। दर्शयतेति। भट्टोद्भटवामनादिना। भामहेनोक्तं– 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे– 'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति। वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति। मनाक्स्पृष्ट इति। तैस्तावद् ध्वनिदिगुन्मीलिता, यथालिखितपाठकैस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुमशक्नुवद्भिस्तत्स्वरूपविवेको न कृतः प्रत्युतोपालभ्यते,

ध्वनि' इस व्युत्पत्ति से ध्वनि शब्द का अर्थ शब्द है अथवा **ध्वन्यते यः स ध्वनिः** इस व्युत्पत्ति से ध्वनि अर्थ स्वरूप है अथवा **ध्वननं ध्वनिः** इस व्युत्पत्ति से अभिधा व्यापार अर्थ होता है ऐसा कहा जाता है तथापि वह उपचरित शब्द अर्थ और अमिधा व्यापार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मुख्यार्थ में तो केवल अमिधा ही होती है। पारिशेष्यात् उससे बच जाने पर अमुख्य ही ध्वनि है, क्योंकि मुख्य और अमुख्य के अतिरिक्त किसी तीसरी राशि का सर्वथा अभाव है।

यहाँ शङ्का उपस्थित करते हैं कि किसने ध्वनि को गुणवृत्ति कहा है? इस पर कहते हैं—**यद्यपीति** दूसरे किसी अन्य प्रकार गुण या अलङ्कार का कोई प्रकार। **व्यवहारं दर्शयता** उद्भट और वामन आदि ने। भामह ने कहा है— **शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः**। यहाँ अभिधान का शब्द से भेद व्याख्यान करते हुये उद्भट ने कहा है– 'शब्दों का अभिधान अभिधाव्यापार मुख्य और गुणवृत्ति है।' वामन ने भी कहा है– 'सादृश्य से जो लक्षणा होती है वह वक्रोकि कहलाती है। **मनाक्सपृष्टोऽपि** उन काव्य लक्षणकारों ने ध्वनि की दिशा का उन्मीलन किया है (किन्तु लक्षण नहीं

ध्वन्यालोक:

केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः। तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तस्वरूपं ब्रूमः।

फिर लक्षण निर्माण करने में कतिपय शालीन बुद्धि वाले (सीधे सादे अप्रगल्भ) लोगों ने ध्वनि के तत्त्व को वाणी से परे केवल सहृदय हृदयसंवेद्य बताया। इस कारण इस प्रकार की विमतियों के होने पर सहृदयजनों की प्रसन्नता के लिये हम उस ध्वनि का स्वरूप कहते हैं।

लोचनम्

अभग्ननारिकेलवद् यथाश्रुततद्ग्रन्थोद्ग्रहणमात्रेणेति। अत एवाह– परिकल्प्यैवमुक्तमिति। यद्येवं न योज्यते तदा ध्वनिमार्गः स्पृष्ट इति पूर्वपक्षाभिधानं विरुध्यते।

शालीनबुद्धय इति। अप्रगल्भमतय इत्यर्थः। एते च त्रय उत्तरोत्तरं भव्यबुद्धयः। प्राच्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा। मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि सन्देहेनापह्नुवते। अन्त्यास्त्वनपह्नुवाना अपि लक्षयितुं न जानत इति क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम्। तेनेति। एकैकोऽप्ययं विप्रतिपत्तिरूपो वाक्यार्थो निरूपणे हेतुत्वं प्रतिपद्यत इत्येकवचनम्।

किया)। किन्तु जैसा जो लिख दिया गया है उसे वैसे ही पढ़ लेने वाले अत: ध्वनि का स्वरूप विवेचन करने में असमर्थ उन लोगों ने ध्वनि के स्वरूप पर ध्यान नहीं दिया प्रत्युत उसका उपालम्भ ही करते गये। अभग्न नारियल की भाँति जैसा देखा सुना वैसा ही उसे ग्रहण कर लिया, विस्फोरण कर उस पर विचार नहीं किया। इसलिये कहा— **परिकल्प्यैवमुक्तमिति** यदि इस प्रकार ग्रन्थ की योजना नहीं करते तब **ध्वनिमार्गः स्पृष्टः** यह पूर्वपक्ष का कथन विरुद्ध हो जाता।

शालीनबुद्धय इति अप्रगल्भमति वाले, ये तीनों विप्रतिपत्तिकर्त्ता उत्तरोत्तर भव्य (उत्कृष्ट) बुद्धिवाले हैं। संबसे प्राचीन अभाववादी सर्वथा उल्टी बातें करते हैं कि ध्वनि है ही नहीं। मध्यम भाक्तवादी उस ध्वनि का स्वरूप जानते हुये संदेह होने के कारण उसे छिपा देते हैं और अन्तवाले इन लक्षणावादी ध्वनि को छिपाते तो नहीं किन्तु उसको लक्षण से लक्षित करना नहीं जानते। अत: क्रमश: उनके अज्ञान में विपर्यास, संदेह और अज्ञान ही प्रधान कारण हैं। **तेनेति** वृत्तिग्रन्थ में तीनों ध्वनि की विप्रतिपत्तियों को उद्धृत किया किन्तु वे तीनों एक-एक के क्रम से ध्वनि की विप्रतिपत्ति में हेतु हैं। इसी बात को सूचित करने के लिये आचार्य ने **तेन** इस एक वचन का प्रयोग

ध्वन्यालोक:

तस्य हि ध्वने: स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमति-रमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तरकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिर-नुन्मीलितपूर्वम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते॥१॥

उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्यों का परम रहस्यभूत उपनिषद् ३ त्यन्त रमणीय जो प्राचीन काव्यलक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धि से भी प्रस्फुटित नहीं हुआ है, इसलिये रामायण, महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थों में सर्वत्र उसके व्यवहार को परिलक्षित करने वाले सहृदयजनों के मन में आनन्दप्रद यह ध्वनि प्रतिष्ठा प्राप्त करे, इसलिये यहाँ उसे प्रकाशित किया जा रहा है।

लोचनम्

एवंविधासु विमतिष्विति निर्धारणे सप्तमी। आसु मध्ये एकोऽपि यो विमतिप्रकारस्तेनैव हेतुना तत्स्वरूपं ब्रूम इति, ध्वनिस्वरूपमभिधेयम्, अभिधानाभिधेयलक्षणो ध्वनिशास्त्रयोर्वक्तृश्रोत्रोर्व्युत्पाद्यव्युत्पादकभाव: सम्बन्ध:, विमतिनिवृत्त्या तत्स्वरूपज्ञानं प्रयोजनम्, शास्त्रप्रयोजनयो: साध्यसाधनभावस्समबन्ध इत्युक्तम्।

अथ श्रोतृगतप्रयोजनप्रयोजनप्रतिपादकं 'सहृदयमन:प्रीतये' इति भागं व्याख्यातुमाह–तस्य हीति। विमतिपदपतितस्येत्यर्थ:। ध्वने: स्वरूपं लक्षयतां सम्बन्धिनि मनसि आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्याय:, प्रतिष्ठां परैर्विपर्यासाद्युपहतैरनुन्मूल्यमानत्वेन स्थेमानं, लभतामिति प्रयोजनं

किया है। **एवं विधासु विमतिष्विति** यहाँ निर्धारण में सप्तमी है। इन तीनों (विमतियों) के मध्य में एक भी विमति का प्रकार है इस कारण उसका स्वरूप हम कहते हैं। यहाँ ध्वनि का स्वरूप अभिधेय (विषय है) ध्वनि और शास्त्र में अभिधानाभिधेय सम्बन्ध और वक्ता-श्रोता में प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूप **समबन्ध** है। विमतियों की निवृत्ति के सहित उस ध्वनि का स्वरूपज्ञान **प्रयोजन है।** शास्त्र और प्रयोजन में साध्य-साधनरूप सम्बन्ध यह पहले कह आये हैं।

अब श्रोतृगत प्रयोजन का प्रतिपादन करने वाले **'सहृदयमन: प्रीतये'** इस वाक्य के व्याख्यान के लिये कहते हैं **तस्य हीति** विमति के मार्ग में पड़े हुये उस ध्वनि का स्वरूप लक्षित करने वालों के मन में आनन्द जिसका निर्वृत्तिस्वरूप चमत्कार दूसरा पर्याय भी है। **प्रतिष्ठां** विपर्यास, संदेह, अज्ञान के कारणों से उपहत अन्य

लोचनम्

सम्पादयितुं तत्स्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गतिः। प्रयोजनं च नाम तत्सम्पादकवस्तुप्रयोक्तृताप्राणतयैव तथा भवतीत्याशयेन 'प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूम' इत्येकवाक्यतया व्याख्येयम्। तत्स्वरूपशब्दं व्याचक्षाणः संक्षेपेण तावत्पूर्वोदीरितविकल्पपञ्चकोद्धरणं सूचयति–सकलेत्यादिना। सकलशब्देन सत्कविशब्देन च. प्रकारलेशे कस्मिंश्चिदिति निराकरोति। अतिरमणीयमिति भाक्तादव्यतिरेकमाह। न हि 'सिंहो वटुः' 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र रम्यता काचित् उपनिषद्भूतशब्देन तु अपूर्व समाख्यामात्रकरण इत्यादि निराकृतम्। अणीयसीभिरित्यादिना गुणालङ्कारानन्तर्भूतत्वं सूचयति। अथ चेत्यादिना 'तत्समयान्तःपातिन' इत्यादिना यत्सामयिकत्वं शङ्कितं तन्निरवकाशीकरोति। रामायणमहाभारतशब्देनादिकवेः प्रभृति सर्वैरेव सूरिभिरस्यादरः कृत इति दर्शयति। लक्षयतामित्यनेन वाचां स्थितमविषय इति परास्यति। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम्। लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयतामित्यर्थः। सहृदयानामिति। येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। यथोक्तम्–

अभाववादियों द्वारा उसका उन्मूलन न होने के कारण स्थिरता प्राप्त करे। इस प्रयोजन के लिये उस ध्वनि का स्वरूप प्रकाशित करते हैं, ऐसा अर्थ करने से ग्रन्थ की संगति लग जाती हैं। प्रयोजन शब्द का तात्पर्य प्रयोजन के संपादक वस्तु की जो की प्रयोक्तृता अथवा प्रयोजकता उसके प्राण के समान प्रिय हो जावे इसी आशय से **'प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः'** इस प्रकार उसकी व्याख्या करनी चाहिये। अब **'ध्वनेः स्वरूपं'** इस वाक्य की व्याख्या करते हुये संक्षेप से जो पहले ५ विकल्प कहे जा चुके हैं इनका निराकरण सूचित करते हैं– **'सकल सत्कवि काव्ये'**त्यादिवाक्य के द्वारा। सकल शब्द से तथा सत्कविशब्द से किसी के द्वारा कहीं किसी प्रकार से अप्रदर्शित का लेश इसका निराकरण किया गया है। **'अतिरमणीयम्'** इस शब्द के विशेषण द्वारा भाक्त (लक्षण) से व्यतिरेक (वैलक्षण्य) उपपादित किया गया। क्योंकि **'सिंहो वटुः'** **'गङ्गायां घोषः'** इस लक्षणा स्थल में कोई रम्यता नहीं है। **'उपनिषद्भूत'** इस विशेषण शब्द द्वारा 'अपूर्व समाख्या (ध्वनि का यह कोई नया नामकरण) नाम करना' इत्यादि का निराकरण किया गया। **'अणीयसीभिरपि'** इस बुद्धि के विशेषण द्वारा ध्वनि का गुण और अलङ्कार में अन्तर्भाव नहीं है इस बात को सूचित किया और 'अपि' इत्यादि शब्द से उस समय के समसामायिक जो अन्य शङ्कायें थीं उसका भी निराकरण किया गया। **रामायण, महाभारत** शब्द से यह प्रदर्शित करते हैं कि आदि कवि से लेकर समस्त

लोचनम्

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥ इति॥

आनन्द इति। रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वमिति दर्शयति। तेन यदुक्तम्-

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्यें ऽशत्वं न रूपता॥

इति तदपहस्तितं भवति। तथा ह्यभिधाभावनारसचर्वणात्मकेऽपि त्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति। यथोक्तं त्वयैव-

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्। इति।

सूरियों (विद्वानों) ने ध्वनि का आदर किया है अर्थात् लक्षण '**लक्षयतां**' इस शब्द से 'ध्वनि' वाणी का अविषय है। इसका निराकरण किया, **लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षः**' इस व्युत्पत्ति से लक्ष का अर्थ लक्षण है '**लक्षेण निरुपयन्ति लक्षयन्ति तेषां** इस व्युत्पत्ति से लक्षयतां का अर्थ हुआ लक्षण द्वारा निरूपण करने वालों का। **सहृदयानामिति** काव्यों के सततानुशीलन के अभ्यास के कारण जिनके मन रूपी दर्पण में वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मयीभवन की योग्यता आ गई है वही हृदय का संवाद है। अर्थात् समान हृदय ही संवाद है. जिनका हृदय ऐसा हो गया है वही सहृदय हैं जैसा कि कहा है **य इति** जो अर्थ हृदय के साथ सामरस्य हो जाता है उसका भाव रस की अभिव्यक्ति करता है ऐसा रस सहृदयों के शरीर में इस प्रकार व्याप्त हो जाता है जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि व्याप्त हो जाती है **आनन्दइति**। रसचर्वण रूप आत्मा का प्राधान्य प्रदर्शित करते हुये कहते हैं। सर्वत्र रसध्वनि ही मुख्यभूत आत्मा है ऐसा प्रदर्शित करते हैं, इस कारण जो कहा गया कि—

ध्वनि नाम का जो अन्य व्यञ्जनात्मक व्यापार है उसको अभिघा भावना से भिन्न सिद्ध होने पर भी काव्य में अंशत्व होगा, रूपता नहीं। यह वचन निराकृत हो जाता है, क्योंकि अभिधा भावना और रसचर्वणा रूप ३ अंश वाले काव्य में रसचर्वणा ही प्रमाणभूत अंश है जो आप के मत में भी निर्विवाद है जैसा कि स्वयं ही कहा है—काव्य में रस लेने वाले सभी हो जाते हैं किन्तु उसका जानकार कोई नहीं होता और उसका नियोगभाक् (आज्ञाकारी) भी कोई नहीं होता। लोचनकार कहते हैं कि जो भट्टनायक ने वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनियों के अभिप्राय से ध्वनि को अंशमात्र माना है अंशी नहीं तो यह तो सिद्धसाधन है, हमें स्वीकार्य है किन्तु यदि रसध्वनि के अभिप्राय से ऐसा माना है तो अपनी ही मानी हुई प्रसिद्धिरूप सहृदयानुभव संवेदन

लोचनम्

तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्यभिप्रायेणांशमात्रत्वमिति सिद्धसाधनम्। रसध्वन्य-भिप्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धिसंवेदनविरुद्धमिति। तत्र कवेस्तावत्की-र्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह–'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि। श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, यथोक्तम्–

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ इति॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसंमितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसंमितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।

आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायतनादिवदनश्वरीं स्थितिं गच्छत्विति भावः। यथोक्तम्–

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः॥ इति॥

के विरुद्ध हो जाता है। कविजनों को कीर्त्ति से भी प्रीति ही संपादन करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी हैं– कीर्त्ति भी स्वर्गरूप फल देनेवाली है। श्रोताओं में यद्यपि व्युत्पत्ति और प्रीति दोनों ही रहती है जैसा कि कहा भी है— **धर्मार्थेति** साधु (उत्तम) काव्य के निषेवण से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में कुशलता, कीर्त्ति और प्रीति ये सभी फल प्राप्त होते हैं तथापि यहाँ भी प्रीति ही प्रधान है। यदि ऐसा नहीं होता तब प्रभुसंमित वेदादि, मित्रसम्मित इतिहासादि जो व्युत्पत्ति के हेतुभूतकाव्य है उसकी अपेक्षा व्युत्पत्ति के हेतुभूत काव्य रूप के जायासम्मितत्व रूप की विशेषता क्या रहेगी अत: प्रधान रूप से काव्य के निषेवण का फल आनन्द ही कहा गया है। धर्मादि चारो वर्गों की व्युत्पत्ति का भी आनन्द ही पार्यन्तिक मुख्य फल है।

यहाँ 'आनन्द' ग्रन्थकार का भी नाम है, इसका यह भाव है कि वह आनन्दवर्धनाचार्य इस शास्त्र के द्वारा सहृदय-जनों के हृदय में प्रतिष्ठा प्राप्त करें। जिस प्रकार देवालयों में देवता की प्रतिष्ठा कभी नष्ट न होने वाली शाश्वत स्थिति में सदा बनी रहती है उसी प्रकार वे भी सहृदय जनों के हृदय में प्रतिष्ठित होकर शाश्वत रूप से बनी रहें। जैसा कि कहा भी है **उपेयुषामपीति।**

स्वर्ग में पहुँचे हुये भी सत्काव्य का निर्माण करने वाले कवियों का बिना किसी आतङ्क (भय के) के सुन्दर काव्यमय शरीर वहाँ भी प्रतिष्ठित ही रहता है।

ध्वन्यालोकः

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते–
योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥२॥

इस प्रकार विषय और प्रयोजन के निश्चित हो जाने पर जिस ध्वनि का लक्षण करने जा रहे हैं उसकी **भूमिरिव** भूमिका (आधारभूमि) निर्माण करने के लिये ऐसा कहते हैं— **योऽर्थ** इति सहृदयों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्य के आत्मारूप में प्रतिष्ठित है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद कहे गये हैं।

लोचनम्

यथा मनसि प्रतिष्ठा एवंविधमस्य मनः, सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृदिति यावत्। यथा–'युद्धे प्रतिष्ठा परमार्जुनस्य' इति। स्वनामप्रकटीकरणं श्रोतॄणां प्रवृत्त्यङ्गमेव सम्भावनाप्रत्ययोत्पादनमुखेनेति ग्रन्थान्ते वक्ष्यामः। एवं ग्रन्थकृतः कवेः श्रोतुश्च मुख्यं प्रयोजनमुक्तम्॥१॥

ननु 'ध्वनिरूपं ब्रूम' इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदावर्थस्येति वाच्याभिधाने का सङ्गतिः कारिकाया इत्याशङ्क्य सङ्गतिं कर्तुमवतरणिकां करोति–तत्रेति। एवंविधेऽभिधेये प्रयोजने च स्थित इत्यर्थः। भूमिरिव भूमिका। यथा अपूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिर्विरच्यते, तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवाद-सिद्धवाच्याभिधानं भूमिः। तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात्। वाच्येन

जैसे 'मन में प्रतिष्ठा' उसी प्रकार इसका मन है इसका तात्पर्य यह कि ग्रन्थकार तो सहृदय चक्रवर्ती है। वे सहृदयों के हृदय में प्रतिष्ठित रहेंगे ही। जैसे युद्ध में अर्जुन की परम प्रतिष्ठा है। इस प्रकार अपने नाम का प्रकटीकरण श्रोताओं के संभावना प्रत्यय उत्पन्न करने के द्वारा प्रवृत्ति का अङ्ग ही है। यह हम आगे चल कर ग्रन्थ के अन्त में कहेंगे। इस प्रकार ग्रन्थकार, कवि और श्रोता का मुख्य प्रयोजन कहा गया। पहले कहा गया कि '**ध्वनिस्वरूपं ब्रूमः।**' ऐसी प्रतिज्ञा कर अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं तदनन्तर वाच्यार्थ का अभिधान करने लगे अतः कारिका की सङ्गति कैसे बैठेगी, ऐसी आशङ्का कर संगति बैठाने के लिये अवतरणिका उपस्थित करते हुये कहते हैं— **तत्रेति** इस प्रकार अभिधेय प्रयोजन के स्थिर हो जाने पर भूमि के समान भूमिका कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि किसी अपूर्व निर्माण की इच्छा उत्पन्न होने पर पहले उसकी भूमि निर्माण की जाती है, वैसे प्रतीयमान नामक ध्वनि स्वरूप का निरूपण करिष्यमाण

लोचनम्

समशीर्षिकया गणनं तस्याप्यनपह्नवोल्लेखनीयत्वं प्रतिपादयितुम्। स्मृतावित्यनेन 'यः समाम्नातपूर्व' इति द्रढयति। शब्दार्थशरीरं काव्यमि'ति यदुक्तं, तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना तदनुप्राणकेन भाव्यमेव। तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात्स्थूल-कृशादिवत्। अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति। न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात्। तदाह–सहृदयश्लाध्य इति। स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्ध्या विभज्यते।

तथाहि– तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते। तद्भवितव्यं तत्र केनचिद्विशेषेण। यो विशेषः, स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते। वाच्यसंवलनाविमोहित-हृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे। अत एव अर्थ इत्येकतयोपक्रम्य सहृदयश्लाध्य इति विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धारदृशा तस्य द्वौ भेदावंशावित्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति।

होने पर, उसके लिये निर्विवाद सिद्ध वाच्य का कथन यहाँ भूमि है। तब उसी वाच्य की पीठ पर अधिक प्रतीयमान अंश का उल्लेखन होगा। वाच्य के साथ बराबरी के सिरे से गणन का उद्देश्य है उसके अनपह्नवनीयत्व (प्रतिषेधनीयत्व) का प्रतिपादन। **'स्मृतौ'** इस पद से पहले जो कह आये हैं **'समाम्नातपूर्वः'** उसे दृढ़ करते हैं। जो पहले कहा गया है कि शब्द और अर्थ वाक्य के शरीर हैं, उसके अनुसार शरीर ग्रहण से उसे अनुप्राणित (जीवित) करने वाले किसी आत्मा का होना भी अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में शब्द तो काव्य के शरीर-भाग में ही सन्निविष्ट है जो स्थूल-कृश आदि होने के कारण सभी लोगों द्वारा संवेद्य है, किन्तु अर्थ सर्वसाधारण को संबेद्य नहीं होता और अर्थमात्र से लोक में काव्य का काव्यव्यपदेश नहीं होता है; क्योंकि लौकिक-वैदिक वाक्यों में काव्य के व्यपदेश का अभाव ही दृष्ट होता है। इस पर कहते हैं— **सहृदयश्लाध्य** इति यह एक ही अर्थ दो शाखाओं वाला है जो विवेचनशील लोगों द्वारा विभागबुद्धि से विभाजित किया जाता है।

जब दोनों ही अर्थरूप समान हैं, तब क्यों किसी एक के लिये ही सहृदयजन प्रशँसा करते हैं अतः वहाँ कुछ विशेषता होनी ही चाहिये। इस पर कहते हैं– जो विशेष है वह प्रतीयमान भाग उसी के सविशेष होने के कारण वह विवेकी जनों द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में व्यवस्थापित किया जाता है। वाच्यार्थ की संवलना (वासना) से विमोहित हृदय वाले उसके पृथग्भाव में संदेह करते हैं, जिस प्रकार चार्वाक लोग आत्मा को शरीर से पृथक् मानने में संदेह करते हैं। इसलिये कारिका मूल में 'अर्थ'

ध्वन्यालोकः

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ।

काव्यस्येति शरीर स्थित आत्मा के (समान सुन्दर गुणालङ्कारयुक्त उचित रसादि के अनुरूप रचना के कारण) रमणीय काव्य के सार (आत्मा) रूप में स्थित सहृदयप्रशंसित जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं।

लोचनम्

कारिकाभागगतं काव्यशब्दं व्याकर्तुमाह– काव्यस्य हीति। ललितशब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह। उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षयेतमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्धोष्यत इति भावः। योऽर्थ इति यदानुवदन् परेणाप्येतत्तावदभ्युपगतमिति दर्शयति। तस्येत्यादिना तदभ्युपगम एव द्व्यंशत्वे सत्युपपद्यत इति दर्शयति। तेन यदुक्तम्– 'चारुत्वहेतुत्वाद् गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो न ध्वनिः' इति, तत्र ध्वनेरात्मस्वरूपत्वाद्धेतुरसिद्ध इति दर्शितम्। न ह्यात्मा चारुत्वहेतुर्देहस्येति भवति। अथाप्येवं स्यात्तथापि

इस एकवचन के द्वारा उपक्रम किया गया है। फिर 'सहृदयश्लाध्य' इस विशेषण द्वारा हेतु कह कर विभाग की दृष्टि से उसके दो अंश (भेद) हैं यह कहा है, यह नहीं कि दोनों ही अंश काव्य की आत्मा हैं।

कारिकाभाग में आये हुये काव्य शब्द की व्याख्या करने के लिये कहते हैं— **काव्यस्येति।** यहाँ ललित शब्द से गुणालङ्कार के अनुग्रह को कहा गया है। उचित शब्द से काव्य में रसविषय का औचित्य होता है, इसे दिखाते हुये रसध्वनि का जीवितत्त्व सूचित करते हैं। तात्पर्य यह कि काव्य में उस रसध्वनि के अभाव होने पर किसकी अपेक्षा से उसके औचित्य की सर्वत्र घोषणा करेंगे। **योऽर्थ** इति 'यत्' शब्द द्वारा अनुवाद करते हुये यह प्रदर्शित करते हैं कि दूसरों ने भी इसे स्वीकार किया है। **तस्येति** तस्य इत्यादि द्वारा उसका स्वीकार ही दो अंशों में होने पर उपपन्न हो सकता है, ऐसा प्रदर्शित करते हैं। इस कारण जो कहा कि चारुत्व के हेतु होने के कारण ध्वनि गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त कुछ नहीं है यह बात खण्डित हो गई; क्योंकि ध्वनि तो काव्य की आत्मा है वह हेतु कैसे हो सकता है? अतः ध्वनि का हेतुत्व असिद्ध है। आत्मा शरीर के चारुत्व का भी हेतु नहीं होता है। अगर ऐसा मान भी लिया जाय तथापि वाच्य में यह हेतु चारुत्व अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है,

ध्वन्यालोक:

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः–
काव्यलक्ष्मविधायिभिः।
–ततो नेह प्रतन्यते॥३॥
केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगमिति ॥३॥
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥४॥

तत्रेति उसमें वाच्य अर्थ वह है जो उपमा आदि अलङ्कारों से प्रसिद्ध है। जिसका व्याख्यान अन्य काव्यलक्षणकारों ने किया है इस कारण उसका विस्तार नहीं करते। केवल उपयोग के अनुसार उसका अनुवाद करेंगे॥३॥

प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न लावण्य के समान महाकविगें की सूक्तियों में वाच्यार्थ से अलग ही भासित होता है॥४॥

लोचनम्

वाच्येऽनैकान्तिको हेतुः। न ह्यलङ्कार्य एवालङ्कारः, गुणी एव गुणः। एतदर्थमपि वाच्यांशोपक्षेपः। अत एव वक्ष्यति– 'वाच्यः प्रसिद्धः' इति॥२॥

तत्रेति। द्व्यंशत्वे सत्यपीत्यर्थः। प्रसिद्ध इति। वनितावदनोद्यानेन्दूदयादिलौकिक एवेत्यर्थः। 'उपमादिभिः प्रकारैः स व्याकृतो बहुधे'ति सङ्गतिः। अन्यैरिति कारिकाभागं काव्येत्यादिना व्याचष्टे। 'ततो नेह प्रतन्यत' इति विशेषप्रतिषेधेन शेषाभ्यनुज्ञेति दर्शयति–केवलमित्यादिना॥३॥

क्योंकि शरीर रूप वाच्य अलङ्कार्य है और अलङ्कार्य अलङ्कार नहीं होता। गुणी ही गुण नहीं होता इसलिये भी वाच्यांश उपक्षिप्त (परित्यक्त) है। इसलिये आगे वाली कारिका में कहेंगे **वाच्यः प्रसिद्ध** इति।

तत्रेति दो अंश के होने पर **प्रसिद्ध इति** वनिता का मुख, उद्यान, चन्द्रोदय आदि लौकिक शब्दों का **उपमादिभिः प्रकारैः स व्याकृतो बहुधेति** ऐसे अन्वय से सङ्गति बैठ जाती है। **अन्यैः** इस कारिका भाग का व्याख्यान **काव्यलक्ष्मविधायिभिः** काव्यलक्षणकारों द्वारा इस पद से करते हैं। **ततो नेह प्रतन्यते** यहाँ इस विशेष से प्रतिषेध करते हैं शेष में कामचार है इसी बात को प्रदर्शित करते हैं– **केवलमित्यादिना**॥३॥

ध्वन्यालोकः

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्तत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु। यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः।

महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान अर्थ वाच्य से अतिरिक्त कोई अन्य ही वस्तु है जो सहृदय जनों में सुप्रसिद्ध है। जो प्रसिद्ध और अलङ्कृत अथवा प्रतीत अवयवों से सर्वथा भिन्न हो कर स्त्रियों में लावण्य की भाँति अलग से भासित होता है। जैसे स्त्रियों में लावण्य पृथक् रूप से दिखाई देता हुआ सारे अङ्गों का व्यतिरेकी है जो सहृदयों के नेत्र का एक दूसरा ही अभूतपूर्व तत्त्वान्तर एवं अमृत है, उसी प्रकार यह प्रतीयमान अर्थ है।

लोचनम्

अन्यदेव वस्त्विति। पुनःशब्दो वाच्याद्विशेषद्योतकः। तद्व्यतिरिक्तं सारभूतं चेत्यर्थः। महाकवीनामिति बहुवचनमशेषविषयव्यापकत्वमाह। एतदभिधास्यमानप्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव महाकविव्यपदेशो भवतीति भावः। यदेवंविधमस्ति तद्भाति। न ह्यत्यन्तासतो भानमुपपन्नम्; रजताद्यपि नात्यन्तमसद्भाति। अनेन सत्त्वप्रयुक्तं तावद्भानमिति भानात्सत्त्वमवगम्यते। तेन यद्भाति तदस्ति तथेत्युक्तं भवति। तेनायं प्रयोगार्थः–प्रसिद्धं वाच्यं धर्मि, प्रतीयमानेन व्यतिरिक्तेन तद्वत्, तथा भासमानत्वात् लावण्योपेताङ्गनाङ्गवत्। प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्व-

अन्यदेव वस्त्वस्ति यहाँ पुनः शब्द वाच्य से विशेष अर्थ का द्योतक है। वह प्रतीयमान अर्थ उस वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त एवं प्राणभूत तत्त्व है। **महाकवीनामिति** यहाँ बहुवचन प्रतीयमान अर्थ का सारे विषयों में व्यापकत्व सूचित करता है। जो वक्ष्यमाण प्रतीयमान अर्थ से अनुप्राणित काव्य के निर्माण में निपुण प्रतिभा के भाजन होते हैं, उन्हीं में महाकवि का व्यपदेश होता है। यतः वह प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त काव्य का सारभूत आत्मतत्त्व है इसलिये भासित होता है। जो सर्वथा असत् हैं उसका भान भी अनुपपन्न है। रजतादि भी अत्यन्त (अस्तित्व) असत् होने पर नहीं भासते। इससे भान वस्तु की सत्ता के कारण प्रयुक्त होता है और उस भान से वस्तु का अस्तित्व अवगत है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि जो भासित होता है, उसकी

लोचनम्

मलङ्कृतत्त्वं चार्थः। यत्तदिति सर्वनामसमुदायश्चमत्कारसारताप्रकटीकरणार्थमव्यपदेयश्त्वमन्योन्यसंवलनाकृतं चाव्यतिरेकभ्रमं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दर्शयति। एतच्च किमपीत्यादिना व्याचष्टे। लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। न चावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम्, पृथङ्निर्वर्ण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलङ्कृतायामपि लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात्।

ननु लावण्यं तावद् व्यतिरिक्तं प्रथितम्। प्रतीयमानं किं तदित्येव न जानीमः, दूरे तु व्यतिरेकप्रथेति। तथा भासमानत्वमसिद्धो हेतुरित्याशङ्क्य स ह्यर्थ इत्यादिना स्वरूपं तस्याभिधत्ते। सर्वेषु चेत्यादिना च व्यतिरेकप्रथां साधयिष्यति। तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ–लौकिकः,

सत्ता (अस्तित्व) है। इस कारण यह प्रयोगार्थ हुआ कि प्रसिद्ध वाच्यार्थ धर्मी है। वह अपने से अतिरिक्त प्रतीयमान से युक्त है; क्योंकि वह उस प्रकार भासित होता है जैसे लावण्ययुक्त अङ्गना का अङ्ग। **प्रसिद्धम्** इस शब्द का अर्थ सबको प्रतीत होना तथा अलङ्कृत होना है। **यत्तत्** इन दो सर्वनामों का प्रतीयमान अर्थ के चमत्कार का सार होना प्रकट करने के लिये व्यपदेश (नामकरणत्व) की अशक्यता एवं परस्पर संमिश्रण से उत्पन्न (वाच्य और व्यङ्ग्य तथा अङ्गना का अङ्ग और लावण्य) दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अन्वयव्यतिरेक (अभेद) का भ्रम दिखाता है। इसी को 'किमपि' शभ्द से वृत्ति में व्याख्यान किया गया है। लावण्य उस धर्मविशेष को कहते हैं जो अवयवों के संघटना (संस्थान) से अभिव्यक्त होकर अववयों से पृथक् वर्तमान होता है। अवयवों की निर्दोषता अथवा भूषणों का संयोग लावण्य नहीं है। क्योंकि जो पृथक् रूप से दिखाई देते हुये काणत्वादि दोषों से शून्य स्त्री के उत्तमशरीरावयय (अङ्गो) से तथा उत्तमोत्तम अलङ्कारो से संयुक्त होने पर भी सहृदय लोग उसमें यह लावण्यशून्य है ऐसा कहते हैं। और जो इस प्रकार आभूषणों तथा उत्तमोत्तम शरीरावयरों से रहित भी है किन्तु लावण्यवती है उसमें सहृदयलोग 'यह लावण्यामृत की चन्द्रिका है' ऐसा व्यवहार करते है।

लावण्य तो अङ्गों से व्यतिरिक्त रूप में प्रसिद्ध है किन्तु प्रतीयमान क्या है यह हम नहीं जानते। व्यतिरेक प्रकारभेद की स्थिति तो दूर की बात है। इतना ही नहीं, भासमानत्व हेतु भी असिद्ध हेतु है, यह आशङ्का उपस्थित कर **ह्यर्थः** इत्यादि द्वारा

लोचनम्

काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः– यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभावमुपमादिरूपतयान्वभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कार-ध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किं तु शब्दसमर्प्यमाण-हृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुराग-सुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, स काव्य-व्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति।

यदूचे भट्टनायकेन–'अंशत्वं न रूपता' इति, तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्योरेव यदि नामोपलम्भः, रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः, रसचर्वणात्मन-

उसका स्वरूप कहते हैं। और '**सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु**' इत्यादि वाक्य द्वारा इसकी व्यतिरेक स्थिति की सिद्धि भी करेंगे। प्रतीयमान के दो भेद है– लौकिक और काव्यव्यापारैक- गोचर। लौकिक वह है जो कभी अपनी वाच्यता में पर्यवसित हो जाता है। वह विधि-निषेधादि अनेक प्रकार के होने पर भी वस्तु शब्द से कहा जाता है। वह लौकिक प्रतीयमान भी दो भेद वाला होता है, जो पहले कभी किसी वाक्यार्थ के उपमादि रूप से अलङ्कारत्व को प्राप्त होकर इस समय व्यङ्ग्य होने की अवस्था में अलङ्कार रूप में नहीं है, क्योंकि अन्यत्र वाक्यार्थ में उसका जो गुणीभाव हो जाता था वह अब नहीं रहा। वह पूर्व प्रत्यभिज्ञान के बल से अलङ्कार ध्वनि नाम से ब्राह्मणश्रमणन्याय से व्यपदिष्ट होता है। किन्तु अलङ्कार रूप की अभावावस्था में वह केवल वस्तुमात्र से कहा जाता है। यहाँ वस्तु के साथ मात्र शब्द को युक्त करने के कारण दूसरे अलङ्कार रूप का निराकरण किया गया है जो स्वप्न में भी शब्द वाच्य नहीं होता और लौकिक के अन्तर्गत नहीं आता, किन्तु शब्दों द्वारा समर्प्यमाण और सहृदयों के हृदय में संवाद (संगति) रखने के कारण सुन्दर विभाव अनुभाव की समुचित [के अनुसार] प्राग् निविष्ट (पहले से रहने वाली) रत्यादि वासनाओं के अनुराग के द्वारा सुकुमार एवं सहृदय की संवित् (मन) का आनन्दमय चर्वणारूप व्यापार के द्वारा रसन (आस्वादन) के योग्य रस होता है, वही काव्यव्यापारैकगोचर रस रसध्वनि कहा जाता है और वही रसध्वनि ही मुख्यतया काव्य की आत्मा है।

भट्टनायक ने जो कहा है 'अंशत्व है रूपता नहीं' यदि वह वस्तुध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि का ही संभवतः उपालम्भ है तो ऐसी स्थिति में उन्होंने ही रसध्वनि

ध्वन्यालोकः

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्य-नेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्। तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्। स हि कदाचिद्वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः। यथा–

वह (प्रतीयमान) अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर वस्तुमात्र, अलङ्कार और रस आदि अनेक प्रभेदों से भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई पड़ता है यह हम आगे चल कर प्रदर्शित करेंगे, उन सभी प्रकारों में वह प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न ही है। पहला ध्वनिभेद वाच्य से अत्यन्त भिन्न है, क्योंकि कहीं वाच्य के भिन्न रूप होने पर भी वह प्रतीयमान निषेधरूप होता है।

लोचनम्

स्तृतीयस्यांशस्याभिधाभावनांशद्वयोत्तीर्णत्वेन निर्णयात्, वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रसध्वनिपर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत्। वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तमिति भेदत्रयव्यापकं सामान्यलक्षणम्। यद्यपि हि ध्वननं शब्दस्यैव व्यापारः, तथाप्यर्थसामर्थ्यस्य सहकारिणः सर्वत्रानपायाद्वा-च्यसामर्थ्याक्षिप्तत्वम्। शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यसऽप्यर्थसामर्थ्यादेव प्रतीयमानावगतिः, शब्दशक्तिः केवलमवान्तरसहकारिणीति वक्ष्यामः दूरं विभेदवानिति। विधिनिषेधौ विरुद्धाविति न कस्यचिदपि विमतिः। एतदर्थं प्रथमं तावेवोदाहरति–

को आत्मा के रूप में स्वीकार कर लिया; क्योंकि स्वयं उन्होंने निर्णय किया है कि रसचवर्णा रूप तीसरा अंश अभिधा और भावना रूप दो अंशों से उत्तीर्ण (अतिरिक्त परे) है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि का रसध्वनि में ही पर्यवसान है, यह बात हम आगे चलकर उन-उन स्थलों में कहेंगे। बस इतना ही कह कर इस विषय को समाप्त करता हूँ। **वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तामिति**- 'वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त' यह वाक्य वस्तु, अलङ्कार और रस इन तीनों भेदों में व्यापक रूप से रहने वाला सामान्य लक्षण है। यद्यपि कि यह ध्वनन शब्द का ही व्यापार है तथापि सहकारी अर्थसामर्थ्य के सर्वत्र विद्यमान रहने से वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व ही है शब्दशक्तिमूल अनुरणन व्यङ्ग्य में भी अर्थ के सामर्थ्य से ही प्रतीयमान का ज्ञान होता है। 'शब्दशक्ति' केवल अवान्तरकारिणी होती है। यह आगे कहेंगे— **वाच्याद्दूरे विभेदवानिति** यहाँ विधि और निषेध के परस्पर विरोध में किसी का वैमत्य नहीं है एतदर्थ पहले उनका उदाहरण देते हैं।

ध्वन्यालोकः

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥

'भ्रम धम्मिय इति' पण्डित जी महाराज! गोदावरी के किनारे निकुञ्ज में रहने वाले मदमत्त सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला है अतः आप निश्चिन्त होकर वहाँ घूमिये।

लोचनम्

'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन ॥'

कस्याश्चित्सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसञ्चरणान्तरायदोषात्तदवलुप्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छायीकरणाच्च परित्रातुमियमुक्तिः। तत्र स्वतःसिद्धमपि भ्रमणं श्वभयेनापोदितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावरूपः, न तु नियोगः प्रैषादिरूपोऽत्र विधिः; अतिसर्गप्राप्तकालयोर्ह्ययं लोट्। तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद् द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात्। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्।

भ्रमेति धर्मशील पण्डित जी महाराज! अब आप उस स्थान में निश्चिन्त होकर भ्रमण करें। वह कुत्ता जो आप के भ्रमण में बाधा पहुँचाता था गोदावरी नदी के गहन लता में रहने वाले मदमत्त सिंह के द्वारा मार डाला गया।

किसी पुंश्चली का एक ऐसा सङ्केत स्थान जो उसके प्राणों का सर्वस्वभूत है, किसी धार्मिक द्वारा संचरण रूप विघ्नदोष से बाधित हो रहा है, इतना ही नहीं, उनके द्वारा उस स्थान के फूल-पत्तों के ग्रहण करने से वह छायारहित तथा निर्जनता से शून्य हो रहा है, इसी अपने स्थान की रक्षा के लिये उस पुंश्चली की उक्ति पण्डित जी को उद्देश्य कर कही गई है। यहाँ पण्डित जी का स्वतः सिद्ध भ्रमण किसी कुत्ते के भौंकने से प्रतिषिद्ध होने के कारण पुंश्चली उनके भ्रमण का विधान प्रतिषेधक तत्त्व कुत्ते के भय का अभाव द्वारा करती है। यहाँ विधि प्रतिषेधाभाव या प्रतिप्रसव रूप है। (भ्रमण में विघ्न उत्पन्न करने वाला कुत्ता सिंह द्वारा मार डाला गया। इस अभाव से 'स्वच्छन्द घूमिये' यह विधि कहा गया।) प्रकृत में प्रैषादिरूप नियोग नहीं है भ्रम धातु से लोट्लकार में कहा गया 'भ्रम' पद अतिसर्ग और प्राप्तकाल के अर्थ में हुआ है। यहाँ भाव और अभाव दोनों में विरोध होने से युगपत् एक कालावच्छेदेन वाच्यता नहीं है और क्रमपूर्वक भी नहीं, क्योंकि विराम हो जाने के बाद पुनः व्यापार नहीं होता, जैसा

लोचनम्

ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादि-पदार्थानन्वयरूपमुख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेधप्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः। एवमनेनोक्तमिति हि व्यवहारः, तत्र वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति।

नैतत्; त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते–पदार्थेषु सामान्यात्-मस्वभिधाव्यापारः, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। समयश्च तावत्येव, न विशेषांशे, आनन्त्याद्व्यभिचाराच्चैकस्य। ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते, 'सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्। तत्र च द्वितीयकक्ष्यायां 'भ्रमे'ति विध्यतिरिक्तं न किञ्चित्प्रतीयते, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्। न हि 'गङ्गायां घोषः' 'सिंहो वटुः' इत्यत्र यथान्वय एव बुभूषन् प्रतिहन्यते, योग्यताविरहात्; तथा

कि कहा है— '**विशेष्यं नामिघा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे**' विशेषण में क्षीणशक्ति हो जाने के कारण अभिधा पुन: विशेष्य तक नहीं पहुँचती। इस वाक्य में अभिधा व्यापार के विरत हो जाने पर पुन: व्यापारत्व का असंभवत्व कहा गया है।

यदि कहो कि तात्पर्यशक्ति भ्रमण-विधि में पर्यवसित न होने के कारण विवक्षा होने से दृप्त धार्मिक तद्' आदि पदार्थों के अन्वयन होने के कारण मुख्यार्थ के बाध के बल से और विरोध को निमित्त बना कर होने वाली विपरीत लक्षणा से तथा अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से वाक्यार्थीभूतनिषेध की प्रतीति उत्पन्न करती है इस प्रकार वह अर्थ शब्दशक्तिमूलक है इसीलिये 'इसने कहा' यह व्यवहार में होता है। इसलिये प्रकृत में अन्य अर्थ वाच्यार्थ से अतिरिक्त नहीं।।

इस पर कहते हैं– यहाँ ऐसी बात नहीं। प्रकृत में ३ व्यापार जाने जाते हैं। पदार्थों में सामान्य होने के कारण अभिधा व्यापार होता है। अभिधा उसे कहते हैं जिसका अर्थ शक्ति का ज्ञान समय (संकेत) की अपेक्षा से किया जाता है, समय भी उसी में रहता है, उसके विशेषांश में नहीं। विशेष में अभिधा के स्वीकार करने पर उस का आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष उत्पन्न हो जायेगा। क्योंकि विशेष एक नहीं अनन्त होता है और सब में सङ्केत संभव भी नहीं इसलिये व्यभिचार भी होगा। दूसरी तात्पर्यशक्ति विशेष रूप से परस्पर अन्वित वाक्यार्थ में होती है। इस प्रकार तात्पर्य शक्ति के द्वारा पदार्थों के परस्पर अन्वय के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होता। सामान्य अन्यथा सिद्ध होने पर विशेष का बोध कराता है यही न्याय है। उस दूसरी कक्ष्या में 'भ्रम' इस विधि के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होता। केवल अन्वयमात्र प्रतीत होता है। '**गङ्गायां घोषः**' **सिंहो वटुः**

लोचनम्

तव भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः, तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद् भ्रमणं तवोचितमित्यन्वयस्य काचित्क्षतिः। अत एव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्क्येति न विपरीतलक्षणाया अवसरः।

भवतु वाऽसौ। तथापि द्वितीयस्थानसंक्रान्ता तावदसौ न भवति। तथा हि-मुख्यार्थबाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः। बाधा च विरोधप्रतीतिरेव। न चात्र पदार्थानां स्वात्मनि विरोधः परस्परं विरोध इति चेत्– सोऽयं तर्ह्यन्वये विरोधः प्रत्येयः। न चाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः, प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्त्युपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः।

नन्वेवं 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात्। किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रत्यक्षादिना बाधितः प्रतिपन्नोऽपि शुक्तिकायां रजतमिवेति तदवगमकारिणो

इस प्रकार के स्थलों में जिस प्रकार अन्वय अपेक्षित होते हुये भी योग्यता के अभाव के कारण वह प्रतिहत हो जाता है'। इसी प्रकार प्रकृत में तुम्हारे भ्रमण का निषेध करने वाला वह कुत्ता मदमत्त सिंह के द्वारा मार डाला गया। अतः इस समय भ्रमण-निषेध के कारण के अभाव होने से वहाँ तुम्हारा भ्रमण उचित है, इस प्रकार के अन्वय में कोई क्षति नहीं है। अतएव मुख्यार्थबाध की आशङ्का नहीं करनी चाहिये, इस प्रकार विपरीत लक्षणा के लिये भी अवकाश नहीं।

अथवा हो भी लक्षणा, तब भी वह द्वितीय स्थान में सङ्क्रान्त नहीं हो सकती। जैसा कि मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्षणा की कल्पना की जाती है, बाधा कोई और पदार्थ नहीं वह विरोध की प्रतीति ही है, यहाँ पदार्थों का अपने-आप में विरोध है ही नहीं। यदि मान भी लिया जाय कि परस्पर विरोध है तो उस विरोध की प्रतीति अन्वय में भी होनी चाहिये। जब अन्वय में विरोध दिखाई न पड़े तब विरोध की प्रतीति सम्भव नहीं हो सकती। और अन्वय का ज्ञान अभिधा शक्ति से नहीं होगा। क्योंकि पदार्थों का प्रतीति हो जाने पर वह उपक्षीण हो जाती है। विराम हो जाने पर पुनः व्यापार नहीं होता, इस प्रकार तात्पर्य शक्ति से ही अन्वय की प्रतीति होती है। ऐसा मान लेना चाहिये। अब पुनः संदेह करते हैं— जब बाधित स्थल में भी तात्पर्य शक्ति से आपने अन्वय स्वीकार किया है तब 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' में भी आप को अन्वय प्रतीति माननी होगी, इस पर कहते हैं कि—

वहाँ भी अन्वय की प्रतीति तो दशदाडिमादि वाक्य की तरह होती ही है। किन्तु अन्वय होने पर भी वह प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित है जैसे— **'शुक्तौ रजतम्'** इस

लोचनम्

वाक्यस्याप्रामाण्यम्। 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्या-निविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्ति-द्वयव्यतिरिक्ता तावत् तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति।

नन्वेवं 'सिंहो वटुः' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात्; ध्वननलक्षणस्यात्मनोऽत्रापि समनन्तरं वक्ष्यमाणतया भावात्। ननु घटेऽपि जीवव्यवहारः स्यात्; आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावात्। शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य सत्यात्मनि जीवव्यवहारः, न यस्य कस्यचिदिति चेत्-गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः। न चात्मनोऽसारता काचिदिति च समानम्। न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणाव्यापारस्तृतीयकक्ष्यानिवेशी। चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापारः। तथा हि– त्रितयसन्निधौ लक्षणा प्रवर्तत इति तावद्भवन्त एव वदन्ति। तत्र मुख्यार्थबाधा तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला। निमित्तं च यदभिधीयते सामीप्यादि तदपि प्रमाणान्तरावगम्यमेव।

स्थल में शुक्ति का प्रत्यक्ष होने पर रजतज्ञान बाधित हो जाता है। इसी प्रकार उसका ज्ञान कराने वाला वाक्य भी अप्रामाणित हो जाता है। '**सिंहो माणवकः**' यहाँ दूसरी कक्ष्या में रहने वाली तात्पर्यशक्ति से समन्वित अन्वय बाधक (विरोध) उल्लास के पश्चात् अभिधा और तात्पर्य इन दोनों शक्तियों के अतिरिक्त लक्षणा नाम की तीसरी ही शक्ति उस बाधक के बाधन में समुल्लसित (प्रवृत्त) होती है।

यहाँ संदेह करते हैं कि तब तो '**सिंहो माणवकः**' इस स्थल में भी काव्यरूपता होनी चाहिये; क्योंकि यहाँ भी आगे कहे जाने वाले ध्वनन लक्षण काव्य की आत्मा है। इस पर कहते हैं, तब तो घट में भी जीव का व्यवहार होगा, क्योंकि विभुत्व (व्यापकत्व) लक्षण वाले आत्मा का अस्तित्व वहाँ पर भी है, इस पर आप यदि कहिये कि जब शरीर विशिष्ट प्रकार के इन्द्रिय, मन, अङ्ग आदि अधिष्ठानों से युक्त होता है तब उसमें आत्मत्व रहता है और तभी जीवव्यवहार होता है, जिस किसी का जीव व्यवहार नहीं तब हम भी कहेंगे कि गुण और अलङ्कार के प्रयोग के औचित्य से सुन्दर शब्द और अर्थ वाले शरीर में ध्वननाख्य आत्मा के होने पर काव्यरूपता का व्यवहार होता है। आत्मा की कोई असारता नहीं, दोनों ही समान हैं। इसी प्रकार भक्ति (लक्षणा) ही ध्वनि नहीं, क्योंकि भक्तिरूप लक्षणा व्यापार तृतीय कक्ष्या में होता है— ध्वनन व्यापार तो उससे आगे चतुर्थी कक्ष्या में होता है जैसा कि तीनों– मुख्यार्थ

लोचनम्

यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नम्, वटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं, तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः। तथाहि– तत्सामीप्यात्तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकम्, सिंहशब्दवाच्यत्वं च वटोरसिद्धम्। अथ यत्र यत्रैवंशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग इत्यनुमानम्, तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, न चास्ति। न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदयोगात्, नियमाप्रतिपत्तेर्वक्तुरेतद्विवक्षितमित्यध्यवसायाभावप्रसङ्गाच्चेत्यस्ति तावदत्र शब्दस्यैव व्यापारः। व्यापारश्च नाभिधात्मा, समयाभावात्। न तात्पर्यात्मा, तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्। न लक्षणात्मा, उक्तादेव हेतोः स्खलद्गतित्वाभावात्। तत्रापि हि स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात्। अत एव यत्केनचिल्लक्षितलक्षणेति नाम कृतं तद्व्यसनमात्रम्। तस्मादभिधा-

बाध, मुख्यार्थयोग और प्रयोजन के सन्निधान में लक्षणा व्यापार प्रवृत्त हैं यह तो आप भी कहते हैं। उसमें मुख्यार्थबाध प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरों से होता है और जो सामीप्यादि निमित्त का विधान करते है वह प्रमाणान्तर के द्वारा बोध्य है।

जो **'गङ्गायां घोषः'** यहाँ घोष का अतिपवित्रत्व, अतिशीतलत्व और अतिसेव्यत्व आदि प्रयोजन, वह लाक्षणिक शब्द से अतिरिक्त शब्द द्वारा अवाच्य एवं शब्द से अतिरिक्त प्रमाण द्वारा ज्ञात है– **'सिंहो माणवकः'** यहाँ वटु का अतिपराक्रमशालित्व प्रयोजन है, वह शब्द का व्यापार नहीं, ऐसी बात नहीं। वह भी शब्द का व्यापार ही है जैसा कि **'गङ्गायां घोषः'** इस स्थल में तत् सामीप्य के हेतु से तद्धर्मत्व का अनुमान अनैकान्तिक (व्यभिचारी है और वटुका सिंह शब्द की वाच्यतारूप हेतु स्वरूपासिद्ध है। यदि कहा जाय कि जहाँ-जहाँ इस प्रकार के शब्द का प्रयोग है वहाँ-वहाँ उसके धर्म का भी योग है, यह अनुमान होगा तब उसका भी व्याप्तिग्रहण के समय मौलिक प्रमाण कहना होगा, पर है नहीं। यदि कहो कि यह स्मृति है तो अननुभूत होने से उसका भी योग नहीं बनता। नियम का ज्ञान न होने से 'वक्ता को यह विवक्षित है' इसमें इस अध्यवसाय के अभाव का प्रसङ्ग है। इसलिये यहाँ शब्द का व्यापार है ऐसा मान लेना चाहिये। यहाँ वह शब्दव्यापार अभिधा रूप नहीं है, क्योंकि समय (संकेत) का अभाव है, तात्पर्य रूप व्यापार नहीं है, क्योंकि वह अन्वय का बोध होने पर ही परिक्षीण हो जाता है, लक्षणा रूप व्यापार भी नहीं है, क्योंकि कहे हुये कारण से ही स्खलद्गतित्व का अभाव है और यदि तीरादि अर्थ में भी स्खलद्गति मान भी लिया जाय तब पुनः मुख्यार्थबाधा और निमित्तरूप प्रयोजन होने से अनवस्था

लोचनम्

तात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः। यद्वक्ष्यति–

''मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥'' इति॥

तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः। तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः। मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः। तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः; स च प्राग्वृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुर्वन्प्रधानभूतः काव्यात्मेत्याशयेन निषेधप्रमुखतया च प्रयोजनविषयोऽपि निषेधविषय इत्युक्तम्। अभ्युपगममात्रेण चैतदुक्तम्; न त्वत्र लक्षणा, अत्यन्ततिरस्कारान्यसंक्रमणयोरभावात्। न

भी होगी। और जो किसी ने लक्षित तीरादि में पुन: पावनत्वादि प्रयोजन लक्षित करते हुये लक्षितलक्षण माना है वह भी व्यसन (नामान्तर) मात्र है। अत: अभिधा तात्पर्य लक्षणा से व्यतिरक्त चौथा यह व्यापार जिसे ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमन आदि पर्याप्त शब्दों से निरूपित किया गया है, उसे स्वीकार कर लेना चाहिये जैसा कि आगे चल कर कहेंगे **मुख्यामिति।**

मुख्य वृत्ति अभिधा को छोड़कर गुणवृत्ति से अर्थ (अमुख्य अर्थ) का दर्शन (ज्ञान) जिस फल को उद्देश्य कर कहा जाता है उसमें शब्द स्खलद्गति नहीं होता। इससे यह तात्पर्य निकला कि समय संकेत की अपेक्षा रखने वाली वाच्यार्थबोधन की शक्ति अभिधा है। उसकी अन्यथानुपपत्ति सहायवाली अर्थ की बोधन की शक्ति तात्पर्याशक्ति है। मुख्यार्थबाध आदि तीन सहकारियों की अपेक्षा से अर्थबोधन कराने वाली शक्ति लक्षणाशक्ति है। इन तीनों शक्तियों से उत्पन्न अर्थबोध के मूल से हुई अभिधेयादि अर्थों के प्रतिभास से पवित्रित प्रतिपत्ता (सहृदयों) की प्रतिभा की सहायता से अर्थद्योतन की शक्ति ध्वनन व्यापार है जो पहले के तीनों व्यापारों को अभिभूत करता हुआ प्रधानभूत काव्यात्मा है। इस आशय से वृत्तिकार ने स्वयं हि **'स, हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूप:'**। इस वाक्य में निषेध के प्रमुख होने के कारण उसके प्रयोजनविषयक होने पर भी निषेधविषयक माना है।।

यह प्रौढिवाद मात्र से कहा है कि यहाँ लक्षणा नहीं है, क्योंकि अत्यन्त तिरस्कार तथा अन्य संक्रमण यहाँ नहीं हैं। अर्थशक्ति के मूल में लक्षणा का व्यापार नहीं होता। सहकारी भेद से शक्तिभेद स्पष्ट है। जैसे व्याप्ति स्मृत्यादि सहकृत उसी शब्द की विवक्षा का ज्ञान होने पर अनुमापकत्व का व्यवहार होगा और जब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि

लोचनम्

ह्यर्थशक्तिमूलेऽस्या व्यापारः। सहकारिभेदाच्च शक्तिभेदः स्पष्ट एव, यथा तस्यैव शब्दस्य व्याप्तिस्मृत्यादिसहकृतस्य विवक्षावगतावनुमापकत्वव्यापारः। अक्षादिसहकृतस्य वा विकल्पकत्वव्यापारः। एवमभिहितान्वयवादिनामियदनपह्नवनीयम्।

योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ? तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः। असजातीये चास्मन्नय एव।

अथ योऽसौ चतुर्थकक्षानिविष्टोऽर्थः, स एव झटिति वाक्येनाभिधीयत इत्येवंविधं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितम्, तर्हि तत्र सङ्केताकरणात्कथं साक्षात्प्रतिपत्तिः। निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थसंकेतानपेक्ष एवेति चेत्– पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। यो ह्यसौ पर्यन्तकक्षाभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्।

सहकारी की अपेक्षा होगी तब विकल्पकत्त्वव्यापार होगा। इसलिये अभिहितान्वयवादियों के लिये यह ज्ञान अनिराकरणीय है। जो अन्विताभिधानवादी "शब्द का जिसमें तात्पर्य होता है वही शब्द का अर्थ है", इस बात को अपने हृदय में रखकर बाण की तरह अभिधाव्यापार को दीर्घदीर्घ मानते है, तब उनसे हम पूछते है कि उनका वह दीर्घ व्यापार एक है वह कैसे? क्योंकि विषय भिन्न होने से व्यापार भिन्न हो जाता है, यदि वह अनेक है तो तद्विषयक सहकारी के भेद से वह असजातीय है ऐसा मानना होगा और सजातीय होने पर पदार्थवेत्ता लोगों ने शब्द, कर्म, बुद्धि आदि का विराम हो जाने पर पुनः व्यापार का होना निषेध माना है। यदि असजातीय मानते हैं तब तो वही हमारा भी पक्ष है।

जो कहा जाता है 'चतुर्थ कक्षा में निविष्ट अर्थ है वही शीघ्रता से वाक्य के द्वारा अभिहित हो जाता है'। यही हमारे यहाँ दीर्घ-दीर्घ शब्द से विवक्षित है। यदि कहो कि वहाँ संकेत न होने के कारण किस प्रकार उसकी साक्षात् प्रतिपत्ति हो सकती है? तो सङ्केत तो निमित्तों में होता है, अर्थ तो नैमित्तिक है जो सङ्केत की अपेक्षा

लोचनम्

अथोच्यते– पूर्वं तत्र सङ्केतग्रहणसंस्कृतस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुया वस्तुस्थित्या निमित्तत्वं पदार्थानाम्, तर्हि तदनुसरणोपयोगि न किञ्चिदप्युक्तं स्यात्। न चापि प्राक्पदार्थेषु सङ्केतग्रहणं वृत्तम्, अन्वितानामेव सर्वदा प्रयोगात्। आवापोद्वापाभ्यां तथाभाव इति चेत्-सङ्केतः पदार्थमात्र एवेत्यभ्युपगमे पाश्चात्यैव विशेषप्रतीतिः।

अथोच्यते– दृष्टैव झटिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्र कुर्म इति। तदिदं वयमपि न नाङ्गीकुर्मः यद्वक्ष्यामः:–

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते ॥ इति ॥

किं तु सातिशयानुशीलनाभ्यासात्तत्र सम्भाव्यमानोऽपि क्रमः सजातीयतद्विकल्पपरम्परानुदयादभ्यस्तविषयव्याप्तिसमयस्मृतिक्रमवन्न संवेद्यत इति। निमित्तनैमित्तिकभावश्चावश्याश्रयणीयः, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुख्याद् भेदः 'श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कस्य पारदौर्बल्यम्' इत्यादिप्रक्रियाविघातः, निमित्ततावैचित्र्येणैवास्याः समर्थितत्वात्। निमित्ततावैचित्र्ये चाभ्यपगते किमपरमस्मास्वसूयया। येऽप्यविभक्तं स्फोटं

नहीं करता, तब यहाँ हम कह सकते हैं कि देखिये वैदिकों का चातुर्य! जो वह अर्थ चतुर्थ कक्षा में रहने वाला है उसको प्रथम प्रतीति (ज्ञान) के पथ में अवतीर्ण करते हैं, उसके बाद पदार्थज्ञान निमित्तभाव को प्राप्त करते है ऐसा कहते हैं, तब निश्चय ही मीमांसक अपने प्रपौत्र के बाद उत्पन्न हुये होंगे यह भी उन्हें अभिमत होना चाहिये, क्योंकि नैमित्तिक पहले निमित्त उसके बाद में।

यदि कहो कि पहले सङ्केतग्रह से संस्कृत हो जाने पर पार्यन्तिक अर्थ की प्रतीति होती है इस वस्तुस्थिति से पदार्थों का निमित्तत्व है तब तो उसके अनुसरण के उपयोग का कोई निमित्त नहीं कहा गया। दूसरे कि पहले पदार्थों में सङ्केतग्रह नहीं हुआ है, क्योंकि अन्वितों का ही प्रयोग है। यदि कहो कि आवापोद्वाप (त्याग और ग्रहण) के द्वारा सङ्केतग्रह संभव है, तब तो सङ्केत को पदार्थमात्र में स्वीकार करने पर विशेष वाक्यार्थ की प्रतीति वाद में ही होगी।

यदि कहा जाय कि झट से तात्पर्य की प्रतीति देखी गई तो हम क्या करें? तो हमभी इसे अस्वीकार नहीं करेंगे। तब कहेंगे कि उस प्रकार वाक्यार्थ से विमुख स्वभाव वाले सहृदयों की तत्त्वावभासिनीबुद्धि में वह पार्यन्तिक अर्थ झट से अवभासित हो जाता है, किन्तु पर्यालोचन के सातिशय अनुशीलन के कारण उसमें संभाव्यमान भी क्रम सजातीय पदार्थविषयक उन विकल्पों की परम्परा के उत्पन्न होने से पहले

लोचनम्

वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्।

यत् तु भट्टनायकेनोक्तम्– इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिकपदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः तदीयभीरुवीरत्वप्रकृतिनियमावगममन्तरेणैकान्ततो निषेधावगत्यभावादिति तन्न केवलार्थसामर्थ्यं निषेधावगतेर्निमित्तमिति। तत्रोच्यते-केनोक्तमेतत् 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगतध्वननव्यापारविरहेण च निषेधावगतिः' इति। प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं ह्यस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्। भयानकरसावेशश्च न निवार्यते, तस्य भयमात्रोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसाभिव्यक्त्यैव। रसश्च व्यङ्ग्य एव, तस्य च शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यङ्ग्यत्वमेव। प्रतिपत्तुरपि रसावेशो न नियतः, न ह्यसौ नियमेन भीरुधार्मिकसब्रह्मचारी सहृदयः।

अभ्यस्त विषय वाले व्याप्ति और समय (सङ्केत) की स्मृति के क्रमों की भाँति वह मालूम नहीं होता और निमित्त एवं नैमित्तिक के भाव का अवश्य आश्रयण करना चाहिये अन्यथा गौण और लाक्षणिक का मुख्य अर्थ से भेद अर्थात् मुख्यामुख्यरूप भेद एवं मीमांसाशास्त्र में कहा गया ''**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्**'' इत्यादि प्रक्रियाओं का विघात होगा, जबकि निमित्तता-वैचित्र्य से इसका समर्थन किया जा चुका है अत: जब निमित्ततावैचित्र्य आप स्वीकार कर लेते हैं तब हम पर असूया करने से क्या लाभ?

जो लोग अखण्ड वाक्य और अखण्ड अर्थ को स्फोट कहते हैं उन्हें भी अविद्या या व्यवहार की दशा में आने पर इन सभी प्रक्रिया का अनुसरण करना चाहिये। उस अविद्या या व्यवहार की दशा पार कर लेने पर तो सब कुछ परमेश्वर अद्वय ब्रह्म हो जाता है, इसे क्या हमारे वे शास्त्रकार नहीं जानते थे किन्तु जानते थे, इसीलिये उन्होंने तत्त्वालोक नामक ग्रन्थ की रचना भी की है।

जो कि भट्टनायक ने कहा है– '**भ्रम धार्मिक**' इस श्लोक के व्याख्यान में निषेध का ज्ञान दृप्तसिंहादि पद के प्रयोग और धार्मिक पद के प्रयोग में होने वाले भयानक रस के आवेश द्वारा होता है; क्योंकि धार्मिक और सिंह की क्रमश: भीरुता और वीरतारूप प्रकृति के नियम के ज्ञान के बिना एकान्ततः (निश्चित रूप) से निषेध का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये केवल अर्थ का सामर्थ्य निषेध के ज्ञान का निमित्त

लोचनम्

अथ तद्विशेषोऽपि सहकारी कल्प्यते, तर्हि वक्तृप्रतिपत्तृप्रतिभाप्राणितो ध्वननव्यापारः किं न सह्यते। किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्। यदाह– 'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः' इति। अथ रसस्यैवेयत्तया प्राधान्यमुक्तम्; तत्को न सहते। अथ वस्तुमात्रध्वनेरेतदुहारणं न युक्तमित्युच्यते, तथापि काव्योदाहरणत्वाद् द्वावप्यत्र ध्वनी स्तः, को दोषः।

यदि तु रसानुवेधेन विना न तुष्यति, तद् भयानकरसानुवेदो नात्र सहृदयहृदयदर्पणमध्यास्ते; अपि तु उक्तनीत्या सम्भोगाभिलाषविभाव-सङ्केतस्थानोचितविशिष्टकाक्वाद्यनुभावशबलनोदितशृङ्गाररसानुवेधः। रसस्यालौकिकत्वात्तावन्मात्रादेव चानवगमात्प्रथमं निर्विवादसिद्धविविक्त-विधिनिषेधप्रदर्शनाभिप्रायेण चैतद्वस्तुध्वनेरुदाहरणं दत्तम्।

नहीं। इस पर कहते हैं– यह किसने कहा कि वक्ता विशेष और प्रतिपत्ता विशेष के जाने बिना शब्दगतध्वनन व्यापार के निषेध का ज्ञान होता है। हमने तो प्रतिपत्ता की प्रतिभा की सहकारिता को तो द्योतन (ध्वनन व्यापार) का प्राण कहा ही है। भयानक रस के आवेश का तो हम भी निवारण नहीं करते जबकि हम उसे भयमात्र की उत्पत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रतिपत्ता को रस का आवेश रसाभिव्यक्ति से होगा ही। और रस व्यङ्ग ही होता है, क्योंकि रस की शब्दवाच्यता किसी ने भी स्वीकार नहीं की है। इसलिये वह व्यङ्ग ही है, प्रतिपत्ता को भी रसावेश नियत रूप से नहीं होता, क्योंकि सहृदय वह प्रतिपत्ता धार्मिक जैसा नियमतः भीरु नहीं होता, वह वीररसाभिनिविष्ट भी हो सकता है।

यदि प्रतिपत्ता विशेष को सहकारी कल्पित करते हैं तो वक्ता और प्रतिपत्ता की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वनन व्यापार को ही क्यों नहीं स्वीकार कर लेते। इतना ही नहीं, आप वस्तुध्वनि को तो दूषित करते हैं और वस्तुध्वनि के अनुग्राहक रसध्वनिका समर्थन करते हैं, यह तो सुष्ठु प्रकार से ध्वनि का ध्वंस कैसे कहा गया है। अर्थात् ध्वनि का समर्थन ही हुआ। जैसा कि कहा गया है कि देवता का क्रोध भी वर के समान होता है। यदि कहा जाय कि इतने से हमने रस का प्राध्यान्य प्रतिपादित किया है तो यह बात किसे मान्य नहीं। यदि कहो कि वस्तुध्वनि का यह उदाहरण ठीक नहीं है तो भी काव्य का उदाहरण होने से दोनों प्रकार की ध्वनि यहाँ है ही फिर क्या दोष है?

यदि कहो कि सहृदय जन रसानुवेध (रसावेश) के बिना संतुष्ट नहीं होते, इस पर हमारा कहना यह है कि सहृदयों के हृदय-दर्पण में भयानक रस का आवेश अधिष्ठित नहीं होता, किन्तु उक्त प्रकार से संभोग की अभिलाषा का उद्दीपन-विभाव

लोचनम्

यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत्; स नास्माकं हृदयमावर्जयति। यदाहुः–'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इति। तदेतदग्रे यथायथं प्रतनिष्याम इत्यास्तां तावत्। भ्रमेति। अतिसृष्टोऽसि प्राप्तस्ते ,भ्रमणकालः। धार्मिकेति। कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्तं ते भ्रमणम्। विस्रब्ध इति शङ्काकारणवैकल्यात्। स इति यस्ते भयप्रकम्पामङ्गलतिकामकृत। अद्येति दिष्ट्या वर्धस इत्यर्थः मारित इति पुनरस्यानुत्थानम्। तेनेति। यः पूर्वं कर्णोपकर्णिकया त्वयाप्याकर्णितो गोदावरीकच्छगहने प्रतिवसतीति। पूर्वमेव हि तद्रक्षायै तत्तयोपश्रावितोऽसौ; स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनान्निस्सरतीति प्रसिद्धगोदावरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत्कथाशेषीभूतं का कथा तल्लतागहनप्रवेशशङ्कयेति भावः।

वाला सङ्केतस्थान के उचित जो विशिष्ट काकु आदि अनुभाव हैं, उसके शबलन (सम्मिश्रण) से उदय को प्राप्त हुआ शृङ्गार रस का अनुवेध अधिष्ठित होता है। रस के अलौकिक होने मात्र से उसका अवगम (ज्ञान) संभव नहीं है। अतएव प्रथम निर्विवाद सिद्ध केवल एकमात्र विधि और निषेध के प्रदर्शन के अभिप्राय से इस वस्तुध्वनि का उदाहरण दिया गया है।

ध्वनि के व्याख्यान करने के लिये उद्यत हुये जिस व्यक्ति ने तात्पर्यशक्ति को ही अथवा विवक्षा के सूचकत्त्व को ही ध्वनन कहा हैं, वह हमारा हृदय आकृष्ट नहीं करता। जैसा कि लोगों ने कहा है– '**भिन्नरुचिर्हि लोकः**' इस बात को आगे चलकर विस्तार के साथ कहेंगे। इस विषय को यहीं समाप्त करते हैं। प्रकृत **भ्रम** (घूमो) तुम सर्वथा अतिसृष्ट (स्वतन्त्र या मुक्त) हो। घूमो या मत घूमो यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है, तुम्हारा भ्रमणकाल उपस्थित है। **धार्मिक** (महात्माजी पण्डितजी या बाबाजी) पुष्पचयनादि सामग्री संचित करने के लिये तुम्हारा घूमना उचित है। **विस्रब्धइति** शङ्का का कारण अब नहीं रहा। **सः** जो तुम्हारे अङ्गों को भौंक कर कम्पित कर देता था। **अद्य** तुम्हारा भाग्य बलवान् है **मारितः** मार डाला गया, अब पुनः वह लौट कर आने वाला नहीं है। **तेन दृप्तसिंहेन** जिसे पहले से तुमने भी कानोकान सुना भी है कि वह गोदावरी के गहन कच्छ में रहता है। तात्पर्य यह कि उस पुंश्चली ने पहले से ही उस सङ्केत-स्थान की रक्षा के लिये सिंह के गोदावरी के गहन कच्छ में निवास करने का वृत्तान्त धार्मिक को सुना रखा है कि जो सिंह उस गहन कच्छ में रहता मात्र था, अब वह पागल होकर गहन से निकल जाता है इसलिये प्रसिद्ध गोदावरी नदी के तीर की भूमि के आस-पास किसी का आना-जाना या घूमना विल्कुल बन्द हो गया है, मात्र चर्चा का विषय रह गया है। फिर लतागहन में प्रवेश की आशङ्का भी दूर की बात हो गई। वहाँ कदापि जाना उचित न होगा।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा–

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥

क्वचिदिति— कहीं वाच्य के प्रतिषेधरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ (व्यङ्ग्य) विधिरूप हो जाता है जैसे **अत्ता इति**– हे पथिक! दिन में अच्छी तरह देख लो। यहाँ सास जी सोती है और यहाँ मैं सोती हूँ, रात को तुम रतौंधी ग्रस्त हो अतः कहीं हमारी खाट पर मत गिर पड़ना।

लोचनम्

अत्ता इति।

श्वश्रूरत्र शेते अथवा निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः॥

मह इति निपातोऽनेकार्थवृत्तिरत्रावयोरित्यर्थे न तु ममेति। एवं हि विशेषवचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात्। कांचित्प्रोषितपतिकां तरुणीमवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः संपन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः। न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तप्रवर्तनास्वभावः सौभाग्याभिमानखण्डनाप्रसङ्गात्। अत एव *रात्र्यन्धेति* समुचितसमयसम्भाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम्। भावतदभावयोश्च साक्षाद्विरोधाद्वाच्याद्वयङ्ग्यस्य स्फुटमेवान्यत्वम्।

अत्ता इति 'मह' यह निपात शब्द प्राकृत भाषा में अनेकार्थवृत्ति होने के कारण यहाँ हमारी और मेरी सास की इस द्विवचन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है न की केवल मेरी इस अर्थ में, यहाँ मम इस एकवचन के मानने पर यह विशेषवचन ही सास को सशङ्कित कर देने वाला हो जायेगा, ऐसी स्थिति में नायिका द्वारा किया गया प्रच्छन्नाभ्युपगम [छिपे रूप से होने की स्वयंप्रदत्त स्वीकृति] नहीं बनेगा। यहाँ किसी प्रोषितपतिका तरुणी को देखकर कोई पथिक विशेष रूप से कामासक्त है, तब इस निषेध के प्रकार से उस तरुणी ने उसे अपने साथ शयन का वचन दिया है। इस प्रकार यहाँ निषेधाभावरूप विधि है न कि अप्रवृत्त में वर्तन स्वभाव वाला निमन्त्रण है, क्योंकि तब तो सौभाग्याभिमान के खण्डित हो जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। इसलिये 'रात्र्यन्ध' इसके द्वारा योग्य समय में संभावित होने वाले विकारों से उसका आकुलित होना ध्वनित होता है। भाव और अभाव दोनों में साक्षात् विरोध होने के कारण वाच्य से व्यङ्ग्य का भिन्नत्व स्पष्ट ही है।

लोचनम्

यत्त्वाह भट्टनायकः–'अहमित्यभिनयविशेषेणात्मदशावेदनाच्छाब्दमेतदपी'ति। तत्राहमिति शब्दस्य तावन्नायं साक्षादर्थः; काक्वादिसहायस्य च तावति ध्वननमेव व्यापार इति ध्वनेर्भूषणमेतत्। अत्तेति प्रयत्नेनानिभृतसम्भोगपरिहारः। अथ यद्यपि भवान्मदनशरासारदीर्यमाणहृदय उपेक्षितुं न युक्तः, तथापि किं करोमि पापो दिवसकोऽयमनुचितत्वात्कुत्सितोऽयमित्यर्थः। प्राकृते पुंनपुंसकयोरनियमः। न च सर्वथा त्वामुपेक्षे, यतोऽत्रैवाहं तत्प्रलोकय नान्यतोऽहं गच्छामि, तदन्योन्यवदनावलोकनविनोदेन दिनं तावदतिवाहयाव इत्यर्थः। प्रतिपन्नमात्रायां च रात्रावन्धीभूतो मदीयायां शय्यायां मा श्लिषः, अपि तु निभृतनिभृतमेवात्ताभिधाननिकटकण्टकनिद्रान्वेषणपूर्वकमितीयदत्र ध्वन्यते।

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत॥

अत्र व्रजेति विधिः। न प्रमादादेव नायिकान्तरसंगमनं तव, अपि तु गाढानुरागात्, येनान्यादृङ्मुखरागः गोत्रस्खलनादि च, केवलं

जो भट्टनायक ने कहा है कि 'गाथा में प्रयुक्त' अहं पद के द्वारा अभिनय विशेष के बल से अपनी दशा आवेदन के कारण निषेध के द्वारा अभ्युपगमन भी शब्दाभिधेय है। इस पर कहते हैं– अहं इस शब्द का यह अभिनय विशेष रूप अभ्युपगमन साक्षात् अर्थ नहीं है, किन्तु काकु की सहायता से ऐसा हुआ है। ऐसी स्थिति में यहाँ ध्वनन व्यापार ही मुख्य ठहरता है, यह ध्वनि का भूषण है दूषण नहीं। गाथा में 'अत्ता' (श्वश्रू) के प्रयोग द्वारा प्रयत्नपूर्वक संभावित अपने अनिभृत (एकान्त) संभोग का परिहार है। यद्यपि कि तुम्हारा हृदय काम के बाणों की वर्षा से विदीर्ण हो गया है अतः किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नहीं हो तथापि पापी दिन संभोग के लिये अनुचित होने के कारण अत्यन्त निन्दनीय है। प्राकृत भाषा में पुल्लिङ्ग और नपुंसक के लिये कोई नियम नहीं है। मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं करती। तुम्हीं देखो मैं तुम्हें छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जा रही हूँ, तो आओ हम दोनों परस्पर एक दूसरे का मुख देखते हुये इस दिन को बिता दें, रात के होते ही अन्धे होकर कहीं मेरी शय्या पर मत गिर जाना, बल्कि बहुत सावधानी से यह जान लो कि यह श्वश्रू वाला कण्टक अब घोर निद्रा में आ चुका है तब सावधानी से उसका अन्वेषण कर उससे बचते हुये मेरी शय्या पर आ जाना। बस यहाँ इतना ही ध्वनित होता है।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा–

वच्च मह व्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइं ।
मा तुज्ज वि तीअ विणा दक्खिणणहअस्स जाअन्तु ॥

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा–

कहीं वाच्य के विधिरूप होने पर व्यङ्ग्य अनुभयरूप (न विधिरूप न निषेधरूप) होता है। जैसे— वच्चेति।

'तू जा' मुझ अकेली का ही इस दीर्घ निःश्वास और रुदन मेरे भाग में हों। उसके बिना दाक्षिण्य (समानुरागिता) से रहित तुझे भी ये नि:श्वास और रुदन मत पैदा हो।

कहीं वाच्यार्थ के प्रतिषेधरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ अनुभयरूप होता है जैसे—

लोचनम्

पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैकरूपत्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थितः, तत्सर्वथा शठोऽसीति गाढमन्युरूपोऽयं खण्डितनायिकाभिप्रायोऽत्र प्रतीयते। न चासौ व्रज्याभावरूपो निषेधः, नापि विध्यन्तरमेवा-न्यनिषेधाभावः।

दे इति निपातः प्रार्थनायाम्। आ इति चावच्छब्दार्थे। तेनायमर्थः–

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥

यहाँ 'वज्र' यह विधि है। उस दूसरी नायिका से तेरा यह संगमन प्रमादवश नहीं है, अपितु उसके साथ तुम्हारा गाढ अनुराग भी है, इसलिये तू उससे मिलता हुआ है, जिससे तेरा यह मुखराग कुछ दूसरे प्रकार का हो रहा है, और गोत्रस्खलन (प्रमादवश किसी दूसरी नायिका का नामोच्चारण) आदि होता दिखाई दे रहा है। सिर्फ तू यहाँ मेरे पालन का जो वचन दे रखा है मात्र उसी दाक्षिण्य के कारण जो एकरूपता का अभिमान तुम में है उसी कारण यहाँ तू ठहरा है अत: तू 'गूढविप्रियकृच्छठ ही निकला। यहाँ खण्डिता नायिका का इस प्रकार कोपरूप अभिप्राय प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार न तो यहाँ गमनाभावरूप निषेध प्रतीत रो रहा है और न तो निषेधाभावरूप दूसरी विधि (विध्यन्तर लक्षित) होती है। दूसरी की विधि विध्यन्तर ही लक्षित होती है अत: यहाँ व्यङ्ग्यार्थ न विधि है न निषेध हैं अपितु अनुभयात्मक है। **अन्यनिषेधाभावः** विधि न तो व्रज्याभाव का निषेध करता है और न तो अन्य किसी विधिका विधान करता है। इस प्रकार यह विध्यन्तर अन्य निषेधाभाव व्यक्त हुआ।

ध्वन्यालोकः

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्नाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणँ विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे ॥

प्रार्थना करता हूँ, मान जाओ, लौट आओ। अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से गाढ़े अन्धकार को नाश करके अरी हताशे! तुम अन्य अभिसारिकाओं के अभिसार-कार्य में विघ्न कर रही हो।

लोचनम्

अत्र व्यवसिताद्गमनान्निवर्तस्वेति प्रतीतेर्निषेधो वाच्यः। गृहागता नायिका गोत्रस्खलिताद्यपराधिनि नायके सति ततः प्रतिगन्तुं प्रवृत्ता, नायकेन चाटूपक्रमपूर्वकं निवर्त्यते। न केवलं स्वात्मनो मम च निर्वृतिविघ्नं करोषि, यावदन्यासामपि; ततस्तव न कदाचन सुखलवलाभोऽपि भविष्यतीत्यत एव हताशासीति वल्लभाभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः।

यदि वा सख्योपदिश्यमानापि तदवधीरणया गच्छन्ती सख्योच्यते– न केवलमात्मनो विघ्नं करोपि, लाघवादबहुमानास्पदमात्मानं कुर्वती, अत एव हताशा; यावद्वदनचन्द्रिकाप्रकाशितमार्गतयान्यासामप्यभिसारिकाणां विघ्नं

प्राकृत भाषा में 'दे' यह निपात प्रार्थना अर्थ में है 'आ' यह निपात तावच्छब्द के अर्थ में है इसलिये इसका अर्थ हुआ प्रार्थना करता हूँ, प्रसन्न हो जाओ, लौट आओ अरी अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से इस गाढ़ अन्धकार का नाश करने वाली हताशे! तुम अन्य अभिसारिकाओं के भी अभिसार-कार्य में विघ्न क्यों कर रही हो?

आचार्य ने **'दे आ'** इस प्रस्तुत गाथा को वक्ता के भेद के आधार पर तीन-चार प्रकार से लगाया है।

यहाँ व्यवसित गमन से 'लौट आओ' इस प्रतीति के कारण गमन का निषेध रूप वाच्यार्थ है, जब नायिका घर आ गई तब नायक गोत्रस्खलन रूप अपराध कर बैठा, इस कारण वह लौट जाने के लिये प्रवृत्त हुई तब नायक चाटुकारी के उपक्रम से उसे निवृत्त करता है। न केवल तू अपने आपके तथा मेरे सुख में विघ्न करती है बल्कि दूसरी स्त्रियों के भी सुख में विघन करती है, अतः तुझे कभी सुख लाभ न होगा अतएव हताशा है, इस प्रकार यहाँ नायक का अभिप्राय चाटु विशेष व्यङ्ग्य है।

अपनी सखी के द्वारा उपदिष्ट होने पर भी उसे न मान कर जाने के लिये प्रवृत्त उस नायिका से सखी कहती है– तू अपनी लघुता तथा अपनी बहुमानता का अभाव प्रदर्शित करती हुई केवल अपना कार्य ही विघ्नित नहीं कर रही है इसलिये स्वयं तो हताशा है ही, किन्तु अपने मुखचन्द्र की चन्द्रिका से मार्ग को प्रकाशित कर अन्य

लोचनम्

करोषीति सख्यभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः। अत्र तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात्प्रतीपगमनात्प्रियतमगृहगमनाच्च निवर्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विश्रान्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदस्य प्रेयोरसवदलङ्कार-स्योदाहरणमिदं स्यात्, न ध्वनेः।

तेनायमत्र भावः–काचिद्रभसात्प्रियतममभिसरन्ती तद्गृहाभिमुखमागच्छता तेनैव हृदयवल्लभेनैवमुपश्लोक्यतेऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन, अत एवात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थमेव नर्मवचनं *हताश* इति। अन्यासाञ्च विघ्नं करोषि तव चेप्सितलाभो भविष्यतीति का प्रत्याशा। अत एव मदीयं वा गृहमागच्छ, त्वदीयं वा गच्छावेत्युभयत्रापि तात्पर्यादनुभयरूपो वल्लभाभिप्रायश्चाट्वात्मा व्यङ्ग्य इयत्येव व्यवतिष्ठते। अन्ये तु–'तटस्थानां सहृदयानामभिसारिकां प्रतीयमुक्तिः' इत्याहुः। तत्र *हताशे* इत्यामन्त्रणादि युक्तमयुक्तं वेति सहृदया एव प्रमाणम्।

एवं वाच्यव्यङ्ग्ययोर्धार्मिकपान्थप्रियतमाभिसारिकाविषयैक्येऽपि स्वरूपभेदाद्भेद इति प्रतिपादितम्। अधुना तु विषयभेदादपि व्यङ्ग्यस्य

अभिसारिकाओं के भी कार्य में विघ्न डालती है। यहाँ सखी का अभिप्राय रूप चाटु विशेष व्यङ्ग्य है। इन दोनों व्याख्यानों में व्यवसित प्रतीपगमन (अपने घर के प्रति गमन) तथा अपने प्रियतम के गृहगमन से 'लौट आओ' यह वाच्य है (उसने सखीगत नायिकाविषयक भावरूप रति अथवा नायकगत नायिकाविषयक रति के विश्रान्त होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदभूत जो प्रेयोऽलङ्कार अथवा रसवदलङ्कार है उनका ही यह उदाहरण होगा ध्वनि का नहीं।

इसलिये यहाँ यह भाव है– कोई नायिका बड़ी शीघ्रता से अपने प्रियतम के घर की ओर अभिसार करती, उसी समय मार्ग में उसी के घर की ओर आता हुआ वही उसका प्रियतम अप्रत्यभिज्ञान (नायिका को न पहचानने) के व्याज से उसकी इस प्रकार प्रशंसा करता है। इसीलिये अपनी पहचान के लिये ही उसके नर्मवचन हताशे का वाक्य में प्रयोग है। इसका तात्पर्य है कि जब तू दूसरी अभिसारिकाओं के कार्य में विघ्न करती है तब तेरा अभीष्ट पूरा होगा इसकी प्रत्याशा कैसे की जा सकती है। अतएव मेरे घर आ, या हम दोनों तेरे घर चलें। यहाँ दोनों में तात्पर्य होने के कारण अनुभयरूप चाटुगर्भित प्रिय का अभिप्राय केवल इसी व्यङ्ग्य में पर्यवसित हो जाता है। इस प्रकार यहाँ प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न है। दूसरे कहते हैं कि यह तटस्थ सहृदयों का अभिसारिका के प्रति वचन है। अत: यहाँ 'हताशे' यह आमन्त्रण ठीक है अथवा ठीक नहीं, इसमें वे सहृदयजन ही प्रमाण हैं।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा–

कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआएँ सव्वणं अहरम् ।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्णिम् ।।

अन्ये चैवंप्रकारा वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति । तेषां दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम्। द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते।

क्वचिदिति— कहीं वाच्य से विभिन्न विषयत्व रूप से व्यवस्थापित व्यङ्ग, जैसे– **कस्य** इति

अपनी प्रिया के इतर निमित्तक व्रणयुक्त अधर को देखकर किसे क्रोध न होगा? मेरे द्वारा मना करने पर भी न मानने वाली अरी भौरों सहित कमलपुष्प सूँघने वाली! अब तू उसका दुष्परिणाम स्वयं भोग।

इस प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान के और भी भेद हो सकते हैं, उनका यहाँ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। वाच्य से विभिन्न दूसरे भी प्रभेद आगे चल कर प्रदर्शित करेंगे।

लोचनम्

वाच्याद्भेद इत्याह– ***क्वचिद्वाच्यादिति। व्यवस्थापित*** **इति। विषयभेदोऽपि विचित्ररूपो व्यवतिष्ठमानः सहृदयैर्व्यवस्थापयितुं शक्यत इत्यर्थः।**

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम् ।।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों में धार्मिक, पान्थ, प्रियतम और अभिसारिका के वाच्य और व्यङ्ग के एक विषय होने पर भी स्वरूपभेद से भेद होता है, यह प्रतिपादन किया गया। अब विषय के भिन्न होने पर भी व्यङ्ग्यभेद कहते हैं—**क्वचिदिति। व्यवस्थापित इति**– विषय-भेद विचित्ररूप से रहता हुआ सहृदयजनों द्वारा व्यवस्थापित किया जा सकता है। जैसे **कस्येति** अपने प्रिया के......... इत्यादि ईर्ष्या से रहित भी व्यक्ति को उसके देखने मात्र से क्रोध चढ़ जाता है। यद्यपि स्वयं नायक ने अपनी प्रिया के अधर में यह व्रण नहीं किया है, किन्तु किसी कारणवश अपूर्व भाव से प्रिया के व्रणयुक्त अधर को देखकर **सभ्रमर** भ्रमरसहित कमलपुष्प को सूँघने की शीलवाली। शील किसी प्रकार हटाया तो नहीं जा सकता। **वारितवामे** वारिते अर्थात् निवारण में वामा अर्थात् उसे अङ्गीकार न करने वाली। **सहस्व** सहन कर। उलहनों की परम्परा अथवा अपने किये कर्म का दुष्परिणाम भोग।

लोचनम्

कस्य वेति। अनीर्ष्यालोरपि भवति रोषो दृष्ट्वैव; अकृत्वापि कुतश्चिदेवापूर्वतया प्रियायाः सव्रणमधरमवलोक्य। *सभ्रमरपद्माघ्राणशीले* शीलं हि कथंचिदपि वारयितुं न शक्यम्। वारिते वारणायां, वामे तदनङ्गीकारिणि। *सहस्वेदानी*मुपालम्भपरम्परामित्यर्थः। अत्रायं भावः– काचिदविनीता कुतश्चित्खण्डिताधरा निश्चितत्सविधसंनिधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कयाचिद्विग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते *सहस्वेदानीमिति* वाच्यमविनयवतीविषयम्। भर्तृविषयं तु-अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम्। सहस्वेत्यपि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम्। तस्यां च. प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम्। तत्सपत्न्यां च तदुपालम्भतद-विनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम्। इयता खलीकृतास्मीति लाघवमात्मनि ग्रहीतुं न युक्तं; प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम्। अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्थं रक्षिता, पुनः प्रकटरदनदशनविधिर्न विधेय इति तच्चौर्यकामुक-

इस श्लोक का भाव इस प्रकार है– कोई नायिका जो कहीं किसी जार से अपना अधरक्षत करा चुकी है, उसका पति जो वहीं कहीं निश्चित रूप से सन्निहित है, उसे कोई उपालम्भ न दे इस आशय से उसकी चालाक सखी उसके पति को अनदेखी कर उसे निरपराध सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत वचन का उपन्यास करती है। **'सहस्व'** अर्थात् दुष्परिणाम भोग। अविनयवती उस नायिका के प्रति तो यह वाच्यार्थ है। पति के प्रति तो उसका अपराध नहीं है यह आवेद्यमान वचन व्यङ्ग्य हैं। 'सहस्व' यह वचन स्वयं नायिका के प्रति भी व्यङ्ग्य है। उसके प्रति प्रगाढ़रूप से उसे उपालम्भ दे कर कहीं उसका किसी प्रकार कोई अनिष्ट न कर बैठे ऐसी आशङ्का करने वाले पड़ोसियों के प्रति उसके अविनय प्रच्छादन के द्वारा नायिका का निरपराधत्व बोधन व्यङ्ग है। उसकी सपत्नियाँ जो उसके उपालम्भ से प्रसन्न हो रही हैं, उनके प्रति 'प्रियाया:' इस शब्द के बल से उसके सौभाग्यातिशय का प्रख्यापन यह व्यङ्ग्य है। सपत्नियों के मध्य इस प्रकार अविनीतता प्रकट हो जाने से मैं सर्वथा लघुत्व (गौरवहीन) बना दी गई हूँ। इस प्रकार की लघुता का भाव अपने मन में लाना यह तुम्हें उचित नहीं बल्कि तुम्हारे लिये यह गौरव की बात है। इसे प्रकट करने के लिये 'सहस्व' अर्थात् शोभस्व' सपत्नियों के मध्य शोभा प्राप्त करो, यह सौभाग्य का आख्यापन अपनी अपराधिनी सखी के प्रति व्यङ्ग्य है। आज तुममें प्रच्छन्न रूप से

लोचनम्

विषयसम्बोधनं व्यङ्ग्यम्। इत्थं मयैतदपह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति। तदेतदुक्तं *व्यवस्थापितशब्देन।* अग्र इति द्वितीयोद्योते 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्योतितः परः' इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयप्रभेदवर्णनावसरे। यथा हि विधिनिषेधतदनुभयात्मना रूपेण संकलय्य वस्तुध्वनिः संक्षेपेण सुवचः, तथा नालङ्कारध्वनिः, अलङ्काराणां भूयस्त्वात्। तत एवोक्तम्—*सप्रपञ्चमिति।*

***तृतीयस्त्विति।* तुशब्दो व्यतिरेके। वस्त्वलंकारावपि शब्दाभिधेयत्वमध्यासाते तावत्। रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति। तत्र ध्वननव्यापारादृते नास्ति कल्पनान्तरम्। स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात्। औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भावः, अनौचित्येन तदाभासः, रावणस्येव सीतायां रतेः.**

अनुराग करने वाली तुम्हारी वल्लभा की तो मैंने रक्षा कर दी किन्तु आगे चल कर प्रकटरूप से उसके अधर में इस प्रकार दन्तक्षत मत करना यह संबोधन उसके चौर्यकामुक के प्रति व्यङ्ग्य है। तटस्थ विदग्ध लोगों के प्रति मैंने अपनी वचनचातुरी से इसका अपराध छिपा दिया, इस प्रकार अपना वैदग्ध्य स्थापन व्यङ्ग्य है। इसी बात को वृत्ति ग्रन्थ में व्यवस्थापन शब्द से कहा गया है। **द्वितीयोऽपि प्रदर्शयिष्यते** दूसरे उद्योत में 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्योतितः परः' इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य' नामक दूसरे प्रभेद के वर्णन के अवसर पर उसे जिस प्रकार विधि, निषेध और विधिनिषेधानुभय रूप प्रकार के द्वारा संकलित कर वस्तुध्वनि को संक्षेप से कहा जा सकता है। उस प्रकार अलङ्कारों के असंख्य होने से उसे अलङ्कारध्वनि को नहीं कह सकते, इस कारण कहा– **सप्रपञ्चमिति।**

तृतीयस्त्विति— यहाँ 'तु' शब्द व्यतिरेक में प्रयुक्त है। अभिप्राय यह कि वस्तु और अलङ्कार शब्द द्वारा अभिधेय होते हैं, किन्तु रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम वे कभी-कभी शब्द द्वारा अभिहित नहीं भी होते, उनकी आस्वाद्यमानता उनमें विद्यमान केवल प्राणरूप से ही प्रकाशित होती है। वहां केवल ध्वनन व्यापार को छोड़कर कोई अन्य कल्पना नहीं हो सकती। स्खलद्गतित्व के न होने से मुख्यार्थबाध रूप लक्षणा के कारणों की भी आशङ्का नहीं की जा सकती। औचित्य द्वारा प्रवृत्ति के होने पर जब चित्तवृत्ति का आस्वाद होता है तब उस स्थायिनी चित्तवृत्ति से रस, व्यभिचारिणी से भाव, अनौचित्यपूर्वक प्रवृत्ति होने पर रसाभास होता है, जैसे रावण की सीता में रति से। यद्यपि वहाँ रति नहीं है किन्तु हास्य सरूपता है जैसा

लोचनम्

यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव, 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' इति वचनात्। तथापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधारणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादौ। तदसौ शृङ्गाराभास एव। तदङ्ग भावाभासश्चित्तवृत्तेः प्रशम एव प्रक्रान्ताया हृदयमाह्लादयति यतो विशेषेण, तत एव तत्संगृहीतोऽपि पृथग्गणितोऽसौ। यथा–

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम्॥

इत्यत्रेर्ष्यारोषात्मनो मानस्य प्रशमः। न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः' इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा। नापि लक्षणया। अपि तु सहृदयस्य हृदयसंवादबलाद्विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति। तदाह–

कि कहा गया है– '**शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्याः**' अर्थात् शृङ्गार से हास्य होता है। तथापि वह सामाजिकों की पश्चात् होने वाली स्थिति है। तन्मयता की स्थिति में तो उन्हें रति का ही आस्वाद होता रहता है, इस प्रकार शृङ्गारता ही अनुभूत होती है, पौर्वापर्य-विवेक के अभाव के कारण– जैसे 'दूर ही से आकर्षण करने वाले मोह के समान उसके नाम कर्णगोचर होने पर' इत्यादि में तो यह शृङ्गाराभास ही है। उस शृङ्गार और रसाभास का अङ्ग जो भावाभास है, चित्तवृत्ति जब प्रशम अवस्था में प्रक्रान्त हो जाती है तभी विशेष रूप से हृदय को आह्लादित करता है, इसीलिये भाव शब्द से संगृहीत होने पर भी उसकी गणना अलग से की गई है। जैसे— **एकस्मिन्निति**...... एक ही शय्या पर प्रणयरोष क़ा कारण परस्पर मुख फेर कर सोये हुये किन्तु निद्रासमाप्त हो जाने पर परस्पर संताप का अनुभव करते हुये अपने-अपने हृदय में एक दूसरे के प्रति अनुनय के रहते हुये भी अपने-अपने गौरव की रक्षा करते हुये पति-पत्नी के अपाङ्ग (कटाक्ष) युक्त नेत्र जब धीरे-धीरे एक दूसरे से मिल गये, तभी उनका प्रणयरोष भग्न हो गया और उन्होंने हँसते हुये वेगपूर्वक एक दूसरे का कण्ठग्रहण कर लिया।

यहाँ ईर्ष्या-रोष रूप मान का प्रशम है। यह रसादि अर्थ 'तुम्हें लड़का हुआ है' इस वाक्य के श्रवण से जैसे हर्ष होता है उस प्रकार का नहीं है, अपितु सहृदयजनों के संवाद के बल से विभाव-अनुभाव की प्रतीति होने पर तन्मयीभाव से आस्वादित

ध्वन्यालोकः

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्विभिन्न एव। तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्। विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः।

तृतीयस्त्विति रसादिरूप तीसरा भेद वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है। वह साक्षात् शब्द-व्यापार (अभिधा, लक्षणा-तात्पर्यशक्तिव्यापार) का विषय नहीं होता इसलिये वह वाच्यार्थ से भिन्न ही है। क्योंकि यदि उसे वाच्य माना जाय तो उसकी वाच्यता दो ही प्रकार से हो सकती है– या तो शब्द अर्थात् (रसादि शब्द अथवा शृङ्गारादि नामों) से हो सकती है। अथवा विभावादि प्रतिपादन द्वारा पहले पक्ष से जहाँ रस शब्द अथवा शृङ्गारादि शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, परन्तु विभावादि का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ स्वशब्द से निवेदित न होने पर रसादि की प्रतीति के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

लोचनम्

प्रकाशत **इति। तेन तत्र शब्दस्य ध्वननमेव व्यापारोऽर्थसहकृतस्येति। विभावाद्यर्थोऽपि न पुत्रजन्महर्षन्यायेन तां चित्तवृत्तिं जनयतीति जननातिरिक्तोऽर्थस्यापि व्यापारो ध्वननमेवोच्यते।** ***स्वशब्देति।*** **शृङ्गारादिना शब्देनाभिधाव्यापारवशादेव निवेदितत्वेन।** ***विभावादीति।*** **तात्पर्यशक्त्येत्यर्थः।**

तत्र स्वशब्दस्यान्वयव्यतिरेकौ रस्यमानतासारं रसं प्रति निराकुर्वन्ध्वननस्यैव ताविति दर्शयति– ***न च सर्वत्रेति।*** **यथा भट्टेन्दुराजस्य–**

होता हुआ ही सर्वथा रस्यमानता रूप एक प्राण तथा सिद्धस्वभावसुखादिलक्षण होने के कारण (वह रसादिरूप अर्थ) परिस्फुटित (प्रकाशित) होता है, इसीलिये वृत्ति ग्रन्थ में **प्रकाशत** इति ऐसा कहा गया है। इससे यहाँ अर्थसहकृतशब्द का ध्वनन ही व्यापार है। पुत्रजन्म से उत्पन्न हुये हर्ष के समान विभावादि अर्थ भी उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न नहीं करता, इसलिये जननातिरिक्त अर्थव्यापार भी ध्वनन ही कहा जाता है। **स्वशब्दनिवेदितत्वेन**– शृङ्गार आदि शब्द द्वारा अभिधा व्यापार के वश निवेदित होने के कारण **विभावादि प्रतिपादनमुखेन वा** अर्थात् तात्पर्यशक्ति के द्वारा।।

पुत्रेति– वहाँ स्वशब्द (श्रङ्गार आदि शब्द) के अन्वय-व्यतिरेक को रस्यमान प्राणरूप रस के प्रति निराकरण करते हुये वे दोनों अन्वय-व्यतिरेक ध्वनन के ही है।

ध्वन्यालोकः

न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः।

स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्।

किन्तु सर्वत्र उन रसादिकों को स्वशब्देन निवेदितत्त्व नहीं होता। जहाँ कहीं भी वह है वहाँ भी विशेष प्रकार के विभावादि से प्रतिपादन के द्वारा ही उसकी प्रतीति होती है।

वहाँ स्वशब्द से वह प्रतीति केवल अनुवाद मात्र से हो जाती है, वह शब्दकृत नहीं होती। क्योंकि विषयान्तर में उस प्रकार उसे देखा नहीं जाता।

लोचनम्

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णो यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥

इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्येवाभिलाषचिन्तौत्सुक्यानिद्राधृतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि।

इस बात को प्रदर्शित करते हैं। **न च सर्वत्रेति** सर्वत्र वे शब्द निवेदित नहीं होते- जैसे यह इन्दुराज का-**यद्विश्रम्येति।**

जिन श्रीकृष्ण को रुक-रुक बारम्बार देखने पर भी नेत्र सदैव चञ्चल आकुलित (उत्कण्ठित) ही बने रहते हैं, जिन्हें देख लेने पर शरीर के अवयवभूत अङ्ग-अङ्ग काटी गई नलिनी के नाल के समान सूखते (कृशता) से प्रतीत हो रहे हैं, जिन्हें देख लेने पर गालों पर दूर्वाकाण्ड का अनुसरण करने वाली पाण्डिमा (पीलापन पाण्डुता) छा जाती है। युवक श्रीकृष्ण के देख लेने पर यौवनावस्था को प्राप्त गोप तरुणियों की इसी प्रकार की दशा हो जाती है। यहाँ अनुभाव-विभाव के बोधन के बाद ही तन्मयीभवन की युक्ति से उस विभाव-अनुभाव के अनुरूप वासना रूप चित्तवृत्ति से अनुरञ्जित स्वसंविदानन्द की चर्वणा का गोचर रस स्वरूप अर्थ, अभिलाष, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, धृति, ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, वितर्क आदि शब्दों के अभाव

लोचनम्

एवं व्यतिरेकाभावं प्रदर्श्यान्वयाभावं दर्शयति–*यत्रापीति*। *तदिति*। स्वशब्दनिवेदितत्वम्। *प्रतिपादनमुखेनेति*। शब्दप्रयुक्त्या विभावादि-प्रतिपत्त्येत्यर्थः। *सा केवलमिति*। तथाहि–

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया।
तद्गीतं गुरुवाष्पगद्गदगत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कण्ठमुत्कूजितम्॥

इत्यत्र विभावानुभावावम्लानतया प्रतीयेते। उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव। सोत्कण्ठाशब्दः केवलं सिद्धं साधयति, उत्कमित्यनेन तूक्तानुभावानुकर्षणं कर्तुं सोत्कण्ठाशब्दः प्रयुक्त इत्यनुवादोऽपि नानर्थकः, पुनरनुभावप्रतिपादने हि पुनरुक्तिरतन्मयीभावो वा न तु तत्कृतेत्यत्र हेतुमाह–*विषायान्तर* इति। 'यद्विश्रम्य' इत्यादौ। न हि यदभावेऽपि यद्भवति तत्कृतं तदिति भावः। अदर्शनमेव द्रढयति–*न हीति*। केवलशब्दार्थं स्फुटयति–*विभावादीति*। काव्य इति। तव मते काव्यरूपतया प्रसज्यमान इत्यर्थः। *मनागपीति*।

से स्फुरित हो रहा है। इस प्रकार व्यतिरेक का अभाव दिखा कर अन्वय का अभाव प्रदर्शित करते है- **यत्राप्यस्ति। तदितिस्वशब्द द्वारा निवेदितत्वं। प्रतिपादनमुखेन** प्रतिपादन के द्वारा अर्थात् शब्द से प्रयुक्त विभावादि की प्रतिपत्ति से **सा केवलमिति** जैसा कि **यात इति।**

मधुरिपु भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारका चले जाने के बाद उनके आस्फालनों से युक्त कालिन्दी तट में उत्पन्न वेतसलता को आलङ्गित कर उत्कण्ठायुक्त राधा ने अधिक वाष्प के कारण गद्गद एवं कम्पनयुक्त ऊँचे स्वरों से प्रस्खलित वाणी में ऐसा गान किया कि जिसे सुन कर जल के भीतर रहने वाले जलचर जीव सभी उत्कण्ठित होकर ऊँचे स्वरों से कूजन करने लगे॥

यहाँ विभाव और अनुभाव अम्लानतया (स्पष्टतया) प्रतीत हो रहे हैं और उत्कण्ठा चर्वणा का गोचर हो कर प्राप्त है और वही उत्कण्ठा शब्द केवल सिद्ध का साधन करता है। 'उत्क' के द्वारा उक्त अनुभावों को खींचने के उद्देश्य से सोत्कण्ठा शब्द का प्रयोग है, इसलिये यह अनुवाद अनर्थक नहीं हैं। क्योंकि पुनः अनुभाव के प्रतिपादन के होने पर पुनरुक्ति अथवा अतन्मयीभाव होगा। **न तु तत्कृतेत्यत्र हेतुमाह** जो वृत्तिग्रन्थ में **न तु तन्कृता** ऐसा कहा गया है उसका हेतु कहते हैं।

वृत्तिग्रन्थ में पहले जो कह आये हैं कि— **विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्** उसी अदर्शन को दृढ़ करते हैं- **न हीति।** केवल शब्दार्थ का अर्थ स्पष्ट करते हैं—

ध्वन्यालोकः

न हि केवलशृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते।

जो कि उस काव्य में जहाँ, केवल शृङ्गार आदि शब्दमात्र प्रयुक्त हों और विभावादि का प्रतिपादन न हुआ हो वहाँ किञ्चिन्मात्र में भी रसत्व की प्रतीति नहीं रहती। क्योंकि स्वशब्द का अभिधान न होने पर भी केवल विशिष्ट विभावादि द्वारा रसादि की प्रतीति हो ही जाती है। केवल स्वशब्द के अभिधान से प्रतीति नहीं होती। इस कारण अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा रसादिकों का अभिधेय (वाच्यार्थ) के सामर्थ्य से आक्षिप्तत्व ही सिद्ध होता है, न कि किसी प्रकार वहाँ अभिधेयत्व (वाच्यत्व) है। इस प्रकार तीसरा भी भेद वाच्यत्व से भिन्न ही है, ऐसा निश्चित हुआ। वाच्य के साथ ही जहाँ इसकी प्रतीति होती है इसे आगे प्रदर्शित करेंगे।।

लोचनम्

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

इत्यत्र। एवं स्वशब्देन सह रसादेर्व्यतिरेकान्वयाभावमुपपत्त्या प्रदर्श्य तथैवोपसंहरति-*यतश्चेत्यादिना कथञ्चिदित्यन्तेन*। अभिधेयमेव सामर्थ्यं सहकारिशक्तिरूपं विभावादिकं रसध्वनने शब्दस्य कर्तव्ये, अधिधेयस्य च

विभावादिप्रतिपादनरहित इति काव्य इति तुम्हारे मत में तो वह काव्यत्व प्रसक्त ही है। **मनागपीति** थोड़ा भी।

शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत ये ८ रस नाट्य में कहे गये हैं। इस प्रकार यहाँ शब्द के साथ रसादिका व्यतिरेकाभाव और अन्वयाभाव उपपत्तिपूर्वक दिखा कर **यतश्चेत्यादिना कथञ्चित्** तक के ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं। जब शब्द के द्वारा रसध्वनन का व्यापार कर्तव्य होगा तब वाच्यार्थ ही सामर्थ्य सहकारी शक्ति रूप विभाव आदि होगा और जब अभिधेय का ध्वनन रूप

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥५॥

काव्यस्यात्मेति-काव्य की आत्मा वही प्रतीयमान रस अर्थ है, इसी से प्राचीनकाल में क्रौञ्च-पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदि कवि वाल्मीकि का शोक (करुणरस का स्थायी भाव) श्लोक (काव्य) के रूप में परिणत हुआ।

लोचनम्

पुत्रजन्महर्षभिन्नयोगक्षेमतया जननव्यतिरिक्ते दिवाभोजनाभावविशिष्ट-पीनत्वानुमितरात्रिभोजनविलक्षणतया चानुमानव्यतिरिक्ते ध्वनने कर्तव्ये सामर्थ्यं शक्तिः विशिष्टसमुचितो वाचकसाकल्यमिति द्वयोरपि शब्दार्थयोर्ध्वननं व्यापारः। एवं द्वौ पक्षावुपक्रम्याद्यो दूषितः, द्वितीयस्तु कथञ्चिद् दूषितः कथञ्चिदङ्गीकृतः, जननानुमानव्यापाराभिप्रायेण दूषितः, ध्वननाभिप्रायेणाङ्गीकृतः।

यस्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, स न वस्तुतत्त्ववेदी। विभावानुभावप्रतिपादके हि वाक्ये तात्पर्यशक्तिर्भेदे संसर्गे वा पर्यवस्येत्; न तु रस्यमानतासारे रसे इत्यलं बहुना। इतिशब्दो हेत्वर्थे। 'इत्यपि हेतोस्तृतीयोऽपि प्रकारो वाच्याद्भिन्न एवे'ति सम्बन्धः। *सहेवेति* । इवशब्देन विद्यमानोऽपि क्रमो न संलक्ष्यत इति तद्दर्शयति–*अग्र* इति। द्वितीयोद्द्योते॥४॥

कार्य होगा तब ऐसी स्थिति में पुत्रजन्म के हर्ष से भिन्न होने के कारण जो ध्वनन होगा वह उत्पत्ति से अतिरिक्त होगा तथा दिन में भोजनाभावविशिष्ट पीनत्व द्वारा अनुमित रात्रिभोजन से विलक्षण होने के कारण वह ध्वनन व्यापार अनुमान से भी विलक्षण ही होगा, तब तो सामर्थ्य शक्ति विशिष्ट समुच्चित अर्थात् वाचक से परिपूर्णत्व रूप सिद्ध होती है। यह ध्वनन व्यापार शब्द और अर्थ दोनों का है, इस प्रकार दो पक्षों का उपक्रम कर प्रथम पक्ष को दूषित किया और कुछ अंश में उसे अङ्गीकार भी किया। जनन (उत्पत्ति) और अनुमान के व्यापार से उसे दूषित किया और ध्वनन के व्यापार से अङ्गीकार भी किया।

जो यहाँ तात्पर्य शक्ति को ही ध्वनन मानते है वे वस्तुतत्त्व के वेत्ता नहीं है, क्योंकि विभावानुभाव के प्रतिपादक वाक्य में, भेद में अथवा संसर्ग में तात्पर्य शक्ति पर्यवसित होगी न कि रस्यमानतासार रस में। इस पर और अधिक कहना व्यर्थ हैं। **इति तृतीयोऽपि** यहाँ इति शब्द हेत्वर्थक है जिसका अर्थ होगा कि इस हेतु से भी तीसरा प्रकार भी वाच्य से भिन्न ही ठहरता है। 'इव' शब्द द्वारा यह प्रदर्शित करते हैं कि रहता हुआ भी क्रम संलक्षित नहीं होता। **अग्रे** द्वितीय उद्योत में॥

लोचनम्

एवं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम्। अधुना काव्यात्मत्वमितिहासव्याजेन च दर्शयति–*काव्यस्यात्मेति*। स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मे'ति सामान्येनोक्तम्। *शोक* इति। क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसनेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः–

इस प्रकार **'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव'** इस वाक्य से ध्वनस्वरूप की व्याख्या की जा चुकी है। अब ध्वनि का काव्यात्मत्व इतिहास के व्याज से प्रदर्शित करते हैं– **काव्यस्यात्मेति स एवेति** यह कथन यद्यपि प्रतीयमान मात्र में प्रक्रान्त है तथापि इसका अर्थ तीसरा रसध्वनि रूप अर्थ ही मन्तव्य है। इसका कारण प्रदर्शित करते हैं, एक इतिहास के बल से, दूसरा प्रक्रान्त वृत्तिग्रन्थ के अर्थ के बल से। इसलिये वस्तुतः रस ही आत्मा है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि दोनों ही सर्वथा रस के प्रति पर्यवसित होते हैं अतः वे वाच्य से उत्कृष्ट हैं। इस अभिप्राय से ध्वनि काव्य की आत्मा है यह सामान्य रूप से यहाँ कहा गया है **शोक इति।** क्रौञ्च के द्वन्द्ववियोग से अर्थात् सहचरी क्रौञ्ची के मारे जाने से, साहचर्य के ध्वंस हो जाने के कारण उत्पन्न जो शोक रूप स्थायीभाव निरपेक्षभाव होने के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार के उचित रतिरूप स्थायीभाव से अतिरिक्त ही है। वही शोक उस प्रकार के विभाव और उससे उत्पन्न आक्रन्दादि अनुभाव की चर्वणा द्वारा हृदय के संवाद तदनन्तर तन्मयीभवन के क्रम से आस्वाद्यमान अवस्था को प्राप्त होता है, फिर लौकिक शोक से अतिरिक्त चर्वयिता के अपने चित्त की द्रुति के द्वारा समास्वाद्य-सार करुणरसरूपता को प्राप्त होता है। जैसे जल से भरा घड़ा छलकता है और जैसे चित्तवृत्ति के निष्यन्द रूप वाग्विलापादि होते हैं उसी प्रकार समय (सङ्केत) की अपेक्षा न रख कर भी वे वचन चित्तवृत्ति के व्यञ्जक होते हैं। उसी न्याय से अकृत्रिम रूप से ही आवेश के कारण समुचित शब्द-

ध्वन्यालोकः

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः। चादिकवेवाल्मीकेः *निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चा-*क्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः।

विविधेति– नाना प्रकार के शब्द, अर्थ और संघटना के प्रपञ्च से मनोहर काव्य का सारभूत आत्मा ही प्रतीयमान रस अर्थ है। तभी निषाद के बाण से विद्ध की गई सहचरी के वियोग से कातर क्रौञ्च के क्रन्दन से उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकि (वाल्मीकिनिष्ठ करुण रस का स्थायीभाव) का शोक ही श्लोक रूप से परिणत हो गया **मा निषादेति।**

लोचनम्

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ इति॥

न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम्। एवं हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत्। न च दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेति। एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशाब्दवैलक्षण्यकारकः।

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे–'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्' इति। अगम इति च्छान्दसेनाडागमेन। *स एवेत्येवकारेणेदमाह*—नान्य आत्मेति। तेन यदाह भट्टनायकः—

छन्द, वृत्तादि से नियन्त्रित होकर श्लोक रूप में प्राप्त हो गया। **'मा निषादेति'** हे व्याध! काम से मोहित क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से तुमने एक को मार डाला है इसलिये अनन्त काल तक तू प्रतिष्ठा को मत प्राप्त कर। यह मुनि का शोक है ऐसा नहीं मानना चाहिये। क्योंकि ऐसा मानने पर उस क्रौञ्च के दु:ख से वे भी दु:खी हो जायेगे इसलिये रसात्मकता की बात नहीं बन सकती। क्योंकि जो प्राणी दु:ख से संतप्त है उसकी ऐसी दशा कि (शाप देने के लिये श्लोक का निर्माण करे) नहीं होगी। इस प्रकार चर्वणा के योग्य शोकरूप स्थायीभाव वाले करुणरस से प्रवाहित स्वभाव के कारण वही काव्यात्मा है जो सारभूत स्वभाव वाला तथा अपरशब्दबोध से वैलक्षण्य उत्पन्न करने वाला होता है।

हृदयदर्पण में भी यही बात कही गई है कि जब तक चित्त रस से भर नहीं जाता तब तक वह उस रस को वमन नहीं करता। वाल्मीकीय रामायण के इस पद्य में 'अगमः' इस पद में 'लोट्' लकार के अर्थ में लुट् लकार का प्रयोग है, और

लोचनम्

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्।

इति तदपास्तम्। व्यापारो हि यदि ध्वननात्मा रसनास्वभावस्तन्नापूर्वमुक्तम्। अथाभिधैव व्यापारस्तथाप्यस्याः प्राधान्यं नेत्यावेदितं प्राक्।

श्लोकं व्याचष्टे–*विविधेति*। विविधं तत्तदभिव्यञ्जनीयरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायां च प्रपञ्चेन यच्चारु शब्दार्थालङ्कारगुणयुक्तमित्यर्थः। तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव। तेनैतन्निरवकाशम्; यदुक्तं हृदयदर्पणे–'सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यात्' इति। *निहतसहचरीति* विभाव उक्तः। आक्रन्दितशब्देनानुभावः। *जनित* इति' चर्वणागोचरत्वेनेति शेषः।

ननु शोकचर्वणातो यदि श्लोक उद्भूतस्तत्प्रतीयमानं वस्तु काव्यस्यात्मेति कुत इत्याशङ्क्याह–*शोको हीति*। करुणस्य तच्चर्वणा-

वैदिक नियमानुसार अडागम हुआ है। वहीं मूलकारिका में 'एव शब्द से यह कहा गया है कि ध्वनि ही काव्य की आत्मा है दूसरा नहीं। इसलिये भट्टनायक ने जो कहा है– शब्द के प्रधानत्व का आश्रय कर शास्त्र को अलग मानते हैं और अर्थतत्त्व से युक्त को आख्यान कहते हैं। किन्तु जब दोनों (शब्द और अर्थ) गुणीभूत हो जाते हैं और व्यापार का प्राधान्य हो जाता है, तब उसमें काव्य की बुद्धि करनी चाहिये उनका यह कथन निरस्त हो जाता है, यदि ध्वननरूप व्यापार रसना स्वभाव है तब आपने कोई अपूर्व बात नहीं कहीं, यह तो पहले से चला आता है, यदि अभिधाही व्यापार है तब उसका प्राधान्य नहीं होता इसे पहले कहा जा चुका है।

श्लोक की व्याख्या करते हैं– **विविधेति** उस अभिव्यञ्जनीय रस के आनुगुण्य से विचित्र बना कर वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च से जो चारु अर्थात् शब्द और अर्थ के अलङ्कार और गुण से युक्त है ऐसे काव्य का वही ध्वन्यर्थ प्राण है इसलिये सर्वत्र ध्वनन के होते हुये भी उसमें काव्य का व्यवहार नहीं होता। यह बात हम पहले कह आये हैं कि आत्मा के सर्वत्र व्यापक होने पर भी जीव का व्यवहार कहीं-कहीं ही होता है। इसलिये 'हृदयदर्पण' में जो कहा गया कि तब तो सर्वत्र काव्य का व्यवहार होने लगेगा। इस बात के लिये कोई अवकाश नहीं रहा, 'निहतसहचरी' से विभाव कहा गया, 'आक्रन्दित' शब्द से अनुभाव कहा गया। **जनित इति** इसमें चर्वणा का गोचर होने से, इतना शेष है।

ध्वन्यालोकः

शोको हि करुणस्थायिभावः। प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात् ।

शोक इति-शोक निश्चयरूपेण करुण का स्थायीभाव है। प्रतीयमान अर्थ के अन्य भेदों के रहते हुये भी रस और भाव के द्वारा ही उनका उपलक्षण (बोधन) होता है।

लोचनम्

गोचरात्मनः स्थायिभावः। शोके हि स्थायिभावे ये विभावानुभावास्तत्समुचिता चित्तवृत्तिश्चर्व्यमाणात्मा रस इत्यौचित्या-त्स्थायिनो रसतापत्तिरित्युच्यते। प्राक्स्वसंविदितं परत्रानुमितं च चित्तवृत्तिजातं संस्कारक्रमेण हृदयसंवादमादधानं चर्वणायामुपयुज्यते यतः। ननु प्रतीयमानरूपमात्मा तत्र त्रिभेदं प्रतिपादितं न तु रसैकरूपम्, अनेन चेतिहासेन रसस्यैवात्मभूतत्वमुक्तं भवतीत्याशङ्क्याभ्युपगमेनैवोत्तरमाह– *प्रतीयमानस्य चेति*। अन्यो भेदो वस्त्वलङ्कारात्मा। *भावग्रहणेन* व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्राविश्रान्तावपि स्थायिचर्वणापर्य-वसानोचितरसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राणत्वं भवतीत्युक्तम् । यथा–

यहाँ आशङ्का करते हैं कि यदि शोक की चर्वणा से श्लोक उद्भूत हो गया तो प्रतीयमान वस्तु काव्य की आत्मा किस प्रकार हो सकती है? इस पर कहते हैं– **शोको हीति** उस शोक की चर्वणा का विषयभूत करुणा का स्थायीभाव शोक है। शोक के स्थायीभाव होने पर जो विभाव, अनुभाव है उनकी समुचित चित्तवृत्ति चर्व्यमाण रस रूप हो जाती है, इस औचित्य के बल से स्थायीभाव ही रस की अवस्था को प्राप्त करता है ऐसा कहा जाता है। पहले अपने से संविदित (अनुभूत) और दूसरे स्थान में अनुमित वह चित्तवृत्तिसमूह संस्कार के क्रम से हृदय के संवाद को प्राप्त करता हुआ चर्वणा में उपयोगी होता है। इसलिये यदि कहो कि वह प्रतीयमान रूप आत्मा तो वहाँ तीन भेदों में कहा गया है न कि एकमात्र रस रूप से प्रतीयमान, और आप यहाँ इतिहास के मुख से केवल रस को ही आत्मा कहते हैं, इस आशङ्का पर अभ्युपगम के द्वारा उसका उत्तर देते हैं– **प्रतीयमानस्य चेति** प्रतीयमान के अन्य भेद (वस्तु और अलङ्कारभेद)। भाव के ग्रहण से चर्वणा के अगोचर व्यभिचारीभाव की उतने मात्र में विश्रान्ति न होने पर भी स्थायीभाव की चर्वणा के पर्यवसान रूप उचित रस को न प्राप्त कर भी प्राणत्व प्राप्त कर लेता है, वह बात कह चुके हैं।

ध्वन्यालोकः

**सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥६॥**

सरस्वतीति– उस रसभाव स्वरूप अर्थतत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी उनकी अलौकिक प्रतिभासमान प्रतिभा (अपूर्व-वस्तु निर्माण की क्षमता रूपा प्रज्ञा) के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है॥६॥

लोचनम्

**नखं नखाग्रेण विघट्टयन्ती विवर्तयन्ती वलयं विलोलम्।
आमन्द्रमाशिञ्जितनूपुरेण पादेन मन्दं भुवमालिखन्ती॥**

इत्यत्र लज्जायाः। रसभावशब्देन च तदाभासतत्प्रशमावपि सङ्गृहीतावेव; अवान्तरवैचित्र्येऽपि तदेकरूपत्वात्। *प्राधान्यादिति*। रसपर्यवसानादित्यर्थः। तावन्मात्राविश्रान्तावपि चान्यशाब्दवैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलङ्कारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमिति भावः॥५॥

एवमितिहासमुखेन प्रतीयमानस्य काव्यात्मतां प्रदर्श्य स्वसंवित्तिसिद्धमप्येतदिति दर्शयति–*सरस्वतीति*। वाग्रूपा भगवतीत्यर्थः। वस्तुशब्देनार्थशब्दं तत्त्वशब्देन च वस्तुशब्दं व्याचष्टे–*निःष्यन्दमानेति*। दिव्यमानन्दरसं स्वयमेव प्रस्नुवानेत्यर्थः। यदाह भट्टनायकः–

जैसा कि **नखमिति** नख को नखाग्र भाग से विघट्टित (लिखती) करती हुई अपने चञ्चल वलयों को घुमाती और गम्भीर स्वर में शब्दायमान नूपुरयुक्त पादों से नायिका पृथ्वी को कुरेद रही है। यहाँ लज्जा को ही काव्य का प्राण कहा गया है। रसभाव शब्द से रसाभास और रसप्रशम भी संगृहीत हो जाते हैं, क्योंकि इनमें अवान्तर वैचित्र्य होने पर भी वे सब एक ही स्वरूप वाले हैं। **प्राधान्यादिति**– रस के पर्यवसान होने से। तात्पर्य यह कि वस्तु और अलङ्कार के स्वरूपमात्र में विश्रान्ति के न होने से और दूसरे शब्दों से वैलक्षण्यकारी होने से वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि को भी जो काव्य का प्राण कहा गया है वह उचित होने के कारण ठीक ही है।

इस प्रकार इतिहास के द्वारा प्रतीयमान काव्यात्मता को प्रदर्शित कर 'यह सहृदयजनों के संवित् से सिद्ध भी है'। इस बात को प्रदर्शित करते हैं– **सरस्वतीति** वाग्रूपा भगवती। वस्तु शब्द से अर्थ और शब्द की और तत्त्व शब्द से वस्तु शब्द की व्याख्या करते हैं। **निःष्यन्दमाना** प्रवाहित करती हुई अर्थात् दिव्यानन्द को स्वयं ही प्रस्तुत करती हुई जैसा कि भट्टनायक ने भी कहा है– **वागिति**-सहृदय जन रूप

ध्वन्यालोकः

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति।

उस प्रतीयमान रसभावादिअर्थ तत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी उनके अलौकिक प्रतिभासमान प्रतिभाविशेष को व्यक्त करती है जिसके

लोचनम्

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णाया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः ॥

तदावेशेन विनाप्याक्रान्त्या हि यो योगिभिर्दुह्यते। अत एव–

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥

इत्यनेन साराग्र्यवस्तुपात्रत्वं हिमवत उक्तम्। 'अभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तमि'ति। प्रतिपत्तॄन् प्रति सा प्रतिभा नानुमीयमाना, अपि तु तदावेशेन भासमानेत्यर्थः। यदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन–'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।' इति। 'प्रतिभा' अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा; तस्या 'विशेषो' रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम्। यदाह मुनिः– 'कवेरन्तर्गतं भावम्' इति। *येनेति*। अभिव्यक्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत् ॥६॥

वत्स में स्नेह के कारण वाणी रूप यह धेनु ऐसे रस को प्रस्तुत करती है, इसके समान वह रस भी नहीं होता जिसे योगीजन समाधि में दुहा करते हैं। यतः योगीजन रसावेश के बिना बलात्कार से उसे दोहन करते हैं। इसीलिये **यं सर्वशैला इति** दोहन कार्य में चतुर दुहने वाले मेरुपर्वत के विद्यमान रहने पर सारे पर्वतों ने जिस हिमालय को वत्स बना कर पृथु के द्वारा प्रदर्शित पृथ्वी से जाज्वल्यमान रत्नों एवं महौषधियों का दोहन किया।

इस श्लोक से सारवस्तुओं की पात्रता हिमालय में कही गई है। **परिस्फुरन्तममिव्यनक्ति** परिस्फुरित होते हुये को अभिव्यञ्जित करती है। अर्थात् प्रतिपत्ता जनों के प्रति वह प्रतिभा (अनुमान का विषय) अनुमीयमान नहीं होती किन्तु उनके आवेश से भासित होती है। जैसा कि हमारे उपाध्याय भट्टतौत ने कहा है कि नायक, कवि और श्रोता को समाम रूप से अनुभव होता है। प्रतिभा अपूर्ववस्तु के निर्माण में सक्षम बुद्धि। उस बुद्धि की विशेषता रसावेश के कारण उत्पन्न होने वाली वैशद्य प्रयुक्त सौन्दर्य रूप काव्य-निर्माण की क्षमता है। जैसा कि मुनि ने कहा है– कवि के

ध्वन्यालोक:

येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्–

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥७॥

कारण नानाविध कविपरम्पराशाली इस संसार में कालिदासादि जैसे दो तीन अथवा पाँच, छ: ही महाकवि के रूप में गिने जाते हैं।

इदं चापरिमिति– इसके अतिरिक्त एक दूसरा प्रतीयमान अर्थ के सद्भाव का साधन प्रमाण है– **शब्दार्थ इति–** वह प्रतीयमान अर्थ शब्दशास्त्र (व्याकरणादि) और अर्थशास्त्र (कोशादि) के ज्ञानमात्र से ही प्रतीत नहीं होता, वह तो केवल काव्य मर्मज्ञों को ही प्रतीत होता है। क्योंकि केवल काव्यार्थतत्त्वज्ञ

लोचनम्

इदं चेति। न केवलं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्येतत्कारिकासूचितौ स्वरूपविषयभेदावेव; यावद्भिन्नसामग्रीवेद्यत्वमपि वाच्यातिरिक्तत्वे प्रमाणमिति यावत्। *वेद्यत* इति। न तु न वेद्यते, येन न स्यादसाविति भावः। काव्यस्य तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम्। स्वराः षड्जादयः सप्त। श्रुतिर्नाम शब्दस्य वैलक्षण्यमात्रकारि यद्रूपान्तरं तत्परिमाणा स्वरतदन्तरालोभयभेदकल्पिता द्वाविँशतिविधा। आदिशब्देन जात्यंशकग्रामरागभाषाविभाषान्तरभाषादेशीमार्गा गृह्यन्ते।

भीतर रहने वाला भाव कहा जाता है– **येनेति** अभिव्यक्तों के स्फुरित होने से प्रतिभा विशेष रूप निमित्त से महाकवित्व की गणना होती है।

इदं चेति न केवल **'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव'** इस कारिका से सूचित स्वरूप और विषयगत भेद इतने ही प्रमाण हैं, किन्तु भिन्न सामग्री द्वारा वेद्यत्व भी (प्रतीयमान व्यङ्ग्य के) वाच्य से अतिरिक्त होने में प्रमाण है। **न वेद्यते इति** उनके द्वारा वह नहीं जाना जाता है। अर्थात् कोश के ज्ञानमात्र से प्रतीयमान अर्थ नहीं जानते इसलिये उन्हें उसका ज्ञान नहीं **काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानाम्।** काव्य का तत्त्वभूत जो अर्थ उसकी भावना वाच्य के अतिरेकपूर्वक निरन्तर चर्वणा से विमुख लोगों को प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान नहीं होता। **स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवेति** स्वर षडजादि सात। शब्द का वैलक्षण्यकारी जो रूपान्तर उसके परिमाण वाली श्रुति कही जाती है। वह स्वर और स्वरान्तराल इन

ध्वन्यालोकः

सोऽर्थो यस्मात्केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थ-भावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाऽप्रगीतानां गान्धर्वलक्षण-विदामगोचर एवासवर्थः।

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति–

ही उस अर्थ को जान सकते हैं, यदि वह अर्थ केवल वाच्यरूप ही होता, तो शब्द और अर्थ के ज्ञानमात्र से ही उसकी प्रतीति होती। परन्तु केवल पुस्तक से गान्धर्व विद्या सीख लेने वाले संगीत कला के अभ्यास से शून्य नैसिखुये गायकों के लिये स्वरश्रुति आदि रहस्य के समान काव्यार्थ-भावना से रहित केवल वाच्य-वाचक अर्थनिरूपक कोशादि, शब्दनिरूपक व्याकरणादि शब्दशास्त्र में कृतश्रम पुरुषों के लिये वह प्रतीयमान अर्थ अज्ञात ही रहता है।।

एवमिति इस प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्य की सत्ता को सिद्ध कर अब प्राधान्य भी उसी का है यह प्रदर्शित करते हैं– सोऽर्थ इति। वह अर्थ और उसकी

लोचनम्

प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीताः, गातुं वा प्रारब्धा इत्यादिकर्मणि क्तः। प्रारम्भेण चात्र फलपर्यन्तता लक्ष्यते।।७।।

एवमिति। **स्वरूपभेदेन भिन्नसामग्रीज्ञेयत्वेन चेत्यर्थः। प्रत्यभिज्ञेयावित्यर्हार्थे कृत्यः, सर्वो हि तथा यतते इतीयता प्राधान्ये लोकसिद्धत्वं प्रमाणमुक्तम्। नियोगार्थेन च कृत्येन शिक्षाक्रम उक्तः। परत्यभिज्ञेयशब्देनेदमाह–**

दो भेदों से २२ प्रकार की होती है। आदि शब्द से जात्यँश, ग्राम, राग, भाषा, विभाषा, अन्तर्भाषा और देशी मार्ग का ग्रहण कहा गया है। **अप्रगीतानामिति** प्रकृष्ट गीत (गान) है जिनका वे प्रगीत हैं अथवा गाने का प्रारम्भ से वर्त्तमान में क्त प्रत्यय का विधान है। यहाँ प्रारम्भ से फलपर्यन्तता लक्षित होती है।

एवमिति स्वरूप-भेद एवं भिन्न सामग्री द्वारा ज्ञेय होने के कारण। प्रत्यभिज्ञेय यहाँ 'अर्ह' इस अर्थ में कृत्य प्रत्यय 'अचो यत्' इस सूत्र से यत् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है— कहा गया है यद्यपि सभी लोक इस अंश में प्रयत्न करते हैं तथापि

ध्वन्यालोकः

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥८॥

व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम्। तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ।

अभिव्यक्ति में समर्थ शब्द इन दोनों की पहचान करने का प्रयत्न महाकवियों को अथवा महाकवि बनने वालों को करना चाहिये॥८॥

वह व्यङ्ग अर्थ और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त कोई विशेष शब्द ही है, समस्त शब्द नहीं। महाकवि बनने की अभिलाषा वालों को उसी

लोचनम्

'काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः।'

इति नयेन यद्यपि स्वयमस्यैतत्परिस्फुरति, तथापीदमित्थमिति विशेषतो निरूप्यमाणं सहस्रशाखीभवति। यतोक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदुत्पलपादैः–

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥ इति ॥

तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं, न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम्। *महाकवेरिति*। यो महाकविरहं भूयासमित्याशास्ते।

वह सहृदयों के द्वारा प्रत्यभिज्ञेय हैं इतना कहने से व्यङ्ग्य की प्रधानता के सम्बन्ध में लोक सिद्धत्व का प्रमाण प्रदर्शित किया। यहाँ नियोग अर्थ में होने वाले कृत्य प्रत्यय से शिक्षा का क्रम सूचित किया गया है, प्रत्यभिज्ञेय शब्द से यह कहते हैं— **काव्यमिति**— काव्य तो कदाचित् किसी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति से उत्पन्न होता है। इस न्याय से यद्यपि वह स्वयं उस कवि में ही स्फुरित होता है तथापि वह ऐसा है' वह इस प्रकार विशेष रूप से निरूपण किये जाने पर हजारों शाखाओं वाला हो जाता है। जैसा कि हमारे परमगुरु श्रीमदुत्पलपाद ने कहा है– **तैरिति** जिस प्रकार अनेक प्रकार की कामनाओं एवं प्रार्थनाओं से प्राप्त और रमणी के पास स्थित होने पर भी उसकी कान्ता जब तक उसे अपने पति के रूप में नहीं जानती तब तक उसे अन्य पुरुष के समान होने से वह उसके सहवास का सुख नहीं कर पाती। इसी प्रकार उस

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण।

इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह–

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥९॥

शब्द और अर्थ को भली-भाँति जानना चाहिये, क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्दों के सुन्दर प्रयोग से ही महाकवियों को महाकवि पद की प्राप्ति होती है, केवल वाच्य-वाचक रचनामात्र से नहीं।

इदानीमिति— अब व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के प्राधान्य होने पर भी कविगण जो पहले वाच्य और वाचक को ग्रहण करते हैं, वह भी ठीक ही है। उसे कहते हैं– **आलोकार्थीति।**

जैसे पदार्थ दर्शन के लिये आलोक की इच्छा रखने वाला पुरुष उसके उपायभूत दीपशिखा में प्रयत्नशील होता है उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ में आदरवान्

लोचनम्

एवं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति ध्वन्यते, ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्नमित्युक्तम् ॥८॥

ननु प्रथमोपादीयमानत्वाद्वाच्यवाचकतद्भावस्यैव प्राधान्यमित्याशङ्क्योपायानामेव प्रथममुपादानं भवतीत्यभिप्रायेण विरुद्धोऽयं प्राधान्ये साध्ये

विश्वेश्वर परमात्मा के समस्त संसार के आत्मभूत होने पर भी जब तक हम उसको नहीं पहचानते, तब तक उसके आनन्द का अनुभव नहीं कर पाते (उसके सर्वज्ञत्व-सर्वप्रकाशकत्व-स्वातन्त्र्य-अपूर्वशक्तित्वरूप वैभव को नहीं जान सकते)। इसी प्रकार प्रकृत में व्यञ्जनक्षम शब्दार्थ की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) से महाकवित्व प्राप्त होता है।। इसलिये पूर्णप्रतिज्ञात का विशेष रूप से अनुसन्धानात्मक निरूपण प्रत्यभिज्ञान है 'वह यही है' केवल इतना ही नहीं– **महाकवेरिति** जो इस प्रकार की आशा करता है कि मैं महाकवि हो जाऊँ। इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जन शब्द का प्राधान्य प्रदर्शित करते हुये व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव (व्यञ्जनाव्यापार) का भी प्राधान्य सूचित किया गया। ऐसा कहने से **ध्वनति** (ध्वनन) करता है। **ध्वन्यते** (ध्वनति होता है) और **ध्वननम्** (ध्वनन व्यापार) ये तीनों अर्थ उपपन्न हो जाते हैं।

ध्वन्यालोकः

यथा ह्यालोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवाञ्जनो भवति तदुपायतया। न हि दीपशिखामन्तरेणालोकः सम्भवति। तद्व-द्व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति। अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः॥९॥

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह–

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥१०॥

कवि वाच्यार्थ का उपादान करता है। जिस प्रकार आलोकार्थी होने पर भी मनुष्य दीपशिखा के उपायरूप होने से प्रथम दीपशिखा के लिये यत्नवान् होता है, क्योंकि दीपशिखा के बिना आलोक असंभव है, इसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति आदरवान् पुरुष भी वाच्यार्थ में यत्नवान् होता है। इतने से प्रतिपादक (वक्ता) का व्यङ्ग्य के प्रति व्यापार प्रदर्शित किया गया।

अब प्रतिपाद्य (वाच्यार्थ) का भी उस व्यङ्ग्यार्थ बोधन के प्रति व्यापार को प्रदर्शित करने के लिये कहते हैं। **यथेति** जैसे पदार्थ द्वारा पदार्थों की उपस्थिति होने के बाद पदार्थ संसर्ग से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार उस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के ज्ञानपूर्वक होती है॥१०॥

लोचनम्

हेतुरिति दर्शयति-*इदानीमित्यादिना*। आलोकनमालोकः; वनितावदनार-विन्दादिविलोकनमित्यर्थः। तत्र चोपायो दीपशिखा ॥९॥

प्रतिपदिति भावे क्विप्। 'तस्य वस्तुन' इति व्यङ्ग्यरूपस्य सारस्येत्यर्थः। अनेन श्लोकेनात्यन्तसहृदयो यो न भवति तस्यैष स्फुटसंवेद्य एव क्रमः। यथात्यन्तशब्दवृत्तज्ञो यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रमः।

प्रथम उपादीयमान होने के कारण वाच्य, वाचक और उसके व्यापार का ही प्राधान्य होता है, इस आशङ्का पर कहते हैं– पहले उपायों का ही प्राधान्य होता है, इस अभिप्राय से प्राधान्य रूप साध्य में यह हेतु (प्रथमोपादीयमानत्व रूप) विरुद्ध है, यह दिखाते है– **इदानीमित्यादि** से। **आलोकनमालोकः** अर्थात् देखना। वनिता के मुखारविन्द आदि का विलोकन, उसके लिये उपाय दीपशिखा है।

यहाँ भाव में क्विप् प्रत्यय है। **तस्य वस्तुनः** अर्थात् व्यङ्ग्यरूप सार पदार्थ की। इस श्लोक से यह प्रदर्शित किया कि जो व्यक्ति अत्यन्त सहृदय नहीं है उसे

ध्वन्यालोकः

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थ-प्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः॥१०॥

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेर्व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न व्यालुप्यते तथा दर्शयति—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन्।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते॥११॥

जैसे पदार्थज्ञानद्वारा वाक्यार्थबोध होता है उसी प्रकार वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है॥

अब व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति, वाच्यार्थ के बाद होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता जिस प्रकार से लुप्त न हो, उस प्रकार को प्रदर्शित करते हैं— **स्वसामर्थ्येति**—

जैसे पदार्थ अपनी सामर्थ्य (आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि) से पदार्थ-संसर्गरूप वाक्यार्थ को प्रदर्शित करते हुये भी अपने वाक्यार्थबोधनरूप व्यापार के पूर्ण हो जाने पर भी उससे अलग हो कर नहीं प्रतीत होते॥११॥

लोचनम्

काष्ठाप्राप्तसहृदयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सन्नपि क्रमोऽभ्य-स्तानुमानाविनाभावस्मृत्यादिवदसंवेद्य इति दर्शितम्॥१०॥

***न व्यालुप्यत* इति। प्राधान्यादेव तत्पर्यन्तानुसरणरणरणकत्वरिता मध्ये विश्रान्तिं न कुर्वत इति क्रमस्य सतोऽप्यलक्षणं प्राधान्ये हेतुः। स्वसामर्थ्य-माकाङ्क्षायोग्यतासन्निधयः। *विभाव्यत* इति। विशब्देन विभक्ततोक्ता;**

यह क्रम स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, किन्तु जो अत्यन्त सहृदय और वाक्यवृत्तकुशल है उसे यह क्रम स्पष्ट रूप से संवेद्य नहीं होता। उसी प्रकार जो व्यक्ति अत्यन्त शब्दवृत्त (वाक्य) को जानने वाला नहीं है उसे भी पदार्थ और वाक्यार्थ का क्रम स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, किन्तु जो सहृदयता की पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है उस वाक्यवृत्तकुशल व्यक्ति को यह क्रम उसी प्रकार असंवेद्य है जिस प्रकार अनुमान, व्याप्ति-स्मृति आदि अनुमिति का क्रम किसी अभ्यस्त व्यक्ति के लिये असंवेद्य है॥१०॥

व्यालुप्त नहीं होता। प्राधान्य के कारण ही उस व्यङ्ग्य अर्थ तक अनुसरण के रणरणक (आत्सुक्य) से त्वरित हुये सहृदय लोग बीच में विश्राम नहीं करते हैं, इस प्रकार वहाँ क्रम के होते हुये भी वह क्रम लक्षित नहीं होता। यही व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता

ध्वन्यालोकः

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ न भाव्यते विभक्ततया ॥११॥

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥१२॥

जैसे अपनी योग्यता आदि सामर्थ्य से वाक्यार्थ को प्रकाशित कर व्यापार के पूर्ण हो जाने पर पदार्थ विभक्त रूप में अलग-अलग प्रतीत नहीं होते॥

तद्वदिति– उसी प्रकार वह अर्थ वाच्यार्थ से विमुख आत्मा वाले सहृदय जनों की तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में झट से अवभासित होता है। **वाच्यार्थविमुखात्मनाम् इति।**

लोचनम्

विभक्ततया न भाव्यत इत्यर्थः। अनेन विद्यमान एव क्रमो न संवेद्यत इत्युक्तम्। तेन यत्स्फोटाभिप्रायेणासन्नेव क्रम इति व्याचक्षते तत्प्रत्युत विरुद्धमेव। वाच्येऽर्थे विमुखो विश्रान्तिनिबन्धनं परितोषमलभमान आत्मा हृदयं येषामित्यनेन सचेतसामित्यस्यैवार्थोऽभिव्यक्तः। सहृदयानामेव तर्ह्ययं महिमास्तु, न तु काव्यस्यासौ कश्चिदतिशय इत्याशङ्क्याह– अवभासत इति। तेनात्र विभक्ततया न भासते, न तु वाच्यस्य सर्वथैवानवभासः। अत एव तृतीयोद्योते घटप्रदीपदृष्टान्तबलाद्व्यङ्ग्यप्रतीतिकालेऽपि वाच्यप्रतीतिर्न विघटत इति यद्वक्ष्यति तेन सहास्य ग्रन्थस्य न विरोधः॥११-१२॥

में हेतु हैं। **स्वसामर्थ्य वशेनैव** – आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि यही सामर्थ्य है। **विभाव्यत** इति वि शब्द से त्रिभक्तता कही गई अर्थात् विभक्त (अलग) रूप से भासित (प्रतीत) नहीं होता। इससे जो स्फोट के अभिप्राय सें नहीं रहता हुआ भी क्रम भासित होता है यह व्याख्यान विरुद्ध है॥११॥

वाच्यार्थ से विमुख अर्थात् विश्रान्तिमूलक परितोष को न प्राप्त करने वाली आत्मा (हृदय) है जिनका। इससे सहृदयों का ही अर्थ अभिव्यक्त हुआ है। तब तो इसे सहृदयों की महिमा ही कहनी चाहिये, न कि वह काव्य का कोई अपना अतिशय है इस आशङ्का पर कहते हैं– **अवमासते।** इसलिये यहाँ विभक्त रूप से भासित नहीं होता और न तो वाच्य का सर्वथा अवभासाभाव ही रहता है। इसलिये तीसरे उद्योत में घट और दीपक के दृष्टान्त के बल से जो कहेगे कि व्यङ्ग्य की प्रतीति के काल में व्याच्यार्थ-प्रतीति विघटित नहीं होती, उस ग्रन्थ से इसका विरोध नहीं होगा॥१२॥

ध्वन्यालोकः

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तःकाव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरभिः कथितः ॥१३॥

इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ के सद्भाव का प्रतिपादन कर प्रकृत में उसका उपयोग करते हुये कहते हैं– **यथार्थ इति**– जहाँ अर्थ अपने आप को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत कर उसी प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वही काव्यविशेष विद्वानों द्वारा ध्वनि कहा जाता है।।१३।।

लोचनम्

_सद्भावमिति_। सत्तां साधुभावं प्राधान्यं चेत्यर्थः। द्वयं हि प्रतिपापादयिषितम्। प्रकृत इति लक्षणे। _उपयोजयन्_ उपयोगं गमयन्। तमर्थमिति चायमुपयोगः। स्वशब्द आत्मवाची। स्वश्चार्थश्च तौ स्वार्थौ; तौ गुणीकृतौ याभ्याम्, यथासंख्येन तेनार्थो गुणीकृतात्मा, शब्दो गुणीकृताभिधेयः _तमर्थमिति_। 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' इति यदुक्तम्। _व्यङ्क्तः द्योतयतः।_ व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह–यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात्। विक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः। तेन यद्भट्टनायकेन द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव। अर्थः शब्दो वेति तु विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण।

'सद्भाव'– सत्ता अर्थात् साधुभाव और प्राधान्य। क्योंकि दोनों ही प्रतिपादन की इच्छा के विषय है। **प्रकृते** इति अर्थात् लक्षण में। **उपयोजयन्** उपयोग बताते हुये– **समर्थमिति** उस प्रतीयमान अर्थ का यह उपयोग है ऐसा सूचित करते हुये **उपसर्जनीकृतस्वार्थौ** स्व शब्द आत्मवाची है। स्वश्च अर्थश्च स्वार्थौ द्वन्द्व समास है। तो स्वार्थौ गुणीकृतौ याभ्यां बहुब्रीहि है अर्थात् वे स्व और अर्थ गुणीभूत हो गये हैं जिन दो के द्वारा। इससे यथासंख्य द्वारा अर्थ निकला– जहाँ अर्थ अपने आप को गुणीभूत करता है और शब्द अपने अभिधेय को गुणीभूत करता है। **तमर्थमिति** जिसे '**सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु**' इस वाक्य से कहा गया है। **व्यङ्क्तः** प्रकाशित करते हैं, यहाँ इस द्विवचन से यह कहते हैं कि व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ दोनों ही कारण

ध्वन्यालोकः

यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम्। यदप्युक्तम्–

जहाँ अर्थ अर्थात् वाच्यविशेष अथवा शब्द अर्थात् वाचकविशेष उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं।

इससे वाच्यवाचक के चारुत्व हेतु उपमादि और अनुप्रासादि से अलग ही ध्वनि का विषय है, यह प्रदर्शित किया और जो कहा गया कि प्रसिद्ध प्रस्थानों का अतिक्रमण करने वाला काव्यत्व से रहित होता है अतः वह ध्वनि नहीं है,

लोचनम्

काव्यं च तद्विशेषश्चासौ काव्यस्य वा विशेषः। काव्यग्रहणाद् गुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षण 'आत्मे'त्युक्तम्। तेनैतन्निरवकाशं श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहारः स्यादिति। यच्चोक्तम्– 'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात्' इति तदङ्गीकुर्म एव। नाम्नि खल्वयं विवाद इति। यच्चोक्तम्–'चारुणः प्रतीतिर्यदि काव्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणादपि सा भवन्ती तथा स्यात्' इति। तत्र शब्दार्थमयकाव्यात्माभिधानप्रस्तावे क एष प्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत्। स इति। अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति।

होते हैं, जिसमें एक प्रधान और दूसरा उसका सहकारी। जैसे अविवक्षितवाच्यध्वनि में शब्द ही व्यञ्जक होता है तथापि उसमें अर्थ की सहकारिता नहीं टूटती। अन्यथा जिस शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं है वह भी उसका अभिव्यञ्जक हो जाता है और विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में शब्द भी सहकारी होता है, क्योंकि जब विशिष्ट शब्द द्वारा उसका अभिधान नहीं किया जायेगा, ऐसी स्थिति में वह शब्द उस अर्थ का व्यञ्जक नहीं होगा। इस प्रकार सर्वत्र ध्वनन शब्द और अर्थ दोनों का ही व्यापार है। इसलिये जो भट्टनायक ने द्विवचन में दोष बताया था वह जानबूझ कर ऐसा कहा है। गजनिमीलिकान्याय-हाथी आँख बन्द किये रहता है फिर भी सब कुछ जानता-सुनता रहा है। यह स्वरूप है गजनिमीलिका के कारण ही। **अर्थःशब्दो वा** इस प्रकार जो विकल्प कहा है वह प्राधान्य के अभिप्राय से। **काव्यविशेष** इति काव्यश्चासौ विशेषश्च यह कर्मधारय समास है। अथवा काव्यस्य विशेषः यह षष्ठी समास है। काव्य के ग्रहण

ध्वन्यालोकः

'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यहानेर्ध्वनिर्नास्ति' इति, तदप्ययुक्तम्। यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम्। ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः।

यह ठीक नहीं है, क्योंकि वह उन लक्षणकारों को भी ज्ञात नहीं है। परन्तु लक्ष्य की परीक्षा करने पर वही सहृदयजनों को आह्लादित करनेवाला काव्यतत्त्व है। उससे दूसरा 'चित्र' कहा जाता है, इस बात को आगे प्रदर्शित करेंगे।

लोचनम्

कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्। *विभक्त* इति। गुणालङ्काराणां वाच्यवाचकभावप्राणत्वात्। अस्य च तदन्यव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसारत्वान्नास्य तेष्वन्तर्भाव इति। अनन्यत्र भावो विषयशब्दार्थः। एवं तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति *निराकृतम्*। लक्षणकृतामेवेति। लक्षणकाराप्रसिद्धता विरुद्धो हेतुः, तत एव हि यत्नेन लक्षणीयता। लक्ष्ये त्वप्रसिद्धत्वमसिद्धो हेतुः। यच्च नृत्तगीतादिकल्पं,

से यह सूचित किया कि जो ध्वनि लक्षण वाला आत्मा है वह गुण और अलङ्कार से उपस्कृत शब्द और अर्थ का पृष्ठपाती है। इसलिये यहाँ इस बात का कोई अवकाश नहीं रहा कि तब तो **पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते** इस श्रुतार्थापत्ति में भी काव्य-व्यवहार होने लगेगा। और जो कहा है कि तब तो चारुत्व की प्रतीति भी काव्य की आत्मा होगी, इसे तो हम भी स्वीकार करते ही हैं। यह विवाद तो निश्चित रूप से नाम में है। और जो कहा जाता है कि चारुत्व की प्रतीति काव्य की आत्मा है तब तो प्रत्यक्षादि प्रमाण से भी चारुत्व की होती हुई प्रतीति उसी प्रकार काव्य की आत्मा होने लगेगी। जब कि यह शब्दार्थमय काव्य की आत्मा का प्रसङ्ग है, तब ऐसा प्रसङ्ग क्यों? अतः यह बात अकिञ्चित्कर है। **स काव्यविशेष** इति अर्थ अथवा शब्द अथवा व्यापार। **ध्वनति** इस व्युत्पत्ति के अनुसार वाच्य अर्थ ध्वनि है। इसी प्रकार शब्द भी। **ध्वन्यते** इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यङ्ग्य ध्वनि है **'ध्वननम्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द और अर्थ का व्यापार ध्वनि है। कारिका के द्वारा तो प्रधानतया समुदाय ही काव्यरूप मुख्य रूप से ध्वनि है ऐसा प्रतिपादन किया गया है।

विभक्त इति– क्योंकि गुण और अलङ्कार का प्राणभूत वाच्यवाचकभाव है और इस ध्वनि का सारभूत तत्त्व उसके अतिरिक्त व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव है इसलिये इसका उसमें अन्तर्भाव संभव नहीं है। **ध्वनेर्विषय** इति विषय **विशेषेण सिनोति बध्नातीति**

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तम्– 'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादि-प्रकारेष्वन्तर्भावः' इति तदप्यसमीचीनम्; वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः, वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

और जो कहा कि कमनीयता का अतिक्रमण न करने के कारण उस ध्वनि का अलङ्कारादि प्रकारों में अन्तर्भाव है वह भी समीचीन नहीं। क्योंकि अलङ्कारादि रूप प्रस्थान एकमात्र वाच्यवाचक पर आश्रित है। उस प्रस्थान में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव का आश्रय कर व्यवस्थित रूप से रहने वाले ध्वनि का कैसे अन्तर्भाव संभव हो सकता है? आगे चल कर हम इस बात का प्रतिपादन करेंगे कि वाच्य और वाचक के चारुत्वभूत अलङ्कारादि उस ध्वनि के अङ्गभूत है और ध्वनि अङ्गी है।

लोचनम्

तत्काव्यस्य न किञ्चित्। *चित्रमिति*। विस्मयकृद्वृत्त्यादिवशात्, न तु सहृदयाभिलषणीयचमत्कारसाररसनिःष्यन्दमयमित्यर्थः। काव्यानुकारि-त्वाद्वा चित्रम्, आलेखमात्रत्वाद्वा, कलामात्रत्वाद्वा। *अग्र* इति।

प्रधादनगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थितम्।
द्विधा काव्यं ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते॥

विषयः इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अपनी सीमा को बाँध कर रखता है, अन्यत्र उसके सद्भाव का अभाव हो। इस प्रकार उन गुण और अलङ्कार से भिन्न वह ध्वनिकाव्य है। उस प्रश्न का निराकरण किया गया। **लक्षणकृतामेव** लक्षणकारों में अप्रसिद्धता-रूप हेतु है इसी कारण यत्नपूर्वक आचार्य ने ध्वनि के लक्षण की आवश्यकता अवगत की। हमारे द्वारा किये गये लक्ष्य में अप्रसिद्धत्वरूप हेतु प्रसिद्ध है और जो कि नृत्य, गीत आदि के समान है वे काव्य के कुछ भी नहीं हैं। **चित्तमिति** अर्थात् वह तो नृत्य, गीत के कारण विस्मय उत्पन्न करता है न कि सहृदयजनों द्वारा अभिलषणीय चमत्कारसार रस का निष्पयन्दमय स्वरूप अथवा वह चित्त इसलिये है कि केवल काव्य का अनुकरण मात्र करता है, अथवा आलेखमात्र (कलामात्र) है इस कारण से इसी को कहा गया कि **अग्रे इति। प्रधानेति** इस प्रकार व्यङ्ग्य प्रधानभाव और गुणभाव होने के कारण काव्य के दो व्यापार व्यवस्थित होते हैं। उनसे जो अतिरिक्त है वह चित्र कहा जाता है।

ध्वन्यालोकः

परिकरश्लोकश्चात्र–

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः ॥

ननु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः। यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा–समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्त-विशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम्–'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति।

इस सम्बन्ध में एक परिकर श्लोक इस प्रकार है— **व्यङ्ग्येति** ध्वनि के व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव रूप सम्बन्धमूलक होने से वाच्यवाचक चारुत्व हेतुओं वाले अलङ्कारादि में उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? यदि कहो कि जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विशदतापूर्वक प्रतीति नहीं होती वहाँ ध्वनि का विषय मत हो, पर जहाँ उसकी प्रतीति होती है, जैसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति अपह्नुति, दीपक, संकर आदि में वहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव होगा। इसी शङ्का के निवारण के लिये कहा गया है– **उपसर्जनीकृतस्वार्थौ इति**। अर्थ अपने आप को गुणीभूत कर जहाँ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है वह ध्वनि है। अथवा

लोचनम्

इति तृतीयोद्योते वक्ष्यति। परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः *परिकरश्लोकः*। यत्रेत्यलङ्कारे। *वैशद्येनेति*। चारुतया स्फुटतया चेत्यर्थः। *अभिहितमिति*। भूतप्रयोग आदौ व्यङ्क्त इत्यस्य व्याख्यातत्वात्। *गुणीकृतात्मेति*। आत्मेत्यनेन स्वशब्दस्यार्थो व्याख्यातः। *न चैतदिति*। व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यम्। प्राधान्यं च यद्यपि ज्ञप्तौ न चकास्ति; 'बुद्धौ

इस बात को आगे तृतीय उद्योत में कहेंगे। **परिकरेति** परिकरार्थ अर्थात् कारिका के अर्थ का अधिक आवाप (जो अर्थ कारिका से व्यक्त नहीं होता उस अधिक अर्थ का प्रक्षेप) करने के लिये जो श्लोक होता है वह परिकरश्लोक है। **यत्र** यह अलङ्कार अर्थ में प्रयुक्त है। **वैशद्येनेति** विशदतापूर्वक चारुतापूर्वक, स्फुटतापूर्वक **अभिहितम्** अभिहित यह भूतकाल का प्रयोग है, क्योंकि पहले 'व्यङ्क्तः' इस वर्तमान का प्रयोग कर आये हैं। इसका व्याख्यान किया गया है। **गुणीकृतात्मेति** आत्मा शब्द से स्व शब्द का अर्थ व्याख्यान किया गया है। यह नहीं है। यहाँ व्यङ्ग्य का प्राधान्य नहीं है। यद्यपि व्यङ्ग्य का प्राधान्य ज्ञप्ति (ज्ञान) में नहीं भासित होता है, क्योंकि **'बुद्धौ**

ध्वन्यालोकः

अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। तेषु कथं तस्यान्तर्भावः व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत्समासोक्त्यादिष्वस्ति।

समासौक्तौ तावत्–

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥

जहाँ अभिधेय शब्द अपने को गुणीभूत कर दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है वह ध्वनि है। उसका उसमें अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य में ध्वनि होती है जो समासोक्ति आदि में नहीं है।

समासोक्तौ तावदिति– सन्ध्याकालीन अरुणाई को धारण किये हुये नायक पक्ष में प्रेमोन्मत्त शशी पक्षान्तर में नायक ने निशा रात्रि पक्षान्तर में नायिका के चञ्चल तारों से युक्त रात्रिपक्ष में तारों पक्षान्तर में चञ्चल कनीनिका वाले मुख-रात्रि पक्ष में प्रदोषकाल अन्यत्र मुख को चुम्बन करने के लिये इस प्रकार ग्रहण किया कि राग संध्याकालीन अरुण प्रकाश पक्षान्तर में अनुरागातिशय के कारण पुरोपि

लोचनम्

तत्त्वावभासिन्याम्' इति नयेनाखण्डचर्वणाविश्रान्तेः, तथापि विवेचकैर्जीवितान्वेषणे क्रियमाणे यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव तस्यालङ्कारता। ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति। यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न रसोन्मुखीभवति स्वातन्त्र्येण, अपि तु वाच्यमेवार्थं संस्कर्तुं धावतीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता। *समासोक्ताविति*।

तत्त्वावभासिन्याम्' इस न्याय के अनुसार अखण्ड चर्वणा में विश्रान्ति होती है, तथापि विवेचक लोगों के द्वारा जीवित (आत्मा) के अन्वेषण किये जाने पर वह व्यङ्ग्य अर्थ भी वाच्य ही का अनुप्राणन करता है तब उस वाच्य का उपकरण होने के कारण उसका अलङ्कारत्व माना जाता है। ऐसी स्थिति में उस व्यङ्ग्य अर्थ से उपस्कृत उस वाच्य से ही चमत्कार का लाभ होता है। यद्यपि पर्यवसान में रसध्वनि है तथापि बीच कक्ष्या में होने वाला व्यङ्ग्यार्थ रस की ओर उन्मुख नहीं होता, बल्कि स्वतन्त्रतापूर्वक वाच्यार्थ को ही संस्कृत करने के लिये दौड़ता है, यही गुणीभूतव्यङ्ग्यता कही जाती है।

समासोक्तौ तावदिति– जहाँ उक्ति में अन्य अर्थ समान विशेषणों से प्रतीत होता है उसे विद्वान् लोग संक्षिप्तार्थ होने के कारण समासोक्ति कहते हैं।

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ व्यङ्ग्येनागतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपित-नायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ।

पूर्वदिशा में अन्यत्र उसके समक्ष उसके सारे तिमिर रूप वस्त्र नायिकापक्ष में समस्त नीलांशुक परिधान के खसक जाने पर उसे लक्षित नहीं हुआ।।

इत्यादि, उदाहरण में व्यङ्ग्य से अनुगत वाच्य ही प्राधान्यत: प्रतीत होता है। **समारोपितेति** क्योंकि जिस पर नायक-नायिका के व्यवहारों का आरोप किया गया है ऐसे निशा और शशी ही वाच्यार्थ हैं।

लोचनम्

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैर्विशेषणैः ।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः ।।

इत्यत्र समासोक्तेर्लक्षणस्वरूपं हेतुर्नाम तन्निर्वचनमिति पादचतुष्टयेन क्रमादुक्तम्। *उपोढो रागः* सान्ध्योऽरुणिमा प्रेम च येन। *विलोलास्तारका* ज्योतींषि नेत्रत्रिभागाश्च यत्र। *तथेति*। झटित्येव प्रेमरभसेन च। *गृहीतमाभासितं* परिचुम्बितुमाक्रान्तं च। *निशाया मुखं* प्रारम्भो वदनकोकनदं चेति। *यथेति*। झटिति ग्रहणेन प्रेमरभसेन च। *तिमिरं चांशुकाश्च* सूक्ष्मांशवस्तिमिरांशुकं रश्मिशबलीकृतं तमःपटलं, तिमिरांशुकं नीलजालिका नवोढाप्रौढवधूचिता। रागाद्रक्तत्वात् सन्ध्याकृतादनन्तरं प्रेमरूपाच्च हेतोः। *पुरोऽपि* पूर्वस्यां दिशि अग्रे च। *गलितं* प्रशान्तं पतितं च। रात्र्या करणभूतया समस्तं मिश्रितम्; उपलक्षणत्वेन वा। न *लक्षितं*

यहाँ श्लोक में चार चरणों में समासोक्ति के **लक्षण** का स्वरूप, हेतु, नाम और निर्वचन बताया गया है। **प्रवृद्धरागेण** लाली से पक्षान्तर में प्रेम से। **विलोल- तारकम्** तारे पक्षान्तर में नेत्रविभाग हैं जिसमें। **तथा** शीघ्रता से **झटिति** अन्यत्र वेग से। **गृहीतम्** ग्रहण किया आभासित अन्यत्र परिचुम्बन के लिये आक्रान्त। **निशामुखम्** निशा का प्रारम्भ प्रदोषकाल अन्यत्र मुखकमल। **यथा** झट पकड़ लेने के कारण। अन्यत्र प्रेम के आवेग से। **तिमिरांशुकम्** तिमिर और अंशुक चन्द्रकिरणों से सम्मिलित अन्धकार-पटल, अन्यत्र नवोढा प्रौढवधू द्वारा पहनी हुई नीली साड़ी। **रागाद्** सन्ध्या कालीन राग के कारण अन्यत्र प्रेम रूप राग के कारण **पुरोऽपि** पूर्व दिशा में, अन्यत्र सामने **गलितम्** प्रशान्त अन्यत्र पतित। स्खलित सरककर गिरा हुआ। **समस्तम्** रात्रि द्वारा समस्त अर्थात् यह रात्रि का प्रारम्भ है इसे मिश्रित अथवा उपलक्षण के रूप में रात्रि से। **न लक्षितम्** नहीं लक्षित किया, क्योंकि अन्धकार से मिश्रित किरणों को देखने

ध्वन्यालोकः

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि– तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन्मुख्यं काव्यशरीरम्।

आक्षेपेऽपीति– इसी प्रकार आक्षेप अलङ्कार में भी व्यङ्ग्य-विशेष का आक्षेप करने वाले वाच्यार्थ की ही चारुता होती है। वहाँ प्रधानतया आक्षेपोक्ति के सामर्थ्य से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, जैसा कि किसी विशेष बात के कहने की इच्छा से शब्द द्वारा वाच्य जो प्रतिषेध रूप आक्षेप है, वही व्यङ्ग्य-विशेष को व्यञ्जित करता हुआ मुख्य काव्य का शरीर है।

लोचनम्

रात्रिप्रारम्भोऽसाविति न ज्ञातं, तिमिरसंवलितांशुदर्शने हि रात्रिमुखमिति लोकेन लक्ष्यते न तु स्फुट आलोके। नायिकापक्षे तु तयेति कर्तृपदम्। रात्रिपक्षे तु अपिशब्दो लक्षितमित्यस्यानन्तरः। अत्र च नायकेन पश्चाद्गतेन चुम्बनोपक्रमे पुरो नीलांशुकस्य गलनं पतनम्। यदि वा 'पुरोऽग्रे नायकेन तथा गृहीतं मुखमि'ति सम्बन्धः। तेनात्र व्यङ्ग्ये प्रतीतेऽपि न प्राधान्यम्। तथाहि नायकव्यवहारो निशाशशिनावेव शृङ्गारविभावरूपौ संस्कुर्वाणोऽलङ्कारतां भजते, ततस्तु वाच्याद्विभावीभूताद्रसनिःष्यन्दः। यस्तु व्याचष्टे–'तया निशयेति कर्तृपदं, न चाचेतनायाः कर्तृत्वमुपपन्नमिति

पर ही लोक रात्रिमुख लक्षित करते हैं समझते हैं, स्फुट आलोक में नहीं। नायिका पक्ष में **तया** यह कर्त्ता पद है। रात्रिपक्ष में **अपि** शब्द लक्षितम् के बाद हैं। **लक्षितमपि** (अर्थात् लक्षित भी नहीं कर सकी) यहाँ पीछे की ओर से पहुँचे हुये नायक के द्वारा चुम्बन का उपक्रम किये जाने पर सामने नीलांशुक का पतन प्राप्त है। आगे नायक ने उस प्रकार मुख पकड़ा यह सम्बन्ध करते हैं, ऐसी स्थिति में व्यङ्ग्य के प्रतीत होने पर भी उसका प्राधान्य नहीं बनेगा। क्योंकि नायक का व्यवहार शृङ्गार के विभावरूप निशा और शशी को ही सुसंस्कृत करता हुआ अलङ्कारभाव प्राप्त करता है, तब तो विभावीभूत वाच्य से ही रसनिष्पत्ति होगी। जिसने व्याख्यान किया है कि यहाँ **तया निशया** यह कर्त्तृपद है किन्तु निशा के अचेतन होने के कारण उसका कर्त्तृत्व बन नहीं सकता, इस प्रकार यहाँ शब्द ही के द्वारा नायक का व्यवहार उन्नीत होने से अभिधेय ही है न कि व्यङ्ग्य, अतएव समासोक्ति है। उस व्याख्याता ने **व्यङ्ग्येनानुगतम्।** इस

लोचनम्

शब्देनैवात्र नायकव्यवहार उन्नीतोऽभिधेय एव, न व्यङ्ग्य इत्यत एव समासोक्तिः' इति। स प्रकृतमेव ग्रन्थार्थमत्यजद्व्यङ्ग्येनानुगतमिति। एकदेशविवर्ति चेत्थं रूपकं स्यात्, 'राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः' इतिवत्, न तु समासोक्तिः; तुल्यविशेषणाभावात्। गम्यत इति चानेनाभिधाव्यापारनिरासादित्यलमवान्तरेण बहुना। नायिकाया नायके यो व्यवहारः स निशायां समारोपितः; नायिकायां नायकस्य यो व्यवहारः स शशिनि समारोपित इति व्याख्याने नैकशेषप्रसङ्गः। ***आक्षेप*** **इति।**

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥

तत्राद्यौ यथा–

अहं त्वां यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका ततः ।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते ॥

प्रस्तुत पद को जोड़ दिया है। ऐसा करने से यहाँ एकदेशविवर्त्तिरूपक होगा, जैसा कि– **राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः** सरोवर रूपी राजाओं पर राजहंसरूपी शरत्काल ने हवा की। यहाँ समासोक्ति नही है, क्योंकि समान विशेषण नहीं है। समासोक्ति के लक्षण में **गम्यते** (द्र १०९ द्र. पङ्क्ति १५) पद का प्रयोग है। इसका प्रयोग करने से अभिधाव्यापार का निराकरण हो जाता है। यह अवान्तर चर्चा व्यर्थ है, अत: इतना ही कह कर विषय को समाप्त करता हूँ। नायिका द्वारा नायक में व्यवहार निशा में समारोपित है और नायिका में नायक का व्यवहार शशी में आरोपित किया है, ऐसा व्याख्यान करने से एकशेष का प्रसङ्ग नहीं उपस्थित होगा।

जहाँ विशेषता बोधन करने के अभिप्राय से (इष्ट) कहना चाहते हुए भी बात का निषेध किया जावे, वहाँ आक्षेपालङ्कार होता है। वह निषेध कहीं आगे कही जाने वाली बात का पूर्व में ही निषेध करता है और कभी पूर्व में उस बात को कहकर उसके पीछे निषेध करता है, इस प्रकार निषेध करने से वह आक्षेप वक्ष्यमाणविषयक और उक्तविषयक भेद से दो प्रकार का होता है।

वक्ष्यमाणोक्त विषय जैसे **अहमिति**— मैं यदि तुमको तनिक देर भी न देख सकूँ आगे उत्कण्ठातिरेक से........... बस रहने दो आगे तुम्हारी अप्रिय बात कहने से क्या लाभ? यहाँ इतना कह लेने के बाद वक्ष्यमाण म्रिये शब्द मरण रूप विषय निषेध रूप से आक्षिप्त है जो उसी को व्यञ्जित करता हुआ चारुत्व का आधार है। इस प्रकार आक्षेप्य द्वारा आक्षेपक अलङ्कृत होता हुआ भी प्रधान ठहरता है। उक्त-विषयक दूसरा आक्षेप जैसे मेरा ही– **भो भो इति**– हे हे पथिक! तुम इस गलत

लोचनम्

इति वक्ष्यमाणमरणविषयो निषेधात्माक्षेपः। तत्रेयदस्त्वित्येतदेवात्र म्रिये इत्याक्षिपत्सच्चारुत्वनिबन्धनमित्याक्षेप्येणाक्षेपकमलङ्कृतं सत्प्रधानम्। उक्तविषयस्तु यथा ममैव–

भो भोः किं किमकाण्ड एव पतितस्त्वं पान्थ कान्या गति-
स्तत्तादृक्तृषितस्य मे खलमतिः सोऽयं जलं गूहते।
अस्थानोपनतामकालसुलभां तृष्णां प्रति क्रुध्य भो-
स्त्रैलोक्यप्रथितप्रभावमहिमा मार्गः पुनर्मारवः॥

अत्र कश्चित्सेवकःप्राप्तः प्राप्तव्यमस्मात्किमिति न लभ इति प्रत्यशाविशस्यमानहृदयः केनचिदमुनाक्षेपेण प्रतिबोध्यते। तत्राक्षेपेण निषेधरूपेण वाच्यस्यैवासत्पुरुषसेवातद्वैफल्यतत्कृतोद्वेगात्मनः शान्तर-सस्थायिभूतनिर्वेदविभावरूपतया चमत्कृतिदायित्वम्। वामनस्य तु 'उपमानाक्षेपः' इत्याक्षेपलक्षणम्। उपमानस्य चन्द्रादेराक्षेपः; अस्मिन्सति किं त्वया कृत्यमिति। यथा–

तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ यदि च तैः किं नाम नीलोत्पलैः।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे
ही धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः॥

जगह पर कैसे आ पहुँचे? मुझे ऐसी प्यास ही लगी है, मैं क्या करता? यह दुष्ट मार्ग तो जल को छिपा रखा है। अरे गलत जगह में अकाल में उत्पन्न हुई मेरी तृष्णा के प्रति क्रोध करो, अन्यथा किसे नहीं मालूम कि तीनों लोकों में प्रसिद्ध और महिमा वाला मरुस्थल मार्ग है अत: यहाँ जल की आशा व्यर्थ है।

यहाँ कोई सेवक अपने मालिक के पास इस अभिप्राय से पहुँचा है कि क्यों न इन्हीं से अपना प्राप्तव्य प्राप्त करूँ? उसका हृदय इसमें विश्वस्त भी है, तभी कोई उसे इस प्रकार आक्षेप द्वारा प्रतिबोधन करता है। वहाँ निषेधरूप आक्षेप द्वारा असत्पुरुष की सेवा, उस सेवा की विफलता तथा उससे उत्पन्न उद्वेगात्मक वैकल्यरूप वाच्य का शान्तरस के स्थायीभाव निर्वेद के विभाव होने के कारण चमत्कृतिकारित्व है। परन्तु वामन का आक्षेप उपमानभूत चन्द्रादि का आक्षेप अलङ्कार होता है अर्थात् इनके रहते हुये तुमसे क्या बन सकेगा जैसे— **तस्या इति**–

सौम्य एवं सुभग उस रमणी का मुख यदि विद्यमान है तो पूर्णिमा के चन्द्र से क्या? यदि उसके दोनों नेत्र समस्त सौन्दर्य के स्थानभूत हैं तब उन नीले कमलों से क्या? यदि उसके अधर हैं तब कोमल कान्ति वाले उन किसलयों से क्या? अहो!

ध्वन्यालोकः

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा। यथा–

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः ।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः ॥

वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य की विवक्षा (निर्णय) चारुत्व के उत्कर्ष के आधार पर होती है। इसका तात्पर्य यह है कि चारुत्वोत्कर्षमूलक ही वाच्य और व्यङ्ग्य का प्राधान्य विवक्षित होता है।। जैसे **अनुरागवतीति** सन्ध्या स्वरूपा अथवा (एतन्नाम्नी नायिका) अनुराग (सन्ध्याकालीन लालिमा पक्षान्तर में नायिका का

लोचनम्

अत्र व्यङ्ग्योऽप्युपमार्थो वाच्यस्यैवोपस्कुरुते। किं तेन कृत्यमिति त्वपहस्तनारूप आक्षेपो वाच्य एव चमत्कारकारणम्। यदि वोपमानस्याक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम् । यथा–

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥

इत्यत्रेर्ष्याकलुषितनायकान्तरमुपमानमाक्षिप्तमपि वाच्यार्थमेवालङ्करोतीत्येषा तु समासोक्तिरेव। तदाह–*चारुत्वोत्कर्षेति*। अत्रैव प्रसिद्धं

एक वस्तु के रहने पर भी पुनः उसी वस्तु के सदृश अन्य वस्तु के निर्मण में विधाता का कोई अनिर्वचनीय आग्रह ही है।

वहाँ उपमारूप अर्थ व्यङ्ग्य होता हुआ भी वाच्य का ही उपकारक है। उससे क्या काम? यह अपहस्तना (निराकरण) रूप आक्षेप वाच्य होकर ही चमत्कार में कारण बनता है। अथवा यहाँ उपमान का आक्षेप अर्थ की सामर्थ्य से आकर्षण है जैसे—

ऐन्द्रं धनुरिति– पाण्डुवर्ण पयोधर (मेघ) पक्षान्तर में स्तन पर आर्द्र गीले सद्यः समुत्पादित नखक्षत के समान इन्द्रधनुष धारण करने वाली और सकलङ्क (चिह्न से युक्त पक्षान्तर में नायिका भोगजन्यकलङ्क से युक्त) चन्द्र को प्रसन्न अथवा उज्ज्वल पक्षान्तर में हर्षित करती हुई शरद ऋतु रूप नायिका ने रवि रूप नायक के संताप को और बढ़ा दिया। यहाँ ईर्ष्या से कलुषित अन्य नायक रूप उपमान आक्षिप्त होकर भी वाच्यार्थ को ही अलङ्कृत करता है। इस प्रकार यह तो समासोक्ति ही है जैसा कि कहा है– **चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना इति।**

यहाँ पर प्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हैं– **अनुरागवती सन्ध्येति।** इसलिये यह मान लेना चाहिये कि आक्षेप अलङ्काकर के प्रमेय (उदाहरण) का समर्थन अभी पूरा नहीं

ध्वन्यालोक:

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा।

प्रेम) से युक्त है और दिवस (दिन या इस नाम वाला नायक) उसके सामने स्थित ही नहीं पुर:सर: (सामने उपस्थित हो रहा है) है। ओह! फिर भी दैव की गति कैसी विलक्षण है कि इतना होने पर भी उन दोनों का समागम नहीं हो पा रहा है। यहाँ व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य के चारुत्व का ही उत्कर्ष है अत: उसी का प्राधान्य विवक्षित है।

लोचनम्

दृष्टान्तमाह— *अनुरागवतीति*। तेनाक्षेपप्रमेयसमर्थनमेवापरिसमाप्तमिति मन्तव्यम्। तत्रोदाहरणत्वेन समासोक्तिश्लोकः पठितः अहो दैवगतिरिति। गुरुपारतन्त्र्यादिनिमित्तोऽसमागम इत्यर्थः। *तस्यैवेति*। वाच्यस्यैवेति यावत्। वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोः युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्। एषापि समासोक्तिर्वाऽस्तु आक्षेपो वा, किमनेनास्माकम्। सर्वथालङ्कारेषु व्यङ्ग्यं वाच्ये गुणीभवतीति नः साध्यमित्यत्राशयोऽत्र ग्रन्थेऽस्मद्गुरुभिर्निरूपितः।

एवं प्राधान्यविवक्षायां दृष्टान्तमुक्त्वा व्यपदेशोऽपि प्राधान्यकृत एव भवतीत्यत्र दृष्टान्तं स्वपरप्रसिद्धमाह—*यथा चेति*। *उपमाया इति*। उपमानोपमेयभावस्येत्यर्थः तयेत्युपमया। दीपके हि 'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते' इति लक्षणम्।

हुआ है, अत: उदाहरण के रूप में समासोक्ति का श्लोक उदाहृत करते हैं— **अहो दैवगतिरिति** अर्थात् गुरुजनों की परतन्त्रता आदि के कारण समागम नहीं होता। **तस्यैव** वाच्य की ही। वामन के मत में यह आक्षेप है, किन्तु भामह के मत में समासोक्ति है, इसी आशय को हृदय में रखकर ग्रन्थकार ने युक्ति से समासोक्ति और आक्षेप का सम्मिलित उदाहरण दिया है। अस्तु यहाँ चाहे समासोक्ति हो चाहे आक्षेप हो, हमें इससे क्या? हमारा साध्य तो यह है कि अलङ्कारों में व्यङ्ग्य वाच्य में गुणीभूत होकर रहता है— इस ग्रन्थ में इस प्रकार का आशय हमारे गुरुदेव ने निरूपण किया है—

इस प्रकार प्राधान्य की विवक्षा में दृष्टान्त देकर व्यपदेश नामक व्यवहार भी प्राधान्य का कारण होता है, इसका उदाहरण जो अपने यहाँ तथा दूसरों के यहाँ भी प्रसिद्ध है उसे देते हैं जैसे— **यथा चेति। उपमाया इति** । उपमा की अर्थात्

ध्वन्यालोकः

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्।

और जिस प्रकार दीपक, अपह्नुति आदि में व्यङ्ग्य रूप उपमा की प्रतीति होने पर भी प्राधान्यत: उसके विवक्षित न होने के कारण उससे व्यपदेश नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।

लोचनम्

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितः
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना।
मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः॥

इत्यत्र दीपनकृतमेव चारुत्वम्। 'अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा' इति। तत्रापह्नुत्यैव शोभा। यथा–

नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः।इति॥

एवमाक्षेपं विचार्योद्दिशक्रमेणैव प्रमेयान्तरमाह–*अनुक्तनिमित्तायामिति*।

उपमानोपमेयभाव की। **तया** अर्थात् उस उपमा से। दीपक में आदिविषय, मध्यविषय और अन्तविषय के भेद से तीन प्रकार का दीपक होता है वही उसका लक्षण है।

मणिरिति–शान पर निखारी गई (उत्तेजित) मणि, शस्त्रों के प्रहार से आहत समरविजयी वीर, कलामात्रशेष चन्द्रमा, सुरत-प्रसङ्ग में परिमर्दित बाल ललना, क्षीणमद वाला हाथी, शरत्काल में सूखे तटों वाली सरिता और याचकों को दान देकर क्षीण उदार पुरुष ये कृशता प्राप्त करने से ही शोभित होते हैं। अनेक में एक रूप धर्म का अन्वय दीपक होता है, प्रकृत में दीपनकृत चारुत्व कहा गया है। अभीष्ट का निषेध जिसमें उपमा व्यङ्ग्य होती है, अपह्नुति कही जाती है। वहाँ अपह्नुति (निषेध) से ही शोभा होती है जैसे–

नेयमिति – यह मदमुखर भ्रमरपङ्क्ति बारम्बार गुञ्जार नहीं कर रही है, किन्तु कामदेव द्वारा चढ़ाये गये धनुष का शब्द है। इस प्रकार आक्षेप पर विचार कर निर्दिष्ट क्रमानुसार अन्य प्रमेयों को कहते हैं– **अनुक्तनिमित्ता**– में भी **एकदेशस्येति**– एक देश के न रहने पर भी जहाँ कुछ अतिशय ख्यापन के लिये गुणान्तर का कथन हो वहाँ विशेषोक्ति होती हैं। जैसे फूल के बाणों वाला वह कामदेव अकेले ही तीनों लोकों

ध्वन्यालोकः

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ–

आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति॥

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में भी **आहूतोऽपीति** अपने साथियों द्वारा पुकारे जाने पर भी, 'हाँ' कह कर यद्यपि पथिक ने अपनी निद्रा परित्याग कर दी है; जाने के लिये मन भी बना लिया है, किन्तु अधिक संकोच को शिथिल नहीं कर पा रहा है। (यहाँ संकोच का कारण नहीं कहा गया इसलिये अनुक्तनिमित्त है। (कारण से) व्यङ्ग्य की प्रतीति मात्र होती है, किन्तु उस प्रतीति के कारण किसी चारुत्व की निष्पत्ति नहीं होती इसलिये यहाँ व्यङ्ग्य का प्राधान्य नहीं है।

लोचनम्

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता॥

यथा–

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्॥

इयं चाचिन्त्यनिमित्तेति नास्यां व्यङ्ग्यस्य सद्भावः। उक्तनिमित्तायामपि वस्तुस्वभावमात्रत्वे पर्यवसानमिति तत्रापि न व्यङ्ग्यसद्भावशङ्का। यथा–

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने॥

पर विजय प्राप्त करता है, जिसके शरीर को नष्ट करते हुये भी शिवजी ने उसके बल को नष्ट नहीं किया। यहाँ **अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति** है। क्योंकि शरीर के हरण होने पर भी बल के नष्ट न होने का कारण नहीं कहा गया। इसलिये इसमें व्यङ्ग्य के सद्भाव की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। दूसरा भेद है उक्तनिमित्ता जिस निमित्तोक्ति (विशेषोक्त) में निमित्त या कारण का उल्लेख होता है उसे **उक्तनिमित्ता** कहते हैं। उक्तनिमित्ता में भी वस्तु के स्वभावमात्र में पर्यवसान हो जाता है इसलिये वहाँ भी व्यङ्ग्य के सद्भाव (अस्तित्व) की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। जैसे **कर्पूर इवेति।**

कपूर के समान जल जाने पर भी जो जन-जन (प्रत्येक व्यक्ति) में शक्तिमान् है, उस फूलों के आयुध वाले अवार्यवीर्य कामदेव को नमस्कार है। यहाँ अवार्यवीर्य इस निमित्त को कह दिया गया है अतः उक्तनिमित्ता है।

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात्प्रतीतिमात्रं न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम्। पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद्भवतु नाम तस्य

पर्यायोऽपीति पर्यायोक्त अलङ्कार में भी यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्य है तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाय, किन्तु ध्वनि का पर्यायोक्त में अन्तर्भाव कथमपि संभव नहीं। उसे महाविषय मानकर एवं अङ्गी मान कर हम आगे उसका प्रतिपादन करेंगे। पर्याय अलङ्कार न तो महाविषय है और न तो अङ्गी ही है। परन्तु भामह

लोचनम्

तेन प्रकारद्वयमवधीर्य तृतीयं प्रकारमाशङ्कते– *अनुक्तनिमित्तायामपीति*। *व्यङ्ग्यस्येति*। शीतकृता खल्वार्तिरत्र निमित्तमिति भट्टोद्भटः, तदभिप्रायेणाह– *न त्वत्र काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति*। यत्तु रसिकैरपि निमित्तं कल्पितम्–'कान्तासमागमे गमनादपि लघुतरमुपायं स्वप्नं मन्यमानो निद्रागमबुद्ध्या सङ्कोचं नात्यजत्' इति तदपि निमित्तं चारुत्वहेतुतया नालङ्कारविद्भिः कल्पितम्, अपि तु विशेषोक्तिभाग एव'न शिथिलयतीत्येवम्भूतोऽभिव्यव्यज्यमाननिमित्तोपस्कृतश्चारुत्वहेतुः। अन्यथा तु विशेषोक्तिरेवेयं न भवेत्। एवममिप्रायद्वयमपि साधारणोक्त्या ग्रन्थकृन्यरूपयन्न त्वौद्भटेनैवाभिप्रायेण ग्रन्थो व्यवस्थित इति मन्तव्यम्। *पर्यायोक्तेऽपीति*–

अब आशङ्का करते हैं– **अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ इति व्यङ्ग्यस्येति**– भट्ट उद्भट के अनुसार संकोच न परित्याग करने में निमित्तशीत के कारण होने वाला कष्ट निमित्त है। इसी अभिप्राय से कहते हैं– **काचिच्चारुप्रतीतिनिमित्तेति** जो रसिकजनों ने यहाँ इस निमित्त की कल्पना की है कि कान्तासमागम में गमन से भी लघुतर उपाय स्वप्न को मानते हुये पथिक ने जिससे नींद लग जाय इस बुद्धि से संकोच नहीं छोड़ा। इस निमित्त को भी अलङ्कार वेत्ताओं ने चारुत्व हेतु के रूप में स्वीकार नहीं किया है, अपितु विशेषोक्ति का वह भाग ही जो नहीं शिथिल करता' इस प्रकार अभिव्यज्यमान निमित्त से उपस्कृत चारुत्व का हेतु है। यदि ऐसा न मानें तब यहाँ विशेषोक्ति ही न होगी। यहाँ उद्भट एवं रसिकों के इन दोनों अभिप्रायों को ग्रन्थकार ने सामान्य व्यङ्ग्योक्ति के द्वारा निरूपित किया है न कि उद्भट के अभिप्राय को लेकर इतना ग्रन्थ व्याख्यात है ऐसा मानना चाहिये।

ध्वन्यालोकः

ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेनाङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुनः पर्यायो भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनाभावेनाविवक्षित्वात्।

द्वारा उदाहृत **'गृहेष्वध्वसु'** जैसे उदाहरण में व्यङ्ग्य का प्राधान्य ही नहीं है, क्योंकि वहाँ वाच्यार्थ का गौणत्व विवक्षित नहीं है। अर्थात् वहाँ वाच्य ही प्रधान है। अत: उसे ध्वनि नहीं कहा जा सकता।

लोचनम्

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥

इति लक्षणम्। यथा–

शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः ।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना ।।इति।

अत्र भीष्मस्य भार्गवप्रभावाभिभावी प्रभाव इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि तत्सहायेन देशिता धर्मदेशनेत्यभिधीयमानेनैव काव्यार्थोऽलङ्कृतः। अत एव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम्, अर्थालङ्कारत्वं सामान्यलक्षणं चेति सर्वं युज्यते। यदि त्वभिधीयत इत्यस्य बलाद् व्याख्यानमभिधीयते प्रतीयते प्रधानतयेति, उदाहरणं च 'भम धम्मिअ' इत्यादि, तदालङ्कारत्वमेव दूरे सम्पन्नमात्मतायां पर्यवसानात्। तदा चालङ्कारमध्ये गणना न कार्या।

पर्यायोक्तेऽपीति– जिसका अभिधान प्रकारान्तर से किया जाय और जो वाच्य-वाचक के व्यापार से रहित केवल व्यङ्ग्यरूप व्यापार से कहा जाय वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। जैसे **शत्रुच्छेदेति।** मुनि के लिये शत्रुभाव रखना ही अनुचित है फिर उस शत्रु के उच्छेद की भावना तो और अनुचित है। उसकी भी दृद्रता (आग्रह) तो अत्यन्त ही अनुचित है। इसलिये शत्रुविनाश के लिये कृतसंकल्प उन्मार्गगामी परशुराम भार्गव मुनि को भीष्म के इस धनुष ने अपने धर्मपालन की शिक्षा दे दी। यहाँ यद्यपि भीष्म का भार्गव परशुराम के प्रभाव को अभिभूत करने वाला प्रभाव प्रतीत होता है, तथापि प्रतीयमान अर्थ की सहायता से धर्मपालन की शिक्षा दी इस अभिधीयमान से ही काव्यार्थ अलङ्कृत है। इसलिये पर्यायेण अर्थात् प्रकारान्तर से अवगतरूप व्यङ्ग्य से उपलक्षित होकर जो अभिहित होता है, वह अभिधीयमान उक्त

लोचनम्

भेदान्तराणि चास्य वक्तव्यानि। तदाह– *यदि प्राधान्येनेति*। *ध्वनाविति*। आत्मन्यन्तर्भावादात्मैवासौ नालङ्कारस्स्यादित्यर्थः। *तत्रेति*। यादृशो-ऽलङ्कारत्वेन विवक्षितस्तादृशे ध्वनिर्नान्तर्भवति, न तादृगस्माभिर्ध्वनिरुक्तः। ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद् व्यापकः समस्तप्रतिष्ठास्थानत्वाच्चाङ्गी। न चालङ्कारो व्यापकोऽन्यालङ्कारवत्। न चाङ्गी, अलङ्कार्यतन्त्रत्वात्। अथ व्यापकत्वाङ्गित्वे तस्योपगम्येते, त्यज्यते चालङ्कारता, तर्ह्यस्मन्नय एवायमवलम्ब्यते केवलं मात्सर्यग्रहात्पर्यायोक्तवाचेति भावः। न चेयदपि प्राक्तनैर्दृष्टमपि त्वस्माभिरेवोन्मीलितमिति दर्शयति–*न पुनरिति*। भामहस्य तादृक्तदीयं रूपमभिमतं तादृगुदाहरणेन दर्शितम्। तत्रापि नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं चारुत्वाहेतुत्वात्। तेन तदनुसारितया तत्सदृशं यदुदाहरणान्तरमपि कल्प्यते तत्र नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यमिति सङ्गतिः।

यदि तु तदुक्तमुदाहरणमनादृत्य 'भम धम्मिअ' इत्याद्युदाह्रियते, तदस्मच्छिष्यतैव। केवलं तु नयमनवलम्ब्यापश्रवणेनात्मसंस्कार

होकर पर्यायोक्त कहा जाता है, यह लक्षण पद है, पर्यायोक्ति यह लक्ष्य पद है और इसका अर्थालङ्कारत्व रूप अलङ्कार का सामान्य लक्षण है। यह बात उसमें घटित हो जाती है जो **'अभिधीयते'** इसका बलात् व्याख्यान प्रधान रूप से प्रतीत होता है, यह करते है, और **'भ्रम धम्मिअ'** इत्यादि का उदाहरण प्रस्तुत करते है, तब तो इसकी अलङ्कारता ही सर्वथा नष्ट हो जायगी, क्योंकि तब तो इसका पर्यवसान आत्मा रूप में ही होगा और इसकी अलङ्कार में गणना संभव न हो सकेगी। इसे अलङ्कारों का भेदान्तर ही कहा जायेगा। इसी बात को कहते हैं– **प्राधान्येनेति ध्वनौ** आत्मा में अन्तर्भाव होने से यह आत्मा ही होगा, अलङ्कार नहीं होगा। **तत्रेति** अलङ्कार के रूप में जैसा विवक्षित है वैसे में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होगा। क्योंकि ध्वनि महाविषय स्वरूप है। सर्वत्र होने से व्यापक है, सबका प्रतिष्ठान आधार होने से अङ्गी है। यह अलङ्कार अन्य अलङ्कारों के समान ही व्यापक नहीं है और अपने अलङ्कार्य के अधीन होने से अङ्गी नहीं हो सकता। यदि उस अलङ्कार को व्यापक तथा अङ्गी मान लें तब और उसका अलङ्कारत्व छोड़ देते हैं, तब तो केवल मात्सर्य के कारण पर्यायोक्त के कथन द्वारा भी हमारा ही पक्ष अवलम्बन कर लिया गया। इसे प्राचीनों ने कहीं देखा है किन्तु हमने ही इसको प्रकाशित किया है। इस अभिप्राय से कहते हैं– **न पुनरिति** भामह को जैसा पयार्योक्त का रूप आभिमत था वैसा उदाहरण से प्रदर्शित कर दिया गया है। वहाँ भी व्यङ्ग्य का प्राधान्य नहीं है, क्योंकि व्यङ्ग्य चारुत्व का कारण नहीं

ध्वन्यालोकः

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव।

और फिर अपह्नुति एवं दीपक में तो वाच्य का प्राधान्य और व्यङ्ग्य का अनुयायित्व प्रसिद्ध ही है॥

लोचनम्

त्यिनार्यचेष्टितम्।यदाहुरैतिहासिकाः– 'अवज्ञयाप्यवच्छाद्य शृण्वन्नरकमृच्छति' इति। भामहेन ह्युदाहृतम्–

'गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः।
विप्रा न भुञ्जते' इति।

एतद्धि भगवद्वासुदेववचनं पर्यायेण रसदानं निषेधति। यत्स एवाह– 'तच्च रसदाननिवृत्तये' इति। न चास्य रसदाननिषेधस्य व्यङ्ग्यस्य किञ्चिच्चारुत्वमस्ति येन प्राधान्यं शङ्क्येत। अपि तु तद्व्यङ्ग्योपोद्बलितं विप्रभोजनेन विना यन्न भोजनं तदेवोक्तप्रकारेण पर्यायोक्तं सत्प्राकरणिकं भोजनार्थमलङ्कुरुते। न ह्यस्य निर्विषं भोजनं भवत्विति विवक्षितमिति पर्यायोक्तमलङ्कार एवेति चिरन्तनानामभिमत इति तात्पर्यम्।

अपह्नुतिदीपकयोरिति। एतत्पूर्वमेव निर्णीतम्। अत एवाह–

है। इसलिये उसका भी अनुसरण कर जो दूसरा भी उदाहरण देंगे वहाँ भी व्यङ्ग्य का प्राधान्य नहीं होगा। इस प्रकार ग्रन्थ सङ्गत हो जाता है॥ यदि भामह द्वारा कहे गये उदाहरण को हटा कर **'भ्रम धार्मिक'** इसी का उदाहरण देते हैं तब तो वे हमारी शिष्यता के कारण ही है। केवल न्याय का अवलम्बन न कर अशास्त्रीय रूप से श्रवण द्वारा आत्मा का संस्कार अनार्यचेष्टा ही है, जैसा कि ऐतिहासिकों ने कहा है– गुरु के द्वारा उपदिष्ट विद्या को जो अवज्ञा से अपने को छिपा कर सुनता है वह नरक का भागी होता है।

भामह ने जो उदाहरण दिया है **गृहेष्विति** जिस अन्न को स्वाध्याय करने वाले ब्राह्मण नहीं खाते हम लोग ऐसे अन्न को घरों में किं बहुना मार्ग में भी नहीं खाते। यह भगवान् वासुदेव का वचन है जो पर्याय द्वारा रसदान का निषेध है (कहीं शिशुपाल अन्न में विष न दे देवे) इसलिये भगवान् वासुदेव इस वचन से उसके द्वारा दिये गये अन्न को निषिद्ध करते हैं।

जैसा कि वे स्वयं ही कहते हैं– रसदान निवृत्ति में इस विषदान के निषेधरूप व्यङ्ग्य का कोई चारुत्व नहीं है जिससे उसके प्राधान्य की आशङ्का हो। बल्कि उस व्यङ्ग्य से उपोद्बलित (सूचित) विप्रभोजन के बिना जो भोजन है वह भोजन ही नहीं

ध्वन्यालोकः

सङ्करालङ्कारेऽपि यदालङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम्।

संकरालङ्कारेपीति– सङ्करालङ्कार में भी जहाँ एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार की छाया (सौन्दर्य) पुष्ट करता है।

लोचनम्

प्रसिद्धमिति। प्रतीतं प्रसाधितं प्रामाणिकं चेत्यर्थः। पूर्वं चैतदुपमादिव्यपदेशभाजनमेव तद्यथा न भवतीत्यमुया छायया दृष्टान्ततयोक्तमप्युद्देशक्रमपूरणाय ग्रन्थशय्यां योजयितुं पुनरप्युक्तं 'व्यङ्ग्यप्राधान्याभावान्न ध्वनिरि'ति छायान्तरेण वस्तु पुनरेकमेवोपमाया एव व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वाशंङ्कनात्। यत्तु विवरणकृत्– दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरणप्रपञ्चेन विचारितवांस्तदनुपयोगि निस्सारं सुप्रतिक्षेपं च।

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभञ्जनम्।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम्।।इति।।

अत्राप्युत्तरोत्तरजन्यत्वेऽप्युपमानोपमेयभावस्य सुकल्पत्वात्। न हि क्रमिकाणां नोपमानोपमेयभावः। तथा हि–

है। यह उक्त प्रकार से पर्यायोक्त हो कर प्राकरणिक भोजन के अर्थ को अलङ्कृत करता है। वासुदेव भगवान् को शिशुपाल के प्रति यह विवक्षित नहीं है कि भोजन विषरहित होना चाहिये। इस प्रकार यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार ही प्राचीनों को भी अभिमत है, यही तात्पर्य है।

अपह्नुतिदीपकयोः पुनरिति अपहुति और दीपक में वाच्य की ही प्रधानता होती है। यह निर्णय पहले भी कर चुके हैं अतएव कहते हैं– **प्रसिद्धमिति** अर्थात् यह निर्णय प्रतीत, प्रसाधित एवं प्रामाणिक है। पूर्व में यह उपमादि का पात्र जिस प्रकार नहीं हो सकता, इस प्रकार दृष्टान्त के रूप में कह भी दिया गया है। प्रस्तुत प्रकृत प्रसङ्ग में पुनः अपह्नुति और दीपक अलङ्कारों का उल्लेख पूर्व में उल्लिखित अलङ्कारों के उद्देश-क्रम की पूर्ति करने एवं ग्रन्थशय्या की योजना के लिये फिर भी कहा गया कि यहाँ व्यंग्य का प्राधान्य न होने के कारण ये ध्वनि नहीं हैं। प्रकारान्तर से अप्राधान्य रूप वस्तु एक ही है अतः उपमा के व्यङ्ग्य होने से ध्वनि की शङ्का नहीं।

जो विवरणकार ने– 'दीपक का सर्वत्र उपमा से सम्बन्ध नहीं है' और उस पर बहुत उदाहरण देकर प्रपञ्च द्वारा विचार किया है, वह प्रकृत में उपयोगी नहीं तथा निःसार एवं सरलता से निराकरणीय है। **मद इति**-मद प्रीति उत्पन्न करता है, प्रीति मान दूर कर अनङ्ग को और वह अनङ्ग प्रियतमा के सङ्गम की उत्कण्ठा को और

लोचनम्

राम इव दशरथोऽभूद्दशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृशः।
अज इव दिलीपवंशश्चित्रं रामस्य कीर्तिरियम्॥

इति न न भवति। तस्मात्क्रमिकत्वं समं वा प्राकरणिकत्वमुपमां निरुणद्धीति कोऽयं त्रास इत्यलं गर्दभीदोहानुवर्तनेन।

सङ्करालङ्कारेऽपीति।

विरुद्धालङ्क्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः॥

इति लक्षणादेकः प्रकारः। यथा ममैव–

शशिवदनाऽसितसरसिजनयना सितकुन्ददशनपङ्क्तिरियम्।
गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना।।इति॥

अत्र शशी वदनमस्याः तद्वद्वा वदनमस्या इति रूपकोपमोल्लेखाद्युगपद् द्वयासम्भवादेकतरपक्षत्यागग्रहणे प्रमाणाभावात्सङ्कर इति व्यङ्ग्यवाच्यताया एवानिश्चयात्का ध्वनिसम्भावना। योऽपि द्वितीयः प्रकारः–शब्दार्थालङ्काराणामेकत्रभाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शङ्का। यथा–'स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्' इति। अत्रैव यमकमुपमा च। तृतीयः प्रकारः–यत्रैकत्र वाक्यांशेऽनेकोऽर्थालङ्कारस्तत्रापि द्वयोः साम्यात् कस्य व्यङ्ग्यता। यथा–

वही उत्कण्ठा शोक को उत्पन्न करती है.। यहाँ भी उत्तरोत्तर एक दूसरे से उत्पन्न होने से उपमानोपमेयभाव सहज ही कल्पित हो सकता है। ऐसा विचार नहीं करना चाहिये कि क्रमिकों का उपमानोपमेयभाव नहीं होता। जैसा कि **राम इवेति**' राम के सदृश दशरथ हुये, दशरथ के सदृश रघु, रघु के सदृश अज एवं अज के समान दिलीप का वंश, इस प्रकार राम की कीर्त्ति आश्चर्ययुक्त हैं। यहाँ उपमानोपमेयत्व नहीं है यह बात नहीं, किन्तु है ही इसलिये क्रमिकत्त्व सम या प्राकरणिक उपमा को रोक देता है, यह भय अकिञ्चित्कर है गर्दभी दोहन के प्रयास के समान। इस पर बहुत सोचना व्यर्थ होगा।

सङ्करालङ्कारेऽपीति - **विरुद्धेति** - विरुद्ध दो अलङ्कारों के उपस्थित होने पर एक ही स्थान में दोनों की उपस्थिति संभव न होने पर और उनमें एक छोड़ कर दूसरे को ग्रहण करने में साधक एवं बाधक के अभाव में संदेहसंकर होता है। जैसे मेरा ही– **शशिवदनेत्यादि** शशिवदना नीलकमलनयना उज्ज्वलकुन्ददन्तावली इस नायिका को विधाता ने आकाश, जल, और स्थल से उत्पन्न होने वाले मनोहर आकार वाली बनाया है। यहाँ शशी ही वदन है इसका अथवा शशी के समान वदन है इसका। इन व्युत्पत्ति के कारण रूपक और उपमा दो अलङ्कारों का उल्लेख होने से, किन्तु एक ही स्थान में

लोचनम्

तुल्योदयावसानत्वाद्गतेऽस्तं प्रति भास्वति ।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम् ।।इति।।

अत्र हि स्वामिविपत्तिसमुचितव्रतग्रहणहेवाकिकुलपुत्रकरूपणमेकदेशविवर्त्तिरूपकं दर्शयति। उत्प्रेक्षा चेवशब्देनोक्ता। तदिदं प्रकारद्वयमुक्तम्।

शब्दार्थवर्त्त्यलङ्कारा वाक्य एकत्र वर्त्तिनः ।
सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाऽभिधीयते ।।इति च।।

चतुर्थस्तु प्रकारो यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावोऽलङ्काराणाम्। यथा–

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ।।

दोनों का युगपद् संभव न होने से किसी एकतर पक्ष के त्याग एवं ग्रहण के प्रमाण के अभाव होने से संकर अलङ्कार है। इस प्रकार जब संकर के व्यङ्ग्य अथवा वाच्य होने में कोई निश्चय नहीं है तब इसके ध्वनि की संभावना कैसी? सङ्कर अलङ्कार का दूसरा भेद है– शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का एकत्र भाव, वहाँ भी प्रतीयमान की संभावना कैसी? उदाहरण **स्मर स्मरमिवेति** काम के सदृश प्रिय को याद कर जिसे आलिङ्गन द्वारा तू रमाती है। यहाँ यमक और उपमा है। तीसरा प्रकार जहाँ एक वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कार है वहाँ भी दो बराबर होने से किसकी व्यङ्ग्यता होगी? जैसे जिनका उदय और अस्त दोनों समान है ऐसे सूर्य के अस्तंगत होने पर ग्लान वासर (दिन) मानो अन्धकार की गुहा में प्रवेश कर रहा है। यहाँ '**तमोगुहाम्**' इस शब्द से एकदेशविवर्त्ति रूपक को तथा स्वामी की विपत्ति के समय समुचित व्रतग्रहण करने में प्रयत्नशील कुलपुत्र को भी रूपक के रूप में प्रदर्शित किया गया है। प्रकृत पद्य के उदाहरण में सूर्य स्वामी है, वासर उसका सेवक है। सूर्य का अस्त होना स्वामी पर विपत्ति है और वासर का तमोगुहा में प्रवेश समुचित व्रत है। पर इनका आरोप नहीं है, केवल तमोगुहा यह एकदेशविवर्ति रूपक हैं। इस प्रकार रूपक और इव शब्द से उत्प्रेक्षा की अभिव्यक्ति की गई है। इस प्रकार संकर अलङ्कार के दो प्रकार कह चुके हैं।

तीसरे प्रकार का लक्षण– जब एक ही वाक्य में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों होते हैं, वहाँ सङ्कर होता है अथवा एक ही वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कारों का जब प्रवेश होता है तब भी वहाँ सङ्कर अलङ्कार होता है।

चौथा प्रकार वह है जहाँ अलङ्कारों का परस्पर अनुग्राह्यानुग्राहकरूप संबन्ध होता है। जैसे **विशालनयना** उस पार्वती ने वायु से हिलते हुये नीलोत्पल के सहश अधीर (चंचल) दृष्टिपात को मृगाङ्गनाओं (मृगियों) से ग्रहण किया है अथवा मृगाङ्गनाओं ने उससे ग्रहण किया है।

ध्वन्यालोकः

अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम्। अत वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्। पर्यायोक्त-निर्दिष्टन्यायात्।

वहाँ व्यङ्ग्य का प्राधान्य विवक्षित न होने से ध्वनि का विषय नहीं होता। सन्देहसंकर रूप प्रथम भेद में दो अलङ्कारों की संभावना होने पर भी वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों का समान रूप से प्राधान्य होता है अत: वहाँ भी ध्वनि की संभावना नहीं होती और यदि वहाँ (अङ्गाङ्गिभावरूप संकरालङ्कार में) व्यङ्ग्य वाच्य के उपसर्जनीभाव (गौणरूप) में स्थित हो तब भी वह अलङ्कारध्वनि का विषय हो सकता है, केवल ध्वनि ही है ऐसा नहीं। पर्यायोक्त निर्दिष्ट न्याय से–

लोचनम्

अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि व्यङ्ग्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युत्थानकारिणीत्वेनानुग्राहकत्वाद् गुणीभूता, अनुग्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम्। यथोक्तम्–

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः ।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः ॥

तदाह–*यदालङ्कार* इत्यादि।। एवं चतुर्थेऽपि प्रकारे ध्वनिता निराकृता। मध्यमयोस्तु व्यङ्ग्यसम्भावनैव नास्तीत्युक्तम्। आद्ये तु प्रकारे 'शशिवदने'त्याद्युदाहृते कथञ्चिदस्ति सम्भावनेत्याशङ्क्य निराकरोति–*अलङ्कारद्वयेति । सममिति ।* द्वयोरप्यान्दोल्यमानत्वादिति भावः। ननु यत्र व्यङ्ग्यमेव प्राधान्येन भाति तत्र किं कर्तव्यम्। यथा–

यहाँ मृगाङ्गनाओं के अवलोकन से यद्यपि पार्वती के अवलोकन की उपमा व्यङ्ग्य है तथापि वाच्य संदेहालङ्कार की अभ्युत्थानकारिणी होने से अनुग्राहक होने के कारण वह गुणीभूत है, तथा अनुग्राह्य होने से (उस अनुग्राहिका व्यङ्ग्य उपमा का) उसका संदेह में पर्यवसान है जैसा कि कहा गया है– **परस्परोपकारेणेति**– जहाँ परस्पर उपकार (अपनी सत्ता) पूर्वक अलङ्कार स्थित हैं, और स्वतन्त्र रूप से अवस्थिति नहीं प्राप्त करते वह भी सङ्कर है। इसी बात को कहते हैं— **यदालङ्कारेति** इस प्रकार संकर के चौथे प्रकार में भी ध्वनिता का निराकरण किया गया। बीच के दो अलङ्कारों में ध्वनि की संभावना ही नहीं है यह कहा। **'शशिवदना'** इत्यादि प्रथम स्थल में किसी प्रकार

ध्वन्यालोकः

अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति।

और यहाँ एक बात यह भी है कि संकरालङ्कार में सर्वत्र संकर शब्द का प्रयोग ही ध्वनि-संभावना का निराकरण कर देता है।

लोचनम्

होइ ण गुणाणुराओ खलाणँ णवरं पसिद्धिसरणाणम् ।
किर पहिणुसइ ससिमणं चन्दे पिआमुहे दिट्ठे ॥

अत्रार्थान्तरन्यासस्तावद्वाच्यत्वेनाभाति, व्यतिरेकापह्नुती तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रधानतयेत्यभिप्रायेणाशङ्कते–*अथेति*। तत्रोत्तरम्–*तदा सोऽपीति*। सङ्करालङ्कार एवायं न भवति, अपि त्वलङ्कारध्वनिनामायं ध्वनेर्द्वितीयो भेदः। यच्च पर्यायोक्ते निरूपितं तत्सर्वमत्राप्यनुसरणीयम्। अथ सर्वेषु सङ्करप्रभेदेषु व्यङ्ग्यसम्भावनानिरासप्रकारं साधारणमाह–*अपि चेति*। 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे चे'ति सम्बन्धः, सर्वभेदाभिन्न इत्यर्थः। सङ्कीर्णता हि मिश्रत्वं लोलीभावः, तत्र कथमेकस्य प्राधान्यं क्षीरजलवत्।

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्त्तिता ॥

ध्वनि की संभावना है, इस आशङ्का को निराकृत करते हैं—**अलङ्कारद्वयेति** क्योंकि वहाँ दोनों ही आन्दोल्यमान (सन्दिह्यमान) समान है। अब पुनः आशङ्का करते हैं कि जहाँ व्यङ्ग्य का ही प्राधान्य हो वहाँ क्या करना चाहिए। जैसे **(होइ ण इति)** वस्तुस्थिति का विचार न करने वाले) केवल प्रसिद्धि पर ही ध्यान देने वाले खलजनों में गुण के प्रति अनुराग नहीं होता। चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमा को देख कर प्रस्नुत (आर्द्र-द्रवित-प्रवाहित) तो होता है, किन्तु प्रियतमा के मुख को देखकर नहीं प्रस्नुत होता।

यहाँ वाच्य रूप से **अर्थान्तरन्यास** मालूम पड़ता है किन्तु व्यङ्ग्य और अपह्नुति भी व्यङ्ग्य रूप से प्रधानतया लक्षित होते हैं। ऐसी आशङ्का कर कहते हैं– **अथेति**– इसका उत्तर देते हैं– **सोऽपि**– यहाँ संकरालङ्कार ही नहीं है अपितु अलङ्कारध्वनि नाम का यह ध्वनि का दूसरा भेद है। और जो पर्यायोक्त के प्रसङ्ग में निरूपित किया है वह सब अनुसरणीय हैं।

अब सङ्कर के समस्त प्रभेदों में व्यङ्ग्य की संभावना से सामान्यरूप से निरास का प्रकार अभिव्यक्त करते हैं– **सङ्करालङ्कारेऽपि क्वचिदिति** इस प्रकार वाक्य का सम्बन्ध है अर्थात् सब भेदों से भिन्न सकरालङ्कार के किसी भेद में मिश्रित हो जाना,

ध्वन्यालोक:

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्ति-भावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्ध-स्तदाभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्।

अप्रस्तुतप्रशंसा में भी जब सामान्यविशेषभाव से अथवा निमित्तनिमित्तीभाव से अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत के साथ सम्बन्ध होता है तब अभिधीयमान और प्रतीयमान दोनों का समान ही प्राधान्य

लोचनम्

अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिण इत्यर्थः। स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति– सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तिभावात्, सारूप्याच्च। तत्र प्रथमे प्रकारद्वये प्रस्तुताप्रस्तुतयोस्तुल्यमेव प्राधान्यमिति प्रतिज्ञां करोति– ***अप्रस्तुतेत्यादिना प्राधान्यमित्यन्तेन।*** **तत्र सामान्यविशेषभावेऽपि द्वयी गतिः–सामान्यमप्राकरणिकं शब्देनोच्यते, गम्यते तु प्राकरणिको विशेषः स एकः प्रकारः। यथा–**

अहो संसारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम्।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः॥

अत्र हि देवप्राधान्यं सर्वत्र सामान्यरूपमप्रस्तुतं वर्णितं सत्प्रकृते वस्तुनि क्वापि विनष्टे विशेषात्मनि पर्यवस्यति। तत्रापि विशेषांशस्य

एकीभाव होना संकीर्णता या सङ्कर है। जब क्षीर और जल की भाँति मिल कर दो एकाकार हो गये तब वहाँ एक की ही प्रधानता कैसे होगी?

अधिकारेति– अधिकार (प्रस्तुत) से रहित (अन्यवस्तु अप्रस्तुत) की स्तुति (वर्णन या कथन) जहाँ होती है उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। उसके ३ भेद होते हैं। प्रस्तुत का आक्षेप करने वाले अप्रस्तुत का वर्णन। वह आक्षेप ३ प्रकार का होता है– (१) सामान्यविशेषभाव से (२) निमित्तनिमीत्तीभाव से और (३) सारूप्य से। उनमें प्रथम दो प्रकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का प्राधान्य बराबर ही है, यह प्रतिज्ञा करते हैं। 'अप्रस्तुत' से आरम्भ कर प्राधान्यम् पर्यन्त तक वाक्य से। वहाँ सामान्य-विशेषभाव में भी दो अवस्थायें है– जहाँ सामान्य अप्राकरणिक है और शब्द से कहा जाता है तथा विशेष प्राकरणिक है और व्यञ्जित होता है यह एक प्रकार है जैसे– **अहो इति** वाह रे संसार की कठोरता! वाह रे आपत्तियों की दुष्टता! वाह रे स्वभावतः कुटिल (टेढ़े) विधाता की गति! जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है।

यहाँ सर्वत्र देव का प्राधान्य सामान्य रूप अप्रस्तुत से कहा जाता हुआ भी किसी प्रकृत विनष्ट वस्तु के विशेष रूप में पर्यवसित होता है। उसमें भी विशेष अंश के

ध्वन्यालोकः

यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात्सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणा-मन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम्।

होता है। जब अभिधीयमान अप्रस्तुत सामान्य का प्रतीयमान प्रस्तुत विशेष से सम्बन्ध होता है तब प्रधानतया विशेष की प्रतीति होने पर भी 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस नियम के अनुसार उसका सामान्य से अविनाभाव होने के कारण वहाँ सामान्य भी प्रधान होता है। और जब विशेष सामान्यनिष्ठ होता है तब भी सामान्य के प्राधान्य होने पर सामान्य में ही समस्त विशेषों का अन्तर्भाव होने

लोचनम्

सामान्येन व्याप्तत्वाव्यङ्ग्यविशेषवद्वाच्यसामान्यस्यापि प्राधान्यम्, न हि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्यं विरुध्यते। यदा तु विशेषोऽप्राकरणिकः प्राकरणिकं सामान्यमाक्षिपति तदा द्वितीयः प्रकारः। यथा–

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं पाथसो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनै-
स्तत्रोड्डीय गतो हहेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा॥

अत्रास्थाने महत्त्वसम्भावनं सामान्यं प्रस्तुतम् अप्रस्तुतं तु जलबिन्दौ मणित्वसम्भावनं विशेषरूपं वाच्यम्। तत्रापि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्ये

सामान्य से व्याप्त होने के कारण व्यङ्ग्य विशेष की भाँति सामान्य का भी प्राधान्य है। यहाँ सामान्य और विशेष दोनों का एक कालावच्छिन्न दोनों के प्राधान्य का विरोध नहीं है। जब विशेष अप्राकरणिक हो और वह प्राकरणिक सामान्य का आक्षेप करे तब दूसरा प्रकार होता है। जैसे—**एतत्तस्येति**– उस मूर्ख ने कमलिनीपत्र पर पड़े हुये जलबिन्दु को मोती समझ लिया था। यह उसके लिये कोई बड़ी बात नहीं थी। अब इससे आगे की बात सुनो। जब वह अपनी उस मुक्तामणि को धीरे से उठाने लगा तभी अङ्गुली के अग्रभाग की क्रिया से ही उसके कहीं विलुप्त हो जाने पर 'हाय! हाय! न जाने मेरी मुक्तामणि उड़ कर कहाँ चली गई'? इस अन्त:सोच में उसे प्रतिदिन नीद नहीं आती है। यही श्लोक का भाव है। यहाँ अस्थान (अनवसर) में महत्त्व की संभावन रूप सामान्य प्रस्तुत है और अप्रस्तुत जलबिन्दु में मणित्व संभावन विशेषरूप

ध्वन्यालोकः

निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः ।

से विशेष का भी प्राधान्य होता है। निमित्त-निमित्तीभाव में भी यही नियम लागू होता है।।

लोचनम्

न विरोध इत्युक्तम्। एवमेकः प्रकारो द्विभेदोऽपि विचारितः, *यदा तावदित्यादिना विशेषस्यापि प्राधान्यमित्यन्तेन।* एतमेव न्यायं निमित्तनैमित्तिकभावेऽतिदिशंस्तस्यापि द्विप्रकारतां दर्शयति–*निमित्तेति।* कदाचिन्निमित्तमप्रस्तुतं सदभिधीयमानं नैमित्तिकं प्रस्तुतमाक्षिपति। यथा–

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नौज्झन्ति व्यसनेषु च।
ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः ॥

अत्राप्रस्तुतं सुहृद्बान्धवरूपत्वं निमित्तं सज्जनासक्त्या वर्णयति नैमित्तिकीं श्रद्धेयवचनतां प्रस्तुतामात्मनोऽभिव्यङ्क्तुम्; तत्र नैमित्तिकप्रतीतावपि निमित्तप्रतीतिरेव प्रधानीभवत्यनुप्राणकत्वेनेति व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्यम्। कदाचित्तु नैमित्तिकमप्रस्तुतं वर्ण्यमानं सत्प्रस्तुतं निमित्तं व्यनक्ति। यथा सेतौ–

से वाच्य (अभिधीयमान) है वहाँ भी सामान्य विशेष का एक कालावच्छेदेन प्राधान्य का कोई विरोध नहीं है– यह पहले ही कह चुके हैं, इस प्रकार दो भेदों वाला पहला प्रकार **यदा.... प्राधान्यं** पर्यन्त विचार किया गया। इसी नियम को निमित्त-नैमित्तिक भाव में भी अतिदेश करते हुये उसके भी दो प्रकारों को प्रदर्शित करते हैं— **निमित्त-निमित्तिभावे चायमेव न्याय इति।**

कभी निमित्त (कारण) अप्रस्तुत अभिधीयमान होकर नैमित्तिक कार्य (प्रस्तुत) का आक्षेप करता है जैसे— **य इति।**

जो अभ्युदय होने पर प्रसन्न होते हैं और विपत्ति पड़ने पर त्याग नहीं करते हैं वे ही बान्धव है, वे ही सुहृद् है, अन्य दूसरे व्यक्ति स्वार्थपरामण हैं।।

यहाँ अप्रस्तुत सुहृद्-बान्धव रूप निमित्त को प्रस्तुत नैमित्तिक श्रद्धेयवचनता के व्यञ्जनार्थ सज्जनों के प्रति गौरव के कारण का वर्णन करते हैं। यहाँ नैमित्तिक की प्रतीति में भी निमित्त की प्रतीति ही अनुप्राणक होने के कारण प्रधान हो जाती है। कभी-कभी नैमित्तिक अप्रस्तुत अभिधीयमान होता हुआ प्रस्तुत निमित्त को ही व्यक्त करता है, जैसे सेतुबन्ध में– **सग्गमिति**-'समुद्रमन्थन से पहले **पारिजातरहित** स्वर्ग को कौस्तुभ और लक्ष्मीरहित मधुसूदन के उरःस्थल को और चन्द्रमारहित शिव के

लोचनम्

सग्गं अपारिजाअं कोत्थुहलच्छिरहिअं महुमहस्स उरम् ।
सुमरामि महणपुरओ अमुद्धअन्दं च हरजडापब्भारम् ॥

अत्र जाम्बवान् कौस्तुभलक्ष्मीविरहितहरिवक्षःस्मरणादिकमप्रस्तुत-नैमित्तिकं वर्णयति प्रस्तुतं वृद्धसेवाचिरजीवित्वव्यवहारकौशलादिनिमित्तभूतं मन्त्रितायामुपादेयमभिव्यङ्क्तुम्। तत्र निमित्तप्रतीतावपि नैमित्तिकं वाच्यभूतं प्रत्युत तन्निमित्तानुप्राणितत्वेनोद्धुरकन्धरीकरोत्यात्मानमिति समप्रधानतैव वाच्यव्यङ्ग्ययोः। एवं द्वौ प्रकारौ प्रत्येकं द्विविधौ विचार्य तृतीयः प्रकारः परीक्ष्यते सारूप्यलक्षणः। तत्रापि द्वौ प्रकारौ– अप्रस्तुतात्कदाचिद्वाच्याच्चमत्कारः, व्यङ्ग्यं तु तन्मुखप्रेक्षम्। यथास्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य–

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्येन त्वमुत्थापितः
स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि ।
तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियां
भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताल लीलायसे ॥

अत्र यद्यपि सारूप्यवशेन कृतघ्नः कश्चिदन्यः प्रस्तुत आक्षिप्यते, तथाप्यप्रस्तुतस्यैव वेतालवृत्तान्तस्य चमत्कारकारित्वम्। न

जटाभार को मैं स्मरण करता हूँ। यहाँ जाम्बवान् वृद्धसेवा, चिरजीवित्व एवं व्यवहार-कौशल आदि निमित्तभूत प्रस्तुत को मन्त्रित्व में उपादेय के रूप में व्यक्त करने के लिये कोस्तुभ और लक्ष्मीरहित विष्णु के वक्षः स्थल के स्मरण आदि अप्रस्तुत नैमित्तिक का वर्णन करते हैं। वहाँ निमित्त की प्रतीति में भी वाच्यभूत नैमित्तिक के प्रति निमित्त से अनुप्राणित होने के कारण उसे अपने कन्धे पर स्थापित करता है। अर्थात् प्रधान होता है। अतः यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों की समप्रधानता है, इस प्रकार दोनों प्रकारों में प्रत्येक के दो-दो भेदों के साथ विचार कर सारूप्य नामक तीसरे प्रकार की परीक्षा करते हैं। उसके भी दो प्रकार है– कभी अप्रस्तुत वाच्य में चमत्कार होता है और व्यङ्ग्य उसका मुख ताकता है अर्थात् अप्रधान होता है जैसे हमारे उपाध्याय भट्टेन्दुराज का **प्राणा इति।**

भाई वेताल! जिसने तुम्हें अपना प्राण समर्पित किया, जिसने तुम्हें हठपूर्वक उठाया, किं बहुना जिसके कन्धे पर तुम चिरकाल तक स्थित रहे, इतना ही नहीं जिसने तुम्हारी पूजा भी की। तुमने उसका प्राण केवल स्मितमात्र से ले लिया। भाई! तुम प्रत्युपकार करने वालों में सबसे अग्रगामी हो।

लोचनम्

ह्यचेतनोपालम्भवदसम्भाव्यमानोऽयमर्थो न च न हृद्य इति वाच्यस्यात्र प्रधानता। यदि पुनरचेतनादिनात्यन्तासम्भाव्यमानतदर्थविशेषणेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुतमाक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ। यथा ममैव–

भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे।
स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्वदुःशिक्षितो
मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात् ॥

कश्चिन्महापुरुषो वीतरागोऽपि सरागवदिति न्यायेन गाढविवेकालोकतिरस्कृततिमिरप्रतानोऽपि लोकमध्ये स्वात्मानं प्रच्छादयल्ँलोकं च वाचालयन्नात्मन्यप्रतिभासमेवाङ्गीकुर्वंस्तेनैव लोकेन मूर्खोऽयमिति यदवज्ञायते तदा तदीयं लोकोत्तरं चरितं प्रस्तुतं व्यङ्ग्यतया प्राधान्येन प्रकाश्यते। जडोऽयमिति ह्युद्यानेन्दूदयादिर्भावो लोकेनावज्ञायते, स च प्रत्युत कस्यचिद्विरहिण औत्सुक्यचिन्तादूयमानमानसतामन्यस्य प्रहर्षपरवशतां करोतीति हठादेव लोकं यथेच्छं विकारकारणाभिर्नर्तयति। न

यहाँ यद्यपि सारूप्यवश से कोई दूसरा प्रस्तुत कृतघ्न आक्षिप्त होता है तथापि अप्रस्तुत वेताल वृत्तान्त की ही चमत्कारकारिता है। अचेतन के उपालम्भ की भाँति यह नहीं है अतः यह अर्थ असंभाव्यमान होने से मनोहारी नहीं है ऐसी बात भी नहीं। इसलिये बाच्य की प्रधानता है ही। फिर यदि अत्यन्त असंभाव्यमान उस अप्रस्तुत अर्थ के विशेषण वाले वर्णित अचेतन आदि से प्रस्तुत आक्षिप्यमाण हो कर चमत्कारकारी हो भी जावे तब भी यह वस्तुध्वनि होगा। जैसे मेरा ही **भावव्रात इति**– हे पदार्थसमूह! तुम लोगों के हृदय को आक्रान्त करके अनेक चेष्टाओं से नचाते रहते हो तथा अपने हृदय की बातों को आच्छादित कर क्रीडा करते हो तब भी अपने आप को सहृदय मानने वाला वह सुशिक्षित तुम्हें जड़ ही कहता है। किन्तु वस्तुतः वही जड़ है, ऐसा मैं मानता हूँ। उसे जड़ कहना ही उसकी स्तुति है, क्योंकि इस अंश में तुमसे उसकी समानता की संभावना होती है।।

वीतराग कोई महापुरुष सराग– जैसा होता है, इसी न्याय से वह जिसने अपने प्रगाढ़ ज्ञानालोक से प्रगाढ़ अज्ञानान्धकार को तिरस्कृत कर दिया है तथा संसार में अपने स्वरूप को छिपा रखा है एवं लोगों को अपने विषय में निन्दा के लिये मुखरित किया। किं बहुना अपने को अज्ञानी मानता है, और लोगों के द्वारा 'यह. मूर्ख है' इस प्रकार के कथन से तिरस्कृत होता रहता है। ऐसी स्थिति में उसका प्रस्तुत लोकोत्तर

ध्वन्यालोकः

यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः। इतरथा त्वलङ्कारान्तरमेव। तदयमत्र सङ्क्षेपः–

यदेति– जब केवल सारूप्यवश अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध हो तब अभिधीयमान अप्रस्तुत सरूप की प्राधान्यतः विवक्षा न करने पर उसका ध्वनि में ही अन्तर्भाव हो जाता है, इतरथा (ऐसा न होने पर) वह एक प्रकार का अलङ्कार ही है। तो उसका संक्षेप इस प्रकार है।

लोचनम्

च तस्य हृदयं केनापि ज्ञायते कीदृगयमिति, प्रत्युत महागम्भीरोऽतिविदग्धः सुष्ठु गर्वहीनोऽतिशयेन क्रीडाचतुरः स यदि लोकेन जड इति तत एव कारणात्प्रत्युत वैदग्ध्यसम्भावननिमित्तात्सम्भावितः, आत्मा च यत एव कारणात्प्रत्युत जाड्येन सम्भाव्यस्तत एव सहृदयः सम्भावितस्तदस्य लोकस्य जडोऽसीति यद्युच्यते तदा जाड्यमेवंविधस्य भावव्रातस्याविदग्धस्य प्रसिद्धमिति सा प्रत्युत स्तुतिरिति। जडादपि पापीयानयं लोक इति ध्वन्यते। तदाह–

***यदा त्विति। इतरथा त्विति।* इतरथैव पुनरलङ्कारान्तरत्वमलङ्कारविशेषत्वं न व्यङ्ग्यस्य कथंचिदपि प्राधान्य इति भावः। उद्देशे यदादिग्रहणं कृतं समासोक्तीत्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिरलङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानवव्यङ्ग्यानुवेशः सम्भावितः। तत्र सर्वत्र साधारणमुत्तरं दातुमुपक्रमते–*तदयमत्रेति।* कियद्वा प्रतिपदं लिख्यतामिति भावः। तत्र व्याजस्तुतिर्यथा–**

चरित व्यङ्ग्य के रूप में प्राधान्यतः प्रकाशित होता है। जिस प्रकार उद्यान चन्द्रोदयादि भाव लोगों के द्वारा जड़ कहा जा कर तिरस्कृत होते हैं; जब कि वे किसी विरही के मन में औत्सुक्य और चिन्ता प्रदान कर उसे दुःखी करते हैं। दूसरों को प्रसन्न रखते हैं। इस प्रकार स्वेच्छा से लोगों में विकार प्रवर्त्तनों द्वारा नचाते रहते हैं, 'ये कैसे हैं? इस प्रकार उनके हृदय के भाव को कोई नहीं जानता। यद्यपि वे महागम्भीर, अतिविदग्ध, सम्यक् गर्वहीन, क्रीडा करने में अत्यन्त चतुर हैं फिर भी लोग उन्हें जड़ कहते हैं, इस कारण उसी वैदग्ध्य के संभावन रूप निमित्त से ही संभावित किये जाते है। जिस कारण से किसी भाव की जड़ रूप से संभावना किया जाय उसी कारण

लोचनम्

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः॥

अत्र व्यङ्ग्यं स्तुत्यात्मकं यत्तेन वाच्यमेवोपस्क्रियते। यत्तूदाहृतं केनचित्-

आसीन्नाथ पितामही तव मही जाता ततोऽनन्तरं
माता सम्प्रति साम्बुराशिरशना जाया कुलोद्भूतये।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समग्रनीतिविदुषां किं भूपतीनां कुले॥

यदि लोग सहृदय संभावित है तो उन लोगों को यदि 'तुम जड़ हो' ऐसा कहा जाय तो इस प्रकार के अविदग्ध भावव्रात का जाड्य प्रसिद्ध है इस प्रकार स्तुति ही है। इससे यह ध्वनित होता है कि संसार के लोग जड़ से भी अधिक पापी हैं। इसी बात को कहते हैं- **यदात्विति। इतरथा त्विति** भाव यह कि क़िसी प्रकार व्यङ्ग्य के प्राधान्य न होने पर अलङ्कारान्तरत्व (अलङ्कारविशेषत्व) होगा ही। नामनिर्देश में जो आदि शब्द ग्रहण किया है वहां समासोक्ति इस स्थल में **समासश्च उक्तिश्च** इस प्रकार द्वन्द्व समास में उस कारण व्याजस्तुति प्रभृति अलङ्कार वर्ग में भी संभाव्यमान व्यङ्ग्य का अनुवेश है। वहाँ उन सबका साधारण उत्तर देने का उपक्रम करते हैं- **तदयमत्र संक्षेप इति।**

तब यहाँ इस प्रकार से संक्षेप में उसको प्रदर्शित करते हैं। **तदयमत्रेति** भाव यह है कि हम प्रत्येक पद पर कितना लिखें। व्याजस्तुति, जैसे- **किं वृत्तान्तैरिति-**

दूसरे आदमी के घर की बातों की चर्चा से हमें क्या लाभ? किन्तु मैं चुप-चाप रह भी नहीं सकता। क्योंकि दाक्षिणात्यों का स्वभाव है कि वे स्वभावतः मुखर (वाचाल) होते हैं। हा हन्त! हे राजन्! यह बड़े खेद की बात है कि आप की कीर्ति रूपा प्रिया घर-घर में, बाजारों में, चौराहों पर, पानगोष्ठी में पागलों की तरह घूमती रहती है।

यहाँ जो स्तुत्यात्मक व्यङ्ग्य है उससे वाच्य ही उपस्कृत होता है और किसी व्याजस्तुति का यह उदाहरण दिया है। **आसीदिति**

हे राजन्! पहले पृथ्वी तुम्हारी पितामही थी, इसके बाद तुम्हारी माता हुई, इस समय समुद्र रसना वाली यह तुम्हारे वंश को चलाने के लिये तुम्हारी पत्नी है और जब तुम्हारे सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे तब यह तुम्हारी अनिन्द्य पुत्रवधू हो जायगी। क्या समग्र नीति-वेत्ताओं वाले भूपतियों के कुल में ऐसा सदाचार ठीक कहा जा सकता

लोचनम्

इति, तदस्माकं ग्राम्यं प्रतिभात्यत्यन्तासभ्यस्मृतिहेतुत्वात्। का चानेन स्तुतिः कृता? त्वं वंशक्रमेण राजेति हि कियदिदम्? इत्येवंप्राया व्याजस्तुतिः सहृदयगोष्ठीषु निन्दितेत्युपेक्ष्यैव।

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु हेतुना येन।
गमयति तमभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ।।इति।

अत्रापि वाच्यप्राधान्ये भावालङ्कारता। यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी वाग्व्यापारादिर्विकारोऽप्रतिबन्धो नियतः प्रभवंस्तं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं येन हेतुना गमयति स हेतुर्यथेष्टोपभोग्यत्वादिलक्षणोऽर्थो भावालङ्कारः। यथा–

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन्नगृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ।।

अत्र व्यङ्ग्यमेकैकत्र पदार्थे उपस्कारकारीति वाच्यं प्रधानम्। व्यङ्ग्यप्राधान्ये तु न काचिदलङ्कारतेति निरूपितमित्यलं बहुना।।

है। लोचनकार कहते हैं कि हमें यह उदाहरण ग्राम्य मालूम पड़ता है, क्योंकि यह अत्यन्त असभ्य स्मृति उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं, इससे स्तुति ही क्या की गई? केवल इतना ही कि आप वंशक्रम से राजा हैं, यह कितनी स्तुति हुई? इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदयगोष्ठियों में निन्दित होने के कारण उपेक्षणीय ही है— **यस्य विकार इति** जिसका विकार अप्रतिबन्ध प्रतिबन्ध से रहित सर्वथा नियत होता हुआ जिस हेतु से उस अभिप्राय को तथा उसके प्रतिबन्ध को अभिव्यञ्जित करता है वह भाव है। यहाँ भी वाच्य के प्राधान्य होने से भावालङ्कारता है– जिस चित्रवृत्ति विशेष का सम्बन्धी वाग्व्यापारादि विकार अप्रतिबन्ध नियत होता हुआ उस चित्तवृत्ति विशेष रूप अभिप्राय को जिस हेतु से व्यञ्जित करता है, वह हेतु यथेष्टोपभोग्यत्वादि लक्षण अर्थ (मैं तुम्हारे यथेष्ट भोग के योग्य हूँ कोई प्रतिबन्धक नहीं है इस प्रकार नायिका का मनोगत अर्थ) भावालङ्कार होता है। जैसे **एकाकिनीति** में इस घर में– अकेली रहने वाली अबला हूँ, तरुणी भी हूँ, घर के मालिक परदेश गये हैं, यह मेरी वराकी (बेचारी) सास है जो अन्धी भी है, वधिरा भी है, अरे मूर्ख पथिक! फिर तू किससे अपने रहने के लिये स्थान माँगता है?

अर्थात् स्वच्छन्द होकर यहाँ निवास करो। यहाँ व्यङ्ग्य एक-एक पदार्थ में उपस्कारकारी है। वाच्य प्रधान है, व्यङ्ग्य को प्रधान मान भी लिया जाय तो भी कोई अलङ्कारता नहीं। इस बात को पहले निरूपण कर चुके हैं, अधिक कहना व्यर्थ है।

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः॥

वाच्यमात्र का अनुगम करने वाले व्यङ्ग्य का जहाँ अप्राधान्य होता है वहाँ समासोक्ति आदि अलङ्कार स्पष्ट हैं। जहाँ व्यङ्ग्य की प्रतिभामात्र (आभास) हो अथवा वह वाच्यार्थ का अनुगमन करता हो अथवा जहाँ व्यङ्ग्य का प्राधान्य न प्रतीत होता हो वहाँ ध्वनि नहीं होता। जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्य के प्रति तत्पर होकर ही स्थित हो उसी को ध्वनि का विषय मानना चाहिये। सङ्कर को नहीं।

लोचनम्

यत्रेति काव्ये। *अलङ्कृतय* इति। अलङ्कृतित्वादेव च वाच्योपस्कारकत्वम्। *प्रतिभामात्र* इति। यत्रोपमादौ म्लिष्टार्थप्रतीतिः। *वाच्यार्थानुगम* इति। वाच्येनार्थेनानुगमः समं प्राधान्यमप्रस्तुत-प्रशंसायामिवेत्यर्थः। *न प्रतीयत* इति। स्फुटतया प्राधान्यं न चकास्ति, अपि तु बलात्कल्प्यते, तथापि हृदये नानुप्रविशति। यथा–'देआ पसिअणिआतासु' इत्यत्रान्यकृतासु व्याख्यासु। तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिव्यवहारः सद्भावेऽपि व्यङ्ग्यस्य अप्राधान्ये म्लिष्टप्रतीतौ वाच्येन समप्राधान्येऽस्फुटे प्राधान्ये च। क्व तर्ह्यसावित्याह–*तत्परावेवेति*।

यत्रेति जहाँ काव्य में **अलङ्कृतय इति** अलङ्कार होने से ही वाच्य का उपस्कारकत्वा है, **प्रतिभा मात्र** इति जहाँ उपमा आदि में मलिन (मन्द = अस्पष्ट) अर्थ की प्रतीति होती है। **वाच्यार्थानुगमेऽपि वा** वाच्य अर्थ के साथ अनुगम (अर्थात् तुल्य) प्राधान्य अप्रस्तुतप्रशंसा की भाँति। **न प्रतीयते** स्पष्ट रूप से प्राधान्य ज्ञात नहीं होता है अपितु वहाँ कल्पित किया जाता है तथापि हृदय में प्रविष्ट नहीं होता। जैसे **प्रार्थये तावत् प्रसीद** इस पूर्वोद्धृत गाथा स्थल में दूसरों द्वारा की गई व्याख्याओं में। तात्पर्य यह कि ४ प्रकारों के व्यङ्ग्य रहते हुये भी वहाँ ध्वनि का व्यवहार नहीं होत (१) व्यङ्ग्य के अप्राधान्य में (२) व्यङ्ग्य के मलिन अथवा अस्पष्ट प्रतीति होने पर (३) वाच्य के साथ उसी के बराबर प्राधान्य होने पर (४) तथा अस्फुट होने पर। तो वह

ध्वन्यालोकः

तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः। इतश्च नान्तर्भावः; यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरङ्गानि–अलंकारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि वा तत्त्वं

इसलिये ध्वनि का अन्यत्र अन्तर्भाव नहीं है, क्योंकि ध्वनि को काव्यविशेषरूप अङ्गी कहा गया है। उसके अङ्ग अलङ्कार, गुण, वृत्ति होते हैं, जिनका आगे प्रतिपादन करेगे। अवयव ही पृथग्भूतहोकर अवयवी हो जाता है ऐसा नहीं। पृथग्भाव न होने पर ही अलङ्कारादि उस ध्वनि का अङ्ग होता है, न कि अङ्गी होंगे। जहाँ कहीं भी वे अलङ्कारादि यदि अङ्गी हों तो भी ध्वनि के महाविषय

लोचनम्

सङ्करेणालङ्कारानुप्रवेशसम्भावनया उज्झित इत्यर्थः। सङ्करालङ्कारेणेति त्वसत्, अन्यालङ्कारोपलक्षणत्वे हि क्लिष्टं स्यात्। *इतश्चेति*। न केवलमन्योन्यविरुद्धवाच्यवाचकभावव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसमाश्रयत्वान्न तादात्म्यमलङ्काराणां ध्वनेश्च यावत्स्वामिभृत्यवदङ्गिरूपाङ्गरूपयोर्विरोधादित्यर्थः। *अवयव* इति। एकैक इत्यर्थः। तदाह–*पृथग्भूत* इति। अथ पृथग्भूतस्तथा मा भूत्, समुदायमध्यनिपतितस्तर्ह्यस्तु तथेत्याशङ्क्याह–*अपृथग्भावे त्विति*। तदापि न स एक एव समुदायः, अन्येषामपि समुदायिनां तत्र भावात्; तत्समुदायिमध्ये च प्रतीयमानमप्यस्ति, न च तदलङ्काररूपं, प्रधानत्वादेव। तत्त्वलङ्काररूपं तदप्रधानत्वान्न ध्वनि;। तदाह–*न तु*

ध्वनि कहाँ होता है इस प्रश्न का उत्तर देते हैं– **तत्परावेव** सङ्कर अलङ्कार के अनुप्रवेश की संभावना से रहित। संकरालङ्कार से यह व्याख्यान असत् है क्योंकि अलङ्कारों को उपलक्षण मानने पर व्याख्यान क्लिष्ट हो जायगा। **इतश्च इति** और इस कारण भी। अर्थात् न केवल अलङ्कारों का और ध्वनि का परस्पर विरुद्ध वाच्य-वाचकभाव और व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव के कारण तादात्म्य नहीं, बल्कि स्वामी और भृत्य की भाँति भी अङ्गी रूप और अङ्गरूप के विरोध के कारण भी तादात्म्य नहीं है। **अवयव इति** अर्थात् एक-एक इसलिये कहते हैं **पृथग्भूत** यदि उस प्रकार पृथग्भूत न हो किन्तु समुदाय के बीच रहे इस आशङ्का पर कहते हैं– **अपृथग्भावे इति**, पृथग्भाव न होने पर भी वह एक समुदाय नहीं है, क्योंकि अन्य समुदायियों का भी वहाँ अस्तित्व है और समुदायियों के बीच में वह प्रतीयमान भी है और वह अलङ्कार रूप नहीं है, क्योंकि

ध्वन्यालोक:

तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव। 'सूरिभिः कथित' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।

होने से ध्वनि का उनमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता। **सूरिभिः**— सूरियों-विद्वानों ने ऐसा कहा है अर्थात् यह उक्ति उन्हीं विद्वानों के मतानुसार है, न कि यहाँ कथञ्चित् चल पड़ी है, ऐसा प्रतिपादन किया जा रहा है। प्रथम कोटि में सबसे आगे मुख्य विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि समस्त विद्याओं का मूल व्याकरण है। वे श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' ऐसा व्यवहार करते हैं—

लोचनम्

_तत्त्वमेवेति।_ नन्वलङ्कार एव कश्चित्त्वया प्रधानताभिषेकं दत्त्वा ध्वनिरित्यात्मेति चोक्त इत्याशङ्क्याह–_यत्रापि_ वेति। न हि समासोक्त्या-दीनामन्यतम एवासौ तथास्माभिः कृतः, तद्विविक्तत्वेऽपि तस्य भावात्, समासोक्त्याद्यलङ्कारस्वरूपस्य समस्तस्याभावेऽपि तस्य दर्शितत्वात् 'अत्ता एत्थ' इति 'कस्स वा ण' इत्यादि; तदाह–_न तन्निष्ठत्वमेवेति। विद्वदुपज्ञेति।_ विद्वद्भ्य उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेरिति बहुव्रीहिः। तेन 'उपज्ञोपक्रमम्' इति तत्पुरुषाश्रयं नपुंसकत्वं निरवकाशम्। _श्रूयमाणेष्विति।_

वह प्रधान है अत: जो अलङ्कार रूप है इसलिये अप्रधान होने के कारण ध्वनि नहीं है, इसीलिये कहा गया– **न तु तत्त्वमेव।** यदि कहा जाय कि तुम अलङ्कार ही को प्रधानता के पद पर अभिषिक्त कर उसे ही ध्वनि और आत्मा कहते हो? इस आशङ्का पर कहते है– **यत्रापीति वा–** वह इन समासोक्ति आदि अलङ्कारों में कोई अन्यतम अलङ्कार नहीं है जिसे हमने उस प्रकार किया है, क्योंकि समासोक्ति आदि के अभाव में भी उस ध्वनि का अस्तित्व बना रहता है। इसे हमने समासोक्ति आदि अलङ्कार के स्वरूप के समान स्वरूप वाले अलङ्कारं के अभाव में भी उस ध्वनि का अस्तित्व प्रदर्शित किया है– **अत्ता एत्थ** तथा **कस्स वा ण** इत्यादि। इसीलिये कहते हैं– **न तन्निष्ठत्वमेव** इसलिये उसमें अन्तर्भाव नहीं है। **विद्वदुपज्ञेति** यह विद्वानों से उपज्ञा अर्थात् सर्वप्रथम उपक्रम (आरम्भ) किया गया है जिस उक्ति का। यहाँ बहुव्रीहि समास है इसलिये **उपज्ञोपक्रमे तद्व्याचिख्यासायाम्'** इस सूत्र के अनुसार तत्पुरुष में होने वाले नपुंसकत्व का यहाँ कोई आधार नहीं बनता। **श्रूयमाणेष्विति**– शष्कुली सदृश

लोचनम्

श्रोत्रशष्कुलीं सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम्। तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति; ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् भर्तृहरिः–

य: संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाश्शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥ इति।

एवं घण्टादिनिर्ह्लादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः। तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् स एव–

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥ इति।

तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ। किञ्च वर्णेषु तावन्मात्रपरिमाणेष्वपि सत्सु। यथोक्तम्–

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः ।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम् ।।इति।

श्रोत्रदेश के आकाश में संतानक्रम से (वीचितरङ्ग की भाँति) आ कर अन्त वाले शब्द सुने जाते हैं, इस प्रक्रिया में उत्पन्न शब्द को श्रूयमाण कहते है। शब्द से उत्पन्न शब्द को श्रूयमाण कहा जाता है। वे श्रूयमाण अन्त्यज शब्द घण्टानुरणन के सदृश होते हैं उन्हें ही ध्वनि शब्द से कहा जाता हैं। जैसा कि भगवान् भर्त्तृहरि ने कहा है– **य इति**– जो करणों (जिह्वादि स्थानों) के संयोग और वियोग के कारण उत्पन्न होता है वह स्फोट कहा जाता है और उन श्रूयमाण शब्दों से उत्पन्न शब्दों को अन्यों ने (उत्पत्तिवादियों) ने ध्वनि कहा है।

इस प्रकार घण्टा आदि के शब्द के समय अनुरणनोपलक्षित व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि के नाम से व्यवहृत है तथा श्रूयमाण जो वर्ण जिन्हें नाद शब्द से कहा जाता है और अन्तिम बुद्धि से नितरां ग्राह्य स्फोट को अभिव्यञ्जित करने वाले जो वर्ण हैं वे ही ध्वनि शब्द से कहे गये हैं। जैसा कि उन्हीं भगवान् भर्तृहरि ने कहा है— **प्रत्ययैरिति**– अनिर्वचनीय एवं व्यक्त रूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों से उस शब्द में जो ध्वनियों द्वारा प्रकाशित होता है उसी से स्फोट का स्वरूप ज्ञात होता है।

इसलिये व्यञ्जक शब्द और अर्थ को भी ध्वनि शब्द से कहा गया है और उस परिमाण के वर्णों में जो श्रोत्रेन्द्रिय मात्र से गृहीत होते हैं, ध्वनि शब्द का व्यवहार होता है। जैसा कि कहा है— बुद्धि अल्प प्रयत्नों से (स्थानादि से उच्चारित शब्दों

ध्वन्यालोकः

तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्व-

उसी प्रकार उनके मत का अनुसरण करने वाले, काव्य के तत्त्व के द्रष्टा अन्य सूरियों ने भी वाच्य-वाचक, व्यंङ्ग्यार्थ, शब्द रूप व्यञ्जनाव्यापार और काव्य

लोचनम्

तेषु तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बितादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः। यदाह स एव–

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ इति।

अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः। तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्यपदेशोऽपि न न युक्तः। *वाच्यवाचकसंमिश्र इति।* वाच्यवाचकसहितः संमिश्र इति मध्यमपदलोपी समासः। 'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इतिवत्समुच्चयोऽत्र चकारेण विनापि। तेन वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि

को नहीं ग्रहण करती। जब वे सारे वर्ण स्पष्ट रूप से उच्चारित होते हैं तभी बुद्धि उसे ग्रहण करती है।

उतने ही अंशों में श्रूयमाण वर्णों में वक्ता का जो अन्य द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तिभेद रूप आत्मा जो प्रसिद्ध उच्चारण व्यापार से अधिक है उसी को 'ध्वनि' कहा गया है जैसा कि उन्होंने ही कहा है– **शब्दस्येति**– शब्द की अभिव्यक्ति के पहले जो वैकृत (द्रुत विलम्बितादि) शब्द वृत्तियों के भेद से ध्वनि मालूम पड़ते हैं, स्फोट उनसे भिन्न नहीं होता।

हमने भी प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा रूप शब्द-व्यापारों से अतिरिक्त व्यापार को ध्वनि कहा है, इस प्रकार व्यङ्ग्यादि चारों ध्वनि हैं। और उनके योग से समस्त काव्य भी ध्वनि है। इस कारण भेदव्यपदेश और अभेदव्यपदेश अयुक्त नहीं हैं। **वाच्यवाचकसम्मिश्र** इति– यहाँ **वाच्य-वाचकाभ्यां सहितः संमिश्रः** यह मध्यमपदलोपी समास है। **गोरश्वः पुरुषः पशुः** की भाँति यहाँ चकार का प्रयोग न होने पर भी समुच्चय (संकलन) है। **ध्वनतीति ध्वनिः**, इस व्युत्पत्ति से वाच्य अर्थ और वाचक शब्द दोनों संगृहीत है, जो दोनों का ध्वनन करे वह ध्वनि है। **ध्वन्यते**

ध्वन्यालोकः

साम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। न

पद से व्यवहार्य इन पाँचों को व्यञ्जकत्व की समानता के कारण ध्वनि कहा है। वक्ष्यमाण भेद-प्रभेद के संकलन से महाविषय (व्यापक) स्वरूप ध्वनि का प्रकाशन वह अप्रसिद्ध किसी अलङ्कार के विशेषमात्र के प्रतिपादन के सदृश नहीं

लोचनम्

व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। संमिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। अतएव साधारणहेतुमाह–*व्यञ्जकत्वसाम्यादिति।* व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः। यत्पुनरेतदुक्तं 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इत्यादि, तत्परिहरति–*न चैवं विधस्येति।* वक्ष्यमाणः प्रभेदो यथा-मुख्ये द्वे रूपे। तद्भेदा यथा–अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इत्यविवक्षितवाच्यस्य, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्येति। तत्राप्यवान्तरभेदाः। *महाविषयस्येति–* अशेषलक्ष्यव्यापिन इत्यर्थः। विशेषग्रहणेनाव्यापकत्वमाह। मात्रशब्देनाङ्गि-

विभावानुभावसंवलनयेति ध्वनिः इस व्युत्पत्ति से व्यङ्ग्य भी ध्वनि है। **ध्वननं (शब्द करना) ध्वनिः** इस व्युत्पत्ति से व्यस्तता रूप शब्दव्यापार ध्वनि है। वह अभिधादि रूप नहीं है बल्कि आत्मभूत है। वह भी ध्वननं इस व्युत्पत्ति के अनुसार है। काव्य शब्द से व्यपदेश्य जो अर्थ है वह भी ध्वनि है, क्योंकि वह पूर्वोक्त ४ प्रकार की ध्वनियों से युक्त है। अतएव साधारण हेतु कहते हैं– **व्यञ्जकत्वसाम्यादिति–** व्यङ्ग्य और व्ञ्जकभाव सब पक्षों में सामान्य रूप या साधारण हैं और जो कहा कि '**वाग्विकल्पानामानन्त्यात्**' अर्थात् वाणी के विकल्पों के आनन्त्य के कारण इत्यादि उसका परिहार करते हैं– **न चैवं विधस्येति** वक्ष्यमाण प्रभेद जैसे मुख्य रूप से दो रूप और उनके भेद जैसे अविवक्षित वाच्य के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य उनके भी अवान्तर भेद। **महाविषयस्येति** अर्थात् समस्त लक्ष्यों में व्याप्त रहने वाला।

ध्वन्यालोक:

च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

अस्ति ध्वनिः। स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन।

है, ऐसी स्थिति में उस ध्वनि के प्रति भावित चित्त वालों का संरम्भ (क्रोध) उचित ही है, किन्तु हमें उन लोगों के प्रति ईर्ष्या से अपनी बुद्धि कलुषित नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण किया गया।

अस्तीति– ध्वनि है। वह अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य भेद से सामान्यतः दो प्रकार का होता है।

लोचनम्

त्वाभावम्। तत्र ध्वनिस्वरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां तेन वा चमत्काररूपेण भावितमधिवासितमत एव मुकुलितलोचनत्वादिविकारकारणं चेतो येषामिति। *अभाववादिन इति।* अवान्तरप्रकारत्रयभिन्ना अपीत्यर्थः।

तेषां प्रत्युक्तौ फलमाह–*अस्तीति।* उदाहरणपृष्ठे भाक्तत्वं सुशङ्कं सुपरिहरं च भवतीत्यभिप्रायेणोदाहरणदानावकाशार्थं भाक्तत्वालक्षणीयत्वे प्रथमं परिहरणयोग्ये अप्यप्रतिसमाधाय भविष्यदुद्योतानुवादानुसारेण वृत्तिकृदेव प्रभेदनिरूपणं करोति–*स चेति।* पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यार्थाश्रयेण यथोचित्तं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम्। वाच्येऽर्थे तु ध्वनौ वाच्यशब्देन स्वात्मा

विशेषमात्रेति इस कथन से अलङ्कारों का अव्यापकत्व कहा। मात्र शब्द से अङ्गित्व का अभाव कहा। **तद्भावितचेतसामिति–** यहाँ बहुव्रीहि समास है अर्थात् उक्त ध्वनिस्वरूप में भावित (प्रणिहित) चित्त है जिनका अथवा चमत्कार रूप से भावित (अधिवासित) चित्त है जिनका, मुकलित लोचन होना आदि विकारों का कारण चित्त है। **अभाववादिन** इति। अर्थात् अवान्तर तीन प्रकार के उन भाववादियों से भिन्न मत वालों का भी खण्डन हो गया।

उस निराकरण का फल कहते हैं– ध्वनि है। उदाहरण देने पर उसमें भाक्तत्व की शङ्का तथा परिहार सुकर हो जायगा, इस अभिप्राय से उदाहरण देने के अवसर के लिये भाक्तत्त्व और अलक्षणीयित्व के पहले परिहरण योग्य होने पर भी उनका समाधान न करके अग्रिम उद्योत में अनुवाद के अनुसार वृत्तिकार ही प्रभेदों का निरूपण

लोचनम्

तेनाविवक्षितोऽप्रधानीकृतः स्वात्मा येनेत्यविवक्षितवाच्यो व्यञ्जकोऽर्थः। एवं विवक्षितान्यपरवाच्येऽपि। यदि वा कर्मधारयेणार्थपक्षे अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्चेति। विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति। तत्रार्थः कदाचिदनुपपद्यमानत्वादिना निमित्तेनाविवक्षितो भवति। कदाचिदुपपद्यमान इति कृत्वा विवक्षित एव, व्यङ्ग्यपर्यन्तां तु प्रतीतिं स्वसौभाग्यमहिम्ना करोति। अत एवार्थोऽत्र प्राधान्येन व्यञ्जकः, पूर्वत्र शब्दः। ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम्। अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्को विरोधः? *सामान्येनेति।* वस्त्वलङ्काररसात्मना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरुभाभ्यामेवाभ्यां सङ्गृहीत इति भावः। ननु तन्नामपृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य कि फलम्? उच्यते– अनेन हि नामद्वयेन ध्वननात्मनि व्यापारे पूर्वप्रसिद्धाभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रितयावगतार्थप्रतीतेः प्रतिपत्तृगतायाः प्रयोक्त्रभिप्रायरूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्वमुक्तमिति ध्वनिस्वरूपमेव नामभ्यामेव प्रोज्जीवितम्।

करते हैं– **स चेति** ध्वनि शब्द का अर्थ ५ प्रकार से किया जाता है। जैसे **ध्वन्यते येन, ध्वन्यते यत्र, ध्वन्यते यतः ध्वन्यते, यस्या ध्वन्यते यस्मै** इस प्रकार बहुव्रीहि समास के आश्रय से जहाँ जो अर्थ उचित लगे उसका सामानाधिकरण्य बना लेना चाहिये। जहाँ वाच्य अर्थ में ध्वनि का प्रयोग होगा वहाँ वाच्य शब्द से स्वात्मा कहा जायगा। इस प्रकार **अविवक्षितः अप्रधानीकृतः स्वात्मा** इस व्युत्पत्ति से अविवक्षितवाच्य का व्यञ्जक अर्थ होगा। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यत्व में भी समझना चाहिये। अथवा **अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्च।** इस प्रकार अविवक्षितवाच्य का तथा **विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति** इस प्रकार का कर्मधारय समास न मानने पर वहाँ अर्थ कभी अनुपपद्यमानत्व आदि निमित्त से अविवक्षित होता है। कभी उपपद्यमानत्व रूप से विवक्षित होता है और व्यङ्ग्यपर्यन्त प्रतीति को अपने सौभाग्य की महिमा से उत्पन्न करता है। अतएव वहाँ अर्थ प्राधान्यतः व्यञ्जक है और पहले में शब्द व्यञ्जक है। अब यहाँ शङ्का होती है कि विवक्षा और अन्यपर ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इस पर कहते हैं– अन्यपर रूप से विवक्षा ऐसा अर्थ करने पर कौन सा विरोध होगा? वस्तुतः ऐसा अर्थ करने से कोई विरोध नहीं होगा। **सामान्येनेति** अर्थात् वस्तु, अलङ्कार और रस से तीन भेदों वाला यह ध्वनि इन्हीं दोनों भेदों में संगृहीत हो जाता है। यहाँ शङ्का होती है कि ध्वनि नाम देने के पश्चात् इस नाम के रखने का लाभ क्या है? तब कहते हैं। इन दोनों नामों से ध्वनन रूप व्यापार में पूर्व प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणारूप तीनों व्यापारों से अर्थ की प्रतीति का और ग्रहण

ध्वन्यालोकः

तत्राद्यस्योदाहरणम्–

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

द्वितीयस्यापि–

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥१३॥

उसमें प्रथम का उदाहरण यथा **सुवर्णपुष्पामिति**-शूर, विद्वान् और जो सेवा करना जानता है ऐसे तीन ही प्रकार के पुरुष सुवर्णपुष्पा पृथ्वी का चयन (संकलन) करते हैं—

द्वितीयस्यापि शिखरिणीति– दूसरे विवक्षितान्यपरवाच्य का उदाहरण देते हैं- हे तरुणि! इस शुकशावक ने किस स्थान पर, कितने दीर्घकाल तक और कौन सा तप किया है जो तेरे अधर के समान लाल वर्ण वाले बिन्बफल को काट रहा है।

लोचनम्

सुवर्णपुष्पामिति। सुवर्णानि पुष्प्यतीति सुवर्णपुष्पा, एतच्च वाक्यमेवासम्भवत्स्वार्थमिति कृत्वाऽविवक्षितवाच्यम्। तत एव पदार्थमभिधायान्वयं च तात्पर्यशक्त्यावगमय्यैव बाधकवशेन तमुपहत्य सादृश्यात्सुलभसमृद्धिसम्भारभाजनतां लक्षयति। तल्लक्षणाप्रयोजनं शूरकृतविद्यसेवकानां प्राशस्त्यमशब्दवाच्यत्वेन गोप्यमानं सन्नायिका-कुचकलशयुगलमिव महार्घतामुपयद् ध्वन्यत इति। शब्दोऽत्र प्रधानतया व्यञ्जकः, अर्थस्तु तत्सहकारितयेति चत्वारो व्यापाराः।

करने वाला या ज्ञाता में रहने वाली प्रयोक्ता के अभिप्रायरूप विवक्षा का सहकारिता कहा है। इस प्रकार इन दोनों नामों से ध्वनि का स्वरूप ही प्रोज्जीवित किया गया है।

सुवर्णपुष्पामिति– यहाँ **सुवर्णानि पुष्प्यतीति सुवर्णपुष्पा** अर्थात् सुवर्ण को पुष्पित करती है। यह वाक्य ही ऐसा है जिसका स्वार्थ संभव नहीं हो रहा है। इस कारण यह वाक्य अविवक्षितवाच्य है। उसी से पदार्थ का अभिधान कर तात्पर्य शक्ति से अन्वय ज्ञात करा कर बाधक के कारण उस अन्वय का अपहनन कर सादृश्य के बल से सुलभ समृद्धि और संभार-भाजनता को लक्षणा द्वारा लक्षित करता है। उस लक्षणा का प्रयोजन शूर, कृतविद्य (विद्वान्) एवं सेवकों का प्राशस्त्य है। वह शब्द से वाच्य न होने के कारण नायिका के कुचकलश की भाँति गोप्यमान होकर महार्घता

लोचनम्

शिखरिणीति। न हि निर्विघ्नोत्तमसिद्धयोऽपि श्रीपर्वतादय इमां सिद्धिं विदध्युः। दिव्यकल्पसहस्त्रादिश्चात्र परिमितः कालः। न चैवंविधोत्तम-फलजनकत्वेन पञ्चाग्निप्रभृत्यपि तपः श्रुतम्। तवेति भिन्नं पदम्। समासेन विगलिततया प्रतीयेत, तव दशतीत्यभिप्रायेण। तेन यदाहुः– 'वृत्तानुरोधात्त्वदधरपाटलमिति न कृतम्' इति, तदसदेव; दशतीत्या-स्वादयति अविच्छिन्नप्रबन्धतया, न त्वौदरिकवत्परं भुङ्क्ते; अपि तु रसज्ञोऽत्रेति तत्प्राप्तिवदेव रसज्ञताप्यस्य तपःप्रभावादेवेति। शुकशावक इति तारुण्यादुचितकाललाभोऽपि तपस एवेति। अनुरागिणश्च प्रच्छन्नस्वाभि-प्रायख्यापनवैदग्ध्यचाटुविरचनात्मकविभावोद्दीपनं व्यङ्ग्यम्।

अत्र च त्रय एव व्यापाराः–अभिधा तात्पर्यं ध्वननं चेति। मुख्यार्थबाधाद्यभावे मध्यमकक्ष्यायां लक्षणायास्तृतीयस्या अभावात्। यदि

और चारुत्व दोनों को युगपद् ध्वनित करता है। यहाँ शब्द प्रधान रूप से व्यञ्जक है और अर्थ शब्द का सहकारी होने के कारण व्यञ्जक है। इस प्रकार यहाँ अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा और ध्वनि ये चारों व्यापार हो जाते हैं।

शिखरिणीति जहाँ बिना किसी विघ्न के उत्तमोत्तम सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ऐसे श्रीपर्वत आदि भी जिन सिद्धियों को नहीं दे सकते, इस प्रकार की फल प्राप्ति के लिये दिव्यकल्प सहस्रादि काल भी अत्यन्त परिमित काल है और इस प्रकार के उत्तम फल देने वाले पञ्चाग्नि आदि तप भी शास्त्रों में निर्दिष्ट नहीं है और न हमने परम्परया सुना ही है। यहाँ **'तव'** यह पद असमस्त है, सर्वथा पृथक् है। समास से अलग रखने पर इसका अर्थ होगा तुम्हारा दशन करता है– काटता है। इसी अभिप्राय से पद्यमें युष्मद् शब्द को असमस्त रूप में प्रयोग किया है अत: जो कहते हैं कि **छन्दोनुरोधेन त्वदधरपाटलम्** ऐसा नहीं कहा वह ठीक नहीं। दशन करता है– काटता है अर्थात् अविच्छिन्न रूप से आस्वादन करता है न कि पेटू की तरह सबका सब खा जाता है। अपितु रसज्ञ है, जिस प्रकार उस अधर की प्राप्ति तपस्या के प्रभाव से हुई उसी प्रकार उसकी रसज्ञता भी तपः प्रभावात् ही है। शुकशावक को तरुणाई की स्थिति में उचित काल का लाभ भी तपः प्रभाव ही है। यहाँ किसी नायिकानुरागी का अपने प्रच्छन्न अभिप्राय के प्रख्यापन के वैदग्ध्यसे चाटु रचना द्वारा तरुणी रूप आलम्बन विभाव का उद्दीपन व्यङ्ग्य है—

यहाँ तीन व्यापार है– अभिधा, तात्पर्य और ध्वनन। क्योंकि यहाँ मुख्यार्थबाध का अभाव होने से बीच कक्ष्या वाली तीसरी लक्षणा वृत्ति नहीं है। अथवा आकस्मिक

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते–

और जो भक्ति ध्वनि है यह कहा है, उसका प्रतिसमाधान करते है–

लोचनम्

वाऽऽकस्मिकविशिष्टप्रश्नार्थानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्याल्लक्षणा भवतु मध्ये। तस्यास्तु प्रयोजनं ध्वन्यमानमेव, तत्तुर्यकक्ष्यानिवेशि, केवलं पूर्वत्र लक्षणैव प्रधानं ध्वननव्यापारे सहकारि। इह त्वभिधातात्पर्यशक्ती। वाक्यार्थसौन्दर्यादेव व्यङ्ग्यप्रतिपत्तेः केवलं लेशेन लक्षणाव्यापारोपयोगोऽप्यस्तीत्युक्तम्। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये तु लक्षणासमुन्मेषमात्रमपि नास्ति, असंलक्ष्यत्वादेव क्रमस्येति वक्ष्यामः। तेन द्वितीयेऽपि भेदे चत्वार एव व्यापाराः॥१३॥

अत एवोभयोदाहरणपृष्ठ एव भाक्तमाहुरित्यनुभाष्य दूषयति। अयं भावः– भक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पर्यायवत्ताद्रूप्यम्? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्तकधर्मरूपतया लक्षणम्? उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुपलक्षणम्? तत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति–

विशिष्ट प्रश्नार्थ की उपपत्ति न होगी इसलिये मुख्यार्थबाध हो जाने पर सादृश्य से बीच में लक्षणा हो सकती है। इस लक्षणा का प्रयोजन ध्वन्यमान ही है, वह ध्वन्यमान प्रयोजन चतुर्थकक्षा में रहने वाला है। यदि दोनों उदाहरणों में भेद करें तो प्रतीत होगा कि पहले उदाहरण में पहले लक्षणा ही प्रधान बन कर ध्वनन व्यापार में सहकारिणी है और यहाँ दूसरे में अभिधा या तात्पर्य दोनों शक्तियाँ ध्वनन व्यापार में सहायिका है। वाक्यार्थ के सौन्दर्य से ही जब व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है ऐसी स्थिति में केवल लेशरूप से यहाँ लक्षणा व्यापार का भी उपयोग है ऐसा कहा गया। जहाँ व्यङ्ग्य के बोध का क्रम संलक्षित नहीं होता ऐसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में लक्षणा का समुन्मेष मात्र भी क्रम के संलक्ष्य न होने के कारण ही नहीं है यह कहेगे। इस प्रकार दूसरे भेद में भी चार ही व्यापार हैं।१३॥

इसलिये दोनों उदाहरणों के अनन्तर ही **भाक्तमाहुः** कथन कर दोष देते हैं। भक्ति और ध्वनि दो नाम इन्द्र, शक्र आदि पर्याय की भाँति क्या दोनों का ऐक्य या अभेद है? पृथ्वी के पृथिवीत्व की भाँति अतिरिक्त के व्यावर्त्तकरूप धर्म के कारण लक्षण है। अथवा **काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः** की भाँति देवदत्त के गृह का संभावनामात्र से उपलक्षण है? इन तीन पक्षों में प्रथम पक्ष का निराकरण करते हैं।

ध्वन्यालोक:

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात्। वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रं तु भक्तिः।

मा चैतत्स्याद्भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह–

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥१४॥

भक्त्येति- यह ध्वनि, रूपभेद के कारण भक्ति के साथ एकत्व (अभेद) धारण नहीं करता। यह उक्त प्रकार कही गई ध्वनि भिन्न रूप होने के कारण भक्ति से एकत्व (अभेद) प्राप्त नहीं करता। वाच्य से व्यतिरिक्त अर्थ का वाच्य-वाचक द्वारा तात्पर्यरूप से प्रकाशन जहाँ व्यङ्ग्य के प्राधान्य में हो वह ध्वनि है। भक्ति तो उपचारमात्र है– वह भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकेगी।

अतिव्याप्तेरिति– अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण वह ध्वनि उस भक्ति से लक्षित नहीं हो सकता। भक्ति से ध्वनि नहीं ही लक्षित होता है कैसे?

लोचनम्

भक्त्या बिभर्तीति। उक्तप्रकार इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्– शब्देऽर्थे व्यापारे व्यङ्ग्ये समुदाये च। रूपभेदं दर्शयितुं ध्वनेस्तावद्रूपमाह–*वाच्येति। तात्पर्येण* विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत्। *प्रकाशनं* द्योतनत्यिर्थः। *उपचारमात्रमिति।* उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः। मात्रशब्देनेदमाह– यत्र लक्षणाव्यापारात्तृतीयादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमान-त्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः। 'यमर्थमधिकृत्य' इति हि प्रयोजनलक्षणम्।

भक्त्या बिभर्तीति उक्त प्रकार इतना शब्द पाँचों अर्थों में– शब्द, अर्थ, व्यापार, व्यङ्ग्य, और समुदाय में जोड़ना। अर्थात् शब्द, अर्थ, व्यापार, व्यङ्ग्य और समुदाय इन पाँचों में रहने वाला उक्त प्रकार वाला ध्वनि। रूपभेद प्रदर्शित करने के लिये ध्वनि का स्वरूप कहते हैं– **वाच्येति** तात्पर्यरूप से विश्राम लेने का स्थान होने के कारण प्रयोजन होने से। प्रकाशन द्योतन। उपचारमात्र उपचारमात्र हा उपचार अर्थात् गुणवृत्ति लक्षणा उपचरण अर्थात् अतिशयित व्यवहार। मात्र से इतना कह सकते हैं– जहाँ तीसरे लक्षणाव्यापार से अतिरिक्त प्रयोजन द्योतन रूप चौथा व्यापार वस्तुस्थिति के साथ संभव होता हुआ उपयुज्यमान न होने के कारण सम्मान के योग्य न होकर नहीं

ध्वन्यालोकः

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम्? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्। यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। यथा–

अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण। ध्वनि से भिन्न स्थल में भी भक्ति संभव है इसलिये अतिव्याप्ति है। जहाँ व्यङ्ग्यकृत अधिक सौष्ठव नहीं है वहाँ भी कविजन प्रसिद्धिवश उपचारित शब्दव्यापार (गौणी वृत्ति) से व्यवहार करते देखे

लोचनम्

तत्रापि लक्षणास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्येकं तत्त्वं स्यात्। द्वितीयं पक्षं दूषयति–*अतिव्याप्तेरिति।* असाविति ध्वनिः। तयेति भक्त्या। ननु ध्वननमवश्यम्भावीति कथं तद्व्यतिरिक्तोऽस्ति विषय इत्याह–*महत्सौष्ठवमिति।* अत एव प्रयोजनस्यानादरणीयत्वाद् व्यञ्जकत्वेन न कृत्यं किञ्चिदिति भावः। महद्ग्रहणेन गुणमात्रं तद्भवति। यथोक्तम्–'समाधिरन्यधर्मस्य क्वाप्यारोपो विवक्षित' इति दर्शयति। ननु प्रयोजनाभावे कथं तथा व्यवहार इत्याह–*प्रसिद्ध्यनुरोधेति।* परम्परया तथैव प्रयोगात्।

वयं तु ब्रूमः– प्रसिद्धिर्या प्रयोजनस्यानिगूढतेत्यर्थः। उत्तानेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं चकासन्निगूढतां निधानवदपेक्षत इति भावः। वदतीत्युपचारे हि

के तुल्य होता है। प्रयोजन का लक्षण यह है– जिस वस्तु को ले कर कोई प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन होता है (**यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते' तत् प्रयोजनम्**) वहाँ भी लक्षणा होती है, इस प्रकार ध्वनन और लक्षणा एक तत्त्व किस प्रकार हो सकते हैं?

दूसरे पक्ष में दोष समुत्थापित करते हैं– अतिव्याप्ति होने के कारण। **असौ** ध्वनि **तया** उस भक्ति से। शङ्का करते हैं कि जब लक्षणा में ध्वनन अवश्यंभावी है ऐसी स्थिति में किस प्रकार वह उससे भिन्न विषय है। इस पर कहते हैं– **महत्सौष्ठवमिति** अर्थात् अधिक सौन्दर्य है। तात्पर्य यह कि प्रयोजन के आदरणीय न होने के कारण व्यञ्जक होने से कुछ नहीं होता। कोई गुणमात्र (अप्रधान) होता है जैसा कि कहा है– **समाधिरिति** दूसरे (अप्रस्तुत) के धर्म का कहीं पर जब आरोप विवक्षित हो तब समाधि नाम का गुणालङ्कार होता है। तब शङ्का करते हैं कि प्रयोजन के अभाव में कैसे उस प्रकार व्यवहार होगा, इस पर कहते हैं—**प्रसिद्ध्यनुरोधेनेति** प्रसिद्धिवश क्योंकि परम्परानुसार उस प्रकार का प्रयोग होता आया है। हम तो कहते हैं जो प्रयोजन की अनिगूढता (प्रकटता) है वही प्रसिद्धि है। जिस प्रकार निधान (खजाना) उत्तान रूप

ध्वन्यालोकः

परिम्लानं पीनस्तजनघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्॥

तथा–

चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुत्तम्मि।
विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम्॥
(शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्त्रकृत्वश्चुम्ब्यते।
विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम्॥
(इति च्छाया)

जाते हैं, जैसे– **परिम्लानमिति** दोनों ओर मोटे-मोटे स्तनों और जघन के संपर्क के कारण मुर्झाया हुआ, मध्यभाग (कटिप्रदेश) का संपर्क न प्राप्त कर हरा बना हुआ एवं शिथिल भुजलता के टेढे-मेढे फेंकने एवं मोड़ने की क्रियाओं से इधर-उधर अस्त-व्यस्त कमलिनी के पत्तों का यह शयन उस कृशाङ्गी के विरह संताप को अभिव्यक्त कर रहा है।

तथेति– प्रियजन को सौ बार चुम्बन करते हैं, हजार बार अवरोधन (आलिङ्गन) करते हैं, विराम कर रमण करते हैं फिर भी पुनरुक्त नहीं होता।

लोचनम्

स्फूटीकरणप्रतिपत्तिः प्रयोजतनम्। यद्यगूढं स्वशब्देनोच्येत, किमचारुत्वं स्यात्? गूढतया वर्णने वा किं चारुत्वमधिकं जातम्? अनेनैवाशयेन वक्ष्यति–यत उक्त्यन्तरेणाशक्यं यदिति। अवरुन्धिज्जइ आलिङ्ग्यते। पुनरुक्तमित्यनुपादेयता लक्ष्यते, उक्तार्थस्यासम्भवात्।

से प्रकाशित (सबके सामने प्रत्यक्ष) होने पर भी निगूहन की अपेक्षा रखता है। '**वदति**' इस उपचार में स्फुटीकरण की प्रतीति प्रयोजन है। यदि उसे प्रकट रूप से शब्दतः उक्त कर दिया जाता है तो क्या वह अचारुत्व हो जाता है, अथवा गूढ या अप्रकट रूप से वर्णन करने पर क्या चारुत्व अधिक हो जाता है? इसी आशय को लेकर आगे कहेंगे– क्योंकि दूसरी उक्ति से जो अशक्य है– इत्यादि।

पुनरुक्तेति– इससे अनुपादेयता लक्षित होती है, क्योंकि यहाँ पुनरुक्त शब्द का अर्थ प्रियजन के अर्थ में संभव नहीं, क्योंकि प्रिय कोई वचन नहीं है जहाँ पुनरुक्त

ध्वन्यालोकः

तथा–

कुविआओ पसन्नाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्नतमहिलाओ ॥

तथा–

अज्जाएँ पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे ।
मिउओ वि दूसहो व्विअ जाओ हिअए सवत्तीणम् ॥
(भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे ।
मृदुकोऽपि दुःसह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥
इति च्छाया)

उसी प्रकार **कुविआओ इति**– खिसियाई हुई प्रसन्न, रुआसी या हँसती चाहे जिस रूप से ग्रहण करो मनंचली औरतें मन हर लेती हैं।

और भी– प्रियतम ने जब अपनी कनिष्ठ भार्या के स्तन पर नवलता से प्रहार किया तब वह प्रहार मृदु होकर भी सपत्नियों के हृदय में दुःसह हो गया।

लोचनम्

कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितवदना विहसन्त्यः ।
यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥

अत्र ग्रहणेनोपादेयता लक्ष्यते। हरणेन तत्परतन्त्रतापत्तिः।

तथा–अज्जेति। कनिष्ठभार्यायाः स्तनपृष्ठे नवलतया कान्तेनोचित-क्रीडायोगेन मृदुकोऽपि प्रहारो दत्तः सपत्नीनां सौभाग्यसूचकं तत्क्रीडासंविभागमप्राप्तानां हृदये दुःसहो जातः, मृदुकत्वादेव। अन्यस्य दत्तो मृदुः प्रहारोऽन्यस्य च सम्पद्यते। दुस्सहश्च मृदुरपीति चित्रम्। दानेनात्र फलवत्त्वं लक्ष्यते।

का अन्वय सार्थक हो सके। **गृहीता इति** यहाँ ग्रहण शब्द से उपात्देयता लक्षित होती है और **हरन्ति** शब्द से परतन्त्र होना लक्षित होता है। **भार्यायाः प्रहार इति** कनिष्ठ भार्या के स्तन पर नवलता से प्रियतम के द्वारा (उचित क्रीडा काल में) दिया गया सौभाग्यसूचक मृदु भी प्रहार जिसे सपत्नियों ने क्रीडा संविभाग में नहीं प्राप्त किया था वह उनके हृदय में दुःसह हो गया मृदु होने पर भी। दूसरे को दिया गया मृदु प्रहार दूसरे को प्राप्त होता है। इतना ही नहीं वह मृदु होने पर भी दुःसह है। यह आश्चर्य है, यहाँ **प्रहार का दान** इस शब्द से उसकी सफलता लक्षित होती है।

ध्वन्यालोकः

तथा–

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः। न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः।

और भी– (जो सज्जनपक्ष में) दूसरों के लिये पीड़ा सहता है (इक्षु पक्ष में कोल्हू में पेरा जाता है) जो (सज्जन पक्ष में) अपमानित होने पर (इक्षु पक्ष में तोड़े जाने पर भी) मधुर बना रहता है। जिसका विकार (सज्जन पक्ष में) क्रोधादि (इक्षु पक्ष में) गुड़ादि भी सबको अच्छा लगता है। वह यदि किसी अनुचित स्थान में नियुक्त किये जाने पर वृद्धिः (इक्षुपक्ष में आकारवृद्धि) को प्राप्त न कर सके तो (सज्जनपक्ष में) निर्गुण स्वामी (इक्षुपक्षों में) खेत का दोष नहीं है।

लोचनम्

तथा– परार्थेति। यद्यपि प्रस्तुतमहापुरुषापेक्षयानुभवतिशब्दो मुख्य एव, तथाप्यप्रस्तुते इक्षौ प्रशस्यमाने पीडाया अनुभवनेनासम्भवता पीडावत्त्वं लक्ष्यते; तच्च पीड्यमानत्वे पर्यवस्यति।

नन्वस्त्यत्र प्रयोजनं तत्किमिति न ध्वन्यत इत्याशङ्क्याह–*न चैवं विध इति॥१४॥*

यत उत्त्यन्तरेणेति। उक्तत्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापारविशेषेणेत्यर्थः। शब्द इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्।

तथा परार्थेति– उसी प्रकार दूसरों के लिये– यद्यपि प्रस्तुत महापुरुष की अपेक्षा **अनुभवति** अनुभव करता है। यह शब्द मुख्य ही है, तथापि अप्रस्तुत इक्षु की प्रशंसा किये जाने पर वह संभव न होने से पीड़ा के अनुभव से पीड़ावान् यह अर्थ लक्षित होता है इसलिये वह पीड्यमान इस अर्थ में पर्यवसित होता है, शङ्का करते हैं कि यदि यहाँ प्रयोजन है तो क्यों नहीं ध्वनित होता? इस प्रकार की आशङ्का पर कहते है– **न चैवं विधः** ऐसा नहीं॥१४॥

यत उक्त्यन्तरणेति अर्थात् दूसरी उक्ति से अर्थात् ध्वनि से अतिरिक्त स्फुट शब्द और अर्थ के व्यापार-विशेष से। **शब्द** इति इसे पाँचों अर्थों में जोड़ना चाहिये

ध्वन्यालोकः

यतः–

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥१५॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः। किञ्च–

यतः उक्तीति– जो चारुत्व अन्य उक्तियों द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसे प्रकाशित करने वाला एवं व्यञ्जना व्यापार को धारण करने वाला शब्द 'ध्वनि' इस उक्ति का विषय होता है॥१५॥

यहाँ इन सभी उदाहरणों में शब्द दूसरी शक्ति से अशक्य चारुत्व की व्यञ्जना का हेतु नहीं है। **किंच-रूढा ये** इति– जो लावण्यादि शब्द अपने विषय से भी भिन्न अर्थ में रूढ (प्रसिद्ध) है वे भी प्रयुक्त होने पर ध्वनि के विषय नहीं होते।

लोचनम्

ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेदिति– ध्वनिशब्देनोच्यत इत्यर्थः। *उदाहृत इति।* वदतीत्यादौ॥१५॥

एवं यत्र प्रयोजनं सदपि नादरास्पदं तत्र को ध्वननव्यापार इत्युक्त्वा यत्र मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वननव्यापार इत्याह–*किञ्चेति।* लावण्याद्या ये शब्दाः स्वविषयाल्लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थादन्यत्र हृद्यत्वादौ रूढाः, रूढत्वादेव त्रितयसन्निध्यपेक्षण-व्यवधानशून्याः। यदाह–

'निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।'

ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ध्वनि इस उक्ति का विषय होता है, अर्थात् ध्वनि शब्द से कहा जाता है **उदाहृत इति वदति** इत्यादि में॥

इस प्रकार जहाँ प्रयोजन रहते हुये भी वह आदर का पात्र नहीं है वहाँ ध्वनन व्यापार कैसा? इतना कहने के बाद भी जहाँ मूलतः ही प्रयोजन नहीं है, किन्तु उपचार है वहाँ भी ध्वनन व्यापार कैसा? इस पर कहते हैं– **किञ्च** लावण्यादि जो शब्द **लवणरस से युक्तत्व** आदि अपने विषय रूप स्वार्थ से अन्यत्र हृद्यत्वादि अर्थादि में रूढ है और रूढ़ होने के कारण ही मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग और प्रयोजन इन तीनों के सन्निधान की अपेक्षारूप व्यवधान से रहित हैं जैसा कि कहा है– **निरूढेति।**

ध्वन्यालोकः

रुढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥१६॥

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति। तथाविधे च विषये क्वचित्सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते। न तथाविधशब्दमुखेन।

उन लावण्यादि शब्दों में उपचरित गौणी शब्दवृत्ति तो है, परन्तु ध्वनि नहीं है। इस प्रकार के उदाहरणों में यदि कहीं ध्वनि व्यवहार संभव भी हो तो उस प्रकार के लावण्य आदि शब्द द्वारा नहीं होता, अपितु प्रकारान्तर से होता है॥१६॥ और भी

लोचनम्

इति। ते तस्मिन् स्वविषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पदं भवन्ति; न तत्र ध्वनिव्यवहारः। उपचरिता शब्दस्य वृत्तिर्गौणी; लाक्षणिकी चेत्यर्थः। आदिग्रहणेनानुलोम्यं प्रातिकूल्यं सब्रह्मचारीत्येवमादयः शब्दा लाक्षणिका गृह्यन्ते। लोम्नामनुगतमनुलोमं मर्दनम्। कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्त्रोतः प्रतिकूलम्। तुल्यगुरुः सब्रह्मचारी इति मुख्यो विषयः। अन्यः पुनरुपचरित एव। न चात्र प्रयोजनं किञ्चिदुद्दिश्य लक्षणा प्रवृत्तेति न तद्विषयो ध्वननव्यवहारः।

ननु 'देवडिति लुणाहि पलुत्रम्मिगमिज्वालवणुज्वलं गुमरिफेल्लपरण्य' (?) इत्यादौ लावण्यादिशब्दसन्निधानेऽस्ति

कुछ निरूढ लक्षणायें प्रयोग–सामर्थ्य से अभिधान के समान ही होती हैं। लावण्यादि प्रयुक्त शब्द **लवणस्य भावः लावण्यम्** लवण से युक्त इस अपने विषय से अन्यत्र प्रयुक्त हो कर सौन्दर्य अर्थ में भी ध्वनि के विषय नहीं होते, उनमें ध्वनिव्यवहार भी नहीं होता। उपचरिता शब्द वृत्ति गौणी अर्थात् लाक्षणिकी है। लावण्यादि में आदि शब्द के ग्रहण से आनुलोम्य, प्रातिकूल्य सब्रह्मचारी इत्यादि प्रकार के लाणणिक शब्द गृहीत होते हैं। लोम के अनुगत जो हो उसे अनुलोम कहा जाता है अर्थात् लोम के अनुकूल जो हो अर्थात् रोम के अनुकूल मर्दन उसका अर्थ हुआ। कूल के प्रतिकूल रह कर स्थित रहने वाला स्त्रोत प्रतिकूल यह अर्थ हुआ। सब्रह्मचारी 'समानगुरु' अर्थ हुआ। परन्तु उन शब्दों का उन अर्थों में प्रयोग न होकर दूसरे-दूसरे अर्थों में होता है जो उपचरित (लाक्षणिक) ही है। यहाँ किसी प्रयोजनवश लक्षणा प्रवृत्त नहीं है, अतः तद्विषयक ध्वनन व्यापार नहीं हैं।

ध्वन्यालोकः

अपि च–

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥१७॥

और भी,

मुख्यामिति– जिस शैत्य पावनत्वादि को उद्देश्य (लक्ष्य) में रख कर मुख्य वृत्ति (अभिधा) को छोड़कर गुणवृत्ति द्वारा अर्थ का बोध कराया जाता है, वहाँ उस फल को बोधन करने में शब्द स्खलितार्थ (बाधितार्थ) नहीं है। उस

लोचनम्

प्रतीयमानाभिव्यक्तिः; सत्यम्, सा तु न लावण्यशब्दात्। अपि तु समग्रवाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरं ध्वननव्यापारादेव। अत्र हि प्रियतमामुखस्यैव समस्ताशाप्रकाशकत्वं ध्वन्यत इत्यलं बहुना। तदाह–*प्रकारान्तरेणेति।* व्यञ्जकत्वेनैव। न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगादित्यर्थः॥१६॥

एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति। तेन यदि ध्वनेर्भक्तिर्लक्षणं तदा भक्तिसन्निधौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहारः स्यादित्यतिव्याप्तिः। अभ्युपगम्यापि ब्रूमः–भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः। तथापि यद्विषयो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो ध्वननव्यापारः। न च भिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः, धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते। तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः। ध्वननं च प्रयोजनविषयम्। न च

शङ्का करते हैं कि 'देवडिति' इत्यादि में लावण्य आदि शब्दों के सन्निधान में प्रतीयमान की अभिव्यक्ति है, इस पर कहते हैं– ठीक है परन्तु यह अभिव्यक्ति लावण्य शब्द से नहीं है, अपितु समग्र वाक्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर ध्वनन व्यापार से ही है। यहाँ प्रियतमा के मुख का ही समस्त आशा का प्रकाशकत्व ध्वनित होता है। इससे अधिक कहना व्यर्थ होगा। इसी बात को कहते हैं– **प्रकारान्तरेण प्रवर्त्तते इति** व्यञ्जनाव्यापार से ही व्यवहार होता है न कि उपचरित लावण्यादि शब्द के प्रयोग से ध्वनित होता है।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ भक्ति है वहाँ-वहाँ ध्वनि हो ऐसी बात नहीं। यदि ध्वनि का लक्षण भक्ति है तब ऐसा मानने पर भक्ति के समीप सर्वत्र ध्वनि का व्यवहार होना चाहिए पर ऐसा नहीं होता, इसलिये अतिव्याप्ति (अलक्ष्य में लक्षण का संक्रमण) है। यदि हम इसे कथञ्चित् मान भी लें तब प्रकृत में **'यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः'** ऐसी व्याप्ति माननी पड़ेगी। किन्तु प्रकृत में लक्षणाव्यापार जिस विषय का है उस

ध्वन्यालोकः

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्। न चैवम्; तस्मात्–

चारुत्वातिशयविशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन के संपादन में यदि शब्द गौण (वाधितार्थ) हो तब तो उस शब्द का प्रयोग दूषित ही होगा। परन्तु ऐसा नहीं है।।१७।। अत:–

लोचनम्

तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः, लक्षणासामग्र्यभावादित्य-भिप्रायेणाह–*अपि चेत्यादि।* मुख्यां वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य परिसमाप्य गुणवृत्त्या लक्षणारूपयार्थस्यामुख्यस्य दर्शनं प्रत्यायना, सा यत्फलं कर्मभूतं प्रयोजनरूपमुद्दिश्य क्रियते, तत्र प्रयोजने तावद् द्वितीयो व्यापारः। न चासौ लक्षणैव; यतः स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्षणा। न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः। तथाभावे तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनानवस्थानात्। तेनायं लक्षणलक्षणाया न विषय इति भावः। दर्शनमिति ण्यन्तो निर्देशः। *कर्तव्य इति।* अवगमयितव्य इत्यर्थः। *अमुख्यतेति।* बाधकेन विधुरीकृततेत्यर्थः। *तस्येति* शब्दस्य। *दुष्टतैवेति।* प्रयोजनावगमस्य सुखसम्पत्तये हि स शब्दः

विषय का ध्वनन व्यापार नहीं है। भिन्न विषय वालों का धर्म-धर्मिभाव नहीं बनता। और धर्म ही लक्षण भी कहा जाता है। लक्षणा अमुख्यार्थविषयक व्यापार है और ध्वनन प्रयोजनविषयक व्यापार है। लक्षणाव्यापार को प्रयोजनविषयक व्यापार मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रयोजन विषय में लक्षणा (मुख्यार्थबाध) सामग्री का अभाव है। इस अभिप्राय से कहते हैं– **अपि चेत्यादि** मुख्यवृत्ति जिसे अभिधाव्यापार कहते हैं उसे छोड़कर अर्थात् परिसमाप्त कर लक्षणारूप गुणवृत्ति से अमुख्य अर्थ की प्रत्यायना (बोधन) है, वह जिस फल या जिस कर्मभूत प्रत्योजन को उद्देश्य कर की जाती है, वह उस प्रयोजन में दूसरा व्यापार है जो लक्षणा ही नहीं हैं, क्योंकि स्खलित होती हुई अर्थात् बाधक व्यापार से कुण्ठित गति अर्थात् अवबोधन शक्ति जिस शब्द की है उसका व्यापार लक्षणा है। जो शब्द प्रयोजन का बोध करा रहा है उसका बाधक के साथ सम्बन्ध नहीं होता। ऐसा मानने पर वहाँ यदि किसी बाधक को स्वीकार करते

ध्वन्यालोकः

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥१८॥

तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः। अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य।

वाचकत्वेति– वाचक के आश्रय से स्थित होने वाली गुणवृत्ति (भक्ति) केवल व्यञ्जनामूलक ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है॥१८॥

इसलिये ध्वनि अलग है और गुणवृत्ति अलग। इस लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है (लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः)। विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधा मूलध्वनि

लोचनम्

प्रयुज्यते तस्मिन्नमुख्यार्थे। यदि च 'सिंहो वटुः' इति शौर्यातिशयेऽप्यवगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं शब्दस्य तर्हि तत्प्रतीतिं नैव कुर्यादिति किमर्थं तस्य प्रयोगः। उपचारेण करिष्यतीति चेत्तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्यं तत्राप्युपचार इत्यनवस्था। अथ न तत्र स्खलद्गतित्वं, तर्हि प्रयोजनेऽवगमयितव्ये न लक्षणाख्यो व्यापारः तत्सामग्र्यभावात्। न च नास्ति व्यापारः। न चासावभिधा, समयस्य तत्राभावात्। यद्व्यापारान्तर-मभिधालक्षणातिरिक्तं स ध्वननव्यापारः। *न चैवमिति।* न च प्रयोगे दुष्टता काचित्, प्रयोजनस्याविघ्नेनैव प्रतीतेः। तेनाभिधैव मुख्येऽर्थे बाधकेन

हैं तो वहाँ भी किसी दूसरे निमित्त या किसी दूसरे प्रयोजक का अन्वेषण किया जाएगा, ऐसी स्थिति में अनवस्था होगी। अतः जहाँ बाधक योग नहीं है वहाँ लक्षणलक्षणा का विषय नहीं होता, इतना ही तात्पर्य है **गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्** जो दर्शन शब्द ण्यन्त है। (दिखाना या बोध कराना) **कर्त्तव्ये अवगमयितव्ये। अमुख्यता** अर्थात् बाधक से विधुर (वियुक्त) हो जाना।

शब्दस्य उस शब्द के **दुष्टतैव**। सुखपूर्वक प्रयोजन का बोध हो इसलिये वह शब्द अमुख्य अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। और यदि '**सिंहो वटुः**' इस स्थल में बोधनीय शौर्यातिशय में भी शब्द का स्खलद्गतित्व (बाधकयोग) है तब तो लक्षक शब्द उस शौर्यातिशय की प्रतीति को उत्पन्न नहीं करेगा, तब ऐसी स्थिति में उसका प्रयोग भी क्यों होगा? यदि कहिये कि उपचारवशात् प्रतीति करायेगा तब तो वहाँ भी दूसरा प्रयोजन खोजना पड़ेगा। फिर वहाँ भी उपचार होगा तो ऐसा मानने पर अनवस्था होगी। और जब स्खलद्गतित्व (बाधकयोग) नहीं है तब प्रयोजन के बोधन में लक्षणा नाम का व्यापार भी नहीं होगा। क्योंकि उसकी सामग्री का अभाव है। वहाँ व्यापार नहीं है ऐसा नहीं कह सकते, वहाँ अभिधा भी नहीं। क्योंकि समय (संकेत)

लोचनम्

प्रविवित्सुर्निरुध्यमाना सती अचरितार्थत्वादन्यत्र प्रसरति। अत एव अमुख्योऽस्यायमर्थ इति व्यवहारः। तथैव चामुख्यतया सङ्केतग्रहणमपि तत्रास्तीत्यभिधापुच्छभूतैव लक्षणा॥१७॥

उपसंहरति–*तस्मादिति।* यतोऽभिधापुच्छभूतैव लक्षणा, ततो हेतोर्वाचकत्वमभिधाव्यापारमाश्रिता तद्बाधनेनोत्थानात्तत्पुच्छभूतत्वाच्च गुणवृत्तिः गौणलाक्षणिकप्रकार इत्यर्थः। सा कथं ध्वनेर्व्यञ्जनात्मनो लक्षणं स्यात्? भिन्नविषयत्वादिति। एतदुपसंहरति–*तस्मादिति।*

यतोऽतिव्याप्तिरुक्ता तत्प्रसङ्गेन च भिन्नविषयत्वं तस्मादित्यर्थः। एवम् 'अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया' इति कारिकागतामतिव्याप्तिं व्याख्यायाव्याप्तिं व्याचष्टे–*अव्याप्तिरप्यस्येति।* अस्य गुणवृत्तिरूपस्येत्यर्थः। यत्र यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि भक्तिर्भवेन्न स्यादव्याप्तिः। न चैवम्; अविवक्षितवाच्येऽस्ति भक्तिः 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादौ। 'शिखरिणि' इत्यादौ तु सा कथम्। ननु लक्षणा तावद्रौणमपि व्याप्नोति। केवलं शब्दस्तमर्थं

का वहाँ अभाव है। अत: जो अभिधा और लक्षणा से अतिरिक्त व्यापार है, वही ध्वनन व्यापार है। **न चैवमिति** वहाँ ऐसे प्रयोग में कोई दोष है ऐसी बात नहीं, क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति में किसी विघ्न की संभावना नहीं है। इसलिये अभिधा के ही मुख्यार्थ में बाधक होने के कारण बोध की इच्छा रखने वालों द्वारा रोकी जाने से अचरितार्थ होने के कारण अन्य अर्थों में फैलती है (दूसरे अर्थ का बोध कराती है)। इसलिये इसका यह अर्थ अमुख्य है ऐसा व्यवहार चलता है। उसी प्रकार अमुख्य रूप से उसका सङ्केत ग्रहण भी वहीं वर्त्तमान है, इस प्रकार लक्षणा अभिधाकी पुच्छभूत हुई।

अब उपसंहार करते हैं– **तस्मादिति** जिस कारण लक्षणा अभिधा की पुच्छभूत है इस कारण उसका वाचकत्व रूप अभिधाव्यापार पर आश्रित रहता है। अभिधा के बाधित होने के बाद उसके उत्थान के कारण और उस अभिधा के पुच्छभूत होने से वह गुणवृत्ति है अर्थात् गौणलाक्षणिक प्रकार है। वह गुणवृत्ति व्यञ्जनारूप ध्वनि का कारण कैसे हो सकती है? क्योंकि विषय भिन्न-भिन्न है। अब उपसंहार करते हैं–

जिस कारण अतिव्याप्ति कह दी गयी और उसके प्रसङ्ग से गुणवृत्ति ध्वनि का भिन्न-भिन्न विषयत्व है यह भी कहा जा चुका। इस कारण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण वह ध्वनि भक्ति के लक्षण से गतार्थ नहीं हो सकता अर्थात् भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। १४वीं कारिका में **अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेः** कह आये है। इतना अतिव्याप्ति का व्याख्यान कर इस १८ वीं कारिका में **लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम्**

लोचनम्

लक्षयित्वा तेनैव सह सामानाधिकरण्यं भजते–'सिंहो बटुः' इति। अर्थोवाऽर्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन तद्वाचकं समानाधिकरणं करोति। शब्दार्थौ वा युगपत्तं लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिश्रीभवत इत्येवं लाक्षणिकाद् गौणस्य भेदः। यदाह–'गौणे शब्दप्रयोगः, न लक्षणायाम्' इति, तत्रापि लक्षणास्त्येवेति सर्वत्र सैव व्यापिका। सा च पञ्चविधा। तद्यथा–अभिधेयेन *संयोगात्;* द्विरेफशब्दस्य हि योऽभिधेयो भ्रमरशब्दः द्वौ रेफौ यस्येति कृत्वा तेन भ्रमरशब्देन यस्य संयोगः सम्बन्धः षट्पदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थो द्विरेफशब्देन लक्ष्यते, अभिधेयसम्बन्धं व्याख्यातरूपं निमित्तीकृत्य। *सामीप्यात्* 'गङ्गायां घोषः' *समवायादिति* सम्बन्धादित्यर्थः, 'यष्टीः प्रवेशय' इति यथा। *वैपरीत्यात्* यथा– शत्रुमुद्दिश्य कश्चिद् ब्रवीति–'किमिवोपकृतं न तेन मम' इति। *क्रियायोगादिति* कार्यकारणभावादित्यर्थः। यथा-अन्नापहारिणि व्यवहारः प्राणानयं हरति इति। एवमनया लक्षणया पञ्चविधया विश्वमेव व्याप्तम्। तथाहि– 'शिखरिणि' इत्यत्राकस्मिकप्रश्नविशेषादिबाधकानुप्रवेशे सादृश्याल्ल-

रूप अव्याप्ति का व्याख्यान करते हैं– **गुणवृत्तिरिति** गुणवृत्ति रूप भक्ति यदि ध्वनि का लक्षण मानें तब इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है।

वह इस प्रकार– जहाँ-जहाँ ध्वनि हो वहाँ-वहाँ भक्ति हो तब अव्याप्ति दोष न हो। पर ऐसा है नहीं है, अविवक्षितवाच्यध्वनि में भक्ति है, जैसे **सुवर्णपुष्पां** इत्यादि में।

यहाँ अविवक्षितवाच्यध्वनि तथा भक्ति हैं, किन्तु विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के दूसरे भेद **शिखरिणि** इत्यादि में यह कैसे है? ऐसी शङ्का है। लक्षणा गौणस्थल भी व्याप्त करती है। केवल सिंह आदि शब्द उस बटु आदि अर्थ को लक्षित कर उसी (बटु) के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त करता है। अथवा सिंह आदि अर्थ बटु आदि अर्थान्तर को लक्षित कर अपने वाचक से उसके वाचक को समानाधिकरण कर देता है। अथवा शब्द और अर्थ दोनों एक ही काल में उस बटु आदि अर्थ को लक्षित कर दूसरे शब्द और अर्थ के साथ मिल जाते हैं। इस प्रकार लाक्षणिक से गौण का भेद है। जैसा कि कहा है– गौण में शब्दप्रयोग होता है लक्षणा में नहीं। उस गौण स्थान में भी लक्षणा है ही, इस प्रकार वही सर्वत्र व्याप्त रहने वाली है। यह लक्षणा ५ पाँच प्रकार की है, जैसा कि द्विरेफ अभिधेय के साथ **संयोग** होने से द्विरेफ शब्द से अभिधेय जो भ्रमर शब्द है इसमें दो रेफ है। उन दोनों रेफों का भ्रमर शब्द के साथ शंयोग अर्थात् सम्बन्ध है ऐसा वह भ्रमर शब्द षट्पद रूप अर्थ वाला है, वही

ध्वन्यालोकः

न हि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः। अन्ये च बहवः प्रकारा भक्त्या व्याप्यन्त; तस्माद्भक्तिरलक्षणम्॥१८॥

और ध्वनि के अन्य अनेक प्रकारों में भक्ति या लक्षणा व्याप्त नहीं रहती इसलिये भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है।

लोचनम्

क्षणास्त्येव। नन्वत्राङ्गीकृतैव मध्ये लक्षणा, कथं तर्ह्युक्तं विवक्षितान्यपरेति ? तद्भेदोऽत्र मुख्योऽसंलक्ष्यक्रमात्मा विवक्षितः। तद्भेदशब्देन च रसभावतदाभासतत्प्रशमभेदास्तदवान्तरभेदाश्च, न च तेषु लक्षणया उपपत्तिः। तथाहि–विभावानुभावप्रतिपादके काव्ये मुख्येऽर्थे तावद्बाध-कानुप्रवेशोऽप्यसम्भाव्य इति को लक्षणावकाशः?

ननु किं बाधया, इयदेव लक्षणास्वरूपम्–'अभिधेयाविना-भूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।' इति। इह चाभिधेयानां विभावानुभावादीना-मविनाभूता रसादय इति लक्ष्यन्ते, विभावानुभावयोः कारणकार्यरूपत्वात्, व्यभिचारिणां च तत्सहकारित्वादिति चेत्–मैवम्; धूमशब्दाद् धूमे प्रतिपन्ने ह्यग्निस्मृतिरपि लक्षणाकृतैव स्यात्, ततोऽग्नेः शीतापनोदस्मृति-

अर्थ व्याख्यात अभिधेय सम्बन्ध को निमित्त कर द्विरेफ शब्द द्वारा लक्षित होता है। (२) अभिधेय के **सामीप्य** से, जैसे '**गङ्गायां घोषः**' यहाँ (३) **समवायरूप सम्बन्ध** से लक्षणा है। जैसे '**यष्टीः प्रवेशय**' इत्यादि स्थलों में (४) **वैपरीत्य** से लक्षणा, जैसे शत्रु को उद्देश्य करके कोई कहता है– **किमिवोपकृतं न तेन मम** अर्थात् उन्होंने मेरा कौन-सा उपकार नहीं किया है? (५) **क्रियायोग** से (अर्थात् कार्यकारणभाव से) जैसे अन्न का अपहरण करने वाले के प्रति **प्राणानयं हरति** यह हमारा प्राण-हरण करता है। इस प्रकार इन पञ्चविध लक्षणाओं से सारा विश्व ही व्याप्त है जैसा कि **शिखरिणि** इस स्थल में आकस्मिक प्रश्न विशेषादि बाधक का योग उपस्थित होने पर वहाँ सादृश्य लक्षणा है ही। तब यदि कहा जाय कि यहाँ मध्य में लक्षणा तो अङ्गीकार की ही गई है। तब कहते हैं– यदि ऐसा है तब वह विवक्षितान्यपरवाच्य कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि लक्षणा होने पर वाच्य का विवक्षित होना संभव नहीं।

यहाँ उस विवक्षितान्यपरवाच्य का मुख्य भेद असंलक्ष्यक्रमरूप विवक्षित है। 'तद्भेद' शब्द से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम आदि तथा उसके अवान्तरभेद भी हैं, उनमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं है। इस प्रकार– विभावानुभाव का

लोचनम्

रित्यादिरपर्यवसितः शब्दार्थः स्यात्। धूमशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तत्वान्न तावति व्यापार इति चेत्, आयातं तर्हि मुख्यार्थबाधो लक्षणाया जीवितमिति, सति तस्मिन्स्वार्थविश्रान्त्यभावात्। न च विभावादिप्रतिपादने बाधकं किञ्चिदस्ति।

नन्वेवं धूमावगमनानन्तराग्निस्मरणवद्विभावादिप्रतिपत्त्यनन्तरं रत्यादिचित्तवृत्तिप्रतिपत्तिरिति शब्दव्यापार एवात्र नास्ति। इदं तावदयं प्रतीतिस्वरूपज्ञो मीमांसकः प्रष्टव्यः–किमत्र परचित्तवृत्तिमात्रे प्रतिपत्तिरेव रसप्रतिपत्तिरभिमता भवतः? न चैवं भ्रमितव्यम्; एवं हि लोकगतचित्तवृत्त्यनुमानमात्रमिति का रसता? यस्त्वलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादिचर्वणाप्राणो नासौ स्मरणानुमानादिसाम्येन खिलीकारपात्रीकर्तव्यः। किं तु लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपि तु हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया पूर्णीभविष्यद्रसास्वा-दाङ्कुरी भावेनानुमानस्मरणादिसरणिमनारूह्यैव तन्मयीभवनोचित-

प्रतिपादन करने वाले काव्य में मुख्य अर्थ के बाधक का योग भी संभावनीय नहीं, ऐसी स्थितियों में लक्षणा का प्रसंग ही वहाँ क्या है?

संदेह करते हैं कि लक्षणा में मुख्यार्थबाध की कोई आवश्यकता नहीं है। हम लक्षणा का मात्र इतना ही स्वरूप मानते हैं, **अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणा।** अभिधेय के साथ-साथ जिसकी प्रतीति हो वह लक्षणा है। यहाँ अभिधेय विभावानुभावादिकों का अविनाभूत रसादि लक्षित किया गया है, क्योंकि रसादि के विभाव और अनुभाव क्रमशः कारण एवं कार्य हैं और व्यभिचारीभाव उस रसादि के सहकारी हैं, इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं– **न हीति** ऐसा नहीं। क्योंकि ऐसी स्थिति में धूम शब्द से धूम का ज्ञान होने पर लक्षणया अग्नि की स्मृति भी होने लगेगी। तब अग्नि के द्वारा शीतापनोदन की भी स्मृति होने लगेगी। ऐसा मानने पर धूम शब्द का अर्थ पर्यवसित (श्रान्त) नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि धूम शब्द के अपने अर्थ धूमत्व धूमविशिष्ट अर्थ में विश्रान्त होने के कारण उसका अग्नि आदि के अर्थ में व्यापार नहीं है, तब तो ऐसा मान लेने पर मुख्यार्थबाधरूप लक्षणा जीवित ही रह गई। उस मुख्यार्थबाध के रहते अपने अर्थ में विश्रान्ति नहीं हो सकती। विभावादि के प्रतिपादन में कोई बाधक नहीं है। इसलिये वहाँ लक्षणा का अवसर नहीं है। यहाँ शङ्का होती है कि जिस प्रकार धूम के ज्ञान के पश्चात् अग्नि का स्मरण होता है उसी प्रकार विभावादि की प्रतीति के पश्चात् रत्यादि

लोचनम्

चर्वणाप्राणतया। न चासौ चर्वणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्वं, येनेदानीं स्मृतिः स्यात्। न चाधुना कुतश्चित्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात्। अत एवालौकिक एव विभावादिव्यवहारः। यदाह–'विभावो विज्ञानार्थः लोके कारणमेवाभिधीयते न विभावः। अनुभावोऽप्यलौकिक एव। 'यदयमनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनयस्तस्मादनुभाव' इति। तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेव ह्यनुभवनम्। लोके तु कार्यमेवोच्यते नानुभावः। अत एव परकीया न चित्तवृत्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिसंस्कारसुन्दरचर्वणोदयात्। हृदयसंवादोपयोगिलोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थायामुद्यानपुलकादिभिः स्थायिभूतरत्याद्यवमगाच्च। व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवश एव चर्व्यत इति विभावानुभावमध्ये गणितः, अत एव रस्यमानताया एषैव

चित्तवृत्ति की प्रतीति होती है। अत: यहाँ शब्द का व्यापार ही नहीं है। इस प्रकार की शङ्का करने पर कहते हैं कि प्रतीति के स्वरूप को जानने वाले मीमांसक से यह पूछना चाहिये कि क्या यहाँ आप को दूसरे की चित्तवृत्तिमात्र के सम्बन्ध में जो प्रतीति होती है वही इस प्रतीति के रूप में क्या आप को अभिमत है? परन्तु इस प्रकार आप को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये, क्योंकि ऐसी स्थिति में लोकगत चित्तवृत्ति का यह अनुमानमात्र है, रसता कैसी? जो कि अलौकिक चमत्कार रूप रसास्वाद है जिसका प्राण विभावादि की चर्वणा है उसे स्मरणजनित अनुमान के समान तुच्छता (असम्मान) का पात्र नहीं करना चाहिए। किन्तु लौकिक कार्यकारण के अनुमान आदि से संस्कृत हृदय वाला व्यक्ति विभावादि को काव्य, नाटक आदि से अवगत कराता हुआ तटस्थ भाव से ज्ञात नहीं करता। अपितु हृदयसंवाद जिसका पर्याय सहृदयत्व भी है, उसी से परवश होने के कारण पूर्णता को प्राप्त करने वाले रसास्वाद के अङ्कुरित होकर अनुमान और स्मरण आदि की सरणि पर आरुढ़ हुये बिना ही तन्मय होने की उचित चर्वणा के उपयोग से उस विभावादि को अवगत करता है। पहले वह चर्वणा प्रमाणान्तर से उत्पन्न नहीं होती जिससे इस समय प्रमाणान्तर से उत्पन्न हो रही हैं, क्योंकि किसी अलौकिक वस्तु के प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यवहार नहीं होता। जैसा कि कहा भी है– विभाव विशेष ज्ञान की वस्तु है। वह लोक में कारण ही कहा जाता है विभाव नहीं। अनुभाव भी तो अलौकिक ही होता है। वाणी, अङ्ग और सत्त्व से किया हुआ अभिनय

लोचनम्

निष्पत्तिः, यत्प्रबन्धप्रवृत्तबन्धुसमागमादिकारणोदितहर्षादिलौकिकचित्त-वृत्तिन्यग्भावेन चर्वणारूपत्वम्। अतश्चर्वणात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम्, प्रमाणव्यापारवत्। नाप्युत्पादनम्, हेतुव्यापारवत्।

ननु यदि नेयं ज्ञाप्तिर्न वा निष्पत्तिः, तर्हि किमेतत्? न न्वयमसावलौकिको रसः, ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः, उत कारकः? न ज्ञापको न कारकः, अपि तु चर्वणोपयोगी। ननु क्वैतद् दृष्टमन्यत्र। यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम्। नन्वेवं रसोऽप्रमाणं स्यात्; अस्तु, किं ततः? तच्चर्वणात् एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनीयम्। नन्वप्रमाणकमेतत्; न स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। ज्ञानविशेषस्यैव चर्वणात्मत्वात् इत्यलं बहुना। अतश्च रसोऽयमलौकिकः। येन ललितपरुषानुप्रा-सस्यार्थाभिधानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वम्; का तत्र लक्षणायाः शङ्कापि? काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयो लोकः, न तु काव्यस्य; तत्र 'उपादायापि

अनुभवन कराता है, इस कारण उसे अनुभाव कहते हैं। उन चित्तवृत्तियों में तन्मय हो जाना ही अनुभवन है। उसी को लोक में कार्य कहते हैं अनुभाव नहीं। इसीलिये परकीय चित्तवृत्ति का सामाजिक लोग अनुभव नहीं करते। इसी अभिप्राय से **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः** इस सूत्र में स्थायीभाव का ग्रहण नहीं किया है। यतः उसका ग्रहण शल्यभूत (विरुद्ध) हो जाता। स्थायीभाव का रसरूप में परिणत होना औचित्य के कारण कहा जाता है, क्योंकि वह औचित्य विभावअनुभाव और उचित वृत्ति के संस्कार से सुन्दर चर्वणा के उदय से होता है। और हृदयसंवाद की उपयोगिनी लोक चित्तवृत्ति के परिज्ञान की अवस्था में उद्यान, पुलकादि से स्थायीभूत इत्यादि के अवगम से औचित्य होता है। वह चित्तवृत्ति रूप होने पर भी व्यभिचारी मुख्य चित्तवृत्ति के परवश ही होकर चर्वित होता है इसीलिए उसकी गणना विभाव और अनुभाव के बीच में ही की गई है। रस्यमानता की यही निष्पत्ति है कि जो समय से प्रवृत्त बन्धु समागम आदि कारण से उत्पन्न हर्ष आदि लौकिक चित्तवृत्ति के तिरोभाव से चर्वणा की स्थिति है इसलिये चर्वणा यहाँ अभिव्यञ्जन ही है, न कि ज्ञापन। इन्द्रियादि प्रभावों के व्यापार की भाँति वह चर्वणादि रूप व्यापार भी नहीं है दण्ड चक्रादि हेतुभूत व्यापार की भाँति।

यहाँ संदेह करते हैं कि यदि वह रसचर्वणा न ज्ञप्ति है और न तो निष्पत्ति तो फिर है क्या? इसका उत्तर देते हैं कि रस तो अलौकिक है। फिर प्रश्न करते हैं

लोचनम्

ये हेया' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुपयोग एवेति शब्दस्यापीह ध्वननव्यापारः। अत एवालक्ष्यक्रमता। यत्तु वाक्यभेदः स्यादिति केनचिदुक्तम्, तदनभिज्ञतया। शास्त्रं हि सकृदुच्चारितं समयबलेनार्थं प्रतिपादयद्युगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात्कथमर्थद्वयं प्रत्याययेत्। अविरुद्धत्वे वा तावानेको वाक्यार्थः स्यात्। क्रमेणापि विरम्यव्यापारायोगः पुनरुच्चारितेऽपि वाक्ये स एव, समयप्रकरणादेस्तादवस्थ्यात्। प्रकरणसमयप्राप्यार्थतिरस्कारेणार्थान्तर-प्रत्यायकत्वे नियमाभाव इति तेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति श्रुतौ 'खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमे'ति प्रसज्यते। तत्रापि न काचिदियत्तेत्यनाश्वासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम्। इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणाविषयतोन्मुखमिति समयाद्युपयोगाभावः न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमदः। तत्रोत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्। इह तु

कि विभावादि यहाँ ज्ञापक हेतु हैं अथवा कारक हेतु? इसका उत्तर देते हैं कि वह न तो ज्ञापक हेतु है और न कारक। किन्तु वह चर्वणा में उपयोगी है। तब पुनः प्रश्न करते हैं कि क्या आपने अन्यत्र कहीं देखा है? इसका उत्तर देते हैं– जिस कारण उसे अन्यत्र कहीं नहीं देखा है इसीलिये तो अलौकिक कहा गया? फिर प्रश्न करते हैं कि तब तो रस अप्रमाण होगा। उत्तर देते हैं कि हो, उससे क्या? जब उसकी चर्वणा से ही प्रीति और व्युत्पत्ति सिद्ध हो जाती है तो और क्या चाहिये? पुनः शङ्का करते हैं कि इस कथन का कोई प्रमाण नहीं। समाधान करते हैं कि नहीं ऐसी बात नहीं। यह तो अपने संवेदन से स्वयं सिद्ध है, क्योंकि चर्वणा ज्ञान विशेषरूप ही है। इस विषय में बहुत कहना व्यर्थ है। इस विषय में केवल इतना कहना पर्याप्त है कि यह रस अलौकिक है जिस कारण अर्थाभिधान में उपयोगी न होने पर भी ललित एवं अनुप्रास का भी रस में व्यञ्जकत्व है। फिर वहाँ लक्षणा की शङ्का ही क्यो? काव्यात्मक शब्द के निष्पीडन से ही रसचर्वणा देखी जाती है, क्योंकि सहृदयजन बारम्बार काव्य पढ़ते हुये और उससे उत्पन्न रसचर्वण करते देखे जाते हैं। काव्यरूप शब्द का चर्वण करते हुये वे नहीं देखे जाते। वहाँ '**उपादायापि ये हेया**' (उपादान कर भी जो त्याज्य हैं) इस न्याय से जिसकी प्रतीति कर ली गई उसका उपयोग ही नहीं, इसलिये शब्द का भी ध्वनन व्यापार है इसीलिये उसकी अलक्ष्यक्रमता भी है। जो किसी ने कहा है– यहाँ वाक्यभेद संभव है वह अज्ञानवश न जानने के कारण से हैं। क्योंकि शास्त्र एकबार उच्चरित होकर समय (संकेत) के बल से अर्थ का

लोचनम्

विभावादिचर्वणाद्भुत-पुष्पवत्तत्कालसारैवोदिता न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनीति लौकिकादास्वादाद्योगिविषयाच्चान्य एवायं रसास्वादः। अत एव 'शिखरिणि' इत्यादावपि मुख्यार्थबाधादिक्रममनपेक्ष्यैव सहृदया वक्त्र्यभिप्रायं चाटुप्रीत्यात्मकं संवेदयन्ते। अत एव ग्रन्थकारः सामान्येन विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ भक्तेरभावमभ्यधात्। अस्माभिस्तु दुर्दुरूटं प्रत्याययितुमुक्तम्–भवत्वत्र लक्षणा, अलक्ष्यक्रमे तु कुपितोऽपि किं करिष्यसीति। यदि तु न कुप्यते 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादावविवक्षितवाच्येऽपि मुख्यार्थबाधादिलक्षणासामग्रीमनपेक्ष्यैव व्यङ्ग्यार्थविश्रान्तिरित्यलं बहुना। उपसंहरति–*तस्माद्भक्तिरिति॥१८॥*

प्रतिपादन करता हुआ एक कालावच्छेदेन दो विरुद्ध अनेक संकेतों की स्मृति के न होने के कारण किस प्रकार दो भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रत्यायक (बोधक) होगा। अविरुद्ध होने पर उतना एक ही वाक्यार्थ होगा। क्रम से भी एक व्यापार के विरत हो जाने पर पश्चात् व्यापार नहीं होता। यदि पुनः वाक्य का उच्चारण कर वाक्यभेद किया जायेगा तब भी वही संकेत और प्रकरण आदि उसी प्रकार बने रहेंगे। प्रकरण और संकेत से प्राप्त होने वाले अर्थ का तिरस्कार कर उसको दूसरे अर्थ के प्रत्यायक (बोधक) होने में कोई नियम नहीं है। इसलिये **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः** इस वेदवाक्य में '**खादेच्छ्वमांसम्**' यह अर्थ नहीं होगा। यहाँ कौन सी प्रमा है? यह बात प्रसक्त होगी। दूसरे अर्थ की भी कोई इयत्ता नहीं है। इस प्रकार अनिश्चितार्थक होने के कारण उपर्युक्त वाक्यभेद से दोष ही आता है। काव्य में विभावादि ही प्रतिपद्यमान होकर चर्वणा का विषय होने के लिये उन्मुख हैं, तब ऐसी स्थिति में संकेत आदि का कोई उपयोग नहीं। मैं इस कार्य में नियुक्त हूँ। इसे करूँ क्या? अथवा मैं अपना काम पूरा कर चुका। इस प्रकार की शास्त्रीय प्रतीति के समान काव्यजन्य प्रतीति नहीं होती। क्योंकि शास्त्रीय प्रतीति में उत्तरकाल में उस कर्त्तव्य के प्रति उन्मुखता होने के कारण उसमें लौकिकता है, किन्तु यहाँ ऐन्द्रजालिक पुष्प की भाँति विभावादि चर्वणा उसी समय पूर्णरूप से उदित हो जाती है, न कि पूर्वापर काल में अनुबन्धिनी है, इस प्रकार यह काव्यरसास्वाद लौकिक आस्वाद से तथा योगी के विषय से भी अन्य ही है। इसलिये 'शिखरिणि' इत्यादि पद्य में मुख्यार्थबाध की अपेक्षा के बिना सहृदयलोग चाटुप्रीतिरूप वक्ता के अभिप्राय को समझ जाते हैं। इसीलिये ग्रन्थकार ने सामान्यरूप से विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में भक्ति (लक्षणा) का अभाव कहा है। इतनी बात हमने हठवादी दुर्दुरूटों को समझाने के लिये कही है। फिर भी यहाँ कथञ्चिल्लक्षणा मान भी लें, परन्तु अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में कुपित होकर क्या करोगे? यदि कुपित नहीं

ध्वन्यालोकः

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत; यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः। किं च

कस्यचिदिति– भक्ति ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण तो हो ही सकती है। वह भक्ति वक्ष्यमाण ध्वनि के प्रभेदों में से किसी एक भेद के उपलक्षण रूप में संभावित हो सके और यदि गुणवृत्ति से ही ध्वनि लक्षित होता है यदि ऐसा कहें तब अभिधा व्यापार से ही तदितर समग्र अलङ्कार वर्ग लक्षित होता है ऐसा भी कह सकते हैं, ऐसी स्थिति में अलङ्कार शक्ति वेत्ताओं द्वारा समग्र अलङ्कारों का अलग-अलग लक्षण करने का सारा प्रयास व्यर्थ होगा। और भी,

लोचनम्

ननु मा भूद् ध्वनिरिति भक्तिरिति चैकं रूपम्। मा च भूद्भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणम्। उपलक्षणं तु भविष्यति; यत्र ध्वनिर्भवति, तत्र भक्तिरप्यस्तीति भक्त्युपलक्षितो ध्वनिः। न तावदेतत्सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धं? किं वा नः त्रुटितम्? इति तदाह–*कस्यचिदित्यादि।* ननु भक्तिस्तावच्चिरन्तनैरुक्ता, तदुपलक्षणमुखेन च ध्वनिमपि समग्रभेदं लक्षयिष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च। किं तल्लक्षणेनेत्याशङ्क्याह–*यदि चेति।*

होते हो तब **'सुवर्णपुष्पाम्'** इस अविवक्षितवाच्यध्वनि में भी मुख्यार्थबाध आदि लक्षणा की सामग्री की अपेक्षा न करके ही वहाँ व्यङ्ग्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है। अब इससे आगे कहना व्यर्थ है। उपसंहार करते हुये कहते हैं— **भक्तिरलक्षणम्** अर्थात् भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है।

अब यहाँ शङ्का करते है कि ध्वनि और भक्ति भले ही दोनों एक रूप न हों और भक्ति ध्वनि का लक्षण भी न हों, परन्तु भक्ति ध्वनि का उपलक्षण तो हो सकती है। जहाँ-जहाँ ध्वनि है वहाँ-वहाँ भक्ति भी है, इस प्रकार ध्वनि भक्ति से उपलक्षित हो सकती है। इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि यह उपलक्षण सर्वत्र बन नहीं सकता और इतने से भक्तिवादी का क्या प्रयोजन सिद्ध हो गया और कौन हमारी हानि हो गई। इसी पर कहते हैं— **कस्यचिदित्यादि**। पुनः शङ्का करते है कि भक्ति को प्राचीनों ने कहा है उसे ही उपलक्षण मान कर समग्र भेदसहित ध्वनि को भी लक्षित कर लेंगे और उसे जान भी लेंगे फिर ध्वनि के लक्षण से क्या? इस शङ्का का समाधान

ध्वन्यालोकः

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः॥१९॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः; यस्माद् ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन्न-

लक्षणेऽन्यैरिति– यदि किन्हीं दूसरे लोगों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो उससे हमारे ही पक्ष की सिद्धि है क्योंकि ध्वनि है, यही हमारा पक्ष है। और वह पहले ही सिद्ध हो गया, इसलिये हम तो बिना प्रयत्न के ही सफल मनोरथ

लोचनम्

अभिधानाभिधेयभावो ह्यलङ्काराणां व्यापकः; ततश्चाभिधावृत्ते वैयाकरणमीमांसकैर्निरूपिते कुत्रेदानीमलङ्कारकाराणां व्यापारः। तथा हेतुबलात्कार्यं जायत इति तार्किकैरुक्ते किमिदानीमीश्वरप्रभृतीनां कर्तॄणां ज्ञातॄणां वा कृत्यमपूर्वं स्यादिति सर्वो निरारम्भः स्यात्। तदाह–*लक्षणाकरणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति*। मा भूद्वाऽपूर्वोन्मीलनं पूर्वोन्मीलितमेवास्माभिः सम्यङ्निरूपितं, तथापि को दोष इत्यभिप्रायेणाह–*किं चेत्यादि*। *प्रागेवेति*। अस्मत्प्रयत्नादिति शेष एवं त्रिप्रकारमभाववादं, भक्त्यन्तर्भूततां च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्ये निराकृतमेव। अत एव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति–*येऽपीत्यादिना*। उक्तया

करते हुये कहते हैं– **यदि चेति** अलङ्कारों का अभिधानाभिधेयभाव व्यापक है, ऐसी स्थिति में वैयाकरण और मीमांसक आचार्यों द्वारा अभिधा व्यापार के निरूपण कर दिये जाने पर आलङ्कारिक आचार्यों का व्यापार क्या महत्त्व रखेगा? उसी प्रकार हेतु के बल से कार्य होता है ऐसा तार्किकों के द्वारा कहे जाने पर ईश्वर प्रभृति कर्त्ताओं एवं ज्ञाताओं का कार्य अर्पूव क्यों होगा? इस प्रकार सब कुछ निरारम्भ होने लगेगा। इसी बात को कहते हैं— **लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति**। पुनः शङ्का करते हैं कि अपूर्व वस्तु का उन्मीलन (प्राकट्य) न हो, जो पहले से उन्मीलित (उत्पन्न) है उसे ही हमने सम्यक् प्रकार से निरूपित किया, तब भी क्या दोष है? इस अभिप्राय से **किं चेति** और भी **प्रागेव** पहले ही अर्थात् हमारे प्रयत्न से। इस प्रकार तीन प्रकार के अभाववाद और ध्वनि के भक्ति में अन्तर्भूतत्व का निराकरण करते हुए उसके अलक्षणीयत्व का भी इस कारिका से निराकरण कर दिया। यद्यपि इस मूलकारिका में उनके निराकरण की चर्चा साक्षात् रूप से नहीं की है, परन्तु वृत्तिकार ने स्वतः

ध्वन्यालोकः

समीहितार्थाः संवृत्ताः स्मः। येऽपि सहृदयहृ-दयहॉसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्य वादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेपामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरति-शयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव॥

इति श्री राजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके
प्रथम उद्योतः॥

हो गये और हमारी इष्टसिद्धि हो गई। या जिन्होंने सहृदयसंवेद्य ध्वनि के आत्मा को अवर्णनीय अलक्षणीय माना है। उन्होंने सोच-समझ कर ऐसा नहीं कहा है, क्योंकि अब तक कही हुई तथा आगे कही जाने वाली नीति से ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षण प्रतिपादित कर देने पर भी यदि ध्वनि को अलक्षणीय अवर्णनीय कहा जाय तब फिर ऐसा अलक्षणीयत्व तो सभी वस्तुओं में आ जायेगा। यदि वे अलक्षणीयतावादी अतिशयोक्ति द्वारा इस ध्वनि को अन्य काव्यों से उत्कृष्ट स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं तब तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोक में प्रथम उद्योत समाप्त।

लोचनम्

नीत्या 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम्। वक्ष्यमाणया तु नीत्या विशेषलक्षणं भविष्यति 'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्' इत्यादिना। तत्र प्रथमोद्द्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम्। द्वितीयोद्द्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण तु वृत्तिकृदत्रैवोद्द्योते मूलविभागमवोचत्– 'स च द्विविधः' इति। *सर्वेषामिति।* लौकिकानां शास्त्रीयाणां चेत्यर्थः *अतिशयोक्त्येति।* यथा 'तान्यक्षराणि हृदये किमपि

निराकृत उस पक्ष को प्रमेय सन्निवेश विशेष की पूर्त्ति के लिये कण्ठतः अनुवाद कर उसका निराकरण किया है। **येऽपीति** जिन लोगों ने। **उक्तया नीत्येति** उक्त नीति के अनुसार। **यत्रार्थः शब्दो वा–** यह सामान्य लक्षण प्रतिपादित किया गया है। **वक्ष्यमाणया नीत्येति** के अनुसार विशेष लक्षण होगा। **अर्थान्तरे संक्रमितम्** इत्यादि द्वारा प्रथम उद्योत में कारिकाकारने ध्वनि का सामान्य लक्षणमात्र किया है। दूसरे उद्योत में कारिकाकार ने अवान्तर विभाग और उसके विशेष लक्षण को करते हुये अनुवाद

लोचनम्

स्फुरन्ति' इतिवदतिशयोक्त्यानाख्येयतोक्ता साररूपतां प्रतिपादयितुमिति दर्शितमिति शिवम्॥१९॥

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥
यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोकलोचने ध्वनिसङ्केते प्रथम उद्द्योतः॥

द्वारा मूल का द्विविध भाग सूचित किया है। इसी आशय के अनुसार वृत्तिकार ने इसी उद्योत में मूल का विभाग कहा है '**स च द्विविधः**' इत्यादि। **सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तिमिति** अर्थात् लौकिक और शास्त्रीय वस्तुओं का **अतिशयोक्त्येति** जैसे '**तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति**' वे अक्षर हृदय में कुछ-कुछ स्फुरित हो रहे हैं। इसके समान अतिशयोक्ति द्वारा साररूपता के प्रतिपादनार्थ अनाख्येयता (अनिर्वचनीयता) कही गई है। यह दिखाया गया है। इति शिवम्।

किं लोचनेति– लोचन के बिना लोक (संसार) चन्द्रिका से भी उद्भासित होता है क्या? (व्यङ्ग्यार्थ यह कि क्या लोचन व्याख्या के बिना आलोक ध्वन्यालोक केवल चन्द्रिका व्याख्या से स्फुरित होता है?) इसी कारण अभिनव गुप्त ने यहाँ लोचन का उन्मीलन किया है।

यदुन्मीलनेति– जिसकी उन्मीलन-शक्ति से ही क्षणमात्र में विश्व उन्मीलित हो जाता है उस अपने आयतन में स्थित परा रूपा शिवा की मैं वन्दना करता हूँ।

महामाहेश्वराचार्यवर्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित सहृदयालोकलोचन रूप ध्वनि संकेत में प्रथम उद्योत वृत्ति और लोचन की भाषा टीका समाप्त।।१।।

●

ध्वन्यालोकः

द्वितीय उद्योतः

एवमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः। तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यते–

इस प्रकार प्रथम उद्योत में लक्षणामूल अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) भेद से दो प्रकार के ध्वनि का वर्णन किया गया है। अब लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य के भेदों (प्रभेद शब्द का अर्थ अवान्तर भेद तथा विवक्षितान्यपरवाच्य से अविवक्षितवाच्य का भेद दोनों ही किया गया है) के प्रतिपादन के लिये यह (कारिका) प्रस्तुत करते हैं– अर्थान्तर इति।

लोचनम्

या स्मर्यमाणा श्रेयांसि सूते ध्वंसयते रुजः।
तामभीष्टफलोदारकल्पवल्लीं स्तुवे शिवाम्॥

वृत्तिकारः सङ्गतिमुद्योतस्य कुर्वाण उपक्रमते–*एवमित्यादि। प्रकाशित इति।* मया वृत्तिकारेण सतेति भावः। न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह–*तत्रेति।* तत्र द्विप्रकारप्रकाशने वृत्तिकारकृते यन्निमित्तं बीजभूतमिति सम्बन्धः। यदि वा–तत्रेति पूर्वशेषः। तत्र प्रथमोद्योते वृत्तिकारेण प्रकाशितः अविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदोऽवान्तरप्रकारस्तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते। तदवान्तरभेदप्रतिपादनद्वारेणैव चानुवादद्वारे-

या इति– जो स्मरण करने मात्र से अपने भक्तों का सब प्रकार से कल्याण करती है और उनकी समस्त आपदायें क्षणमात्र में विनष्ट करती है ऐसी अभीष्ट फलदात्री उदार कल्पलता स्वरूपा (भगवान् सदाशिव की शक्तिभूता) शिवा को मैं नमस्कार करता हूँ।

वृत्तिकार उद्योत की संगति बैठाते हुये प्रारम्भ करते हैं—**एवमिति प्रकाशित** इति– स्वयं वृत्तिकार मैंने ही प्रथम ध्वनि के दो प्रकारों को प्रकाशित किया है। ऐसा मैंने कारिकाकी सीमा के बाहर होकर नहीं कहा है, किन्तु कारिकाकार के अभिप्राय के रूप में ऐसा कहा है इसलिये कहते हैं— **तत्रेति**। पूर्वापर की संगति इस प्रकार से लगती है कि वृत्तिकार द्वारा ध्वनि के दो प्रकार के प्रकाशनों में जो निमित्त या बीजभूत है अब उसे कहते हैं। **यदि वा तत्रेति पूर्वशेषः**। वहाँ प्रथम उद्योत में वृत्तिकार

ध्वन्यालोकः

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥१॥
तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः।

लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि का वाच्य कहीं अर्थान्तरसंक्रमित तथा कहीं अत्यन्त तिरस्कृत होने से दो प्रकार का माना गया है।

उस प्रकार के अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृतरूप उन दोनों में स्थित वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ का ही विशेष महत्त्व रहता है।

लोचनम्

णाविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यात्प्रभिन्नत्वं तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते। भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भावः। सङ्क्रमितमिति णिचा व्यञ्जनाव्यापारे यः सहकारिवर्गस्तस्यायं प्रभाव इत्युक्तं तिरस्कृतशब्देन च। येन वाच्येनाविवक्षितेन सताऽविवक्षितावाच्यो ध्वनिर्व्यपदिश्यते तद्वाच्यं द्विधेति सम्बन्धः। योऽर्थ उपपद्यमानोऽपि तावतैवानुपयोगाद्धर्मान्तरसंवलन-यान्यतामिव गतो लक्ष्यमाणेऽनुगतधर्मी सूत्रन्यायेनास्ते स रूपान्तरपरिणत उक्तः। यस्त्वनुपपद्यमान उपायतामात्रेणार्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव स तिरस्कृत इति। ननु व्यङ्ग्यात्मनो यदा ध्वनेर्भेदो निरूप्यते तदा वाच्यस्य

ने अविवक्षितवाच्य का जो प्रभेद (विवक्षितान्यपरवाच्य से भिन्नत्व) प्रकाशित किया था उसके अवान्तर प्रकार के प्रतिपादनार्थ कहते हैं। उसके अवान्तर भेद के प्रतिपादन द्वारा तथा अनुवाद के द्वारा अविवक्षितवाच्य का जो प्रभेद अर्थात् विवक्षितान्य-परवाच्यत्व से भिन्नत्व उसके प्रतिपादन के लिये यह कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ध्वनि का मूलतः दो भेद होना कारिकाकार को भी अभीष्ट है। **सङ्क्रमितमिति**– यहाँ णिच् प्रत्यय से व्यञ्जना के व्यापार में जो सहकारी वर्ग लक्षणा, वक्तृविवक्षादि है उनके प्रभाव से वाच्यार्थ की दोनों अवस्थायें होती हैं उसी प्रकार तिरस्कृत शब्द में भी कर्त्ता के व्यापार की भी दोनों अवस्थायें होती हैं। जिस वाच्य के अविवक्षित होने से अविवक्षितवाच्यध्वनि कहा जाता है वह वाच्य दो प्रकार का होता है, जो अर्थ उपपद्यमान होने पर भी उतने भी अंश में उपयुक्त न होने के कारण धर्मान्तर में मिल जाने के कारण दूसरे जैसा प्रतीत होता हुआ धर्मी से अनुगत होने की स्थिति में सूत्र की भाँति होता है वह रूपान्तर में परिणत होने से अर्थान्तरसंक्रमित कहा जाता है।

ध्वन्यालोकः

तत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा–

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।

उनमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरण जैसे– स्निग्धेति-स्निग्ध और श्याम कान्ति से आकाश को व्याप्त करने वाले जिस घनी मेघ-मण्डली में बक-पङ्क्ति विहार कर रही है ऐसे मेघ-मण्डल भले ही उमड़े दिखाई पड़े, छोटे जल-शीकरों से युक्त शीतल मन्द समीर भले ही बहे, इतना ही नहीं मेघों

लोचनम्

द्विधेति भेदकथनं न सङ्गतमित्याशङ्क्याह–*तथाविधाभ्यां चेति।* चो यस्मादर्थे। व्यञ्जकवैचित्र्याद्धि युक्तं व्यङ्ग्यवैचित्र्यमिति भावः। व्यञ्जके त्वर्थे यदि ध्वनिशब्दस्तदा न कश्चिद्दोष इति भावः।

भेदप्रतिपादकेनैवान्वर्थनाम्ना लक्षणमपि सिद्धमित्यभिप्रायेणोदाहरणमेवाह–*अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो यथेति।* अत्र श्लोके रामशब्द इति सङ्गतिः। स्निग्धया जलसम्बन्धसरसया श्यामलया द्रविडवनितोचितासितवर्णया कान्त्या चाकचक्येन लिप्तमाच्छुरितं वियन्नभो यैः। वेल्लन्त्यो विजृम्भमाणास्तथा चलन्त्यः परभागवशात्प्रहर्षवशाच्च बलाकाः

परन्तु जो वाच्यार्थ अनुपपन्न होता हुआ उपायमात्र होने के कारण दूसरे अर्थ की प्रतीति करके पलायन करते जैसा मालूम पड़ता है, वह अन्य तिरस्कृतवाच्य कहा जाता है। यहाँ शङ्का करते हैं कि जब व्यङ्ग्य ध्वनि के निरूपण का प्रसङ्ग हैं तब 'वाच्यो द्विधा' यह असंगत मालूम पड़ता है। ऐसी आशङ्का पर कहते हैं—**तथाविधाभ्यां-चेति** यहाँ च (तथा और) का प्रयोग 'क्योंकि' इस अर्थ में हैं। भाव यह कि व्यञ्जक के वैचित्र्य से व्यङ्ग्य का वैचित्र्य बनता है। परन्तु यदि व्यञ्जक के अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग हो तब कोई दोष नहीं।

भेद का प्रतिपादन करने वाले अन्वर्थ (यथार्थ) नाम से लक्षण भी सिद्ध हो गया है इस अभिप्राय से उदाहरण को ही कहते हैं। अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथेति– इस श्लोक में राम शब्द है यह संगति है, स्निग्धेति **स्निग्ध** अर्थात् जल से सम्बन्ध होने के कारण सरस **श्यामल** अर्थात् द्रविड़ देश की स्त्रियों के समान श्यामवर्ण वाले कान्ति (चाकचिक्य) या चकमकाहट उससे लिप्त अर्थात् आच्छुरित आकाश है जिन मेघों से **वेल्लद्बलाका** रूप वेल्लन्त्यः अर्थात् विजृम्भमाण तथा परभाग के कारण (मेघों के कारण श्यामवर्ण होने पर तथा स्वयं सित वर्ण होने के कारण और प्रहर्षित होने

ध्वन्यालोकः

कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

के मित्र मयूरों की आनन्दभरी कूकें चाहे कितनी भी श्रवणगोचर हों किन्तु मैं तो कठोर हृदय वाला राम हूँ, सब कुछ सह लूँगा। परन्तु (सुकुमारी कोमलहृदया और वियोगिनी) वैदेही की क्या दशा होगी? हा देवि धैर्य रखना।

लोचनम्

सितपक्षिविशेषा येषु त एवंविधा मेघाः। एवं नभस्तावद् दुरालोकं वर्तते। दिशोऽपि दुःसहाः यतः सूक्ष्मजलकणोद्गारिणो वाता इति मन्दमन्दत्वमेषामनियतदिगागमनं च बहुवचनेन सूचितम्। तर्हि गुहासु क्वचित्प्रविश्यास्यतामित्यत आह– पयोदानां ये सुहृदस्तेषु च सत्सु ये शोभनहृदया मयूरास्तेषामानन्देन हर्षेण कलाः षड्जसंवादिन्यो मधुराः केकाः शब्दविशेषाः ताश्च सर्वं पयोदवृत्तान्तं दुस्सहं स्मारयन्ति; स्वयं च दुस्सहा इति भावः। एवमुद्दीपनविभावोद्बोधितविप्रलम्भः परस्पराधिष्ठानत्वाद्रतेः विभावानां साधारणतामभिमन्यमानः इत एव प्रभृति प्रियतमां हृदये निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं तावदाह–*कामं सन्त्विति।* दृढमिति सातिशयम्। *कठोरहृदय इति।* रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम्। यथा 'तद्गेहम्' इत्युक्तेऽपि 'नतभित्ति' इति। अन्यथा

के कारण उड़ती हुई बलाकायें अर्थात् उज्ज्वल पंखों वाली बलाकायें बकपङ्क्तियाँ हैं जिनमें इस प्रकार के मेघ। इस प्रकार आकाश सर्वथा दिखाई नहीं देता और दिशायें भी दुःसह हो रही हैं। जिस कारण वे छोटे छोटे कणों वाले हैं अतएव जल के फुहारों को फैलाने वाले वायु मन्द-मन्द बह रहे हैं और उनकी दिशाओं में गति निश्चित नहीं हैं यह बहुवचन **वाताः** से सूचित किया गया। जब ऐसी स्थिति है तब कहीं किसी गुफा में जा कर बैठ जाना चाहिये। इस प्रकार कहते हैं **पयोदसुहृदामिति** मेघों के जो मित्र हैं उनके रहते हुये जो शोमन हृदय वाले मयूर हैं उनके आनन्दित होने से या हर्षित होने से षड्ज कलापों वाले स्वरों से मेल खाती हुई अव्यक्त मधुर जो केक (शब्द विशेष) वे मेघ के समस्त दुःसह वृत्तान्त को याद दिलाते है और स्वयं भी दुःसह है यह भाव है। इस प्रकार उद्दीपन विभाव के कारण विप्रलम्भ के उद्बोधित हो जाने पर परस्पर एक दूसरे में नायक-नायिका में अधिष्ठित रति के होने से विभावों को साधारण मानते हुये नायक यहाँ से ही लेकर प्रियतमा को अपने हृदय में रख

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र रामशब्दः। अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः सञ्ज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्।

इसमें राम शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है, इससे केवल संज्ञिमात्र राम का बोध नहीं होता। अपितु व्यङ्ग्य धर्म विशिष्ट अत्यन्त दुःख सहिष्णु रूप संज्ञी राम का बोध होता है।

लोचनम्

रामपदं दशरथकुलोद्भवकौसल्यास्नेहपात्रत्वबाल्यचरितजानकीलाभादिधर्मान्तरपरिणतमर्थं कथं न ध्वनेदिति। *अस्मीति।* स एवाहं भवामीत्यर्थः। भविष्यतीति क्रियासामान्यम्। तेन किं करिष्यतीत्यर्थः। अथ च भवनमेवास्या असम्भाव्यमिति। उक्तप्रकारेण हृदयनिहितां प्रियां स्मरणशब्दविकल्पपरम्परया प्रत्यक्षीभावितां हृदयस्फोटनोन्मुखीं ससंभ्रममाह–*हहा हेति। देवीति।* युक्तं तव धैर्यमित्यर्थः। *अनेनेति।* रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः। व्यङ्ग्यं धर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसङ्ख्येयम्। तच्चासङ्ख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम्। क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत्। प्रतीयमानं तु तदसङ्ख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति यथोक्तम्–'उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्' इति। एष एव सर्वत्र प्रयोजनस्य

कर ही अपना वृत्तान्त कहता है। चाहे जो भी हो **कठोरहृदयः** दृढ़ हृदय वाला। यहाँ राम शब्द के अर्थ की ध्वनि विशेष को अवकाश देने के लिये कठोर हृदयः इस पद को रखा गया है जैसे **तद्गेहम्** ऐसा कह कर भी नतभित्ति कहा गया है, अन्यथा राम पद दशरथ के कुल में उत्पन्न होना, कौसल्या का स्नेहपात्र होना, बालचरित और जानकीलाभ आदि धर्मान्तर में परिणत अर्थ को कैसे नहीं ध्वनित करता। **अस्मि** हूँ अर्थात् वही मैं हूँ। भविष्यति यह क्रिया सामान्य है इसका अर्थ है कि फिर क्या करेगी? ऐसी स्थिति में उसका अस्तित्व ही असम्भव हो जायगा। उक्त प्रकार के अनुसार (मेघ आदि उद्दीपकों का प्रियतमा के पास होने का) स्मरण (वैदेही यह शब्द) 'कैसे होगी' के विकल्प की परम्परा से प्रत्यक्ष हुई एवँ हृदयस्फोटनार्थ उन्मुख प्रियतमा से संभ्रमसहित कहते हैं **हा हा देवीति** अर्थात् तुम्हें धैर्य धारण करना ही ठीक है। **अनेनेति** भाव यह कि जिसका अर्थ उपयोग में नहीं आ रहा है ऐसा राम शब्द व्यङ्ग्य

ध्वन्यालोकः

यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्–

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति।
रइकिरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ॥
(तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥
इति च्छाया)

इत्यत्र द्वितीयः कमलशब्दः।

और जैसे मेरे ही विषमवाणलीला नामक काव्य में– तभी गुण तभी होते हैं जब सहृदय उनको ग्रहण करते हैं। सूर्य की किरणों से अनुगृहीत होने पर ही कमल कमल कहे जाते हैं।

यहाँ द्वितीय कमल शब्द।

लोचनम्

प्रतीयमानत्वेनोत्कर्षहेतुर्मन्तव्यः। मात्रग्रहणेन संज्ञी नात्र तिरस्कृत इत्याह। ***यथा चेत्यादि। ताला तदा। जाला यदा। घेप्पन्ति गृह्यन्ते।*** **अर्थान्तरन्यासमाह–** ***रविकिरणेति। कमलशब्द इति।*** **लक्ष्मीपात्रत्वादिधर्मान्तरशतचित्रतापरिणतं संज्ञिनमाहेत्यर्थः। तेन शुद्धेऽर्थे मुख्ये बाधानिमित्तं तत्रार्थे तद्धर्मसमवायः। तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति। व्यङ्ग्यान्यसाधारणान्यशब्दवाच्यानि धर्मान्तराणि। एवं कमलशब्दः। गुणशब्दस्तु संज्ञिमात्र-**

धर्मान्तर अर्थात् राज्य से निर्वासित आदि असंख्येय प्रयोजन रूप असंख्येय होने के कारण अभिधा व्यापार से समर्पित (अनुगत) होना संभव नहीं। क्रमपूर्वक समर्प्यमाण (अवगत) होने पर भी एक बुद्धि की विषयता के अभाव में चित्र (विलक्षण) चर्वणा के स्थान (विषय) को नहीं पहुँच सकता। ऐसी स्थिति में वह अतिशय चारुत्व नहीं उत्पन्न करता। परन्तु वह असंख्य प्रतीयमान अनुद्भिन्न होने की विशेषता के कारण ही क्या क्या रूप नहीं सहन (धारण) कर सकता? इस प्रकार वह चित्र पानक रस जैसे अपूप, गुड़ और मोदक मिश्रित की भाँति विचित्र चर्वणा का पद (अधिष्ठान) हो जाता है। जैसा कि कहा भी है **उत्त्यन्तरेणेति–** दूसरी उक्ति से अशक्य जिस चारुत्व को। इसे ही प्रयोजन के प्रतीयमान होने के कारण उत्कर्ष का हेतु ही मानना चाहिये। **संज्ञिमात्रमिति–** मात्र ग्रहण से कहते हैं कि यहाँ संज्ञी राम तिरस्कृत नहीं है। **तदेति** ताला=तद्। जाला=यदा, घेप्पन्ति=गृह्यन्ते। अथान्तरन्यासमाह रविकिरणेति। **कमल शब्द** इति। यहाँ लक्ष्मी की शोभा का पात्रत्व आश्रय होना आदि धर्मान्तरों की सैकड़ों

लोचनम्

माहेति। तत्र यद्बलात्कैश्चिदारोपितं तदप्रातीतिकम्। अनुपयोगबाधितो ह्यर्थोऽस्य ध्वनेर्विषयो लक्षणा मूलं ह्यस्य।

यत्तु हृदयदर्पण उक्तम्– 'हहा हेति संरम्भार्थोऽयं चमत्कारः' इति। तत्रापि संरम्भः आवेगो विप्रलम्भव्यभिचारीति रसध्वनिस्तावदुपगतः। न च रामशब्दाभिव्यक्तार्थसाहायकेन विना संरम्भोल्लासोऽपि। अहं सहे तस्याः किं वर्तत इत्येवमात्मा हि संरम्भः। कमलपदे च कः संरम्भ इत्यास्तां तावत्। अनुपयोगात्मिका च मुख्यार्थबाधात्रास्तीति लक्षणामूलत्वादविवक्षित-वाच्यभेदतास्योपपन्नैव, शुद्धार्थस्याविवक्षणात्। न च तिरस्कृतत्वं धर्मिरूपेण, तस्यापि तावत्यनुगमात्। अत एव च परिणतबाचोयुक्त्या व्यवहृतम्– *आदिकवेरिति।* ध्वनेर्लक्ष्यप्रसिद्धतामाह–*रवीति।* हेमन्तवर्णने

विचित्रताओं से परिणत संज्ञावान् को कमल शब्द से कहा गया है। इसलिये शुद्ध मुख्य अर्थ में बाधा का निमित्त उस अर्थ में (अर्थात् रामपद के मुख्यार्थ के धर्मी राम में) उन धर्मों का समवाय सम्बन्ध है। उस निमित्त से रामशब्द धर्मान्तर में परिणत अर्थ को लक्षित करता है। वहाँ असाधारण एवं अशब्दवाच्य धर्मान्तर निर्वेद, ग्लानि आदि व्यङ्ग्य है, इसी प्रकार कमल शब्द भी है, जो दूसरे श्लोक में गुण शब्द केवल संज्ञी का बोध कराता है। उक्त उदाहरणों में जो बलपूर्वक कुछ लोगों ने आरोप कर कहा है वह प्रतीति सिद्ध नहीं, क्योंकि अनुपयोगरूप बाधा के कारण अर्थ रसध्वनि का कारण होता है, इसका मूल तो लक्षणा ही है।

जो कि हृदयदर्पण में कहा है– 'हहा हा' संरम्भ के अर्थ में यह चमत्कार व्यक्त किया है। वहाँ भी संरम्भ अर्थात् वेग विप्रलम्भ का व्यभिचारी है और इस प्रकार रसध्वनि स्वीकार किया है। राम शब्द से अभिव्यक्त अर्थों की सहायता के बिना संरम्भ का उल्लास भी नहीं होगा। 'सहे' में तो मैं सह लेता हूँ, परन्तु उसका क्या होगा? इस प्रकार का संरम्भ तो है, परन्तु कमल पद में कौन सा संरम्भ है? अतः इतना ही अर्थ पर्याप्त है, अनुपयोग रूप बाधा यहाँ है ही इसलिये लक्षणामूल होने के कारण इसका अविवक्षितवाच्य ध्वनि का भेद होना युक्तियुक्त ही है, क्योंकि शुद्ध (मुख्य) अर्थ की विवक्षा यहाँ नहीं हैं।

यहाँ तिरस्कृतवाच्यध्वनि में धर्मी (व्यक्ति) रूप से तिरस्कार नहीं है। क्योंकि उस धर्मी का भी अनुगम (ज्ञान) होता है। इसलिये 'परिणत' इस वाचोयुक्ति से व्यवहार किया गया है। **आदिकवेरिति–** ध्वनि की लक्ष्य में प्रसिद्धि कहते हैं। **रवीति** पञ्चवटी में निवास करने वाले श्रीराम की हेमन्त ऋतु के वर्णन के प्रसङ्ग में यह उक्ति है।

ध्वन्यालोकः

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो यथादिकवेर्वाल्मीकेः–

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ इति ।

अत्रान्धशब्दः।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है।

अब अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के (दो) उदाहरण देते हैं, अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य का उदाहरण आदिकवि वाल्मीकि का पञ्चवटी में हेमन्त वर्णन के प्रसङ्ग में रामचन्द्र जी द्वारा कहा गया श्लोक **रविरिति–** हेमन्त में सूर्य के चन्द्रमा के समान अनुष्ण तथा आनन्ददायक हो जाने से जिस चन्द्रमा की शोभा सूर्य में सङ्क्रान्त हो गई है अथवा सूर्य से प्रकाश ग्रहण करने वाला तुषाराच्छादित मण्डल वाला चन्द्रमा निःश्वास से मलिन दर्पण के समान प्रकाशित नहीं हो रहा है। यहाँ अन्ध शब्द तिरस्कृतवाच्य है। दूसरा उदाहरण गअणं च मत्तमेहमिति

लोचनम्

पञ्चवट्यां रामस्योक्तिरियम्। *अन्ध इति चोपहतदृष्टिः।* जात्यन्धस्यापि गर्भे दृष्ट्युपघातात्। अन्धोऽयं पुरोऽपि न पश्यतीत्यत्र तिरस्कारोऽन्धार्थस्य न त्वत्यन्तम्। इह त्वादर्शस्यान्धत्वमारोप्यमाणमपि न सह्यमिति। अन्धशब्दोऽत्र पदार्थस्फुटीकरणाशक्तत्वं नष्टदृष्टिगतं निमित्तीकृत्यादर्शं लक्षणया प्रतिपादयति। असाधारणविच्छायत्वानुपयोगित्वादिधर्मजातमसंख्यं प्रयोजनं व्यनक्ति। भट्टनायकेन तु यदुक्तम्– 'इवशब्दयोगाद् गौणताप्यत्र न काचित्' इति, तच्छ्लोकार्थमपरामृश्य। आदर्शचन्द्रमसोर्हि सादृश्यमिवशब्दो

अन्ध इति। जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई है; क्योंकि जो जात्यन्ध होता है उसकी दृष्टि का उपघात गर्भ में हो जाता है। यह अन्धा अपने आगे भी नहीं देख सकता है। इस कथन में अन्धा शब्द के अर्थ का तिरस्कार है, किन्तु अत्यन्त रूप से उसका तिरस्कार नहीं। किन्तु यहाँ आदर्श का अन्धत्व आरोप्यमाण हो कर भी सह्य नहीं। यहाँ अन्ध शब्द नष्टदृष्टि पुरुष में रहने वाले किसी पदार्थ के स्फुटीकरण में अन्धाशक्य रूप धर्म को निमित्त आदर्शों (दर्पणों) का लक्षणा से प्रतिपादन करता है। इस प्रकार असाधारण छायाहीनत्व और अनुपयोगित्व आदि असंख्य धर्मसमूहरूप प्रयोजन को वह व्यक्त करता है। यहाँ भट्टनायक ने जो कहा है, इव शब्द के योग के कारण यहाँ गौणी लक्षणा भी संभव नहीं है, उनका यह कथन श्लोकार्थ को बिना विचारे ही जान पड़ता है। यहाँ आदर्श और चन्द्रमा इन दोनों का सादृश्य, इव शब्द से द्योतित है और

ध्वन्यालोक:

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइँ अ वणाइँ।
णिरहङ्कारमिअङ्का हरन्ति नीलाओ वि णिसाओ ॥
अत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दौ ॥१॥

(न केवल ताराओं से परिपूर्ण निर्मल आकाश ही) अपितु मदमाते उमड़ते-घुमड़ते मेघों से आच्छादित आकाश भी, न केवल मन्द मन्द मलयमारुत से आन्दोलित आम्रवण ही अपितु) वर्षा की धाराओं से आन्दोलित अर्जुनवन भी और (न केवल चन्द्र-किरणों से धवलित वो चन्द्रिकायुक्त रातें ही मन को लुभाने वाली होती है, अपितु सौन्दर्य से रहित) गर्वहीन चन्द्रमा वाली वर्षाकाल की अन्धकारमयी काली रातें भी मन को हरण करने वाली होती है।

यहाँ मत्त और निरहङ्कार शब्द तिरस्कृतवाच्य है।

लोचनम्

द्योतयति। निःश्वासान्ध इति चादर्शविशेषणम्। इवशब्दस्यान्धार्थेन योजने आदर्शश्चन्द्रमा इत्युदाहरणं भवेत्। योजनं चैतदिवशब्दस्य क्लिष्टम्। न च निःश्वासेनान्ध इवादर्शः स इव चन्द्र इति कल्पना युक्ता। जैमिनीयसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम्। ***गअणमिति।***

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥

इति च्छाया। चशब्दोऽपिशब्दार्थे। गगनं मत्तमेघमपि न केवलं तारकितम्। धारालुलितार्जुनवृक्षाण्यपि वनानि न केवलं मलयमारुतान्दो-

निःश्वासान्ध यह पद आदर्श (दर्पण) का विशेषण है। इव शब्द को अन्ध के साथ अन्वय करने पर आदर्शरूप चन्द्रमा यह उदाहरण होगा। ऐसा करने से इव शब्द की योजना क्लिष्ट हो जायगी। निःश्वास से अन्धे के समान आदर्श और उसके समान चन्द्रमा यह कल्पना ठीक नहीं, जैमिनीयसूत्र में इस प्रकार की योजना हो सकती है, किन्तु काव्य में नहीं। इस विषय में इतना कथन ही पर्याप्त है। **गगनमिति-** गगन-आकाश। च शब्द अपि के अर्थ में है। मत्तमेघों वाला आकाश, केवल तारकों वाला ही नहीं। धारादृष्टि से कम्पित अर्जुनवृक्षों के वन भी, न कि केवल मलयमारुत से कम्पित आम्रवन मात्र। अहङ्काररहीन चन्द्रमा वाली काली भी रातें, न कि केवल चन्द्रकिरणों से स्वच्छ। **हरन्ति** हर लेती हैं अर्थात् उत्सुक करती हैं, यहाँ मत्त शब्द का अर्थ सर्वथा संभव नहीं हो रहा है जिसका अर्थ मदिरा के उपयोग से क्षीव (मत्त)

ध्वन्यालोकः

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः॥२॥

असंलक्ष्येति– विवक्षितवाच्यध्वनि का आत्मा स्वरूप असंलक्षितक्रम से तथा दूसरा संलक्षितक्रम से प्रकाशित होने से दो प्रकार का माना गया है।

लोचनम्

लितसहकाराणि। निरहङ्कारमृगाङ्का नीला अपि निशा न केवलं सितकरकरधवलिताः। हरन्ति उत्सुकयन्तीत्यर्थः मत्तशब्देन सर्वथैवेहा-सम्भवत्स्वार्थेन बाधितमद्योपयोगक्षीबात्मकमुख्यार्थेन सादृश्यान्मेघांल्ल-क्षयतऽसमञ्जसकारित्वदुर्निवारत्वादिधर्मसहस्रं ध्वन्यते। निरहङ्कारशब्देनापि चन्द्रं लक्षयता तत्पारतन्त्र्यविच्छायत्वोज्जिगमिषारूपजिगीषात्याग-प्रभृतिः॥१॥

अविवक्षितवाच्यस्य प्रभिन्नत्वमिति यदुक्तं तत्कुतः? न हि स्वरूपादेव भेदो भवतीत्याशङ्क्य विवक्षितवाच्यादेवास्य भेदो भवति, विवक्षा तदभावयोर्विरोधादित्यभिप्रायेणाह–*असंलक्ष्येति।* सम्यङ् न लक्षयितुं शक्यः क्रमो यस्य तादृश उद्द्योत उद्द्योतनव्यापारोऽस्येति बहुव्रीहिः। ध्वनिशब्दसांनिध्यादविवक्षिताभिधेयत्वेनान्यपरत्वमत्राक्षिप्तमिति स्वक-ण्ठेन नोक्तम्। *ध्वनेरिति।* व्यङ्ग्यस्येत्यर्थः। *आत्मेति।* पूर्वश्लोकेन

होने के कारण बाधित है। वह सादृश्य शब्द से मेघों को लक्षित कर रहा है। जिससे असमञ्जसकारित्व दुर्निवारत्व आदि हजारों धर्म ध्वनित होते हैं। चन्द्र को लक्षित करता हुआ निरहङ्कार शब्द भी उसमें पारतन्त्र्य छायाहीनत्व उदय लेने की इच्छा रूप जिगमिषा का त्याग प्रभृति अर्थ को ध्वनित करता है॥१॥

अब यहाँ शङ्का करते हैं कि आरम्भ के वृत्तिग्रन्थ में अविवक्षितवाच्य का प्रभेद यह कहा है वह कैसे? क्योंकि स्वरूपत: अपने से अपने में भेद नहीं होता। ऐसी आशङ्का पर कहते हैं कि वह इस अभिप्राय से है कि विवक्षितवाच्य से अविवक्षित-वाच्य का भेद है, क्योंकि विवक्षा के भाव और अभाव दोनों का विरोध है।

असंलक्ष्येति सम्यक् प्रकार से लक्षित न किया जा सके क्रम जिसका उस प्रकार का उद्योत अथवा उद्योतन व्यापार वाला इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। ध्वनि शब्द के सन्निधान से अभिधेय के विवक्षित होने के कारण अन्यपरत्व आक्षेपत: यहाँ आ जाता है, अत: उसे कण्ठत: नहीं कहा। **ध्वनेरिति** ध्वनि का। अर्थात् व्यङ्ग्य का। **आत्मेति** पूर्व श्लोक से व्यङ्ग्य का वाच्य के प्रकार से भेद कहा हैं किन्तु उद्योतन

ध्वन्यालोकः

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा। स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित्क्रमेणेति द्विधा मतः॥२॥

तत्र

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥३॥

प्रधान रूप से प्रकाशित होने वाला व्यङ्ग्यार्थ ध्वनि का आत्मा है। उसमें कोई वाच्यार्थ की अपेक्षा से अलक्षितक्रम से प्रकाशित होता है और कोई संलक्ष्यक्रम के योग से। इस प्रकार दो तरह का माना गया है।

उनमें से रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशान्ति आदि (आदि पद से भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता का भी ग्रहण है) जो असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अङ्गीभाव से अर्थात प्राधान्येन प्रतीत होते हुये ध्वनि के आत्मा स्वरूप से स्थित हैं।

रसादि रूप अर्थ वाच्य के साथ ही जैसा प्रतीत होता है, और वह प्रधान रूप से प्रतीत होने पर ध्वनि का आत्मा हो जाता है।

लोचनम्

व्यङ्ग्यस्य वाच्यमुखेन भेद उक्तः। इदानीं तु द्योतनव्यापारमुखेन द्योत्यस्य स्वात्मनिष्ठ एवेत्यर्थः। व्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्द्योतने स्वात्मनि कः क्रम इत्याशङ्क्याह–*वाच्यार्थापेक्षयेति।* वाच्योऽर्थो विभावादिः॥

***तत्रेति।* तयोर्मध्यादित्यर्थः। यो रसादिरर्थः स एवाक्रमो ध्वनेरात्मा न त्वक्रम एव सः। क्रमत्वमपि हि तस्य कदाचिद्भवति। तदा चार्थशक्त्युद्भवानुस्वानरूपभेदतेति वक्ष्यते। आत्मशब्दः स्वभाववचनः प्रकारमाह। तेन रसादिर्योऽर्थः स ध्वनेरक्रमो नाम भेदः। असंलक्ष्यक्रम इति**

(प्रकाशन) व्यापार के प्रकार से द्योत्य व्ङ्ग्य का स्वात्मनिष्ठ भेद ही कहते हैं, यही अर्थ हैं। स्वयं अपनी आत्मा में व्यङ्ग्य और ध्वनि के द्योतन का कौन सा क्रम है? इस आशङ्का पर कहते हैं– **वाच्यार्थाप्रेक्षयेति** वाच्य अर्थ की अपेक्षा से। वाच्य अर्थ विभावादि।

तत्रेति उन दोनों में से जो रसादि रूप अर्थ है वही अक्रम होकर ध्वनि का आत्मा हैं, न कि केवल अक्रम। उसका क्रमत्व तो कादाचित्क है। तब अर्थशक्ति से उत्पन्न अनुरणनरूप भेद होता हैं, इसे आगे कहेंगे। यहाँ स्वभाव के अर्थ में आत्मा शब्द है जो प्रकार का वाचक है। उस प्रकार से रसादि रूप जो अर्थ है वही ध्वनि

लोचनम्

यावत्। ननु किं सर्वदैव रसादिरर्थो ध्वनेः प्रकारः? नेत्याह; किं तु यदाङ्गित्वेन प्रधानत्वेनावभासमानः। एतच्च सामान्यलक्षणे 'गुणीकृतस्वार्थावित्यत्र यद्यपि निरूपितम्, तथापि रसवदाद्यलङ्कार-प्रकाशनावकाशदानायानूदितम्। स च रसादिर्ध्वनिर्व्यवस्थित एव; न हि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति। यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्, तथापि तस्य रसस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात्प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजनको भवति, तदा भावध्वनिः। यथा–

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥

अत्र हि विप्रलम्भरससद्भावेऽपीयति वितर्काख्यव्यभिचारि-चमत्क्रियाप्रयुक्त आस्वादातिशयः। व्यभिचारिण उदयस्थित्यपायत्रिधर्मकाः।

का अक्रम नामक भेद है। अर्थात् असंलक्ष्यक्रम है। संदेह करते हैं कि क्या रसादि रूप अर्थ सदैव ध्वनि का प्रकार होता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं। किन्तु जब वह अङ्गी या प्रधान रूप से प्रतीत होता है तब ध्वनि का प्रकार होता है। इस बात को यद्यपि ध्वनि के सामान्य लक्षण में **'गुणीकृतस्वार्थौ०'** इस स्थल पर निरूपित कर दिया गया है तथापि रसवदादि अलङ्कारों के प्रकाशन को अवकाश देने के लिये पुनः इसका अनुवाद कर दिया गया है। वह रस और ध्वनि के रूप में व्यवस्थित ही है, क्योंकि उससे शून्य होने पर काव्य नाम की कोई वस्तु नहीं रह जाती। यद्यपि रस से ही सारा काव्य जीवित रहता है तथापि एकघन चमत्कार रूप भी उस रस के कहीं संयोजक अंश से अधिक चमत्कार वाला होता है। वहाँ जब कोई व्यभिचारी भाव उद्रिक्त या निष्पन्न अवस्था प्राप्त कर अतिशय चमत्कार का प्रयोजक होता है तब वह भावध्वनि होता है जैसे **तिष्ठेदिति**।

भले ही वह (उर्वशी) कोप के कारण अन्तर्हित हो जावे पर वह बहुत कुपित नहीं होती। भले ही वह स्वर्ग चली गई हो किन्तु तब भी उसका मन मेरे प्रति भावार्द्र ही रहेगा। मेरे सामने स्थित रहने पर उसे असुर भी हरण नहीं कर सकते फिर भी वह मेरे नेत्रों से ओझल हो गई यह कौन सा प्रकार है?

यहाँ विप्रलम्भ रस के होने पर भी वितर्क नामक व्यभिचारीभाव के चमत्कार से प्रयुक्त अतिशय आस्वाद है। व्यभिचारीभाव के उदय, स्थिति और अपाय (नाश)

लोचनम्

यदाह–'विविधमाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिणः' इति तत्रोदयावस्थाप्रयुक्तः कदाचित्। यथा–

याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया
निर्ध्यातं परिवर्तनं पुनरपि प्रारब्धुमङ्गीकृतम्।
भूयस्तत्प्रकृतं कृतं च शिथिलक्षिप्तैकदोर्लेखया
तन्वङ्ग्या न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टुं प्रियस्योरसः॥

अत्र हि प्रणयकोपस्योज्जिगमिषयैव यदवस्थानं न तु पारित इत्युदयावकाशनिराकरणात्तदेवास्वादजीवितम्। स्थितिः पुनरुदाहृता– 'तिष्ठेत्कोपवशात्' इत्यादिना। क्वचित्तु व्यभिचारिणः प्रशमावस्थया प्रयुक्तश्चमत्कारः। यथोदाहृतं प्राक् 'एकस्मिञ् शयने पराङ्मुखतया' इति। अयं तत्प्रशम इत्युक्तः। अत्र चेर्ष्याविप्रलम्भस्य रसस्यापि प्रशम इति शक्यं योजयितुम्। क्वचित्तु व्यभिचारिणः सन्धिरेव चर्वणास्पदम्। यथा–

ओसुरु सुन्ठि आइं मुहु चुम्बिउ जेण।
अमिअरसघोण्टाणं पडिजाणिउ तेण॥

ये तीन धर्म हैं जैसा कि उसका अर्थ **विविधमाभिमुख्येन चरन्तीति ते व्यभिचारिण** इस व्युत्पत्ति से कहे जाते हैं। अर्थात् विविध रूप से अभिमुख हो जो संचरण करते हैं। ऐसा अर्थ होता है। उसमें कदाचिदुदयावस्था को प्राप्त व्यभिचारीभाव का लक्षण यथा– **यात इति।**

एक सेज पर सोई हुई कृशाङ्गी नायिका ने पति द्वारा गोत्रविपर्यय (भूल से अन्य नायिका के नामोच्चारण) कर दिये जाने पर उसने करवट बदलने का विचार कर लिया और करवट बदलना प्रारम्भ कर दिया और करवट बदलने के लिए अपना एक हाथ शिथिल करके अलग हटाया भी, किन्तु अपने प्रियतम के वक्षःस्थल से संलग्न स्तन के भार को वह न खींच पाई।

यहाँ नायिका का प्रणयकोप उदय लेना ही चाहता है, स्थिति भी ऐसी प्राप्त है, पर 'नहीं खींच पाई' इस कथन के द्वारा उदय के अवकाश का निराकरण कर देने से वही (उदयावस्थान) आस्वाद का प्राण हो जाता है। स्थिति का उदाहरण पहले **'तिष्ठेत् कोपवशात्'** इत्यादि दे चुके हैं। कहीं पर व्यभिचारीभाव की प्रशमावस्था से प्रयुक्त चमत्कार होता है जैसा कि पहले उदाहरण ले चुके हैं **'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया०'** इत्यादि। यहाँ व्यभिचारीभाव का प्रशम कहा गया है जो ईर्ष्याविप्रलम्भ रस का प्रशम है। ऐसी योजना भी कर सकते हैं। कहीं तो व्यभिचारीभाव की सन्धि ही चर्वणा (आस्वाद) का आस्पद होती है जैसे ओ सुरु' इत्यादि।

ईर्ष्याजनित अश्रुओं से सुशोभित नायिका के मुख को जिसने चुम्बन कर लिया

लोचनम्

इत्यत्र श्रुत्युक्ते तु कोपे कोपकषायगद्गदमन्दरुदिताया येन मुखं चुम्बितं तेनामृतरसनिगरणविश्रान्तिपरम्पराणां तृप्तिर्ज्ञातेति कोपप्रसाद-सन्धिश्चमत्कारस्थानम्। क्वचिद्व्यभिचार्यन्तरशबलतैव विश्रान्तिपदम्। यथा–

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति॥

अत्र हि वितर्कौत्सुक्ये मतिस्मरणे शङ्कादैन्ये धृतिचिन्तने परस्परं बाध्यबाधकभावेन द्वन्द्वशो भवन्ती, पर्यन्ते तु चिन्ताया एव प्रधानतां ददती परमास्वादस्थानम्। एवमन्यदप्युत्प्रेक्ष्यम्। एतानि चोदयसन्धिशबल-त्वादिकानि कारिकायामादिग्रहणेन गृहीतानि।

नन्वेवं विभावानुभावमुखेनाप्यधिकश्चमत्कारो दृश्यत इति विभावध्वनिरनुभावध्वनिश्च वक्तव्यः। मैवम्; विभावानुभावौ

है उसी ने अमृत रस के निगलने (रुक-रुक कर पीने) की तृप्ति को जान लिया। यहाँ ईर्ष्या शब्द से अभिहित कोप में और उस कोप के संमिश्रण से गद्गद कण्ठ से मन्द-मन्द रोती हुई नायिका के मुख का जिसने चुम्बन किया उसने अमृत रस के निगलने की विश्रान्ति अर्थात् आनन्द की परम्पराओं की तृप्ति का अनुभव कर लिया। इस प्रकार कोप और प्रसाद की सन्धि चमत्कार का स्थान है।

कहीं पर एक व्यभिचारीभाव का दूसरे व्यभिचारीभाव से शबलता (संमिश्रण विश्रान्ति या आनन्द का प्रतिष्ठान हो जाती है जैसे **क्वाकार्यमिति**– यह ब्राह्मणकन्या में आसक्तिरूप अकार्य कहाँ और मेरा उज्ज्वल चन्द्रवंश कहाँ? काश एक बार वह और दिखाई पड़ जाती। मैंने दोषों के प्रशमार्थ शास्त्रों का अध्ययन किया है। अहो उसका मुख कोपावस्था में भी कितना सन्दर प्रतीत होता है। अरे मालिन्यरहित निष्पाप सज्जन लोग तुम्हें क्या कहेंगे? ओह वह स्वप्न में भी दुर्लभ है। चित्त। तू धैर्य धारण कर। अहा वह कौन धन्य युवक होगा जो उसके अधरामृत का पान करेगा।

यहाँ वितर्क और औत्सुक्य, मति और स्मरण, शङ्का और दैन्य तथा धृति और चिन्तन के भावों के परस्पर बाध्य-बाधकरूप से रहते हुये भी अन्त में चिन्ता की प्रधानता प्रकट करते हुये वे परस्पर आस्वाद के प्रतिष्ठान हैं। इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिये। यहाँ उदय, सन्धि, शबलता आदि कारिका में आदि शब्द से ग्रहण किये गये हैं।

लोचनम्

तावत्स्वशब्दवाच्यावेव। तच्चर्वणापि चित्तवृत्तिष्वेव पर्यवस्यतीति रसभावेभ्यो नाधिकं चर्वणीयम्। यदा तु विभावानुभाववपि व्यङ्ग्यौ भवतस्तदा वस्तुध्वनिरपि किं न सह्यते। यदा तु विभावाभासाद्र-त्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः। यथा रावणकाव्याकर्णने शृङ्गाराभासः। यद्यपि 'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यः' इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्त्वम्।

दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना।

इत्यत्र तु न हास्यचर्वणावसरः। ननु नात्र रतिः स्थायिभावोऽस्ति। परस्परास्थाबन्धाभावात् केनैतदुक्तं रतिरिति। रत्याभासो हि सः। अतश्चाभासता येनास्य सीता मय्युपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्तिर्हृदयं न स्पृशत्येव। तत्स्पर्शे हि तस्याप्यभिलाषो विलीयेत। न च मयीयमनुरक्तेत्यपि

यहाँ शङ्का करते हैं कि इस प्रकार विभाव और अनुभाव के प्रकारों में भी अधिक चमत्कार देखा जाता है, ऐसी स्थिति में विभावध्वनि और अनुभावध्वनि को भी कहना चाहिये। उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं। विभाव और अनुभाव अपने शब्द से ही वाच्य होते हैं। उनकी चर्वणा भी चित्तवृत्तियों में ही पर्यवसित होती है। इसलिये ये रस और भावों से अधिक चर्वणा के योग्य नहीं है। जब विभाव और अनुभाव व्यङ्ग्य होते हैं तब वहाँ वस्तुध्वनि क्यों नहीं मान लेते? इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि ऐसी बात मत कहिये। विभाव और अनुभाव अपने शब्द से ही वाच्य होते हैं, उनकी चर्वणा भी चित्तवृत्तियों में पर्यवसित होती हैं इसलिये वे रस और भावों से अधिक चर्वणा के योग्य नहीं हैं। पुनः प्रश्न करते हैं कि जब विभाव और अनुभाव व्यङ्ग्य होते हैं तब वस्तुध्वनि क्यों नहीं मान लेते? इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि जब विभावाभास के साथ रत्याभास का उदय होगा, तब विभावाभास के कारण चर्वणाभास भी होगा ही। इसलिये वह रसाभास का विषय होगा। जैसे रावणकाव्य के श्रवण करने से शृङ्गाराभास होता है। यद्यपि भरतमुनि ने 'जहाँ शृङ्गार का अनुकरण हो उसे हास्य कहना चाहिये' ऐसा निरूपण किया है तथापि हास्यरस की स्थिति उसके उत्तरकाल में होती है। **दूरेति**—दूर से ही आकर्षण करने वाले मोहमन्त्र के समान उसके नाम के कान में प्रवेश करते ही चित्त काल की कला मात्र (अत्यन्त स्वल्पकाल) भी उसके बिना स्थिर नहीं हो पाता है, चञ्चल हो जाता है। इस स्थान पर हास्यरस की चर्वणा का अवसर नहीं हैं, जबकि वहाँ रति स्थायीभाव नहीं है, क्योंकि प्रकृति में एक दूसरे के प्रति (परस्पर) आस्थाबन्ध का अभाव है। इस पर प्रश्न करते हैं कि फिर किसने कहा कि यहाँ रति है? क्योंकि यह

लोचनम्

निश्चयेन कृतं, कामकृतान्मोहात्। अत एव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते शुक्तौ रजताभासवत्। एतच्च शृङ्गारानुकृतिशब्दं प्रयुञ्जानो मुनिरपि सूचितवान्। अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः। अत एवाभिलाषे एकतरनिष्ठेऽपि शृङ्गारशब्देन तत्र तत्र व्यवहारस्तदाभासतया मन्तव्यः। शृङ्गारेण वीरादीनामप्याभासरूपतोपलक्षितैव। एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दाः। आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमेवमंशं विभज्य पृथग्व्यवस्थाप्यते। यथा गन्धयुक्तिज्ञैरेकरससम्मूर्च्छितामोदोपभोगेऽपि शुद्धमास्यादिप्रयुक्तमिदं सौरभमिति। रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभारव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थाय्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः। यथा–

कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निःष्पन्दतामागता।

तो रत्याभास है। यहाँ इस कारण से भी रति की आभासता सिद्ध होती है कि रावण के हृदय को इस बात ने स्पर्श तक नहीं किया है कि सीता मेरे प्रति उपेक्षाभाव रखती है या मुझसे द्वेष करती है। यदि उसे पहले इस बात का ज्ञान हो जाता तब उसकी सारी अभिलाषा विलीन हो जाती। 'मुझमें यह अनुरक्त है' उसे इस बात का भी निश्चय नहीं है, क्योंकि उसे कामजनित मोह हो चुका है इसलिये रति की आभासता मात्र वस्तुत: वहाँ स्थापित करते हैं, यह आभास उसी प्रकार है जैसे शुक्ति में रजत का आभास होता है, इसे शृङ्गार रस की अनुकृति इस शब्द का प्रयोग करते हुये स्वयं मुनि (भरत) ने भी सूचित कर दिया है। अनुकृति, अमुख्यता और आभास एक ही अर्थ है। इसलिये अभिलाष जब किसी एक ही पक्ष में रहे तब शृङ्गार शब्द का व्यवहार शृङ्गाराभास के रूप में मानना चाहिये। अकेले शृङ्गार कहने से वहाँ वीर आदि रसों की आभासरूपता उपलक्षित होती है। इस प्रकार ये भावध्वनि प्रभृति रसध्वनिके ही निष्पन्द है। आस्वाद के इस प्रकार प्रधान अंश को प्रविभक्त कर अलग व्यवस्थापित करते हैं जिस प्रकार गन्धयोजना की कला के जानकार लोग एक रस के आस्वाद से व्याप्त आमोद (गन्ध) के उपभोग में कहते हैं कि यह गन्ध शुद्ध मांसी (एक प्रकार का गन्ध द्रव्य) आदि से तैयार है। रसध्वनि तो वही हैं जो यहाँ मुख्य रूप से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से उत्पन्न स्थायीभाव के ज्ञाता या सहृदय जनों का स्थायी के अंशभूत चर्वणा के कारण प्रकृष्ट आस्वाद है। जैसे **कृच्छ्रेणेति**–प्यासी हुई सी मेरी दृष्टि कठिनाई से प्रिया के ऊरुयुगल को पार कर, नितम्बस्थल में देर तक भ्रमण कर, उसके त्रिवली के तरङ्गों से विषम मध्यभाग में पहुँच कर निश्चल हो गई। पुनः उन्नत स्तनों पर

ध्वन्यालोकः

रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावभासते। स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा।

इदानीं रसवदलङ्कारादलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वनेर्विभक्तो विषय इति प्रदर्श्यते–

अब रसवदलङ्कार से अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप ध्वनि का विषय अलग है इसे दिखाते हैं **वाच्येति।**

अनेक प्रकार के वाच्य, वाचक और उसके चारुत्व रूप हेतुओं का जहाँ रस आदि में तात्पर्य हो वह ध्वनि का विषय माना गया है॥४॥

लोचनम्

मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने ॥

अत्र हि नायिकाकारानुवर्ण्यमानस्वात्मप्रतिकृतिपवित्रितचित्रफलकावलोकनाद्वत्सराजस्य परस्परास्थाबन्धरूपो रतिस्थायिभावो विभावानुभावसंयोजनवशेन चर्वणारूढ इति। तदलं बहुना।! स्थितमेतत्- रसादिरर्थोऽङ्गित्वेन भासमानोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकार इति। *सहेवेति।* इवशब्देनासंलक्ष्यता विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता। *वाच्येनेति।* विभावानुभावादिना।

नन्वङ्गित्वेनावभासमान इत्युच्यते; तत्राङ्गत्वमपि किमस्ति रसादेर्येन तन्निराकरणायैतद्विशेषणमित्यभिप्रायेणोपक्रमते–*इदानीमित्यादिना।*

धीरे-धीरे चढ़ कर साभिलाष हो बारम्बार अश्रुजल की वर्षा करने वाली उसकी आँखों को देखने में जम गई।

यहाँ नायिका (रत्नावली) के आकार को चित्र में देख कर उसका वर्णन करने वाले वत्सराज उदयन का अपनी प्रतिकृति (चित्र) से पवित्र हुये फलक को देखने के कारण परस्पर आस्था रूप रति स्थायीभाव, विभावानुभाव के संयोजन के कारण चर्वणा की स्थिति तक आरूढ हो गया है। अब इस विषय में इतना ही पर्याप्त है। यहाँ रसादि रूप अर्थ अङ्गी का प्रधान रूप से भासमान हो कर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि का प्रकार है। **सहेवेति**— यहाँ इव शब्द से क्रम के रहते हुये उसकी संलक्ष्यता का भी व्याख्यान किया गया है। **वाच्येनेति** अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि के साथ।

ध्वन्यालोकः

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ॥४॥

जहाँ रस, भाव, रसाभास, भावाभास तथा भावप्रशम रूप मुख्य अर्थ का अनुगमन करते हुये शब्द, अर्थ, अलङ्कार और गुण परस्पर ध्वनि की अपेक्षा भिन्न स्वरूप से व्यवस्थित होते हैं, उस काव्य में ध्वनि यह व्यपदेश होता है।

लोचनम्

अङ्गत्वमस्ति रसादीनां रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितालङ्काररूपतायामिति भावः। अनया च भङ्ग्या रसवदादिष्वलङ्कारेषु रसादिध्वनेर्नान्तर्भाव इति सूचयति। पूर्वं हि समासोक्त्यादिषु वस्तुध्वनेर्नान्तर्भाव इति दर्शितम्। वाच्यं च वाचकं च तच्चारुत्वहेतवश्चेति द्वन्द्वः। वृत्तावपि शब्दाश्चालङ्काराश्चार्थाश्चालङ्काराश्चेति द्वन्द्वः। *मत इति।* पूर्वमेवैतदुक्तमित्यर्थः। ननूक्तं भट्टनायकेन— 'रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता, सीतायाः सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्— देवतावर्णनादौ तदपि कथम्। न च स्वकान्तास्मरणं

अब यहाँ शङ्का करते हैं कि जब अङ्गी या प्रधान रूप से अवभासमान को ध्वनि कहते हैं तब यहाँ उस रसादि का अङ्गत्व क्या है जिससे उसके अङ्गत्व के निराकरण के लिये यह विशेषण है। इस अभिप्राय से उपक्रम करते हुये कहते हैं— **इदानीमिति** भाव यह कि रसवत्, प्रेयस्, ऊजस्वि, समाहित अलङ्कार के रूपों में रसादि का अङ्गत्व है। इसी अङ्गी के द्वारा सूचित करते हैं कि रसवदादि अलङ्कारों में रसादि ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं है। पहले दिखा चुके हैं कि समासोक्ति आदि अलङ्कारों में वस्तुध्वनि का अन्तर्भाव नहीं है। **वाच्यवाचकचारुत्वेति** यहाँ वाच्य, वाचक और उनके चारुत्वहेतु में द्वन्द्व समास है। वृत्ति में भी शब्द, अलङ्कार और अर्थालङ्कार यह द्वन्द्व समास है। **ध्वनेर्विषयो मतः** ध्वनि का विषय माना गया है अर्थात् यह पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ शङ्का होती है कि भट्टनायक ने कहा है कि रस यदि परगत (सहृदयातिरिक्त) में प्रतीत होता है तब ताटस्थ्य (सहृदयों से असम्बन्धित) ही होगा अर्थात् तब ऐसी स्थिति में सहृदयों को रसप्रतीति नहीं होगी और स्वगत रूप से अर्थात् (सहृदय में रहने से) वह (रस) राम आदि के चरित रूप काव्य से प्रतीत भी नहीं होता है, क्योंकि अपने आप में प्रतीति मान लेने पर सहृदयों में रस की उत्पत्ति माननी

लोचनम्

मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यानां च रामीदनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः। तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः। किं त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः। तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम्? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः;

होगी। परन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि सामाजिक या सहृदय के प्रति सीता विभाव नहीं है। यदि कहा जाय कि साधारण कान्तात्व रत्यादि वासना के विकास के हेतुभूत विभावना में प्रयोजक है, तो यह भी देवता के वर्णन आदि में किस प्रकार संभव होगा? मध्य में अपनी कान्ता का स्मरण का संवेदन होता है ऐसा नहीं। अलोकसामान्य चरित्रवाले राम आदि में जो समुद्र में सेतुबन्ध आदि विभाव हैं वे किस प्रकार साधारणता को प्राप्त कर सकते हैं? और उत्साहादि से युक्त राम का तत्काल स्मरण भी नहीं होता, क्योंकि उनका पहले कभी अनुभव नहीं हुआ हैं। शब्दरूप काव्य से यदि उस रामगत उत्साहादि की प्रतीति करते हैं तब भी सहृदयों को रस उत्पन्न नहीं होगा जैसे नायक नायिका को प्रत्यक्ष देख कर किसी को रसोत्पत्ति नहीं होती। सहृदयों में रसोत्पत्ति मान लेने पर करुण रस के उत्पन्न होने से दुःखी होने पर वे सहृदय करुणरसप्रधान नाटकों में प्रवृत्त नहीं होंगे। इसलिये न तो सहृदयों में रस की उत्पत्ति मानी जा सकती और न उसकी अभिव्यक्ति ही मान्य हो सकती है। शक्ति रूप शृङ्गार की अभिव्यक्ति में विषय के अर्जन में अनुभव के अंश में तारतम्य की प्रवृत्ति करनी पड़ेगी। वहाँ भी क्या स्वगत रस अभिव्यक्त होगा या परगत, यह दोष पहले के समान ही है। इसलिये काव्य से रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। किन्तु तीन अंशों वाला होने के गुण से काव्य रूप शब्द की अन्य शब्दों से विलक्षणता है। वहाँ अभिधायकत्व वाच्यविषयक व्यापार है, भावकत्व रसादिविषयक व्यापार है और भोगकृत्य (भोजकत्व) सहृदयविषयक व्यापार है। इस प्रकार काव्यरूप शब्द के

लोचनम्

यद्वशादभिधा विलक्षणैव। तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृत्तिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः। स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवे'ति।

अत्रोच्यते–रसस्वरूप एव तावद्विप्रतिपत्तयः प्रतिवादिनाम्। तथाहि–पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्। प्रवाहधर्मिण्यां चित्तवृत्तौ चित्तवृत्तेः चित्तवृत्त्यन्तरेण कः परिपोषार्थः? विस्मयशोकक्रोधादेश्च क्रमेण तावन्न परिपोष इति नानुकार्ये रसः। अनुकर्तरि च तद्भावे लयाद्यननुसरणं स्यात्। सामाजिकगते वा कश्चमत्कारः? प्रत्युत करुणादौ दुःखप्राप्तिः। तस्मान्नायं पक्षः। कस्तर्हि? इहानन्त्यान्नि-

ये तीन अंशभूत व्यापार हैं। यहाँ यदि अभिधा के अंश को शुद्ध (इतरव्यापारानालिङ्गित) मान लिया जाय तो तन्त्र आदि शास्त्र के प्रकारों से श्लेषादि अलङ्कारों का क्या भेद होगा? उपनागरिका आदि वृत्तियों के भेदों का वैचित्र्य कुछ नहीं कर सकता। और पुनः श्रुतिदुष्टादि दोषों का वर्जन किस काम का होगा? इसलिये रसभावनारूप दूसरा व्यापार है जिसके कारण अभिधा विलक्षण हो ही जाती है। वह यह भावकत्व रसों के प्रति जो काव्य के उन रसों के विभावादि के साधारणीकरणत्व का प्रदान है। रस के भावित होने पर उसका भोग जो अनुभव, स्मरण और प्रतिपत्ति से विलक्षण ही है और वह द्रुति, विस्तार और विकास रूप है अर्थात् विगलित वेद्यान्तर रूप में अवस्थिति रूप वाला एवं पर ब्रह्म के आस्वाद का समीपवर्त्ती है, वही प्रधान रूप अंश सिद्ध रूप है। सहृदयों को व्युत्पत्ति (चतुर्वर्गफलप्राप्ति रूप फल) मिलती है वह तो अप्रधान है।

अब इस विषय में कहते हैं– रस के स्वरूप के सम्बन्ध में ही प्रतिवादियों के विभिन्न मत है जैसा कि कुछ लोग कहते हैं कि पूर्व अवस्था में जो स्थायी है, वही व्यभिचारी भावों के संपात आदि से परिपुष्ट हो कर अनुकार्य (राम आदि) में ही रस होता है। परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि नाट्य में प्रयोग किये जाने के कारण नाट्य-रस होता है। कुछ लोग कहते हैं कि चित्तवृत्ति के प्रवाहधर्म वाली होने से एक चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति से परिपोष रूप फल क्या होगा? दूसरे यह कि विस्मय, शोक और क्रोध आदि का क्रम से परिणाम नहीं होता है अतः अनुकार्य में रस नहीं हो

लोचनम्

यतस्यानुकारो न शक्यः, निष्प्रयोजनश्च, विशिष्टताप्रतीतौ ताटस्थ्येन व्युत्पत्त्यभावात्।

तस्मादनियतावस्थात्मकं स्थायिनमुद्दिश्य विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयुज्यमानैरयं रामः सुखीति स्मृतिविलक्षणा स्थायिनि प्रतीतिगोचरतयास्वादरूपा प्रतिपत्तिरनुकर्त्रालम्बना नाट्यैकगामिनी रसः। स च न व्यतिरिक्तमाधारमपेक्षते। किं त्वनुकार्याभिन्नाभिमते नर्तके आस्वादयिता सामाजिक इत्येतावन्मात्रमदः। तेन नाट्य एव रसः, नानुकार्यादिष्विति केचित्।

अन्ये तु अनुकर्तरि यः स्थाय्यवभासोऽभिनयादिसामग्र्यादिकृतो भित्ताविव हरितालादिना अश्वावभासः, स एव लोकातीततयास्वादापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद्रसा नाट्यरसाः। अपरे पुनर्विभावानुभावमात्रमेव विशिष्टसामग्र्या समर्प्यमाणं तद्विभावनीया-

सकता। यदि अनुकर्त्ता नट में रस मानेंगे तो जब नट में रससिद्ध ही है तब उसके द्वारा रसोपयोगी ताल, लय आदि का अनुसरण नहीं बनेगा और यदि सामाजिक में रस स्वीकार करेंगे तब कौन सा चमत्कार होगा? प्रत्युत करुण आदि रसों में सामाजिकों को दु:ख की प्राप्ति होगी। अत: यह भी पक्ष ठीक बन नहीं सकता। फिर कौन होगा? तत्तद्गत इत्यादि भाव के अनन्त होने के कारण निश्चित एक अवस्था वाले स्थायी का अनुकरण नहीं किया जा सकता और वह निष्प्रयोजन भी है, क्योंकि स्थायी के वैशिष्ट्य की प्रतीति में नट के तटस्थ होने के कारण चतुवर्ग– धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की उपाय रूप व्युत्पत्ति भी नहीं होगी।

इसलिये जिसकी अवस्था नियत नहीं है ऐसे स्थायी को उद्देश बना कर संय.ोग प्राप्त करते हुये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव से 'यह राम सुखी है' इस स्मृति से विलक्षण एवं स्थायीभाव के प्रतीति सुलभ होने के कारण समास्वाद रूप, अनुकर्त्ता नट में आलम्बित एकमात्र नाट्य में रहने वाली प्रतिपत्ति (ज्ञान) रस है। यह रस किसी दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं करता किन्तु अनुकार्य (राम आदि) से अभिन्न माने गये नर्त्तक में सामाजिक आस्वाद प्राप्त करता है, वस यह इतना मात्र ही हो सकता है। इसलिये नाट्य में ही रस है अनुकार्य आदि में नहीं।

कुछ लोग कहते हैं— अनुकर्त्ता नट में अभिनयादि सामग्री आदि से उत्पन्न जो स्थायी भाव का अवभास (मिथ्या ज्ञान) है उसी प्रकार का है जिस प्रकार दीवाल पर हरिताल से लिखे गये अश्व का मिथ्या ज्ञान । वही लोकातीत जिसका दूसरा नाम आस्वाद है उसके प्रतीति से रस्यमान होने पर रस कहा जाता है। इस प्रकार

लोचनम्

नुभावनीयस्थायिरूपचित्तवृत्त्युचितवासनानुषक्तं स्वनिर्वृतिचर्वणा-विशिष्टमेव रसः। तन्नाट्यमेव रसाः। अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम्, एकेऽनुकार्यम्, केचन सकलमेव समुदायं रसमाहुरित्यलं बहुना।

काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्ति-प्रकारद्वयेनालौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता। अस्तु वात्र नाट्याद्विचित्ररूपा रसप्रतीतिः; उपायवैलक्षण्यादियमेव तावदत्र सरणिः। एवं स्थिते प्रथमपक्ष एवैतानि दूषणानि, प्रतीतेः स्वपरगतत्वादिविकल्पनेन। सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहार्या रसस्य। अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात्। किं तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी आगमोत्था प्रतिभानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगा-परनामा भवतु। तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या

नाट्य से रस नाट्य-रस कहलाते हैं। और लोगों के अनुसार विभाव-अनुभाव मात्र ही विशिष्ट सामग्री के द्वारा सामाजिकों में समर्पित, उनसे विभावनीय एवं अनुभावनीय स्थायी रूप चित्तवृत्ति के उचित वासना में सम्बद्ध एवं सामाजिकों की निर्वृत्ति (आनन्द) रूप चर्वणा से विशिष्ट होकर ही रस निष्पन्न होता है। कोई अन्य लोग शुद्ध विभाव को, दूसरे शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग स्थायी मात्र को, इतर लोग व्यभिचारी भाव को, दूसरे लोग इनके संयोग को, कुछ लोग अनुकार्य को, कुछ लोग संपूर्ण समुदाय को ही रस मानते हैं। इस विषय में बहुत कहने की आवश्यकता नहीं।

काव्य में भी लोकधर्मी और नाट्यधर्मी के समान क्रमशः स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दोनों प्रकारों से अलौकिक प्रसन्न मधुर और ओजस्वी शब्दों से समर्प्यमाण विभावादि के योग से इसी प्रकार रस की प्रतीति होती है। अथवा काव्यों में नाट्य से रस की प्रतीति विचित्र होती है। तथापि उपाय के विलक्षण होने के कारण यहाँ भी वही प्रकार है। इस प्रकार की स्थिति में पहले पक्ष में ही ये दोष हैं, क्योंकि प्रतीति स्वगत होती है या परगत होती है, इस विकल्प की संभावना है। सभी पक्षों में रस की प्रतीति का निराकरण नहीं हो सकता। क्योंकि अप्रतीत वस्तु पिशाच की भाँति व्यवहार में नहीं आती। किन्तु जिस प्रकार प्रतीति मात्र होने से अविशिष्ट (सामान्य) होने पर भी प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था, प्रतिभानकृता, योगिप्रत्यक्षजा ये प्रतीतियाँ उपायों के विलक्षण होने से पृथक्-पृथक् हो जाती हैं। उसी प्रकार यह भी

लोचनम्

लोकोत्तररूपत्वात्। रसाः प्रतीयन्त इति ओदनं पचतीतिवद् व्यवहारः, प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना। सा च नाट्ये लौकिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा; तां च प्रमुखे उपायतया सन्दधाना। एवं काव्ये अन्यशाब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा।

तस्मादनुत्थानोपहतः पूर्वपक्षः। रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदयसंवादीति महत्साहसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः। यदाह–'तासामनादित्वमशिषो नित्यत्वात्। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्' इति तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कार-परिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां

प्रतीति जिसकी संज्ञा चर्वणा, आस्वादन, भोग आदि हैं, अन्य प्रतीतियों की अपेक्षा विलक्षण है। क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति का निदानभूत जो हृदयसंवाद आदि से उपकृत विभावादि सामग्री है वह लोकोत्तर है। रस प्रतीत होते हैं यह '**ओदनं पचति**' के समान व्यवहार का विषय है, क्योंकि रस प्रतीयमान ही होता है। विशिष्ट प्रतीति ही रसना हैं। वह रसना नाट्य में अलौकिक अनुमानजन्य प्रतीति से विलक्षण प्रतीति है। उस लौकिक अनुमानजन्य प्रतीति को वह प्रतीति पहले अपने उपाय के रूप में अपेक्षा करती है। इस प्रकार काव्य में अन्य शब्दजन्य प्रतीति से विलक्षण प्रतीति होती है। उस शब्दप्रतीति को पहले में उपाय रूप से अपेक्षा करती है।

इसलिये पूर्वपक्ष अनुत्थित होने के कारण अपहत हो गया। ऐसा कहना बहुत साहस की बात है कि राम आदि का चरित सबका हृदयसंवादी नहीं है, क्योंकि चित्त नानाविध वासना से विशिष्ट रहता है। जैसा कि योगसूत्रकार स्वयं कहते हैं– **तासामनादित्वमाशिषो विशिष्टत्वात्**–वासनायें अनादि होती हैं, क्योंकि आशीष या संकल्पविशेष (हमें सुख प्राप्त होता रहे, कभी सुख साधनों का वियोग न हो) नित्य होते हैं, अत: जाति-देश और काल के व्यवधान हो जाने पर भी वासनाओं का आनन्तर्य (क्रम) बना रहता है, क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों एक समान होते हैं। इस कारण रस की प्रतीति सिद्ध है। वही प्रतीति रसना रूप में उत्पन्न होती है। उस रसना या प्रतीति में वाच्य और वाचक का अभिधा से व्यतिरिक्त व्यञ्जना (ध्वनन) ही व्यापार है। भट्टनायक का अभिमत भोगीकरण (भोजकत्व) व्यापार काव्य का

लोचनम्

केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्। 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः इत्यत्र। तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपि तु घनमोहान्ध्यसङ्कटतानिवृत्ति-द्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोग कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारान-तिरिक्तत्वाद्भोगस्येति। सत्त्वादीनां चाङ्गाङ्गिभाव-वैचित्र्यस्यानन्त्याद् द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता। परब्रह्मास्वादस-ब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्वादस्य। व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणम्। यथा रामस्तथाहमित्युपमानातिरिक्तां रसास्वा-

रसविषयक व्यापार होने के कारण ध्वनन रूप ही हैं, दूसरा कुछ भी नहीं। समुचित गुणों और अलङ्कारों के परिग्रह रूप भावकत्व व्यापार को विस्तार के साथ आगे कहेंगे। फिर यह अपूर्व क्या है? यदि आप कहते हैं कि रसों के प्रति काव्य भावक होता है, वहाँ आपने ही भावन करने अर्थात् काव्य को रस का उत्पादक मान लेने से उत्पत्तिपक्ष को स्वयं पुनरुज्जीवित कर दिया है। केवल काव्य के शब्दों का रस भावकत्व नहीं बन सकता, क्योंकि अर्थज्ञान न होने पर उनका भावकत्व नहीं होगा। केवल अर्थों का भी भावकत्व संभव नहीं है। शब्दान्तर (लौकिक वाक्यों) से भी उन अर्थों के उपस्थित होने पर उनमें भावकत्व का योग नहीं। दोनों का भावकत्व तो हमने ही कह दिया है- **यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः**- जहाँ अर्थ अथवा शब्द उस अर्थ को व्यञ्जित करते हैं इस कारिका में। इसलिये व्यञ्जकत्व नामक व्यापार से गुण और अलङ्कार के औचित्य आदि रूप इतिकर्त्तव्यता के द्वारा भावक काव्य रसों को भावित करता है। इस व्यञ्जकत्व नामक व्यापार से गुण और अलंकार के औचित्य आदि रूप इतिकर्त्तव्यता इन तीनों अंशों वाली भावना में साधन अंश में ध्वनन ही आता है। भोग भी काव्य शब्द से नहीं किया जाता है। अपितु वह भोग जो घने मोहान्धकार के सङ्कटता की निवृत्ति द्वारा (भग्न हो जाने के कारण) आस्वाद जिसका दूसरा नाम अलौकिक द्रुत विस्तार विकास है, तद्रूप भोग के कर्त्तव्य में लोकोत्तर ध्वनन व्यापार ही मूर्धाभिषिक्त (प्रधान हेतु) होता है। वह यह भोगकृत्व (भोजकत्व व्यापार) रस की ध्वननीयता के सिद्ध हो जाने पर दैवसिद्ध (स्वयं सिद्ध) है। क्योंकि भोग रस्यमानता

ध्वन्यालोकः

रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरिति व्यपदेशः ॥४॥

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥५॥

प्रधानेऽन्यत्रेति– जहाँ अन्य अङ्गभूत रसादि से भिन्न रस या वस्तु या अलङ्कार प्रधान वाक्यार्थ हों और उसमें रस, भाव, तदाभास भावप्रशमादि अङ्ग हों उस काव्य में रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित अलङ्कार होते हैं यह मेरी सम्मति है॥५॥

लोचनम्

दोपायस्वप्रतिभाविजृम्भारूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोतीति कमुपालभामहे। तस्मात्स्थितमेतत्– अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च. रस्यन्त इति। तत्राभिव्यक्तिः प्रधानतया भवत्वन्यथा वा। प्रधानत्वे ध्वनिः, अन्यथा रसाद्यलङ्काराः। तदाह–*मुख्यमर्थमिति। व्यवस्थिता इति।* पूर्वोक्तयुक्तिभिर्विभागेन व्यवस्थापितत्वादिति भावः॥४॥

अन्यत्रेति। रसस्वरूपे वस्तुमात्रेऽलङ्कारतायोग्ये वा। *मे मतिरित्यन्यपक्षं* दूष्यत्वेन हृदि निधायाभीष्टत्वात्स्वपक्षं पूर्वं दर्शयति–*तथापीति।* स हि

के कारण उत्पन्न चमत्कार से अभिन्न है। सत्त्वादि का अङ्गाङ्गिभाव प्रयुक्त वैचित्र्य अनन्त हो जाता है। अतः द्रुति आदि रूप से आस्वाद की गणाना युक्त नहीं है। इसी रसास्वाद को परब्रह्म के आस्वाद के समान होना माना गया है। इस काव्य का व्युत्पादन शास्त्र के शासन और इतिहास के प्रतिपादन की अपेक्षा विलक्षण होता है। 'जैसा राम वैसा मैं हूँ।' वह काव्य इस प्रकार के उपमान से अतिरिक्त रसास्वाद के उपायभूत अपनी प्रतिभा की विजृम्भा (विकास) रूप व्युत्पत्ति को सबसे अन्त में उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति में हम किसे उलाहना दें। इसलिये स्थिर हुआ कि रस अभिव्यक्त होते हैं और प्रतीति के द्वारा आस्वादित होते हैं। वह अभिव्यक्ति चाहे प्रधान रूप से हो अथवा अप्रधान रूप से। प्रधान होने पर ध्वनि होगा, अप्रधान होने पर रसादि अलङ्कार। इसी बात को कहते हैं **मुख्यमर्थमनुवर्त्तमाना। व्यवस्थिताः** भाव यह कि पहले कही गई युक्तियों से विभाग के द्वारा व्यवस्थापित किये जा चुके हैं॥४॥

अन्यत्रेति– रसस्वरूप वस्तुमात्र अथवा अलङ्कारता के योग्य वाक्यार्थ। **मे मतिः** इस कथन से दूसरे के पक्ष को दूषणीय मान कर अभीष्ट होने के कारण अपना पक्ष प्रथम प्रदर्शित करते हैं। **तथापीति** भाव यह कि वह परदर्शित विषय नीति के अनुसार

ध्वन्यालोकः

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः। तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते।

यद्यपि रसवदलङ्कार का विषय अन्यों ने भी प्रदर्शित किया है फिर भी जिस काव्य में प्रधानतया कोई अन्य अर्थ (रस, वस्तु या अलङ्कार) वाक्यार्थ हो उस प्रधान वाक्यार्थ के अङ्गभूत जो रसादि हों वे रसादि अलङ्कार के विषय होते हैं, यह मेरा पक्ष है। जैसे चाटु वाक्यों में (चापलूसी वाले वचनों में) प्रेयोऽलङ्कार के मुख्य वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अङ्गरूप में दिखाई देते हैं। वहाँ रसादि अलङ्कार होगा यह मेरा

लोचनम्

परदर्शितो विषयो भाविनीत्या नोपपन्न इति भावः। *यस्मिन् काव्ये इति* स्पष्टत्वेनासङ्गतं वाक्यमित्थं योजनीयम्–यस्मिन् काव्ये ते पूर्वोक्ता रसादयोऽङ्गभूता वाक्यार्थीभूतश्चान्योऽर्थः, चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे; तस्य काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादयोऽङ्गभूतास्ते रसादेरलङ्कारस्य रसवदाद्यलङ्कारशब्दस्य विषयाः; स एवालङ्कारशब्दवाच्यो भवति योऽङ्गभूतः, न त्वन्य इति यावत्। अत्रोदाहरणमाह–*तद्यथेति।* तदित्यङ्गत्वम्। यथात्र वक्ष्यमाणोदाहरणे, तथान्यत्रापीत्यर्थः। भामहाभिप्रायेण चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इतीदमेकं वाक्यम्। भामहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयप्रीतिवर्णनं प्रेयोलङ्कार इत्युक्तम्। तत्र

अनुपपन्न (अयुक्त) है। **यस्मिन् काव्ये इति–** जिस काव्य में स्पष्ट होने पर भी इस असङ्गत वाक्य की योजना इस प्रकार करनी चाहिये– जिस काव्य में पूर्वोक्त रसादि अङ्गभूत हों और अन्य अर्थ वाक्यार्थीभूत (प्रधान) हों। च शब्द तु शब्द के अर्थ में है। उस काव्य के सम्बन्धी जो रसादि अङ्गभूत हैं वे रसवदादि अलङ्कार शब्द के विषय हैं, वही अलङ्कार शब्द का वाच्य होता है जो अङ्गभूत होता है, दूसरा नहीं। उदाहरण देते हैं— **तद्यथेति–** तद् वह अर्थात् अङ्गत्व। अर्थात् जैसे यहाँ वक्ष्यमाण उदाहरण में उसी प्रकार अन्यत्र भी। भामह के अभिप्राय से चाटु के विषयों में प्रेयोऽलङ्कार के वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अङ्गभूत देखे जाते हैं, इतना एक वाक्य है। भामह ने स्वयं जैसा कहा है कि गुरु, देवता, नृपति तथा पुत्र के विषय में प्रीति का वर्णन प्रेयोऽलङ्कार है। **प्रेयान् अलङ्कारो यत्र सः प्रेयोऽलङ्कारः स अलङ्करणीयः** ऐसा कहा है। प्रेयान् (अत्यन्त प्रिय) जहाँ अलङ्कार है वह प्रेयोऽलङ्कार अलङ्करणीय यहाँ कहा

ध्वन्यालोक:

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीर्णो वा। तत्राद्यो यथा–

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनं

केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः।

मत है। वह रसादि अलङ्कार शुद्ध और संकीर्ण भेद से दो प्रकार का होता है। उसमें पहले शुद्ध रसवदलङ्कार का उदाहरण जैसे **किमिति**—

इस श्लोक में किसी राजा की स्तुति की गई हैं जिसका भाव यह है कि तुमने अपने शत्रुओं को विनष्ट कर दिया। उनकी स्त्रियाँ रात को स्वप्नावस्था में अपने पतियों को जब देखती हैं तब उनके गले में हाथ डाल कर कहती हैं—

भला इस परिहास से क्या लाभ है? बहुत दिनों बाद तुम्हारे दर्शन हुये हैं। अब मैं जाने नहीं दूँगी। हे निष्ठुर! बताओ तुम्हारी प्रवास में ऐसी रुचि क्यों हो गई है? तुमको मुझसे किसने अलग कर दिया है? स्वप्न में अपने पति के

लोचनम्

प्रेयानलङ्कारो यत्र स प्रेयोलङ्कारोऽलङ्करणीय इहोक्तः। न त्वलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वं युक्तम्। यदि वा वाक्यार्थत्वं प्रधानत्वम्। चमत्कारकारितेति यावत्। उद्भटमतानुसारणिस्तु भङ्क्त्वा व्याचक्षते– चाटुषु चाटुविषये वाक्यार्थत्वे चाटूनां वाक्यार्थत्वे प्रेयोलङ्कारस्यापि विषय इति पूर्वेण सम्बन्धः। उद्भटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्तः, प्रेम्णा भावानामुपलक्षणात्। न केवलं रसवदलङ्कारस्य विषयः यावत्प्रेयःप्रभृतेरपीत्यपिशब्दार्थः। रसवच्छब्देन प्रेयःशब्देन च सर्व एव रसवदाद्यलङ्कारा उपलक्षिताः, तदेवाह–*रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इति।* उक्तविषय इति शेषः।

गया है– क्योंकि अलङ्कार को वाक्यार्थत्व कहना उचित नहीं। वाक्यार्थत्व प्रधानत्व या चमत्कारिता है। उद्भट के मतानुयायी लोग इस वाक्य को प्रविभक्त कर व्याख्यान करते हैं। चाटु विषय के वाक्यार्थ होने पर प्रेयोऽलङ्कार का भी विषय है यह पहले वाक्य से सम्बन्ध (अन्वय) है, क्योंकि उद्भट के मत में भावालङ्कार ही प्रेयः अलङ्कार कहा गया है। यहाँ प्रेय पद भाव का उपलक्षण है। अपि शब्द का अर्थ है कि न केवल रसवदलङ्कार का अपि तु प्रेयः प्रभृति अलङ्कार का भी विषय है। रसवत् शब्द से और प्रेयः शब्द से सभी रसवदादि अलङ्कार उपलक्षित हैं उसी को कहते हैं **रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त** इति। **शुद्ध इति** अर्थात् अङ्गभूत किसी अन्य रस से अथवा किसी अन्य

ध्वन्यालोकः

स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ॥

कण्ठ का अलिङ्गन कर इस प्रकार कहने वाली तुम्हारी रिपुस्त्रियाँ जग कर अपने प्रियतम के कण्ठग्रहण के लिये अपने फैलाये हुये बाहुवलय को रिक्त देखकर तारस्वर से (चिग्घाड़ मारकर) रोती हैं।

लोचनम्

शुद्ध इति। रसान्तरेणाङ्गभूतेनालङ्कारान्तरेण वा न मिश्रः, आमिश्रस्तु सङ्कीर्णः। स्वप्नस्यानुभूतसदृशत्वेन भवनमिति हसन्नेव प्रियतमः स्वप्नेऽवलोकितः। *न मे प्रयास्यसि पुनरिति।* इदानीं त्वां विदितशठभावं बाहुपाशबन्धान्न मोक्ष्यामि। अत एव *रिक्तबाहुवलय इति।* स्वीकृतस्य चोपालम्भो युक्त इत्याह– *केयं निष्करुणेति। केनासीति।* गोत्रस्खलनादावपि न मया कदाचित्खेदितोऽसि। स्वप्नायितेषु सुप्तप्रलपितेषु पुनः पुनरुद्भवतया बहुष्विति वदन्युष्माकं सम्बन्धी रिपुस्त्रीजनः प्रियतमे विशेषेणासक्तः कण्ठग्रहो येन तादृश एव सन् बुद्ध्वा शून्यवलयाकारीकृतबाहुपाशः सन् तारं मुक्तकण्ठं रोदितीति। अत्र शोकस्थायिभावेन स्वप्नदर्शनोद्दीपितेन करुणरसेन चर्व्यमाणेन सुन्दरीभूतो नरपतिप्रभावो भातीति करुणः शुद्ध

अलङ्कार से जो न मिला हो। वह शुद्ध हैं और जो संमिश्र अथवा मिला हुआ है वह संकीर्ण है। अनुभव किये हुये के सदृश स्वप्न होता है अतः हँसता हुआ प्रियतम स्वप्न में देखा गया। **न मे प्रयास्यसीति** फिर तुम मुझसे दूर नहीं जा सकते। अब मैंने तुम्हारा शठभाव (छिप-छिपकर प्रतिकूल आचरण) को जान लिया है। ऐसी स्थिति में तुम्हें बाहुपाश में बाँध कर रखूँगी, कदापि न छोड़ूँगी। इसलिये **रिक्तबाहुवलय** इति। अपने आदमी को उलाहना देना उचित ही है इसलिये कहते हैं। **क्वेयं निष्करुण प्रवास रुचिता केनासि** कभी मैंने तुम्हारे गोत्र-स्खलन जैसे अपराधों पर भी तुम्हें खिन्न नहीं किया है। **स्वप्नान्तेष्विति** स्वप्न की स्थिति के प्रलापों में बार-बार उत्पन्न होने के कारण बहुत से इस प्रकार प्रलाप करती हुई तुम्हारी रिपुस्त्रियाँ **प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहः** प्रियतम में विशेष रूप से आसक्त किया है कण्ठग्रह को जिन्होंने ऐसी ही अवस्था में जग कर वलय से शून्यता की स्थिति को प्राप्त बाहुपाश वाली वे अधिक स्वर से अर्थात् मुक्तकण्ठ से रुदन करती है। यहाँ जिसका शोक स्थायीभाव है और जो स्वप्नदर्शन से अधिक उद्दीपित है ऐसे करुणरस से चर्चित राजा अपने सुन्दर प्रभाव से शोभित हो रहा है। इस प्रकार यहाँ करुण रस शुद्ध अवस्था में ही अलङ्कार है।

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र करुणरसस्य शुद्धस्याङ्गभावात्स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम्। एवमेवंविधे विषये रसान्तराणां स्पष्ट एवाङ्गभावः।

यहाँ इस उदाहरण में शुद्ध करुण रस अङ्ग है और रसवदलङ्कारत्व स्पष्ट है। इसी प्रकार इस तरह के उदाहरणों में अन्य रसों का भी अङ्गभाव स्पष्ट है।

संकीर्ण रसादि भी अङ्गरूप होता है जैसे— **क्षिप्त इति।**

लोचनम्

एवालङ्कारः। न हि त्वया रिपवो हता इति यादृगनलङ्कृतोऽयं वाक्यार्थस्तादृगयम्, अपि तु सुन्दरतरीभूतोऽत्र वाक्यार्थः, सौन्दर्यं च करुणरसकृतमेवेति। चन्द्रादिना वस्तुना यथा वस्त्वन्तरं वदनाद्यलङ्क्रियते तदुपमितत्वेन चारुतयावभासात्। तथा रसेनापि वस्तु वा रसान्तरं वोपस्कृतं सुन्दरं भाति इति रसस्यापि वस्तुन इवालङ्कारत्वे को विरोधः?

ननु रसेन किंकुर्वता प्रकृतोऽर्थोऽलङ्क्रियते। तर्हि उपमयापि किं कुर्वत्यालङ्क्रियेत। ननु तयोपमीयते प्रस्तुतोऽर्थः। रसेनापि तर्हि सरसीक्रियते सोऽर्थ इति स्वसंवेद्यमेतत्। तेन यत्केचिदचूचुदन्–'अत्र रसेन विभावादीनां मध्ये किमलङ्क्रियते' इति तदनभ्युपगमपराहतम्; प्रस्तुतार्थस्यालङ्कार्यत्वेनाभिधानात्। अस्यार्थस्य भूयसा लक्ष्ये सद्भाव इति दर्शयति–*एवमिति।* यत्र राजादेः प्रभावख्यापनं तादृश इत्यर्थः।

जिस प्रकार 'तुमने अपने शत्रुओं को मार डाला है' यह अलङ्कारहीन वाक्यार्थ है। वैसा यह नहीं है, बल्कि यह अत्यन्त सुन्दर वाक्यार्थ बन गया है। यहाँ वह सौन्दर्य करुणरस के द्वारा ही है। जिस प्रकार चन्द्रमादि पदार्थों से उसी प्रकार वाला दूसरा पदार्थ मुख आदि अलङ्कृत होता है, क्योंकि चन्द्र द्वारा उपमित होने से उसकी चारुता स्पष्ट रूप से अवभासित होती है। उसी प्रकार रस से भी वस्तु अथवा रसान्तर उपस्कृत हो कर सुन्दर हो जाता है। इस प्रकार रस का भी वस्तु की भाँति अलङ्कार होने से कौन सा विरोध है?

यहाँ संदेह करते हैं कि क्या करता हुआ रस प्रकृत अर्थ को अलङ्कृत करता है? प्रश्न द्वारा समाधान करते हैं कि क्या करती हुई उपमा अलंकृत करती है? यदि कहिये कि प्रस्तुत उसके द्वारा उपमित किया जाता है तब तो स्वयं भी समझ लेना चाहिये कि रस के द्वारा भी वही अर्थ सरस किया जाता है। इसलिये जो कुछ लोगों ने कहा है कि यहाँ रस के द्वारा विभावादि के बीच किसे अलङ्कृत किया जाय?

ध्वन्यालोकः

सङ्कीर्णो रसादिरङ्गभूतो यथा–

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥

त्रिपुर की युवतियों द्वारा आर्द्रापराध (तत्कालकृत पराङ्गनोपभोगादि अपराधयुक्त) कामी के समान हाथ से छूने पर झटक दिया गया जोर से ताड़ित करने पर भी वस्त्राञ्चल को पकड़ता हुआ केशों के पकड़ने पर हटाया गया पैरों में पड़ने पर भी क्रोध अथवा घबड़ाहट के कारण न देखा गया और आलिङ्गन के लिये प्रयत्न करने पर भी आँसुओं से परिपूर्ण नेत्रकमल वाली (कामीपक्ष में ईर्ष्या के कारण और अग्निपक्ष में संरक्षण की आशा से रहित होने के कारण रोती हुई) त्रिपुरसुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत (कामीपक्ष में प्रत्यालिङ्गन द्वारा स्वीकृत न करके और अग्निपक्ष में सारे शरीर को झटक कर फेंका गया) शम्भु की त्रिपुरदाह के समय उत्पन्न शराग्नि तुम्हारे सभी दुःखों को दूर करें।

लोचनम्

_क्षिप्त इति।_ कामिपक्षेऽनादृतः इतरत्र धुतः। अवधूत इति न प्रतीप्सितः प्रत्यालिङ्गनेन, इतरत्र सर्वाङ्गधूननेन विशरारूकृतः। साश्रुत्वमेकत्रेर्ष्यया अन्यत्र निष्प्रत्याशतया। कामीवेत्यनेनोपमानेन श्लेषानुगृहीतेनेर्ष्याविप्रलम्भो य आकृष्टस्तस्य श्लेषोपमासहितस्याङ्गत्वम्, न केवलस्य। यद्यप्यत्र करुणो रसो वास्तवोऽप्यस्ति तथापि स तच्चारुत्वप्रतीत्यै न व्याप्रियत इत्यनेनाभिप्रायेण श्लेषहितस्येत्येतावदेवावोचत्, न तु करुणसहितस्येत्यपि।

यह अमान्य होने के कारण निराकृत है। क्योंकि प्रस्तुत अर्थ को अलङ्कार्य कहा गया है। इस अर्थ का बहुत प्रकार से लक्ष्य में सद्भाव है इसे प्रदर्शित करते हैं– **एवमिति।** जहाँ राजादि के प्रभाव का प्रख्यापन हो उसी प्रकार।

क्षिप्त इति– कामी के पक्ष में अनाहत अन्यत्र बाणाग्नि के पक्ष में फेंक दिया गया। **अवधूत** इति कामी के पक्ष में प्रत्यालिङ्गन द्वारा प्रत्यभिलषित न होता हुआ। शराग्नि पक्ष में सभी अङ्गों के झकझोर देने से कण-कण रूप से विशीर्ण। **साश्रुत्वमिति** कामी के पक्ष में ईर्ष्या के कारण। शराग्नि पक्ष में प्रत्याशा से रहित होने के कारण। **कामीवेति** कामी की भाँति श्लेष अलङ्कार द्वारा अनुगृहीत उपमान से ईर्ष्याविप्रलम्भ जो आकृष्ट होता है श्लेषोपमासहित वह ईर्ष्याविप्रलम्भ का अङ्ग है। केवल अकेले

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति, एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य न्याय्यो विषयः। अत एव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात्समावेशो न दोषः। यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम्? अलङ्कारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः; न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः।

तथा चायमत्र संक्षेपः–

इस श्लोक में त्रिपुरारि सदाशिव का प्रभावातिशय मुख्य वाक्यार्थ है। श्लेषसहित ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण रस उसका अङ्ग है, इसलिये यहाँ संकीर्ण रसादि अङ्ग है। इसी प्रकार के उदाहरण रसवदलङ्कार के उचित विषय होते हैं। इसीलिये यहाँ ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण रस दोनों विरोधी रसों के अङ्गरूप में स्थित होने से दोष नहीं है। जहाँ रस का वाक्यार्थत्व है अर्थात् जहाँ रस ही प्रधान है वहाँ तो वह अलङ्कार्य है अलङ्कार नहीं। अतएव वह ध्वनि होता है रसवदलङ्कार नहीं। वहाँ उसको रसवदलङ्कार किस प्रकार मानें अर्थात् नहीं मान सकतें हैं, क्योंकि चारुत्व हेतु को ही अलङ्कार कहते हैं। वह स्वयं ही अपना

लोचनम्

एतमर्थमपूर्वतयोत्प्रेक्षितं दृढीकर्तुमाह–*एवंविध एवेति। अत एवेति।* यतोऽत्र विप्रलम्भस्यालङ्कारत्वं न तु वाक्यार्थता, अतो हेतोरित्यर्थः। *न दोष इति।* यदि ह्यन्यतरस्य रसस्य प्राधान्यमभविष्यन्न द्वितीयो रसः समाविशेत्। रतिस्थायिभावत्वेन तु सापेक्षभावो विप्रलम्भः, स च शोकस्थायिभावत्वेन निरपेक्षभावस्य करुणस्य विरुद्ध एव। एवमलङ्कारशब्दप्रसङ्गेन समावेशं प्रसाध्य एवंविध एवेति यदुक्तं तत्रैवकारस्याभिप्रायं व्याचष्टे–*यत्र इति।* सर्वासामुपमादीनाम्।

श्लेष का ही नहीं। यद्यपि यहाँ वस्तुतत्त्व की दृष्टि से करुणरस भी है। लेकिन वह उस विप्रलम्भ के चारुत्व की प्रतीति के लिये सम्बद्ध नहीं है। इस अभिप्राय से श्लेष-सहित इतना ही कहा है– न कि करुणसहित यह भी कहा है। अपूर्व प्रकार से उत्प्रेक्षित इसी बात को और दृढ़ करने के लिये कहते हैं– **एवं विध** इति। **अत एवेति**। जिस कारण यहाँ विप्रलम्भ का अलङ्कारत्व है वाक्यार्थत्व नहीं उस कारण से। **न दोष** इति क्योंकि यदि दो रसों में किसी एक रस का प्राधान्य होता तो दूसरे रस का समावेश प्राप्त नहीं होता। जिसका रति स्थायीभाव है, इस कारण विप्रलम्भ सापेक्षभाव है और

ध्वन्यालोकः

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वो न रसादेरलङ्कारस्य विषयः; स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलङ्काराः। यत्र तु

चारुत्व हेतु नहीं है। अर्थात् प्रधान होने से स्वयं अलङ्कार्य है और रसवदलङ्कार होने से चारुत्व का हेतु भी हो तो यह दोनों नहीं हो सकते। इसलिये इसका सारांश यह हुआ रस भावादि के तात्पर्य का आश्रय करके। अर्थात् रसभावादि को प्रधान मान कर उनके अङ्गरूप में अलङ्कारों की स्थिति ही सब अलङ्कारों के अलङ्कारत्व (चारुत्व हेतु) का साधक हैं॥

तस्मादिति– इसलिये जहाँ रसादि वाक्यार्थीभूत होते हैं अर्थात् प्रधानतया बोधित होते हैं वह सभी स्थान रसादि अलङ्कार का विषय नहीं होता अपितु वे

लोचनम्

अयं भावः–उपमादीनामलङ्कारत्वे यादृशी वार्ता तादृश्येव रसादीनाम्। तदवश्यमन्येनालङ्कार्येण भवितव्यम्। तच्च यद्यपि वस्तुमात्रमपि भवति, तथापि तस्य पुनरपि विभावादिरूपतापर्यवसानाद्रसादितात्पर्यमेवेति सर्वत्र रसध्वनेरेवात्मभावः। तदुक्तं–*रसभावादितात्पर्यमिति*। *तस्येति*। प्रधान-स्यात्मभूतस्य। एतदुक्तं भवति-उपमया यद्यपि वाच्योऽर्थोऽलङ्क्रियते, तथापि तस्य तदेवालङ्करणं यद्व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति वस्तुतो

शोक जिसका स्थायीभाव है ऐसा करुण रस निरपेक्षभाव है, अतः करुण विप्रलम्भ से विरुद्ध ही है। इस प्रकार अलङ्कार शब्द के प्रसंग से समावेश की बात सिद्ध कर इस प्रकार ही यह जो कहा है उसमें एवं शब्द की व्याख्या करते हैं– **यत्र हीति** अर्थात् सभी उपमा आदि का।

इसका भाव यह है कि उपमादि के अलङ्कार होने में जैसी बात है वही बात रसादि के अलङ्कार होने में हैं, इसलिये इसके अतिरिक्त कोई अन्य अलङ्कार्य होना चाहिये। यद्यपि वह अलङ्कार्य वस्तुमात्र भी हो सकता है, तथापि उसका विभावादि रूप तात्पर्य में पर्यवसान होने के कारण रसादि तात्पर्य ही सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में सर्वत्र रसध्वनि का आत्मत्व है। प्रधान आत्मभूत का– इतनी बात कही गई– उपमा से यद्यपि वाच्यार्थ अलङ्कृत होता है तथापि उस वाच्यार्थ का वही अलङ्करण है जो व्यङ्ग्य अर्थ के अभिव्यञ्जन का आधान है। इस प्रकार वस्तुतः ध्वनि रूप ही अलङ्कार्य

ध्वन्यालोकः

प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते, स रसादेरलङ्कारताया विषयः।

रसादि ध्वनि के भेद हैं, उस रसादिध्वनि के चारुत्व हेतु उपमादि अलङ्कार होते हैं, और जहाँ प्राधान्येन कोई दूसरा अर्थ वाक्यार्थीभूत हो और रसादि उसके चारुत्व का संपादन करते हों वह रसादि अलङ्कार का विषय है।

लोचनम्

ध्वन्यात्मैवालङ्कार्यः। कटककेयूरादिभिरपि हि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयालङ्क्रियते। तथाहि– अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्। न हि देहस्य किञ्चिदनौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालङ्कार्यः, अहमलङ्कृत इत्यभिमानात्। *रसादेरलङ्कारताया इति।* व्यधिकरणषष्ठ्यौ, रसादेर्यालङ्कारता तस्याः स एव विषयः। एतदनुसारेणैव पूर्वत्रापि वाक्ये योज्यम्, रसादिकर्तृकस्यालङ्करणक्रियात्मनो विषय इति। *एवमिति।* अस्मदुक्तेन विषयविभागेनेत्यर्थः। *उपमादीनामिति।* यत्र रसस्यालङ्कार्यता रसान्तरं चाङ्गभूतं नास्ति तत्र शुद्धा एवोपमादयः। तेन संसृष्ट्या नोपमादीनां विषयापहार इति भावः। *रसवदलङ्कारस्य चेति।* अनेन भावाद्यलङ्कारा अपि प्रेयस्व्यूर्जस्विसमाहिता गृह्यन्ते। तत्र भावालङ्कारस्य शुद्धस्योदाहरणं यथा–

है वाच्यार्थ रूप नहीं। क्योंकि शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर भी कटक-केयूरादि अलङ्कार उन-उन विशेष चित्तवृत्ति के औचित्य के सूचक होने के कारण चेतनस्वरूप आत्मा को ही अलङ्कृत करते हैं, जैसा कि देखा भी जाता है कि चेतनारहित शव-शरीर कटक-कुण्डलादि अलङ्कारों से विभूषित होने पर भी शोभित नहीं होता, क्योंकि उसमें अलङ्कार्य आत्मतत्त्व का अभाव है। साधु का शरीर कटकादि से युक्त होने पर भी हास्यास्पद होता है, क्योंकि वहाँ उस अलङ्कार्य का औचित्य नहीं है। शरीर का कोई अनौचित्य नहीं, वस्तुतः आत्मा ही अलङ्कार्य है, क्योंकि वहाँ यह अभिमान होता हैं कि मैं अलङ्कृत हूँ। **रसादेरलङ्कारस्य विषय इति।** यहाँ व्यधिकरण षष्ठी विभक्ति है अर्थात् रसादि की जो अलङ्कारता वही विषय। इसी के अनुसार पहले वाक्य में भी योजना कर लेनी चाहिये– रसादिकर्तृक अलङ्करण क्रिया का विषय। **एवमिति** इस प्रकार अर्थात् जैसा कि हमने विषय-विभाग कहा है। **उपमादीनामिति** जहाँ रस की

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेरुपमादीनां रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति। यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते

इस प्रकार ध्वनि, उपमादि अलङ्कार और रसवदलङ्कार का क्षेत्र अलग-अलग हो जाता है। यदि इसके विपरीत अन्यों के मत से चेतन के वाक्यार्थीभाव

लोचनम्

तव शतपत्रपत्रमृदुताम्रतलश्चरणश्चलकलहंस-
नूपुरकलध्वनिना मुखरः।
महिषमहासुरस्य शिरसि प्रसभं निहितः
कनकमहामहीध्रगुरुतां कथमम्ब गतः॥

इत्यत्र देवीस्तोत्रे वाक्यार्थीभूते वितर्कविस्मयादिभावस्य चारुत्वहेतुतेति तस्याङ्गत्वाद्भावालङ्कारस्य विषयः। रसाभासस्यालङ्कारता यथा ममैव स्तोत्रे–

समस्तगुणसम्पदः सममलङ्क्रियाणां गणै-
र्भवन्ति यदि भूषणं तव तथापि नो शोभसे।
शिवं हृदयवल्लभं यदि यथा तथा रञ्जये-
स्तदेव ननु वाणि! ते भवति सर्वलोकोत्तरम्॥

अलङ्कार्यता और रसान्तर अङ्गभूत नहीं होता वहाँ शुद्ध उपमादि अलङ्कार हैं। भाव यह कि वहाँ संसृष्टि से उपमादि का विषयापहार (उच्छेद) नहीं। **रसवदलङ्कारस्य चेति** इससे प्रेयस्वि, ऊर्जस्वि, समाहित आदि भावालङ्कारों का ग्रहण समझना चाहिये। उनमें शुद्ध भावालङ्कार का उदाहरण जैसे **तवेति**– हे अम्ब! कमल के पत्र के समान कोमल एवं रक्त तलभाग वाला तथा चञ्चल कलहंस की भाँति नूपुर के शब्दों से मुखर यह तुम्हारा चरण महिषासुर के शिर पर बलात् रख दिये जाने पर किस प्रकार सुमेरु पर्वत की गुरुता को प्राप्त कर लिया।

यहाँ देवी की स्तुति प्रधान वाक्य है और वितर्क विस्मयादि भाव उसके चारुत्व के हेतु हैं, इस प्रकार उस वाक्यार्थ रूप स्त्रोत्र के अङ्ग होने के कारण भावालङ्कार का विषय है। रसाभास की अलङ्कारता जैसे मेरे द्वारा रचित श्लोक में **समस्तेति**।

हे वाणि! अलङ्कारों के साथ यदि समस्त गुणों की संपत्तियाँ तुम्हारा भूषण बनें तब भी तुम्हारी शोभा नहीं। यदि तुम चाहे जिस किसी प्रकार अपने हृदयवल्लभ भगवान् शिव को प्रसन्न करो, वही तुम्हारा सर्वलोकोत्तर भूषण होता है।

ध्वन्यालोकः

तर्ह्युपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात्। यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनया यथाकथञ्चिद्भवितव्यम्। अथ सत्यामपि तस्यां यत्राचेतनानां

में रसवधलङ्कार का विषय होता है ऐसा माने तब तो उपमादि अलङ्कारों का विषय बहुत विरल रह जायगा अथवा सर्वथा नहीं रहेगा; क्योंकि जहाँ अचेतन वस्तुवृत्त मुख्य वाक्यार्थ है वहाँ किसी न किसी प्रकार विभावादि द्वारा चेतन वस्तु के

लोचनम्

अत्र हि परमेशस्तुतिमात्रं वाचः परमोपादेयमिति वाक्यार्थे शृङ्गाराभासश्चारुत्वहेतुः श्लेषसहितः। न ह्ययं पूर्णः शृङ्गारो नायिकाया निर्गुणत्वे निरलङ्कारत्वे च भवति। 'उत्तमयुवप्रकृतिरुज्ज्वलवेषात्मकः' इति चाभिधानात्। भावाभासाङ्गता यथा–

स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु॥

अत्र रौद्रप्रकृतीनामनुचितस्त्रासो भगवत्प्रभावकारणकृत इति भावाभासः। एवं तत्प्रशमस्याङ्गत्वमुदाहार्यम्। मे मतिरित्यनेन यत्परमतं सूचितं तद्दूषणमुपन्यस्यति–*यदीत्यादिना।* परस्य चायमाशयः–अचेतनानां चित्तवृत्तिरूपरसाद्यसम्भवात्तद्वर्णने रसवदलङ्कारस्यानाशङ्क्यत्वात्तद्विभक्त एवोपमादीनां विषय इति। एतद् दूषयति–*तर्हीति।* तस्माद्वचनादधेतोरित्यर्थः।

यहाँ परमेश्वर शिव की स्तुति मात्र वाणी का उपादेय है। रस वाक्यार्थ में श्लेष-सहित शृङ्गाराभास चारुत्व का हेतु है। नायिका के निर्गुण और निरलङ्कार होने पर यह पूर्ण शृङ्गार नहीं है बल्कि आभास मात्र है– जैसा कि कहा गया है **उत्तमेति**–उज्ज्वल वेष वाले उत्तम प्रवृत्ति के युवक और युवती होते हैं। भावाभास का उदाहरण जैसे **स इति**।

वे भगवान् कृष्ण आप की रक्षा करें, जिनके द्वारा मारे जाने से शेष दैत्य उन कृष्ण के सदृश काले वर्ण के अञ्जनों से रञ्जित अपनी पत्नियों के लावण्ययुक्त नेत्र-कमलों को देखने मात्र से भयसंत्रस्त हो जाते हैं।

यहाँ रौद्र प्रकृति वाले दैत्यों का त्रास अनुचित है, किन्तु वह भगवान् के प्रभाव के कारण है। इसलिये भावाभास है। इसी प्रकार भावप्रशमन का भी उदाहरण समझ लेना चाहिये। **मे मतिः** इससे यह सूचित किया कि जो परमत है उसका दोष उपन्यस्त करते हैं। **यदीति** दूसरों का आशय है कि अचेतन पदार्थों की चित्तवृत्ति रूप रसादि संभव न होने के कारण उनके वर्णन में रसवदलङ्कार के अनाशङ्क्य होने से अलग

ध्वन्यालोकः

वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते। तत् महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात्। यथा–

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥

वृत्तान्त की योजना होगी ही और जहाँ उस चेतन वृत्तान्त की योजना होने पर भी उन चेतनों का वाक्यार्थीभाव है वहाँ रहवदलङ्कार नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं तो बहुत बड़े रस के निधान रूप काव्यभाग की नीरसता अभिहित होने लगेगी।

जैसे– **तरङ्गभ्रूभङ्गेति**– टेढी-टेढी भौंहों के समान तरङ्गों को रशना के समान क्षुब्ध विहगपङ्क्ति को धारण किये हुए क्रोधावेश में अपने खिसके हुये वस्त्र के समान फेनों की खीचती हुई यह नदी बारबार जो ठोकर खाकर टेढी चाल से जा रही है वह ऐसा ज्ञात हो रहा है कि वह मेरे अनेक अपराधों को देख कर रूठी हुई वही उर्वशी नदी रूप में परिणत हो गई।

अथवा जैसे **तन्वीति।**

लोचनम्

नन्वचेतनवर्णनं विषय इत्युक्तमित्याशङ्क्य हेतुमाह–*यस्मादिति।* यथाकथञ्चिदिति विभावादिरूपतया। *तस्यामिति।* चेतनवृत्तान्तयोजनायाम्। *नीरसत्वमिति।* यत्र हि रसस्तत्रावश्यं रसवदलङ्कार इति परमतम्। ततो न रसवदलङ्कारश्चेन्नूनं तत्र रसो नास्तीति परमताभिप्रायान्नीरसत्वमुक्तम्। न त्वस्माकं रसवदलङ्काराभावे नीरसत्वम्, अपि तु ध्वन्यात्मभूतरसाभावे, तादृक्च रसोऽत्रास्त्येव।

ही उपमदि अलङ्कारों का विषय है। इसमें दोष प्रतिपादित करते हैं। **तर्हीति**– उस कथन के कारण। अचेतन का वर्णन विषय है। यह आशङ्का कर हेतु कहते हैं। **यस्मादिति! यथाकथञ्चिदिति** जिस किसी प्रकार विभावादि के प्रकार से। **तस्यामिति** उसमें अर्थात् चेतन पदार्थ के वृत्तान्त की योजना में। **नीरसत्वमिति** दूसरों का मत है कि जहाँ रस है वहाँ रसवद् अलङ्कार है। ऐसी स्थिति में जहाँ रसवदलङ्कार न हो वहाँ रस नहीं है। इस दूसरे मत के अभिप्राय से 'नीरसत्व' कहा गया। लेकिन हमारे मत में रसवदलङ्कार के अभाव में नीरसत्व है। उस प्रकार का रस यहाँ है ही।

ध्वन्यालोकः

यथा वा–

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा।
चिन्ता मौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा॥

यह कृशकायस्वरूपा (उर्वशी) पैरों में पड़े हुये मुझे तिरस्कृत कर पश्चात्ताप से युक्त होकर आँसुओं से गीले अधर के समान वर्षा के जल से आर्द्र पल्लव धारण किये ऋतुकाल के न होने से पुष्पोद्गमरहित आभरणशून्य सी, भौंरों के शब्द के अभाव में चिन्ता से मौन सी होकर लतारूप में दिखाई पड़ रही है।

लोचनम्

तरङ्गेति। तरङ्गा एव भ्रूभङ्गा यस्याः। *विकर्षन्ती विलम्बमानं बलादाक्षिपन्ती। वसनमंशुकम्।* प्रियतमावलम्बननिषेधायेति भावः। बहुशो यत्स्खलितं येऽपराधास्तानभिसन्धाय हृदग्रेनैकीकृत्यासहमाना मानिनी-त्यर्थः। अथ च मद्वियोगपश्चात्तापासहिष्णुस्तापशान्तये नदीभावं गतेति।

तन्वीति। वियोगकृशाप्यनुतप्ता चाभरणानि त्यजति। स्वकालो वसन्तग्रीष्मप्रायः। उपायचिन्तनार्थं मौनं, किमिति पादपतितमपि दयितमवधूतवत्यहमिति च चिन्तया मौनम्। *चण्डी* कोपना। एतौ श्लोकौ नदीलतावर्णनपरौ तात्पर्येण पुरूरवस उन्मादाक्रान्तस्योक्तिरूपौ।

तरङ्गेति। तरङ्ग ही है भ्रूभङ्ग जिसके। **विकर्षन्ती** फैले हुये बिखरे हुये को बल-पूर्वक खींच कर धारण करती हुई। **वसनम्**। अंशुक। प्रियतम के अवलम्बन के निषेध के लिये यह भाव है। **स्खलितमभिसंधाय** बहुत बार के जो स्खलित (अपराध) हैं उन्हें अभिसंधान करके हृदय के साथ एक करके। **असहना** न सहन करके अतएव मानिनी। **नदीरूपेण** यह कि मेरे वियोगजन्य पश्चात्ताप को न सह सकने के कारण उस ताप की शान्ति के लिये नदी स्वरूप में परिणत हो गई।

तन्वीति वियोग से कृश होने के कारण और पश्चात्ताप से पीड़ित होने के कारण आभूषणों को छोड़ देती है। **स्वकाल** अपना काल वसन्त और ग्रीष्मप्राय। उपाय ढूँढ़ने की चिन्ता में **मौन**, क्यों मेरे पैरों पर गिरे? इस प्रकार कह कर उसे झटक दिया, तिरस्कृत कर दिया इस चिन्ता से भी मौन। **चण्डी** अत्यन्त कोपनशीला। ये दोनों और लता के वर्णन के श्लोक तात्पर्य रूप से उन्माद से आक्रान्त पुरूरवा की उक्ति स्वरूप हैं।

ध्वन्यालोकः

यथा वा–

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥

अथवा जैसे **तेषामिति**– हे भद्र! गोपवधुओं के विलास-सखा और राधा की एकान्त क्रीड़ाओं के साक्षी यमुना के लताकुञ्ज तो कुशलपूर्वक है? अथवा मदनशय्या के निर्माण के लिये मृदु किसलयों के तोड़ने का प्रयोजन न रहने पर अपनी नीली कान्ति से रहित होकर वे पल्लव अब पीले शुष्क अथवा झूर) हो रहे होंगे।

लोचनम्

तेषामिति। हे भद्र! तेषामिति ये ममैव हृदये स्थितास्तेषाम्। गोपवधूनां गोपीनां ये विलाससुहृदो नर्मसचिवास्तेषाम्। प्रच्छन्नानुरागिणीनां हि नान्यो नर्मसुहृद्भवति। राधायाश्च सातिशयं प्रेमस्थानमित्याह–राधासम्भोगानां ये साक्षाद् द्रष्टारः, कलिन्दशैलतनया यमुना तस्यास्तीरे लतागृहाणां क्षेमं कुशलमिति काक्वा प्रश्नः। एवं तं पृष्ट्वा गोपदर्शनप्रबुद्धसंस्कार आलम्बनोद्दीपनविभावस्मरणात्प्रबुद्धरतिभावमात्मगतमौत्सुक्यगर्भमाह द्वारकागतो भगवान् कृष्णः स्मरतल्पस्य मदनशय्यायाः कल्पनार्थं मृदु सुकुमारं कृत्वा यश्छेदस्त्रोटनं स एवोपयोगः साफल्यम्। अथ च स्मरतल्पे यत्कल्पनं क्लृप्तिः स एव मृदुः सुकुमार उत्कृष्टश्छेदोपयोगस्त्रोटनफलं तस्मिन्विच्छिन्ने। मय्यनासीने का स्मरतल्पकल्पनेति भावः। अत एव

हे भद्र! उन (लतागृहों) का जो मेरे ही हृदय में स्थित हैं। गोपवधूविलाससुहृदाम् गोपवधुओं अर्थात् गोपियों के जो विलास-सुहृद अर्थात् नर्मसचिव उनका। प्रच्छन्न रूप से अनुराग करने वाली गोपियों का लतागृह के अतिरिक्त अन्य कोई नर्मसचिव नहीं है। **राधारहः साक्षिणाम्** राधा में प्रेम सबसे बढ़कर है इसलिये कहते हैं राधा के संभोगों को जो साक्षात् रूप से देखने वाले हैं। **कलिन्दशैलतनयातीर इति** कलिन्दशैलतनया-यमुना उसके तीर पर रहने वाले तलागृहों का क्षेम-कुशल तो है? इस प्रकार काकु द्वारा यह प्रश्न है। इस प्रकार उन उद्धव से पूछने के पश्चात् गोपों के दर्शन से प्रबुद्ध संस्कार वाले भगवान् कृष्ण आलम्बन और उद्दीपन विभाव के स्मरण से अपने में उत्पन्न औत्सुक्ययुक्त एवं प्रबुद्ध रतिभाव

ध्वन्यालोकः

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्त्येव। अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्ति तत्र रसादिरलङ्कारः। तदेवं सत्युपमादयो निर्विषयाः प्रविरलविषया वा स्युः। यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्ता-

इत्यादि उदाहरणों में अचेतन क्रमशः पहले श्लोक में नदी, दूसरे में लता और तीसरे में लताकुञ्ज वस्तुओं के वाक्यार्थीभाव (प्रधानता) होने पर भी विभावादि द्वारा कथञ्चित् चेतन वस्तु के व्यवहार की योजना है ही। और जहाँ चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना है वहाँ रसादि अलङ्कार है। ऐसा होने पर उपमादि अलङ्कार सर्वथा निर्विषय हो जायेगे, अथवा उनके उदाहरण बहुत कम

लोचनम्

परस्परानुरागनिश्चयगर्भमेवाह–*ते जान* इति। वाक्यार्थस्यात्र कर्मत्वम्। *अधुना जरठीभवन्तीति।* मयि तु सन्निहितेऽनवरतकथितोपयोगान्नेमे जराजीर्णताखिलीकारं कदाचिदवाप्नुवन्तीति भावः। विगलन्ती नीला त्विड्येषामित्यनेन कतिपयकालप्रोषितस्याप्यौत्सुक्यनिर्भरत्वं ध्वनितम्। एवमात्मगतेयमुक्तिर्यदि वा गोपं प्रत्येव संप्रधारणोक्तिः। बहुभिरुदाहरणैर्महतो भूयसः प्रबन्धस्येति यदुक्तं तत्सूचितम्। *अथेत्यादि।* नीरसत्वमत्र मा भूदित्यभिप्रायेणेति शेषः। ननु यत्र चेतनवृत्तस्य सर्वथा नानुप्रवेशः स उपमादेर्विषयो भविष्यतीत्याशङ्क्याह–*यस्मादित्यादि। अन्तत* इति।

को स्मरण करते हैं। **स्मरतल्पकल्पनेति** स्मरतल्प अर्थात् मदनशय्या का जो कल्पन-निर्माण वही है मृदु या सुकुमार। उसका उत्कृष्ट छेदोपयोग अर्थात् तोड़ना रूप फल उसके विच्छिन्न होने पर। भाव यह कि मेरे न रहने पर स्मरतल्प का निर्माण कैसा? अतएव परस्पर (अपने और गोपियों के) अनुराग के निश्चय से गर्भित इस प्रकार कहते हैं– **ते जाने** यह मैं जानता हूँ। यहाँ वाक्यार्थ का कर्मत्व है। अधुना **जरठीभवन्तीति** वे अब सूख गये होंगे। भाव यह कि मेरे सन्निहित रहने पर निरन्तर कहे हुये उपयोग के कारण कभी भी वे पल्लव जर्जर होने अथवा जीर्ण हो जाने की विद्रूपता को प्राप्त नहीं होते थे। **विगलितनीलत्विषः** नष्ट हो गई नील कान्ति जिनकी। इससे कुछ ही समय से प्रोषित (बाहर गये) इन भगवान् का अतिशय औत्सुक्य ध्वनित होता है। इस प्रकार यह उक्ति अपने प्रति अथवा गोपों के प्रति संप्रधारणोक्ति है। इन अनेक उदाहरणों से पहले जो कह आये हैं कि– **'महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं' भवेत्**' उसे सूचित किया है। इस पर आशङ्का करते हैं कि जहाँ

ध्वन्यालोकः

न्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन। तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता। यः पुनरङ्गी रसो भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति ॥५॥

किञ्च–

तमर्थवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥६॥

मिल सकेंगे। क्योंकि ऐसा कोई अचेतन वृत्तान्त नहीं मिलेगा जहाँ चेतन वस्तु-वृत्तान्त का सम्बन्ध अन्ततः विभाव रूप से न हो, इसलिये रसादि के अङ्ग होने पर रसवदलङ्कार होते हैं और जो पुनः अङ्गी रस या भाव है वह सब प्रकार से अलङ्कार्य एवं ध्वनि का आत्मा है॥५॥

किञ्चेति तमर्थमिति– और जो उस प्रधानभूत (रस) अङ्गी के आश्रित रहने वाले माधुर्यादि हैं उनको गुण कहते हैं और जो उसके अङ्ग शब्द तथा अर्थ में आश्रित रहने वाले हैं उनको कटकादि के समान अलङ्कार कहते हैं॥६॥

लोचनम्

स्तम्भपुलकाद्यचेतनमपि वर्ण्यमानमनुभावत्वाच्चेतनमाक्षिपत्येव तावत्, किमत्रोच्यते। अतिजडोऽपि चन्द्रोद्यानप्रभृतिः स्वविश्रान्तोऽपि वर्ण्यमानोऽवश्यं चित्तवृत्तिविभावतां त्यक्त्वा काव्येऽनाख्येय एव स्यात्; शास्त्रेतिहासयोरपि वा। एवं परमतं दूषयित्वा स्वमतमेव प्रत्याम्नायेनोपसंहरति–*तस्मादिति।* यतः परोक्तो विषयविभागो न युक्त इत्यर्थः। भावो वेति वाग्रहणात्तदाभासतत्प्रशमादयः। *सर्वाकारमिति*

चेतन वृत्तान्त का अनुपदेश नहीं वहाँ तो उपमा आदि का विषय होगा इस पर कहते हैं— **यस्मादित्यादि। अन्ततोविभावत्वेन।**

जब अचेतन भी वर्ण्यभाव स्तम्भ, पुलक आदि अनुभाव के होने के कारण चेतन का आक्षेप कर लेंगे, ऐसी स्थिति में आप क्या उत्तर देंगे? तब कहते हैं– चन्द्र, उद्यान प्रभृति अत्यन्त जड़ होकर एवं अपने आप में ही पर्यवसित होकर भी चित्तवृत्ति के विभाव के वैशिष्ट्य को छोड़कर काव्य में कहने योग्य नहीं ही होगा। शास्त्र और इतिहास दोनों में भी यही स्थिति होगी। इस प्रकार परमत को दूषित कर स्वमत का ही पुनरुक्ति द्वारा उपसंहार करते हैं। **तस्मादिति** इसलिये अर्थात् दूसरे लोगों ने जो विषय-विभाग किया है वह ठीक नहीं। **भावो वेति** भाव 'वा' शब्द से भावाभास,

ध्वन्यालोकः

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥६॥

जो उस रसादि रूप अङ्गीभूत का अवलम्बन करते हैं (तदाश्रित रहते हैं) वे शौर्य आदि के समान गुण कहे जाते हैं और वाच्य (अर्थ) तथा वाचक (शब्द) काव्य के अङ्ग है। उन अङ्गों के आश्रित रहने वाले वे कटक आदि के समान अलङ्कार समझने चाहिये।

लोचनम्

क्रियाविशेषणम्। तेन सर्वप्रकारमित्यर्थः। *अलङ्कार्य* इति। अत एव नालङ्कार इति भावः॥५॥

अलङ्कार्यव्यतिरिक्तश्चालङ्कारोऽभ्युपगन्तव्यः, लोके तथा सिद्धत्वात्, यथा गुणिव्यतिरिक्तो गुणः। गुणालङ्कारव्यवहारश्च गुणिन्यलङ्कार्ये च सति युक्तः। स चास्मत्पक्ष एवोपपन्न इत्यभिप्रायद्वयेनाह–*किञ्चेत्यादि।* न केवलमेतावद्युक्तिजातं रसस्याङ्गित्वे, यावदन्यदपीति समुच्चयार्थः। कारिकाप्यभिप्रायद्वयेनैव योज्या। केवलं प्रथमाभिप्राये प्रथमं कारिकार्धं दृष्टान्ताभिप्रायेण व्याख्येयम्। एवं वृत्तिग्रन्थोऽपि योज्यः॥६॥

ननु शब्दार्थयोर्माधुर्यादयो गुणाः, तत्कथमुक्तं रसादिकमङ्गिनं गुणा आश्रिता इत्याशङ्क्याह–*तथा चेत्यादि।* तेन वक्ष्यमाणेन बुद्धिस्थेन

भावप्रशम आदि संगृहीत है। **सर्वप्रकार** सब प्रकार यह क्रियाविशेषण है अर्थात् सब प्रकार। अलङ्कार्य है। अलङ्कार नहीं॥५॥

अलङ्कार को अलङ्कार्य की अपेक्षा पृथक् (भिन्न) मानना चाहिये क्योंकि लोक में वैसा सिद्ध है, जैसे गुणी से पृथक् गुण माना जाता है। गुण और अलङ्कार का व्यवहार भी गुणी और अलङ्कार्य के रहने पर ही ठीक है और यह बात हमारे पक्ष में ही उपपन्न होती है, इन दोनों अभिप्रायों से कहते हैं– **किञ्चेति**– केवल इतनी ही युक्तियाँ रस के अङ्गी होने में नहीं है बल्कि और भी संभव हैं, यह समुच्चयार्थ है। कारिका को भी इन्हीं दोनों अभिप्रायों से लगाना चाहिये। केवल पहले अभिप्राय से कारिकार्थभाग का दृष्टान्त के अभिप्राय से व्याख्या करनी चाहिये, इसी प्रकार वृत्ति-ग्रन्थ को भी लगाना चाहिये॥६॥

जब माधुर्यादि गुण शब्द और अर्थ दोनों में है तब कैसे कहा गया कि अङ्गी रसादि पर गुण आश्रित होते हैं। इस आशङ्का पर कहते हैं– **तथा च–** और उस प्रकार

ध्वन्यालोकः

तथा च–

श्रृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥७॥

तथा च– श्रृङ्गार ही सबसे अधिक आनन्ददायक मधुर रस है और उस श्रृङ्गारमय काव्य के आश्रित ही माधुर्यगुण भी रहता है।

लोचनम्

परिहारप्रकारेणोपपद्यते चैतदित्यर्थः। *श्रृङ्गार एवेति।* मधुर इत्यत्र हेतुमाह– *परः प्रह्लादन इति।* रतौ हि समस्तदेवतिर्यङ्नरादिजातिष्वविच्छिन्नैव वासनास्त इति न कश्चित्तत्र तादृग्यो न हृदयसंवादमयः, यतेरपि हि तच्चमत्कारोऽस्त्येव। अत एव मधुर इत्युक्तम्। मधुरो हि शर्करादिरसो विवेकिनोऽविवेकिनो वा स्वस्थस्यातुरस्य वा झटिति रसनानिपतितस्तावदभिलषणीय एव भवति। *तन्मयमिति।* स श्रृङ्गार आत्मत्वेन प्रकृतो यत्र व्यङ्ग्यतया। *काव्यमिति* शब्दार्थावित्यर्थः। *प्रतितिष्ठतीति।* प्रतिष्ठां गच्छतीति यावत्। एतदुक्तं भवति– वस्तुतो माधुर्यं नाम श्रृङ्गारादे रसस्यैव गुणः। तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितं मधुरश्रृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्। तस्माद्युक्तमुक्तं 'तमर्थमि'त्यादि। कारिकार्थं वृत्त्याह– *श्रृङ्गार*

अर्थात् अभी जो बुद्धि में स्थित परिहार का प्रकार कहने वाले हैं उससे यह उपपन्न हो जायगा। **श्रृङ्गार एवेति** मधुर होने का कारण कहते हैं। **परः प्रह्लादनो रसः** परम आह्लादकारी होने से। क्योंकि श्रृङ्गार का स्थायीभूत रति के सम्बन्ध में सारे देवता, मनुष्य, पक्षी आदि जातियों में वासना अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहती है। ऐसा कोई नहीं है जो हृदय संवाद रति (वासना) धारण नहीं करता। साधु-संन्यासी को भी उस रति में चमत्कार होता ही है। इसलिये यहाँ मधुर कहा है। शक्कर आदि का मधुर रस विवेकी अथवा अविवेकी, स्वस्थ अथवा रोगी सभी को जीभ पर पड़ते ही अभिलषणीय हो जाता है।

तन्मय इति– यह श्रृङ्गार व्यङ्ग्य होने से आत्मा रूप से जहाँ से रहा हो। **काव्यम्** शब्द और अर्थ। **प्रतितिष्ठतीति** प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। **एतदुक्तं भवति।** बात इतनी कही गई। वास्तव में माधुर्य, श्रृङ्गारादि रस का गुण है। वह मधुर रस के अभिव्ञ्जक शब्द और अर्थ दोनों में उपचरित (आरोपित) होता है। फलतः शब्द और अर्थ की जो मधुर श्रृङ्गार रस की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य है वही माधुर्य है यह लक्षण

ध्वन्यालोकः

शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः। श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति॥७॥

शृङ्गार ही अन्य रसों की अपेक्षा अधिक आह्लादजनक होने से मधुर है। उसको प्रकाशित करने वाले शब्दार्थयुक्त काव्य का वह माधुर्य गुण होता है। श्रव्यत्व तो ओज का भी साधारण धर्म है। अर्थात् माधुर्य के समान ओज में भी श्रव्यत्व रहता है॥७॥

लोचनम्

इति। ननु 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते' इति माधुर्यस्य लक्षणम्। नेत्याह–*श्रव्यत्वमिति।* सर्वं लक्षणमुपलक्षितम्। *ओजसोऽपीति।* 'यो यः शस्त्रम्' इत्यत्र हि श्रव्यत्वमसमस्तत्वं चास्त्येवेति भावः॥७॥

सम्भोगशृङ्गारान्मधुरतरो विप्रलम्भः, ततोऽपि मधुरतमः करुण इति तदभिव्यञ्जनकौशलं शब्दार्थयोर्मधुरतरत्वं मधुरतमत्वं चेत्यभिप्रायेणाह– *शृङ्गार इत्यादि। करुणे चेति चशब्दः क्रममाह। प्रकर्षवदिति।* उत्तरोत्तरं तरतमयोगेनेति भावः। *आर्द्रतामिति।* सहृदयस्य चेतः स्वाभाविकमनाविष्टत्वात्मकं काठिन्यं क्रोधादिदीप्तरूपत्वं विस्मयहासादिरागित्वं च

है इसलिये ठीक कहा है– **तमर्थमित्यादि**। कारिका के अर्थ को वृत्ति में कहते हैं **शृङ्गार इति**। शङ्का करते हैं कि भामह ने '**श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते**' जो श्रवणीय हो और जिसमें शब्द अधिक समासयुक्त अर्थ वाले न हों वह मधुर कहलाता है। इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि यह माधुर्य का लक्षण नहीं है, क्योंकि श्रव्यत्व तो ओज आदि गुणों में सामान्य रूप से होता है। यह लक्षण तो सामान्य रूप से मधुर और ओज दोनों में घटित होता है। तात्पर्य यह कि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इस ओजस् स्थल में श्रव्यत्व और असमस्तत्त्व दोनों ही है॥७॥

शृङ्गार इति– संभोग शृङ्गार से मधुरतर विप्रलम्भ शृङ्गार है, उससे भी मधुरतम करुण है। उस रस के अभिव्यञ्जन का कौशल शब्द अर्थ का मधुरतरत्व और दूसरे का (करुण का) मधुरतमत्व है। इस अभिप्राय से कहते हैं। **विप्रलम्भ** शृङ्गार इत्यादि **करुणे च** में और शब्द क्रम का निर्देश करता है। **प्रकर्षवत्** प्रकर्षयुक्त, भाव यह कि उत्तरोत्तर मधुर, मधुरतर और मधुरतम होने से। **माधुर्यमार्द्रतां याति** अर्थात् सहृदय का चित्त अनावेशयुक्तता रूप काठिन्य को क्रोध आदि के कारण दीप्तरूपता को विस्मय

ध्वन्यालोकः

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥८॥

विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत्। सहृदयहृदयावर्जनातिशयनिमित्तत्वादिति॥८॥

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥९॥

शृङ्गार इति– विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण रस में माधुर्य गुण का प्रयोग विशेष रूप से उत्कर्षयुक्त होता है, क्योंकि उसमें मन अधिकाधिक आर्द्रता प्राप्त करता है।

विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण में तो सहृदयों के हृदयों को अतिशय आकृष्ट करने का निमित्त होने से माधुर्यगुण ही उत्कर्षयुक्त होता है॥८॥

काव्य में विद्यमान रौद्रादि रस दीप्ति से लक्षित होते हैं, उस दीप्ति के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ का आश्रय ओज रहता है। रौद्रादि (में आदि पद

लोचनम्

त्यजतीत्यर्थः। *अधिकमिति।* क्रमेणेत्याशयः। तेन करुणेऽपि सर्वथैव चित्तं द्रवतीत्युक्तं भवति। ननु करुणेऽपि यदि मधुरिमास्ति, तर्हि पूर्वकारिकायां शृङ्गार एवेत्येवकारः किमर्थः। उच्यते–नानेन रसान्तरं व्यवच्छिद्यते; अपि त्वात्मभूतस्य रसस्यैव परमार्थतो गुणा माधुर्यादयः, उपचारेण तु शब्दार्थयोरित्येवकारेण द्योत्यते। वृत्त्यार्थमाह–*विप्रलम्भेति*॥८॥

और हास के कारण विक्षेप की स्थिति को छोड़कर पिघल जाता है। **यतस्तत्राधिकं मनः** इति क्रमशः आशय है इससे यह कहा गया कि करुण में तो सर्वथा ही चित्त पिघल जाता है। अब यहाँ शङ्का करते हैं कि जब करुण में भी मधुरिमा है तब इससे पहले वाली कारिका में '**शृङ्गार एव**' अर्थात् शृङ्गार ही ऐसा क्यों कहा गया? इसका उत्तर देते हैं, यहाँ इस एव शब्द के प्रयोग से दूसरे रस का व्यवच्चेद या निराकरण नहीं किया गया है, बल्कि एवकार से द्योतित होता है कि माधुर्य आदि परमार्थतः आत्मभूत रस के ही गुण हैं। केवल उपचार (आरोप) से शब्द और अर्थ के भी गुण हो जाते हैं। वृत्ति से अर्थ कहते हैं **विप्रलम्भाख्ये** इति॥८॥

ध्वन्यालोकः

रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते। तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालङ्कृतं वाक्यम्। यथा–

से वीर और अद्भुत) रस अत्यन्त उज्ज्वलता रूप दीप्ति को उत्पन्न करते हैं इसलिये लक्षणया वे ही दीप्ति कहे जाते हैं, उस दीप्ति के प्रकाशक शब्द और दीर्घ समास की रचना से अलङ्कृत वाक्य है। जैसे **चञ्चदिति।**

लोचनम्

रौद्रेत्यादि। आदिशब्दः प्रकारे। तेन वीराद्भुतयोरपि ग्रहणम्। दीप्तिः पतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रज्ज्वलनस्वभावा। सा च मुख्यतया ओजश्शब्दवाच्या। तदास्वादमया रौद्राद्याः, तया दीप्त्या आस्वादविशेषात्मिकया कार्यरूपया लक्ष्यन्ते रसान्तरात्पृथक्तया। तेन कारणे कार्योपचाराद्रौद्रादिरेवौजःशब्दवाच्यः। ततो लक्षितलक्षणया तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनवाक्यरूपोऽपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा 'चञ्चदि'त्यादि। तत्प्रकाशनपरश्चार्थः प्रसन्नैर्गमकैर्वाचकैरभिधीयमानः समासानपेक्ष्यपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा– 'यो यः' इत्यादि। *चञ्चदिति।* चञ्चद्भ्यां वेगादावर्तमानाभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता येयं चण्डा दारुणा गदा तया

रौद्रेत्यादि– यहाँ आदि शब्द प्रकार के अर्थ में हैं, इससे वीर और अद्भुत का भी ग्रहण होता है। दीप्ति प्रतिपत्ता या सहृदय के हृदय में विकास, विस्तार और प्रज्ज्वलन की अवस्था को अभिव्यक्त करती है। वह मुख्य रूप से ओजस् शब्द से कही जाती है, रौद्रादि उस दीप्ति के आस्वाद से युक्त होते हैं। आस्वाद-विशेष एवं कार्यरूप उस दीप्ति के आस्वाद से युक्त होते हैं, उस दीप्ति से वे रौद्रादि रस अन्य रसों से पृथक् रूप में लक्षित होते हैं। इसलिये कारण में कार्य के उपचार से रौद्र आदि ही ओजस् शब्द के वाच्य हैं। इसलिये लक्षितलक्षणा के द्वारा रौद्रादि का प्रकाशक शब्द दीर्घसमास की रचना का वाक्य रूप हो कर दीप्ति कहलाता है जैसे— चञ्चदिति। रौद्रादि का प्रकाशक अर्थ प्रसन्न एवं बोधक वाचक शब्दों द्वारा अभिहित होता हुआ समास की अपेक्षा बिना किये भी दीप्ति कहा जाता है। जैसे यो **यः शस्त्रं बिभर्ति** वेग से फड़कती हुई भुजाओं से घुमाई गई जो यह चण्ड गदा उसके द्वारा

ध्वन्यालोकः

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावबद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

इन फड़कती हुई भुजाओं में घुमायी गई गदा के भीषण प्रहार से जिसकी दोनों जङ्घायें चूर-चूर कर दी गई हैं उस सुयोधन के जमे गाढ़े (स्त्यान) रक्त से रंगे हुये हाथ वाला यह भीम हे देवि! तेरे केशों को बाँधेगा।

लोचनम्

योऽभितः सर्वत ऊर्वोर्घातस्तेन सम्यक् चूर्णितं पुनरनुत्थानोपहतं कृतमूरुयुगलं युगपदेवोरुद्वयं यस्य तं सुयोधनमनादृत्यैव स्त्यानेनाश्यानतया न तु कालान्तरशुष्कतयावबद्धं हस्ताभ्यामविगलद्रूपमत्यन्तमाभ्यन्तरतया घनं न तु रसमात्रस्वभावं यच्छोणितं रुधिरं तेन शोणौ लोहितौ पाणी यस्य सः। अत एव स भीमः कातरत्रासदायी। *तवेति।* **यस्यास्तत्तदपमानजातं कृतं देव्यनुचितमपि तस्यास्तव कचानुत्तंसयिष्यत्युत्तंसवतः करिष्यति, वेणीत्वमपहरन् करविच्युतशोणितशकलैर्लोहितकुसुमापीडेनेव योजयिष्यतीत्युत्प्रेक्षा। देवीत्यनेन कुलकलत्रखिलीकारस्मरणकारिणा क्रोधस्यैवोद्दीपनविभावत्वं कृतमिति नात्र शृङ्गारशङ्का कर्तव्या। सुयोधनस्य**

चारों ओर से जाँघों पर किया गया प्रहार उस कारण सम्यक् चूर्ण-चूर्ण अर्थात् पुनः उठने में अयोग्य एककालावच्छेदेन ऊरुयुगल हो गया है जिसका ऐसे उस सुयोधन को अनादृत कर घनीभूत हो जाने से न कि कालान्तर में सूख जाने से बँधा हुआ अर्थात् हाथों से छुड़ाया न जाता हुआ अतएव पकड़ लेने (चपक जाने) के कारण अत्यन्त घना, केवल रस रूप से नहीं किन्तु शोणित या रुधिर से लाल हो गया है हाथ जिसका ऐसा वह कातर लोगों को संत्रस्त करने वाला भीम **तव** तेरा जिस देवी के लिये अनुचित होने पर भी उन-उन अपमानों को एक नहीं अनेक बार किया गया, उन तेरे बालों को उत्तंसित करेगा। उत्तंसयुक्त करेगा। उत्प्रेक्षा यह है कि तुम्हारे एक लट वाले बालों को अलग-अलग करके अपने हाथ से खून के टपकते हुये बिन्दुओं को लाल-लाल फूलों के आभूषण के समान गूँथ कर बाँटेगा। यहाँ कुलाङ्गना के अपमान को याद दिलाने वाले 'देवि' इस सम्बोधन पद से क्रोध के ही उद्दीपन विभाव का संपादन किया गया है। ऐसी स्थिति में यहाँ शृङ्गार की आशङ्का नहीं करनी चाहिये।

ध्वन्यालोकः

तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः। यथा–

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।

उस ओज का प्रकाशक अर्थ दीर्घ समास रचना से रहित प्रसाद गुणयुक्त पदों से बोधित अर्थ भी होता है जैसे– **यो यः** इति॥

पाण्डवों की सेना में अपने भुजबल से गर्वित जो भी शस्त्रधारी हैं, अथवा पाञ्चाल वंश में छोटा बड़ा अथवा गर्भस्थ जो कोई भी है, और वे भी जो-

लोचनम्

चानादरणं द्वितीयगदाघातदानाद्यनुद्यमः। स च सञ्चूर्णितोरुत्वादेव। स्त्यानग्रहणेन द्रौपदीमन्युप्रक्षालने त्वरा सूचिता। समासेन च सन्ततवेगवहनस्वभावात् तावत्येव मध्ये विश्रान्तिमलभमाना चूर्णितोरुद्वयसुयोधनानादरणपर्यन्ता प्रतीतिरेकत्वेनैव भवतीत्यौद्धत्यस्य परं परिपोषिका। अन्ये तु सुयोधनस्य सम्बन्धि यत्स्त्यानावबद्धं घनं शोणितं तेन शोणपाणिरिति व्याचक्षते।

य इति। स्वभुजयोर्गुरुर्मदो यस्य चमूनां मध्येऽर्जुनादिरित्यर्थः। पाञ्चालराजपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन द्रोणस्य व्यापादनात्तत्कुलं प्रत्यधिकः क्रोधावेशोऽश्वत्थाम्नः। तत्कर्मसाक्षीति कर्णप्रभृतिः। रणे सङ्ग्रामे कर्तव्ये यो

दूसरी बात गदा का आघात करने का उद्योग न करना यह सुयोधन का अपमान व्यक्त करता है, इस प्रकार का अनुद्योग गदा के एक बार की चोट से उसके ऊरुयुगल के संचूर्णित हो जाने से स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। 'स्त्यान' (घनीभूत) कहने से द्रौपदी के क्रोध के प्रक्षालन में त्वरा व्यक्त की गई है और लम्बे समास के द्वारा निरन्तर वेग से बहने के स्वभाव के कारण तब तक मध्य में विश्राम न करती हुई चूर्णित ऊरुयुगल वाले सुयोधन के अनादर तक पर्यवसित प्रतीति एक रूप से प्रकट होती है जो भीम के औधत्य को पूर्णरूप से परिपुष्ट करती है। दूसरे लोग व्याख्या करते हैं कि सुयोधन का स्त्यानावबद्ध (वेग से निकल कर धनीभूत) जो शोणित उससे लाल हाथ वाला।

य इति– पाण्डव सेनाओं के मध्य में अपनी भुजाओं पर अधिक मद है जिनका ऐसे अर्जुन आदि। पाञ्चालनरेश के पुत्र धृष्टद्युम्न ने द्रोण का वध किया अतः उसके कुल के प्रति अश्वत्थामा का अधिक क्रोध स्वाभाविक है। उस द्रोणवध रूप कर्म के

ध्वन्यालोकः

यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥
इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम् ॥९॥

जो उस द्रोणवध रूप कर्म के साक्षी है, और जो कोई मेरे युद्ध करते समय उसमें बाधा डालेगा, आज क्रोध से अन्धा हुआ मैं (अश्वत्थामा) उसका नाश कर दूँगा। फिर वह चाहे सारे संसार का अन्तक स्वयं यमराज ही क्यों न हो।

इन दोनों उदाहरणों में क्रमश: शब्द और अर्थ दोनों ओज: स्वरूप हैं।

लोचनम्

मयि मद्विषये प्रतीपं चरति समरविघ्नमाचरति। यद्वा मयि चरति सति सङ्ग्रामे यः प्रतीपं प्रतिकूलं कृत्वास्ते स एवंविधो यदि सकलजगदन्तको भवति तस्याप्यहमन्तकः किमुतान्यस्य मनुष्यस्य देवस्य वा। अत्र पृथग्भूतैरेव क्रमाद्विमृश्यमानैरर्थैः पदात्पदं क्रोधः परां धारामाश्रित इत्यसमस्ततैव दीप्तिनिबन्धनम्। एवं माधुर्यदीप्ती परस्परप्रतिद्वन्द्वितया स्थिते शृङ्गारादिरौद्रादिगते इति प्रदर्शयता तत्समावेशवैचित्र्यं हास्यभयानकबीभत्सशान्तेषु दर्शितम्। हास्यस्य शृङ्गाराङ्गतया माधुर्यं प्रकृष्टं विकासधर्मतया चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य भग्नचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्ततया ओजः प्रकृष्टं

साक्षी (अपनी आँखों के सामने ही गुरु द्रोण का वध देखने वाले) कर्ण प्रभृति। मेरे द्वारा कर्त्तव्य संग्राम में जो मेरे प्रतीप आचरण करेगा अर्थात् समर में विघ्न उत्पन्न करेगा। अथवा मेरे संग्राम में विचरण करते समय जो प्रतीप या प्रतिकूल रहेगा ऐसा यदि वह चाहे सारे संसार का अन्तक ही क्यों न हो, फिर दूसरे मनुष्य या देवता की तो बात ही क्या? यहाँ अलग-अलग हुये क्रम से विमृश्यमान अर्थों द्वारा क्रोध एक पद से दूसरे पद में धारा पर आश्रित हैं। (उत्कर्ष पर चढ़ता जाता है) इस प्रकार असमस्त होना ही दीप्ति का निबन्धन (कारण) है। इस प्रकार माधुर्य और दीप्ति दोनों एक दूसरे के विरोधी रूप में स्थित हो शृङ्गार आदि और रौद्र आदि रसों में होते हैं, यह प्रदर्शित करते हुये ग्रन्थकार ने उनके समावेश का वैचित्र्य हास्य, भयानक, बीभत्स और शान्त रसों में दिखाया है। विभाग इस प्रकार कि हास्य शृङ्गार का अङ्ग है इसलिये उसमें माधुर्य प्रकृष्ट होता है। एवं विकासधर्मी होने के कारण ओज भी उसमें प्रकृष्ट रूप से होता है। इस प्रकार दोनों का साम्य है। भयानक से चित्तवृत्ति भग्न हो जाती है फिर भी उसका विभाव दीप्त होता है। अत: ओज प्रकृष्ट रूप से

ध्वन्यालोकः

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥१०॥

समर्पकत्वमिति– काव्य का समस्त रसों के प्रति जो समर्पकत्व (बोद्धा के हृदय में झटिति व्यापनकर्त्तृत्व) है और समस्त रसों एवं रचनाओं में सर्वसामान्य क्रिया है (सर्वशाधारणी क्रिया वृत्तिः स्थितिर्यस्य सः इस व्युत्पत्ति के अनुसार) उसे प्रसाद गुण समझना चाहिये।

लोचनम्

माधुर्यमल्पम्। बीभत्सेऽप्येवम्। शान्ते तु विभाववैचित्र्यात्कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः॥९॥

समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तॄन् प्रति स्वात्मावेशेन व्यापारकत्वं झटिति शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन। अकलुषोदकदृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः। उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः। तमेव व्याचष्टे–*प्रसादेति।* ननु रसगतो गुणस्तत्कथं शब्दार्थयोः स्वच्छतेत्याशङ्क्याह–*स चेति।* चशब्दोऽवधारणे। सर्वरससाधारण एव गुणः। स एव च गुण एवंविधः। सर्वा येयं रचना शब्दगता चार्थगता च समस्ता चासमस्ता च तत्र साधारणः। *मुख्यतयेति।* अर्थस्य तावत्समर्पकत्वं व्यङ्ग्यं प्रत्येव सम्भवति नान्यथा।

तथा माधुर्य स्वल्प रूप से यहाँ रहता है। इसी प्रकार बीभत्स में भी। शान्त में विभाव के वैचित्र्य से कदाचित् ओज प्रकृष्ट होता है और कदाचित् माधुर्य होता है॥९॥

समर्पकत्वमिति अर्थात् सम्यक् प्रकार से अर्पण कर्तृत्व। जिस प्रकार सूखे काठ में आग शीघ्रता से व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार हृदय के एकरूप (हृदय संवाद) होने के कारण प्रतिपत्ताओं के प्रति (अर्थात् उनके हृदयों को) स्वरूप से व्याप्त कर लेना, अथवा जिस प्रकार कालुष्यरहित स्वच्छ वस्त्र को शीघ्रतापूर्वक जल व्याप्त कर लेता है, इसी प्रकार वह अकालुष्य प्रसन्नत्व (प्रसाद) सभी रसों का गुण है। उपचार से उस प्रकार के रस रूप व्यङ्ग्य अर्थ के सम्बन्ध में भी जो शब्द और अर्थ का समर्पकत्व है वह भी प्रसाद है। उसी की व्याख्या करते हैं। **प्रसादेति** जबकि गुण रसगत धर्म है तब शब्द और अर्थ की स्वच्छता कैसे? इस आशङ्का पर कहते हैं **स चेति** यहाँ च शब्द अवधारणार्थक है सभी रसों में साधारण रूप से ही रहने वाला गुण हैं और वही गुण इस प्रकार का है।

शब्दगताः अर्थगता समस्ता असमस्ता इस प्रकार की सारी रचनाओं में साधारण रूप से गुण रहता है। **मुख्यतयेति** भाव यह कि अर्थ का समर्पकत्व व्यङ्ग्य

ध्वन्यालोकः

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणश्च व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥११॥

प्रसाद का अर्थ शब्द और अर्थ की स्वच्छता है, वह सभी रसों का साधारण गुण है और सभी रचनाओं में समान रूप से रहता है (फिर चाहे वह रचना शब्दगत हो वा अर्थगत हों चाहे समस्त हो अथवा असमस्त हो)। मुख्य रूप से व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही उसे स्थित समझना चाहिये।

श्रुति दुष्टादि (यहाँ आदि पद से अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट) जो अनित्यदोष बताये गये हैं वे ध्वन्यात्मक शृङ्गार में ही त्याज्य कहे गये हैं।

लोचनम्

शब्दस्यापि स्ववाच्यार्पकत्वं व्यङ्ग्यं प्रत्येव सम्भवति नान्यथा। शब्दस्यापि स्ववाच्यार्पकत्वं नाम कियदलौकिकं येन गुणः स्यादिति भावः। एवं माधुर्यौजःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण। ते च प्रतिपत्त्रास्वादमया मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम्॥१०॥

एवमस्मत्पक्ष एव गुणालङ्कारव्यवहारो विभागेनोपपद्यत इति प्रदर्श्य नित्यानित्यदोषविभागोऽप्यस्मत्पक्ष एव सङ्गच्छत इति दर्शयितुमाह– *श्रुतिदुष्टादय* इत्यादि। वान्तादयोऽसभ्यस्मृतिहेतवः। श्रुतिदुष्टा अर्थदुष्टा

के प्रति ही संभव होगा अन्यथा नहीं। शब्द का भी अपने वाच्य के प्रति अर्पकत्व कितना अलौकिक है, जिससे उसको गुण माना जावे? इस प्रकार भामह के अभिप्राय से माधुर्य, ओज और प्रसाद– ये तीन ही गुण हैं। वे मुख्य रूप से प्रतिपत्ता (सहृदय) के आस्वाद के स्वरूप हैं तब लक्षण से आस्वाद्य रस में उपचरित है, तब उस रस के व्यञ्जक शब्द और अर्थ में उपचरित हैं यह तात्पर्य है।

इस प्रकार हमारे पक्ष में ही गुण और अलङ्कार का व्यवहार विभागपूर्वक बनता है। इतना कहकर पुनः कहते हैं कि दोषों का नित्यानित्य विभाग भी हमारे पक्ष में ही संगत होता है। इसी बात को प्रदर्शित करने के लिये कहते हैं— **श्रुतिदुष्टादय** इत्यादि वान्तादि (वमन) असभ्य स्मृति को उत्पन्न करने वाले दोष। श्रुतिदुष्ट और अर्थदुष्ट जो

ध्वन्यालोकः

अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्ये अर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारव्यतिरेकिणि शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते। किं तर्हि? ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः। अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात्। एवमयमसंलक्ष्यक्रमद्योतो ध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन ॥११।

जो अनित्य श्रुतिदुष्टादि दोष सूचित किये गये हैं वे न तो वाच्यार्थमात्र में, न शृङ्गार से भिन्न व्यङ्ग्य रसादि में और न ध्वनि के अनात्मभूत शृङ्गार में हेय कहे गये हैं, किन्तु प्रधानतया व्यङ्ग्य ध्वन्यात्मक शृङ्गार में ही हेय कहे गये हैं अन्यथा उनकी अनित्यदोषता ही न बन सकेगी॥११॥

इस प्रकार यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप ध्वनि का आत्मा सामान्यतः प्रदर्शित किया गया।

लोचनम्

वाक्यार्थबलादश्लीलार्थप्रतिपत्तिकारिणः। यथा–'छिन्द्रान्वेषी महांस्तब्धो घातायैवोपसर्पति'इति। कल्पनादुष्टास्तु द्वयोः पदयोः कल्पनया। यथा 'कुरु रुचिम्' इत्यत्र क्रमव्यत्यासे। श्रुतिकष्टस्तु अधाक्षीत् अक्षोत्सीत् तृणेढि इत्यादि। शृङ्गार इत्युचितरसोपलक्षणार्थम्। वीरशान्ताद्भुतादावपि तेषां वर्जनात्। *सूचिता* इति। न त्वेषां विषयविभागप्रदर्शनेनानित्यत्वं भिन्नवृत्तादिदोषेभ्यो विविक्तं प्रदर्शितम्। नापि गुणेभ्यो व्यतिरिक्तत्वम्। बीभत्सहास्यरौद्रादौ त्वेषामस्माभिरुपगमात् शृङ्गारादौ च वर्जनादनित्यत्वं च दोषत्वं च समर्थितमेवेति भावः॥११॥

वाक्यार्थ के बल से अश्लील अर्थ को प्रतीति कराने वाले होते हैं। जैसे यह छिद्रान्वेषी और महान् स्तब्ध घात लगाने के लिये पहुँचा रहता है। कल्पनादोष जब दो पद की कल्पना की जावे जैसे **कुरु रुचिम्** इस क्रम को पुनः बदल देने पर। अधाक्षीत्, अक्षौत्सीत्, तृणेढि इत्यादि श्रुतिकष्टदोष हैं। **श्रङ्गारे इति** शृङ्गार का प्रयोग उचित रस के उपलक्षण के लिये किया गया है। न केवल शृङ्गार में अपितु वीर, शान्त, अद्भुत आदि रसों में भी उन दोषों का वर्जन है। **सूचिता इति** यहाँ विषय-विभाग दिखाने से इनके अनित्यत्व, भिन्नवृत्तत्व आदि दोषों को अलग-अलग नहीं दिखाया गया है और इनका गुणों से व्यतिरिक्तत्व भी नहीं बताया गया है। किन्तु हमने बीभत्स, हास्य और रौद्र आदि में इन दोषों को स्वीकार भी किया है, शृङ्गार आदि में इनका वर्जन किया है। इस प्रकार इनके अनित्यत्व और दोषत्व का समर्थन ही किया है॥११॥

ध्वन्यालोकः

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदाः स्वगताश्च ये ।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ।।१२।।

अङ्गितया व्यङ्ग्यो रसादिर्विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य उक्तस्तस्याङ्गानां वाच्यवाचकानुपातिनामलङ्काराणां ये प्रभेदा निरवधयो ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणा विभावानुभावव्यभिचारिप्रतिपादनसहिता

उस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि के अलङ्कारादि अङ्गों के जो अनेक भेद हैं और स्वयं रसादि के भी जो स्वगत भेद हैं उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध (संसृष्टि, सङ्करादि प्रस्तार विधि और विस्तारादिक्रम से) कल्पना करने पर भी उनकी गणना असंख्य हो जायगी।।१२।।

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का प्रधानतया व्यङ्ग्य रसादि रूप जो एक स्वरूप (आत्मा प्रभेद) कहा है उसके अङ्गभूत अर्थ तथा शब्द के आश्रित उपमादि, अनुप्रासादि अलङ्कारों के जो अपरिमित भेद हैं और उस प्रधानभूत अर्थ के जो स्वगत भेद, रस, भाव, तदाभास, तत्प्रशम रूप विभाव, अनुभाव, संचारीभाव

लोचनम्

***अङ्गानामित्यलङ्काराणाम्।* स्वगता इति। आत्मगताः सम्भोगविप्रलम्भाद्या आत्मीयगता विभावादिगतास्तेषां लोष्टप्रस्तारेणाङ्गाङ्गिभावे का गणनेति भावः। *स्वाश्रयः* स्त्रीपुंसप्रकृत्यौचित्यादिः। परस्परं प्रेम्णा दर्शनमित्युपलक्षणं सम्भाषणादेरपि। सुरतं चातुःषष्टिकमालिङ्गनादि। विहरणमुद्यानगमनम्। आदिग्रहणेन जलक्रीडापानकचन्द्रोदयक्रीडादि। अभिलाषविप्रलम्भो द्वयोरप्यन्योन्यजीवितसर्वस्वाभिमानात्मिकायां रतावु-**

अङ्गानामिति अङ्गों अर्थात् अलङ्कारों के। **स्वगता** इति अर्थात् आत्मगत संभोग, विप्रलम्भ आदि आत्मीयगत विभावादिगत उनके लोष्टप्रसार से अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना करने पर कोई गणना नहीं। **स्वाश्रयः** अर्थात् स्त्री-पुरुष का औचित्यादि। परस्पर प्रेमपूर्वक दर्शन यह संभाषण आदि का भी उपलक्षण है। आलिङ्गनादि ६४ प्रकार के सुरत। विहरण अर्थात् उद्यानगमनादि। आदिग्रहण से जलक्रीडा, प्रपानक, चन्द्रोदय, क्रीडा आदि।

दोनों नायक और नायिका के एक दूसरे को अपने जीवित सर्वस्व के अभिमान रूप रति के उत्पन्न हो जाने पर भी किसी कारणवश समागम के प्राप्त न होने पर

ध्वन्यालोकः

अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया निःसीमानो विशेषास्तेषामन्योन्य-सम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिदन्यतमस्यापि रसस्य प्रकाराः परिसङ्ख्यातुं न शक्यन्ते किमुत सर्वेषाम्। तथा हि शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ–सम्भोगो विप्रलम्भश्च। सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलक्षणाः प्रकाराः। विप्रलम्भस्याप्य-भिलाषेर्ष्याविरहप्रवासविप्रलम्भादयः। तेषां च प्रत्येकं विभावानुभाव-

प्रतिपादनसहित अनन्त और अपने आश्रय (स्त्री-पुरुष आदि प्रकृति के भेद) के कारण निःसीम जो अवान्तर विशेष भेदोपभेद हैं उनका एक दूसरे का साथ सम्बन्ध (संसृष्ठि, संकर या प्रस्तारादि) कल्पना करने पर उनमें से किसी एक भी रस के भेदों की गणना कर सकना संभव नहीं है फिर सबकी बात तो दूर है। जैसे कि (उदाहरण के लिये) प्रधानभूत शृङ्गार रस के प्रारम्भ में दो भेद होते हैं– संभोग और विप्रलम्भ। उनमें भी संभोग के परस्पर प्रेम, दर्शन, सुरत और विहारादि भेद हैं। इसी प्रकार विप्रलम्भ के भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और विप्रलम्भादि। उनमें प्रत्येक विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव के भेद हैं और

लोचनम्

त्पन्नायामपि कुतश्चिद्धेतोरप्राप्तसमागमत्वे मन्तव्यः। यथा 'सुखयतीति किमुच्यत' इत्यतः प्रभृति वत्सराजरत्नावल्योः, न तु पूर्वं रत्नावल्याः। तदा हि रत्यभावे कामावस्थामात्रं तत्। ईर्ष्याविप्रलम्भः प्रणयखण्डनादिना खण्डितया सह। विरहविप्रलम्भः पुनः खण्डितया प्रसाद्यमानयापि प्रसादमगृह्णन्त्या ततः पश्चात्तापपरीतत्वेन विरहोत्कण्ठितया सह मन्तव्यः। प्रवासविप्रलम्भः प्रोषितभर्तृकया सहेति विभागः। आदिग्रहणाच्छापादिकृतः,

अभिलाष विप्रलम्भ ऐसा माना जाना चाहिये। जैसे **सुखयतीति किमुच्यते**...वत्सराज और रत्नावली का न कि पहले रत्नावली का, क्योंकि उस समय रति नहीं है केवल कामावस्था है। खण्डिता नायिका के साथ प्रणय के खण्डन आदि में ईर्ष्याविप्रलम्भ है। खण्डिता अवस्था में प्रसन्न करने की चेष्टा करने पर भी प्रसन्न न होती हुई उसके कारण पश्चात्ताप में पड़ी होने से विरहोत्कण्ठिता नायिका के साथ विरहविप्रलम्भ मान लेना चाहिये। प्रोषितभर्तृका नायिका के साथ प्रवास विप्रलम्भ होता है। यह इनका विभाग है। आदि ग्रहण से शाप आदि द्वारा किया हुआ। विप्रलम्भ के समान विप्रलम्भ है, क्योंकि वञ्चना में अभिलषित विषय प्राप्त नहीं होता।

ध्वन्यालोक:

व्यभिचारिभेदः। तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्य तस्यापरिमेयत्वम्, किं पुनरङ्गप्रभेदकल्पनायाम्। ते ह्यङ्गप्रभेदाः प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति ॥१२॥

दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम् ।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥१३॥

उन विभावादिकों के भी देश, काल, आश्रय, अवस्था आदि भेद हैं। इस प्रकार स्वगत भेदों के कारण उस एक शृङ्गार का परिमाण करना ही असंभव है फिर उनके अङ्गों के भेदोपभेद कल्पना की तो बात ही क्या है? वे अङ्गों के प्रभेद प्रत्येक अङ्गी रसादि के प्रभेदों के साथ सम्बन्ध कल्पना करने पर अनन्त हो जाते हैं।।१२।।

उसको दिङ्मात्र (कुछ थोड़ा सा) आगे कहते हैं जिससे व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि सर्वत्र प्रकाश प्राप्त कर सकेगी।

यहाँ इस दिङ्मात्र कथन से अलङ्कारादि के साथ रस के एक ही भेद के अङ्गाङ्गिभाव के परिज्ञान से व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि को अन्य सब स्थानों पर प्रकाश मिल जायगा।।१३।।

लोचनम्

विप्रलम्भ इव च विप्रलम्भः। वञ्चनायां ह्यभिलषितो विषयो न लभ्यते; एवमत्र। *तेषां चेति।* एकत्र सम्भोगादीनामपरत्र विभावादीनाम्। आश्रयो मलयादिः मारुतादीनां विभावानामिति यदुच्यते तद्देशशब्देन गतार्थम्। तस्मादाश्रयः कारणम्। यथा ममैव–

दयितया ग्रथिता स्रगियं मया हृदयधामनि नित्यनियोजिता ।
गलति शुष्कतयापि सुधारसं विरहदाहरुजां परिहारकम् ॥

इसी प्रकार यहाँ अभिलषित विषय प्राप्त नहीं होता। अत: वञ्चनार्थक विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग किया है। **तेषां चेति** उनके एकत्र संभोगादि का अपरत्र विभावादि का। मारुत आदि विभावों का आश्रय मलय आदि जो कहा है वह देश शब्द से गतार्थ है। इसलिये आश्रय अर्थात् कारण जैसे मेरा ही **दयितयेति**—

प्रिया के द्वारा गूँथी गई इस माला को मैंने अपने हृदयधाम में नित्य के लिये स्थापित कर लिया है। विरहताप के कारण सूख जाने पर भी यह मेरे विरहदाह को दूर करने वाले सुधारस जैसी मालूम पड़ रही है।

ध्वन्यालोकः

दिङ्मात्रकथनेन हि व्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्कारैरङ्गाङ्गिभावपरिज्ञानादासादितालोका बुद्धिः सर्वत्रैव भविष्यति।

तत्र–

श्रृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥१४॥

अङ्गिनो हि श्रृङ्गारस्य ये उक्ताः प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानुबन्धितया प्रबन्धेन प्रवृत्तोऽनुप्रासो न व्यञ्जकः। अङ्गिन इत्यनेनाङ्गभूतस्य श्रृङ्गारस्यैकरूपानुबन्ध्यनुप्रासनिबन्धने कामचारमाह॥१४॥

उसमें अङ्गी (प्रधानभूत) श्रृङ्गार के सभी प्रभेदों में यत्नपूर्वक समान रूप से निरन्तर उपनिबद्ध अनुप्रास रस का अभिव्यञ्जक नहीं होता।

प्रधानभूत अङ्गी श्रृङ्गार के जो प्रभेद कहे गये है उन सभी में एकाकार रूप से निरन्तर निबद्ध अनुप्रास रस का अभिव्यञ्जक नहीं होता। '**अङ्गिनः**' इस पद से गुणीभूत श्रृङ्गार में समान रूप से निरन्तर अनुप्रास की रचना का यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है इससे यह सूचित किया ॥१४॥

लोचनम्

तस्येति श्रृङ्गारस्य। अङ्गिनां रसादीनां प्रभेदस्तत्सम्बन्धकल्पनेत्यर्थः॥१२॥

येनेति। दिङ्मात्रोक्तेनेत्यर्थः। *सचेतसामिति।* महाकवित्वं सहृदयत्वं च प्रेप्सूनामिति भावः। *सर्वत्रेति।* सर्वेषु रसादिष्वासादित आलोकोऽवगमः सम्यग्व्युत्पत्तिर्ययेति सम्बन्धः॥१३॥

तत्रेति। वक्तव्ये दिङ्मात्रे सतीत्यर्थः। *यत्नादिति।* यत्नतः क्रियमाणत्वादिति हेत्वर्थोऽभिप्रेतः। एकरूपं त्वनुबन्धं त्यक्त्वा विचित्रोऽनुप्रासो निबध्यमानो न दोषायेत्येकरूपग्रहणम्॥१४॥

तस्य उस श्रृङ्गार का अङ्गी. रस आदि का प्रभेद अर्थात् उनके सम्बन्ध की कल्पना॥१२॥

जिससे। अर्थात् दिङ्मात्र कहने से। **सचेतसामिति** सचेतन जनों की। भाव यह कि महाकवित्व और सहृदयत्व प्राप्त करने की इच्छा वालों की। **सर्वत्रेति** सभी रसों में। **आसादितालोका** आसादित प्राप्त किया है आलोक अवगम अर्थात् सम्यक् व्युत्पत्ति को जिन्होंने॥१३॥

तत्रेति– वहाँ। अर्थात् दिशा-निर्देश मात्र वक्तव्य की स्थिति में। **यत्नादिति–**

ध्वन्यालोकः

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥१५॥

ध्वनेरात्मभूतः शृङ्गारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाश्यमानस्तस्मिन्यमकादीनां यमकप्रकाराणां निबन्धनं दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम्। 'प्रमादित्व'मित्यनेनैतद्दर्श्यते–काकतालीयेन कदाचित्कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नालङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन त्वेन निबन्धो न कर्त्तव्य इति। 'विप्रलम्भे विशेषतः इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः ख्याप्यते। तस्मिन्द्योत्ये यमकादेरङ्गस्य निबन्धो नियमान्न कर्तव्य इति॥१५॥

शक्ति होते हुये भी ध्वन्यात्मक शृङ्गार में और विशेष रूप में विप्रलम्भ शृङ्गार में यमकादि का निबन्धन कवि के प्रमादित्व का ही सूचक है॥१५॥

यहाँ प्रमादित्व से यह सूचित किया है कि काकतालीयन्याय से कभी किसी एक यमकादि की रचना हो जाने पर भी अन्य अलङ्कारों के समान बाहुल्येन रसाङ्गरूप में उनकी रचना नहीं करनी चाहिये। **'विप्रलम्भे विशेषतः'** इन पदों से विप्रलम्भ शृङ्गार में सुकुमारता का अतिशयित्व द्योतित किया गया है। उस विप्रलम्भ शृङ्गार के द्योत्य होने पर यमकादि अलङ्कारों का प्रयोग नियमतः नहीं करना चाहिये।

लोचनम्

यमकादीत्यादिशब्दः प्रकारवाची। दुष्करं मुरजचक्रबन्धादि। *शब्दभङ्गश्लेष* इति। अर्थश्लेषो न दोषाय 'रक्तस्त्वम्' इत्यादौ; शब्दभङ्गोऽपि क्लिष्ट एव दुष्टः, न त्वशोकादौ॥१५॥

युक्तिरिति। सर्वव्यापकं वस्त्वित्यर्थः। *रसेति।* रससमवधानेन विभावादिघटनामेव कुर्वंस्तत्रान्तरीयकतया यमासादयति स एवात्रालङ्कारो रसमार्गे, नान्यः। तेन वीराद्भुतादिरसेष्वपि यमकादि कवेः

प्रयत्नपूर्वक। यह हेत्वर्थ अभीष्ट है। एकरूप अनुबन्ध का त्याग कर रचा गया विचित्र अनुप्रास दोषकारक नहीं होता इसीलिए एकरूप का ग्रहण किया गया।

यमकादि पद में आदि शब्द प्रकार अर्थ में है जैसे दुष्कर अर्थात् मुरजबन्ध चक्रबन्ध आदि भङ्गश्लेष। अर्थश्लेष दोषावह नहीं होता। **रक्तस्त्वम्** इत्यादि में। शब्दभङ्ग भी क्लिष्ट हो कर ही दोष युक्त होता है न कि अशोकादि॥१५॥

युक्तिरिति अर्थात् सर्वव्यापक वस्तु। रसेति रस में सम्यगवधानपूर्वक विभावादि की घटना ही करता हुआ उस विभावादि की घटना के नान्तरीयक (व्याप्त-सतत)

ध्वन्यालोकः

अत्र युक्तिरभिधीयते–

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥१६॥

निष्पत्तावश्चर्यभूतोऽपि यस्यालङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्यक्रियो भवेत्सोऽस्मिन्नलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये ध्वनावलङ्कारो मतः। तस्यैव रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः।

इस विषय में युक्ति (व्यापक नियम) भी कहते हैं– रसादि ध्वनि में जिस अलङ्कार की रचना रस से आक्षिप्त रूप में बिना किसी अन्य प्रयत्न के हो सके, ध्वनि में वही अलङ्कार मान्य है।

यमकादि की निष्पत्ति (रचना) हो जाने पर उसके आश्चर्यजनक होने पर भी (बिना प्रयत्न के इतना सुन्दर यमकादि कैसे बन गया इस प्रकार के आश्चर्य का विषय होने पर भी) जिस अलङ्कार की रचना रस से आक्षिप्त (बिना प्रयत्न के स्वयं अनायास साध्य) रूप से हो सके वही उस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनि में अलङ्कार माना जाता है। वही मुख्य रूप से रस का अङ्ग होता है। जैसे–

लोचनम्

प्रतिपत्तुश्च रसविघ्नकार्येव सर्वत्र। गड्डुरिकाप्रवाहोपहतसहृदयधुराधिरोहण-विहीनलोकावर्जनाभिप्रायेण तु मया शृङ्गारे विप्रलम्भे च विशेषत इत्युक्तमिति भावः। तथा च 'रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते' इति सामान्येन वक्ष्यति। *निष्पत्ताविति।* प्रतिभानुग्रहात्स्वयमेव सम्पत्तौ निष्पादनान-पेक्षायामित्यर्थः। *आश्चर्यभूत* इति। कथमेष निबद्ध इत्यद्भुतस्थानम्। करकिसलयन्यस्तवदना श्वासतान्ताधरा प्रवर्तमानबाष्पभरनिरुद्धकण्ठी

रूप से जिसको प्राप्त करता है, वही इस रस के मार्ग में अलङ्कार होता है अन्य नहीं। इसलिये वीर, अद्भुत आदि रसों से भी सर्वत्र यमक आदि कवि के और प्रतिपत्ता सहृदय के रस विघ्नकारी ही है। भाव यह कि मैंने भेड़ के पीछे गमन करने वाली भेड़ों की पङ्क्ति के प्रवाह (परम्परा) के उपहत (शिकार) और सहृदयों की मर्यादा तक न पहुँचने वाले लोगों के आवर्जनके अभिप्राय से शृङ्गार में विशेष रूप से विप्रलम्भ में ऐसा कहा है इस कारण रसों में इनका अङ्गत्व संभव नहीं है। इस सामान्य बात को आगे कहेगे। **निष्पत्ताविति** प्रतिभा के अनुग्रह से स्वयमेव बिना किसी यत्न के संपन्न होने में अर्थात् निष्पन्न करने की अपेक्षा न होने पर भी। **आश्चर्यभूत इति** कैसे

ध्वन्यालोकः

यथा–

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पस्तनतटीं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्॥

रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वमिति यो रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसाङ्गमिति। यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे

तुम्हारे गाल पर बनी हुई पत्रावली को हाथ की रगड़ ने मसल कर नष्ट कर दिया है; तुम्हारे अमृत के समान मधुर अधररस का पान ये उष्ण निःश्वास कर रहे हैं, इतना ही नहीं ये आश्रुबिन्दु बारम्बार तुम्हारे कण्ठ का आलिङ्गन कर स्तनों को कम्पित कर रहे हैं। अरी निर्दये! यही क्रोध तुम्हें इतना प्रिय हो गया और हमारी कोई पूछ नहीं।

उस अलङ्कार के रसाङ्ग होने पर अपृग्यत्न निर्वर्त्यत्व ही उसका लक्षण है। जो अलङ्कार रसबन्धन में तत्पर कवि को उस वासना का अतिक्रमण कर

लोचनम्

अविच्छिन्नरुदितचञ्चत्कुचतटा रोषमपरित्यजन्ती चाटूक्त्या यावत्प्रसाद्यते तावदीर्ष्याविप्रलम्भगतानुभावचर्वणावहितचेतस एव वक्तुः श्लेषरूपकव्यतिरेकाद्या अयत्ननिष्पन्नाश्चर्वयितुरपि न रसचर्वणाविघ्नमादधतीति। *लक्षणमिति।* व्यापकमित्यर्थः। 'प्रबन्धेन क्रियमाण' इति सम्बन्धः। अत एव

यह निबद्ध हो गया इस प्रकार आश्चर्य का स्थान। अपने करकिसलय पर मुख स्थापित किये उष्णश्वास लेने के कारण मुर्झाये अधरों वाली, वाष्पसमूहों से रुँधे हुये गले वाली, निरन्तर रोते रहने के कारण काँपते हुये स्तनों वाली और अपने रोष को न त्यागने वाली नायिका को नायक जब तक अपने चाटु वचनों से प्रसन्न करते हैं, तब तक ईर्ष्याविप्रलम्भ भावों की चर्वणा में अवहित चित्त वाले वक्ता के श्लेष, रूपक, व्यतिरेक आदि अयत्ननिष्पन्न अलङ्कार चर्वणा करने वाले के रसचर्वणा में विघ्न का आधान नहीं करते। रसाभास में यमकादि को अङ्गरूप मानने में कोई हानि नहीं है, परन्तु जहाँ रस प्रधानतया व्यङ्ग्य हो वहाँ तो पृथक् प्रयत्नसाध्य होने से यमकादि अङ्ग नहीं हो सकते।

ध्वन्यालोकः

नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः। अलङ्कारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत्- नैवम्; अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्या कादम्बरीदर्शनावसरे। यथा च मायारामशिरोदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ। युक्तं चैतत्, यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो

अलङ्कार निष्पादनार्थ दूसरे प्रधान के आश्रय लेने पर ही बनता है वह रस का अङ्ग नहीं है। और जान-बूझ कर यमक का निरन्तर प्रयोग करने पर तो उसके लिये उपयुक्त विशेष शब्दों का खोज रूप यत्न अवश्य ही करना पड़ता है। यहाँ पूर्वपक्षी पूछता है कि यह बात आप यमक के लिये ही क्यों कहते हैं, उपयुक्त शब्दों की खोज का प्रयत्न तो अन्य अलङ्कारों में भी करना पड़ता है। यह बात तो अन्य अलङ्कारों में समान ही है। इस पर कहते हैं कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरे अलङ्कार रचना में कठिन दिखाई देने पर भी रस में दत्तचित्त

लोचनम्

बुद्धिपूर्वकत्वमवश्यम्भावीति बुद्धिपूर्वकशब्द उपात्तः। रससमवधानादन्यो यत्नो यत्नान्तरम्। निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि। बुद्धिपूर्वं चिकीर्षितान्यपि कर्तुमशक्यानीत्यर्थः। तथा निरूप्यमाणे दुर्घटनानि कथमेतानि रचितानीत्येवं विस्मयावहानीत्यर्थः। अहम्पूर्वः अग्र्य इत्यर्थः। अहमादावहमादौ प्रवर्त इत्यर्थः। अहम्पूर्व इत्यस्य भावोऽहम्पूर्विका। अहमिति निपातो विभक्तिप्रतिरूपकोऽस्मदर्थवृत्तिः। *एतदिति।* अहंपूर्विकया

लक्षणमिति अर्थात् व्यापक। इसका सम्बन्ध प्रबन्धेन (अच्छी तरह) क्रियमाण से हैं। इसलिये उसका बुद्धिपूर्वक होना अवश्यभावी हो जाता है। अतः बुद्धिपूर्वक शब्द का उपादान किया है। रस में समवधान से अतिरिक्त यत्नयत्नान्तर है। निरूप्यमाण होते हुये दुर्घटन अर्थात् बुद्धिपूर्वक चिकीर्षित होने पर भी सर्वथा न किये जा सकने वाले। उस प्रकार निरूप्यमाण होने पर दुर्घटन अर्थात् कैसे ये बन गये? इस प्रकार विस्मय उत्पन्न करने वाले। अहम्पूर्व अगला। अर्थात् 'मैं पहले होऊँगा मैं पहले होऊँगा'। इसी अहंपूर्विका भाव अहंपूर्विका 'अहं' यह निपात है जो अस्मत् के अर्थ में विभक्ति का प्रतिरूपक है। **एतदिति**- यह अर्थात् अहंपूर्वभाव में परापतन।

ध्वन्यालोकः

वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः। तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ। यमकदुष्करमार्गेषु तु तत्स्थितमेव। यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते, तत्र रसादीनामङ्गता यमकादीनां त्वङ्गितैव। रसाभासे चाङ्गत्वमप्यविरुद्धम्। अङ्गितया तु व्यङ्ग्ये रसे नाङ्गत्वं पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यत्वाद्यमकादेः।

अस्यैवार्थस्य सङ्ग्रहश्लोकाः–

रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥

प्रतिभावान् कवि के सामने शब्द होड़ लगा कर स्वयं दौड़े हुये आते हैं। जैसे कादम्बरी-ग्रन्थ में कादम्बरी नायिका के दर्शन के अवसर पर अथवा जैसे सेतुबन्ध में रामचन्द्र के कटे हुये सिर को देख कर सीता देवी के विह्वल होने पर।

और इस प्रकार का अहंपूर्विकया परापतन उचित भी है, क्योंकि रसों की अभिव्यञ्जना वाच्यविशेष से ही होती है और उन वाच्यविशेष के प्रतिपादक शब्दों से उनके प्रकाशक रूपकादि अलङ्कार उन शब्दों से प्रकाशित वाच्यविशेष ही है इसलिये रस की अभिव्यक्ति में उन रूपकादि अलङ्कारों की बहिरङ्गता नहीं है। यमक आदि के दुष्कर (बुद्धिपूर्वक बहुप्रयत्न साध्य) मार्गमें तो बहिरङ्गत्व (भिन्नप्रयत्ननिष्पाद्यत्व) निश्चित ही है।

जहाँ कहीं कोई-कोई यमकादि अलङ्कार रसतासहित दिखाई देते हैं वहाँ यमकादि ही प्रधान है रसादि उनके अङ्ग है। वहाँ रसध्वनि नहीं है।

इसी उपर्युक्त अर्थ के द्योतक के विषय में संगृहीत निम्नोक्त श्लोक है **रसवन्तीति–**

कोई-कोई रसयुक्त वस्तुयें महाकवि के रसनिबन्धनानुकूल एक ही व्यापार

लोचनम्

परापतनमित्यर्थः। *कानिचिदिति।* कालिदासादिकृतानीत्यर्थः। शक्तस्यापि पृथग्यत्नो जायत इति सम्बन्धः। *एषामिति।* यमकादीनाम्। 'ध्वन्यात्मभूते

कानिचिदिति अर्थात् कुछ अर्थात् कालिदास आदि के द्वारा विरचित। इसका सम्बन्ध इस प्रकार है कि समर्थ होने पर भी अलग से यत्न करना होता है। **एषामिति**

ध्वन्यालोकः

रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते ॥१६॥

इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽलङ्कारवर्ग आख्यायते–

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥१७॥

अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते।

से सालङ्कार भी बन जाती हैं। अर्थात् उनमें अलङ्कार निष्पादनार्थ अलग से व्यापार नहीं करना पड़ता। परन्तु यमकादि की रचना में तो प्रतिभासम्पन्न कवि को भी पृथक् से प्रयत्न करना ही पड़ता है। इसलिये वे यमकादि रस में अङ्ग नहीं होते। किन्तु रसाभासों में उनको अङ्ग मानने का निषेध नहीं है। केवल प्रधानभूत ध्वन्यात्मक शृङ्गारादि रसों में ही वे अङ्ग नहीं बन सकते हैं॥१६॥

अब ध्वनि के आत्मभूत शृंङ्गार के अभिव्यञ्जक अलङ्कार-वर्गों का निरूपण करते हैं। ध्वन्यात्मभूत इति– ध्वन्यात्मक शृङ्गार में अग्रिम कारिकाओं में प्रतिपादित पद्धति से सोच-समझ कर उचित रूप में प्रयोग किया गया रूपकादि अलङ्कारवर्ग वास्तविक अलङ्कारता को प्राप्त होता है॥१७॥

बाह्य आभूषणों के समान प्रधानभूत (अङ्गी) रस के चारुत्व हेतुभूत रूपकादि ही अलङ्कार कहे जाते हैं। जितने भी रूपकादि वाच्यालङ्कार प्राचीन

लोचनम्

शृङ्गारे' इति यदुक्तं तत् प्राधान्येनार्धश्लोकेन सङ्गृहीते ध्वन्यात्मभूत इति॥१६॥

इदानीमिति। **हेयवर्ग उक्तः, उपादेयवर्गस्तु वक्तव्य इति भावः।** *व्यञ्जक इति।* **यश्च यथा चेत्यध्याहारः।** *यथार्थतामिति।* **चारुत्वहेतुतामित्यर्थः। उक्त इति। भामहादिभिरलङ्कारलक्षणकारैः। वक्ष्यते चेत्यत्र हेतुमाह–**

इनका अर्थात् यमक आदि का। ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार में यह जो कहा है वह प्रधानतया आधे श्लोक में **ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे** संगृहीत हो गया है॥१६॥

इदानीमिति भाव यह है कि हेयवर्ग कहा जा चुका अब उपादेय (संग्रहणीय) वर्ग कहना चाहिये। **व्यञ्जक इति** यहाँ जो है और जैसा है इतना अध्याहार करना

ध्वन्यालोकः

वाच्यालङ्कारवर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो वक्ष्यते च कैश्चित्, अलङ्काराणामनन्तत्वात्।

स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव चारुत्वहेतुर्निष्पद्यते ॥१७॥

भामहादि कह चुके हैं अथवा अलङ्कारों की अनन्तता के कारण जिन्हें आगे कहना भी संभव है। उन सबको यदि विचारपूर्वक निबद्ध किया जाय तो वे अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के चारुत्व हेतु होते हैं॥१७॥

लोचनम्

अलङ्काराणमनन्तत्वादिति। प्रतिभानन्त्यात् अन्यैरपि भाविभिः कैश्चिदित्यर्थः॥

_समीक्ष्येति।_ समीक्ष्येत्यनेन शब्देन कारिकायामुक्तेति भावः। श्लोकपादेषु चतुर्षु श्लोकार्धे चाङ्गत्वसाधनमिदम्; रूपकादिरिति प्रत्येकं सम्बन्धः। यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति नाङ्गित्वेन, यमवसरे गृह्णाति, यमवसरे त्यजति, यं नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति. यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते, स एवमुपनिबध्यमानो रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवतीति विततं महावाक्यम्। तन्महावाक्यमध्ये चोदाहरणावकाशमुदाहरणस्वरूपं तद्योजनं तत्समर्थनं च निरूपयितुं ग्रन्थान्तरमिति वृत्तिग्रन्थस्य सम्बन्धः॥१७॥

चाहिये। **यथार्थतामिति** अर्थात् चारुत्वहेतुता। **उक्त इति** कहा गया है भामह आदि अलङ्कारलक्षणकारों द्वारा और आगे भी कहेगे, इसमें हेतु बताते हैं। क्योंकि अलङ्कार अनन्त होते हैं, क्योंकि प्रतिभा के अनन्त होने से आगे उत्पन्न होने वाले प्रतिभाशील लोग। **समीक्ष्येति** भाव यह कि समीक्षा करके (समीक्ष्य) इस शब्द से कारिका में कही गई। इस श्लोक के चारों पादों में और श्लोकार्थ में अङ्गत्व का साधन निर्दिष्ट किया गया है। रूपकादि का प्रत्येक साधन से सम्बन्ध है, कुल मिला कर विस्तृत महावाक्य इस प्रकार हुआ।

जो अलङ्कारों को रस के अङ्ग के रूप में विवक्षा करता है, अङ्गी के रूप में नहीं, जिसको अवसर में ग्रहण करता है, अवसर में त्याग करता है, जिसे अन्त तक अत्यन्त निर्वाह करने की इच्छा नहीं करता। और जिसे प्रयत्नपूर्वक अङ्गरूप से देखता है, वह इस प्रकार उपनिबध्यमान होकर रस की अभिव्यक्ति का हेतु होता है, उस महावाक्य के बीच में उदाहरणों के अवकाश का, उनके स्वरूप का, उनकी संगति का और उनके समर्थन का निरूपण करने के लिये शेष ग्रन्थ हैं, इतना वृत्तिग्रन्थ का सम्बन्ध है॥१७॥

ध्वन्यालोकः

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा–

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ।।१८।।
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् ।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ।।१९।।

रसबन्धेष्वत्यादृतमनाः कविर्यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति। यथा–

इन रूपकादि अलङ्कारों के काव्यान्तर्गत प्रयोग में इन बातों का विचार करना आवश्यक है–

रूपकादि की विवक्षा सदैव रस को प्रधान मानकर रसपरत्वेन ही वर्ण्य होती है और प्रधान रूप से किसी भी दशा में नहीं। उचित समय पर उसका ग्रहण तथा त्याग होना चाहिये। आदि से अन्त तक अत्यन्त निर्वाह की इच्छा (प्रयत्न) नहीं करना चाहिये।।१८।।

यदि कही अनायास आद्यन्त निर्वाह हो जाय तो उस निर्वाह के होने पर भी वह अङ्गरूप में ही हो यह बात सावधानी से पुनः पुनः देख लेनी चाहिये। यही समीक्षा रूपकादि अलङ्कारवर्ग के अङ्गत्व का साधन है।।१९।।

रसबन्ध में आदरवान् कवि जिस अलङ्कार को उस रस के अङ्ग रूप में कहना चाहता है उसका उदाहरण जैसे **चलापाङ्गमिति** कालिदासविरचित

लोचनम्

***चलापाङ्गमिति*। हे मधुकर, वयमेवंविधाभिलाषचाटुप्रवणा अपि तत्त्वान्वेषणाद्वस्तुवृत्तेऽन्विष्यमाणे हता आयासमात्रपात्रीभूता जाताः। *त्वं खल्विति* निपातेनायत्नसिद्धं तवैव चरितार्थत्वमिति शकुन्तलां प्रत्यभिलाषिणो दुष्यन्तस्येयमुक्तिः। तथाहि–कथमेतदीयकटाक्षगोचरा भूयास्म, कथमेषास्मदभिप्रायव्यञ्जकं रहोवचनमाकर्ण्यात्, कथं नु**

चलापाङ्गमिति चञ्चल अपाङ्गों वाली– हे मधुकर। इस प्रकार की इच्छा रखने वाले चाटुवचन में कुशल होकर भी मैं तत्त्वान्वेषण से अन्विष्यमाण वस्तु के सम्बन्ध में हत हो गया। मारा गया अथवा आयास का पात्र बना। श्लोक में खलु इस निपात के प्रयोग से बिना यत्न के सिद्ध तुम्हारी चरितार्थता (कृतकृत्यता) हो गई, इस प्रकार शकुन्तला में अभिलाषा रखने वाले दुष्यन्त की यह उक्ति है। जैसा कि किस प्रकार

ध्वन्यालोकः

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥
अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में वाटिका-सिञ्चन में संलग्न शकुन्तला को छिप कर देखते हुये दुष्यन्त उसके पास मँडराते हुये भ्रमर को देख कर कहते हैं– हे मधुकर! तुम इस शकुन्तला की चञ्चल और तिरछी चितवन का स्पर्श कर रहे हो, एकान्त में रहस्य-निवेदन करने वाले के समान कान के समीप पहुँच कर गुनगुनाते हो, उड़ाने के लिये इधर-उधर हाथ झटकती हुई इस तरुणी शकुन्तला के रतिसर्वस्व अधरामृत का पान कर रहे हो। इस प्रकार हे मधुकर हम तो तत्त्वान्वेषण (हमारे ग्रहण करने योग्य क्षत्रिय-कन्या है या नहीं) में ही मारे गये और तुम कृतकृत्य हो गये।

यहाँ भ्रमर के स्वभाव का वर्णनरूप स्वभावोक्ति अलङ्कार रस के अनुरूप ही है। उपर्युक्त समीक्षा प्रकार में दूसरी बात यह कही गई है कि '**नाङ्गित्वेन कदाचन**' इसका अर्थ है प्रधान रूप से किसी भी दशा में नहीं। कभी-कभी रसादि तात्पर्य से निबद्ध होने पर भी अलङ्कार अङ्गी रूप में दिखलाई पड़ता है।

लोचनम्

हठादनिच्छन्त्या अपि परिचुम्बनं विधेयास्मेति यदस्माकं मनोराज्यपदवीमधिशेते तत्तवायत्नसिद्धम्। भ्रमरो हि नीलोत्पलधिया तदाशङ्काकरीं दृष्टिं पुनः पुनः स्पृशति। श्रवणावकाशपर्यन्तत्वाच्च नेत्रयोरुत्पलशङ्कानपगमात्तत्रैव दन्ध्वन्यमान आस्ते। सहजसौकुमार्यत्रास-कातरायाश्च रतिनिधानभूतं विकसितारविन्दकुवलयामोदमधुरमधरं

हम इसके कटाक्षगोचर हों, कैसे यह हमारे अभिप्राय व्यञ्जक रहस्य वचन सुन ले, कैसे बरबस न चाहती हुई भी इसका परिचुम्बन हम करें, यह सब अभी हमारे मनोराज्य में ही था। वह तेरे लिये अयत्नसिद्ध हो गया। इस प्रकार वह भौंरा उसकी दृष्टि को नीलोत्पल समझकर बारम्बार उसका स्पर्श करता है, कानों तक फैले हुये नेत्रों में उसे उत्पल की आशङ्का हो जाती है, इस कारण वह वहीं गुञ्जार कर रहा है, सहज सुकुमारता के कारण उत्पन्न त्रास से कातर प्रिया के रतिनिधानभूत खिले हुये कमल

ध्वन्यालोकः

'नाङ्गत्विने'ति न प्राधान्येन। कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽपि ह्यलङ्कारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते। यथा–

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य ।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ॥

अत्र हि पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति ।

जैसे— **चक्रभिघातेति**– विष्णु ने चक्रप्रहाररूप अपनी अनुल्लङ्घनीय आज्ञा से राहु की पत्नियों के सुरतोत्सव को आलिङ्गनोपयोगी हस्तादि न रहने से आलिङ्गनप्रधान विलासों से विहीन चुम्बनमात्रावशेष बना दिया।

यहाँ रसादि के प्राधान्य में तात्पर्य होने पर भी पर्यायोक्त अलङ्कार प्राधान्येन विवक्षित है।

अङ्ग रूप से विवक्षित होने पर भी जिसको अवसर पर ग्रहण किया जाता

लोचनम्

पिबतीति भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारोऽङ्गतामेव प्रकृतरसस्योपगतः। अन्ये तु भ्रमरस्वभावे उक्तिर्यस्येति भ्रमरस्वभावोक्तिरत्र रूपकव्यतिरेक इत्याहुः।

चक्राभिघात **एव प्रसभाज्ञा अलङ्घनीयो नियोगस्तया यो राहुदयितानां रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषं चकार। यत आलिङ्गनमुद्दामं प्रधानं येषु विलासेषु तैर्वन्ध्यः शून्योऽसौ रतोत्सवः। तत्राह कश्चित्– 'पर्यायोक्तमेवात्र कवेः प्राधान्येन विवक्षितं, न तु रसादि। तत्कथमुच्यते रसादितात्पर्ये सत्यपीति। मैवम्; वासुदेवप्रतापो ह्यत्र विवक्षितः। स चात्र चारुत्वहेतुतया न चकास्ति,**

और कुवलय के समान अधिवासित मधुराधरामृत का पान करता है। इस प्रकार भ्रमर-स्वभावोक्ति अलङ्कार प्रकृत रस का अङ्ग ही है। अन्य टीकाकार कहते हैं कि 'भ्रमर के स्वभाव में उक्ति है जिसकी' वह भ्रमर-स्वभावोक्ति इस रूपक के साथ व्यतिरेक है। **चक्रेति**– चक्राभिघात ही प्रसभ आज्ञा अर्थात् अलङ्घ्य नियोग है उससे जिसने राहु की स्त्रियों के रतोत्सव को चुम्बन मात्र शेष कर दिया। क्योंकि वह रतोत्सव आलिङ्गन उद्दाम अर्थात् प्रधान है जिन विलासों में उनसे वन्ध्य अर्थात् शून्य हो गया। यहाँ कोई कहते हैं– पर्यायोक्त ही यहाँ कवि का प्रधान रूप से विवक्षित है न कि रसादि। ऐसी स्थिति में रसादि के तात्पर्य होने पर भी यह क्यों कहते हैं? तब कहते हैं ऐसी बात

ध्वन्यालोकः

अङ्गत्वेन विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे। अवसरे गृहीतिर्यथा–

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।

है अनवसर में नहीं। अवसर पर ग्रहण का उदाहरण जैसे **उद्दामेति**–

आज मदनावेश में अन्य नारी के समान (लतापक्ष में मदननामक वृक्ष विशेष पर चढ़ी हुई) प्रबल उत्कण्ठा से युक्त (लतापक्ष में प्रचुर कलियों से लदी हुई, नारीपक्ष में उत्कण्ठातिशय के कारण) पाण्डुवर्ण (लतापक्ष में कलिका-बाहुल्य के कारण ऊपर से नीचे तक श्वेतवर्ण) और उसी समय (नारी पक्ष में

लोचनम्

अपि तु पर्यायोक्तमेव। यद्यपि चात्र काव्ये न काचिद्दोषाशङ्का, तथापि दृष्टान्तवदेतत्–यत्प्रकृतस्य पोषणीयस्य स्वरूपतिरस्कारकोऽङ्ग-भूतोऽप्यलङ्कारः सम्पद्यते। ततश्च क्वचिदनौचित्यमागच्छतीत्ययं ग्रन्थकृत आशयः। तथा च ग्रन्थकार एवमग्रे दर्शयिष्यति। महात्मनां दूषणोद्घोषणमात्मन एव दूषणमिति नेदं दूषणोदाहरणं दत्तम्।

उद्दामा उद्गताः कलिका यस्याः। उत्कलिकाश्च रुहरुहिकाः। क्षणात्तस्मिन्नेवावसरे प्रारब्धा जृम्भा विकासो यया। जृम्भा च मन्मथकृतोऽङ्गमर्दः। श्वसनोद्गमैर्वसन्तमारुतोल्लासैरात्मनो लतालक्षणस्या-यासमायासनमान्दोलनयत्नमातन्वतीम्। निःश्वासपरम्पराभिश्चात्मन आयासं

नहीं। यहाँ वासुदेव का प्रताप विवक्षित है। परन्तु वह यहाँ चारुत्व के हेतु रूप में प्रकाशित नहीं हो रहा है, अपितु पर्यायोक्त ही प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि इस काव्य में किसी दोष की आशङ्का नहीं है। तथापि यह एक प्रकार का दृष्टान्त है। ग्रन्थकार का यह आशय है कि अङ्गभूत भी अलङ्कार पोषणीय प्रस्तुत के स्वरूप का तिरस्कारक हो जाता है। इस कारण कहीं अनौचित्य आ जाता है। जैसा कि ग्रन्थकार इसी प्रकार आगे दिखायेंगे कि महात्माओं के दोष का कहना अपना ही दोष हो जाता है, इसलिये यह दोष का उदाहरण नहीं दिया है।

उद्दामेति उद्दाम अर्थात् उद्गत कलिकायें हैं जिसकी। अन्यपक्ष में उत्कलिका अर्थात् रुहरुहिका (उत्कण्ठा) क्षण में अर्थात् सद्यः उसी अवसर में प्रारम्भ किया है जृम्भा अर्थात् विकास को जिसने, अन्यपक्ष में जृम्भा अर्थात् कामकृत अङ्गमर्द श्वस-

ध्वन्यालोक:

अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

इत्यत्र उपमा श्लेषस्य।

गृहीतमपि च यमवसरे त्यजति तद्रसानुगुणतयालङ्कारान्तरापेक्षया ।

मदनावेश के प्रभाव से) जँभाई लेती हुई (लतापक्ष में विकसित हुई) तथा (नारीपक्ष में) लम्बी-लम्बी श्वासों से अपने मदनावेश अथवा हृदय के संतापों को प्रकट करती हुई। (लतापक्ष में वायु के वेग से निरन्तर कम्पित हुई समदना (नारीपक्ष में काम विकारयुक्त– लतापक्ष में मदनफल नामक वृक्ष के साथ अथवा उस पर चढ़ी हुई) इस उद्यानलता को देखते हुये निश्चय ही रानी के मुख को क्रोध से लाल कर दूँगा। यहाँ राजा उदयन ने भावी सागरिका-प्रेममूलक ईर्ष्याविप्रलम्भ को अनजाने सूचित किया हैं।

यहाँ उपमाश्लेष का अवसर में ग्रहण हैं। उसके द्वारा रस का परिपोष हो रहा है। अत: यह अवसर पर ग्रहण का उदाहरण है। ग्रहण करने पर भी उस

लोचनम्

हृदयस्थितं सन्तापमातन्वतीं प्रकटीकुर्वाणाम्। सह मदनाख्येन वृक्षविशेषेण मदनेन कामेन च। अत्रोपमाश्लेष ईर्ष्याविप्रलम्भस्य भाविनो मार्गपरिशोधकत्वेन स्थितस्तच्चर्वणाभिमुख्यं कुर्वन्नवसरे रसस्य प्रमुखीभावदशायां पुरःसरायमाणो गृहीत इति भावः। अभिनयोऽप्यत्र प्राकरणिके प्रतिपदम्। अप्राकरणिके तु वाक्यार्थाभिनयेनोपाङ्गादिना। न तु सर्वथा नाभिनय इत्यलमवान्तरेण। ध्रुवशब्दश्च भावीर्ष्यावकाशप्रदानजीवितम्।

नोद्गम अर्थात् वसन्तकालीन मारुत के उल्लास से लता अपने आयास रूप आन्दोलन यत्न को फैलाती हुई। पक्षान्तर में निःश्वास परम्पराओं से आयास अर्थात् हृदयस्थित संताप को प्रकट करती हुई। लतापक्ष में मदन नामक वृक्ष के साथ। नायिकापक्ष में मदन अर्थात् काम के साथ। भाव यह कि उपमाश्लेष ईर्ष्याविप्रलम्भ के मार्गपरिशोधन रूप में स्थित हो कर सहृदयों की चर्वणा का आभिमुख्य (आनुकूल्य) करता हुआ अवसर में अर्थात् रस के प्रमुख होने की दशा में अग्रसर होता हुआ ग्रहण किया गया है। लता रूप प्राकरणिक अर्थ में यहाँ पद-पद पर अभिनय भी है। नारी रूप

ध्वन्यालोक:

यथा–

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्तास्तथा मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥

रस के अनुगुण होने से अलङ्कान्तर की अपेक्षा से कवि जिसको अवसर पर छोड़ देता है। उस अवसर पर त्याग रूप चतुर्थ समीक्षा प्रकार का उदाहरण जैसे **रक्तस्त्वमिति**–

वह श्लोक रत्नावलीनाटिका का है। राजा अशोक वृक्ष से कह रहे हैं– हे अशोक! तुम अपने नवीन पल्लवों से रक्त हो रहे हो मैं भी प्रिया के गुणों से रक्त (अनुरागयुक्त) हूँ। तुम्हारे पास शिलीमुख (भ्रमर) आते हैं और कामदेव के धनुष द्वारा छोड़े गये शिलीमुख (बाण) मेरे ऊपर भी आते हैं, कान्ता का पादप्रहार तुम्हारे लिये आनन्ददायक है तो कान्तापादहति रूप सुरतबन्ध-विशेष द्वारा वह मेरे लिये भी आनन्ददायक है। इस प्रकार हे अशोक! हम और तुम दोनों सब प्रकार बराबर हैं। केवल अन्तर यह है कि विधाता ने मुझे सशोक बना दिया है और तुम अशोक अर्थात् शोकरहित हो।

लोचनम्

रक्तो लोहितः। अहमपि रक्तः प्रबुद्धानुरागः। तत्र च प्रबोधको विभावस्तदीयपल्लवराग इति मन्तव्यम्। एवं प्रतिपादमाद्योऽर्थो विभावत्वेन व्याख्येयः। अत एव हेतुश्लेषोऽयम्। सहोक्त्युपमाहेत्वलङ्काराणां हि भूयसा श्लेषानुग्राहकत्वम्। अनेनैवाभिप्रायेण भामहो न्यरूपयत्–'तत्सहोक्त्यु-पमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधम्' इत्युक्त्या न त्वन्यालङ्कारानुग्रहनिराचिकीर्षया।

अप्राकरणिक अर्थ में उपाङ्ग आदि वाक्यार्थाभिनय से अभिनय है। सर्वथा अभिनय ही नहीं है यह बात नहीं। इस अवान्तर की चर्चा मात्र इतनी ही यहाँ है कि निश्चयवाची ध्रुव शब्द भावी ईर्ष्या को अवसर देने में प्राणभूत है। जैसे **रक्तस्त्वमिति** अशोकपक्ष में रक्त अर्थात् लोहित, नायक के पक्ष में मै भी रक्त अर्थात् प्रबुद्ध अनुराग वाला हूँ। वहाँ उद्दीपन विभाव उस अशोक का पल्लवराग है ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक पद में पहला अर्थ विभाव रूप से व्याख्या के योग्य हैं। अतएव यह हेतु श्लेष (हेतु अलङ्कारसहित श्लेष) है। सहोक्ति, उपमा और हेतु अलङ्कार बाहुल्येन श्लेष के अनुग्राहक होते हैं, इस अभिप्राय से भामह ने वह श्लेष सहोक्ति, उपमा और हेतु

ध्वन्यालोकः

अत्र हि प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो रसविशेषं पुष्णाति। नात्रालङ्कारद्वयसन्निपातः, किं तर्हि? अलङ्कारान्तरमेव श्लेषव्यतिरेकलक्षणं नरसिंहवदिति चेत्– न, तस्य प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात्। यत्र हि श्लेषविषय एव शब्दे प्रकारान्तरेण व्यतिरेकप्रतीतिर्जायते स तस्य विषयः। यथा–'स

यहाँ इस श्लोक के तीन पदों में निरन्तर विद्यमान श्लेष है, अन्त वाले पद में व्यतिरेक की विवक्षा से उसे छोड़ देने से वह रस-विशेष को पुष्ट करता है। इस पर पूर्वपक्षी संदेह करता है कि यहाँ श्लेष और व्यतिरेक दो अलङ्कार नहीं है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि व्यतिरेक की अपेक्षा से अन्तिम चरण में श्लेष छोड़ दिया गया है। तब क्या है? नरसिंह के समान श्लेष और व्यतिरेक मिला कर श्लेष-व्यतिरेक रूप दूसरा ही संकर अलङ्कार है। इस पर सिद्धान्तवादी कहता है कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उस एकाश्रयानुप्रवेश रूप संकर की स्थिति प्रकारान्तर से होती है। जहाँ श्लेष अलङ्कार के विषयभूत शिलष्ट शब्द में ही प्रकारान्तर से व्यतिरेक की प्रतीति होती है वही उस श्लेष और व्यतिरेक के एकाश्रयानुप्रवेश रूप संकर अलङ्कार का विषय होता है; जैसे 'स हरि' यह देव तो नाम मात्र स हरि है और यह राजा श्रेष्ठ अश्व समूहों के

लोचनम्

रसविशेषमिति विप्रलम्भम्। सशोकशब्देन व्यतिरेकमानयता शोकसहभूतानां निर्वेदचिन्तादीनां व्यभिचारिणां विप्रलम्भपरिपोषकाणामवकाशो दत्तः। _किं तर्हीति।_ सङ्करालङ्कार एक एवायम्; तत्र किं त्यक्तं किं वा गृहीतमिति परस्याभिप्रायः। तस्येति संकरस्य। एकत्र हि विषयेऽलंकारद्वयप्रतिभोल्लासः सङ्करः। सहरिशब्द एको विषयः। सः हरिः, यदि वा सह हरिभिः सहरिरिति। _अत्र हीति।_ हिशब्दस्तुशब्दस्यार्थे, 'रक्तस्त्व'

के भेद से तीन प्रकार का होता है, ऐसा कहकर श्लेष का निरूपण किया है न कि अन्य अलङ्कार के अनुग्रह के निराकरण करने की इच्छा से। **रसविशेष–** अर्थात् विप्रलम्भ। अशोक शब्द से व्यतिरेक को लाते हुये कवि ने शोक के साथ उत्पन्न निर्वेद, चिन्ता आदि विप्रलम्भ के परिपोषक व्यभिचारी भावों को अवकाश दे दिया है। **किं तर्हीति** यह एक संकरालङ्कार ही है। तब वहाँ क्या त्याग किया? क्या ग्रहण किया? यह दूसरे का अभिप्राय है। **तस्येति** उस संकर का एक ही विषय में दो अलङ्कारों की प्रतिभा का होना संकर है। जैसे 'सहरि' शब्द एक विषय है '**सः हरिः**', यदि वा **हरिभिः सह** घोड़ो के सहित। यहाँ। **अत्र हीति–** क्योंकि यहाँ 'हि' शब्द 'तु' के अर्थ

ध्वन्यालोकः

हरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन' इत्यादौ। अत्र ह्यन्य एव शब्दः श्लेषस्य विषयोऽन्यश्च व्यतिरेकस्य। यदि चैवंविधे विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते तत्संसृष्टेर्विषयापहार एव स्यात्।

कारण सहरि है। इत्यादि उदाहरण में श्लेष और व्यतिरेक दोनों सहरि इस एक ही पद में आश्रित है। इसलिये यहाँ श्लेष और व्यतिरेक का एकाश्रयानुप्रवेशी संकर बन जाता है। किन्तु यहाँ 'रक्तस्त्वम्' इस श्लोक में श्लेष का विषय अन्य रक्त आदि शब्द है और व्यतिरेक का विषय अशोक तथा सशोक अन्य शब्द है अतः यहाँ एकाश्रयानुप्रवेश नहीं बनता। इस पर पुनः संदेह करते हैं कि यद्यपि श्लेष और व्यतिरेक के विषय भिन्न-भिन्न हैं परन्तु है तो एक वााक्यान्तर्गत ही इसलिये श्लेष और व्यतिरेक का विषय शब्द को न मान कर उस वाक्य को ही मान लिया जाय। तब तो उन दोनों का एक वाक्य रूप एक आश्रय में

लोचनम्

मित्यत्रेत्यर्थः। *अन्य* इति रक्त इत्यादिः। अन्यश्च अशोकसशोकादिः। नन्वेकं वाक्यात्मकं विषयमाश्रित्यैकविषयत्वादस्तु सङ्कर इत्याशङ्क्याह–*यदीति।* एवंविधे वाक्यलक्षणे विषये विषय इत्येकत्वं विवक्षितं बोध्यम्। एकवाक्यापेक्षया यद्येकविषयत्वमुच्यते तन्न क्वचित्संसृष्टिः स्यात्, सङ्करेण व्याप्तत्वात्। ननूपमागर्भो व्यतिरेकः; उपमा च श्लेषमुखेनैवायातेति श्लेषोऽत्र व्यतिरेकस्यानुग्राहक इति सङ्करस्यैवेष विषयः। यत्र त्वनुग्राह्यानुग्राहकभावो नास्ति तत्रैकवाक्यगामित्वेऽपि संसृष्टिरेव। तदेतदाह–*श्लेषेति।* श्लेषबलानीतोपमामुखेनेत्यर्थः। एतत्परिहरति–*नेति।*

में है अर्थात् **रक्तस्त्वं॰**' इस स्थल में अन्य इति रक्त इत्यादि और दूसरे अर्थात् अशोक सशोक इत्यादि। यहाँ आशङ्का करते हुये पूर्वपक्षी कहता है कि एक वाक्यात्मक विषय को आश्रयण करके एक विषय होने के कारण संकर भी एकाश्रयानुप्रवेश रूप ही है। यहाँ इस प्रकार के वाक्य रूप विषय में विषय का यह एकत्व विवक्षित समझना चाहिये। इस पर उत्तरपक्षी कहता है कि यदि एक वाक्य की अपेक्षा करके एक विषयत्व कहते हो तब तो कहीं संसृष्टि नहीं होगी और सर्वत्र सङ्कर व्याप्त हो जायगा। पुनः शङ्का करते हैं कि यहाँ उपमागर्भ व्यतिरेक है और वह उपमा यहाँ श्लेष के प्रकार से आई है। अतः श्लेष व्यतिरेक का अनुग्राहक है अतः यह अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव रूप संकर का ही विषय है। जहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव नहीं है वहाँ एकवाक्यगामी होने से भी संसृष्टि है **तदेतदाह**— इसी बात को कहते हैं। यहाँ श्लेष के बल से

ध्वन्यालोकः

श्लेषमुखैनैवात्र व्यतिरेकस्यात्मलाभ इति नायं संसृष्टेर्विषय इति चेत्– न; व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि दर्शनात्। यथा–

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शम्या
गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमःकज्जलेन।

अनुप्रवेश संकर बन जाता है। इसका उत्तर देते है कि यदि ऐसे विषय में संकर रूप अलङ्कारान्तर की कल्पना कर लेते हैं तब संसृष्टि का कहीं विषय नहीं रहेगा। पुनः पूर्वपक्षी संदेह करता है कि श्लेष द्वारा ही यहाँ व्यतिरेक की सिद्धि होती है, इसलिये यह संसृष्टि का विषय नहीं है। सिद्धान्तवादी कहता है कि तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्यतिरेक उपमा के ऊपर ही आश्रित नहीं है। उपमा के बिना प्रकारान्तर से वह व्यतिरेक देखा जाता है। जैसे–

अखिल विश्व के प्रकाशक सूर्यदेव की दीप्ति रूप यह लोकोत्तर वत्ती जो निष्ठुर वेग से पर्वतों को भी उखाड़ फेकने वाले कल्पान्तर के वायु से भी नहीं

लोचनम्

अयं भावः–किं सर्वत्रोपमायाः स्वशब्देनाभिधाने व्यतिरेको भवत्युत गम्यमानत्वे। तत्राद्यं पक्षं दूषयति–*प्रकारान्तरेणेति।* उपमाभिधानेन विनापीत्यर्थः।

***शम्या शमयितुं* शक्येत्यर्थः। दीपवर्तिस्तु वायुमात्रेण शमयितुं शक्यते। तम एव कज्जलं तेन। न नो रहिता अपितु रहितेव। दीपवर्तिस्तु तमसापि युक्ता भवति। अत्यन्तमप्रकटत्वात्कज्जलेन चोपरिचरेण। *पताङ्गादर्कात्।* दीपवर्तिः पुनः शलभाद्' ध्वंसते नोत्पद्यते। साम्येति। साम्यस्योपमायाः प्रपञ्चेन प्रबन्धेन यत्प्रतिपादनं स्वशब्देन तेन विनापीत्यर्थः। एतदुक्तं**

उपमा लाई गई है। इस कारण से यहाँ संकट है। इस शङ्का का परिहार करते हैं। **नेति** अर्थात् ऐसा नहीं। भाव यह कि क्या सर्वत्र उपमा के स्वशब्द द्वारा (इवादि द्वारा) अभिधान करने पर व्यतिरेक होता है या गम्यमान होने पर। वहाँ प्रथम पक्ष में दोष देते हैं– प्रकारान्तर से– अर्थात् उपमा के बिना भी व्यतिरेक देखा जाता है जैसे।

शम्या जिसका शमन किया जा सकता है। दीपवर्त्ति वायुमात्र से शान्त हो सकती है। **तमः कज्जलेन** तमस् रूप जो कज्जल उससे। **न नो रहिता** अपि कज्जल से सर्वथा रहित ही। दीपवत्ती तो तम से युक्त भी रहती है। इसलिये उसमें अत्यधिक प्रकाश नहीं होता और ऊपर कज्जल बनता रहता है। **पतङ्गादिति** पतङ्ग सूर्य से। दीपबत्ती

ध्वन्यालोकः

प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुष्णात्विषो वो
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः ॥

अत्र हि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दर्शितः। नात्र श्लेषमात्राच्चारुत्वप्रतीतिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वात् न स्वतोऽलङ्कारतेत्यपि न वाच्यम्। यत एवंविधे विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादिताच्चारुत्वं दृश्यत एव। यथा-

बुझ सकती, जो दिन में भी उज्ज्वल प्रकाश प्रदान करती है, जो तमोरूपकज्जल से सर्वथा रहित है, जो पतङ्ग नामक कीटविशेष से नहीं बुझती बल्कि पतङ्ग (सूर्य) से उत्पन्न होती है वह लोकोत्तर बत्ती आप सभी को सुखी करे।

यहाँ साम्यकथन के बिना ही व्यतिरेक प्रदर्शित किया गया है, अत: व्यतिरेक के लिये साम्य उपमा की अपेक्षा न होने से 'रक्तस्त्वम्' में श्लेषोपमा को अनुग्राहक मानने की आवश्यकता नहीं, अपितु श्लेष और व्यतिरेक दोनों अलग-अलग अलङ्कारों की संसृष्टि ही माननी चाहिये। यहाँ रक्तरत्त्वम् में श्लेष मात्र से चारुत्व की प्रतीति नहीं है इसलिये श्लेष को व्यतिरेक के अङ्ग से विवक्षा होने के कारण उसका स्वयं अलङ्कारत्व नहीं है। यह भी नहीं कह सकते क्योंकि इस प्रकार के विषय में साम्यमात्र के सम्यक् प्रतिपादन से भी चारुत्व देखा जाता है। जैसे **आक्रन्दा** इति।

लोचनम्

भवति- प्रतीयमानैवोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहिणी भवन्ती नाभिधानं स्वकण्ठेनापेक्षते। तस्मान्न श्लेषोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहित्वेनोपात्ता। ननु यद्यप्यन्यत्र नैवं, तथापीह तत्प्रावण्येनैव सोपात्ता; तदप्रावण्ये स्वयं चारुत्वहेतुत्वाभावादिति श्लेषोपमात्र पृथगलङ्कारभावमेव न भजते। तदाह-

तो शलभ (कीड़े) से नष्ट हो जाती है उत्पन्न नहीं होती। **साम्येति** अर्थात् उपमा का प्रपञ्च अर्थात् वह प्रबन्ध जो आदि से अन्त तक प्रपिादन किया गया है। वह स्वशब्द कहे बिना भी है **एतदुक्तं भवति** प्रतीयमान ही उपमा व्यतिरेक का अनुग्राहक होती हुई कण्ठत: अभिधान की अपेक्षा नहीं रखती हैं। इस कारण वह श्लेषोपमा व्यतिरेक के अनुग्राहक रूप से उपात्त नहीं होती है। यहाँ शङ्का करते हैं कि यद्यपि अन्यत्र ऐसा नहीं है तथापि उसके प्रावण्य (अर्थात् व्यतिरेक के अनुग्राहक रूप से) वह उपात्त है, क्योंकि उसके अप्रावण्य की स्थिति में वह स्वयं चारुत्व का हेतुत्व नहीं होगा। इसलिये वह श्लेषोपमा अलग से अलङ्कारभाव प्राप्त नहीं करती। उसका उत्तर देते हैं- **नात्रेति**

ध्वन्यालोकः

आक्रन्दाः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि-
स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः ।
अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयो-
स्तत्किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धमेवोद्यतः ॥

इत्यादौ।

रसनिर्वहणैकतानहृदयो यं च नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति। यथा–

मेरा क्रन्दन (सकरुण विलाप) तुम्हारे गर्जनके समान है, मेरे अश्रु तुम्हारी निरनतर बहने वाली जलधारा के समान है। मेरे हृदय में प्रियतमा का मुख है और तुम्हारे हृदय में चन्द्रमा है, इसलिये हमारी तुम्हारी वृत्ति समान ही है अर्थात् हम दोनों सधर्मा मित्र हैं। इस प्रकार हे मित्र जलधर! फिर तुम रात-दिन मुझको जलाने के लिये क्यों तैयार रहते हो, इत्यादि में।

रस-निर्वाह में अत्यन्त तत्पर कवि जिस अलङ्कार का अत्यन्त निर्वाह करना

लोचनम्

नात्रेति। **एतदसिद्धं स्वसंवेदन-बाधितत्वादिति हृदये गृहीत्वा स्वसंवेदनमपह्नुवानं परं श्लेषं विनोपमामात्रेण चारुत्वसम्पन्नमुदाहरणान्तरं दर्शयन्निरुत्तरीकरोति–***यत*** **इत्यादिना। उदाहरणश्लोके तृतीयान्तपदेषु तुल्यशब्दोऽभिसम्बन्धनीयः। अन्यत्सर्वं 'रक्तस्त्वम्' इतिवद्योज्यम्।**

एवं ग्रहणत्यागौ समर्थ्य 'नातिनिर्वहणैषिता' इति भागं व्याचष्टे– *रसेति।* **चकारः समीक्षाप्रकारसमुच्चयार्थः। बाहुलतिकाया बन्धनीयपाशत्वेन रूपणं यदि निर्वाहयेत्, दयिता व्याधवधूः, वासगृहं**

अपने संवेदन से बाधित होने के कारण यह असिद्ध है। इतनी बात अपने मन में रख कर अपने संवेदन को छिपाते हुये अन्य पक्ष को श्लेष के बिना भी केवल उपमामात्र से चारुत्व संपन्न दूसरा उदाहरण दिखाते हुए उसे निरुत्तर करते हैं। **यत् इति** उदाहरण श्लोक में तृतीयान्त पदों को तुल्य शब्द से सम्बन्धित कर लेना चाहिये। दूसरे की '**रक्तस्त्वं**' के समान योजना कर लेनी चाहिये।

इस प्रकार यहाँ ग्रहण और त्याग का समर्थन कर 'दूर तक निर्वाह की इच्छा न हो।' कारिका के इस भाग की व्याख्या करते हैं। **रसेति** यहाँ चकार समीक्षा के प्रकारों के समुच्चयार्थ है, बाहुलतिका को बन्धनीय पाश के रूप में रूपण को यदि निर्वाह करता, प्रिया को व्याधपत्नी के रूप में और वासगृह को कारागार पञ्जर बनाता

ध्वन्यालोकः

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान्रुदत्या हसन् ॥
अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढं च परं रसपुष्टये ।

नहीं चाहता है उसका उदाहरण जैसे कोपादिति–

क्रोधावेश में अपने कोमल तथा चञ्चल बाहुलता के पाश में जकड़ कर अपने केलिभवन में ले जा कर सायंकाल के समय सखियों के सामने पराङ्गनोपभोगजन्य नखक्षतादि चिह्नों से उसके दुश्चेष्टितों को भली प्रकार सूचित कर फिर कभी ऐसा मत करना इस क्रोध के कारण लड़खड़ाती हुई वाणी से ऐसा कह कर रोती हुई प्रियतमा के द्वारा हँसते हुये अपने नखक्षतादि चिह्नों को छिपाने वाला प्रियतम पीटा जा रहा है। यहाँ 'बाहुलतिकापाशेन' रूपक

लोचनम्

कारागारपञ्जरादीति परमनौचित्यं स्यात्। *सखीनां पुर* इति। भवत्योऽनवरतं ब्रुवते नायमेवं करोतीति तत्पश्यन्त्विदानीमिति भावः। स्खलन्ती कोपावेशेन कला मधुरा च गीर्यस्याः सा। कासौ गीरित्याह–*भूयो नैवमित्येवंरूपा।* एवमिति यदुक्तं तत्किमित्याह–*दुश्चेष्टितं* नखपदादि *संसूच्य* अङ्गुल्यादिनिर्देशेन। हन्यत *एवेति।* न तु सख्यादिकृतोऽनुनयऽनुरुध्यते। यतोऽसौ हसनं निमित्तीकृत्य निह्नुतिपरः प्रियतमश्च तदीयं व्यलीकं का सोढुं समर्थेति।

तो वह अत्यधिक अनौचित्य हो जाता। **सखीनां पुरः** भाव यह कि तुम लोग सदैव कहा करती हो कि वह ऐसा नहीं करता तो यह देखो। **स्खलत्कलगिरेति** स्खलित होती हुई अर्थात् कोपावेश में लड़खड़ाती हुई और कलगिरा अर्थात् मधुर वाणी है जिसकी। वह मधुर वाणी क्या है? फिर ऐसा नहीं, फिर ऐसा नहीं इस प्रकार की। इस प्रकार जो कहा है वह क्या है? कहते हैं संसूच्य **दुश्चेष्टितं** नखक्षतादि दुश्चेष्टित का संसूचन अङ्गुलि आदि से निर्देश करके। **हन्यत एव** निरन्तर ताड़न किया जा रहा है। न कि सखी आदि द्वारा किया हुआ अनुनय– इसे छोड़ दो अब ऐसा अपराध नहीं करेगा आदि मानती हैं, क्योंकि वह हँसी को निमित्त बना कर अपना दुश्चेष्टित छिपा रहा है। यतः वह अपना प्रियतम है, उसके व्यलीक को कौन सहन करने के लिये समर्थ है?

ध्वन्यालोकः

निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते यथा–

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति ॥

इत्यादौ।

का आक्षेप कर प्रारम्भ किया गया परन्तु बाद में अत्यन्त रसपुष्टि के लिये उसका निर्वाह नहीं किया गया। यह पञ्चम समीक्षा-प्रकार हुआ।

आगे निर्वाह इष्ट होने पर भी जिसको सावधानी से अङ्ग रूप में देखता है उस छठवी समीक्षा का उदाहरण जैसे– **श्यामास्विति**–

हे भीरु! मुझे तुम्हारे अङ्ग का सादृश्य प्रियङ्गुलताओं में, तुम्हारे दृष्टिपात का सादृश्य चकित हरिणियों के चञ्चल चितवन में, तुम्हारी कपोल-कान्ति का सादृश्य चन्द्रमा में, केशपाश का सादृश्य मयूरपिच्छों में, और तुम्हारे भ्रूभङ्ग का सादृश्य नदी की सूक्ष्मातिसूक्षम तरङ्गों में दिखलाई पड़ता है। इसलिये मैं इधर-उधर मारा फिरता हूँ। किन्तु खेद है कि तुन्हारा सादृश्य कहीं एकत्र दिखाई नहीं पड़ता। इत्यादि में।

लोचनम्

_निर्वोढुमिति।_ निःशेषेण परिसमापयितुमित्यर्थः।

_श्यामासु_ सुगन्धिप्रियङ्गुलतासु पाण्डिम्ना तनिम्ना कण्टकितत्वेन च योगात्। _शशिनीति_ पाण्डुरत्वात्।

_उत्पश्यामीति_ यत्नेनोत्प्रेक्षे। जीवितसन्धारणायेत्यर्थः। _हन्तेति_ कष्टम्, एकस्थसादृश्याभावे हि दोलायमानोऽहं सर्वत्र स्थितो न कुत्रचिदेकत्र धृतिं लभ इति भावः। _भीर्विति।_ यो हि कातरहृदयो भवति नासौ सर्वस्वमेकस्थं धारयतीत्यर्थः। अत्र ह्युत्प्रेक्षायास्तद्भावाध्यारोपरूपाया अनुप्राणकं सादृश्यं

निर्वोढुमिति पूर्ण रूप से परिसमाप्त करने के लिये। **श्यामास्विति** श्यामा अर्थात् शोमनगन्ध वाली प्रियङ्गुलताओं में, पाण्डुता, कृशता और कण्टकित भावों के योग के कारण। शशी में पाण्डुर होने के कारण **उत्पश्यामीति** यत्नपूर्वक उत्प्रेक्षण करता हूँ अर्थात् जीवन धारण के लिये। **हन्तेति** कष्टपूर्वक। भाव यह कि एक जगह सादृश्य न मिलने के कारण दोलायमान मैं सर्वत्र जाता हूँ। कहीं एक जगह मुझे धीरज नहीं प्राप्त होता है। भीरु अर्थात् जो कातर हृदयवाला होता है वह सब कुछ एक जगह

ध्वन्यालोकः

स एवमुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति। उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभङ्गहेतुः सम्पद्यते। लक्ष्यं च तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्वपि दृश्यते बहुशः। तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्। किं तु रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादिविषये लक्षणदिग्दर्शिता तामनुसरन् स्वयं

इस प्रकार उपर्युक्त अङ्ग साधक षड्विध समीक्षा-प्रकारों को ध्यान में रख कर उपनबिद्ध वह रूपकादि अलङ्कारवर्ग कवि के अभीष्ट रस को अभिव्यक्त करने का हेतु होता है। किन्तु उस पद्धति का उल्लङ्घन करने से अवश्य ही रसभंङ्ग का हेतु बन जाता है। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण महाकवियों के प्रबन्धों में भी पाये जाते हैं, किन्तु सहस्त्रों सूक्तियों की रचना द्वारा लब्धप्रतिष्ठ उन महात्माओं के दोषों का उद्घाटन करना अपने लिये ही दोषजनक होगा। इसलिये उन महाकवियों के दोषयुक्त उदाहरणों को अलग से नहीं दिखलाया

लोचनम्

यथोपक्रान्तं, तथा निर्वाहितमपि विप्रलम्भरसपोषकमेव जातम्। तत्तु लक्ष्यं न दर्शितमिति सम्बन्धः। प्रत्युदाहरणे ह्यदर्शितेऽप्युदाहरणानुशीलनदिशा कृतकृत्यतेति दर्शयति- ***किं त्विति। अन्यल्लक्षणमिति।*** **परीक्षाप्रकार-मित्यर्थः। तद्यथावसरे त्यक्तस्यापि पुनर्ग्रहणमित्यादि। यता ममैव-**

शीतांशोरमृतच्छटा यदि कराः कस्मान्मनो मे भृशं
संप्लुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसंवाससन्दूषिताः।

नहीं रखता है, क्योंकि कोई चुरा कर न ले जावे। यहाँ तद्भावाध्यारोप रूप (जिसमें जो न हो उसका आहार्य आरोप रूप। जैसे श्यामा अर्थात् प्रियङ्गुलताओं में अङ्ग का अध्यारोप) उत्प्रेक्षा को अनुप्राणित करने वाला सादृश्य जैसा उपक्रान्त है, निर्वाह किये जाने पर भी विप्रलम्भ रस का पोषक ही बना है, उस लक्ष्य को यहाँ नहीं दिखाया गया है यह सम्बन्ध है। प्रत्युदाहरण के न दिखाने पर भी उदाहरण के अनुशीलन की दिशा से अपनी कृतकृत्यता प्रदर्शित करते हैं- **किं त्विति। अन्यल्लक्षणमिति** अर्थात् परीक्षा का प्रकार। अवसर में छोड़े गये का भी फिर से ग्रहण इत्यादि जैसे मेरा ही-

यदि चन्द्रकिरणें अमृतरूप हैं तो किस कारण मेरे मन को अत्यन्त संतप्त करती हैं, यदि ये किरणें विष के साथ रहने से दूषित हो गई हैं तो मेरे प्राणों को हर क्यों

ध्वन्यालोकः

चान्यल्लक्षणमुत्प्रेक्षमाणो यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिभमनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति॥१८-१९॥

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात्सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥२०॥

है। किन्तु अन्तिम सिद्धान्त यही है कि उन रूपकादि अलङ्कारवर्ग का रसादिविषयकव्यञ्जकत्व जो यह मार्ग प्रदर्शित किया गया है, उसका अनुसरण करते हुये और स्वयं भी और लक्षणों का अनुसन्धान करते हुये यदि कोई सुकवि पूर्वकथित असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्व सदृश ध्वनि के आत्मभूत रसादि को सावधानी से निबद्ध करता है तो उसे बड़ा आत्मलाभ होता है॥१८-१९॥

क्रमेणेति- विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का अनुस्वान के सदृश क्रम से प्रतीत होने वाला जो आत्मा (स्वरूप) है वह भी शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल होने से दो प्रकार का होता हैं॥२०॥

लोचनम्

किं प्राणान्न हरन्त्युत प्रियतमासञ्जल्पमन्त्राक्षरै-
रक्ष्यन्ते किमु मोहमेमि हहहा नो वेद्मि केयं गतिः ॥

इत्यत्र हि रूपकसन्देहनिदर्शनास्त्यक्त्वा पुनरुपात्ता रसपरिपोषायेत्यलम्।

एवं विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेः प्रथमं भेदमलक्ष्यक्रमं विचार्य द्वितीयं भेदं विभक्तुमाह-*क्रमेणेत्यादि।* प्रथमपादोऽनुवादभागो हेतुत्वेनोपात्तः। घण्टाया अनुरणनमभिघातजशब्दापेक्षया क्रमेणैव भाति। *सोऽपीति।* न

नहीं लेती? यदि प्रियतमा के साथ बातचीत रूप मन्त्राक्षरों से प्राणों की रक्षा हो जाती है तो फिर क्यों मूर्च्छित हो जाता हूँ। हा, हा यह समझ में नहीं आता, यह कौन सी गति है?

यहाँ रूपक, संदेह और निदर्शना अलङ्कारों को छोड़ कर पुनः रस की परिपुष्टि के लिये ग्रहण किया गया है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के अलक्ष्यक्रम पर विचार कर दूसरे भेद के विभाजनार्थ कहते हैं- **क्रमेणेत्यादि** इस श्लोक में प्रथमपाद अनुवादभाग हेतु रूप में उपात्त है, जिस कारण क्रम रूप से प्रतीत होता है, उसी कारण अनुस्वान जैसा प्रतीत होता है। घण्टा का अनुरणन अभिघातजनित शब्द की अपेक्षा से क्रमपूर्वक प्रतीत

ध्वन्यालोकः

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-त्वादनुरणनप्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विप्रकारः॥

ननु शब्दशक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि ध्वनेः प्रकार उच्यते तदिदानीं श्लेषस्य विषय एवापहृतः स्यात्, नापहृत इत्याह–

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥२१॥

इस विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होने से अनुस्वान तुल्य जो दूसरा स्वरूप है वह भी शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल इस प्रकार दो भेद वाला होता है।

अब यहाँ प्रश्न करते हैं कि शब्दशक्ति से जहाँ अर्थान्तर प्रकाशित होता है। यह यदि ध्वनि का भेद मान लिया जाय तब तो श्लेष का विषय लुप्त हो जायेगा। इसका उत्तर देते हैं– अपहृत (लुप्त) नहीं होगा। इसी बात को कहते हैं **आक्षिप्त इति**–

जहाँ शब्द से अनुक्त साक्षात् संकेतित होने पर भी आक्षेप-सामर्थ्य से ही शब्दशक्ति द्वारा अलङ्कार की प्रतीति होती है वह शब्दशत्त्युद्भव ध्वनि कहा जाता है॥२१॥

लोचनम्

केवलं मूलतो ध्वनिर्द्विविधः। नापि केवलं विवक्षितान्यपरवाच्यो द्विविधः। अयमपि द्विविध एवेत्यपिशब्दार्थः॥२०॥

कारिकागतं हिशब्दं व्याचष्टे–*यस्मादिति।* अलङ्कारशब्दस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयति–*न वस्तुमात्रमिति। वस्तुद्वये चेति।* चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे। *येनेति।* येन ध्वस्तं बालक्रीडायामनः शकटम्। अभवेनाजेन सता। बलिनो दानवान्यो

होता है। **सोऽपीति** यहाँ अपि शब्द का अर्थ है कि न केवल मूलतः ध्वनि दो प्रकार का होता है और न केवल विवक्षितान्यपरवाच्य दो प्रकार का होता है अपितु यह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि भी दो प्रकार का होता है॥२०॥

कारिका में आये हुए 'हि' शब्द की व्याख्या करते हैं **यस्मादिति**– अलङ्कार शब्द का व्यवच्छेद्य दिखलाते हैं– **न वस्तुमात्रमिति वस्तुद्वये चेति** यहाँ च शब्द का अर्थ तु है। **येनेति**–

जिन्होंने वचपन के खेल में शकट नामक असुर का नाश किया। अभवेन अज या अजन्मा रूप में विद्यमान। बलजित् महाबलवान् दानवों को जो जीतने वाले हैं,

ध्वन्यालोकः

यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो धवनिरित्यस्माकं विवक्षितम्। वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः। यथा–

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।

क्योंकि हमारा यह अभिप्राय है कि अलङ्कार, न कि केवल वस्तु, जहाँ शब्दशक्ति से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है, वहाँ शब्दशत्त्युद्भव ध्वनि है और जहाँ दो वस्तु शब्दशक्ति (अभिधा) से प्रकाशित हो वहाँ श्लेष है। जैसे **येनेति**–

['येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि श्लोक में श्लेष द्वारा शिव और विष्णु दोनों अर्थों की प्रतीति होती है। सारे विशेषण दोनों पक्षों में संगत हो लग जाते हैं। विष्णुपक्ष में अर्थ इस प्रकार होगा–] येन अभवेन जिन अजन्मा विष्णु ने अनः ध्वस्तम्, बाल्यावस्था में बच्चों के शकट अथवा शकटासुर को नष्ट कर डाला, पुरा पहले अमृतहरण के समय बलिजित् बलि राजा को अथवा महाबलवान् दैत्यों को जीतने वाले अपने शरीर को मोहिनी रूप से स्त्री बना डाला। और जो मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले कालिय नाग को मारने वाले है। जिनमें रव (वेद) का लय होता है अथवा रवे शब्दे लयो यस्य 'अकारो विष्णुः' के अनुसार जो अकार रूप शब्द में लय होते हैं, जिन्होंने अग गोवर्धन पर्वत को और गां

लोचनम्

जयति तादृग्येन कायो वपुः पुरामृतहरणकाले स्त्रीत्वं प्रापितः। यश्चोद्वृत्तं समदं कालियाख्यं भुजङ्गं हतवान्। रवे शब्दे लयो यस्य। 'अकारो विष्णुः' इत्युक्तेः। यश्चागं गोवर्धनपर्वतं गां च भूमिं पातालगतामधारयत्। यस्य च नाम स्तुत्यमृषय आहुः किं तत्? शशिनं मथ्नातीति क्विप् राहुः, तस्य शिरोहरो मूर्धापहारक इति। स त्वां माधवो विष्णुः सर्वदः पायात्। कीदृक्?

उस अपने शरीर को जिन्होने पुराकाल में अर्थात् अमृतहरण के अवसर पर स्त्रीरूप बनाया, जिन्होंने उद्वृत (गर्वीले या दुराचारी) कालिय नामक भुजङ्ग को मारा; रव अर्थात् शब्द में जिसका लय है जैसा कि कहा है **अकारो 'विष्णुरुच्यते'** जिसने अग (गोवर्धनपर्वत) को, गां पातालिस्थित पृथ्वी को धारण किया। जिनका स्तुत्यनाम देवता लोग 'शशिमच्छिरोहर' ऐसा कहते हैं, शशी को मन्थन करने वाले राहु के शिर को हरण करने वाले ऐसे सब कुछ देने वाले माधव विष्णु तुम्हारी रक्षा करें। वे कैसे हैं

ध्वन्यालोकः

यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥

नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन, तत्पुनरपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाश इत्याशङ्क्येदमुक्तम् 'आक्षिप्तः' इति। तदयमर्थः– यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं वाच्यं सत्प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु

वराहावतार में पृथ्वी को धारण किया जो शशिनं मध्यनातीति शाशिमथ् राहु का शिर काटने वाले हैं, इसलिये देवता लोग जिनका शशिमच्छिरोहर यह प्रशँसनीय नाम लेते हैं। अन्धक अर्थात् यादवों के द्वारका में क्षय अर्थात् निवास बनाने वाले अथवा मौसल-पर्व के अनुसार यादवों का नाश कराने वाले तथा सारे मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले ऐसे माधव (विष्णु) तुम्हारी रक्षा करें। (शिव पक्ष में) **ध्वस्तः मनोभवः कामो येन तेन ध्वस्तमनोभवेन**– कामदेव का विनाश करने वाले जिन शङ्कर ने पुरा त्रिपुरदाह के समय बलिजित्काय: विष्णु के शरीर को अस्त्रीकृत बाण बनाया जो महाभयानक भुजङ्गों को हार और वलय के रूप में धारण करते हैं। जिन्होंने गां गता गंगा को धारण किया है, जिनका मस्तक चन्द्रमा से युक्त है, जिन्हें देवता लोग प्रशंसनीय हरनाम से कहते हैं। अन्धकासुर का विनाश करने वाले वे उमाधव पार्वतीपति शङ्कर सदैव आप की रक्षा करें।

जो भट्टोद्भव ने न केवल वस्तुद्वय की प्रतीति में अपितु अलङ्कारान्तरप्रतीति होने पर भी श्लेषव्यवहार दिखलाया है इसलिये शब्दशक्ति के मूलध्वनि का अवसर भी नहीं रहता है। इस आशङ्का के कारण कारिकाकार ने आक्षिप्तः यह पद दे दिया है। इसका यह अर्थ हुआ कि जहाँ शब्दशक्ति से साक्षात् वाच्य रूप में अलङ्कारान्तर की प्रतीति होती है वही श्लेष का विषय है और जहाँ

लोचनम्

अन्धकनाम्नां जनानां येन क्षयो निवासो द्वारकायां कृतः। यदि वा मौसले इषीकाभिस्तेषां क्षयो विनाशो येन कृतः। द्वितीयोऽर्थः–येन ध्वस्तकामेन सता बलिजितो विष्णोः सम्बन्धी कायः पुरा त्रिपुरनिर्दहनावसरेऽस्त्रीकृतः

जिन्होंने अन्धक नाम वाले लोगों को द्वारका में बसाया अथवा मौसलपर्व में यादवों का जो नाश करने वाले हैं। दूसरा (शिव पक्ष में) अर्थ–

काम को नष्ट करने वाले जिन सदाशिव ने बलि को जीतने वाले विष्णु के शरीर को पुराकाल में अर्थात् त्रिपुरदाह के समय अपना अस्त्र अर्थात् बाण बनाया,

ध्वन्यालोकः

शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः। शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरप्रतिभा यथा–

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ॥

शब्दशक्ति के बल से आक्षिप्त वाच्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्य रूप से दूसरे अलङ्कार की प्रतीति होती है वह ध्वनि का विषय होता है। शब्दशक्ति से साक्षात् वाच्य रूप से भी दूसरे अलङ्कार की प्रतीति का उदाहरण जैसे **तस्या इति–**

हार के बिना भी स्वभावतः ही मनोहारी उसके दोनों स्तन किसके मन में विस्मय उत्पन्न नहीं करते।

लोचनम्

शरत्वं नीतः। उद्वृत्ता भुजङ्गा एव हारा वलयाश्च यस्य, मन्दाकिनीं च योऽधारयत्, यस्य च ऋषयः शशिमच्चन्द्रयुक्तं शिर आहुः, हर इति च यस्य नाम स्तुत्यमाहुः, स भगवान्स्वयमेवान्धकासुरस्य विनाशकारी त्वां सर्वदा सर्वकालमुमाया धवो वल्लभः पायादिति। अत्र वस्तुमात्रं द्वितीयं प्रतीतं नालङ्कार इति श्लेषस्यैव विषयः। आक्षिप्तशब्दस्य कारिकागतस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुं चोद्येनोपक्रमते–*नन्वलङ्कारेत्यादिना।*

***तस्या विनापीति।* अपिशब्दोऽयं विरोधमाचक्षाणोऽर्थ-द्वयेऽप्यभिधाशक्तिं नियच्छति हरतो हृदयमवश्यमिति हारिणौ। हारो विद्यते ययोस्तौ हारिणाविति। अत एव विस्मयशब्दोऽस्यैवार्थस्योपोद्बलकः।**

उद्वृत्त अर्थात् लिपटे हुये भुंजङ्ग ही है हार और वलय जिनके, जिन्होंने गङ्गा को धारण किया, महर्षि लोग जिनके शिर को चन्द्रमा से युक्त बताते हैं और जिनका हर ऐसा स्तुत्य नाम उच्चारण करते हैं, ऐसे भगवान् जो स्वयमेव अन्धकासुर के विनाशकारी, भगवती उमा के प्रिय पति है तुम्हारी सदा रक्षा करें। यहाँ दूसरा वस्तुमात्र प्रतीत अलङ्कार नहीं है, श्लेष का ही विषय है। कारिका में आये हुये आक्षिप्त शब्द का व्यवच्छेद्य प्रदर्शित करने के लिये पहले से उपक्रम करते हैं– **नन्वलङ्कारेत्यादिना।**

तस्या विनापीति– इस श्लोक में आया हुआ अपि शब्द विरोध का अभिधान करता हुआ दोनों अर्थों में अभिधाशक्ति अर्पित करता है। हृदय को अवश्य हरण करते हैं, इसलिये हारी हैं। जिन दोनों के हार हैं अतएव हारी इसीलिये विस्मय शब्द इसी अर्थ का उपोद्बलक (वृद्धिकारी) हैं। 'भी' शब्द के अभाव में तो उसी से दोनों अर्थों

ध्वन्यालोकः

अत्र शृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाख्यो भावः साक्षाद्विरोधालङ्कारश्च प्रतिभासत इति विरोधच्छायानुग्राहिणः श्लेषस्यायं विषयः, न त्वनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव। यथा ममैव–

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।

यहाँ शृङ्गार का व्यभिचारी विस्मय नामक भाव साक्षात् विस्मय शब्द से और अपि शब्द से विरोधालङ्कार दोनों साक्षात् वाच्यरूप से प्रतीत होते हैं। इसलिये यह विरोध की छाया से अनुगृहीत श्लेष का विषय है, अनुस्वान सन्निभ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का नहीं। परन्तु श्लोक में श्लेष तथा विरोध का अङ्गाङ्गि-भाव संकर होने से वाच्य श्लेष अथवा विरोध अलङ्कार से अभिव्यक्त असंलक्ष्य-क्रमध्वनि का तो यह श्लोक विषय है ही। अलङ्कारान्तर से वाच्यतया प्रतीत होने का दूसरा उदाहरण जैसे मेरा ही श्लाघ्येति– (सुदर्शनकर) जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है अथवा सुदर्शनयुक्त कर वाले श्री विष्णु जिन्होंने केवल चरणारविन्द के

लोचनम्

अपिशब्दाभावे तु न तत एवार्थद्वयस्याभिधा स्यात्, स्वसौन्दर्यादेव स्तनयोर्विस्मयहेतुत्वोपपत्तेः। विस्मयाख्यो भाव इति दृष्टान्ताभिप्राये-णोपात्तम्। यथा विस्मयः शब्देन प्रतिभाति विस्मय इत्यनेन शब्देन तथा विरोधोऽपि प्रतिभात्यपीत्यनेन शब्देन। ननु किं सर्वथात्र ध्वनिर्नास्तीत्याशङ्क्याह–*अलक्ष्येति। विरोधेन* वेति। वाग्रहणेन श्लेषविरोध-सङ्करालङ्कारोऽयमिति दर्शयति, अनुग्रहयोगादेकतरत्यागग्रहणनिमित्ताभावो हि वाशब्देन सूच्यते। सुदर्शनं चक्रं करे यस्य। व्यतिरेकपक्षे सुदर्शनौ श्लाघ्यौ

का अभिधान नहीं होता, बल्कि स्वगत सौन्दर्य से ही स्तनों का विस्मयहेतुत्व उपपन्न हो जाता। यह विस्मय नाम का भाव दृष्टान्त के अभिप्राय से ग्रहण किया गया है। जैसे– विस्मय विस्मय शब्द से प्रतीत होता है उसी प्रकार विरोध अपि (भी) इस शब्द से प्रतीत होता है। तब क्या यहाँ सर्वथा ध्वनि नहीं है? इस प्रकार की आशङ्का से कहते हैं– **अलक्ष्येति**– अथवा विरोध से। वा ग्रहण से यहाँ श्लेष और विरोध का साङ्कर्य होने से संकर अलङ्कार है इसे दिखाते हैं– **अनुग्रहयोगादिति** अर्थात् अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव के कारण किसी एक के त्याग और ग्रहण के निमित्त का अभाव 'वा'

ध्वन्यालोक:

बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दध-
त्स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥

अत्र वाच्यतयैव व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेष प्रतीयते। यथा च–

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

यथा वा–

सौन्दर्य से अथवा पादविक्षेप से तीनों लोकों को आक्रान्त कर लिया है और चन्द्र-रूप से केवल नेत्र को धारण किया है अर्थात् जिनका केवल एक ही नेत्र चन्द्रस्वरूप है ऐसे विष्णु ने अखिलदेहव्यापिसौन्दर्यशालिनी सर्वाङ्गसौन्दर्यशीला त्रैलोक्यविजय करने वाली और संपूर्णचन्द्रसदृश मुख को धारण करने वाली जिन रुक्मिणी देवी को अपने शरीर से उत्कृष्ट देखा, वे रुक्मिणी देवी आप सभी की रक्षा करें।

यहाँ व्यतिरेक की छाया को परिपुष्ट करने वाला श्लेष (**स्वतनोरपश्यदधिकां** इस पद में) ही वाच्य रूप से प्रतीत होता है।।

इसी प्रकार का और तीसरा उदाहरण जैसे–

मेघरूप सर्प से उत्पन्न विष वियोगिनी कामिनियों को चक्कर, बेचैनी, मूर्च्छा, शरीर में आलस्य, ज्ञानचेष्टा का अभाव, तम, शरीरसाद और मरण बलात् उत्पन्न करता है।

अथवा जैसे **खण्डितेति।**

लोचनम्

करावेव यस्य। चरणारविन्दस्य ललितं त्रिभुवनाक्रमणक्रीडनम्। चन्द्ररूपं चक्षुर्धारयन्। *वाच्यतयैवेति।* स्वतनोरधिकामिति शब्देन व्यतिरेकस्योक्तत्वात्। भुजगशब्दार्थपर्यालोचनाबलादेव विषशब्दो जलमभिधायापि न विरन्तुमुत्सहते, अपि तु द्वितीयमर्थं हालाहललक्षणमाह। तदभिधानेन विनाभिधाया एवासमाप्तत्वात्। भ्रमिप्रभृतीनां तु मरणान्तानां साधारण

शब्द से सूचित किया गया हैं। **श्लाघ्येति–** सुदर्शनचक्र जिनके हाथ में हैं, व्यतिरेक पक्ष में सुदर्शन अर्थात् श्लाध्य दोनों हाथ है जिसके चरणारविन्द के आक्रमण का ललित त्रिभुवन के आक्रमण का खेल। चन्द्ररूप चक्षु को धारण करता हुआ। वाच्य रूप से ही, क्योंकि अपने शरीर से अधिक यह कहने से व्यतिरेक उक्त हो गया हैं। भुजग शब्द के अर्थ की पर्यालोचना के बल से ही विष शब्द जल का अभिधान करके भी विराम लेने के लिये उत्साहित नहीं होता, अपितु हालाहल रूप दूसरे अर्थ का अभिधान करता है, क्योंकि उसके अभिधान के बिना अभिधा समाप्त नहीं होती। चक्कर

ध्वन्यालोकः

चमहिअमाणसकञ्चणपङ्कअणिम्महिअपरिमला जस्स।
अखण्डिअदाणपसारा बाहुप्पलिहा व्विअ गइन्दा॥
(खण्डितमानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मथितपरिमला यस्य।
अखण्डितदानप्रसरा बाहुपरिघा इव गजेन्द्राः॥
(इति छाया)

अत्र रूपकच्छायानुग्राही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते।

निराश शत्रुओं के मनरूप स्वर्णकमलों के निर्मन्थन के कारण अपने यशः सौरभ को फैलाने वाले और निरन्तर दान में लगे हुये जिनके बाहुदण्ड ही मानसरोवर में स्वर्ण-कमलों को तोड़ने से सुगन्धयुक्त अनवरत मद प्रवाहित करने वाले हाथी के समान हैं।

यहाँ इन दोनों उदाहरणों में रूपकच्छायानुग्राही श्लेष वाच्यरूप से प्रतीत होता है।

लोचनम्

एवार्थः। निराशीकृतत्वेन खण्डितानि यानि मानसानि शत्रुहृदयानि तान्येव काञ्चनपङ्कजानि। ससारत्वात् तैर्हेतुभूतैः। *णिम्महिअपरिमला* इति। प्रसृतप्रतापसारा अखण्डितवितरणप्रसरा बाहुपरिघा एव यस्य गजेन्द्रा इति। गजेन्द्रशब्दवशाच्च महिअशब्दः परिमलशब्दो दानशब्दश्च त्रोटनसौरभमदलक्षणानर्थान्प्रतिपाद्यापि न परिसमाप्ताभिधाव्यापारा भवन्तीत्युक्तरूपं द्वितीयमप्यर्थमभिदधत्येव।

एवमाक्षिप्तशब्दस्य व्यवच्छेद्यं प्रदर्श्यैवकारस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुमाह–*स चेति।* उभयार्थप्रतिपादनशक्तशब्दप्रयोगे, यत्र तावदेकतरविषयनियमनकारणमभिधाया नास्ति, यथा–'येन ध्वस्तमनोभवेन' इति।
आदि से लेकर मरण तक के शब्दों का अर्थ साधारण ही है। निराश होने के कारण खण्डित जो मानस अर्थात् शत्रु के हृदय वही है सुवर्णकमल। सारभूत होने के कारण हेतुभूत उनसे। निर्मथित करने वाले परिमल से युवत। जिनके प्रताप बल फैल चुके हैं, अखण्डित दान-प्रसर वाले जिसके बाहुदण्ड ही गजेन्द्र अर्थात् हाथी है। गजेन्द्र शब्द के कारण खण्डित शब्द, परिमल शब्द और दान शब्द तोड़ना, सौरभ और मद रूप अर्थों का प्रतिपादन कर भी परिसमाप्त अभिधाव्यापार वाले नहीं होते इसलिये वे शब्द दूसरे अर्थों का अभिधान करते ही हैं।

इस प्रकार आक्षिप्त शब्द का व्यवच्छेद्य दिखला कर एवकार (ही) का व्यवच्छेद्य दिखलाने के लिये कहते हैं। **स चेति**– दो अर्थों के प्रतिपादन में समर्थ शब्द के प्रयोग करने पर किसी एक विषय में अभिधा के नियमन का कारण नहीं है। जैसे **येन**

ध्वन्यालोकः

स चाक्षिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहारः। तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालङ्कारव्यवहार एव। यथा–

स चाक्षिप्त इति यहाँ च शब्द अपि के अर्थ में भिन्नक्रम से पढ़ा गया है। अत: आक्षिप्त के बाद अपि अर्थ में प्रयुक्त होने से आक्षिप्तोऽपि– आक्षिप्त होने पर भी अर्थात् आक्षिप्ततया प्रतीत होने पर भी) जहाँ वह अलङ्कार दूसरे शब्द से अभिहित रूप हो जाता है वहाँ शब्द शक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमध्वनि का व्यवहार नहीं होता वहाँ वक्रोक्ति आदि वाच्यालङ्कार का ही व्यवहार होता है। जैसे–

लोचनम्

यत्र वा प्रत्युत द्वितीयाभिधाव्यापारसद्भावावेदकं प्रमाणमस्ति, यथा-'तस्या विना' इत्यादौ, तत्र तावत्सर्वथा 'चमहिअ' इत्यन्ते। सोऽर्थोऽभिधेय एवेति स्फुटमदः। यत्राप्यभिधाया एकत्र नियमहेतुः प्रकरणादिर्विद्यते तेन द्वितीयस्मिन्नर्थे नाभिधासङ्क्रामति, तत्र द्वितीयोऽर्थोऽसावक्षिप्त इत्युच्यते; तत्रापि यदि पुनस्तादृक्छब्दो विद्यते येनासौ नियामकः प्रकरणादिरपहतशक्तिकः सम्पाद्यते। अत एव साभिधाशक्तिर्बाधितापि सती प्रतिप्रसूतेव तत्रापि न ध्वनेर्विषय इति तात्पर्यम्। चशब्दोऽपिशब्दार्थे भिन्नक्रमः आक्षिप्तोऽप्याक्षिप्ततया झटिति सम्भावयितुमारब्धोऽपीत्यर्थः। न त्वसावाक्षिप्तः, किं तु शब्दान्तरेणान्येनाभिधायाः प्रतिप्रसवनादभिहितस्वरूपः सम्पन्नः। पुनर्ग्रहणेन प्रतिप्रसवं व्याख्यातं सूचयति। तेनैवकार आक्षिप्ताभासं निराकरोतीत्यर्थः।

ध्वस्तमनोभवेन अथवा जहाँ दूसरे अभिधाव्यापार के सद्भाव का आवेदक प्रमाण है जैसे **तस्या विनापि हारेण** इत्यादि में वहाँ सर्वथा चमहिअमाण तक। यह अर्थ अभिधेय ही है यह बात स्पष्ट है। जहाँ भी एक जगह प्रकरण आदि अभिधा का नियमहेतु हैं, उसके कारण दूसरे अर्थ में अभिधा संक्रान्त नहीं होती है। वहाँ वह दूसरा अर्थ आक्षिप्त कहा जाता है और वहाँ पर भी यदि फिर उस प्रकार का शब्द है जिससे वह नियामक प्रकरण आदि अपहतशक्ति कर दिया जाता है अतएव वह अभिधाशक्ति बाधित हो कर भी प्रतिप्रसूत की भाँति हो जाती है। वहाँ भी ध्वनि का विषय नहीं है, यह तात्पर्य हैं। यहाँ च शब्द अपि शब्द के अर्थ में भिन्नक्रम है अर्थात् आक्षिप्त में आक्षिप्त रूप भी झटिति संभावना किया जाता हुआ भी पुन: ग्रहण से व्याख्यात प्रतिप्रसव को सूचित करता है अर्थात् इससे एवकार (ही) का प्रयोग आक्षिप्ताभास का निराकरण करता है।

ध्वन्यालोकः

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किं नाम नालम्बसे।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद्गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्॥

हे केशव श्रीकृष्ण! गौओं के द्वारा उड़ायी गई धूलि से दृष्टि हरण हो जाने से मैं रास्ते के सम-विषम भाग को नहीं देख सकी इसी से ठोकर खा कर गिर गई। हे नाथ! इस प्रकार गिरी हुई मुझको उठाने के लिये आप अपने हाथों से मुझे पकड़ते क्यों नहीं है? अपने हाथ का सहारा देने में संकोच क्यों करते है? विषम अर्थात् ऊबड़-खाबड़ रास्ते में घबड़ा जाने वाले अतएव छलने में असमर्थ बाल, वृद्ध, वनितादि निर्बल जनों के अत्यन्त शक्तिशाली केवल आप ही सहारा हो सकते हैं, गोशाला में गोपी द्वारा इस प्रकार सलेश (सलेशं संसूचनाम् अथवा अत्योभवनम् संसूचनम्) कहे गये श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें।

लोचनम्

***हे केशव,* गोधूलिहृतया दृष्ट्या न किञ्चिद् दृष्टं मया तेन कारणेन स्खलितास्मि मार्गे। तां पतितां सतीं मां किं नाम कः खलु हेतुर्यन्नालम्बसे हस्तेन। यतस्त्वमेवैकोऽतिशयेन बलवान्निम्नोन्नतेषु सर्वेषामबलानां बालवृद्धाङ्गनादीनां खिन्नमनसां गन्तुमशक्नुवतां गतिरालम्बनाभ्युपाय इत्येवंविधेऽर्थे यदप्येते प्रकरणेन नियन्त्रिताभिधाशक्तयः शब्दास्तथापि द्वितीयेऽर्थे व्याख्यास्यमानेऽभिधाशक्तिर्निरुद्धा सती सलेशमित्यनेन प्रत्युज्जीविता। अत्र सलेशं ससूचनमित्यर्थः, अल्पीभवनं हि सूचनमेव। हे केशव! गोपस्वामिन्! रागहृतया दृष्ट्येति। केशवगेन उपरागेण हृतया**

दृष्ट्येति– हे केशव! गौओं की उड़ाई हुई धूल से दृष्टि के अवरुद्ध (अपहत) हो जाने के कारण मुझे कुछ दिखाई नहीं पड़ा इस कारण मार्ग में गिर पड़ी हूँ। उस मुझ पतिता को क्या कारण है कि हाथ से अवलम्बन नहीं करते हो? क्योंकि तुम्हीं अतिशय बलवान् हो, ऊँचे-खाले (निम्नोन्नत) मार्गों में सभी बाल, वृद्ध, अङ्गना आदि खिन्न मन वाले अर्थात् गमन करने में असमर्थ अबलों की गति अर्थात् अवलम्बन के उपाय तुम्हीं हो। यद्यपि इस प्रकार के अर्थ में शब्द, प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित अभिधाशक्ति वाले हैं तथापि व्याख्यान किये जाने वाले दूसरे अर्थ में निरुद्ध हुई भी अभिधाशक्ति 'सलेश शब्द के द्वारा पुनः उज्जीवित कर दी गयी है। यहाँ सलेश का

ध्वन्यालोक:

एवञ्जातीयक: सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषय:। यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषय:। यथा–

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधान: फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकाल:'।

इस प्रकार के सभी उदाहरण भले ही वाच्यश्लेष के विषय हों (इस प्रकार येन ध्वस्त......दृष्टया केशव तक श्लेष का विषय दिखाया गया अब इसके आगे शब्द शक्तिमूल ध्वनि का भी विषय भी है इसे प्रदर्शित करते हैं)। जहाँ शब्द शक्ति के सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर अलङ्कारान्तर प्रकाशित होता है वह सभी ध्वनि का विषय होता है। जैसे अत्रान्तर इति।

लोचनम्

दृष्ट्येति वा संबन्ध:। स्खलितास्मि खण्डितचरित्रा जातास्मि। पतितामिति भर्तृभावं मां प्रति। एक इत्यसाधारणसौभाग्यशाली त्वमेव। यत: सर्वासामबलानां मदनविधुरमनसामीर्ष्याकालुष्यनिरासेन सेव्यमान: सन् गति: जीवितरक्षोपाय इत्यर्थ:। एवं श्लेषालङ्कारस्य विषयमवस्थाप्य ध्वनेराह–*यत्र त्विति।* कुसुमसमयात्मकं यद्युगं मासद्वयं तदुपसंहरन्। धवलानि हृद्यान्यट्टान्यापणा येन तादृक् फुल्लमल्लिकानां हासो विकास: सितिमा यत्र। फुल्लमल्लिका एव धवलाट्टहासोऽस्येति तु व्याख्याने 'जलदभुजगजम्' इत्येतत्तुल्यमेतत्स्यात्। महांश्चासौ दिनदैर्ध्यदुरतिवाहतायोगात्काल: समय:। अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तय:, अत एव 'अवयवप्रसिद्धे: समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति न्यायमपाकुर्वन्तो
अर्थ अल्पीभवन होना ही है। हे केशव! हे गोपस्वामिन्! राग के कारण मेरी दृष्टि हर ली गई हैं। अथवा यह सम्बन्ध है कि केशव में उत्पन्न उपराग से मेरी दृष्टि स्खलित हो गई हैं। मैं पतिता हूँ। मेरा चरित्र खण्डित (भ्रष्ट) हो चुका है। मेरा भर्त्तृभाव प्रनष्ट हो चुका हूँ। इसलिये पतिता। एक अर्थात् असाधारण सौभाग्यशाली तुम्हीं हो, क्योंकि सभी मदन से विधुर मन वाली अवलाओं के ईर्ष्या-कालुष्य का निरासपूर्वक सेवा किये जाने पर तुम गति अर्थात् जीवन-रक्षा के उपाय हो। इस प्रकार श्लेष अलङ्कार का विषय अवस्थापन कर ध्वनि का विषय कहते हैं–

यथा अत्रान्तरे– पुष्पसमय रूप जो युग अर्थात् (वसन्त के) दो महीने उनका उपसंहार करता हुआ धवल अर्थात् हृद्य आपण अर्थात् अट्टालिकाये है जिससे उस प्रकार के विकसित मल्लिकाओं (जूही के फूलों) का हास अर्थात् विकास (सितिमा)

ध्वन्यालोकः

यथा च–

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः ।
पयोधरभरस्तन्व्या कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ॥

यथा वा–

इसी समय पुष्पसमृद्धि के युग (वसन्त ऋतु के चैत्र-वैशाखयुगल (मास) का उपसंहार करते हुये खिली हुई मल्लिकाओं से अट्टालिकाओं को धवलित करने वाले हास (विकास) से परिपूर्ण (दूसरा अर्थ) प्रलयकाल में कृतयुग आदि का संहार करते हुये और खिली जूही के समान अट्टहास करते हुये महाकाल शिव के समान ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ। और जैसे **उन्नत इति–**

काले अगर के समान कृष्णवर्ण, विद्युद्धारा अथवा जलधारा से सुशोभित उमड़ते हुये मेघसमूह ने द्वितीय अर्थ, काले अगर के लेप से कृष्णवर्ण और हारों से अलंकृत उस कामिनी के उन्नत उरोजों ने (किस पथिक या युवक को कामिनी अथवा अपनी दयिता से मिलने के लिये उत्कण्ठित नहीं किया। अथवा जैसे **दत्तानन्दा इति–**

लोचनम्

महाकालप्रभृतयः शब्दा एतमेवार्थमभिधाय. कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्।

अत्र केचिन्मन्यन्ते–'यत् एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टं ततस्तथाविधेऽर्थान्तरे दृष्टतदभिधाशक्तेरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एतेभ्यः प्रतिपत्तिर्ध्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूलत्वं व्यङ्ग्यत्वं चेत्यविरुद्धम्'इति।

है जहाँ विकसित मल्लिका ही है धवल अट्टहास जिसका इस प्रकार के व्याख्यान करने पर तो यह जलदभुजगज के सदृश हो जाता। दिनों के बड़े तथा दुरतिवाह होने के कारण महान् काल अर्थात् समय। यहाँ ऋतुवर्णन के प्रस्ताव के कारण अभिधाशक्ति के नियन्त्रित हो जाने से अवयवशक्ति से समुदायशक्ति बलवान् होती है, इस न्याय को निराकरण करते हुये महाकाल प्रभृति शब्द इसी अर्थ का अभिधान करके कृतकृत्य हो जाते हैं। तत्पश्चात् अर्थ का ज्ञान शब्दशक्तिमूल ध्वनन व्यापार से ही होता है।

यहाँ कुछ लोग मानते हैं कि– जिस कारण इन शब्दों के पहले अर्थ में अभिधा देखी गई है उस कारण उस प्रकार के अर्थान्तर में उसी प्रतिपत्ता को जिसने उनकी अभिधाशक्ति का दर्शन किया है, नियन्त्रित अभिधाशक्ति वाले इन शब्दों से ध्वनन व्यापार द्वारा ही ज्ञान होता है। इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक और व्यङ्ग्यत्व दोनों ही ठीक हैं।

लोचनम्

अन्ये तु–'साभिधैव द्वितीया अर्थसामर्थ्यं ग्रीष्मस्य भीषणदेवता-विशेषसादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्बते ततो ध्वननव्यापार-रूपोच्यते' इति।

एके तु–'शब्दश्लेषे तावद्भेदे सति शब्दस्य, अर्थश्लेषेऽपि शक्तिभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने द्वितीयः शब्दस्तत्रानीयते। स च कदाचिदभिधाव्यापारात् यथोभयोरुत्तरदानाय 'श्वेतो धावति' इति; प्रश्नोत्तरादौ वा तत्र वाच्यालङ्कारता। यत्र तु ध्वननव्यापारादेव शब्द आनीतः, तत्र शब्दान्तरबलादपि तदर्थान्तरं प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वा-त्प्रतीयमानमेव युक्तम्' इति।

इतरे तु–'द्वितीयपक्षव्याख्याने यदर्थसामर्थ्यं तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिप्रसूयते, ततश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एव न ध्वन्यते, तदनन्तरं तु तस्य द्वितीयार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साकं या रूपणा सा तावद्भात्येव, न चान्यतः शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात्। तत्राभिधाशक्तेः

दूसरे लोग मानते हैं– यह दूसरी अभिधा ही सहकारी रूप से ग्रीष्म के भीषण देवता-विशेष रूप सादृश्यात्मक अर्थ-सामर्थ्य को जिस कारण अवलम्बन करती है उस कारण ध्वनन कही जाती हैं।

दूसरे लोग तो मानते हैं– शब्दश्लेष में शब्द के भेद होने पर और अर्थश्लेष में भी शब्दशक्ति से शब्द का भेद होता है इस दर्शन सिद्धान्त के अनुसार दूसरा शब्द वहाँ लाया जाता हैं। वह दूसरा शब्द कभी अभिधाव्यापार से लाया जाता है जैसे दो प्रश्नों के उत्तर देने के लिये **श्वेतो धावति** (कौन इधर दौड़ रहा है? और कैसा गुण वाला इधर दौड़ रहा है? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देने के लिये इस एक ही वाक्य का प्रयोग किया गया हैं। पहले प्रश्न का उत्तर **श्वा इतो धावति**-कुत्ता इधर दौड़ रहा है। दूसरे प्रश्न का उत्तर श्वेतो धावति अर्थात् उजला कोई दौड़ रहा है इस प्रकार प्रश्न और उत्तर आदि में श्लेष वाच्यालङ्कार हो जाता है। परन्तु जहाँ ध्वननव्यापार से ही शब्द लाया गया हो वहाँ शब्दान्तर के बल से भी प्रतिपन्न वह अर्थान्तर प्रतीयमानमूल होने के कारण उसका प्रतीयमान होना ही ठीक है।

दूसरे लोग तो मानते हैं– दूसरे पक्ष के व्याख्यान में जो अर्थ-सामर्थ्य है उससे दूसरी अभिधा ही प्रतिप्रसूत होती है और तभी दूसरा अर्थ अभिहित ही होता है, ध्वनित नहीं होता। तत् पश्चात् प्रतिपन्न उस दूसरे अर्थ का पहले प्राकरणिक अर्थ के साथ जो रूपणा है वह प्रतीत होती ही हैं। वह रूपणा अन्य शब्द से नहीं होती है अतः वह ध्वनन व्यापार से प्रतिपन्न होती हैं, क्योंकि उसमें किसी भी अभिधाशक्ति की

ध्वन्यालोक:

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु॥

समुचित समय (सूर्यकिरणपक्ष में ग्रीष्म ऋतु और गायपक्ष में दोहन से पूर्वकाल) में आकृष्ट (समुद्रादि से वाष्प रूप में आकृष्ट पक्षान्तर में अपने अयनों में ऊपर चलाये हुए) पुनः प्रदत्त जल तथा दुग्धों से प्रजावर्ग को आनन्द देने वाली प्रात:काल (सूर्योदय के कारण पक्षान्तर में चरने जाने के कारण) चारों दिशाओं में फैल जाने वाली और सूर्यास्त के समय (सूर्यास्त के कारण पक्षान्तर में चर कर लौट आने के कारण) एकत्र हो जाने वाली दीर्घकाल व्यापी दु:ख के कारणभूत भवसागर को पार करने के लिये नौका रूप विश्व के सर्वोत्कृष्ट पवित्र पदार्थों में गौओं के समान सूर्यदेव की किरणें तुम्हें अनन्त सुख प्रदान करें।

लोचनम्

कस्याश्चिदप्यनाशङ्कनीयत्वात्। तस्यां च द्वितीया शब्दशक्तिर्मूलम्। तया विना रूपणाया अनुत्थानात्। अत एवालङ्कारध्वनिरयमिति युक्तम्। वक्ष्यते च 'असम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीत्' इत्यादि। पूर्वत्र तु सलेशपदेनैवासम्बद्धता निराकृता। 'येन ध्वस्त' इत्यत्रासम्बद्धता नैव भाति। 'तस्या विनापि' इत्यत्रापिशब्देन 'श्लाध्या' इत्यत्राधिकशब्देन 'भ्रमिम्' इत्यादौ च रूपकेणासम्बद्धता निराकृतेति तात्पर्यम्। *पयोभिरिति* पानीयैः क्षीरैश्च। *संहारो* ध्वंसः, एकत्र ढौकनं च। *गावो* रश्मयः सुरभयश्च।

आशङ्का नहीं की जा सकती। उसमें दूसरी शब्दशक्ति मूल है, क्योंकि उसके बिना रूपणा का उत्थान नहीं होता। इसलिये यह अलङ्कारध्वनि है यह उचित है। आगे चल कर कहेंगे कि असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला प्रसक्त नहीं होता। पहले में तो 'सलेश' इस पद से ही वाक्य की असम्बद्धता का निराकरण कर दिया है। **'येन ध्वस्त'**– इस पद्य में असम्बद्धार्थता प्राप्त नहीं होती। **'तस्या विनापि'** इसमें अपि शब्द से 'श्लाघ्याशेष' इसमें अधिक शब्द से और भ्रमिम् इत्यादि में रूपक से असम्बद्धता का निराकरण कर दिया गया है यह तात्पर्य है। **पयोभिः** अर्थात् पानी और क्षीर। संहार अर्थात् ध्वंस। **एकत्र ढौकनं च** एकस्थान पर इकट्ठा होना। **गावो रश्यमः सुरभयश्च-** सूर्यरश्मियाँ और गायें।

ध्वन्यालोकः

एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यप्राकरणिक-प्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः सामर्थ्यादित्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ इति विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्विषयः। 'अन्येऽपि चालङ्काराः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ सम्भवन्त्येव। तथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो दृश्यते। यथा स्थाण्वीश्वराख्यजनपदवर्णने भट्टबाणस्य–

इन सभी उदाहरणों में (१) कुसुमसमययुगमुपसंहरन् (२) उन्नतः प्रोल्लसद्धारः (३) दत्तानन्दाः इन तीनों उदाहरणों में शब्दशक्ति से अप्राकरणिक दूसरे अर्थों के प्रकाशित होने पर वाक्य की असम्बद्धार्थबोधकता न हो जाय इसलिये प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों के उपमानोपमेयभाव की कल्पना कर लेनी चाहिये। इस प्रकार यहाँ शब्द-सामर्थ्यवश श्लेष आक्षिप्त रूप से उपस्थित होता है न कि शब्दनिष्ठ रूप में। इसलिये इन उदाहरणों में श्लेष से अनुस्वानसन्निभ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का विषय अलग ही है।।

शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में पूर्वोक्त उपमा के अतिरिक्त और भी अलङ्कार हो ही सकते हैं, इसी से शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य में विरोधालङ्कार भी दिखाई देता है जैसे स्थाण्वीश्वर नामक नगर के वर्णन के प्रसङ्ग में बाणभट्ट का।

लोचनम्

***असम्बद्धार्थाभिधायित्वमिति।* असंवेद्यमानमेवेत्यर्थः। *उपमानोपमेयभाव* इति। तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिह्नवादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वादप्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानं, न तूपमेयादीति सर्वत्रालङ्कारध्वनौ मन्तव्यम्। *सामर्थ्यादिति।* ध्वननव्यापारादित्यर्थः।**

असम्बद्धार्थाभिधायित्वमिति– असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला होना। अर्थात् जो संवेद्यमान ही न हो **उपमानोपमेयभाव इति**– उस उपमानोपमेयभाव रूप से व्यापारमात्र रूप ही व्यतिरेचन निह्नव आदि आस्वादप्रतीति के प्रधान विश्रान्ति स्थान है न कि उपमेयादि। यह सब उस अलङ्कारध्वनि में मानना चाहिये। **सामर्थ्यादिति** सामर्थ्यवश अर्थात् ध्वननव्यापार से।

ध्वन्यालोकः

'यत्र च मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च गौर्यो विभवरताश्च श्यामाः पद्मरागिण्यश्च धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदिश्वसनाश्च प्रमदाः'।

अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम्। साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्याप्रकाशितत्वात्। यत्र हि

जहाँ मातङ्गगामिनी और शीलवती (दूसरे पक्ष में मातङ्ग का अर्थ चाण्डाल मातङ्गगामिनी अर्थात् चाण्डाल से भोग करने वाली और शीलवती यह विरोध प्रतीत होता है उसका गजगामिनी अर्थ करने पर परिहार हो जाता है)। गौरवर्ण और वैभवनिमग्न (दूसरे पक्ष में गौरी पार्वती और विभव अर्थात् शिव से भिन्न में रमण करने वाली यह विरोध हैं जिसका प्रथम अर्थ करने पर परिहार हो जाता है)। श्यामा यौवन मध्यस्था तरुणी पद्मराग के मणियों से युक्त। दूसरे पक्ष में श्याम वर्ण और कमल के समान रागयुक्त यह विरोध है जिसका परिहार प्रथम अर्थ करने से हो जाता है, निर्मल ब्राह्मण के समान पवित्र मुख वाली और मदिरा-गन्धयुक्त श्वास वाली यह विरोध है जो शुभदन्तयुक्त स्वच्छ मुख वाली अर्थ करने से परिहृत हो जाता है, ऐसी स्त्रियाँ है।

यहाँ विरोधालङ्कार अथवा विरोधच्छायानुग्राही श्लेश वाच्य है ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विरोधालङ्कार किसी साक्षात् शब्द से प्रकाशित नहीं हुआ है। जहाँ विरोधालङ्कार शब्द से साक्षात् बोधित होता है उस श्लिष्ट वाक्य में ही विरोध अथवा श्लेष का वाच्यालङ्कारत्वविषय हो सकता है। जैसे वहीं

लोचनम्

मातङ्गेति। **मातङ्गवद्गच्छन्ति तान् शबरांश्च गच्छन्तीति विरोधः। विभवेषु रताः विगतमहादेवे स्थाने च रताः। पद्मरागरत्नयुक्ताः पद्मसदृशलौहित्ययुक्ताश्च। धवलैर्द्विजैर्दन्तैः शुचि निर्मलं वदनं यासां धवलद्विजवदुत्कृष्टविप्रवच्छुचि वदनं च यासाम्।** ***यत्र हीति।*** **यस्यां श्लेषोक्तौ काव्यरूपायां, तत्र यो विरोधः श्लेषो वेति सङ्करः तस्य विषयत्वम्। स**

मातङ्गेति मातङ्ग के समान गमन करती हैं अर्थात् उन शबरों या चाण्डालों के साथ गमन करती हैं यह विरोध है। **विभवों में रत** अर्थात् विगत महादेव स्थान में रत। पद्मरागरत्न से युक्त और पद्म के सहृश लौहित्य से युक्त। धवल द्विज अर्थात् दाँतों से शुचि अर्थात् निर्मल मुख है जिनका और धवल द्विज के समान अर्थात् उत्कृष्ट विप्र के समान शुचिमुख है जिनका। जिस काव्यरूप श्लेषोक्ति में वहाँ विरोध

ध्वन्यालोकः

साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि श्लिष्टोक्तौ वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम्। यथा तत्रैव-

'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्। तथाहि- सन्निहित-बालान्धकारापि भास्वन्मूर्तिः' इत्यादौ।

यथा वा ममैव-

सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम्॥

हर्षचरित के प्रसङ्ग में-

विरोधी पदार्थों के समुदाय के समान। बाल (अप्रौढ़) रूप अन्धकार से युक्त सूर्य की मूर्ति यह विरोध है। पक्षान्तर-अन्धकार रूप कृष्ण केशों से युक्त भी देदीप्यमान मूर्त्ति थे। इत्यादि में शब्दशक्तिमूल विरोधाभास ध्वनि है।

अथवा जैसे मेरा ही **सर्वैकेति-**

सबके एकमात्र शरण (आश्रयस्थान) और अविनाशी (पक्षान्तर में शरण और क्षय दोनों शब्दों का अर्थ गृह होता है, इस दशा में सबके गृह और अक्षय

लोचनम्

विषयो भवतीत्यर्थः। कस्य? *वाच्यालङ्कारस्य* वाच्यालङ्कृतित्वस्येत्यर्थः। तत्रैव विरोधे श्लेषे वा वाच्यालङ्कारत्वं सुवचमिति यावत्। वालेषु केशेष्वन्धकारः कार्ष्ण्यं, बालः प्रत्यग्रश्चान्धकारस्तमः।

ननु मातङ्गेत्यादावपि धर्मद्वये यश्चकारः स विरोधद्योतक एव। अन्यथा प्रतिधर्मं सर्वधर्मान्ते वा न क्वचिद्वा चकारः स्यात् यदि समुच्चयार्थः स्यादित्यभिप्रायेणोदाहरणान्तरमाह-*यथेति।* शरणं गृहमक्षयरूपमगृहं कथम्।

अथवा श्लेष का संकर है वही उसका विषय होता है। किसका? वाच्यालङ्कार का अर्थात् वाच्यालङ्कृति का या वाच्यालङ्कृतित्व का। वही विरोध में अथवा श्लेष में वाच्यालङ्कारत्व सुतरां कहा जा सकता है। बालों अर्थात् केशों के कारण अन्धकार अर्थात् कृष्णिमा और प्रत्यग्र अन्धकार अर्थात् तमस्।

यहाँ संदेह करते हैं कि मातङ्ग इत्यादि स्थल में भी जो दोनों धर्मों में चकार है वह विरोध का द्योतक ही हैं। यदि ऐसा न माने तो प्रतिधर्म में अथवा सभी धर्मों के अन्त में अथवा कहीं भी चकार नहीं होता। यदि समुच्चयार्थ माना जाय, इस अभिप्राय से दूसरा उदाहरण देते हैं। जैसे **सर्वैकशरणमित्यादि-** शरण अर्थात् गृह अक्षय रूप अगृह कैसे? जो अधीश बुद्धियों का स्वामी नहीं वह धिया-धीश अर्थात्

ध्वन्यालोकः

अत्र हि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते। एवंविधो व्यतिरेकोऽपि दृश्यते। यथा ममैव–

खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये।
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-

अगृह यह विरोध उपस्थित होता है, पहले जैसा अर्थ करने में उसका परिहार हो जाता है। अधीशम् ईशो धियाम् जो सबके प्रभु और बुद्धि के स्वामी हैं (पक्षान्तर में ईशं धियाम् बुद्धि के स्वामी और अधीशम् जो धीश अर्थात् बुद्धि के स्वामी नहीं है यह विरोध आता है, जिसका परिहार प्रथम अर्थ करने से हो जाता है।) विष्णुस्वरूप कृष्ण (पक्षान्तर में हरि और कृष्णवर्ण का विरोध प्राप्त होता है उसका परिहार प्रथम अर्थ से हो जाता है) सर्वज्ञ स्वरूप निष्क्रिय (पक्षान्तर में पराक्रमयुक्त और निष्क्रिय यह विरोध है जिसका परिहार प्रथम अर्थ से हो जाता है।) अरियों का नाश करने वाले चक्रधारी विष्णु (पक्षान्तर में चक्र के अवयवभूत अरों का नाश करने वाला वह चक्रधर कैसे होगा? यह विरोध है जो प्रथम अर्थ से दूर हो जाता है) उनको नमस्कार करो। इस उदाहरण में विरोधालङ्कार शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के रूप में स्पष्ट प्रतीत होता है।। इस प्रकार का शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप व्यतिरेकालङ्कार भी पाया जाता है जैसे मेरा ही–

सूर्यदेव के, अन्धकार का नाश करने वाले जो किरण रूप पाद आकाश को प्रकाशित करते हैं और जो विग्रहवान् सूर्य के रूप पादनखों से सुशोभित तथा आकाश को उद्भासित करने वाले नहीं है, जो सूर्य अपने किरण रूप पाद से कमलों को और पुष्ट करते हैं और चरणरूप से कमलों की शोभा तिरस्कृत करते हैं, जो किरण रूप पाद पर्वतों के शिखर पर अथवा राजाओं के शिरों

लोचनम्

यो न धीशः स कथं धियामीशः। यो हरिः कपिलः स कथं कृष्णः। चतुरः पराक्रमयुक्तो यस्यात्मा स कथं निष्क्रियः। अरीणामरयुक्तानां यो नाशयिता स कथं चक्रं बहुमानेन धारयति। *विरोध* इति। विरोधनमित्यर्थः *प्रतीयत* इति।

बुद्धियों का स्वामी कैसे? जो हरि अर्थात् कपिल वर्ण का है वह कृष्ण कैसे? चतुर अर्थात् पराक्रमयुक्त जिसकी आत्मा है वह निष्क्रिय कैसे? अरों अर्थात् चक्र में लगे हुये अरों का जो नाश करने वाला हैं वह बहुमानपूर्वक चक्रधारी कैसे? **विरोध** इति–

ध्वन्यालोकः

स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तु वः ॥

एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रकाराः सन्ति ते सहृदयैः स्वयमनुसर्तव्याः। इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न तत्प्रपञ्चः कृतः।

अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद्व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥२२॥

यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादर्थान्तरमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः।

पर अवभासित होते हैं और पाद रूप से प्रणाम करते समय देवताओं के शिरों का अतिक्रमण करते हैं। सूर्यदेव के वे दोनों प्रकार के पाद (किरणरूप तथा चरणरूप) तुम सभी के लिये कल्याणकारी हो।

इस प्रकार शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के और भी अलङ्कार तथा वस्तुरूप प्रकार होते हैं। सहृदय उनका अनुसंधान कर लें। ग्रन्थविस्तार के भय से हमने यहाँ उनका प्रतिपादन नहीं किया है।

अर्थेति– अर्थशक्त्युद्भव नामक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का दूसरा भेद वह होता है जहाँ अभिधा से ऐसा अर्थ प्रतीत होता है जो शब्द व्यापार के बिना ध्वननव्यापार से स्वतः ही तात्पर्यविषयीभूत रूप से अर्थान्तर को अभिव्यक्त करे॥२२॥

जहाँ वाच्यार्थ शब्दव्यापार के बिना अपने ध्वनन-सामर्थ्य से अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है, वह अर्थशक्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि है। जैसे **एवमिति**–

लोचनम्

स्फुटं नोच्यते केनचिदिति भावः। नखैरुद्भासन्ते येऽवश्यं खे गगने न उद्भासन्ते। उभये रश्म्यात्मानोऽङ्गुलीपार्ष्ण्याद्यवयविरूपाश्चेत्यर्थः॥२१॥

एवं शब्दशक्त्युद्भवं ध्वनिमुक्त्वार्थशक्त्युद्भवं दर्शयति–*अर्थेति।* अन्य इति शब्दशक्त्युद्भवात्। स्वतस्तात्पर्येणेत्यभिधाव्यापारनिराकरणपरमिदं पदं

अर्थात् विरोधन। **प्रतीयत** इति प्रतीत होता है। भाव यह कि कोई स्पष्ट नहीं कहता है। जो नखों से उद्भासित है वह अवश्य ही आकाश को उद्भासित नहीं कर सकता अर्थात् किरणात्मा एवं अङ्गुली, पार्ष्णि आदि अवयवों वाले॥२१॥

इस प्रकार शब्दशत्त्युद्भवध्वनि कह कर अर्थशत्त्युद्भवध्वनि प्रदर्शित करते हैं। **अर्थेति**– अन्य अर्थात् शब्दशक्त्युद्भव से अन्य। स्वतः तात्पर्यरूप से इस

ध्वन्यालोक:

यथा–

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास केवलम्॥

अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति। न चायमलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः। यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः, स तस्य केवलस्य

देवर्षि (सप्तर्षि मण्डल) के ऐसा कहने पर पिता पर्वतराज हिमालय के पास बैठी हुई पार्वती अपना मुंह नीचा कर लीलाकमल की पंखुड़ियाँ गिनने लगीं।

यहाँ लीलाकमलपत्रों की गणनारूप (पार्वती का व्यापार) स्वयं गुणीभूत व्यङ्ग्य होकर शब्दव्यापार के बिना ही (लोचनकार के मत में लज्जा, विश्वनाथ के मत में अवहित्था) व्यभिचारिभावरूप अर्थान्तर को अभिव्यक्त करती हैं।

यह 'एवं वादिनि' इत्यादि श्लोक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनि का उदाहरण नहीं है, क्योंकि जहाँ साक्षात् शब्द से वर्णित विभाव, अनुभाव और संचारीभावों से रसादि को प्रतीति होती है, वहाँ केवल उस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का मार्ग है।

लोचनम्

ध्वननव्यापारमाह न तु तात्पर्यशक्तिम्। सा हि वाच्यार्थप्रतीता-वेवोपक्षीणेत्युक्तं प्राक्। अनेनैवाशयेन वृत्तौ व्याचष्टे–*यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादिति*। स्वत इति शब्दः स्वशब्देन व्याख्यातः। उक्तिं विनेति व्याचष्टे–*शब्दव्यापारं विनैवेति*। उदाहरति–*यथा एवमिति*। अर्थान्तरमिति लज्जात्मकम्। साक्षादिति। व्यभिचारिणां यत्रालक्ष्यक्रमतया व्यवधिवन्ध्यैव प्रतिपत्तिः स्वविभावादिबलात्तत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितत्वं विवक्षितमिति न

अभिधाव्यापार के निराकरण में तात्पर्य वाला यह पद ध्वननव्यापार को कहता है; तात्पर्यशक्ति को नहीं। क्योंकि वह तात्पर्यशक्ति वाच्यार्थ की प्रतीति में ही उपक्षीण हो जाती है। हम इस बात को पहले कह चुके हैं, इसी अभिप्राय से वृत्ति में व्याख्यान करते हैं– **यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादिति** जहाँ अर्थ अपनी सामर्थ्य से। स्वत: के स्व शब्द की 'अपनी' इस अर्थ में व्याख्या की है। **उक्तिं विनेति** इसकी व्याख्या करते हैं– शब्द-व्यापार के बिना ही। उदाहरण देते हैं जैसे **यथा एवमिति।** अर्थान्तर अर्थात् लज्जारूप अर्थान्तर। **साक्षादिति** व्यभिचारी भावों की जहाँ व्यवधानरहित ही प्रतीति अपने विभाव

ध्वन्यालोकः

मार्गः। यथा कुमारसम्बवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य

जैसे कुमारसंभव में वसन्तवर्णनप्रसङ्ग में वासन्ती पुष्पों के आभरणों से अलङ्कृत देवी पार्वती आलम्बन विभाव के आगमन से लेकर कामदेव के शरसंधानपर्यन्त अनुभाववर्णन और धैर्यच्युत शिव का चेष्टाविशेष वर्णनादि

लोचनम्

पूर्वापरविरोधः। पूर्वं ह्युक्तं व्यभिचारिणामपि भावत्वान्न स्वशब्दतः प्रतिपत्तिरित्यादि विस्तरतः। एतदुक्तं भवति– यद्यपि रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव भवति न वाच्यः कदाचिदपि, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः। यत्र हि विभावानुभावेभ्यः स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्तिस्तत्रास्त्वलक्ष्यक्रमः। यथा–

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभिरदृश्यत स्थावरराजकन्या॥

इत्यादौ सम्पूर्णालम्बनोद्दीपनविभावतायोग्यस्वभाववर्णनम्।

प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम्॥

के बल से होती है वहाँ साक्षात् शब्द द्वारा निवेदितत्त्व विवक्षित हैं। अतः पूर्वापर विरोध नहीं है, क्योंकि पूर्व में कह आये हैं कि व्यभिचारी भावों को भी भाव होने के कारण स्व शब्द से प्रतीति नहीं होती हैं इत्यादि। **एतदुक्तं भवतीति**– यह कहा गया। यद्यपि रस-भाव आदि अर्थ ध्वन्यमान ही होता है वह कभी वाच्य नहीं होता तथापि सभी रस भावादि अलक्ष्यक्रम का विषय नहीं होता। जहाँ स्थायिगत और व्यभिचारिगत पूर्ण विभावों और अनुभावों से शीघ्र रस की अभिव्यक्ति हो जाती है वहाँ अलक्ष्यक्रमरूप व्यङ्ग्य होता है। जैसे **निर्वाणभूयिष्ठमिति।**

तदनन्तर शिव जी के निर्वाणभूयिष्ठ वीर्य को अपने शरीर के सौन्दर्य गुण से मानो विनष्ट करती हुई वनदेवताओं द्वारा अनुसरण की जाती हुई स्थावरराज (पर्वतराज) कन्या पार्वती दिखाई पड़ी।

इत्यादि में संपूर्ण आलम्बन, उद्दीपन विभाव रूप के योग्य स्वभाव का वर्णन है। **प्रतिग्रहीतुमिति**– अपने भक्तों के प्रेमी होने के कारण त्रिलोचन शिव जी ने उस (माला) को ग्रहण करने के लिये उपक्रम किया। इधर पुष्पों के धनुष वाले कामदेव ने संमोहन नाम का बाण अपने धनुष पर रखा।

ध्वन्यालोक:

चेष्टाविशेषवर्णनादि साक्षाच्छब्दनिवेदितम्। इह तु सामर्थ्याक्षिप्त-व्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः। तस्मादयमन्यो ध्वनेः प्रकारः।

यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः। यथा–

व्यभिचारिभाव साक्षात् शब्दनिवेदित है।

यहाँ **एवं वादिनि देवर्षौ** में तो लीलाकमल के पत्रों की गणना द्वारा सामर्थ्य से अक्षिप्त लज्जारूप व्यभिचारिभाव द्वारा रस की प्रतीति होती है। इसलिये रसध्वनि रूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद से भिन्न अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप यह दूसरा ध्वनि का प्रकार है।

जहाँ शब्द-व्यापार की सहायता से अर्थ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है वह इस अर्थशक्त्युद्भवसंसक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय नहीं होता वहाँ

लोचनम्

इत्यनेन विभावतोपयोग उक्तः।

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥

अत्र हि भगवत्याः प्रथममेव तत्प्रवणत्वात्तस्य चेदानीं तदुन्मुखीभूतत्वात् प्रणयिप्रियतया च पक्षपातस्य सूचितस्य गाढीभावाद्रत्यात्मनः स्थायिभावस्यौत्सुक्यावेगचापल्यहर्षादेश्च व्यभि-चारिणः साधारणीभूतोऽनुभाववर्गः प्रकाशित इति विभावानुभावचर्वणैव व्यभिचारिचर्वणायां पर्यवस्यति। व्यभिचारिणां पारतन्त्र्यादेव स्त्रक्सूत्रकल्पस्थायिचर्वणाविश्रान्तेरलक्ष्यक्रमत्वम्। इह तु पद्मदलगणन-

इसके द्वारा विभावता का उपयोग कहा।

तदनन्तर चन्द्रोदय के आरम्भ में समुद्र की भाँति किञ्चिद् विचलित धैर्य वाले शिवजी ने बिम्बफल की भाँति मनोहर अधरोष्ठ वाले पार्वती के मुख पर अपने नेत्रों को व्यापारित किया।

यहाँ भगवती पार्वती के पहले से ही शिवजी में आसक्ति होने के कारण और अब उन शिवजी को अपने प्रति उन्मुख हो जाने के कारण तथा उन्हें अपने भक्त के प्रति प्रेमी होने के कारण सूचित पक्षपात के प्रगाढ होने के कारण रतिरूप स्थायीभाव का और औत्सुक्य, वेग, चापल्य, हर्ष आदि व्यभिचारी का साधारणीभूत अनुभाव-

ध्वन्यालोकः

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

गुणीभूत व्यङ्ग्य हो जाता है। जैसे **सङ्केतेति**– उपपति के सङ्केतकाल की विट की जिज्ञासा को समझ कर चतुर नायिका ने अपने नेत्रों से अभिप्राय व्यक्त करते हुये हँसते हुए अपने हाथ में स्थित लीलाकमल को बन्द कर लिया।

लोचनम्

मधोमुखत्वं चान्यथापि कुमारीणां सम्भाव्यत इति झटिति न लज्जायां विश्रमयति हृदयं, अपि तु प्राग्वृत्ततपश्चर्यादिवृत्तान्तानुस्मरणेन तत्र प्रतिपत्तिं करोतीति क्रमव्यङ्ग्यतैव। रसस्त्वत्रापि दूरत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तदपेक्षयाऽलक्ष्यक्रमतैव। लज्जापेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्। अमुमेव भावमेवंशब्दः केवलशब्दश्च सूचयति।

'उक्ति विने'ति यदुक्तं तद्व्यवच्छेद्यं दर्शयितुमुपक्रमते–*यत्र चेति।* चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे। *अस्येति।* अलक्ष्यक्रमस्तु तत्रापि स्यादेवेति भावः। उदाहरति–*सङ्केतेति।*

***व्यञ्जकत्वमिति।* प्रदोषसमयं प्रतीति शेषः। *उक्त्यैवेति।* आद्यपादत्रयेणेत्यर्थः। यद्यपि चात्र शब्दान्तरसन्निधानेऽपि प्रदोषार्थं प्रति न**

वर्ग को प्रकाशित किया है। इस प्रकार विभाव-अनुभाव की चर्वणा ही व्यभिचारी की चर्वणा में पर्यवसित होती है। व्यभिचारी भावों के परतन्त्र होने के कारण ही माला के सूत्र के समान स्थायी की चर्वणा में विश्रान्ति होने से अलक्ष्यकमत्व है। परन्तु यहाँ कमल के पत्रों को गिनना और नीचे मुख करना कुमारियों के लिये अन्यथा भी संभव हैं। इस प्रकार तत्काल हृदय को लज्जा में विश्राम नहीं मिलता, अपितु हृदय में पहले संपन्न हुये तपश्चर्या आदि वृत्तान्त के अनुस्मरण से लज्जा में प्रतिपत्ति करना है। इस प्रकार क्रमव्यङ्गता ही है। रस तो यहाँ दूर से ही व्यभिचारीभाव के स्वरूप के पर्यालोचन करने पर प्रतीत होता है, इसलिये उसकी अपेक्षा से अलक्ष्यक्रमत्व ही हैं। लज्जा की अपेक्षा से लक्ष्यक्रमत्व है। इसी भाव को **इस प्रकार** (एवं) और **केवल** शब्द सूचित करते हैं।

उक्ति विनेति यह जो कहा है उसका व्यवच्छेद्य दिखाने के लिये उपक्रम करते हैं– **यत्र चेति**– यहाँ च शब्द परन्तु शब्द के अर्थ में हैं। **अस्येति**– इस ध्वनि का। भाव यह कि अलक्ष्यक्रम तो वहाँ पर भी होगा ही। उदाहरण देते हैं– **सङ्केतेति। व्यञ्जकत्वमिति**– प्रदोष-समय अथवा सायंकाल के प्रति व्यञ्जकत्व। **उक्त्यैवेति**-उक्ति

ध्वन्यालोकः

तथा च–

शब्दार्थशक्त्या क्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः ।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥२३॥

(यहाँ लीलाकमलनिमीलन द्वारा संकेतकाल की व्यञ्जकता नेत्रार्पिताकूतं शब्द द्वारा ही सूचित कर दी अतः यह अर्थशक्त्युद्भवध्वनि का नहीं, गुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण है।

और इसलिये कहा भी है– **शब्दार्थेति–** शब्दशक्ति, अर्थशक्ति अथवा शब्द- अर्थ उभय शक्ति से आक्षिप्त व्यङ्ग्य होने पर भी जहाँ कवि पुनः उसे अपने वचनों से प्रकट कर देता है वह व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यसिद्धि का अङ्ग होकर गुणीभूत बन जाने के कारण ध्वनि से भिन्न अन्य ही (श्लेषादि) अलङ्कार होता है॥२३॥

लोचनम्

कस्यचिदभिधाशक्तिः पदस्येति व्यञ्जकत्वं न विघटितं, तथापि शब्देनैवोक्तमयमर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जक इति। यतश्च ध्वनेर्यद्गोप्यमानतोदितचारुत्वात्मकं प्राणितं तदपहस्तितम्। यथा कश्चिदाह–'गम्भीरोऽहं न मे कृत्यं कोऽपि वेद न सूचितम्। किञ्चिद् ब्रवीमि' इति। तेन गाम्भीर्यसूचनार्थः प्रत्युत आविष्कृत एव। अत एवाह–*व्यञ्जकत्वमिति उक्त्यैवेति* च॥२२॥

प्रक्रान्तप्रकारद्वयोपसंहारं तृतीयप्रकारसूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत्– *तथा चेति।* तेन चोक्तप्रकारद्वयेनायमपि तृतीयः प्रकारो मन्तव्य इत्यर्थः। शब्दश्चार्थश्च

द्वारा ही। अर्थात् प्रथम से तीन पादों तक। यद्यपि यहाँ शब्दान्तर के सन्निधान होने पर भी किसी पद का प्रदोष या सन्ध्याकाल इस अर्थ के प्रति अभिधाशक्ति नहीं हैं, इस कारण व्यञ्जकत्व विशेष रूप से विघटित नहीं होता तथापि वहाँ शब्द से ही कहा यह अर्थ अर्थान्तर का व्यञ्जक है। यह बात शब्दतः कही गई है, इस कारण ध्वनि की गोप्यमानता से उत्पन्न चारुत्वरूप जो प्राण है, उसका भी निराकरण कर दिया है। जैसे कोई कहे– 'मैं इतना गम्भीर हूँ कि मेरा कर्त्तव्य काम बिना बताये कोई नहीं जानता इसलिये कुछ-कुछ कह भी देता हूँ।' इस कथन से गाम्भीर्य सूचना का अर्थ प्रत्युत प्रकट कर दिया गया है। इसीलिये कहा गया व्यञ्जकत्व उक्ति से ही।

प्रक्रान्त दोनों प्रकारों का उपसंहार और तीसरे प्रकार का सूचन एक ही प्रयत्न से करता हूँ, इस आशय से वृत्तिकार साधारण अवतरण पद को देते हैं। **तथा चेति।** अर्थात् उक्त दोनों प्रकारों (शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल ध्वनि) के साथ इस तीसरे

ध्वन्यालोकः

शब्दशक्त्यार्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपम-व्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः।

तत्र शब्दशक्त्या यथा–

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तं
कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि ।

शब्दशक्ति, अर्थशक्ति अथवा शब्दार्थोभयशक्ति से आक्षिप्त हो कर भी व्यङ्ग्यार्थ को जहाँ कवि पुनः अपनी उक्ति में प्रकाशित कर देता है वह इस अनुस्वानोपम संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि से अलग ही (श्लेषादि) अलङ्कार होता है। अथवा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि यदि कोई इस प्रकार का उदाहरण मिल सके तो वाच्यालङ्कार से भिन्न वह उस प्रकार का चमत्कारजनक अन्य ही अलङ्कार होता है। (उसमें शब्दशक्ति से आक्षिप्त शब्दशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य स्वशब्द द्वारा कथित होने से गुणीभूत और श्लेषाङ्गारप्रधान हो गया है)। उसका उदाहरण जैसे **वत्स इति**।

समुद्रमन्थन के समय स्वभावतः सुकुमारी होने के कारण समुद्र की भीषण तरङ्गों को देख कर मन्थन से भीत लक्ष्मी को उसके पिता समुद्र ने उसका भय दूर करने के बहाने इस प्रकार कहा कि बेटी! विषाद मत करो (व्यङ्ग्यार्थ विषमत्तीति विषादः विषभक्षण करने वाले भयानक शिव के पास मत जाना)। तीव्रगति से ऊपर की ओर जाने वाली अपनी इन उसासों को बन्द करो (व्यङ्ग्यार्थ

लोचनम्

शब्दार्थौ चेत्येकशेषः। *सान्यैवेति।* न ध्वनिरसौ, अपि तु श्लेषादिरलङ्कार इत्यर्थः। अथवा ध्वनिशब्देनालक्ष्यक्रमः तस्यालङ्कार्यस्याङ्गिनः स व्यङ्ग्योऽर्थोऽन्यो वाच्यमात्रालङ्कारापेक्षया द्वितीयो लोकोत्तरश्चालङ्कार इत्यर्थः। एवमेव वृत्तौ द्विधा व्याख्यास्यति। विषमत्तीति *विषादः।*

प्रकार को भी मानना चाहिये। शब्द, अर्थ और शब्दार्थ यह एकशेष है। **सान्यैवेति** अर्थात् वह ध्वनि नहीं है अपितु श्लेष आदि अलङ्कार ही है। अथवा ध्वनि शब्द से अलक्ष्यक्रम उक्त है। उस अङ्गी अलङ्कार्य का यह व्यङ्ग्य अर्थ अन्य अर्थात् व्याच्यालङ्कार की अपेक्षा दूसरा वह लोकोत्तर अलङ्कार है। इसी प्रकार वृत्ति में दो प्रकार से व्याख्या

ध्वन्यालोक:

प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनच्छद्मना कारयित्वा
यस्मै लक्ष्मीमदाद्वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः ॥

तीव्रगति वाले भयङ्कर इस वायुदेवता और ऊर्ध्व ज्वलन स्वभाववाले महाभयानक इन अग्नि देवता की बात छोड़ो)। अरी! यह इतना काँप क्यों रही हो (व्यङ्यार्थ के चलं पातीति कम्पः वरुणः कः प्रजापतिः ब्रह्मदेवः) कम्प (वरुणदेव) तथा कः (प्रजापति) ब्रह्मदेव तो तुम्हारे गुरु पितासदृश हैं) जृम्भितेन बलभिदा भवतु बल नष्ट करने वाले अपनी इस जँभाई को बन्द करो (व्यङ्ग्यार्थ-बल नामक राक्षस का संहार करने वाले ऐश्वर्य मदमत्त इन्द्रदेव को भी छोड़ो) इस प्रकार भयनाश करने के बहाने अन्य सभी देवताओं का प्रत्याख्यान (निषेध) करा कर विष्णु के पास आओ ऐसा कह कर समुद्र ने जिस विष्णु को अपनी पुत्री लक्ष्मी को वधूरूप में प्रदानं किया वे विष्णु तुम्हारे दुःखों को दूर करें।

लोचनम्

ऊर्ध्वप्रवृत्तमग्निमित्यत्र चार्थो मन्तव्यः। _कम्पोऽपाम्पतिः को ब्रह्मा वा तव गुरुः। बलभिदा_ इन्द्रेण _जृम्भितेन_ ऐश्वर्यमदमत्तेनेत्यर्थः। जृम्भितं च गात्रसंमर्दनात्मकं बलं भिनत्ति आयासकारित्वात्। _प्रत्याख्यानमिति।_ वचसैवात्र द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत इति निवेदितम्। _कारयित्वेति।_ सा हि कमला पुण्डरीकाक्षमेव हृदये निधायोत्थितेति स्वयमेव देवान्तराणां प्रत्याख्यानं करोति। स्वभावसुकुमारतया तु मन्दरान्दोलितजलधितरङ्गभङ्गपर्याकुलीकृतां तेन प्रतिबोधयता तत्समर्थाचरणमन्यत्र दोषोद्घाटनेन अत्र _याहीति_ चाभिनयविशेषेण सकलगुणादरदर्शकेन कृतम्। अत एव

करेंगे। विषमत्तीति विषादः अर्थात् शिव। ऊर्ध्वप्रवृत्त– ऊपर की ओर बढ़ा हुआ यहाँ अग्नि अर्थ मानना चाहिये। कम्प अर्थात् अपांपति (जलपति वरुण) अथवा क अर्थात् ब्रह्मदेव तुम्हारे गुरु हैं। बलभिद् अर्थात् इन्द्राजृम्भित अर्थात् ऐश्वर्यमदमत्त और अङ्गों की ऐठन रूप जँभाई आयासकारी होने के कारण बल तोड़ देती है। **प्रत्याख्यानमिति–** निराकरण। इसके द्वारा वचन से ही दूसरे अर्थ का अभिधान किया है। यह निवेदन किया।

कारयित्वेति वह कमला लक्ष्मी पुण्डरीकाक्ष विष्णु को ही हृदय में रख कर समुद्र से बाहर आई अतः स्वयमेव वह अन्य देवताओं का प्रव्याख्यान करती है। स्वभावतः सुकुमार होने के कारण मन्दराचल से आन्दोलित समुद्र के तरङ्ग-भङ्गों से पर्याकुल हुई लक्ष्मी को शिक्षा देते हुये और अन्यत्र दोषोद्घाटन द्वारा यहाँ विष्णु में

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्या यथा–

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र।
अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम्॥

अर्थशक्ति से आक्षिप्त अर्थशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य जहाँ शब्द से कथित होने से गुणीभूत और श्लेषाङ्कार प्रधान हो गया है उसका उदाहरण जैसे **अम्बेति–**

बूढी माता यहाँ सोती है और वृद्धों में अग्रगण्य अत्यन्त वयोवृद्ध पिता जी यहाँ। सारे घर का काम-काज कर अत्यन्त थकी हुई यह पनहारिन नौकरानी यहाँ सोती हैं। मैं अभागिनी जिसके पति अभी कुछ ही दिनों से परदेश चले गये हैं, इस कमरे में अकेली पड़ी रहती हूँ। इस प्रकार तरुणी ने अवसर बताने के बहाने से पथिक को सबके सोने का स्थान और व्यवस्था आदि का विवरण स्पष्ट रूप से कहा।

लोचनम्

मन्थमूढामित्याह। **इत्युक्तप्रकारेण भयनिवारणव्याजेन सुराणां प्रत्याख्यानं मन्थमूढां लक्ष्मीं कारयित्वा पयोधिर्यस्मै तामदात्स वो युष्माकं दुरितं दहत्विति सम्बन्धः।**

अम्बेति। **अत्रैकैकस्य पदस्य व्यञ्जकत्वं सहृदयैः सुकल्प्यमिति स्वकण्ठेन नोक्तम्। व्याजशब्दोऽत्र स्वोक्तिः। एवमुपसंहारव्याजेन प्रकारद्वयं सोदाहरणं निरूप्य तृतीयं प्रकारमाह–***उभयेति।* **शब्दशक्तिस्तावद्गोपरागादिशब्दश्लेषवशात्। अर्थशक्तिस्तु प्रकरणवशात्। यावदत्र राधारमणस्याखिलतरुणीजनच्छन्नानुरागगरिमास्पदत्वं न विदितं तावदर्थान्तरस्याप्रतीतेः, सलेशमिति चात्र स्वोक्तिः॥२३॥**

गमन करो इस समग्र गुणों के प्रति आदर दिखाने वाले अभिनय-विशेष से उसके समक्ष आचरण किया है। इसीलिये मन्थमूढा अर्थात् समुद्र के मन्थन से डरी हुई यह कहा है। सम्बन्ध यह है कि उक्त प्रकार से भयनिवारण के बहाने देवताओं का प्रत्याख्यान मन्धन से डरी हुई लक्ष्मी को करा कर समुद्र ने जिसके लिये उसे समर्पित किया वह विष्णु आप लोगों के दुरितो को नष्ट करें।

अम्बेति यहाँ एक-एक पद का व्यञ्जकत्व सहृदयों द्वारा सहज ही कल्पनीय है इसलिये स्वतः अपने कण्ठ से नहीं कहा गया है। यहाँ व्याज शब्द कवि की अपनी उक्ति है। इस प्रकार उपसंहार के व्याज से दोनों प्रकारों का सोदाहरण निरूपण कर

ध्वन्यालोकः

उभयशक्त्या यथा–'दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया' इत्यादौ ॥२३॥

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः ।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥२४॥

इसी प्रकार उभयशक्ति से आक्षिप्त उभयशक्त्युत्थ व्यङ्ग जहाँ कथित होने से गुणीभूत व्यङ्ग्य और श्लेषालङ्कार प्रधान हो जाता है उसका उदाहरण जैसे '**दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया**' इत्यादि में।

अन्य वस्तु या अलङ्कार का अभिव्यञ्जक अर्थ भी स्वतः संभवी तथा प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध दो प्रकार का होता है। (इसमें कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्ध-वस्तु प्रौढोक्तिसिद्ध ये दो भेद भी सम्मिलित हैं और इस प्रकार दो प्रकार का होते हुये भी वास्तव में तीन प्रकार का होता है)॥२४॥

लोचनम्

एवमर्थशकत्युद्भवस्य सामान्यलक्षणं कृतम्। श्लेषाद्यलङ्कारेभ्यश्चास्य विभक्तो विषय उक्तः। अधुनास्य प्रभेदनिरूपणं करोति– प्रौढोक्तीत्यादिना। यो़ऽर्थान्तरस्य दीपको व्यञ्जकोऽर्थ उक्तः सोऽपि द्विविधः। न केवलमनुस्वानोपमो द्विविधः, यावत्तद्भेदो यो द्वितीयः सोऽपि व्यञ्जकार्थद्वैविध्यद्वारेण द्विविध इत्यपिशब्दस्यार्थः। प्रौढोक्तेरप्यवान्तरभेदमाह–*कवेरिति।* तेनैते त्रयो भेदा भवन्ति। प्रकर्षेण ऊढः सम्पादयितव्येन वस्तुना प्राप्तस्तत्कुशलः प्रौढ़। उक्तिरपि समर्पयितव्यवस्त्वर्पणोचिता प्रौढ़ेत्युच्यते।

तीसरा प्रक्रार कहते हैं– **उभयशक्त्या यथा**– गोपराग आदि श्लेष के कारण शब्दशक्ति है और अर्थशक्ति प्रकरण के कारण है, क्योंकि जब तक राधारमण श्रीकृष्ण का समस्त तरुणियों में छिपे प्रकार से अनुराग गरिमा का स्थानभूत होना विदित नहीं होता है तब तक अर्थान्तर की प्रतीति नहीं होती है। सलेश यह कवि को अपनी उक्ति है॥२३॥

इस प्रकार अर्थ शक्त्युद्भव का सामान्य लक्षण किया। और श्लेष आदि अलङ्कारों से इसका विषय विभक्त कहा। अब इसके प्रभेद का निरूपण करते हैं– प्रौढोक्ति इत्यादि द्वारा जो अर्थान्तर का दीपक अर्थाथ् व्यञ्जक अर्थ कहा है। वह भी दो प्रकार का है, न कि केवल अनुस्वानोपम दो प्रकार का है। उसका जो दूसरा भेद है वह भी व्यञ्जक अर्थ के द्वैविध्य द्वारा दो प्रकार का है। यह अपि शब्द का अर्थ है प्रौढोक्ति का भी अवान्तर भेद कहते हैं। **कवेरिति** इस कारण ये तीन भेद होते हैं। प्रकर्ष से ऊढ अर्थात् संपादयितव्य वस्तु से प्राप्त उसका कुशल प्रौढ है। समर्पचितव्य वस्तु के अर्पण में उचित उक्ति भी प्रौढ़ कही जाती है।

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ–कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतस्सम्भवी च द्वितीयः।

कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथा–

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स शरे॥

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेव–'शिखरिणि' इत्यादि।

अर्थशक्त्युद्भवसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में जो व्यञ्जक अर्थ कहा गया है उसके भी दो भेद होते हैं– एक कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढिक्तिमात्र से सिद्ध और दूसरा स्वतः संभवी।

कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध का उदाहरण जैसे–

कामदेव का सखा वसन्त मास युवतिजनों को लक्ष्य बनाने (विद्ध करने) वाले मुखों (अग्रभाग या फलभाग से युक्त) नव पल्लवों से तथा पत्ररूप पिछले भाग में लगे पङ्खों से युक्त सहकार प्रभृति बाणों का निर्माण कर रहा है परन्तु अभी प्रहारार्थ उसको नहीं देता है।।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति का उदाहरण यथा 'शिखरिणि' इत्यादि श्लोक जो पहले कह आये हैं।

लोचनम्

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।
अभिनवसहकारमुखान्नवपल्लवपल्लवाननङ्गस्य शरान्॥

अत्र वसन्तश्चेतनोऽनङ्गस्य सखा सज्जयति केवलं न तावदर्पयतीत्येवंविधया समर्पयितव्यवस्त्वर्पणकुशलयोक्त्या सहकारोद्भेदिनी वसन्तदशा यत् उक्ता अतो ध्वन्यमानं मन्मथोन्माथस्यारम्भं क्रमेण गाढगाढीभविष्यन्तं व्यनक्ति। अन्यथा वसन्ते सपल्लवसहकारोद्गम इति वस्तुमात्रं न व्यञ्जकं स्यात्। एषा च कवेरेवोक्तिः प्रौढा। *शिखरिणीति।* अत्र

यहाँ कामदेव का सखा चेतन वसन्त केवल तैयार कर रहा है अर्पित नहीं कर रहा है। समर्पयितव्य वस्तु के अर्पण में कुशल इस प्रकार की उक्ति द्वारा आम्र (सहकार) पैदा करने वाली वसन्त की स्थिति जिस कारण कही गई है उस कारण ध्वनित होते हुये और क्रम से गाढ, गाढतर होते हुये मन्मथोन्माथ के आरम्भ को व्यक्त करती हैं। अन्यथा वसन्त में पल्लवसहित सहकार का उद्गम यह वस्तुमात्र व्यञ्जक नहीं होगा।

ध्वन्यालोकः

यथा वा–

साअरविइण्णजोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिम् ।
अब्भुट्ठाणं विअ मम्महस्य दिण्णं तुह थणेहिम् ॥

स्वतः सम्भवी य औचित्येन बहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न केवलं भणितिवशेनैवाभिनिष्पन्नशरीरः। यथोदाहृतम् 'एवंवादिनि' इत्यादि। यथा वा–

आदरपूर्वक सहारा देने वाले यौवन के सहारे ऊपर की ओर उठने वाले तुम्हारे दोनों स्तन उठ कर कामदेव के स्वागत में अभ्युत्थान सा प्रदान कर रहे हैं।

कवि और कविनिबद्धकल्पना के लोक से बाहर भी उचित रूप से जिनके अस्तित्व की संभावना हो, केवल कवि या कविनिवद्ध उक्तिमात्र से सिद्ध न होता हो, वह स्वत: संभवी कहा जाता है। '**एवं वादिनि देवर्षौ**' इत्यादि इसका उदाहरण पहले दे चुके हैं।

लोचनम्

लोहितं बिम्बफलं शुको दशतीति न व्यञ्जकता काचित्। यदा तु कविनिबद्धस्य साभिलाषस्य तरुणस्य वक्तुरित्थं प्रौढोक्तिस्तदा व्यञ्जकत्वम्।

सादरवितीर्णयौवनहस्तालम्बं समुन्नमद्भ्याम् ।
अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम् ॥

स्तनौ तावदिह प्रधानभूतौ ततोऽपि गौरवितः कामस्ताभ्यामभ्युत्थानेनोपचर्यते। यौवनं चानयोः परिचारकभावेन स्थितमित्येवंविधेनोक्तिवैचित्र्येण त्वदीयस्तनावलोकनप्रवृद्धमन्मथावस्थः को न भवतीति भङ्ग्या स्वाभिप्रायध्वननं कृतम्। तव तारुण्येनोन्नतौ स्तनाविति हि वचने न व्यञ्जकता। *न केवलमिति।* उक्तिवैचित्र्यं तावत्सर्वथोपयोगि भवतीति भावः।

यह कवि की ही उक्ति प्रौढ़ है। **शिखरिणीति**– इस लाल बिम्बफल को शुक काटता है, यहाँ कोई व्यञ्जकत्व नहीं है परन्तु जब कवि द्वारा निबद्ध साभिलाष तरुण वक्ता की इस प्रकार प्रौढोक्ति होगी तब व्यञ्जकत्व होगा।

उन्नत होते हुये तुम्हारे दोनों स्तनों ने आदरपूर्वक हस्तावलम्बन को सादर वितरित कर मानो कामदेव को अभ्युत्थान दिया है।

नायिका के दोनों स्तन यहाँ प्रधानभूत हैं, उनसे भी अधिक गौरव वाला कामदेव उनके द्वारा अभ्युत्थानपूर्वक उपचरित हो रहा है और यौवन इन दोनों स्तनों का परिचारक रूप में स्थित है। इस प्रकार उक्तिवैचित्र्य द्वारा तुम्हारे स्तनों के अवलोकन

ध्वन्यालोकः

सिहिपिञ्छकण्णपूरा जाआ बाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणँ मज्झे सवत्तीणम् ॥२४॥
अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते ।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥२५॥

अथवा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धि का तीसरा उदाहरण जैसे केवल मोर-पङ्ख का कर्णपूर पहने हुये यह व्याध की नवीन पत्नी मुक्ताफलों के आभूषणों से अलङ्कृत अपनी सपत्नियों के बीच अभिमान से फूली-फूली फिरती है।

लोचनम्

शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी भ्रमति ।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥

शिखिमात्रमारणमेव तदासक्तस्य कृत्यम्। अन्यासु त्वासक्तो हस्तिनोऽप्यमारयदिति हि वचनेनोक्तमुत्तमसौभाग्यम्। रचितानि विविधभङ्गीभिः प्रसाधनानीति तासां सम्भोगव्यग्रिमाभावात्तद्विरचन-शिल्पकौशलमेव परमिति दौर्भाग्यातिशय इदानीमिति प्रकाशितम्। गर्वश्च बाल्याविवेकादिनापि भवतीति नात्र स्वोक्तिसद्भावः शङ्क्यः। एष चार्थो यथा यथा वर्ण्यते आस्तां वा वर्णना, बहिरपि यदि प्रत्यक्षादिनावलोक्यते तथा तथा सौभाग्यातिशयं व्याधवध्वा द्योतयति।।२४॥

से प्रवृद्धकामावस्था वाला कौन नहीं हो जाता है। इस भङ्गी से अपने अभिप्राय को ध्वनन किया है। जवानी के कारण तुम्हारे स्तन उन्नत हो गये है इस कथन में व्यञ्जकता नहीं है। **न केवलमिति–** भाव यह कि उक्तिवैचित्र्य सब प्रकार से उपयोगी होता है।।

शिखीति नायिका में अत्यन्त आसक्त नायक का केवल मोरों का मारना मात्र कार्य रह गया है। वैसे दूसरी सौतों में आसक्त वह व्याध हाथियों को भी मार डालता था। इस कथन से उसका उत्तम सौभाग्य अभिहित किया। विविध भङ्गियों से जिनके प्रसाधन बनाये गये हैं। इससे प्रकट किया कि संभोग की व्यग्रता न होने के कारण प्रसाधन के निर्माण का शिल्प-कौशल अधिक था। इस प्रकार अब उसका अतिशय दुर्भाग्य है। गर्व तो बाल्याविवेक आदि से भी उत्पन्न होता है इसलिये यहाँ अपनी उक्ति के सद्भाव की शङ्का नहीं करनी चाहिये। यह अर्थ जैसे-जैसे वर्णन करते हैं अथवा वर्णना होगी और वह यदि बाहर से भी प्रत्यक्ष आदि द्वारा देखा जाता है तब उस-उस प्रकार व्याधवधू का अतिशय सौभाग्य द्योतन करता है।।२४।।

ध्वन्यालोकः

वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलङ्कारोऽर्थसामर्थ्यात्प्रतीयमानोऽवभासते सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूपव्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः ॥२५॥

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते–

रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः ॥२६॥

जहाँ अर्थशक्ति से वाच्यालङ्कार से भिन्न दूसरा अलङ्कार प्रतीयमान होता हैं वह ध्वनिकाव्य का दूसरा अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक भेद है ॥२५॥

जहाँ वाच्य अलङ्कार से भिन्न दूसरा अलङ्कार अर्थ-सामर्थ्य से व्यङ्ग्य रूप से प्रतीत होता है वह संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रूप अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य रूप दूसरा भेद है।

उस अर्थशक्तिमूल अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय बहुत विरल होगा ऐसी आशङ्का से आगे यह कहते हैं–

रूपकादिरिति– वाच्यरूप से प्रतीत होने वाला जो रूपकादि अलङ्कारसमूह है वह दूसरे स्थलों पर दूसरे उदाहरण में वे सब जिन्हें गम्यमानरूप में (भट्टोद्भटादि ने) प्रचुर मात्रा में दिखलाया है।

लोचनम्

एवमर्थशक्त्युद्भवो द्विभेदो वस्तुमात्रस्य व्यञ्जनीयत्वे वस्तुध्वनिरूपतया निरूपितः। इदानीं तस्यैवालङ्काररूपे व्यञ्जनीयेऽलङ्कारध्वनित्वमपि भवतीत्याह–*अर्थेत्यादि।* न केवलं शब्दशक्तेरलङ्कारः प्रतीयते पूर्वोक्तनीत्या यावदर्थशक्तेरपि। यदि वा न केवलं यत्र वस्तुमात्रं प्रतीयते यावदलङ्कारोऽपीत्यपि शब्दार्थः। अन्यशब्दं व्याचष्टे–

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव दो प्रकार का होता है। वस्तुमात्र के व्यंजनीय होने पर वस्तुध्वनि रूप से यह निरूपित किया गया। अब उसी को अलङ्कार रूप से व्यञ्जनीय होने पर अलङ्कारध्वनि होता है इसे कहते हैं– **अर्थेत्यादि** केवल शब्दशक्ति से ही अलङ्कार प्रतीत नहीं होता है। किन्तु पूर्वोक्त नीति से अर्थशक्ति से भी अलङ्कार प्रतीत होता है यदि वा शब्द का अर्थ है अपि अर्थात् न केवल जहाँ वस्तुमात्र प्रतीत होता है बल्कि अलङ्कार भी। **अन्य** इसकी व्याख्या करते हैं– **वाच्येति**॥२५॥

ध्वन्यालोकः

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। तथा च

अन्य उदाहरणों में वाच्यरूप से प्रसिद्ध जो रूपकादि अलङ्कारसमूह है उन्हें अन्य स्थलों पर प्रतीयमान मूल से भट्टोद्भटादि ने बहुत विस्तृत रूप में दिखलाया है। इसी से संदेहादि अलङ्कारों में रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति आदि

लोचनम्

वाच्येति ॥२५॥

आशङ्क्येति। शब्दशक्त्या श्लेषाद्यलङ्कारो भासत इति सम्भाव्यमेतत्। अर्थशक्त्या तु कोऽलङ्कारो भातीत्याशङ्काबीजम्। *सर्व इति प्रदर्शित* इति च पदेनासम्भावनात्र मिथ्यैवेत्याह।

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा ।।इति।
तस्याः पाणिरयं नु मारुतचलत्पत्राङ्गुलिः पल्लवः।

इत्यादावुपमा रूपकं वा ध्वन्यते। अतिशयोक्तिश्च प्रायशः सर्वालङ्कारेषु ध्वन्यमानत्वम्। *अलङ्कारान्तरस्येति।* यत्रालङ्कारोऽप्यलङ्कारान्तरं ध्वनति तत्र वस्तुमात्रेणालङ्कारो ध्वन्यत इति कियदिदमसम्भाव्यमिति तात्पर्येणालङ्कारान्तरशब्दो वृत्तिकृता प्रयुक्तो न तु प्रकृतोपयोगी; न ह्यलङ्कारेणालङ्कारो ध्वन्यत इति प्रकृतमदः, अर्थशक्त्युद्भवे ध्वनौ वस्त्विवालङ्कारोऽपि व्यङ्ग्य

आशङ्क्येति– आशङ्का करके। शब्दशक्ति से श्लेषादि अलङ्कार भासित होता है यह तो संभाव्य है परन्तु अर्थशक्ति से कौन सा अलङ्कार प्रतीत होता है यही आशङ्का का बीज है। सब कुछ सब प्रकार से दिखा दिया गया है। यहाँ इस प्रकार की असंभावना करनी मिथ्या है।

उपमानेनेति उपमान के साथ उपमेय का अभेद और पुनः भेद कहते हुये कवि के ससंदेह वचन की स्तुति के लिये ससन्देह मानते हैं। जैसे **तस्याः पाणिरयमिति** उस नायिका का यह हाथ है अथवा हवा से चञ्चल पत्तों की अंगुलियों वाला पल्लव है।

इत्यादि में उपमा अथवा रूपक ध्वनित होता है और अतिशयोक्ति प्रायः सभी अलङ्कारों में ध्वनित होती है। **अलङ्कारान्तरस्येति।** जहाँ अलङ्कार भी अलंकान्तर को ध्वनित करता है वहाँ वस्तुमात्र रूप से अलङ्कार ध्वनित होता है, यह कितना असंभाव्य है इस तात्पर्य से वृत्तिकार ने अलङ्कारान्तर शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द प्रकृत में उपयोगी नहीं है, क्योंकि यह प्रकृतविषय नहीं है कि अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनित

ध्वन्यालोकः

ससन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्य-लङ्कारान्तरस्यालङ्कारान्तरे व्यङ्ग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम् ॥२६॥

इयत्पुनरुच्यत इव–

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥२७॥

अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ

अलङ्कारान्तरों का प्रतीयमानत्व भी (व्यङ्ग्यत्व) दिखलाया है। इसलिये अलङ्कार का अलंकारान्तर में व्यङ्ग्यत्व (अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य) हो सकता है। इसका प्रतिपादन प्रयत्नसाध्य (कठिन) नहीं है॥२६॥

फिर भी केवल इतनी बात हम विशेष रूप से कहते हैं– **अलङ्कारेति** एक वाच्य अलङ्कार से अलङ्कारान्तर की प्रतीति होने पर भी जहाँ वाच्य अलङ्कार का तत्परत्व नहीं अर्थात् प्रतीयमान अलङ्कार को प्रधानतया बोधित नहीं करता, हमारे मत से वह ध्वनि का विषय नहीं माना जा सकता॥२७॥

दीपक आदि दूसरे अलङ्कारो में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (उपमादि) दूसरे अलङ्कार की अनुरणनरूप प्रतीति होने पर भी जहाँ वाच्य दीपक आदि अलङ्कार की व्यङ्ग्य

लोचनम्

इत्येतावतः प्रकृतत्वात्। तथा चोपसंहारग्रन्थे 'तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः' इत्यत्र श्लोके वृत्तिकृत् 'ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्याम्' इत्युपक्रम्य 'तत्रेह प्रकरणाद्व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्' इति वक्ष्यति। अन्तरशब्दो वोभयत्रापि विशेषपर्यायः; वैषयिकी सप्तमी, न तु प्राग्व्याख्यायामिव निमित्तसप्तमी। तदयमर्थः-वाच्यालङ्कारविशेषविषये व्यङ्ग्यालङ्कारविशेषो भातीत्युद्भटादिभिरुक्तमेवेत्यर्थशक्त्यालङ्कारो व्यज्यत इति तैरुपगतमेव। केवलं तेऽलङ्कारलक्षणकारत्वाद्वाच्यालङ्कार-

होता है। यहाँ केवल इतना ही प्रकृत है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में वस्तु की भाँति अलङ्कार भी व्यङ्ग्य होता है। जैसा कि उपसंहार ग्रन्थ में अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग होकर अधिक छाया प्राप्त करते हैं इस स्थल में वृत्तिकार ध्वनि का अङ्गत्व दो प्रकारों से यह उपक्रम कर यहाँ यह प्रकरण से व्यङ्ग्य होने के कारण यह जानना चाहिये यह कहेंगे। अथवा अन्तर शब्द दोनों स्थलों में विशेष अर्थ का वाचक है। यहाँ सप्तमी वैषयिकी है जो विषयरूप अर्थ की वाचिका है। यह पहली व्याख्या के समान निमित्त में सप्तमी नहीं

ध्वन्यालोकः

ध्वनेर्मार्गः। तथा च दीपकादावलङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेशः।

यथा–

चन्दमऊएहि णिसा णलिनी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ।
हंसेहि सरअसोहा कव्वकहा सज्जनेहि करइ गरुई॥
(चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी॥
इति छाया)

उपमादिप्रतिपादनप्रवणता से ही चारुत्व की प्रतीति नहीं होती वह ध्वनि का मार्ग नहीं होता। इसी से दीपिकादि अलङ्कार में उपमा के गम्यमान होने पर भी उस उपमा के प्राधान्य से चारुत्व की व्यवस्था न होने से वहाँ उस उपमालङ्कार में ध्वनिव्यवहार नहीं होता है। जैसे– **चन्द्रेति**–

चन्द्र की किरणों से रात्रि, कमलपुष्पों से नलिनी, पुष्पस्तवकों से लता, हंसों से शरद् का सौन्दर्य और सज्जनों से काव्यकथा की गौरववृद्धि होती है। इत्यादि।

लोचनम्

विशेषविषयत्वेनाहुरिति भावः॥२६॥

ननु पूर्वैरेव यदीदमुक्तं किमर्थं तव यत्न इत्याशङ्क्याह– *इयदिति।* **अस्माभिरिति वाक्यशेषः। पुनःशब्दस्तदुक्ताद्विशेषद्योतकः।** *चन्दमऊ* **इति। चन्द्रमयूखादीनां न निशादिना विना कोऽपि परभागलाभः। सज्जनानामपि काव्यकथां विना कीदृशी साधुजनता। चन्द्रमयूखैश्च निशाया गुरुकीकरणं भास्वरत्वसेव्यत्वादि यत्क्रियते; कमलैर्नलिन्याः शोभापरिमललक्ष्म्यादि,**

है। इस कारण इसका अर्थ इस प्रकार है– वाच्य अलङ्कारविशेष के विषय में व्यङ्ग्य अलङ्कार विशेष प्रतीत होता है। यह उद्भट आदि ने कहा ही है अर्थात् अर्थशक्ति से अलङ्कार व्यञ्जित होता है यह उन्होंने ही माना है। भाव यह कि केवल उन्होंने अलङ्कारलक्षणकार होने के नाते वाच्य अलङ्कारविशेष के विषय रूप से कहा है।

जब प्राचीनों ने ही यह कह दिया है तो तुम्हारा यत्न किस लिये? इसका उत्तर देते हुये कहते हैं– **'इयत्पुनरुच्यते'** इसमें हम भी यह वाक्य शेष है अर्थात् हम भी यही कहते हैं– **पुनरपि** यहाँ पुनः शब्द उस कहे हुये से विशेष का द्योतक है।

चन्द्रमयूरवैरिति– चन्द्रकिरण आदि का रात्रि आदि के बिना कोई महत्त्व प्राप्त नहीं है। सज्जनों की भी काव्यकथा बिना कैसी साधुता? चन्द्रकिरणों से रात्रि की गुरुता (श्रेष्ठता) उसका भास्वर होना (उज्ज्वलता) और सेव्यता आदि किये जाते हैं, कमलों

ध्वन्यालोकः

इत्यादिषूपमागर्भत्वेऽपि सति वाच्यालङ्कारमुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते न व्यङ्ग्यालङ्कारतात्पर्येण। तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्यः। यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्ग्य-मुखेनैव व्यपदेशो युक्तः।

यहाँ दीपक सादृश्य से अलङ्कार के उदाहरण में गुरूकरण रूप एक धर्माभिसम्बन्ध सादृश्य के कारण उपमा के मध्यपतित होने पर भी वाच्य दीपक अलङ्कार के कारण ही चारुत्व स्थित होता है। व्यङ्ग्यत्व उपमा अलङ्कार के तात्पर्य (प्राधान्य) से नहीं। इसलिये यहाँ वाच्य दीपक अलङ्कार के द्वारा ही काव्य का व्यवहार (दीपिकालङ्कार ध्वनि) कहना उचित है।

और जहाँ वाच्य की स्थिति व्यङ्ग्यपरतया (व्यङ्ग्य की प्रधानतापरक ही) हो वहाँ व्यङ्ग्य के अनुसार ही व्यवहार (नामकरण) करना उचित है। जैसे– इसको

लोचनम्

कुसुमगुच्छैर्लताया अभिगम्यत्वमनोहरत्वादि, हंसैः शारदशोभायाः श्रुतिसुखकरत्वमनोहरत्वादि, तत्सर्वं काव्यकथायाः सज्जनैरित्येतावानय-मर्थो गुरुः क्रियत इति दीपकबलाच्चकास्ति। कथाशब्द इदमाह–आसतां तावत्काव्यस्य केचन सूक्ष्मा विशेषाः, सज्जनैर्विना काव्यमित्येष शब्दोऽपि ध्वंसते। तेषु तु सत्स्वास्ते सुभगं काव्यशब्दव्यपदेशभागपि शब्दसन्दर्भमात्रम्; तथा तैः क्रियते यथादरणीयतां प्रतिपद्यत इति दीपकस्यैव प्राधान्यं नोपमायाः। एवं तु कारिकार्थमुदाहरणेन प्रदर्श्यास्या एव कारिकाया व्यवच्छेद्यबलेन योऽर्थोऽभिमतो यत्र तत्परत्वं स ध्वनेर्मार्ग

से नलिनी की शोभा परिमल लक्ष्मी आदि जो होती है। फूल के गुच्छों से लता का अभिगम्यत्व, मनोहरत्वादि जो होता है और हंसों से शरत्काल की शोभा का श्रुति-सुखकर होना, मनोहरत्व होना आदि जो होता है वह सब सज्जनों द्वारा क्रियमाण कथा से संपन्न होता है इतना अर्थ गौरवान्वित किया जाता है। यह सभी अर्थ दीपक के द्वारा प्रकाशित होता है। कथा शब्द इस बात को कहता है भले ही काव्य के कितने सूक्ष्म विशेष हों किन्तु सज्जनों के बिना वह काव्य शब्द भी नष्ट हो जाता है, किन्तु उन सज्जनों के विद्यमान रहने पर केवल काव्य शब्द के व्यपदेश को धारण करने वाला भी शब्द संदर्भ मात्र सुलभ है उनके द्वारा वह उस प्रकार बना दिया जाता है, जिससे वह लोक में आदरणीयता का पात्र बन जाता है, इस प्रकार यहाँ दीपक का

ध्वन्यालोकः

यथा–

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि।

तो पहले ही लक्ष्मी प्राप्त है फिर यह मुझे पूर्वानुभूत मन्थनजन्य दुःख क्यों देगा? इस समय आलस्यरहित होने के कारण इसको पहले जैसी दीर्घकालीन निद्रा की भी कोई संभावना नहीं जान पड़ती (अतः यह मुझमें शयन क्यों करेगा?

लोचनम्

इत्येवंरूपस्तं व्याचष्टे–*यत्र त्विति*। तत्र च वाच्यालङ्कारेण कदाचिद्व्यङ्ग्यमलङ्कारान्तरं, यदि वा वाच्यालङ्कारस्य सद्भावमात्रं न व्यञ्जकता, वाच्यालङ्कारस्याभाव एव वेति त्रिधा विकल्पः। एतच्च यथायोगमुदाहरणेषु योज्यम्। उदाहरति–*प्राप्तेति*। कस्मिंश्चिदनन्तबलसमुदायवति नरपतौ समुद्रपरिसरवर्तिनि पूर्णचन्द्रोदयतदीयबलावगाहनादिना निमित्तेन पयोधेस्तावत्कम्पो जातः। सोऽनेन सन्देहेनोत्प्रेक्ष्यत इति ससन्देहोत्प्रेक्षयोः सङ्करात्सङ्करालङ्कारो वाच्यः। तेन च वासुदेवरूपता तस्य नृपतेर्ध्वन्यते। यद्यपि चात्र व्यतिरेको भाति, तथापि स पूर्ववासुदेवस्वरूपात्, नाद्यतनात्। अद्यतनत्वे भगवतोऽपि प्राप्तश्रीकत्वेनानालस्येन सकलद्वीपाधिपतिविजयित्वेन च वर्तमानत्वात्।

ही प्राधान्य है उपमा का नहीं। इस प्रकार कारिका के अर्थ को उदाहरण द्वारा प्रदर्शित कर इस कारिका के व्यवच्छेद्य के बल से जो अर्थ अभिमत है, जिसमें ध्वनि का तात्पर्य है वही ध्वनि का मार्ग हैं। उसकी व्याख्या करते हैं **यत्र त्विति–** परन्तु जहाँ। वहाँ तीन प्रकार का विकल्प है– पहला वाच्य अलङ्कार से कभी व्यङ्ग्य अलङ्कारान्तर अथवा दूसरा जहाँ वाच्य अलङ्कार का सद्भाव मात्र है। व्यञ्जकता नहीं है तथा तीसरा जहाँ वाच्य अलंकार का अभाव है। इन प्रकारों को यथोचित उदाहरणों में घटा लेना चाहिये। उदाहरण देते हैं– **प्राप्तेति** जब कि इसे प्राप्त है। किसी अनन्त बलसमुदायसम्पन्न राजा के समुद्रतट पर उपस्थित होने पर पूर्ण चन्द्रोदय अथवा उसके सेनावगाहन के कारण समुद्र कम्पित हो उठा। उसका यह कम्पन इस प्रकार के संदेह से उत्प्रेक्षित हुआ है। इसलिये संदेह और उत्प्रेक्षा के संकर होने से यहाँ संकरालङ्कार वाच्य है। उससे राजा का वासुदेवत्व (श्रीकृष्णस्वरूप) ध्वनित होता है। यद्यपि यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार की भी प्रतीति होती है तथापि यह पूर्व वासुदेव के स्वरूप से न कि अद्यतन वर्त्तमान वासुदेव के स्वरूप से, क्योंकि अद्यतन भगवान् समस्त श्री प्राप्त करने से, अनालस्य और समस्त द्वीपाधिपतियों के विजयीरूप से वर्त्तमान हैं।

ध्वन्यालोकः

सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः ॥

यथा वा ममैव–

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।

सारे द्वीपों के राजा तो इसके अनुचर हो रहे है फिर यह मुझ पर दुबारा सेतु-बन्धन का प्रयास क्यों करेगा? हे राजन्! तुम्हारे समुद्रतट पर आने से मानो इस प्रकार के संदेहों को धारण करने से ही यह समुद्र कम्पित हो रहा है। (रूपक ध्वनि) हैं।

अथवा जैसे मेरा ही **लावण्येति**– हे चञ्चल और दीर्घ नेत्रों को धारण करने वाली प्रिये! कोप कालुष्य के बाद प्रसादोन्मुख मुख के लावण्य और कान्ति से दिगदिगन्तर को पूर्णिमा के चन्द्र के समान परिपूर्ण कर देने वाले तुम्हारे मुख

लोचनम्

न च सन्देहोत्प्रेक्षानुपपत्तिबलाद्रूपकस्याक्षेपः, येन वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्वं व्यङ्ग्यस्य भवेत्। यो योऽसम्प्राप्तलक्ष्मीको निर्व्याजविजिगीषाक्रान्तः स स मां मथ्नीयादित्याद्यर्थसम्भावनात्। न च पुनरपीति पूर्वमिति भूय इति च शब्दैरयमाकृष्टोऽर्थः। पुनरर्थस्य भूयोर्थस्य च कर्तृभेदेऽपि समुद्रैक्यमात्रेणाप्युपपत्तेः। यथा पृथ्वी पूर्वं कार्तवीर्येण जिता पुनरपि जामदग्न्येनेति। पूर्वां निद्रा च सिद्धा राजपुत्राद्यवस्थायामपीति सिद्धं रूपकध्वनिरेवायमिति। शब्दव्यापारं विनैवार्थसौन्द्रर्यबलाद्रूपणाप्रतिपत्तेः। यथा च–

इस स्थिति में संदेह और उत्प्रेक्षा दोनों अनुपपन्न हो जायँगे। इस प्रकार उनकी अनुपपत्ति से केवल रूपक का आक्षेप होगा जिससे व्यङ्ग्य का वाच्यालङ्कार उपस्कारकत्व बन जायगा। ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इस स्थिति में आप संभावना करेगे कि जिसे-जिसे लक्ष्मी प्राप्त न होगी, वह निर्व्याज विजिगीषा से आक्रान्त होगा वह-वह मुझे मथन करेगा इत्यादि। यदि ऐसा कहा कि यह अर्थ **'पुनरपीति, पूर्वमिति, भूय इति च'** इन शब्दों से लाया गया है, तो यह नहीं कह सकते क्योंकि कर्तृभेद होने पर भी समुद्र के एक होने से पुनः इस अर्थ की उपपत्ति हो जायगी। जैसे पृथ्वी को पहले कार्त्तवीर्य ने जीता, फिर जामदग्न्य परशुराम ने भी। राजपुत्रादि अवस्था में

ध्वन्यालोक:

क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥

के मन्द मुसुकानयुक्त होने पर भी इस समुद्र में तनिक भी चञ्चलता दिखाई नहीं पड़ती। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह पयोधि निरा जलराशि (जाड्यपूर्ण और जलसमूहमात्र) ही है।

लोचनम्

ज्योत्स्नापूरप्रसरधवले सैकतेऽस्मिन्सरय्वा
वादद्यूतं सुचिरमभवत्सिद्धयूनोः कयोश्चित्।
एकोवादीत्प्रथमनिहतं केशिनं कंसमन्यो
मत्वा तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्व्वम्॥

इति केचिदुदाहरणमत्र पठन्ति, तदसत्; भवतेत्यनेन शब्दबलेनात्र त्वं वासुदेव इत्यर्थस्य स्फुटीकृतत्वात्।

लावण्यं संस्थानमुग्धिमा, कान्तिः प्रभा ताभ्यां परिपूरितानि संविभक्तानि हृद्यानि सम्पादितानि दिङ्मुखानि येन। अधुना कोपकालुष्यादनन्तरं प्रसादौन्मुख्येन। स्मेरे ईषद्विहसनशीले तरलायते प्रसादान्दोलनविकाससुन्दरे अक्षिणी यस्यास्तस्या आमन्त्रणम्। अथ चाधुना

भी पहली निद्रा सिद्ध है। इस प्रकार यह रूपक ध्वनि ही है यह बात सिद्ध हो गई। क्योंकि शब्दव्यापार के बिना ही अर्थसौन्दर्य के बल से रूपणा की प्रतिपत्रि (अभेदज्ञान) संभव होता हैं। और जैसे **ज्योत्स्नेति।**

चाँदनी के प्रवाह से स्वच्छ सरयू के इस सैकत में किन्ही सिद्ध युवक-युवती की देर तक वाक्कलह चलता रहा। एक ने कहा पहले केशी को मारा, दूसरे ने कहा पहले कंस को मारा। अच्छा अब आप ही समझ कर कहिये कि आप ने उनमें पहले किसको मारा?

यहाँ जो कुछ लोग इस उदाहरण को पढ़ते हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ आपने इस शब्द के बल से यहाँ 'तुम वासुदेव हो' इस अर्थ को स्फुट कर दिया है।

लावण्यमिति– लावण्य अर्थात् संस्थानमुग्धिमा, कान्ति अर्थात् प्रभा इनसे परिपूरित संविभक्त अर्थात् हृद्य बना दिया है दिशाओं को जिसने। अभी अर्थात् कोपकालुष्य से अनन्तर अर्थात् प्रसन्नता के प्रति उन्मुखता के कारण। स्मेर अर्थात् मन्द-मन्द मुस्कराहट (स्मित) तथा तरलायताक्षि तरल और प्राप्त प्रसन्नता के

ध्वन्यालोकः

इत्येवंविधे विषयेऽनुरणनरूपरूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद्रूपकध्वनिरिति व्यपदेशो न्याय्यः।

उपमाध्वनिर्यथा–

इस प्रकार के उदाहरणों में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूपक के आश्रय से ही काव्य का चारुत्व व्यवस्थित होता है। इसलिये यहाँ रूपकध्वनि यह व्यवहार (नामकरण) उचित है।

उपमाध्वनि का उदाहरण जैसे–

लोचनम्

न एति, वृत्ते तु क्षणान्तरे क्षोभमगमत्। कोपकषायपाटलं स्मेरं च तव मुखं सन्ध्यारुणपूर्णशशधरमण्डलमेवेति भाव्यं क्षोभेण चलचित्ततया सहृदयस्य। न चैति तत्सुव्यक्तमन्वर्थतायं जलराशिर्जाड्यसञ्चयः। जलादयः शब्दा भावार्थप्रधाना इत्युक्तं प्राक्। तत्र च क्षोभो मदनविकारात्मा सहृदयस्य त्वन्मुखावलोकनेन भवतीतीयत्यभिधाया विश्रान्ततया रूपकं ध्वन्यमानमेव। वाच्यालङ्कारश्चात्र श्लेषः, स च न व्यञ्जकः। अनुरणनरूपं यद्रूपकमर्थशक्तिव्यङ्ग्यं तदाश्रयेणेह काव्यस्य चारुत्वं व्यवतिष्ठते। ततस्तेनैव व्यपदेश इति सम्बन्धः। तुल्ययोजनत्वादुपमाध्वन्युदाहरणयोर्लक्षणं स्वकण्ठेन न योजितम्।

आन्दोलनजनित विकास से सुन्दर आँखें हैं जिसकी उसका यह आमन्त्रण अर्थात् संबोधन हैं। और यह इस समय क्षोभप्राप्त नहीं करता– अभी क्षणभर पहले क्षोभप्राप्त किया था। कोपकषायपाटल और स्मेर तुम्हारा यह मुख सन्ध्यारुण और पूर्ण चन्द्रमण्डडल ही है। चलचित्त होने के कारण सहृदय व्यक्ति को क्षुब्ध होना उचित ही है फिर भी यह समुद्र क्षुब्ध नहीं हुआ। इसलिये यह स्पष्ट हो गया कि यह समुद्र जलराशि है अर्थात् 'जाड्य यथार्थतः' जाड्यराशि हैं। यह पहले कह चुके हैं कि जल आदिशब्द भावार्थ प्रधान जाड्य अर्थक हैं। यहाँ सहृदय व्यक्ति को तुम्हारे मुख के अवलोकन के कारण मदनविकाररूप क्षोभ होता है। इतने में अभिधा के विश्रान्त हो जाने के कारण रूपक ध्वन्यमान ही है। यहाँ वाच्य अलङ्कार श्लेष है पर वह व्यञ्जक नहीं है। अनुरणन रूप अर्थशक्ति से व्यङ्ग्य रूपक के आश्रय से यहाँ काव्य का चारुत्व व्यवस्थित होता है। इसलिये उसी से व्यपदेश (व्यवहार-नामकरण) है। योजना के समान होने के कारण उपमाध्वनि के दोनों उदाहरणों का लक्षण अपने शब्द द्वारा प्रस्तुत नहीं किया है।

ध्वन्यालोकः

वीराणं रमइ घुसिणरुणम्मि ण तदा पिआथणुच्छङ्गे ।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह बहलसिन्दूरे ॥

यथा वा ममैव विषमबाणलीलायामसुरपराक्रमणे कामदेवस्य–

तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेन ॥
(तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।

वीरों की दृष्टि प्रियतमा के कुङ्कुमरञ्जित उरोजों में उस प्रकार रमण नहीं करती जितनी सिन्दूरानुलिप्त शत्रु के हाथियों के कुम्भस्थलों में रमण करती है। अथवा जैसे मेरे द्वारा रचित विषमवाणलीला नामक काव्य में कामदेव के असुरविषयक पराक्रम के वर्णन के प्रसङ्ग में–

लक्ष्मी के सहोदर अत्यन्त उत्कृष्ट कौस्तुभरत्न के आहरण में तत्पर हुये उन असुरों के सदैव युद्धोद्यत हृदय को कामदेव ने प्रियाओं के अधरबिम्ब के रसास्वाद में तत्पर कर दिया।

लोचनम्

वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे ।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे ॥

प्रसाधितप्रियतमाश्वासनपरतया समनन्तरीभूतयुद्धत्वरितमनस्कतया च दोलायमानदृष्टित्वेऽपि युद्धे त्वरातिशय इति व्यतिरेको वाच्यालङ्कारः। तत्र तु येयं ध्वन्यमानोपमा प्रियाकुचकुड्मलाभ्यां सकलजनत्रासकरेष्वपि शात्रवेषु मर्दनोद्यतेषु गजकुम्भस्थलेषु तद्वशेन रतिमाददानानामिव बहुमान इति सैव वीरतातिशयचमत्कारं विधत्त इत्युपमायाः प्राधान्यम्। *असुरपराक्रमण* इति। त्रैलोक्यविजयो हि तत्रास्य वर्ण्यते। तेषामसुराणां

वीराणामिति शृङ्गार के प्रसाधनों से युक्त प्रियतमा के आश्वासन में लगे होने के कारण तथा तत्क्षण होने वाले युद्ध में त्वरित मनस्क होने के कारण दृष्टि के दोलायमान होने पर भी युद्ध में वीरों को अतिशय त्वरा होती है। यह व्यतिरेक वाच्य अलङ्कार है जो यहाँ प्रिया के कुचकुड्मलों से उपमा ध्वनित हो रही है समस्त जनों को भीत करने वाले भी मर्दन के लिये उद्यत शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थलों में उस उपमा के कारण रति धारण करते हुये वीरों का बहुमान है इस कारण वही ध्वन्यमान उपमा वीरतातिशय का चमत्कार उत्पन्न करती हैं। अतः उपमा का प्राधान्य है। **असुरपराक्रमण इति**– असुरों पर पराक्रम के अवसर में। यहाँ कामदेव द्वारा त्रैलोक्यविजय का वर्णन करते हैं

ध्वन्यालोक:

बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥ इति छाया)

आक्षेपध्वनिर्यथा–

स वक्तुमखिलान् शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान् ।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः ॥

अत्रातिशयोक्त्या हयग्रीवगुणानामवर्णनीयताप्रतिपादनरूपस्यासाधारणतद्विशेषप्रकाशनपरस्याक्षेपस्य प्रकाशनम्।

आक्षेप ध्वनि का उदाहरण जैसे स **वक्तुमिति**–

हयग्रीव भगवान् के समस्त गुणों को वहीं कह सकता है जो जल के घड़ों से महासमुद्र के परिणाम को जानने में समर्थ है।

यहाँ अतिशयोक्ति से हयग्रीव के गुणों की अवर्णनीयता का प्रतिपादन रूप असाधारणविशेषताप्रकाशनपरक आक्षेप अलङ्कार व्यङ्ग्य हैं। अत: यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्य आक्षेप ध्वनि का उदाहरण है।

लोचनम्

पातालवासिनां यैः पुनः पुनरिन्द्रपुरावमर्दनादि किं किं न कृतं तद्धृदयमिति यत्तेभ्यस्तेभ्योऽतिदुष्करेभ्योऽप्यकम्पनीयव्यवसायं तच्च। श्रीसहोदराणामत एवानिर्वाच्योत्कर्षाणामित्यर्थः। तेषां रत्नानामासमन्ताद्धरणे एकरसं तत्परं यद्धृदयं तत्कुसुमबाणेन सुकुमारतरोपकरणसम्भारेण प्रियाणां बिम्बाधरे निवेशितम्, तदवलोकनपरिचुम्बनदर्शनमात्रकृतकृत्यताभिमानयोगि तेन कामदेवेन कृतम्। तेषां हृदयं यदत्यन्तं विजिगीषाज्वलनजाज्वल्यमानमभूदिति यावत्। अत्रादिशयोक्तिर्वाच्यालङ्कारः। प्रतीयमाना चोपमा। सकलरत्नसारतुल्यो बिम्बाधर इति हि तेषां बहुमानो वास्तव एव। अत एव न रूपकध्वनिः। रूपकस्यारोप्यमाणत्वेनावास्तवत्वात्।

जिन्होंने बारबार उस अमरावती (इन्द्रपुरी) का अवमर्दन आदि क्या नहीं किया। उन पातालवासी असुरों का हृदय और जो उन-उन अतिदुष्कर कार्यों से अकम्पनीय व्यवसाय वाला है वहाँ। लक्ष्मी के साथ पैदा होने वाले जिनके उत्कर्ष का वर्णन नहीं किया जा सकता। उन रत्नों के समग्रतया हरण में एक रस (तत्पर- संलग्न) जो हृदय वह सुकुमारतर उपकरण (संभार) वाले (फूलों के बाण वाले) कामदेव ने प्रियाओं के बिम्बाधर में संलग्न कर दिया। अर्थात् उस कामदेव ने असुरों के हृदय को प्रियाओं के अवलोकन, परिचुम्बन केवल दर्शनमात्र से अपने को कृतकृत्य मान लेने वाला बना दिया। उनका यह हृदय जो अत्यन्त विजयेच्छा की अग्नि से प्रज्वलित हो रहा था। यहाँ

ध्वन्यालोकः

अर्थान्तरन्यासध्वनिः शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्योऽर्थ-शक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्च सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणम्–

देव्वाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणा भणिमो ।
कङ्किल्लपल्लवाः पल्लवाणँ अण्णाण ण सरिच्छा ॥

अर्थान्तरन्यासध्वनि शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और अर्थशक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दोनों प्रकार का हो सकता है। उसमें प्रथम शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित है **दैवायत्त** इति–

फल भाग्य के अधीन है, इसमें हम क्या कर सकते हैं, कुछ भी नहीं कर सकते फिर भी इतना तो सच है कि रक्त अशोक के पल्लव अन्य पल्लवों के समान नहीं होते।

लोचनम्

तेषामसुराणां वस्तुवृत्त्यैव सादृश्यं स्फुरति। तदेव च सादृश्यं चमत्कारहेतुः प्राधान्येन। *अतिशयोक्त्येति।* वाच्यालङ्काररूपयेत्यर्थः। अवर्णनीयता-प्रतिपादनमेवाक्षेपस्य रूपमिष्टप्रतिषेधात्मकत्वात्। तस्य प्राधान्यं विशेषणद्वारेणाह–*असाधारणेति।*

***सम्भवतीत्यनेन* प्रसङ्गाच्छब्दशक्तिमूलस्यात्र विचार इति दर्शयति।**

दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत्पुनर्भणामः ।
रक्ताशोकपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः ॥

अशोकस्य फलमाम्रादिवन्नास्ति, किं क्रियतां पल्लवास्त्वतीव हृद्या इतीयताभिधा समाप्तैव। अत्र फलशब्दस्य शक्तिवशात्समर्थकमस्य वस्तुनः

अतिशयोक्ति वाच्य अलङ्कार है और उपमा प्रतीयमान है, क्योंकि उनका यह बहुमान कि बिम्बाधर समस्त रत्नों के सारतुल्य है, वास्तव है अतएव रूपक ध्वनि नहीं है। क्योंकि रूपक आरोप्यमाण होने से वास्तविक नहीं होता। उन असुरों को वस्तुतः सादृश्य स्फुरित होता है और वही सादृश्य प्रधान के रूप में चमत्कार का हेतु है। **अतिशयोक्त्येति** अर्थात् वाच्यालङ्कार रूप अतिशयोक्ति से। अवर्णनीयता का प्रतिपादन ही आक्षेप का लक्षण है, क्योंकि वह इष्ट का प्रतिषेध रूप होता है। उसका प्राधान्य विशेषण द्वारा होता है इसे कहते हैं– **असाधारणेति संभवतीत्यनेन** इस शब्द से प्रसङ्गप्राप्त शब्दशक्तिमूल का यह विचार है इसे प्रदर्शित करते हैं– **दैवायत्त** इति। फल दैवाधीन है। इस विषय में हम कह ही क्या सकते हैं?

अशोक का फल आम आदि की भाँति नहीं है, इसमें क्या किया जा सकता है? परन्तु यह सच है कि इसके लाल पल्लव अत्यन्त हृद्य हैं जो अन्य पल्लवों

ध्वन्यालोकः

पदप्रकाशश्चायं ध्वनिरिति वाक्यस्यार्थान्तरतात्पर्येऽपि सति न विरोधः। द्वितीयस्योदाहरणं यथा–

हिअअट्ठाबिअमण्णुं अवरुण्णमुहं हि मं पसाअन्त ।
अवरद्धस्स वि ण हु दे पहुजाणअ रोसिउं सक्कम् ॥
(हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन् ।
अपराद्धस्यापि न खलु ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम् ॥ इति छाया)

यह ध्वनि पदप्रकाश्य होता है। इसलिये वाक्य का अर्थान्तर अप्रस्तुत-प्रशंसा में तात्पर्य होने पर भी अर्थान्तरन्यास के पदप्रकाश्य होने से कोई विरोध नहीं होता है।

द्वितीय (अर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रम) का उदाहरण जैसे **हृदयेति**–

हृदय में क्रोध भरे रहने पर भी मुख पर उस क्रोध का भाव न प्रकट करने वाली मुझको तुम मना रहे हो इसलिये प्रकटभाव से अधिक हृदस्थ भाव को जानने वाले हे बहुज्ञ! तुम्हारे अपराधी होने पर भी तुम पर रोष नहीं किया जा सकता।

लोचनम्

पूर्वमेव प्रतीयते। लोकोत्तरजितगीषातदुपायप्रवृत्तस्यापि हि फलं सम्पल्लक्षणं दैवायत्तं कदाचिन्न भवेदपीत्येवंरूपं सामान्यात्मकम्। नन्वस्य सर्ववाक्यस्याप्रस्तुतप्रशंसा प्राधान्येन व्यङ्ग्या तत्कथमर्थान्तरन्यासस्य व्यङ्ग्यता, द्वयोर्युगपदेकत्र प्राधान्यायोगादित्याशङ्क्याह–*पदप्रकाशेति*। सर्वो हि ध्वनिप्रपञ्चः पदप्रकाशो वाक्यप्रकाशश्चेति वक्ष्यते। तत्र फलपदेऽ-र्थान्तरन्यासध्वनिः प्राधान्येन वाक्ये त्वप्रस्तुतप्रशंसा। तत्रापि पुनः फलपदोपात्तसमर्थ्यसमर्थकभावप्राधान्यमेव भातीत्यर्थान्तरन्यासध्व-निरेवायमिति भावः।

के सदृश नहीं होते। यहाँ इतने तक अभिधा समाप्त हो जाती हैं। फल शब्द से शक्तिवश इस वस्तु का समर्थन पहले ही प्रतीत होता है। लोकोत्तर विजयेच्छा का भी सम्यक् प्रयास के बाद भी फल कदचित् न भी हो इस प्रकार के सामान्य का समर्थक है। इस समय वाक्य का प्रधान रूप से व्यङ्ग्य अप्रस्तुतप्रशंसा है। तब अर्थान्तरन्यास का व्यङ्ग्यत्व कैसे ? क्योंकि दोनों का एक कालावच्छेदेन प्राधान्य संभव नहीं होगा। ऐसी आशङ्का करके कहते हैं– **पदप्रकाशेति** आगे चलकर कहेंगे कि सारा ध्वनिप्रपञ्च पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश होता है। यहाँ फल पद में अर्थान्तरन्यास ध्वनि प्रधान

ध्वन्यालोकः

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापराधस्यापि बहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं सामान्यमन्वितमन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते।

व्यतिरेकध्वनिरप्युभयरूपः सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणं प्राक्प्रदर्शितमेव।

यहाँ वाच्यार्थ विशेष बहुज्ञ के सापराध होने पर भी उस पर क्रोध करना संभव नहीं है, यह समर्थक अर्थ सामान्य तात्पर्य से सम्बद्ध अन्य विशेष को अभिव्यक्त करता है अतः अर्थान्तरन्यासध्वनि है।

लोचनम्

हृदये स्थापितो न तु बहिः प्रकटितो मन्युर्यया। अत एवाप्रदर्शितरोषमुखीमपि मां प्रसादयन् हे बहुज्ञ, अपराद्धस्यापि तव न खलु रोषकरणं शक्यम्। अत्र बहुज्ञेत्यामन्त्रणार्थो विशेषे पर्यवसितः। अनन्तरं तु तदर्थपर्यालोचनाद्यत्सामान्यरूपं समर्थकं प्रतीयते तदेव चमत्कारकारि। सा हि खण्डिता सती वैदग्ध्यानुनीता तं प्रत्यसूयां दर्सयन्तीत्थमाह। यः कश्चिद्बहुज्ञो धूर्तः स एवं सापराधोऽपि स्वापराधावकाशमाच्छादयतीति मा त्वमात्मनि बहुमानं मिथ्या ग्रहीरिति। *अन्वितमिति।* विशेषे सामान्यस्य संबद्धत्वादिति भावः।

***व्यातिरेकध्वनिरपीति।* अपिशब्देनार्थान्तरन्यासवदेव द्विप्रकारत्वमाह। *प्रागिति।* 'खं येऽत्युज्जवलयन्ति' इति। 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः' इति। जायेय,**

रूप से है और वाक्य में अप्रस्तुतप्रशंसा है। भाव यह कि वहाँ भी फिर फल शब्दोपात्त समर्थ्यसमर्थकभाव का प्राधान्य ही प्रतीत होता है अतः यह अर्थान्तरन्यासध्वनि है।

हृदयेति– हृदय में स्थापित किया है न कि बाहर प्रकट किया है मन्यु (क्रोध) को जिसने। अतएव रोष न करने वाली भी मुझे प्रसन्न करते हुये हे बहुज्ञ! (विशेषज्ञ!) अपराधी होने पर भी तुम पर रोष करना उचित नहीं। यहाँ बहुज्ञ पद आमन्त्रणार्थ विशेष में पर्यवसित है। बाद में उसके अर्थ के पर्यालोचन से जो सामान्य रूप समर्थक प्रतीत होता है वही चमत्कारकारी है। खण्डिता नायिका (नायक द्वारा) विदग्धता से अनुनय किये जाने पर उसके द्वारा असूया प्रकट करती हुई इस प्रकार कहती है– जो कोई बहुज्ञ धूर्त्त है वह इस प्रकार अपराधी होकर भी अपने अपराधों को छिपाता है, इसलिये तुम अपने में मिथ्या बहुमान (बड़प्पन) मत रखो। **अन्वितमिति** भाव यह कि यहाँ विशेष से सामान्य सम्बद्ध होता है।

व्यतिरेकध्वनिरिति– यहाँ अपि शब्द से अर्थान्तरन्यास की भाँति व्यतिरेक-ध्वनि भी दो प्रकार का होता है। उसमें पहले का उदाहरण **'खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति'**

ध्वन्यालोकः

द्वितीयस्योदाहरणं यथा–

जाएज्ज वणुद्देसे खुज्ज व्विअ पाअवो गडिअवत्तो ।
मा माणुसम्मि लोए ताएक्करसो दरिद्दो अ ॥
(जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो गलितपत्रः ।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च ॥
इति छाया)

अत्र हि त्यागैकरसस्य दरिद्रस्य जन्मानभिनन्दनं त्रुटितपत्रकुब्जपादपजन्माभिनन्दनं चा साक्षाच्छब्दवाच्यम्। तथाविधादपि

व्यतिरेक ध्वनि भी शब्दशक्त्युत्थ और अर्थशक्त्युत्थ दोनों प्रकार का हो सकता है। उनमें प्रथम शब्दशक्त्युत्थ का उदाहरण '**खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति**' में पहले दिखा चुके हैं। दूसरे अर्थशक्त्युत्थ का उदाहरण जैसे **जायेय** इत्यादि।

एकान्त सर्वथा निर्जन वन में पत्ररहित कुबड़ा वृक्ष बन कर भले ही दीप्त हो जाऊँ परन्तु त्याग में रुचियुक्त दरिद्र होकर मनुष्यलोक में न पैदा होऊँ।

यहाँ त्याग की रुचि वाले दरिद्र पुरुष की निन्दा तथा निर्जन वन में उत्पन्न पत्रविहीन कुब्ज वृक्ष के जन्म का अभिनन्दन शब्दों से साक्षात् वाच्य है। और वह वाच्य उस प्रकार के वृक्ष से भी उस प्रकार के पुरुष की शोचनीयता के

लोचनम्

वनोद्देश एव वनस्यैकान्ते गहने यत्र स्फुटतरबहुवृक्षसम्पत्त्या प्रेक्षतेऽपि न कश्चित्। कुब्ज इति रूपघटनादावनुपयोगी। *गलितपत्र इति।* छायामपि न करोति तस्य का पुष्पफलवत्तेत्यभिप्रायः। तादृशोऽपि कदाचिदाङ्गारिकस्योपयोगी भवेदुलूकादीनां वा निवासायेति भावः। *मानुष इति।* सुलभार्थिजन इति भावः। *लोक इति।* यत्र लोक्यते सोऽर्थिभिस्तेन

और '**रक्तस्त्वं नवपल्लवै**, यह पहले दिखाया जा चुका है। अब द्वितीय का उदाहरण प्रदर्शित करते हैं– '**जायेय**' इति वन के एकान्त गहन प्रदेश में जहाँ स्पष्ट रूप से अनेक वृक्षों के कारण कोई दिखाई नहीं देता। **कुब्ज** इति कुबड़ा अर्थात् रूप घटना आदि के सम्बन्ध में अनुपयोगी। **गलितपत्र** इति। जो छाया भी नहीं देता इससे पुष्पफलादि की आशा भी कैसी? भाव यह कि उस प्रकार के वृक्ष कदाचित् जलाने के उपयोग में आ जाय अथवा उलूकादिकों के निवास के लिये उपयोगी सिद्ध भी हों। **मानुष इति** भाव यह कि जहाँ अर्थीजन सुलभ हैं। **लोक इति** अर्थात् जहाँ अर्थीजनों

ध्वन्यालोकः

पादपात्तादृशस्य पुंस उपमानोपमेयत्वप्रतीतिपूर्वकं शोच्यताया-माधिक्यं तात्पर्येण प्रकाशयति। उत्प्रेक्षाध्वनिर्यथा–

चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः।
मूर्च्छयत्येष पथिकान्मधौ मलयमारुतः॥

अत्र हि मघौ मलयमारुतस्य पथिकमूर्च्छाकारित्वं मन्मथोन्माथ-दायित्वेनैव। तत्तु चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितत्व-

आधिक्य को वाक्य से उपमानोपमेयत्वभाव (सादृश्य) प्रतीतिपूर्वक तात्पर्यरूप से व्यञ्जना द्वारा प्रकाशित करता है अतएव यहाँ अर्थशक्तिमूलव्यतिरेकध्वनि है।

(यहाँ वाच्य कोई अलङ्कार नहीं है अतएव स्वतः संभवी वस्तु से व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है।)

उत्प्रेक्षाध्वनि का उदाहरण जैसे— **चन्दनेति**।

चन्दन वृक्ष में लिपटे हुये सर्पों के निःश्वासवायु से मूर्च्छित (अर्थात् वृद्धिं गत) यह मलयानिल वसन्त ऋतु में पथिकों को मूर्च्छित करता है।

यहाँ वसन्त ऋतु में कामोद्दीपन द्वारा पीड़ाकारी होने से ही मलयानिल पथिकों को मूर्च्छाकारी होता है। परन्तु यह मूर्च्छाकारित्व चन्दन वृक्ष में लिपटे हुये साँपों के निःश्वासवायु से मूर्च्छित (वृद्धिंगत) वायु होने के कारण उत्प्रेक्षित किया गया है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा साक्षात् उत्प्रेक्षावाचक शब्दों से कथित न होने पर भी वाक्यार्थ सामर्थ्य से संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप में प्रतीत हो रही है इस

लोचनम्

चार्थिजनो न च किंचिच्छक्यते कर्तुं तन्महद्वैशसमिति भावः। अत्र वाच्यालङ्कारो न कश्चित्। उपमानेत्यनेन व्यतिरेकस्य मार्गपरिशुद्धिं करोति। *आधिक्यमिति।* व्यतिरेकमित्यर्थः। *उत्प्रेक्षितमिति।* विषवातेन हि मूर्च्छितो बृंहित उपचितो मोहं करोति। एकश्च मूर्च्छितः पथिकमध्येऽन्येषामपि धैर्यच्युतिं विदधन्मूर्च्छां करोतीतीत्युभयथोत्प्रेक्षा। नन्वत्र

से वह अथवा उससे अर्थीजन देखे जाते हैं। वहाँ यदि कुछ नहीं कर सकते हैं तो यह महान् अपराध है, यहाँ कोई वाच्य अलङ्कार नहीं है। उपमान इस शब्द से व्यतिरेक मार्ग का परिशोधन करते हैं। **आधिक्यमिति** अर्थात् व्यतिरेक। **उत्प्रेक्षितमिति** मूर्च्छित या उपचित होकर भी जो मोह उत्पन्न करता है। और एक पथिकों के बीच मूर्च्छित होकर अन्य पथिकों को भी मूर्च्छित करता है। यहाँ इन दोनों प्रकारों

ध्वन्यालोकः

लेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थसामर्थ्यादनुरणनरूपा लक्ष्यते। न चैवंविधे विषये इवादिशब्दप्रयोगमन्तरेणासंबद्धतैवेति शक्यते वक्तुम्। गमकत्वादन्यत्रापि तदप्रयोगे तदर्थावगतिदर्शनात्। यथा–

प्रकार के उदाहरणों में उत्प्रेक्षावाचक इव आदि शब्दों के प्रयोग के बिना उत्प्रेक्षा आदि का सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह नहीं कहा जा सकता है। बोद्धा की प्रतिभा के सहयोग से चन्दनासक्त इत्यादि विशेषण के उत्प्रेक्षाबोधक होने से अन्य उदाहरणों में भी उन इवादि शब्दों के प्रयोग के बिना भी उत्प्रेक्षा की प्रतीति देखी जा सकती है। जैसे **ईर्ष्येति**–

लोचनम्

विशेषणमधिकीभवद्धेतुतयैव सङ्गच्छते। ततः किं? न हि हेतुता परमार्थतः। तथापि तु हेतुता उत्प्रेक्ष्यत इति यत्किञ्चिदेतत्। ***तदिति।*** **तस्येवादेरप्रयोगेऽपि तस्यार्थस्येत्युत्प्रेक्षारूपस्यावगतेः प्रतीतेर्दर्शनात्। एतदेवोदाहरति–*यथेति।* ईर्ष्याकलुषस्यापीषदरुपणच्छायाकस्य। यदि तु प्रसन्नस्य मुखस्य सादृश्यमुद्वहेत्सर्वदा वा तत्किं कुर्यात्त्वन्मुखं त्वेतद्भवतीति मनोरथानामप्यपथमिदमित्यपिशब्दस्याभिप्रायः। अङ्गे स्वदेहे न मात्येव दश दिशः पूरयति यतः। अद्येयता कालेनैकं दिवसमात्रमित्यर्थः। अत्र पूर्णचन्द्रेण दिशां पूरणं स्वरससिद्धमेवमुत्प्रेक्ष्यते।**

से उत्प्रेक्षा है। यहाँ शङ्का करते हैं कि यहाँ विशेष अधिक होने के कारण हेतु रूप से संगत होता है। समाधान करते हैं– इससे क्या हुआ। परमार्थत: हेतुत्व नहीं है तब भी हेतुत्व उत्प्रेक्षित होता है अत: यह यत्किञ्चित् है। **तदिति** उसका। क्योंकि यहाँ उन 'इवादि' शब्दों का प्रयोग न होने पर उत्प्रेक्षा रूप इस अर्थ की अवगति या प्रतीति देखी जाती है। इसी का उदाहरण देते हैं– जैसे **ईर्ष्याकलुषेति** ईर्ष्या से कलुष अर्थात् ईषद् लाल छाया वाला भी। परन्तु यदि प्रसन्न मुख का सादृश्य धारण करता तो उस समय क्या कर डालता? इस पर कहते हैं– तब यह बात मनोरथ से भी परे हो जाती। अर्थात् वह मनोरथों का विषय नहीं होता। यह अपि शब्द का अभिप्राय है। **अङ्ग एव न माति** अर्थात् अपने शरीर में नहीं समाविष्ट हो रहा है। इसलिये दिशाओं को पूर्ण करता है। **अद्य** केवल इतने मात्र काल में अर्थात् इस एक दिन मात्र। यहाँ पूर्णिमा के चन्द्र से दिशाओं को पूर्ण करना यह स्वरस सिद्ध अनुवाद मात्र है जिसकी उत्प्रेक्षा की गई है।

ध्वन्यालोकः

ईसाऽकलुसस्स वि तुह भुहस्स णं एस पुण्णिमाचन्दो।
अज्ज सरिसत्तणं पाविऊण अङ्गे विअ ण माइ॥
(ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः।
अद्य सदृशत्वं प्राप्याङ्ग एव न माति॥ इति छाया)

यथा वा–

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्
पुंभिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनाभि-
राकर्णपूर्णनयनेषुहतेक्षणश्रीः॥

आज यह पूर्णिमाचन्द्र तुम्हारे ईर्ष्या से मलिन मुख की समानता पा कर मानो अपने शरीर में समा नहीं रहा है।

अथवा वाचक के अभाव में उत्प्रेक्षा का दूसरा उदाहरण जैसे **त्रासाकुल** इति–

भय से व्याकुल घरों के चारों ओर घूमते हुये इस हरिण का किन्हीं धनुर्धारी पुरुषों ने पीछा नहीं किया, फिर भी स्त्रियों के कानों तक फैले हुये नेत्र के बाणों से अपने सर्वस्वभूत नयनश्री के नष्ट कर दिये जाने के कारण मानो वह कहीं ठहर नहीं सका।

लोचनम्

ननु ननुशब्देन वितर्कोत्प्रेक्षारूपमाचक्षाणेनासम्बद्धता निराकृतेति सम्भावयमान उदाहरणान्तरमाह–*यथा वेति।* परितः सर्वतो निकेतान् परिपतन्नाक्रमन्न कैश्चिदपि चापपाणिभिरसौ मृगोऽनुबद्धस्तथापि न क्वचित्तस्थौ त्रासचापलयोगात्स्वाभाविकादेव। तत्र चोत्प्रेक्षा ध्वन्यते- अङ्गनाभिराकर्णपूर्णैर्नेत्रशरैर्हता ईक्षणश्रीः सर्वस्वभूता यस्य यतोऽतो न

यहाँ शङ्का करते हैं कि इस श्लोक में ननु शब्द से वितर्करूप उत्प्रेक्षा के स्वरूप का अभिधान करते हुये असम्बद्धता का निराकरण किया गया है। इसलिये दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अथवा जैसे **त्रासाकुल इति**।

घर के चारों ओर दौड़ते हुये उस मृग का यद्यपि किसी धनुर्धारी ने पीछा नहीं किया तथापि भयवश वह अपनी चञ्चलता त्याग न कर कूदता ही रहा। कहीं ठहरा नहीं, इसकी उत्प्रेक्षा करते हुये कहते हैं कि अङ्गनाओं के कान तक खीचे गये नेत्र-

ध्वन्यालोकः

शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्।

श्लेषध्वनिर्यथा–

रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः॥

शब्द और अर्थ के व्यवहार में सहृदयानुरूप प्रसिद्धि ही अर्थप्रतीति में प्रमाण है। श्लेषध्वनि का उदाहरण जैसे–

जिस द्वारका नगरी में नवयुवकगण-सुन्दरता के लिये प्रसिद्धि प्राप्त करने वाली, एकान्त में रहने के कारण रम्या अर्थात् विशुद्ध वेष-भूषा से उज्ज्वल होने के कारण अनुराग को बढ़ाने वाली त्रिवलीयुक्त वधुओं के साथ रमणीयता के कारण पताकाओं से अलङ्कृत, एकान्त होने के कारण कामोद्दीपक और झुके हुये वलभी (छज्जाओं) से युक्त अपने कूटागारों (गुप्त निजी आवासों) का सेवन करते थे।।

लोचनम्

तस्थौ। नन्वेतदप्यसम्बद्धमस्त्वित्याशङ्क्याह–*शब्दार्थेति।* पताका ध्वजपटान् प्राप्तवती। रम्या इति हेतोः। पताकाः प्रसिद्धीः प्राप्तवतीः। किमाकाराः प्रसिद्धीः रम्या इत्येवमाकाराः। विविक्ता जनसङ्कुलत्वाभावादित्यतो हेतो रागं सम्भोगाभिलाषं वर्धयन्तीः। अन्ये तु रागं चित्रशोभामिति। तथा रागमनुरागं वर्धयन्तीः। यतो हेतोः विविक्ता विभक्ताङ्ग्यो लटभाः याः। नमन्ति वलीकानि छदिपर्यन्तभागा यासु। नमन्त्यो वल्ल्यस्त्रिवलीलक्षणा यासाम्। सममिति सहेत्यर्थः। ननु समशब्दात्तुल्यार्थोऽपि प्रतीतः। सत्यम्; सोऽपि श्लेषबलात्। श्लेषश्च नाभिधावृत्तेराक्षिप्तः, अपि त्वर्थसौन्दर्यबलादेवेति सर्वथा ध्वन्यमान एव श्लेषः। अत एव वध्व इव वलभ्य इत्यभिदधतापि

शरों से उसके सर्वस्वभूत नेत्र की शोभा जो हत हो गई थी इस कारण वह रुका नहीं। अब यहाँ भी संदेह करते हैं कि यह भी असम्बद्ध हैं। इसका उत्तर देते हैं– **शब्दार्थेति। पताकाः** अर्थात् ध्वजपटों को प्राप्त करती हुई रम्य होने के कारण पक्षान्तर में पताका प्रसिद्धि प्राप्त करती हुई। किस प्रकार की प्रसिद्धि रम्य आकार की। **विविक्ता** लोगों के भीड़-भाड़ न होने के कारण राग-संम्भोगाभिलाष को वर्धयन्ती बढ़ाती हुई। अन्य लोग राग का अर्थ चित्रशोभा करते हैं। उस प्रकार राग अर्थात् अनुराग बढ़ाती हुई। जिस कारण से विविक्त विभक्त अङ्गों वाली ललनायें झुकी हुई है। उसी प्रकार वलीक अर्थात् छज्जे भी झुके हुये हैं जिनमें। दूसरे अर्थ में झुकी हुई हैं वलियाँ अर्थात्

ध्वन्यालोक:

अत्र वधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वध्व इव वलभ्य इति श्लेषप्रतीतिरशब्दाप्यर्थसामर्थ्यान्मुख्यत्वेन वर्तते।

यथासङ्ख्यध्वनिर्यथा–

अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः।
अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च हृदि मदनः॥

यहाँ वधुओं के साथ नवयुवकगण वलभीयुक्त (कूटागारों) का सेवन करते थे।

इस वाक्यार्थप्रतीति के बाद वधुओं के समान कूटागार इस श्लेष की प्रतीति भी अर्थसामर्थ्य से मुख्यरूप में होती है। अत: यहाँ स्वत: संभवी वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्यरूप श्लेषध्वनि है।

यथासंख्य अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण जैसे **अङ्कुरित** इति।

आम के वृक्ष से जैसे पहले अङ्कुर निकले, फिर वह पल्लव बन गये, फिर बौर की कली आई ओर वह खिल गई। इसी क्रम से हृदय में कामदेव अङ्कुरित, पल्लवित, मुकुलित और विकसित हुआ।

लोचनम्

वृत्तिकृतोपमाध्वनिरिति नोक्तम्। श्लेषस्यैवात्र मूलत्वात्। समा इति हि यदि स्पष्टं भवेत्तदोपमाया एव स्पष्टत्वाच्छ्लेषस्तदाक्षिप्तः स्यात्। सममिति निपातोऽञ्जसा सहार्थवृत्तिर्व्यञ्जकत्वबलेनैव क्रियाविशेषणत्वेन शब्दश्लेषतामेति। न च तेन विनाभिधाया अपरिपुष्टता काचित्। अत एव समाप्तायामेवाभिधायां सहृदयैरेव स द्वितीयोऽर्थोऽपृथक्प्रयत्नेनैवावगम्यः। यथोक्तं प्राक्–'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव' इत्यादि। एतच्च सर्वोदाहरणेष्वनुसर्तव्यम्। 'पीनश्चैत्रो दिवा नात्ति' इत्यत्राभिधैवापर्यवसितेति

त्रिवलियाँ जिनकी। **समं** अर्थात् साथ। शङ्का करते हैं कि सम शब्द तुल्यार्थक भी है। समाधान करते हैं– ठीक है वह भी श्लेष के बल से। अर्थात् यहाँ सम का तुल्य अर्थ भी श्लेष के बल से ही प्रतीत होता है। यहाँ श्लेष अभिधावृत्ति से आक्षिप्त नहीं अपितु अर्थसौन्दर्य के बल से आक्षिप्त है। इसलिये श्लेष सर्वथा ध्वन्यमान ही है। इसीलिये वधुओं के समान वलभी यह करते हुये भी वृत्तिकार ने उपमा ध्वनि नहीं कहा, क्योंकि वहाँ श्लेष ही मूल है। यदि सम के स्थान पर समा: यह स्पष्ट हो जाय तब उपमा के स्पष्ट हो जाने से उसके द्वारा श्लेष आक्षिप्त होता। सम यह निपात

ध्वन्यालोकः

अत्र हि यथोद्देशमनूद्देशे यच्चारुत्वमनुरणनरूपं मदनविशेषणभूताङ्कुरितादिशब्दगतं तन्मदनसहकारयोस्तुल्ययोगितासमुच्चयलक्षणाद्वाच्यादतिरिच्यमानमालक्ष्यते। एवमन्येऽप्यलङ्कारा यथायोगं योजनीयाः।

यहाँ यथोद्देश प्रथम वाक्य पठित के क्रमानुसार अङ्कुरित आदि शब्दों को उसी क्रम से (अनुद्देश द्वारा) कहने से मदन के विशेषण रूप अङ्कुरितादि शब्दों में जो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप चारुत्व प्रतीत होता है वह कामदेव और आम्रवृक्ष की तुल्ययोगिता या समुच्चयलक्षण वाच्यचारुत्व से उत्कृष्ट दिखाई देता है। अतएव वहाँ स्वतः संभवी अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य रूप यथासंख्य अलङ्कार ध्वनि स्पष्ट है।

इस प्रकार अन्य ध्वनि रूप अलङ्कार भी यथोचित रूप से स्वयं समझ लेना चाहिये।।२७।।

लोचनम्

सैव स्वार्थनिर्वाहायार्थान्तरं शब्दान्तरं वाकर्षतीत्यनुमानस्य श्रुतार्थापत्तेर्वा तार्किकमीमांसकयोर्न ध्वनिप्रसङ्ग इत्यलं बहुना। तदाह–*अशब्दापीति। एवमन्येऽपीति।* सर्वेषामेवार्थालङ्काराणां ध्वन्यमानता दृश्यते। यथा च दीपकध्वनिः–

झटिति– साथ अर्थ का बोध करके व्यञ्जकत्व के बल से ही क्रियाविशेषण होने के कारण शभ्दश्लेषता को प्राप्त करता हैं। उसके बिना अभिधा का कोई अपरिपोष नहीं होता। अतएव अभिधा के समाप्त होने पर ही वह दूसरा अर्थ सहृदयों को ही बिना पृथक् प्रयत्न से अवगत होता है। जैसा कि पहले कहा है– 'शब्द और अर्थ के शासन के ज्ञान से ही' इत्यादि। यह सभी उदाहरणों में समझ लेना चाहिये। 'मोटा चैत्र (नाम का व्यक्ति) दिन में भोजन नहीं करता है। यहाँ अभिधा अपने अर्थ में पर्यवसित न होकर उस अर्थ के निर्वाह के लिये रात्रिभोजन रूप दूसरे अर्थ या रात्रि में भोजन करता है इस रूप में शब्द को आकृष्ट करती है। इस प्रकार अनुमान के अथवा श्रुतार्थापत्ति के होने से तार्किक या मीमांसक के मत में ध्वनि का प्रसङ्ग नहीं है। **इत्यलम्।।** इसी बात को कहते हैं– **अशब्दापीति–** शब्दजनित न होकर भी। **एवमन्येऽपीति** अन्य भी। इस प्रकार सभी अलङ्कारों की ध्वन्यमानता देखी जाती है। जैसे दीपकध्वनि– हे वृक्ष! तुम्हें अनल या पवन या मतवाला हाथी या परशु या इन्द्र के द्वारा छोड़ा गया वज्र बाधित न करे। लता के साथ सदैव तुम्हारा कल्पाण हो।

लोचनम्

मा भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा ।
वज्रमिन्द्रकरविप्रसृतं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष ॥

इत्यत्र बाधिष्टेति गोप्यमानादेव दीपकादत्यन्तस्नेहास्पदत्वप्रतिपत्त्या चारुत्वनिष्पत्तिः। अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनिरपि–

ढुण्ढुल्लन्तो मरिहिसि कण्टअकलिआइं केअइवणाइं ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमन्तो ण पाविहिसि ॥

प्रियतमेन साकमुद्याने विहरन्ती काचिन्नायिका भ्रमरमेवमाहेति भृङ्गस्याभिधायां प्रस्तुतत्वमेव। न चामन्त्रणादप्रस्तुतत्वावगतिः, प्रत्युतामन्त्रणं तस्या मौग्ध्यविजृम्भितमिति अभिधया तावन्नाप्रस्तुतप्रशंसा समाप्या। समाप्तायां पुनरभिधायां वाच्यार्थबलादन्यापदेशता ध्वन्यते। यत्सौभाग्याभिमानपूर्णा सुकुमारपरिमलमालतीकुसुमसदृशी कुलवधू-र्निर्व्याजप्रेमपरतया कृतकवैदग्ध्यलब्धप्रसिद्ध्यतिशयानि शम्भलीकण्टक-व्याप्तानि दूरामोदकेतकीवनस्थानीयानि वेश्याकुलानीतश्चेतश्च चञ्चूर्यमाणं प्रियतममुपालभते। अपह्नुतिध्वनिर्यथास्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य–

यहाँ बाधित करे इस गूहित किये जाते हुये दीपक से अत्यन्त स्नेह के आस्पद होने की प्रतीति द्वारा चारुत्व की निष्पत्ति होती है। अप्रस्तुतप्रशंसा ध्वनि भी **ढुढुल्लन्तोत्यादि–** हे भ्रमर! कटीले केतली के वनों को ढूँढता-ढूँढता तू मर जायगा। पर घूमता हुआ भी मालती के पुष्पसदृश किसी को न प्राप्त कर सकेगा।

प्रियतम के साथ उद्यान में बिहार करती हुई किसी नायिका ने भौरे से इस प्रकार कहा। इस प्रकार भौरा अभिधा में प्रस्तुत ही है। आमन्त्रण के कारण भौरा के अप्रस्तुत होने का ज्ञान नहीं होता। यह कहना कि भौरा का आमन्त्रण संभव नहीं अतः निश्चय ही यह अप्रस्तुत है, ऐसी बात नहीं। यहाँ आमन्त्रण उस नायिका की मुग्धता का विजृम्भित है इसलिये अभिधा से अप्रस्तुतप्रशंसा समाप्त नहीं की जा सकती। फिर अभिधा के समाप्त होने पर वाच्यार्थ के बल से अन्यापदेशता ध्वनित होती है कि सौभाग्य के अभिमान से भरी सुकुमार एवं परिमल वाली मालती के सदृश कुलवधू अपने निश्छल प्रेम की तल्लीनता से अपने प्रियतम को उलाहना देती है जो अपने कृत्रिम वैदग्ध्य से अतिशय प्रसिद्धिप्राप्त कुट्टनियों के कण्टकों से भरे एवं दूर तक फैली सुरभि वाले केतकीवनों के सदृश वेश्याकुलों में इधर-उधर भटकता फिरता है। अपह्नुतिध्वनि जैसे हमारे उपाध्याय भट्ट इन्दुराज का। **य इति।**

लोचनम्

यः कालागुरुपत्रभङ्गरचनावासैकसारायते
गौराङ्गीकुचकुम्भभूरिसुभगाभोगे सुधाधामनि।
विच्छेदानलदीपितोत्कवनिता चेतोधिवासोद्भवं
सन्तापं विनिनीषुरेष विततैरङ्गैर्नताङ्गि स्मरः॥

अत्र चन्द्रमण्डलमध्यवर्तिनो लक्ष्मणो वियोगाग्निपरिचितवनिताहृदयोदितप्लोषमलीमसच्छविमन्मथाकारतयापह्नवो ध्वन्यते। अत्रैव ससन्देहध्वनिः– यतश्चन्द्रवर्तिनस्तस्य नामापि न गृहीतम्। अपि तु गौराङ्गीस्तनाभोगस्थानीये चन्द्रमसि कालागुरुपत्रभङ्गविच्छित्त्यास्पदत्वेन यः सारतामुत्कृष्टतामाचरतीति तन्न जानीमः किमेतद्वस्त्विति ससन्देहोऽपि धवन्यते। पूर्वमनङ्गीकृतप्रणयामनुतप्तां विरहोत्कण्ठितां वल्लभागमनप्रतीक्षापरत्वेन कृतप्रसाधनादिविधितया वासकसज्जीभूतां पूर्णचन्द्रोदयावसरे दूतीमुखानीतः प्रियतमस्त्वदीयकुचकलशन्यस्तकालागुरुपत्रभङ्गरचना मन्मथोद्दीपनकारिणीति चाटुकं कुर्वाणश्चन्द्रवर्तिनी चेयं

जो कामदेव गोरे अङ्गों वाली नायिका के कुचरूपी कुम्भ के विस्तृत आभोगयुक्त सुधा-धाम चन्द्रमा में कालागुरु की पत्रभङ्ग की रचना के रूप में सार (सर्वोत्कृष्ट) हो रहा है वह हे नताङ्गि! वियोगाग्नि से प्रदीप्त कामदेव उत्कण्ठित वनिताओं के चित्त में रहने से उत्पन्न संताप को अपने वितत अङ्गों से निवारण करना चाहता है।

यहाँ चन्द्रमण्डल में रहने वाले चिह्न का, वियोग की अग्नि में पके वनिता के हृदय से उत्पन्न ज्वाला से मलिन कान्ति वाले कामदेव के आकार के रूप में अपह्नव ध्वनित हो रहा है। यहाँ ससन्देह ध्वनि भी है, क्योंकि चन्द्रमण्डल में रहने वाले उस चिह्न का नाम नहीं लिया गया है, बल्कि गोरे अङ्गों वाली के स्तन के विस्तार के सदृश चन्द्रमा में कालागुरु की पत्रभङ्ग-विच्छित्ति के आस्पद रूप में सारता अर्थात् उत्कृष्टता का आचरण कर रहा है। हम नहीं जानते कि वह क्या वस्तु है? इस प्रकार ससन्देह ध्वनित हो रहा है। पहले प्रेम स्वीकार नहीं किया, बाद में अनुतप्त विरह से उत्कण्ठित प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में संलग्न होने के कारण सिंगार के विधान से वासकसज्जा बनी हुई नायिका को पूर्णचन्द्र के अवसर पर दूती के द्वारा लाया गया प्रियतम 'तुम्हारे कुचकुम्भ में लगी हुई पत्रभङ्ग-रचना काम को उद्दीप्त करने वाली हैं।' इसी प्रकार चाटुकारी करते हुये पुनः चन्द्र में रहने वाली कुवलय दल के समान तुम्हारी श्यामल कान्ति काम को उद्दीप्त करने वाली हैं, यह प्रतिवस्तूपमा ध्वनि भी है। सुधा का धाम यह चन्द्र के पर्याय रूप में उपात्त होकर भी संताप को निवारण

लोचनम्

कुवलयदलश्यामलकान्तिरेवमेव करोतीति प्रतिवस्तूपमाध्वनिरपि। सुधाधामनीति चन्द्रपर्यायतयोपात्तमपि पदं सन्तापं विनिनीषुरित्यत्र हेतुतामपि व्यनक्तीति हेत्वलङ्कारध्वनिरपि। त्वदीयकुचशोभा मृगाङ्कशोभा च सह मदनमुद्दीपयत इति सहोक्तिध्वनिरपि। 'त्वत्कुचसदृशश्चन्द्रश्चन्द्रसमस्त्वत्कुचाभोगः' इत्यर्थप्रतीतेरुपमेयोपमाध्वनिरपि। एवमन्येऽप्यत्र भेदाः शक्योत्प्रेक्षाः। महाकविवाचोऽस्याः कामधेनुत्वात्। यतः–
हेलापि कस्यचिदचिन्त्यफलप्रसूत्यै कस्यापि नालमणवेऽपि फलाय यत्नः।
दिग्दन्तिरोमचलनं धरणीं धुनोति खात्सम्पतन्नपि लतां चलयेन्न भृङ्गः॥

एषां तु भेदानां संसृष्टित्वं सङ्करत्वं च यथायोगं चिन्त्यम्। अतिशयोक्तिध्वनिर्यथा ममैव–

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोर्धुर्यं वपुस्ते दृशौ
भङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।
आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारस्त्वमेकाकृतिः॥

करना चाहता है– इसमें हेतुभाव को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार हेत्वलङ्कार ध्वनि भी है। तुम्हारे स्तनों की शोभा और मृगाङ्क चन्द्र की शोभा एक साथ काम को उद्दीप्त करती है यह सहोक्ति ध्वनि भी है। तुम्हारे स्तन के सदृश चन्द्र है और चन्द्र के सदृश तुम्हारा कुचाभोग है इस अर्थ की प्रतीति होने से उपमेयोपमा ध्वनि भी है। इसी प्रकार यहाँ अन्य भी भेद उत्प्रेक्षित हो सकते हैं, क्योंकि महाकवियों की वाणी कामधेनु होती है। क्योंकि–

किसी की लीला मात्र भी वह काम कर देती है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वहाँ यत्न कुछ भी काम नहीं आता। दिग्गजों के रोम का कम्पन धरती को हिला देता है। परन्तु भौरा ऊँचे आकाश से कूद कर भी लता को चलित नहीं कर पाता।

इन भेदों का संसृष्टित्व और संकरत्व यथोचित रूप से समझ लेना चाहिये। अतशियोक्ति ध्वनि जैसे मेरा ही **केलीति।**

विलासी जनों की क्रीडा से अङ्कुरित होने वाले विभ्रमस्वरूप वसन्त के कार्यभार को धारण करने वाला शरीर तेरी आँखें हैं। यह कामदेव का रचना विशेष से टेढ़ा धनुष तेरी भौहों के लीला-प्रकर्ष का प्रकार है। तेरे मुखकमल में विद्यमान आसव का कुछ भी आस्वाद कर लेने पर विभिन्न विकारों को उत्पन्न करता है। हे सुन्दरि! इस प्रकार तेरे इस एक रूप में विधाता के तीनों जगत् का सार है।

ध्वन्यालोकः

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवत्तां ख्यापयितुमिदमुच्यते–

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गतः॥२८॥

ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यञ्जकत्वेन व्यङ्ग्यत्वेन च। तत्रेह प्रकरणाद्व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्। व्यङ्ग्यत्वेनाप्यलङ्काराणां

इस प्रकार अलंकारध्वनिमार्ग का विवरण देकर उसकी प्रयोजनता बताने के लिये यह कहते हैं–

लोचनम्

अत्र हि मधुमासमदनासवानां त्रैलोक्ये सुभगतान्योन्यं परिपोषकत्वेन। ते तु त्वयि लोकोत्तरेण वपुषा सम्भूय स्थिता इत्यतिशयोक्तिर्ध्वन्यते। आपातेऽपि विकारकारणमित्यास्वादपरम्पराक्रिययापि विना विकारात्मनः फलस्य सम्पत्तिरिति विभावनाध्वनिरपि। विभ्रममधोर्धुर्यमिति तुल्ययोगिताध्वनिरपि। एवं सर्वालङ्काराणां ध्वन्यमानत्वमस्तीति मन्तव्यम्। न तु यथा कैश्चिन्नियतविषयीकृतम्। *यथायोगमिति।* क्वचिदलङ्कारः क्वचिद्वस्तु व्यञ्जकमित्यर्थो योजनीय इति॥

ननूक्तास्तावच्चिरन्तनैरलङ्कारास्तेषां तु भवता यदि व्यङ्ग्यत्वं प्रदर्शितं किमियतेत्याशङ्क्याह–*एवमित्यादि।* येषामलङ्काराणां वाच्यत्वेन शरीरीकरणं

यहाँ वसन्त, काम और मद्य ये तीनों ही त्रैलोक्य में एक दूसरे के परिपोषक होने के कारण सुभग हैं, जो तेरे लोकोत्तर शरीर से मिल कर एकत्र विद्यमान हैं। यह अतिशयोक्ति ध्वनित हो रही है। कुछ आस्वाद कर लेने पर ही विकारों को उत्पन्न करते हैं। यहाँ बिना लगातार आस्वाद किये ही विकार रूप फल का लाभ है इस प्रकार विभावना ध्वनि भी है। विभ्रम, मधु, धुर्य यहाँ तुल्ययोगिता की ध्वनि भी है। इस प्रकार अलङ्कार ध्वनित होते हैं। ऐसा नहीं कि किसी ने विषय नियत कर दिया है कि केवल इतने ही अलङ्कार ध्वनित होते हैं अन्य नहीं। यथोचित रूप से कहीं अलङ्कार व्यञ्जक होता है तो कही वस्तु इस प्रकार अर्थ लगाना चाहिये।।२७।।

(इस प्रकार अलङ्कारध्वनि के मार्ग का व्याख्यान कर उसकी प्रयोजनवत्ता बताने के लिये यह उपक्रम करते हैं– **शरीरेति–**)

प्राचीनों ने जितने अलङ्कार कहे हैं उन अलङ्कारों का व्यङ्ग्यत्व यदि आप ने प्रदर्शित किया तो इससे क्या? इस आशङ्का पर कहते हैं– **एवमित्यादि–** जिन

ध्वन्यालोकः

प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः। इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं प्रतिपादयिष्यते॥२८॥

अङ्गित्वेन व्यङ्ग्यतायामपि, अलङ्काराणां द्वयी गतिः– कदाचिद्वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते, कदाचिदलङ्कारेण।

तत्र–

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तया।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासाम्

कटक-कुण्डल स्थानीय जिन अलङ्कारों की वाच्यावस्था में शरीर रूपता प्राप्ति निश्चित नहीं है, वे व्यङ्ग्यरूपता को प्राप्त कर न केवल साधारण शरीर को अपितु परं चारुत्व को प्राप्त हो जाते हैं॥२८॥

ध्वन्यङ्गता दो प्रकार की होती है– व्यञ्जकत्व से और व्यङ्ग्यत्व से। उनमें यहाँ प्रकरणवशात् व्यङ्ग्यत्व से ऐसा समझना चाहिए। व्यङ्ग्यत्व में भी जब अलङ्कारों के प्राधान्य की विवक्षा होगी तभी ध्वनि में वह समाविष्ट होगा। अन्यथा, गुणीभूत व्यङ्ग्य का प्रतिपादन करेंगे।

अलङ्कारों के प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होने में भी दो प्रकार हैं। वे कभी वस्तु-मात्र से व्यक्त होते हैं कभी अलङ्कार से।

उनमें से जब अलङ्कार वस्तुमात्र से व्यङ्ग्य होते हैं तब उनकी ध्वन्यङ्गता

लोचनम्

शरीरभूतात्प्रस्तुतादर्थान्तरभूततया अशरीराणां कटकादिस्थानीयानां शरीरतापादनं व्यवस्थितं सुकवीनामयत्नसम्पाद्यतया। यदि वा वाच्यत्वे सति येषां शरीरतापादनमपि न व्यवस्थितं दुर्घटमिति यावत्। तेऽलङ्कारा ध्वनेर्व्यापारस्य काव्यस्य वाऽङ्गतां व्यङ्ग्यरूपतया गताः सन्तः परां दुर्लभां छायां कान्तिमात्मरूपतां यान्ति। एतदुक्तं भवति–सुकविर्विदग्ध-

अलङ्कारों का वाच्य रूप से शरीरीकरण अर्थात् शरीरभूत प्रस्तुत से अर्थान्तर रूप होने के कारण कटक आदि की भाँति शरीर से भिन्न होते हुये उनका शरीरतापादन युवतियों के द्वारा अयत्न संपाद्य होने के कारण स्थित है। अथवा यदि वाच्य होने पर जिनका शरीरतापादन भी नहीं बन सकता। वे अलङ्कार ध्वनि के व्यापार को अथवा काव्य को व्यङ्ग्य के प्रकार से अङ्गता को प्राप्त होते हुये दुर्लभ छाया अर्थात् कान्ति प्राप्त करते हैं। आत्मरूप हो जाते हैं।

ध्वन्यालोकः

अत्र हेतुः–

काव्यवृत्तिस्तदाश्रया॥२९॥

यस्मात्तत्र तथाविधव्यङ्ग्यालङ्कारपरत्वेनैव काव्यं प्रवृत्तम्। अन्यथा तु तद्वाक्यमात्रमेव स्यात्॥२९॥

(प्राधान्य) निश्चित है। इसका कारण यह है कि– वहाँ काव्य के व्यापार ही उस अलङ्कार के आश्रित हैं॥२९॥

क्योंकि वहाँ उस प्रकार के व्यङ्ग्यालङ्कार के बोधन के लिये ही प्रवृत्त हुआ हैं अन्यथा तो वह वस्तुमात्रप्रतिपादक चमत्कारशून्य केवल वाक्य मात्र रह जायगा। (काव्य भी नहीं रहेगा)॥२९॥

लोचनम्

पुरन्ध्रीवद्भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या कुङ्कुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का सम्भावनापि। एवम्भूता चेयं व्यङ्ग्यता या अप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालङ्कारेभ्य उत्कर्षमलङ्काराणां वितरति।

बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्यमुमर्थं मनसि कृत्वाह–*इतरथा त्विति*॥२८॥

तत्रेति। द्वय्यां गतौ सत्याम्। अत्र हेतुरित्ययं वृत्तिग्रन्थः। काव्यस्य कविव्यापारस्य वृत्तिस्तदाश्रयालङ्कारप्रवणा यतः। *अन्यथेति।* यदि न तत्परत्वमित्यर्थः। तेन तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यता नैव शङ्क्येति तात्पर्यम्।

इसका तात्पर्य इस प्रकार हैं– यद्यपि सुकवि विदग्धा पुरन्ध्री की भाँति भूषण को एक में एक को गूँथ कर श्लिष्ट की भाँति योजना करता है तथापि उसका शरीरापादन कष्टसाध्य होता है जैसे कुंकुम का पीलापन कष्टसाध्य होता है। फिर उसके आत्मत्व की बात तो बहुत दूर की बात हैं। इस प्रकार की यह व्यङ्ग्यता अप्रधान-भूत हो कर भी वाच्य अलङ्कारों की अपेक्षा सभी अलङ्कारों को उत्कर्ष प्रदान करती है।

बालक्रीडा में राजा होने की भाँति इतनी बात मन में रख कर कहते हैं– **इतरथा त्विति 'तत्रेति'** दो स्थितियों के होने पर 'अत्र हेतुः' यह वृत्तिग्रन्थ हैं। क्योंकि काव्य की अथवा कवि के व्यापार की प्रवृत्ति उसके आश्रित अलङ्कारप्रवण हैं। **अन्यथेति** यदि

ध्वन्यालोकः

तासामेवालङ्कृतीनाम्–

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे

पुनः,

ध्वन्यङ्गता भवेत्।

चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ॥३०॥

उक्तं ह्येतत्– 'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' इति वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्वे चालङ्काराणामनन्तरोपदर्शितेभ्य एवोदाहरणेभ्यो विषय उन्नेयः। तदेवमर्थमात्रेणालङ्कारविशेषरूपेण वार्थेनार्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्षनिबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणरूपव्यङ्ग्यो निरवगन्तव्यः॥३०॥

उन्हीं अलङ्कारों की– दूसरे अलङ्कारों से व्यङ्ग्य होने पर फिर ध्वनिरूपता होती है यदि चारुत्व के उत्कर्ष से व्यङ्ग्यं का प्राधान्य प्रतीत होता है तो॥३०॥

यह कह चुके हैं कि वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य की विवक्षा उनके चारुत्व के उत्कर्ष होने के कारण होती है, वस्तुमात्र से व्यङ्ग्य अलङ्कारों का विषय पूर्वप्रदर्शित उदाहरणों में से ही समझ लेना चाहिए। इस प्रकार वस्तुमात्र से अथवा अलङ्कारविशेष रूप अर्थ से दूसरे वस्तुमात्र अथवा अलङ्कार-प्रकाशन में

लोचनम्

तासामेवालङ्कृतीनामित्ययं पठिष्यमाणकारिकोपस्कारः। पुनरिति कारिकामध्य उपस्कारः। *ध्वन्यङ्गतेति ध्वनिभेदत्वमित्यर्थः।*

***व्यङ्ग्यप्राधान्यमिति।* अत्र हेतुः–*चारुत्वोत्कर्षत इति। यदीति।* तदप्राधान्ये तु वाच्यालङ्कार एव प्रधानमिति गुणीभूतव्यङ्ग्यतेति भावः। नन्वलङ्कारो वस्तुना व्यज्यते अलङ्कारान्तरेण च व्यज्यत इत्यत्रोदाहरणानि किमिति न दर्शितानीत्याशङ्क्याह–*वस्त्विति।* एतत्संक्षिप्योपसंहरति–**

अलङ्कारादि तात्पर्य न हो इसलिये वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य की आशङ्का नहीं करनी चाहिये यह तात्पर्य है। **तासामेवेति** उन्हीं अलङ्कारो की यहाँ आगे पढ़ी जाने वाली कारिका के बीच का उपस्कार है। ध्वन्यङ्गता– ध्वनि का भेद होना। **व्यङ्ग्यप्राधान्यमिति**– व्यङ्ग्य का प्राधान्य। इसमें कारण है चारुत्व का उत्कर्ष। **यदीति** उस व्यङ्ग्य के प्राधान्य न होने पर वाच्यालङ्कार ही प्रधान होता है। इस भाँति गुणीभूत व्यङ्ग्यता होगी। यदि कहो कि अलङ्कार वस्तु से व्यञ्जित होता है और अलङ्कारान्तर से व्यञ्जित नहीं होता है इसका क्या उदाहरण है। इस आशङ्का पर कहते हैं– **वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्व इति।**

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तुमुच्यते–

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥३१॥

द्विविधोऽपि प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च। तत्र य एव स्फुटः शब्दशक्त्यार्थशक्त्या वा प्रकाशते स एव ध्वनेर्मार्गो नेतरः। स्फुटोऽपि

चारुत्वोत्कर्ष के कारण प्राधान्य होने पर अर्थशक्त्युद्भव रूप संलक्ष्यक्रमध्वनि समझना चाहिये।

इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदों का प्रतिपादन कर उस ध्वनि के आभास (ध्वन्याभासगुणीभूतव्यङ्ग्य) के ज्ञान के लिये कहते हैं–

जहाँ प्रतीयमान अस्फुट रूप से प्रतीत होता है अथवा वाच्य का अङ्ग बन जाता है वह ध्वनि का विषय नहीं होता॥३१॥

अविवक्षितवाच्य या लक्षणाभूत और विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूल ध्वनि दोनों ही प्रकार का व्यङ्ग्य अर्थ स्फुट और अस्फुट दो प्रकार का होता है उनमें

लोचनम्

***तदेवमिति।* व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकस्य च प्रत्येकं वस्त्वलङ्कारारूपतया द्विप्रकारत्वाच्चतुर्विधोऽयमर्थशक्त्युद्भव इति तात्पर्यम्॥२९-३०॥**

***एवमिति।* अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्य इति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ–अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदौ–अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः–शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविधः–कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः स्वतस्सम्भवी च। ते च**

एतत्संक्षिप्योपसंहरति तदेवमिति– इसका संक्षेप में उपसंहार करते हैं– तो इस प्रकार। व्यङ्ग्य के और व्यञ्जक के प्रत्येक वस्तुरूप अलङ्काररूप होने के कारण दो प्रकार होने से अर्थशक्त्युद्भव चार प्रकार का होता है, यह तात्पर्य है॥२९+३०॥

एवमिति इस प्रकार अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ये मूलतः दो भेद हैं। फिर प्रथम अविवक्षितवाच्य के दो भेद– अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य तथा अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य। द्वितीय के दो भेद– अलक्ष्यक्रम तथा अनुरणनरूप। इसमें प्रथम के अनन्त भेद हैं। दूसरा दो प्रकार का है। शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल। अन्तवाला अर्थात् अर्थशक्तिमूल तीन प्रकार का होता है। (१) कविप्रौढोक्तिकृतशरीर

ध्वन्यालोकः

योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानोऽवभासते सोऽस्यानुरणनरूप-व्यङ्ग्यस्य ध्वनेरगोचरः।

यथा–

कमलाअरा णँ मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा।
केण वि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं फलिहम्॥

से शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति से जो स्फुट रूप से प्रतीत होता है वही ध्वनि का विषय है।

दूसरा अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाला ध्वनि का विषय नहीं, अपितु ध्वन्याभास होता है। स्फुट व्यङ्ग्य में जो वाच्य के अङ्ग रूप में प्रतीत होता है वह इस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का विषय नहीं जैसे—

कमलेति (अरी सखि!) देखो तो, न तालाब ही मैला हुआ सहसा और न हंस ही उड़े, फिर भी इस गाँव के तालाब में किसी ने बादल को उलट कर स्थापित कर दिया है।

लोचनम्

प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्यप्रकाशत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वक्ष्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदवाक्यसङ्घटना-प्रबन्धप्रकाश्यत्वेन पञ्चत्रिंशद्भेदाः। तदाभासेभ्यो ध्वन्याभासेभ्यो विवेको विभागः। अस्येत्यात्मभूतस्य ध्वनेरसौ काव्यविशेषो न गोचरः, न विषय इत्यर्थः।

कमलाकरा न मलिता हंसा उड्डायिता न च सहसा।
केनापि ग्रामतडागेऽभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम्॥इति च्छाया।

(२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीर तथा (३) स्वतः संभवी। और इनमें प्रत्येक व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के कहे हुये प्रकार के अनुसार (अर्थात् वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलङ्कार, अलङ्कार से वस्तु और अलङ्कार से अलङ्कार) चार प्रकार के हो कर १२ प्रकार का अर्थशक्तिमूल होता है। पहले के चार भेद (अर्थात् शब्दशक्त्युत्थ के वस्तु तथा अलङ्कार रूप दो भेद, उभयशक्त्युत्थ का एक और असंलक्ष्यक्रम का एक इस प्रकार चार इस प्रकार कुल १६ भेद हुये। आगे चल कर उनके पदप्रकाश और वाच्यप्रकाश के रूप से प्रत्येक के दो-दो प्रकार कहेंगे। अलक्ष्यक्रम के वर्णप्रकाश (पदप्रकाश, वाक्य प्रकाश), संघटनाप्रकाश और प्रबन्धप्रकाश होने के कारण कुल ३५ भेद हुये। उनके

ध्वन्यालोकः

अत्र हि प्रतीयमानस्य मुग्धवध्वा जलधरप्रतिबिम्बिदर्शनस्य वाच्याङ्गत्वमेव। एवंविधे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते, तत्र व्यङ्ग्यस्याङ्गत्वेन प्रतीतेर्ध्वनेरविषयत्वम्। यथा–

वाणीरकुडङ्गोड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मावावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं॥

इस प्रकार के उदाहरणों में तथा अन्य स्थान में जहाँ चारुत्वोत्कर्ष के कारण व्यङ्ग्यत्व की अपेक्षा वाच्य का प्राधान्य फलित होता है वहाँ व्यङ्ग्य के अङ्ग रूप में प्रतीति होने के कारण ध्वनि का विषय नहीं होता (अपितु वाच्यसिद्धयङ्ग नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य का भेद होता है)।

अपने प्रणयी से मिलने का स्थान और समय नियत करके भी नियत स्थान एवं नियत समय पर न पहुँच सकने वाली नायिका के वेतसलता के कुञ्ज से उड़ते हुये पक्षियों के कोलाहल को सुनकर गृहकार्य में संलग्न रहने पर भी उसके अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं।

लोचनम्

अन्ये तु पिउच्छा पितृष्वसः इत्थमामन्त्रयते। *केनापि* अतिनिपुणेन। *वाच्याङ्गत्वमेवेति।* वाच्येनैव हि विस्मयविभावरूपेण मुग्धिमातिशयः प्रतीयत इति वाच्यादेव चारुत्वसम्पत्। वाच्यं तु स्वात्मोपपत्तयेऽर्थान्तरं स्वोपकारवाच्छया व्यनक्ति।

वेतसलतागहनोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वत्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि।इति च्छाया।

आभासों अर्थात् ध्वनि के आभासों से विवेक (विभाग)। **अस्येति** इस आत्मभूत ध्वनि का यह काव्य-विशेष गोचर नहीं अर्थात् विषय नहीं।

कमलाकरेति– अन्य के मत में यहाँ 'पितृष्वसः' अर्थात् पिता की बहन, यह आमन्त्रण किया गया है। **केनापि** किसी बहुत चालाक ने वाच्याङ्गत्वमेवेति वाच्य का अङ्ग ही। विस्मय विभाव रूप से ही अतिशय मुग्धिभा (सौन्दर्य) प्रतीत होता है। इसलिये वाच्य में ही चारुत्व संपत्ति है, क्योंकि वाच्य अपनी उपपत्ति के लिये अर्थान्तर को अपने उपकार की वाञ्छा से व्यक्त करता है।

ध्वन्यालोकः

एवंविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणत्वेन निर्देक्ष्यते। यत्र तु प्रकरणादप्रतिपत्त्या निर्धारितविशेषो वाच्योऽर्थः

इस प्रकार विषय प्रायः गुणीभूत व्यङ्ग्य के उदाहरणों में दिखलाया जायगा। जहाँ प्रकरण आदि की प्रतीति से विशेष अर्थ का निर्धारण कर वाच्यार्थ पुनः

लोचनम्

अत्र दत्तसङ्केतचौर्यकामुकरतसमुचितस्थानप्राप्तिर्ध्वन्यमाना वाच्यमेवोपस्कुरुते। तथा हि गृहकर्मव्यापृताया इत्यन्यपराया अपि, वध्वा इति सातिशयलज्जापारतन्त्र्यबद्धया अपि, अङ्गानीत्येकमपि न तादृगङ्गं यद्गाम्भीर्यावहित्थवशेन संवरीतुं पारितम्, सीदन्तीत्यास्तां गृहकर्मसम्पादनं स्वात्मानमपि धर्तुं न प्रभवन्तीति। गृहकर्मयोगेन स्फुटं तथा लक्ष्यमाणानीति। अस्मादेव वाच्यात्सातिशयमदनपरवशताप्रतीतेश्चारुत्वसम्पत्तिः। *यत्र त्विति।* प्रकरणमादिर्यस्य शब्दान्तरसन्निधानसामर्थ्यलिङ्गादेस्तदवगमादेव यत्रार्थो निश्चितसमस्तस्वभावः। पुनर्वाच्यः पुनरपि स्वशब्देनोक्तोऽत एव स्वात्मावगतेः सम्पन्नपूर्वत्वादेव तावन्मात्रपर्यवशायी न भवति तथाविधश्च प्रतीयमानस्याङ्गतामेतीति सोऽस्य ध्वनेर्विषय इत्यनेन व्यङ्ग्यतात्पर्यनिबन्धनं स्फुटं वदता व्यङ्ग्यगुणीभावे त्वेतद्विपरीतमेव निबन्धनं मन्तव्यमित्युक्तं भवति।

वेतसेति– यहाँ दत्तसंकेत चौर्य कामुक का रति के योग्य स्थान में पहुँच जाना इस बात को ध्वनित करता हुआ वाच्य को ही उपस्कृत करता है। जैसा कि घर के काम-काज में लगी हुई अर्थात् अन्य कार्य में लगी हुई बहू के अतिशय लज्जा और पारतन्त्र्य में बँधी हुई होने पर भी सारे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं अर्थात् उसका एक भी अङ्ग उस प्रकार का नहीं था, जो गाम्भीर्य से आकारगोपन के प्रकार से संवरण किया जा सके, शिथिल पड़े जा रहे हैं। घर का काम-काज तो दूर, वह अपने आपको संभाल नहीं पा रही है। यद्यपि ये लक्षण घर के काम-काज में फँसे रहने के कारण स्पष्ट रूप से लक्षित नहीं होते। इसी वाच्य से सातिशय मदनपारवश्य की प्रतीति होने से चारुता संपन्न होती है। **यत्र त्विति**– परन्तु जहाँ प्रकरण आदि में हैं जिसके अर्थात् शब्दान्तरसन्निधान, **सामर्थ्य**, लिङ्ग आदि के अवगत होने से जहाँ अर्थ के समस्त स्वभाव का निश्चय हो जाता है। पुनः वाच्य अर्थात् फिर भी अपने शब्द से उक्त अतएव अपनी अवगति हो जाने के कारण पहले ही सम्पन्न हो जाने के कारण ही उतने मात्र में पर्यवसन्न होने वाला नहीं होता है और उस प्रकार का वह वाच्य अर्थ प्रतीयमान

ध्वन्यालोकः

पुनः प्रतीयमानाङ्गत्वेनैवावभासते सोऽस्यैवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्मार्गः। यथा–

उच्चिणसु पडिअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुह्ले।
अं दे विसमविरावो ससुरेण सुओ वलअसद्दो॥

अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा सखी बहिःश्रुतवलय-

प्रतीयमान अर्थ के अङ्ग रूप से भासता है वह इस संलक्ष्यक्रमध्वनि का विषय होता है। जैसे **उच्चिन्विति।**

हे कृषक की पुत्रवधू! तू नीचे गिरे हुये शेफालिका (हरसिंगार) के पुष्पों का चयन कर उसके डार को मत हिलाओ, जोर से बोलने वाले तेरे इस कङ्कण के शब्दों को श्वसुर जी ने सुन लिया है।

यहाँ किसी जार (उपपति) के साथ संभोग करती हुई नायिका को बाहर

लोचनम्

उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिकां हालिकस्नुषे।
एष ते विषमविपाकः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः॥
इति च्छाया।

यतः श्वशुरः शेफालिकालतिकां प्रयत्नै रक्षंस्तस्या आकर्षण-धूननादिना कुप्यति। तेनात्र विषमपरिपाकत्वं मन्तव्यम्। अन्यथा स्वोक्त्यैव व्यङ्ग्याक्षेपः स्यात्। अत्र च 'कस्स वा ण होइ रोसो' इत्येतदनुसारेण व्याख्या कर्तव्या। वाच्यार्थस्य प्रतिपत्तये लाभाय एतद्व्यङ्ग्यमपेक्षणीयम्। अन्यथा वाच्योऽर्थो न लभ्येत। स्वतस्सिद्धतया अवचनीय एव सोऽर्थः स्यादिति

का अङ्ग हो जाता है। अतः वह ध्वनि का विषय है। इस कथन से व्यङ्ग्य में तात्पर्य का निबन्धन स्पष्ट कहते हुये यह कहा है कि व्यङ्ग्य के गुणीभाव में इसके विपरीत निबन्धन मानना चाहिये। **उच्चिनु इति–**

यतः उसका श्वशुर उस हरसिंगार की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता है। उसके खींचने हिलाने आदि से वह कुपित होता है, इसलिये यहाँ परिणाम में विषम समझना चाहिये अन्यथा अपनी उक्ति से ही व्यङ्ग्य का आक्षेप होगा। यहाँ **कस्स वा ण होई रोसो** के अनुसार व्याख्या करनी चाहिये। वाच्य अर्थ को प्रतिपत्ति रूप लाभ के लिये यह व्यङ्ग्य अपेक्षणीय है अन्यथा वाच्य अर्थ का लाभ नहीं होगा। तात्पर्य यह कि स्वतः सिद्ध होने के कारण यह अर्थ अवचनीय होगा।

ध्वन्यालोकः

कलकलया सख्या प्रतिबोध्यते। एतदपेक्षणीयं वाच्यार्थप्रतिपत्तये। प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे तस्याविनयप्रच्छादनतात्पर्येणाभिधीयमानत्वात्पुनर्व्यङ्ग्याङ्गत्वमेवेत्यस्मिन्ननुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनावन्तर्भावः॥३१॥

एवं विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेस्तदाभासविवेके प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्यस्यापि तं कर्तुमाह–

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः॥३२॥

से उसके वलय की आवाज सुन कर उसकी सखी सावधान करती है। यहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की प्रतीति के लिये अपेक्षित है। उस वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने पर सखी के परपुरुषभोगरूप अविनय को छिपाने के अभिप्राय से ही कथित होने से फिर अविनयप्रच्छादनरूप व्यङ्ग्य का अङ्ग हो जाता है अतएव यह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में ही अन्तर्भूत होता है।

इस प्रकार अभिधामूलविवक्षितवाच्यध्वनि के ध्वन्याभास (गुणीभूतत्व) विवेक के प्रसङ्ग में उसके निरूपण के बाद लक्षणाभूत अविवक्षितवाच्य ध्वनि की भी आभासता (गुणीभूतत्व) विवेचन करने के लिये कहते हैं।

प्रतिभा या शक्ति के अभाव में जो लाक्षणिक या गौण स्खलद्गति (वाधित विषय) शब्द का प्रयोग हो उसे भी विद्वानों को ध्वनि का विषय नहीं समझना चाहिये॥३२॥

लोचनम्

यावत्। नन्वेवं व्यङ्ग्यस्योपस्कारता प्रत्युतोक्ता भवेदित्याशङ्क्याह–*प्रतिपन्ने चेति*। शब्देनोक्त इति यावत्॥३१॥

तदाभासविवेके प्रस्तुत इति सप्तमी हेतौ। तदाभासविवेकप्रस्तावलक्षणात्प्रसङ्गादिति यावत्। कस्य तदाभास इत्यपेक्षायामाह–*विवक्षितवाच्यस्येति*। स्पष्टे तु व्याख्याने प्रस्तुत इत्यसङ्गतम्। परिसमाप्तौ हि

तब तो इस प्रकार प्रस्तुत व्यङ्ग्य की उपस्कारता कही गई। इस आशङ्का पर कहते हैं– **प्रतिपन्ने चेति–** वाच्य अर्थ के प्रतिपन्न अर्थात् शब्द से उक्त होने पर।

तदाभासविवेके प्रस्तुते उसके आभास के विवेक के प्रस्तुत होने पर। यहां हेतु में सप्तमी है। उसके आभास के विवेक के प्रस्ताव रूप प्रसङ्ग से। किसका आभास? इस अपेक्षा में कहते हैं– विवक्षितवाच्य का। व्याख्यान स्पष्ट हो जाने पर प्रस्तुत कहना

ध्वन्यालोकः

स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्याव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स च न ध्वनेर्विषयः।

स्खलद्गति अर्थात् गौण शब्द का प्रतिभा या शक्ति के अभाव में जो प्रयोग होता है वह भी ध्वनि का विषय नहीं होता।।३२।।

लोचनम्

विवक्षिताभिधेयस्य तदाभासविवेकः । न त्वधुना प्रस्तुतः। नाप्युत्तरकालमनुबध्नाति। *स्खलद्गतेरिति*। गौणस्य लाक्षणिकस्य वा शब्दस्येत्यर्थः। अव्युत्पत्तिरनुप्रासादिनिबन्धनतात्पर्यप्रवृत्तिः। यथा–

प्रेङ्खत्प्रेमप्रबन्धप्रचुरपरिचये प्रौढसीमन्तिनीनां
चित्ताकाशावकाशे विहरति सततं यः स सौभाग्यभूमिः ।

अत्रानुप्रासरसिकतया प्रेङ्खदिति लाक्षणिकः, चित्ताकाश इति गौणः प्रयोगः कविना कृतोऽपि न ध्वन्यमानरूपसुन्दरप्रयोजनांशपर्यवसायी। अशक्तिर्वृत्तपरिपूरणाद्यसामर्थ्यम्। यथा–

विषमकाण्डकुटुम्बकसञ्चयप्रवर वारिनिधौ पतता त्वया ।
चलतरङ्गविघूर्णितभाजने विचलतात्मनि कुड्यमये कृता ॥

अत्र प्रवरान्तमाद्यपदं चन्द्रमस्युपचरितम्। भाजनमित्याशये, कुड्यमय इति च विचले। अत्रैतत् कामपि कान्तिं न पुष्यति, ऋते वृत्तपूरणात्। स

असङ्गत है। क्योंकि परिसमाप्ति में विवक्षितवाच्य का उसके आभास का विवेक है न कि अभी प्रस्तुत है, न कि आगे तक अनुबन्ध करता है। स्खलद्गति अर्थात् गौण या लाक्षणिक शब्द का। अव्युत्पत्ति अर्थात् अनुप्रास आदि के प्रयोग के तात्पर्य से प्रवृत्ति जैसे **प्रेङ्खदिति**– प्रौढसीमन्तिनियों के प्रेङ्खत् (स्फुरित होते हुये) प्रेम-प्रबन्ध के प्रचुर परिचय वाले चित्त के आकाश में जो सतत विहार करता है वह सौभाग्यभूमि है।

यहाँ अनुप्रास के रसिक होने के कारण प्रेङ्खत् यह लाक्षणिक और चित्ताकाश यह गौण प्रयोग कवि के द्वारा किया गया भी ध्वन्यमान रूप सुन्दर प्रयोजन के अंश में पर्यवसायी नहीं है। अशक्ति अर्थात् असामर्थ्य केवल वृत्तपूर्त्यर्थ। जैसे **विषमकाण्डेति**– हे विषमबाण कामदेव के कुटुम्बसमूह के प्रवर अर्थात् चन्द्र। समुद्र में गिरते हुये तुमने चञ्चल तरङ्ग की भाँति विघूर्णित बाजन वाले कुड्यमय अपने आप में विचलता कर दी है।

यहाँ प्रवर तक प्रबन्ध पद चन्द्रमा में उपचरित है। भाजन आशय में कुड्यमय विचल में। यहाँ यह किसी कान्ति का पोषण नहीं करता केवल छन्दः पूर्त्ति ही करता

ध्वन्यालोकः

यतः–

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम्॥३३॥

क्योंकि ध्वनि के सभी भेदों में प्रधानभूत ध्वनि की जो स्फुट रूप में प्रतीति होती है वही ध्वनि का पूर्ण लक्षण है॥३३॥

लोचनम्

चेति। प्रथमोद्योते यः प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवय इत्यत्र 'वदति बिसिनीपत्रशयनम्' इत्यादि भाक्त उक्तः। स न केवलं ध्वनेर्न विषयो यावदयमन्योऽपीति चशब्दस्यार्थः। उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेक-हेतुतया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति–*यत इति*। *अवभासनमिति*। भावानयने द्रव्यानयनमिति न्यायादवभासमानं व्यङ्ग्यम्। ध्वनिलक्षणं ध्वनेः स्वरूपं पूर्णम्, अवभासनं वा ज्ञानं तद्ध्वनेर्लक्षणं प्रमाणं, तच्च पूर्णं, पूर्णध्वनिस्वरूपनिवेदकत्वात्। अथ वा ज्ञानमेव ध्वनिलक्षणम्, लक्षणस्य ज्ञानपरिच्छेद्यत्वात् वृत्तावेवकारेण ततोऽन्यस्य चाभासरूपत्वमेवेति सूचयता तदाभासविवेकहेतुभावो यः प्रक्रान्तः स एव निर्वाहित इति शिवम्॥३३॥

है। प्रथम उद्योत में जो प्रसिद्धि के अनुरोध से व्यवहार प्रवृत्त करने वाले कवि इस प्रसङ्ग में कमलिनी के पत्र का शयन कहता है इत्यादि भाक्त कहा है। न कि केवल वही ध्वनि का विषय नहीं, बल्कि अन्य भी ध्वनि के विषय नहीं होते यह च शब्द का अर्थ है। कहे हुये ही ध्वनिस्वरूप को उसके आभास के विवेक के हेतु रूप से कारिकाकार अनुवाद करते हैं। इस अभिप्राय से वृत्तिकार उपस्कार देते हैं– **यत् इति। अवभासनमिति** भाव के आनयन होने पर द्रव्य का आनयन होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अवभासमान अर्थात व्यङ्ग्य यह अवभासन का अर्थ है ध्वनि का लक्षण अर्थात् ध्वनि का स्वरूप पूर्ण है अथवा अवभासन अर्थात् ज्ञान वह ध्वनि का लक्षण अर्थात् प्रमाण है वह भी पूर्ण है, क्योंकि वह पूर्ण ध्वनि के स्वरूप को निवेदन करता है। अथवा ज्ञान ही ध्वनि का लक्षण है, क्योंकि लक्षण ज्ञान का परिच्छेद्य होता है। वृत्ति में 'एवकार' से उससे इतर का आभासरूपत्व ही है। यह सूचित करते हुये उसके आभास के विवेक का हेतुभाव जो आरम्भ किया वही निर्वाह किया।

ध्वन्यालोक:

तच्चोदाहृतविषयमेव॥३ ३॥

इति श्रीराजनकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके द्वितीय उद्योतः॥२॥

इस विषय में उदाहरण दे ही चुके हैं।

राजानक आनन्दवर्धनाचार्यविरचित ध्वन्यालोक में द्वितीय उद्योत समाप्त

लोचनम्

प्राज्यं प्रोल्लासमात्रं सद्भेदेनासूत्र्यते यया।
वन्देऽभिनवगुप्तोऽहं पश्यन्तीं तामिदं जगत्॥३ ३॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोकलोचने ध्वनिसङ्केते द्वितीय उद्द्योतः॥

इति शिवम्। जो भगवती परमेश्वरी माया समस्त को सत्तत्त्व (परब्रह्म) से भिन्न करके प्रकृष्ट रूप से प्रतीतिमात्र निर्माण करती है और इस जगत् को रुद्र रूप से देखती रहती है उस पश्यन्ती नामक भगवच्छक्ति को मैं अभिनवगुप्त वन्दना करता हूँ।

ध्वन्यालोक के दूसरे उद्योत में महामाहेश्वराचार्यवर्य अभिनवगुप्त प्रकटित सहृदयालोकलोचन ध्वनिसंकेत की भाषा टीका समाप्त।।

तृतीय उद्द्योतः

ध्वन्यालोकः

एवं व्यङ्ग्यमुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जकमुखेनैतत्प्रकाश्यते–

इस प्रकार गत उद्योत में व्यङ्ग्य द्वारा ही (व्यङ्ग्य की दृष्टि से) भेदों सहित ध्वनि का स्वरूप निरूपण करने के बाद अब व्यञ्जक दृष्टि से यहाँ पुनः उसके भेदों का निरूपण करते हैं। **अविवक्षितेति।**

लोचनम्

स्मरामि स्मरसंहारलीलापाटवशालिनः।
प्रसह्य शम्भोर्देहार्धं हरन्तीं परमेश्वरीम्॥

उद्योतान्तरसङ्गतिं कर्तुमाह वृत्तिकारः–*एवमित्यादि।* तत्र वाच्यमुखेन तावदविवक्षितवाच्यादयो भेदाः, वाच्यश्च यद्यपि व्यञ्जक एव। यथोक्तम्– 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति। ततश्च व्यञ्जकमुखेनापि भेद उक्तः, तथापि स वाच्योऽर्थो व्यङ्ग्यमुखेनैव भिद्यते। तथा ह्यविवक्षितो वाच्यो व्यङ्ग्येन न्यग्भावितः, विवक्षितान्यपरो वाच्य इति व्यङ्ग्यार्थप्रवण एवोच्यते इत्येवं मूलभेदयोरेव यथास्वमवान्तरभेदसहितयोर्व्यञ्जकरूपो योऽर्थः स व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षिताशरणतयैव भेदमासादयति। अत एवाह–*व्यङ्ग्यमुखेनेति।* किं च यद्यप्यर्थो व्यञ्जकस्तथापि व्यङ्ग्यतायोग्योऽप्यसौ भवतीति, शब्दस्तु न कदाचिद्व्यङ्ग्यः अपि तु व्यञ्जक एवेति। तदाह–*व्यञ्जकमुखेनेति।* न च

काम की संहार-लीला में अत्यन्त शक्तिशाली भगवान् सदाशिव के देहार्ध बलात् अपहरण करती हुई परमेश्वरी भगवती पार्वती का मैं स्मरण करता हूँ।

अन्य उद्योत की संगति करने के लिये वृत्तिकार कहते हैं **एवमित्यादि**— अविवक्षितवाच्य आदि भेद वाच्य के प्रकार से हैं और वाच्य यद्यपि व्यञ्जक ही है। जैसे कि कहा है '**यत्रार्थः शब्दो वा**'। तब तो व्यञ्जक के प्रकार से भी भेद कह दिया तथापि वह वाच्य अर्थ व्यङ्ग्य के प्रकार से भिन्न हुआ है जैसा कि अविवक्षितवाच्य व्यङ्ग्य के द्वारा न्यग्भावित (अप्रधानीकृत) हैं और विवक्षितान्यपरवाच्य व्यङ्ग्यार्थ प्रवण ही कहा जाता है। इस प्रकार यथावस्थित अवान्तर भेदसहित मूल भेदों में ही व्यञ्जक रूप जो अर्थ है वह व्यङ्ग्य की मुखापेक्षिता की शरण के रूप से ही भेद प्राप्त करता

ध्वन्यालोकः

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः ॥१॥

अविवक्षितवाच्य लक्ष्णामूलध्वनि और उससे भिन्न (विवक्षितान्यपरवाच्य का भेद) अनुरणन रूप व्यङ्ग्य (अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) ध्वनि पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश होते है॥१॥

लोचनम्

वाच्यस्याविवक्षितादिरूपेण यो भेदस्तत्र सर्वथैव व्यञ्जकत्वं नास्तीति पुनःशब्देनाह। व्यञ्जकमुखेनापि भेदः सर्वथैव न न प्रकाशितः किन्तु प्रकाशितोऽप्यधुना पुनः शुद्धव्यञ्जकमुखेन। तथाहि व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षितया विना पदं वाक्यं वर्णाः पदभागः सङ्घटना महावाक्यमिति स्वरूपत एव व्यञ्जकानां भेदः, न चैषामर्थवत्कदाचिदपि व्यङ्ग्यता सम्भवतीति व्यञ्जकैकनियतं स्वरूपं यत्तन्मुखेन भेदः प्रकाश्यत इति तात्पर्यम्।

यस्तु व्याचष्टे–'व्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्काररसानां मुखेन' इति, स एवं प्रष्टव्यः–एतत्तावत्त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतम्। वृत्तिकारेण तु दर्शितम्। न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति। ततश्चेदं कृतमिदं क्रियत इति कर्तृभेदे का सङ्गतिः? न चैतावता सकलप्राक्तनग्रन्थसङ्गतिः कृता भवति।

है। इसीलिये कहते हैं **व्यङ्ग्यमुखेनैव**– व्यङ्ग्य के प्रकार से। और भी– यद्यपि अर्थव्यञ्जक है तथापि वह व्यङ्ग्यता के योग्य होता है इसलिये कहते हैं– **व्यञ्जकमुखेनेति**– व्यञ्जक के प्रकार से। ऐसी बात नहीं कि वाच्य का अविवक्षित आदि रूप से जो भेद है वहाँ सर्वथा ही व्यञ्जकत्व नहीं है। इस बात को पुनः शब्द से कहते हैं। व्यञ्जक के प्रकार से भी भेद को सर्वथा ही प्रकाशित नहीं किया है ऐसा नहीं। किन्तु प्रकाशित किया है। तथापि अब फिर से शुद्ध व्यञ्जक के प्रकार से कहते है। जैसाकि व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षिता के बिना-बिना व्यङ्ग्य की अपेक्षा किये ही। पद, वाक्य, वर्ण, पदभाग, संघटना और महाकाव्य यह स्वरूपतः ही व्यञ्जकों का भेद है। अर्थ की भाँति इनकी व्यङ्ग्यता कभी संभव नहीं अतएव जिस कारण इनका स्वरूप व्यञ्जक मात्र में नियत है तदनुसार भेद प्रकाशित करते हैं, यह तात्पर्य है।

परन्तु जो इस प्रकार व्याख्यान करता है कि 'वस्तु, अलङ्कार, रस इन व्यङ्ग्यों के प्रकार से' उससे इस प्रकार पूछना चाहिये– व्यङ्ग्य का यह त्रिभेदत्व तो कारिकाकार ने नहीं किया है, परन्तु वृत्तिकार ने प्रदर्शित किया है। अभी वृत्तिकार भेद का प्रकटन नहीं करते हैं ऐसी स्थिति में यह किया है, यह करने जा रहे हैं, इसकी संगति कर्त्ता

ध्वन्यालोकः

अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे पदप्रकाशता यथा महर्षेर्व्यासस्य—'सप्तैताः समिधः श्रियः', यथा वा

अविवक्षितवाच्य के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य प्रभेद में पदप्रकाशता जैसे महर्षि व्यासरचित श्लोक सप्तैता: समिध: श्रिय: लक्ष्मी की समिधायें अथवा जैसे

लोचनम्

अविवक्षितवाच्यादीनामपि प्रकाराणां दर्शितत्वादित्यलं निजपूज्यजन-सगोत्रैः साकं विवादेन। चकारः कारिकायां यथासङ्ख्यशङ्कानिवृत्त्यर्थः। तेनाविवक्षितवाच्यो द्विप्रभेदोऽपि प्रत्येकं पदवाक्यप्रकाश इति द्विधा। तदन्यस्य विवक्षिताभिधेयस्य सम्बन्धी यो भेदः क्रमद्योत्यो नाम स्वभेदसहितः सोऽपि प्रत्येकं द्विधैव। अनुरणनेन रूपं रूपणसादृश्यं यस्य तादृग्व्यङ्ग्यं यत्तस्येत्यर्थः। महर्षेरित्यनेन तदनुसन्धत्ते यत्प्रागुक्तम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतीनि लक्ष्ये दृश्यत इति।

धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः॥

समिच्छब्दार्थस्यात्र सर्वथा तिरस्कारः, असम्भवात्। समिच्छब्देन च व्यङ्ग्योऽर्थोऽनन्यापेक्षलक्ष्म्युद्दीपनक्षमत्वं सप्तानां वक्त्रभिप्रेतं ध्वनितम्।

के भिन्न होने पर कैसे होगी? और इतने से सभी प्राचीन ग्रन्थों की संगति नहीं की जा सकती। क्योंकि अविवक्षितवाच्य आदि के भी प्रकारों को दिखाया जा चुका है। अत: इस प्रकार अपने पूज्यजन के अपने सगोत्रों के साथ विवाद व्यर्थ है। कारिका में 'च' शब्द यथासंख्य की शङ्का के निवृत्यर्थ है। इस कारण दो भेदों वाला अविवक्षित-वाच्य भी प्रत्येक पदप्रकाश-वाक्यप्रकाश रूप से दो प्रकार का है। उससे अन्य विवक्षितवाच्य का सम्बन्धी जो अपने भेदों सहित क्रमद्योत्य नाम का भेद हैं वह भी प्रत्येक दो प्रकार का ही है, अनुरणन से रूप अर्थात् रूपणसादृश्य जिसका हो उस प्रकार के उस व्यङ्ग्य का। **महर्षेरिति** महर्षि का। इसके द्वारा उसका अनुसन्धान करते हैं। जिसे पहले कह चुके है और भी रामायण, महाभारत प्रभृति लक्ष्य में देखा जाता है। **धृतिरिति**-धृति-क्षमा-दया शौच, कारुण्य, अनिष्ठुरवाणी और मित्रों से अद्रोह ये ७ संपत्ति की समिधायें' हैं।

यहाँ समित् (समिधा) शब्द के अर्थ का सर्वथा तिरस्कार हैं, क्योंकि ऐसा अर्थ संभव नहीं है, और समित् (समिधा) शब्द से व्यङ्ग्य अर्थ अन्य की अपेक्षा न करके

ध्वन्यालोकः

कालिदासस्य–'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्', यथा वा–'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्', एतेषूदाहरणेषु 'समिध' इति 'सन्नद्ध' इति 'मधुराणा'मिति च पदानि व्यञ्जकत्वाभिप्रायेणैव कृतानि।

कालिदास का '**कः सन्नद्धे विरहविधुरात्वय्युपेक्षेत जायाम्**' है। तुम्हारे समीप जाने पर अपनी विरहविधुरा पत्नी की कौन उपेक्षा करता है? अथवा जैसे मधुर आकृति वालों का मण्डन क्या नहीं है। इन उदाहरणों में समिधा, सन्नद्ध और मधुर ये तीनों पद व्यञ्जकत्व के अभिप्राय से कहे गये है।

लोचनम्

यद्यपि–'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्याद्युदाहरणादप्ययमर्थो लभ्यते, तथापि प्रसङ्गाद्बहुलक्ष्यव्यापित्वं दर्शयितुमुदाहरणान्तराण्युक्तानि। अत्र च वाच्यस्यात्यन्ततिरस्कारः पूर्वोक्तमनुसृत्य योजनीयः किं पुनरुक्तेन। सन्नद्धपदेन चात्रासम्भवत्स्वार्थेनोद्यतत्वं लक्षयता वक्त्रभिप्रेता निष्करुण-कत्वाप्रतिकार्यत्वापेक्षापूर्वकारित्वादयो ध्वन्यन्ते। तथैव मधुरशब्देन सर्वविषयरञ्जकत्वतर्पकत्वादिकं लक्षयता सातिशयाभिलाषविषयत्वं नात्राश्चर्यमिति वक्त्रभिप्रेतं ध्वन्यते। *तस्यैवेति।* अविवक्षितवाच्यस्य यो द्वितीयो भेदस्तत्रेत्यर्थः।

सातों का संपत्ति के उद्दीपन में 'क्षमत्व' यह अर्थ वक्ता के अभिप्रेत रूप में ध्वनित होता है। यद्यपि **निःश्वासान्ध इवादर्शः** इत्यादि उदाहरण से भी यह अर्थ प्राप्त होता है तथापि प्रसङ्ग से बहुत लक्ष्यों में व्यापित्व दिखाने के लिये अन्य उदाहरण कह रहे हैं, और यहाँ वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार पहले कहे हुये के अनुसार लगा लेना चाहिये। पुनः कहने से क्या लाभ?

सन्नद्ध पद से जिसका अपना अर्थ यहाँ संभव नहीं हो रहा है— उन्नतत्त्व अथवा उद्यतत्त्व को लक्षित करता हुआ वक्ता के अभिप्रेत निष्करुणत्व से अप्रतीकार्यत्व (जिसका कोई प्रतिकार न हो सके), अपेक्षापूर्वकारित्व आदि अर्थों को ध्वनित करता है। उसी प्रकार मधुर शब्द भी सभी विषयों का रञ्जकत्व, तर्पकत्व आदि अर्थ को लक्षित करता हुआ 'अतिशय अभिलाषा का विषय होना' इसमें कोई आश्चर्य नहीं यह वक्ता का अभिप्रेत अर्थ ध्वनित करता है। **तस्यैवेति** उसी के अर्थात् अविवक्षितवाच्य का जो दूसरा भेद कहा है।

उसमें **प्रत्याख्यानेति** उस क्रूर राक्षस रावण ने तुम्हारे अस्वीकार कर दिये जाने

ध्वन्यालोकः

तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये यथा–'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्'। अत्र रामेणेत्येतत्पदं समसाहसैकर-सत्वादिव्यङ्ग्याभिसङ्क्रमितवाच्यं व्यञ्जकम्।

उसी व्यञ्जकत्व के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण जैसे **रामेणेति**– हे प्रिये! जीवित रहने के लोभी इस राम ने अपने प्रेम के अनुकूल उचित कार्य नहीं किया। यहाँ रामपद साहसैकरसत्व आदि व्यङ्ग्य में संक्रमित वाच्यरूप में

लोचनम्

'प्रत्याख्यानरुषः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा' इति।

रक्षःस्वभावादेव यः क्रूरोऽनतिलङ्घ्यशासनत्वदुर्मदतया च प्रसह्य निराक्रियमाणः क्रोधान्धः तस्यैतत्तावत्स्वचित्तवृत्तिसमुचितमनुष्ठानं यन्मूर्धकर्तनं नाम, माऽन्योऽपि कश्चिन्ममाज्ञां लङ्घयिष्यतीति। त इति यथा तादृगपि त्वया न गणितस्तस्यास्तवेत्यर्थः। तदपि तथा अविकारेणोत्सवापत्तिबुद्ध्या नेत्रविस्फारतामुखप्रसादादिलक्ष्यमाणया सोढम्। यथा येन प्रकारेण कुलजन इति यः कश्चित्पामरप्रायोऽपि कुलवधूशब्दवाच्यः। उच्चैः शिरो धत्ते एवंविधाः किल वयं कुलवध्वो

पर उस निषेधजन्य क्रोध के अनुरूप ही तुम्हारे साथ व्यवहार किया और तुमने भी उसके क्रूर व्यवहार को इस प्रकार वीरतापूर्वक सहन किया कि आज भी कुलवधुयें उस कारण अपना सिर ऊँचे उठाई हुई हैं, इस प्रकार तुम दोनों ने अपने-अपने अनुरूप ही कार्य किया, परन्तु तुम्हारी विपत्तियों का साक्षी बन कर भी आज व्यर्थ ही इस धनुष को धारण करने वाले अपने जीवन के लोभी इस राम ने अपने प्रेम के योग्य कार्य नहीं किया।

हे प्रिये वैदेहि! राक्षस-स्वभाव के कारण जो क्रूर अनतिलङ्घ्यशासन होने से दुर्मद होने के कारण हठात् तिरस्कृत होने से क्रोधान्ध हो रहा है, उसकी अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार अनुष्ठान है सिर काट डालना, जिससे अब कोई मेरी आज्ञा का उलङ्घन नहीं करेगा। उस प्रकार के भी उसे तुमने कुछ नहीं समझा। **त इति** उसे भी उस प्रकार बिना विकार के नेत्रों की विस्फारता और मुख की प्रसन्नता आदि से लक्ष्यमाण उत्सव-प्राप्ति की बुद्धि से तुमने सहन किया, यथा **येन प्रकारेण कुलजन**

लोचनम्

भवाम इति। अथ च शिरःकर्तनावसरे त्वया शीघ्रं कृत्यतामिति तथा सोढं तथोच्चैः शिरो धृतं यथान्योऽपि कुलस्त्रीजन उच्चैः शिरो धत्ते नित्यप्रवृत्ततया। एवं रावणस्य तव च समुचितकारित्वं निर्व्यूढम्। मम पुनः सर्वमेवानुचितं पर्यवसितम्। तथाहि राज्यनिर्वासनादिनिरवकाशी-कृतधनुर्व्यापारस्यापि कलत्रमात्ररक्षणप्रयोजनमपि यच्चापमभूत्तत्संप्रति त्वय्यरक्षितव्यापन्नायामेव निष्प्रयोजनम्, तथापि च तद्धारयामि। तन्नूनं निजजीवितरक्षैवास्य प्रयोजनत्वेन संभाव्यते। न चैतद्युक्तम्। *रामेणेति।* समसाहसरसत्वसत्यसंधत्वोचितकारित्वादिव्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतेनेत्यर्थः। 'कापुरुषादिधर्मपरिग्रहस्त्वादिशब्दात्' इति यद्व्याख्यातम्, तदसत्; कापुरुषस्य ह्येतदेव प्रत्युतोचितं स्यात्। प्रिय इति शब्दमात्रमेवैतदिदानीं संवृत्तम्। प्रियशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं यत्प्रेमनाम तदप्यनौचित्यकलङ्कितमिति शोकालम्बनोद्दीपनविभावयोगात्करुणरसो रामस्य स्फुटीकृत इति। *एमेअ इति।*

इति। जो कोई पामरप्राय भी इस कूलबधू शब्द से अभिहित है। आज भी सिर ऊँचा रखती हैं कि देखो हम कुलवधुयें इस प्रकार की होती है। और भी, सिर काटने के अवसर में तुमने 'शीघ्र काटो' यह कह कर सहन किया और अपना सिर ऊँचा कर लिया, जैसे अन्य भी कुलवधुयें नित्यप्रवृत्त (इस प्रकार का नित्य आचरण) होने के कारण अपना सिर ऊँचा रखती हैं। इस प्रकार रावण का और तुम्हारा समुचितकारित्व निष्पन्न हो जाता हैं। किन्तु मेरा तो सभी कुछ अनुचित पर्यवसित हुआ। जैसा कि राज्य के निर्वासन आदि के समय धनुष का कोई व्यापार नहीं किया, इसके बाद अपने कलत्रमात्र की रक्षा के प्रयोजन के लिये भी जो चाप था, वह भी उस समय जब कि तुम अरक्षित हो विपन्न हो गई तब भी निष्प्रयोजन ही रहा, फिर भी मैं अब तक उसे धारण किये हूँ, तो निश्चय ही अपने प्राणों की रक्षा मात्र इसके धारण का प्रयोजन संभावित है। यह तो उचित नहीं। इस पर कहते हैं– '**रामेण प्रियजीवितेन सुकृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्**' राम– अर्थात् समरसाहसरसत्व, सत्यसंधत्व, उचितकारित्व आदि व्यङ्ग्य धर्मान्तरों में परिणत। आदि पद से कापुरुषत्व आदि धर्म का परिग्रह कर जो व्याख्यान किया गया है वह ठीक नहीं, क्योंकि तब कापुरुष के लिये यही उचित होता ऐसा अर्थ होता। प्रिये! यह शब्दमात्र ही इस समय रह गया है और प्रिय शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त जो प्रेम का नाम है वह अनौचित्य से कलङ्कित है। इस प्रकार शोक के आलम्बन, उद्दीपन विभावों के योग से राम का करुण रस स्फुट है।

ध्वन्यालोकः

यथा वा–

एमेअ जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाइ ससिबिम्बम्।
परमत्थविआरे उण चन्दो चन्दो विअ वराओ॥

अत्र द्वितीयश्चन्द्रशब्दोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः।

व्यञ्जक है। अथवा जैसे **एवमेव**। इसी प्रकार लोग उसके कपोलों की उपमा शशिबिम्ब से देते है। परमार्थतः विचार करने पर चन्द्र तो चन्द्र के समान बेचारा है ही। यहाँ दूसरा चन्द्र शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है।

लोचनम्

एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम्।
परमार्थाविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराकः॥ (इति छाया।)

एवमेवेति स्वयमविवेकान्धतया। जन इति लोकप्रसिद्धगतानुगतिकतामात्रशरणः। तस्या इत्यसाधारणगुणगणमहार्घवपुषः। कपोलोपमायामिति निर्व्याजलावण्यसर्वस्वभूतमुखमध्यवर्तिप्रधानभूतकपोलतलस्योपमायां प्रत्युत तदधिकवस्तुकर्तव्यं ततो दूरनिकृष्टं शशिबिम्बं कलङ्कव्याजजिह्मीकृतम्। एवं यद्यपि गड्डुरिकाप्रवाहपतितो लोकः, तथापि यदि परीक्षकाः परीक्षन्ते तद्वराकः कृपैकभाजनं यश्चन्द्र इति प्रसिद्धः स चन्द्र एव क्षयित्वविलासशून्यत्वमलिनत्वधर्मान्तरसंक्रान्तो योऽर्थः। अत्र च यथा व्यङ्ग्यधर्मान्तरसङ्क्रान्तिस्तथा पूर्वोक्तमनुसन्धेयम्। एवमुत्तरत्रापि।

एवमेवेति स्वयमविवेकान्ध होने के कारण। **जन इति** लोक में प्रचलित प्रथा के पीछे चलने के पक्षपाती। **तस्या इति** असाधारण गुणगणों से परिपूर्ण होने के कारण उस महामहर्घशाली शरीर वाली के। **कपोलोपमायामिति** कपोलो की उपमा जो निर्व्याज लावण्यसर्वस्वभूत और मुखमध्य में रहने वालों में प्रधानभूत कपोल की उपमा। प्रत्युत उस चन्द्र से भी अधिक वस्तु देनी चाहिये। तो यह व्यर्थ समीप अथवा दूर रहने वाले अत्यन्त निकृष्ट कलङ्कव्याजधारी शशसंमलिन किये गये चन्द्रबिम्ब से देते हैं। इस प्रकार संसार यद्यपि गड्डुरिका (भेड़ की चाल) की भाँति प्रवाहपतित है, तथापि यदि परीक्षक लोग परीक्षा करते हैं तब वराक (विचारा) अर्थात् एकमात्र कृपा का पात्र जो चन्द्र नाम से प्रसिद्ध है वह चन्द्र क्षयित्व, विलासशून्यत्व और मलिनत्व धर्मान्तरों से संक्रान्त अर्थ वाला है, यहाँ जैसे व्यङ्ग्य धर्मान्तरवाच्य की संक्रान्ति है, वैसे ही पूर्वोक्त का भी अनुसंधान कर लेना चाहिये। इस प्रकार आगे भी।

ध्वन्यालोकः

अविवक्षतवाच्यस्यात्यन्तरिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे वाक्यप्रकाशता यथा–

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अविवक्षितवाच्य के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक प्रभेद में वाक्य-प्रकाशता जैसे— **येति** जो समस्त प्राणियों की रात्रि है उसमें संयमी जागता है और जिसमें प्राणीमात्र जागते हैं वह तत्त्वज्ञानी (तत्त्व ज्ञान की अपेक्षा रखने वाले) मुनि की रात्रि है।

लोचनम्

एवं प्रथमभेदस्य द्वावपि प्रकारौ पदप्रकाशकत्वेनोदाहृत्य वाक्यप्रकाशकत्वेनोदाहरति–*या निशेति। विवक्षित* इति। तेन ह्युक्तेन न कश्चिदुपदेश्यं प्रत्युपदेशः सिद्ध्यति। निशायां जागरितव्यमन्यत्र रात्रिवदासितव्यमिति किमनेनोक्तेन। तस्माद्बाधितस्वार्थमेतद्वाक्यं संयमिनो लोकोत्तरतालक्षणेन निमित्तेन तत्त्वदृष्टाववधानं मिथ्यादृष्टौ च पराङ्मुखत्वं ध्वनति। सर्वशब्दार्थस्य चापेक्षिकतयाप्युपपद्यमानतेति न सर्वशब्दार्थान्यथानुपपत्त्यायमर्थ आक्षिप्तो मन्तव्यः। सर्वेषां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां चतुर्दशानामपि भूतानां या निशा व्यामोहजननी तत्त्वदृष्टिः तस्यां संयमी जागर्ति कथं प्राप्येतेति। न तु विषयवर्जनमात्रादेव संयमीति यावत्। यदि वा सर्वभूतनिशायां मोहिन्यां जागर्ति कथमियं हेयेति। यस्यां तु मिथ्यादृष्टौ

इस प्रकार प्रथम भेद के दोनों प्रकारों का पदप्रकाशक रूप से उदाहरण देकर वाक्यप्रकाशक रूप से उदाहरण देते हैं। **या निशेति** इस कथन से किसी उपदेश्य के प्रति उपदेश सिद्ध नहीं होता। 'रात्रि में जागना चाहिये तथा दिन में रात्रि की भाँति रहना चाहिये'– इस कथन से क्या सिद्ध हुआ? इसलिये अपने अर्थ के बाधित होने पर यह वाक्य लोकोत्तरतारूप निमित्त से संयमों की यथार्थ दृष्टि में अवधान और मिथ्या दृष्टि में पराङ्मुखता ध्वनित करता है। **सर्वभूतानामिति** यहाँ सर्वशब्द के अर्थ के आपेक्षिक होने पर भी यह उपयुक्त है इसलिये सर्वशब्द के अर्थ की अन्यथानुपपत्ति से यह अर्थ आक्षिप्त नहीं समझना चाहिये। सभी अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावर-पर्यन्त चतुर्दश भूत (८ दैव, १ मानुषक, ५ तिर्यक्) की जो रात्रि अर्थात् व्यामोहजननी तत्त्वदृष्टि है, उसमें संयमी जागता रहता है जिससे कि तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो न कि विषयवर्जन मात्र से संयमी है। अथवा सब भूतों की मोहिनी रात्रि में जागता रहता

ध्वन्यालोकः

अनेन हि वाक्येन निशार्थो न च जागरणार्थः कश्चिद्विवक्षितः। किं तर्हि? तत्त्वज्ञानावहितत्वमतत्त्वपराङ्मुखत्वं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यास्य व्यञ्जकत्वम्।

इस वाक्य से निशा पद तथा जागरण वाचक जागर्त्ति तथा जाग्रति शब्द) पद का कोई मुख्यार्थ विवक्षित नहीं है तो फिर क्या विवक्षित है? तत्त्वज्ञानी मुनि की तत्त्वनिष्ठता और अन्यों की अतत्त्वपराङ्रवता प्रतिपादित है इसलिये अत्यन्ततिरस्कृवाच्य निशा तथा जागर्ति अनेक शब्दरूप वाक्य की ही व्यञ्जकता

लोचनम्

सर्वाणि भूतानि जाग्रति अतिशयेन सुप्रबुद्धरूपाणि सा तस्य रात्रिरप्रबोधविषयः। तस्या हि चेष्टायां नासौ प्रबुद्धः। एवमेव लोकोत्तराचारव्यवस्थितः पश्यति मन्यते च। तस्यैवान्तर्बहिष्करण-वृत्तिश्चरितार्था। अन्यस्तु न पश्यति न च मन्यत इति। तत्त्वदृष्टिपरेण भाव्यमिति तात्पर्यम्। एवं च पश्यत इत्यपि मुनेरित्यपि च न स्वार्थमात्रविश्रान्तम्। अपि तु व्यङ्ग्य एव विश्राम्यति। यत्तच्छब्दयोश्च न स्वतन्त्रार्थतेति सर्व एवायमाख्यातसहायः पदसमूहो व्यङ्ग्यपरः। तदाह–*अनेन हि वाक्येनेति।* प्रतिपाद्यत इति ध्वन्यत इत्यर्थः। विषमयितो विषमयतां प्राप्तः। केषाञ्चिद्दुष्कृतिनामतिविवेकिनां वा। केषाञ्चित्सुकृतिनाम-त्यन्तमविवेकिनां वा अतिक्रामत्यमृतनिर्माणः। केषाञ्चिन्मिश्रकर्मणां

है कि किस प्रकार इसे त्याग दिया जाय? परन्तु जिस मिथ्यादृष्टि से समस्त भूत जागते रहते हैं अर्थात् अतिशय रूप से सुप्रबुद्ध रहते हैं वह उस संयमी की रात्रि अर्थात् अप्रबोध का विषय है, क्योंकि उस रात्रि की चेष्टा में वह प्रबुद्ध नहीं है। इसी प्रकार लोकोत्तर क्रिया-कलाप में व्यवस्थित होकर देखता है और मानता है। उसी की आभ्यन्तर और बाह्य इन्द्रियों की वृत्ति चरितार्थ (सफल) है। परन्तु दूसरा न तो देखता है, न मानता है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वदृष्टि के लिये तत्पर होना चाहिये। **पश्यतः इति** इस प्रकार देखते हुये मुनि के यह अपने अर्थमात्र में नहीं रहता। अपितु व्यङ्ग्य में ही विश्राम लेता है और यहाँ यत्तद् (या सा) शब्द का भी स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता। किन्तु सभी आख्यात सहायक पदसमूहरूप वाक्य ही व्यङ्ग्यपरक हैं। इसलिये कहते हैं—**अनेन हि वाक्येन विषमयित** इति अर्थात् विषमयता को प्राप्त। किन्हीं दुष्कृतियों अथवा अविवेकियों का। किन्हीं सुकृतियों अथवा अतिविवेकियों का काल अमृत बन

ध्वन्यालोकः

तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य वाक्यप्रकाशता यथा–

विसमइओ काण वि काण वि वालेइ अमिअणिम्माओ।
काण वि विसामिअमओ काण वि अविसामओ कालो॥
(विषमयितः केषामपि प्रयात्यमृतनिर्माणः।
केषामपि विषामृतमयः केषामप्यविषामृतः कालः॥
इति छाया)

है। उसी अविवक्षितवाच्यध्वनि अर्थात् लक्षणामूल ध्वनि की अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यभेद की पदप्रकाशता का उदाहरण जैसे **विषमयित** इति– किन्हीं का समय विषमयित (दुःखमय) किन्हीं का अमृतमय (सुखमय) और किन्हीं का विष और अमृतमय (सुख-दुःखमिश्रित उभयात्मक) और किन्हीं का न विष न अमृत (सुखदुःखरहित) व्यतीत होता है।

लोचनम्

विवेकाविवेकवतां वा, विषामृतमयः। केषामपि मूढप्रायाणां धाराप्राप्तयोगभूमिकारूढानां वा अविषामृतमयः कालोऽतिक्रामतीति सम्बन्धः। विषामृतपदे च लावण्यादिशब्दवन्निरूढलक्षणारूपतया सुखदुःखसाधनयोर्वर्तेते, यथा– विषं निम्बममृतं कपित्थमिति। न चात्र सुखदुःखसाधने तन्मात्रविश्रान्ते, अपि तु स्वकर्तव्यसुखदुःपर्यवसिते। न च ते साधने सर्वथा न विवक्षिते। निस्साधनयोस्तयोरभावात्। तदाह– ***सङ्क्रमितवाच्याभ्यामिति।*** **केषाञ्चिदिति चास्य विशेषे सङ्क्रान्तिः। अतिक्रामतीत्यस्य च क्रियामात्रसङ्क्रान्तिः। काल इत्यस्य च**

जाता है। किन्हीं मिश्रकर्म वालों (कुछ दुष्कृत, कुछ सुकृत इस प्रकार मिश्रित) अथवा विवेक-अविवेक बालों का विष-अमृतमय होता है। किन्हीं मूढप्राय अथवा धारा के क्रम से प्राप्त योग की भूमिका में आरूढ लोगों का न विषमय न अमृतमय काल व्यतीत होता है। यहाँ विष और अमृत पद, लावण्य शब्द की भाँति निरूढलक्षणा रूप होने के कारण सुख और दुःख के साधन में प्रयुक्त हैं। जैसे निम्ब (नीम) विष है, कपित्थ अमृत है। यहाँ सुख और दुःख के साधन सुख और दुःख के साधनमात्र में विश्रान्त नहीं है, अपितु अपने कर्त्तव्य सुख और दुःख में पर्यवसित हैं। ऐसी बात नहीं कि साधन सर्वथा विवक्षित नहीं है, क्योंकि बिना साधन के वे दोनों नहीं होते। इसलिये कहते हैं **सुखदुःखसंक्रमितवाच्याभ्यामिति**-संक्रमितवाच्य वाले।

ध्वन्यालोकः

अत्र हि वाक्ये विषामृतशब्दाभ्यां दुःसुखरूपसङ्क्रमितवाच्याभ्यां व्यवहार इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्।

विवक्षिताभिधेयस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य शब्दशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा–

इस वाक्य में विष और अमृत शब्द दुःख और सुख रूप अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य रूप से व्यवहार में आये हैं इसलिये अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का ही व्यञ्जकत्व है।

विवक्षितान्यपरवाच्य (अर्थात् अभिधामूलध्वनि) के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के शब्दशक्त्युद्भव नामक भेद में पदप्रकाशता का उदाहरण जैसे **प्राप्तुमिति** यदि

लोचनम्

सर्वव्यवहारसङ्क्रान्तिः। उपलक्षणार्थं तु विषामृतग्रहणमात्रसङ्क्रमणं वृत्तिकृता व्याख्यातम्। तदाह–*वाक्य इति।*

एवं कारिकाप्रथमार्धलक्षितांश्चतुरः प्रकारानुदाहृत्य द्वितीयकारिकार्धस्वीकृतान् षडन्यान् प्रकारान् क्रमेणोदाहरति–*विवक्षिताभिधेयस्येत्यादिना। प्रातुमिति* पूरयितुम्। धनैरिति बहुवचनं यो येनार्थी तस्य तेनेति सूचनार्थम्। अत एवार्थिग्रहणम्। जनस्येति बाहुल्येन हि लोको धनार्थी, न तु गुणैरुपकारार्थी। दैवेनेति। अशक्यपर्यनुयोगेनेत्यर्थः। *अस्मीति।* अन्यो हि तावदवश्यं कश्चित्सृष्टो न त्वहमिति निर्वेदः। प्रसन्नं लोकोपयोगि अम्बु धारयतीति। *कूपोऽथवेति।* लोकैरप्यलक्ष्यमाण इत्यर्थः। *आत्मसमानाधि-*

केषाञ्चिदिति किन्हीं के लिये। इसका विशेष में (दुष्कृती आदि उक्त विशेष अर्थ में) संक्रान्ति है। 'काल' इसका भी सभी व्यवहार में संक्रान्ति है। वृत्तिकार ने तो उपलक्षण के लिये विष और अमृत शब्दमात्र के सङ्क्रमण का व्याख्यान किया है। इसीलिये कहते हैं **वाक्ये**-वाक्य में।

इस प्रकार कारिका के प्रथमार्थ में लक्षित चारों प्रकारों का उदाहरण देकर द्वितीयार्ध में स्वीकृत छः अन्य प्रकारों का क्रम से उदाहरण देते हैं– विरक्षितवाच्य के। **प्राप्तुमिति** पूर्ण करने के लिये। धनैः यहाँ बहुवचन जो जिसका अर्थी है उसे उसके द्वारा इसके सूचनार्थ है अतएव **अर्थी** का ग्रहण किया है। **जन अर्थात्** बहुत से लोग धन चाहते हैं न कि गुणों से उपकार चाहते हैं। **दैवेन** अर्थात् जिससे कुछ प्रश्न करना भी संभव नहीं है। **मुझे।** अर्थात् अन्य किसी को बनाया होगा पर मुझे नहीं, यह निर्वेद है। **प्रसन्नाम्बुधरः** प्रसन्न अर्थात् स्वच्छ सबके उपयोगी जलधारण करता है।

ध्वन्यालोकः

प्राप्तुं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छां दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि।
पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः कूपोऽथवा किं न जडः कृतोऽहम् ॥१॥

अत्र हि जड इति पदं निर्विण्णेन वक्त्रात्मसमानाधिकरणतया प्रयुक्तमनुरणनरूपतया कूपसमानाधिकरणतां स्वशक्त्या प्रतिपद्यते।

दैव ने मुझे धन के याचक जनों की इच्छा पूर्ण करने योग्य नहीं बनाया तो स्वच्छ जल से परिपूर्ण मार्ग में तालाब या जड़ (परदु:खानभिज्ञ किसको किस वस्तु की आवश्यकता है इसके समझने की शक्ति से अनाभिज्ञ अर्थात् जड़ और शीतल निर्वेद संतापादि से रहित) कुआँ ही क्यों न बना दिया। यहाँ खिन्न हुये वक्ता ने जड़ शब्द का प्रयोग (आत्मसमानधिकरणतया अर्थात् अपने को बोध कराने वाले अहम् पद के साथ जडोऽहम् इस रूप में समानविभक्ति समानवचन में) अपने लिये किया था, परन्तु संलक्ष्यक्रम रूप से (स्वशक्ति शब्द में शक्ति अर्थात् अभिधामूल व्यञ्जना) द्वारा वह (कूपसमानाधिकरण) कूप का विशेषण बन जाता है।

लोचनम्

करणतयेति। **जडः किङ्कर्तव्यतामूढ इत्यर्थः, अत च कूपो जडोऽर्थिता कस्य कीदृशीत्यसम्भवद्विवेक इति। अत एव जडः शीतलो निर्वेदसन्तापरहितः। तथा जडः शीतजलयोगितया परोपकारसमर्थः। अनेन तृतीयार्थेनायं जडशब्दस्तटाकार्थेन पुनरुक्तार्थसम्बन्ध इत्यभिप्रायेणाह–*कूपसमानाधि-करणतामिति।* स्वशक्त्येति शब्दशक्त्युद्भवत्वं योजयति। *महाप्रलय* इति। महस्य उत्सवस्य आसमन्तात्प्रलयो यत्र तादृशि शोककारणभूते वृत्ते धरण्या राज्यधुराया धारणायाश्वासनाय त्वं शेषः शिष्यमाणः। इतीयता पूर्णे**

अथवा कूप अर्थात् लोगों की दृष्टि भी जिस पर न पड़े। स्वसमानाधिकरण रूप से जड़ अर्थात् किंकर्त्तव्यतामूढ और कूप ज़ड़ है अर्थात् कौन कैसा अर्थी है इसका विवेक नहीं करता अतएव जड़ अर्थात् शीतल। निर्वेद और संताप से रहित (तथा जड़ शीत जल से युक्त होने के कारण परोपकार करने में समर्थ। निर्विण्णेनेत्यादि इस तृतीयार्थ से शीत जल से युक्त होने के कारण जड़ शब्द तालाब के अर्थ के साथ पुनरुक्त अर्थ का सम्बन्ध हो जायगा, क्योंकि तालाब का विशेषण प्रसन्नाम्बुधर दे ही चुके हैं। इस अभिप्राय से कहते हैं– कूपसमानाधिकरणभाव– 'अपनी शक्ति से' इस कथन

ध्वन्यालोकः

तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा हर्षचरिते सिंहनादवाक्येषु– 'वृत्तेऽस्मिन्महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः'।

एतद्धि वाक्यमनुरणनरूपमर्थान्तरं शब्दशक्त्या स्फुटमेव प्रकाशयति।

अस्यैव कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरस्यार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा हरिविजये–

चूअंकुरावअंसं छणमप्पसरमहग्घणमणहरसुरामोअम्।

उसी (विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूल ध्वनि के अन्तर्गत संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य शब्दशक्त्युत्थभेद) की वाक्यप्रकाशता का उदाहरण, जैसे बाणभट्टकृत हर्षचरित के षष्ठ उच्छ्वास में सेनापति सिंहनाद का वचन **वृत्त इति**। इस (तुम्हारे पिता प्रभाकरवर्धन और ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन की मृत्युरूप) महाप्रलय हो जाने पर इस पृथ्वी (राज्यभार) को धारण करने के लिये अब तुम शेष (शेषनाग) हो।

यह वाक्य (इस महाप्रलय के हो जाने पर पृथ्वी धारण करने के लिये अकेले शेषनाग के समान) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (शेषनागरूप) अर्थात् अर्थान्तर को स्वशक्ति से स्पष्ट ही प्रकाशित करता है।

इसी (विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूलध्वनि) के कवि प्रौढोक्तिमात्रप्रसिद्ध अर्थशक्त्युद्भव भेद में पदप्रकाशता का उदाहरण, जैसे (प्रवरसेनकृत प्राकृतरूपक) हरिविजय में आम्रमञ्जरियों से विभूषित क्षण (अर्थात् वसन्तोत्सव) के प्रसार से अत्यन्त मनोहर सुर (अर्थात् कामदेव) के चमत्कार

लोचनम्

वाक्यार्थे कल्पावसाने भूपीठभारोद्वहनक्षम एको नागराज एव दिग्दन्तिप्रभृतिष्वपि प्रलीनेष्वित्यर्थान्तरम्।

चूताङ्कुरावतंसं क्षणप्रसरमहार्घमनोहरसुरामोदम्।

से शब्दशक्त्युद्भव की योजना करते हैं। **महाप्रलय इति** मह अर्थात् उत्सव का आसमन्तात् प्रलयः (प्रकर्षेण लय) जहाँ हो जाता है उस प्रकार के शोककारणभूत प्रसङ्ग में पृथ्वी के अर्थात् राजधुरी को धारण करने के लिये अर्थात् आश्वासन के लिये तुम शेष हो अर्थात् बच रहे शिष्यमाण हो। इतने से वाक्यार्थ के पूर्ण होने पर 'कल्पान्त में जब दिग्गज नष्ट हो गये तब नागराज अकेले ही पृथ्वी को धारण करने में सक्षम रह गये' यह अर्थान्तर भी उसी से प्रकाशित होता है।

ध्वन्यालोकः

असमप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छिमुहम् ॥

अत्र ह्यसमर्पितमपि कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्म्या मुखं गृहीतमित्यसमर्पितमपीत्येतदवस्थाभिधायिपदमर्थशक्त्या कुसुमशरस्य बलात्कारं प्रकाशयति।

से युक्त (पक्षान्तर में बहुमूल्य सुन्दर सुरा की सुगन्धि से युक्त) वासन्ती लक्ष्मी के मुख (प्रारम्भ) को कामदेव ने बिना दिये ही (बलात्कार) पकड़ लिया।

यहाँ कामदेव ने 'बिना दिये ही वसन्त लक्ष्मी का मुख पकड़ लिया' इसमें 'बिना दिये हुये ही' (नवोढ़ा नायिका की) अवस्थासूचक शब्द अर्थशक्ति से कामदेव के बलात्कार को प्रकाशित करता है। इसलिये यह कविप्रौढ़ोक्तिसिद्धवस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य अर्थशक्त्युद्भवध्वनि का उदाहरण है।

लोचनम्

महार्घेण उत्सवप्रसरेण मनोहरसुरस्य मन्मथदेवस्य आमोदश्चमत्कारो यत्र तत्। अत्र महार्घशब्दस्य परनिपातः, प्राकृते नियमाभावात्। छण इत्युत्सवः।

असमर्पितमपि गृहीतं कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्मीमुखम्॥

मुखं प्रारम्भो वक्त्रं च। तच्च सुरामोदयुक्तं भवति। मध्वारम्भे कामश्चित्तमाक्षिपतीत्येतावानयमर्थः कविप्रौढोक्त्यार्थान्तरव्यञ्जकः सम्पादितः। अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिशरीरार्थशक्त्युद्भवे पदवाक्य-प्रकाशतायामुदाहरणद्वयं न दत्तम्। 'प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः' इति प्राच्यकारिकाया इयतैवोदाहृतत्वं भवेदित्यभिप्रायेण। तत्र पदप्रकाशता यथा—

महार्घ (महनीय) उत्सव के प्रसार से मनोहर सुर अर्थात् कामदेव का आमोद चमत्कार है जहाँ वहाँ। यहाँ महार्घ शब्द का पर निपात हैं, क्योंकि प्राकृत में नियम नहीं। छण (क्षण) अर्थात् उत्सव, मुख अर्थात् प्रारम्भ और वक्त्रम्-मुख। सुरा के आमोद से युक्त है और मधु के प्रारम्भ में काम चित्त को आक्षिप्त (चलायमान) कर देता है। यहाँ इतना अर्थ कवि की प्रौढोक्ति से अर्थान्तर का व्यञ्जक बना दिया गया है। यहाँ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिशरीरअर्थशक्त्युद्भव में पदप्रकाशता और वाक्यप्रकाशता में उदाहरण नहीं दिये हैं इस अभिप्राय से कि **प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः** इस पूर्वकारिका का इतने ही से उदाहृतत्त्व बन जायगा। उनमें पदप्रकाशता जैसे यह

ध्वन्यालोकः

अत्रैव प्रभेदे वाक्यप्रकाशता यथोदाहृतं प्राक् 'सज्जेहि सुरहिमासो' इत्यादि। अत्र सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयत्यनङ्गाय शरानित्ययं वाक्यार्थः कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो मन्मथोन्माथकदनावस्थां वसन्तसमयस्य सूचयति।

इसी (विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूल अर्थशक्त्युद्भवसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) भेद में वाक्यप्रकाशता (का उदाहरण) जैसे सज्जयति सुरभिमासः' इत्यादि प्रहले उदाहरण दे चुके हैं।

यहाँ वसन्त मास (चैत्र मास) बाणों को बनाता है परन्तु कामदेव को दे नही रहा है, यह कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वाक्यार्थ वसन्तमास को कामोद्दीपनातिशयजन्य दुरखस्था को सूचित करता है।

लोचनम्

सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥

इत्यत्र कविना यो विरागी वक्ता निबद्धस्तत्प्रौढोक्त्या जीवितशब्दोऽर्थशक्तिमूलतयेदं ध्वनयति–सर्व एवामी कामा विभूतयश्च स्वजीवितमात्रोपयोगिनः, तदभावे हि सद्भिरपि तैरसद्रूपताप्यते, तदेव च जीवितं प्राणधारणरूपत्वात्प्राणवृत्तेश्च चाञ्चल्यादनास्थापदमिति विषयेषु वराकेषु किं दोषोद्घोषणदौर्जन्येन निजमेव जीवितमुपालभ्यम्, तदपि च निसर्गचञ्चलमिति न सापराधमित्येतावता गाढं वैराग्यमिति। वाक्यप्रकाशता यथा–'शिखरिणि' इत्यादौ।

ठीक है कि काम मनोरम होते हैं और यह ठीक है कि विभूतियाँ रम्य होती हैं किन्तु जीवन मतवाली अङ्गना की कटाक्ष-भङ्गिमा की भाँति चञ्चल है।

यहाँ कवि ने जिस विरागी वक्ता को निबद्ध किया है उसकी प्रौढोक्ति से जीवन शब्द अर्थशक्तिमूल रूप से ध्वनित करता है– ये सभी काम और विभूतियों अपने जीवनमात्र के उपयोग की वस्तुयें हैं, क्योंकि उस जीवन के अभाव में सज्जनों ने भी उन्हें असद्रूप माना है। जब कि वही जीवन प्राणधारण रूप होने से और प्राणवृत्ति के चञ्चल होने से अनास्था का स्थान है, तब बेचारे विषयों को दोष देने की दुर्जनता से क्या लाभ? उससे पहले तो अपने जीवन को उपालम्भ देना चाहिये जब कि वह स्वभावतः चञ्चल है, अपराधी नहीं। इस प्रकार गाढ़ वैराग्य हैं। वाक्यप्रकाशता का उदाहरण, जैसे **शिखरिणि** इत्यादि में।

ध्वन्यालोकः

स्वतःसम्भविशरीरार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा–

वाणिअअ हत्तिदन्ता कूत्तो अह्माण बाधकित्ती अ ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सुह्णा॥

अत्र लुलितालकमुखीत्येतत्पदं व्याधवध्वाः स्वतःसम्भवितशरीरार्थशक्त्या सुरतक्रीडासक्तिं सूचयंस्तदीयस्य भर्तुः सततसम्भोगक्षामतां प्रकाशयति।

तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा–

सिहिपिञ्छकण्णऊरा बहुआ बाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणँ मज्झे सवत्तीणम् ॥

स्वतः सम्भविशरीर अर्थशक्त्युद्भवप्रभेद में पदप्रकाशता, जैसे **वाणिजक** इति- अरे वणिक! हमारे यहाँ हाथी के दाँत और बाघ के चमड़े अब कहाँ? जब से चञ्चल केशों से युक्त मुख वाली यह पतोहू घर में चङ्क्रमण कर रही है तभी से इन वस्तुओं का अभाव हो गया है। यहाँ 'ललितालकमुखी' यह पद संभवि अर्थशक्ति से व्याधवधू (व्याध की पुत्रवधू) की सुरत की क्रीडासक्ति को सूचित करता हुआ उसके पति (व्याधपुत्र) की निरन्तर संभोग से उत्पन्न दुर्बलता को प्रकाशित करता है।

इसी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अर्थशक्त्युद्भव स्वतः संभवी वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य की वाक्यप्रकाशता का उदाहरण जैसे **शिखरिणीति।**

लोचनम्

वाणिजक! हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ।इति ८ छाया।

सविभ्रमं चंक्रम्यते। अत्र लुलितेति स्वरूपमात्रेण विशेषणमवलिप्ततया च हस्तिदन्ताद्यपाहरणं सम्भाव्यमिति वाक्यार्थस्य तावत्येव न काचिदनुपपत्तिः।

***सिहिपिच्छेति।* पूर्वमेव योजिता गाथा।**

विलास के साथ चङ्क्रमण करती है। चमकती हुई चलती है। यहाँ लुलित या चञ्चल यह विशेषण स्वरूप कथन मात्र से प्रयुक्त है और अभिमान से हाथी दाँत आदि का हटाना (न देना) भी संभाव्य है। इस प्रकार इतने में ही वाक्यार्थ की कोई अनुपपत्ति नहीं है।

ध्वन्यालोकः

अनेनापि वाक्येन व्याधवध्वाः शिखिपिच्छकर्णपूराया नवपरिणीतायाः कस्याश्चित्सौभाग्यातिशयः प्रकाश्यते। तत्सम्भोगैकरतो मयूरमात्रमारणसमर्थः पतिर्जात इत्यर्थप्रकाशनात् तदन्यासां चिरपरिणीतानां मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां दौर्भाग्यातिशयः ख्याप्यते। तत्सम्भोगकाले स एव व्याधः करिवरवधव्यापारसमर्थ आसीदित्यर्थप्रकाशनात्।

ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तं तत्कथं तस्य पदप्रकाशता। काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दसन्दर्भविशेषः। तद्भावश्च पदप्रकाशत्वे नोपपद्यते। पदानां स्मारकत्वेनावाचकत्वात्। उच्यते–

केवल मोरपङ्ख का कर्णभूषण पहने हुये व्याध की नवपरिणीता पत्नी मुक्ताफलों के आभूषणों से अलङ्कृत अपनी सपत्नियों के बीच अभिमान से फूली हुई (इठलाती हुई) चल रही है।

इस वाक्य में मोरपङ्ख का कर्णपूर धारण किये हुये व्याघ की नवपरिणीता किसी व्याधपत्नी का सौभाग्यतिशय सूचित करता है। रातदिन निरन्तर उसके साथ संभोग में निरत उसका पति अब केवल मयूरमात्र के मारने में समर्थ रह गया है इस अर्थ के प्रकाशन से पहले की व्याही हुई मोतियों के आभूषणों से सजी अन्य पत्नियों के संभोगकाल में तो वही व्याध बड़े-बड़े मत्त हाथियों के मारने में समर्थ था इस अर्थ के प्रकाशन से उसका दौर्भाग्यातिशय प्रकाशित होता है।

जब पहले **काव्यविशेषः ध्वनिः** इस कारिकांश में काव्यविशेष को ध्वनि कह चुके हैं तब वह काव्यविशेषध्वनि पदप्रकाश्य कैसे हो सकता है? वाच्य और व्यङ्ग्यरूप विशिष्ट अर्थ की प्रतीति के हेतुभूत शब्दसमुदाय को काव्य कहते

लोचनम्

***नन्विति।* समुदाय एव ध्वनिरित्यत्र पक्षे चोद्यमेतत्। *तद्भावश्चेति।* काव्यविशेषत्वमित्यर्थः। अवाचकत्वादिति यदुक्तं सोऽयमप्रयोजको हेतुरिति छलेन तावद्दर्शयति–*स्यादेष दोष इति।* एवं छलेन परिहृत्य वस्तुवृत्तेनापि**

सिंहपिच्छेति इस गाथा को पहले कह आये है।

नन्विति। समुदाय ही ध्वनि है इस पक्ष में यह कहना है। **तद्भावश्चेति** उसका भाव। अर्थात् काव्यविशेषत्व। पहले जो कह आये हैं, अवाचक होने के कारण वह अप्रयोजक हेतु हैं इसे छल से दिखाते हैं– **स्यादेष दोष इति**– यह दोष तब होता।

ध्वन्यालोकः

स्यादेव दोषः यदि वाचकत्वं प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारे स्यात्। न त्वेवम्; तस्य व्यञ्जकत्वेन व्यवस्थानात्। किं च काव्यानां शरीराणामिव संस्थानविशेषावच्छिन्नसमुदायसाध्यापि चारुत्वप्रतीति-

हैं, ध्वनि के पदप्रकाशतत्व पक्ष में विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतु शब्दार्थसंदर्भरूप काव्यत्व नहीं बन सकता। क्योंकि पदों के स्मारक होने से उनमें वाचकत्व नहीं रहता। पद केवल पदार्थ-स्मृति के हेतु हो सकते हैं इसलिये यह पदार्थ संसर्गरूप वाक्यार्थ के वाचक नहीं होते हैं, तब ध्वनिकाव्य में पदप्रकाशत्व कैसे रहेगा?

उत्तर कहते हैं– आप का कहा दोष (पदों के अवाचक होने से ध्वनि में पदप्रकाशता की अनुपपत्ति) तब आता यदि वाचकत्व को ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक माना जाय। परन्तु ऐसा है नहीं। ध्वनिव्यवहार तो व्यञ्जकत्व से व्यवस्थित होता है।

इसके अतिरिक्त जैसे शरीरधारी नायक-नायिकादि में सौन्दर्य की प्रतीति अवयवसंरचनाविशेष रूप समुदायसाध्य होने पर भी अन्वय–व्यतिरेक रूप से मुखादि रूप अवयवों में मानी जाती है। इसी प्रकार व्यञ्जकत्व मुख से पदों में ध्वनिव्यवहार की व्यवस्था मानने में कोई विरोध नहीं है।

लोचनम्

परिहरति–*किं चेति।* यदि परो ब्रूयात्–न मया अवाचकत्वं ध्वन्यभावे हेतूकृतं किं तूक्तं काव्यं ध्वनिः। काव्यं चानाकाङ्क्षप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति तत्राह– सत्यमेवं, तथापि पदं न ध्वनिरित्यस्माभिरुक्तम्। अपि तु समुदाय एव; तथा च पदप्रकाशो ध्वनिरिति प्रकाशपदेनोक्तम्। ननु पदस्य तत्र तथाविधं सामर्थ्यमिति कुतोऽखण्ड एव प्रतीतिक्रम इत्याशङ्क्याह– *काव्यानामिति।* उक्तं हि प्राग्विवेककाले विभागोपदेश इति।

इस प्रकार छल से परिहार कर परमार्थ रूप से भी परिहार करते हैं। **किं चेति** और भी यदि कोई दूसरा कहे, मैंने अवाचकत्व को ध्वनि के अभाव में हेतु नहीं माना है, किन्तु काव्य को ध्वनि कहा है और काव्य बिना आकाङ्क्षा की प्रतिपत्ति करने वाला वाक्य है पद नहीं। इस पर कहते हैं– यह ठीक है तथापि पद ध्वनि नहीं है। यह हमने कहा है अपितु समुदाय ही ध्वनि है और जैसा कि 'पदप्रकाश ध्वनि है' यह प्रकाश पद से कहा है। पद की वहाँ उस प्रकार की सामर्थ्य है अतः अखण्डरूप से प्रतीति-क्रम कहा है? इस आशङ्का पर कहते हैं– **काव्यानामिति** पहले विवेक के समय हमने विभाग का उपदेश कर दिया है।

ध्वन्यालोकः

रन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्प्यत इति पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनिव्यवहारो न विरोधी।

'अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वदापादयति दुष्टताम्।
श्रुतिदुष्टादिषु व्यक्तं तद्वदिष्टस्मृतिर्गुणम्॥
पदानां स्मारकत्वेऽपि पदमात्रावभासिनः।

जैसे **पाणिपल्लवपेलवः** इत्यादि उदाहरणों में पेलव आदि शब्दों के असभ्यार्थ के वाचक न होने पर व्यञ्जकमात्र होने से श्रुतिदुष्टादि दोष स्थलों में अनिष्ट अर्थ के श्रवणमात्र से काव्य में दुष्टता आ जाती है। इसी प्रकार ध्वनिस्थल में पदों से दृष्टार्थ की स्मृति भी गुणध्वनिव्यवहारप्रवर्त्तक हो सकती है।

इसलिये पदों के समारक होने पर भी एक पदमात्र से प्रतीत होने वाले ध्वनि के सभी प्रभेदों में रम्यता रह सकती है।

लोचनम्

ननु भागेषु पदरूपेषु कथं सा चारुत्वप्रतीतिरारोपयितुं शक्या? तानि हि स्मारकाण्येव। ततः किम्? मनोहारिव्यङ्ग्यार्थस्मारकत्वाद्धि चारुत्व-प्रतीतिनिबन्धनत्वं केन वार्यते। यथा श्रुतिदुष्टानां पेलवादिपदानामस-भ्यपेलाद्यर्थं प्रति न वाचकत्वम्। अपि तु स्मारकत्वम्। तद्वशाच्च चारुस्वरूपं काव्यं श्रुतिदुष्टम्। तच्च श्रुतिदुष्टत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु व्यवस्थाप्यते तथा प्रकृतेऽपीति तदाह–*अनिष्टस्येति।* अनिष्टार्थस्मारकस्येत्यर्थः। दुष्टतामित्यचारुत्वम्। गुणमिति चारुत्वम्। एवं दृष्टान्तमभिधाय पादत्रयेण तुर्येण दार्ष्टान्तिकार्थ उक्तः। अधुनोपसंहरति–*पदानामिति।* यत

अब संदेह करते हैं कि पदरूप भागों में चारुत्व की प्रतीति का आरोप कैसे किया जा सकता है, क्योंकि वे पद स्मारक ही होते हैं। समाधान करते हैं– **ततः किम्** इससे क्या? मनोहारी व्यङ्ग्य के स्मारक होने के कारण उन-उन पदों की चारुत्व-प्रतीति का निबन्धनत्व किससे वारण होगा? जैसे श्रुतिदुष्ट 'पेलव' आदि पद असभ्य पेल आदि अर्थ के वाचक नहीं है अपितु स्मारक हैं, इस कारण चारुत्वरूप काव्य श्रुतिदुष्ट हो जाता है, वह श्रुतिदुष्टत्व अन्वय–व्यतिरेक के द्वारा भागों में व्यवस्थापित होता है। उसी प्रकार प्रकृत में भी। इसलिये कहते हैं—**अनिष्टस्येति**

अर्थात् अनिष्ट अर्थ के स्मारक का। दुष्टता अर्थात् अचारुत्व, गुण अर्थात् चारुत्व। इस प्रकार तीन चरणों में दृष्टान्त का अभिधान करके चतुर्थ दार्ष्टन्तिक अर्थ

ध्वन्यालोकः

तेन ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वैष्वेवास्ति रम्यता।
विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥'
इति परिकरश्लोकाः॥१॥

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु।
वाक्ये सङ्घटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते॥२॥

और जिस प्रकार विशेष शोभाशाली किसी एक ही अङ्ग में धारण किये हुये आभूषण से कामिनी शोभित होती है उसी प्रकार पदमात्र से द्योतित होने वाले ध्वनि से भी सुकवि की भारती शोभित होती है। ये परिकर श्लोक हैं।

और जो असंलक्ष्यव्यङ्ग्य अभिधामूलक ध्वनि का भेद है वह (१) वर्णपदादि, (२) वाक्य (३) संघटना (४) और प्रबन्ध में भी प्रकाशित होता

लोचनम्

एवमिष्टस्मृतिश्चारुत्वमावहति तेन हेतुना सर्वेषु प्रकारेषु निरूपितस्य पदमात्रावभासिनोऽपि पदप्रकाशस्यापि ध्वने रम्यतास्ति स्मारकत्वेऽपि पदानामिति समन्वयः। अपिशब्दः काकाक्षिन्यायेनोभयत्रापि सम्बध्यते। अधुना चारुत्वप्रतीतौ पदस्यान्वयव्यतिरेकौ दर्शयति–*विच्छित्तीति*॥१॥

एवं कारिकां व्याख्याय तदसङ्गृहीतमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं प्रपञ्चयितुमाह– *यस्त्विति*। तुशब्दः पूर्वभेदेभ्योऽस्य विशेषद्योतकः। वर्णसमुदायश्च पदम्। तत्समुदायो वाक्यम्। सङ्घटना पदगता वाक्यगता च सङ्घठितवाक्यसमुदायः प्रबन्धः इत्यभिप्रायेण वर्णादीनां यथाक्रममुपादानम्

कहा है। अब उपसंहार करते हैं– **पदानामिति** पदों के। जिस कारण इस प्रकार इष्ट अर्थ की स्मृति चारुत्व अर्पित करती है उस कारण सभी प्रकारों में निरूपित पदमात्र से अवभासित होने वाले भी पदप्रकाश ध्वनि की रम्यता पदों के स्मारक होने पर भी है, यह श्लोकार्थ का समन्वय है। **अपीति** यहाँ अपि शब्द काकाक्षिगोलकन्याय से दोनों और सम्बद्ध किया गया है। अब चारुत्व की प्रतीति में पद का अन्व-व्यतिरेक प्रदर्शित करते हैं। **विच्छित्तीति** विशेष शोभा (विच्छित्ति)।

इस प्रकार कारिका की व्यख्या कर उसके द्वारा न कहे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का विचार करने के लिये कहते हैं—**यस्त्विति** परन्तु जो, यहाँ 'तु' शब्द पहले के प्रभेदों से इसका विशेष द्योतक है। वर्णों का समुदाय पद होता है। उन पदों का समुदाय

ध्वन्यालोकः

तत्र वर्णानामनर्थकत्वाद्द्योतकत्वमसम्भवीत्याशङ्क्येदमुच्यते–

शषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे ते न वर्णा रसच्युतः ॥३॥
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव ते न वर्णा रसच्युतः ॥४॥

है। उनमें से वर्णों के अनर्थक होने से उनका ध्वनिद्योतकत्व असंभव है, इस आशङ्का से कहते हैं– **शषाविति**-रेफ के संयोग से युक्त शष और ढकार का बहुल प्रयोग रसापकर्षक होने से शृङ्गाररस में विरोधी होते हैं। लोचनकार ने तो इसको दो पद मान कर और रसच्युतः कर वे वर्ण रस प्रवाहित करने वाले नहीं होते, यह व्याख्या भी की है।

और जब वे ही वर्ण बीभत्सादि रस में प्रयुक्त किये जाते है तो उस रस को दीप्त करते ही हैं, ये वर्ण रसहीन नहीं होते। अथवा 'तेन' इसको एक पद मानकर और रसच्युतः इस पाठ को मान कर ये वर्ण रस के क्षरण करने वाले अर्थात् प्रवाहित करने वाले होते हैं ऐसी व्याख्या भी लोचन में की गई हैं।

लोचनम्

आदिशब्देन पदैकदेशपदद्वितयादीनां ग्रहणम्। सप्तम्या निमित्तत्वमुक्तम्। दीप्ततेऽवभासते सकलकाव्यावभासकतयेति पूर्ववत्काव्यविशेषत्वं समर्थितम्॥२॥

***भूयसेति* प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तेन शकारो भूयसेत्यादि व्याख्यातव्यम्। रेफप्रधानस्संयोगः कर्ह्रर्द्र इत्यादिः। *विरोधिन इति।* परुषा वृत्तिर्विरोधिनी शृङ्गारस्य। यतस्ते वर्णा भूयसा प्रयुज्यमाना न रसांश्च्योतन्ति**

वाक्य होता है और संघटना पदगत और वाक्यगत होती है। संघटित वाक्यों का समुदाय प्रबन्ध होता है। इस अभिप्राय से वर्ण आदि का क्रम से उपादान है। यहाँ आदि शब्द से पद के एकदेश पद द्वितय आदि का ग्रहण है। पद आदि में सप्तमी से निमित्तत्व कहा गया है। दीप्त होता है अर्थात् समस्त काव्य के अवभासकत्व रूप से अवभासित होता है। इससे पूर्व की भाँति काव्यविशेषत्व का समर्थन किया।

भूयसेति– बहुत बार। इस पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। बहुत बार शकार' इत्यादि व्याख्यान करना चाहिये। रेफप्रधान संयोग जैसे कर्ह्रर्द्र इत्यादि। **विरोधिन इति** परुषा वृत्ति शृङ्गार की विरोधिनी है, क्योंकि वे वर्ण बहुत बार प्रयुज्यमान होकर रसों

ध्वन्यालोकः

श्लोकद्वयेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां वर्णानां द्योतकत्वं दर्शितं भवति।

यहाँ इन श्लोकों से पदों की द्योतकता अन्वय-व्यतिरेक से की गई है

लोचनम्

स्त्रवन्ति। यदि वा तेन शृङ्गारविरोधित्वेन हेतुना वर्णाः शषादयो रसाच्छृङ्गाराच्च्यवन्ते तं न व्यञ्जयन्तीति व्यतिरेक उक्तः। अन्वयमाह-*त एव त्विति।* शादयः। *तमिति।* बीभत्सादिकं रसम्। *दीपयन्ति* द्योतयन्ति। कारिकाद्वयं तात्पर्येण व्याचष्टे-*श्लोकद्वयेनेति।* यथासंख्यप्रसङ्गपरिहारार्थं श्लोकाभ्यामिति न कृतम्। पूर्वश्लोकेन हि व्यतिरेक उक्तो द्वितीयेनान्वयः। अस्मिन्विषये शृङ्गारलक्षणे शषादिप्रयोगः सुकवित्वमभिवाच्छता न कर्तव्य इत्येवंफलत्वादुपदेशस्य कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्तः। न च सर्वथा न कर्तव्योऽपि तु बीभत्सादौ कर्त्तव्य एवेति पश्चादन्वयः। वृत्तिकारेण त्वन्वयपूर्वको व्यतिरेक इति शैलीमनुसर्तुमन्वयः पूर्वमुपात्तः।

एतदुक्तं भवति-यद्यपि विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिसम्पदेव रसास्वादे निबन्धनम्। तथापि विशिष्टश्रुतिकशब्दसमर्थ्यमानास्ते विभावादयस्तथा भवन्तीति स्वसंवित्तिसिद्धमदः। तेन वर्णानामपि श्रुतिसमयोपलक्ष्यमाणार्थानपेक्ष्यपि श्रोत्रैकग्राह्यो मृदुपरुषात्मा स्वभावो

को प्रवाहित नहीं करते। अथवा शृङ्गार के विरोधी होने के कारण श, ष आदि वर्ण रस अर्थात् शृङ्गार से च्युत हो जाते हैं अर्थात् उसे व्यञ्जित नहीं करते यह व्यतिरेक कहा गया। अन्वय कहते हैं- वे ही अर्थात् श, ष आदि वर्ण उसको अर्थात् बीभत्स आदि रस को दीपित करते हैं अर्थात् द्योतित करते हैं, अब दोनों कारिकाओं का तात्पर्य से व्याख्यान करते हैं। **श्लोकद्वयेनेति**, यथासंख्य का प्रवर्त्तन हटाने के लिये दो श्लोक से यह नहीं कहा, क्योंकि प्रथम श्लोक से व्यतिरेक कहा है, द्वितीय से अन्वय। शृङ्गार रूप इस विषय में श ष आदि वर्णों का प्रयोग सुकवित्व की इच्छा वाला व्यक्ति न करें एतद् रूप उपदेश के फल के कारण कारिकाकार ने पहले व्यतिरेक कहा है। ऐसा नहीं कि सर्वथा नहीं करे, अपितु बीभत्स आदि में करे ही, यह अन्वय हैं। परन्तु वृत्तिकार ने अन्वयपूर्वक व्यतिरेक इस शैली से अनुसरण के लिये अन्वय का पहले उपादान किया है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की प्रतीतिसम्पत्ति ही रसास्वाद के कारण (निबन्धन) है तथापि जिनका सुनना विशिष्ट होता है ऐसे शब्दों द्वारा समर्प्यमाण होकर वे विभाव आदि उस प्रकार रसास्वाद में निबन्धन होते हैं। यह स्वप्रतीतिसिद्धि बात है। इस कारण वर्णों के भी श्रवण के अवसर में

ध्वन्यालोकः

पदे चालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य द्योतनं यथा–

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि॥

पद में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के द्योतन का उदाहरण यथा **उत्कम्पिनीति** वत्सराज उदयन अपनी पत्नी वासवदत्ता के आग में जल कर मर जाने का समाचार सुन कर विलाप कर रहे हैं, उसी प्रसङ्ग का यह श्लोक है।

आग के डर से कम्पित होती हुई भय से विगलितवसना अपने उन कातर नेत्रों की रक्षा की आशा में सभी दिशाओं में फेंकती हुई तुमको उस निष्ठुर एवं धूमान्ध अग्नि ने एक बार देखा तक नहीं और निर्दयतापूर्वक जला ही दिया। यहाँ

लोचनम्

रसास्वादे सहकार्येव। अत एव च सहकारितामेवाभिधातुं निमित्तसप्तमी कृता वर्णपदादिष्विति। न तु वर्णैरेव रसाभिव्यक्तिः, विभावादिसंयोगाद्धि रसनिष्पत्तिरित्युक्तं बहुशः। श्रोत्रैकग्राह्योऽपि च स्वभावो रसनिष्यन्दे व्याप्रियत एव, अपदगीतध्वनिवत् पुष्करवाद्यनियमितविशिष्ट-जातिकरण-घाद्यनुकरणशब्दवच्च। *पदे चेति।* पदे च सतीत्यर्थः। तेन रसप्रतीतिर्विभावादेरेव। ते विभावादयो यदा विशिष्टेन केनापि पदेनार्प्यमाणा रसचमत्कारविधायिनो भवन्ति तदा पदस्यैवासौ महिमा समर्प्यत इति भावः।

ज्ञायमान अर्थ की अपेक्षा न रखने वाला एकमात्र क्षेत्र द्वारा ग्राह्य मृदु अथवा परुष रूप स्वभाव रसास्वाद में सहकारी है ही और इसीलिये सहकारिता के अभिधान के लिये वर्ण, पद आदि में यह निमित्त सप्तमी की गई है, न कि वर्णों से ही रस की अभिव्यक्ति होती है। विभाव आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है यह बहुत बार कहा जा चुका है। एकमात्र क्षेत्र द्वारा ग्राह्य स्वभाव भी रसनिष्यन्द में व्यापृत होता है। बिना पद के गीत की ध्वनि की भाँति और पुष्कर (मृदङ्ग) वाद्य में नियमित एवं विशिष्ट जाति करण घ आदि अनुकरण शब्द की भाँति। **पदे चेति**– अर्थात् पद के होने पर। अतः रस की प्रतीति विभावादि विशिष्ट किसी पद से अर्प्यमाण हो कर रस-चमत्कार का विधान करते हैं तब पद की वह महिमा समर्पित होती है।

ध्वन्यालोकः

अत्र हि ते इत्येतत्पदं रसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहृदयानाम्। पदावयवेन द्योतनं यथा–

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य ।

'ते' यह पद सहृदयों को स्पष्ट ही रसमय प्रतीत होता है। पदांश से असंलक्ष्यक्रम के द्योतन का उदाहरण जैसे–**व्रीडेति**। गुरुजनों के समीप होने के कारण लज्जावश सिर नीचे किये कुचकलशों को विकसित करने वाले दुःखावेग को हृदय में ही दबा कर भी आँसू टपकाते हुये चकित हरिणी के समान हृदयाकर्षक

लोचनम्

_अत्र हीति।_ वासवदत्तादाहाकर्णनप्रबुद्धशोकनिर्भरस्य. वत्सराजस्येदं परिदेवितवचनम्। तत्र च शोको नामेष्टजनविनाशप्रभव इति तस्य जनस्य ये भ्रूक्षेपकटाक्षप्रभृतयः पूर्वं रतिविभावतामवलम्बन्ते स्म त एवात्यन्तविनष्टाः सन्त इदानीं स्मृतिगोचरतया निरपेक्षभावत्वप्राणं करुणमुद्दीपयन्तीति स्थितम्। _ते लोचने_ इति तच्छब्दस्तल्लोचनगतस्वसंवेद्याव्यपदेश्यानन्तगुणस्मरणाकारद्योतको रसस्यासाधारणनिमित्ततां प्राप्तः। तेन यत्केनचिच्चोदितं परिहृतं च तन्मिथ्यैव। तथाहि चोद्यम्–प्रक्रान्तपरामर्शकस्य तच्छब्दस्य कथमियति सामर्थ्यमिति। उत्तरं च-रसाविष्टोऽत्र परामृष्टेति। तदुभयमनुत्थानोपहतम्। यत्र ह्यनूद्दिश्यमानधर्मान्तरसाहित्ययोग्य-

अत्र हीति– यहाँ वासवदत्ता के जल जाने का समाचार सुनने से उत्पन्न शोक से आपूर्ण वत्सराज का यह शोक-वचन है। इसमें बात यह है कि शोक इष्टजन के विनाश से उत्पन्न होता है। इस प्रकार उस व्यक्ति के जो भ्रूविक्षेप, कटाक्ष, प्रभृति पहले रति की विभावना का अवलम्बन करते थे वे ही अत्यन्त विनष्ट होकर अब स्मृतिगोचर होने के कारण निरपेक्षभावत्वप्राण करुण को उद्दीपित करते हैं। **ते लोचने** इति– यहाँ तत् शब्द उसकी आँखों के स्वसंवेद्य एवं अव्यपदेश्य अनन्त गुणगणों के स्मरण के आकार के द्योतक बन कर रस के असाधारण निमित्त हो जाते हैं। इसलिये यहाँ जिसने इस प्रकार प्रश्न कर उसका परिहार किया है वह मिथ्या ही है। जैसा कि प्रश्न प्रकान्त के परामर्शक तत् शब्द का इतने में सामर्थ्य कैसे है? उत्तर-परामर्श करने वाला यहाँ रसाविष्ट है। इस प्रकार दोनों अवसर के न मिलने से अनुत्थान के कारण उपहत (नष्ट) हैं। क्योंकि जहाँ यत् शब्द से वस्तु का अनुद्दिश्यमान धर्मान्तर के साहित्ययोग्य धर्म का योगित्व अभिधान करके उस बुद्धिस्थ धर्मान्तर के साहित्य को

ध्वन्यालोकः

तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य वाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥

नेत्रत्रिभाग (कटाक्ष) जो मुझ पर फेंका तो क्या उसने अपनी इस मुद्रा से 'ठहरो' मत जाओ ऐसा नहीं कहा? यहाँ त्रिभाग शब्द पदांशद्योत्य ध्वनि है।

लोचनम्

धर्मयोगित्वं वस्तुनो यच्छब्देनाभिधाय तद्बुद्धिस्थधर्मान्तरसाहित्यं तच्छब्देन निर्वाच्यते। यत्रोच्यते-'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धत्वम्' इति, तत्र पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शकत्वं तच्छब्दस्य। यत्र पुनर्निमित्तोपनतस्मरण-विशेषाकारसूचकत्वं तच्छब्दस्य 'स घट' इत्यादौ यथा, तत्र का परामर्शकत्वकथेत्यास्तामलीकपरामर्शकैः पण्डितम्मन्यैः सह विवादेन।

उत्कम्पिनीत्यादिना **तदीयभयानुभावोत्प्रेक्षणम्। मयाऽनिर्वाहित-प्रतीकारमिति शोकावेशस्य विभावः।** ***ते*** **इति सातिशयविभ्रमैकायतनरूपे अपि लोचने विधुरे कान्दिशीकतया निर्लक्षे क्षिपन्ती कस्त्राता क्वासावार्यपुत्र इति तयोर्लोचनयोस्तादृशी चावस्थेति सुतरां शोकोद्दीपनम्।** ***क्रूरेणेति।*** **तस्यायं स्वभाव एव। किं कुरुतां तथापि च धूमेनान्धीकृतो द्रष्टुमसमर्थ इति न तु सविवेकस्येदृशानुचितकारित्वं सम्भाव्यते, इति स्मर्यमाणं तदीयं सौन्दर्यमिदानीं सातिशयशोकावेशविभावतां प्राप्तमिति। ते शब्दे सति सर्वोऽयमर्थो निर्व्यूढः। एवं तत्र तत्र व्याख्यातव्यम्।**

तत् शब्द द्वारा बोध करते हैं और जहाँ कहते हैं यत् और तत् का नित्यसम्बन्ध है वहाँ तत् शब्द पहले से प्रक्रान्त का परामर्शक होता है, किन्तु जहाँ तत् शब्द किसी कारण से लाये गये स्मरणविशेष के आकार का सूचक होता है जैसे 'वह घट' इत्यादि में, वहाँ परामर्शकत्व की बात क्या? मिथ्या परामर्श करने वाले पण्डितंमन्य जनों के साथ विवाद व्यर्थ हैं। **उत्कम्पिनीत्यादि**– उत्कम्पनशील इत्यादि से उसके भय के अनुभावों का उत्प्रेक्षण है जब कि मैंने उसका प्रतीकार नहीं किया। वह शोकावेश का विभाव है। **ते इति** उन अर्थात् अतिशय विलासों के एकमात्र आयतन रूप भी भय के मारे विधुर नेत्रों को इधर-उधर बिना लक्ष के नचाती हुई कौन बचाने वाला है? वे आर्यपुत्र कहाँ है? उन आँखों की यह अवस्था पूर्णरूप से शोक का उद्दीपन हैं। **क्रूरेणेति** उसका ऐसा स्वभाव ही है क्या करें। फिर भी धुयें से अन्धा होने के कारण नहीं देख सका। विवेकशील व्यक्ति ऐसा अनुचित कार्य नहीं कर सकता, इस प्रकार स्मरण किया जाता हुआ उस वासवदत्ता का सौन्दर्य इस समय अतिशय शोकावेश

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र त्रिभागशब्दः।

वाक्यरूपश्चालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः शुद्धाऽलङ्कारसङ्कीर्णश्चेति द्विधा मतः। तत्र शुद्धस्योदाहरणं यथा रामाभ्युदये–'कृतककुपितैः'

वाक्यरूप असंलक्षयक्रमध्वनि शुद्ध और अलङ्कारसंकीर्ण दो प्रकार का होता है। इसमें शुद्ध का उदाहरण जैसे रामाभ्युदय में **कृतककुपितैः** इत्यादि श्लोक।

लोचनम्

त्रिभागशब्द इति। गुरुजनमवधीर्यापि सा मां यथा तथापि साभिलाषमन्युदैन्यगर्वमन्थरं विलोकितवतीत्येवं स्मरणेन परस्परहेतुकत्व-प्राणप्रवासविप्रलम्भोद्दीपनं त्रिभागशब्दसन्निधौ स्फुटं भातीति। *वाक्यरूप-श्चेति।* प्रथमानिर्देशेनाव्यतिरेकनिर्देशस्यायमभिप्रायः। वर्णपदतद्भागादिषु सत्स्वेवालक्ष्यक्रमो व्यङ्ग्यो निर्भासमानोऽपि समस्तकाव्यव्यापक एव निर्भासते, विभावादिसंयोगप्राणत्वात्। तेन वर्णादीनां निमित्तत्वमात्रमेव, वाक्यं तु ध्वनेरलक्ष्यक्रमस्य न निमित्ततामात्रेण वर्णादिवदुपकारि, किं तु समग्रविभावादिप्रतिपत्तिव्यापृतत्वाद्रसादिमयमेव तन्निर्भासत इति 'वाक्य' इत्येतत्कारिकायां न निमित्तसप्तमीमात्रम्, अपि त्वनन्यत्र भावविषयार्थ-मपीति। शुद्ध इत्यर्थालङ्कारेण केनाप्यसंमिश्रः।

का विभाव बन रहा है। यहाँ 'ते' शब्द के होने के कारण यह सभी अर्थ निष्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार वहाँ व्याख्यान कर लेना चाहिये।

त्रिभाग इति– गुरुजनों की परवाह न करके भी वह मुझे जिस किसी प्रकार भी अभिलाषसहित क्रोध, दैन्य एवं गर्व से मन्थरभाव से देखने लगी। इस प्रकार स्मरण से परस्पर हेतु होने से उत्पन्न होने वाले प्रवास विप्रलम्भ का उद्दीपन त्रिभाग शब्द के सन्निधान में स्पष्ट प्रतीत होता है। **वाक्यरूपश्चेति**– यहाँ प्रथमा विभक्ति के निर्देश द्वारा अव्यतिरेक अर्थात् अभेद के बोधन का ऐसा अभिप्राय है— वर्ण-पद और पदभाग आदि में निर्भासमान भी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य समस्त काव्य में व्यापक रूप से निर्भासित होता है, क्योंकि विभाव आदि का संयोग उसका प्राण है इसलिये वर्ण आदि निमित्तमात्र ही होते हैं। परन्तु वाक्य अलक्ष्यक्रमध्वनि की निमित्तता मात्र से वर्ण आदि की भाँति उपकार नहीं करता, किन्तु समग्र विभाव आदि की प्रतिपत्ति (ज्ञान) से व्याप्त होने के कारण वह वाक्य रसमय ही निर्भासित होता है। इसलिये दूसरी कारिका में 'वाक्ये' यह निमित्तार्थक सप्तमी मात्र नहीं है, अपितु अन्य विषय का अभाव है इस अर्थ के बोध के लिये सप्तमी है। **शुद्ध इति** अर्थात् किसी अलङ्कार से न मिला हुआ।

ध्वन्यालोकः

इत्यादि श्लोकः। एतद्धि वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषप्राप्तं प्रदर्शयत्सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति।

यह वाक्य परिपुष्ट को प्राप्त सीता और राम के परस्परानुराग को प्रदर्शित करता हुआ सभी शब्दों से संपूर्ण वाक्यरूप से ही अभिव्यक्त कर रहा है।

लोचनम्

कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितै-
र्वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाम्बया।
नवजलधरश्यामाः पश्यन्दिशो भवतीं विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः॥

अत्र तथा तैस्तैः प्रकारैर्मात्रा धृतापीत्यनुरागपरवशत्वेन गुरुवचनोल्लङ्घनमपि त्वया कृतमिति। प्रिये प्रिय इति परस्परजीवितसर्वस्वाभिमानात्मको रतिस्थायिभाव उक्तः। नवजलधरेत्यसोढपूर्वप्रावृषेण्यजलदालोकनं विप्रलम्भोद्दीपनविभावत्वेनोक्तम्। जीवत्येवेति सापेक्षभावता एवकारेण करुणावकाशनिराकरणायोक्ता। *सर्वत एवेति।* नात्रान्यतमस्य पदस्याधिकं किञ्चिद्रसव्यक्तिहेतुत्वमित्यर्थः। *रसतत्त्वमिति।* विप्रलम्भशृङ्गारात्मतत्त्वम्।

कृतककुपितैरिति– कृत्रिम कोपों से और दीनतापूर्ण निरीक्षणों से उस प्रकार माता के द्वारा रोके जाने पर भी जिसके प्रेमवश तू वन को चली आई। हे प्रिये! नये बादलों से श्यामवर्ण की दिखाओं को देखता हुआ तुम्हारे बिना कठिन हृदय यह तुम्हारा प्रिय राम जी ही रहा है।

यहाँ उस प्रकार उन-उन प्रकारों से माता के रोके जाने पर भी अर्थात् अनुराग से परवश होने के कारण माता-पिता, गुरुजनों के वचनों का उल्लङ्घन भी तुमने किया। **प्रिये प्रियः** इति– इससे एक दूसरे के जीवित-सर्वस्व होने के अभिमान रूप रति का स्थायीभाव कहा गया है। **नवजलधरश्यामाः** इससे वर्षाकालीन बादलों का असह्य अवलोकन विप्रलम्भ के उद्दीपन विभाव के रूप में कहा है। **जीवत्येव** जी ही रहा है। यहाँ एवकार से यह सापेक्षभावता करुण रस के प्रसङ्ग के निराकरण के लिये कही गई है। **सर्वत्र एवेति**– अर्थात् यहाँ कोई ऐसा पद नहीं जो कुछ भी रस की अभिव्यक्ति करता है। रसतत्त्व अर्थात् विप्रलम्भशृङ्गाररूप आत्मतत्त्व निरन्तर काम रूप अभिनव नदी की बाढ़ के प्रवाह से बहते हुये परन्तु गुरुजन रूप विशाल बाँधों से रोके गये

ध्वन्यालोकः

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णो यथा–'स्मरनवनदीपूरेणोढाः'इत्यादि-श्लोकः। अत्र हि रूपकेण यथोक्तव्यञ्जकलक्षणानुगतेन प्रसाधितो रसः सुतरामभिव्यज्यते ॥३-४॥

अलङ्कारान्तर से संकीर्ण (मिश्रित वाक्यप्रकाश्य संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का उदाहरण) जैसे '**स्मरनवनदीपूरेणोढाः**' इत्यादि श्लोक।

यहाँ व्यञ्जक के यथोक्त (विवक्षा तत्परत्वेन नाति निर्वहणैषिता (द्र. उ. २ का. १८) में कहे गये लक्षणों से युक्त अनिर्व्यूढ रूपक अलङ्कार से अलङ्कृत रस भली प्रकार से अभिव्यक्त होता है।

लोचनम्

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभिर्यदपि
विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः।
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा

रूपकेणेति। **स्मर एव नवनदीपूरः प्रावृषेण्यप्रवाहः सरभसमेव प्रवृद्धत्वात् तेनोढाः परस्परसांमुख्यमबुद्धिपूर्वमेव नीताः। अनन्तरं गुरवः श्वश्रूप्रभृतय एव सेतवः, इच्छाप्रसररोधकत्वात्। अथ च गुरवोऽलङ्घ्याः सेतवस्तैः विधृताः प्रतिहतेच्छाः। अत एवापूर्णमनोरथास्तिष्ठन्ति। तथापि परस्परोन्मुखतालक्षणेनान्योन्यतादात्म्येन स्वदेहे सकलवृत्तिनिरोधाल्लिखितप्रायैरङ्गैर्नयनान्येव नलिनीनालानि तैरानीतं रसं परस्पराभिलाषलक्षणमास्वादयन्ति परस्पराभिलाषात्मकदृष्टिच्छटामिश्रीकारयुक्त्यापि कालमतिवाहयन्तीति। ननु नात्र रूपकं निर्व्यूढं**

अतएव अपूर्ण काम। प्रिया और प्रिय यद्यपि दूर-दूर या पास-पास बैठे रहते हैं। परन्तु चित्रलिखित के सदृश निश्छल अङ्गों से एक दूसरे को निहारते हुये नेत्ररूप कमलनाल द्वारा लाये गये (खींचे जाते हुये) रस का आपस में पान करते है।

रूपकेणेति काम ही नवनदी की पूरक वर्षाकालीन प्रवाह है, क्योंकि वह बहुत वेग के साथ बढ़ जाता है। उसके द्वारा ऊढ़ अर्थात् ले जाने के कारण वे प्रेमी और प्रेमिका बिना सोचे-विचारे एक दूसरे के सम्मुख हुये। अनन्तर माता, पिता गुरुजन प्रभृति जो सेतु हैं उनके द्वारा रोके गये अत: प्रतिहत इच्छा वाले हो गये। अत: अपूर्ण मनोरथ के कारण खड़े ही रहते हैं। तथापि परस्पर उन्मुखता रूप अन्योन्य तादात्म्य के द्वारा अपने शरीर की समस्त वृत्तियों के निरोध हो जाने के कारण चित्रलिखितप्राय अङ्गों से नयन रूपी मृणालों द्वारा आनीत परस्पराभिलाषरूप रस का आस्वादन करते हैं।

ध्वन्यालोकः

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः सङ्घटनायां भासते ध्वनिरित्युक्तं तत्र सङ्घटनास्वरूपमेव तावन्निरूप्यते–

यहाँ स्मरनवनदी से रूपक प्रारम्भ हुआ और **नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति** रस से समाप्त परन्तु बीच में नायक-युगल पर हंसादि का आरोप न होने से रूपक अनिर्व्यूढ रहा।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि संघटना में भी अभिव्यक्त होता है (दु. उ. ३ का. २) में कह चुके हैं उसमें ९ कारिका तक संघटना के स्वरूप का ही सबसे पहले निरूपण करते है। **असमासेति।**

लोचनम्

हंसचक्रवाकादिरूपेण नायकयुगलस्यारूपितत्वात्। ते हि हंसाद्या एकनलिनीनालानीतसलिलपानक्रीडादिषूचिता इत्याशङ्क्याह–*यथोक्तव्यञ्जकेति।* उक्तं हि पूर्वम्–'विवक्षातत्परत्वेन' इत्यादौ 'नातिनिर्वहणैषिता' इति। *प्रसाधित इति।* विभावादिभूषणद्वारेण रसोऽपि प्रसाधित इत्यर्थः।।

***सङ्घटनायामिति* भावे प्रत्ययः, वर्णादिवच्च निमित्तमात्रे सप्तमी। *उक्तमिति।* कारिकायाम्। *निरूप्यत* इति। गुणेभ्यो विविक्ततया विचार्यत इति यावत्। *रसानिति* कारिकायां द्वितीयार्धस्याद्यं पदम्। 'रसांस्तन्नियमे**

अर्थात् परस्पराभिलाष रूप दृष्टिच्छटा के मिश्रीकार (परस्पर विपिश्रम) की युक्ति से भी काल-यापन करते है।

यहाँ शङ्का करते हैं कि प्रकृतस्थल में रूपक का पूर्णरूपेण निर्वाह नहीं किया गया है। क्योंकि नायकयुगल को हंस, चक्रवाक आदि रूप से रूपण नहीं किया गया है, क्योंकि हंस आदि एक मृणाल से लाये जलपानादि क्रीडा की योग्यता रखते हैं, इसका उत्तर देते हैं कि **यथोक्तव्यञ्जकेति**– पहले कह चुके हैं कि '**विवक्षातत्परत्वेन नातिनिर्वहणैषिता**' अर्थात् जहाँ किसी अलङ्कार को अतिदूर तक निर्वाह करने की इच्छा न हो। **प्रसाधित** अर्थात् अलङ्कृत - विभाव आदि भूषण के द्वारा रस भी अलङ्कृत या प्रसाधित होता है।

'संघटना' यह भाव में प्रत्यय है और पूर्वकारिका में कहे गये वर्ण आदि की भाँति निमित्त मात्र में सप्तमी है। **उक्तमिति** कारिका में कहा है। **निरूप्यत** इति निरूपण करते हैं अर्थात् गुणों से भिन्न रूप में विचार करते हैं। **रसानिति** यह कारिका में द्वितीयार्ध का आद्य पद है। कारिका द्वितीयार्ध इस प्रकार है— '**रसांस्तन्नियमे**

ध्वन्यालोकः

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता ॥५॥

कैश्चित्– तां केवलमनूद्येदमुच्यते–

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा।

रसान्–

सा सङ्घटना रसादीन् व्यनक्ति गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीति। अत्र च विकल्प्यं गुणानां सङ्घटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा। व्यतिरेकेऽपि द्वयी गतिः। गुणाश्रया सङ्घटना, सङ्घटनाश्रया वा गुणा इति। तत्रैक्यपक्षे

(१) सर्वथा समासरहित (२) मध्यम समासों से अलङ्कृत और (३) दीर्घ समासयुक्त होने से संघटना रीति ३ प्रकार की मानी गई हैं। ऐसा वामन, उद्भट आदि विद्वानों ने माना है।

उन पूर्ववर्त्ती वामनादि प्रतिपादित रीति अथवा संघटना का केवल अनुवाद कर कहते हैं– **गुणानिति**

माधुर्यादि गुणों का आश्रय कर स्थित हुई यह संघटना रसों को अभिव्यक्त करती हैं।

यह संघटना गुणों के आश्रित होकर रसादि को अभिव्यक्त करती है, यहाँ इस प्रकार विकल्प करना चाहिये कि गुण और संघटना का अभेद (ऐक्य) है अथवा भेद व्यतिरेक (भेदपक्ष) में दो मार्ग है, गुणाश्रित संघटना है अथवा

लोचनम्

हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः' इति कारिकार्धम्। बहुवचनेनाद्यर्थः सङ्गृहीत इति दर्शयति– *रसादीनिति। अत्र चेति।* अस्मिन्नेव कारिकार्धे। विकल्पेनेदमर्थजातं कल्पयितुं व्याख्यातुं शक्यम्, किं तदित्याह-*गुणानामिति।* त्रयः पक्षा ये सम्भाव्यन्ते ते व्याख्यातुं शक्याः। कथमित्याह-*तत्रैक्यपक्ष इति।*

हेतुरौचित्यं वक्तृ-वाच्ययोः।' इतना कारिकार्ध है। यहाँ रसान् इस बहुवचन से 'आदि' यह अर्थ संगृहीत है इस बात को दिखाते हैं– **रसादीनिति। अत्र चेति** इसी कारिका के आधे में। विकल्प के द्वारा इतने अर्थ समूहों की कल्पना अथवा व्याख्यान किया जा सकता है। वे क्या है? इसी बात को कहते हैं– **गुणानामिति**-गुणों के तीन पक्ष जो संभावित होते हैं व्याख्यान किये जा सकते हैं। किस प्रकार इसे कहते हैं– **तत्रैक्यपक्ष**

ध्वन्यालोकः

सङ्घटनाश्रयगुणपक्षे च गुणानात्मभूतानाधेयभूतान्वाश्रित्य तिष्ठन्ती सङ्घटना रसादीन् व्यनक्तीत्ययमर्थः। यदा तु नानात्वपक्षे गुणाश्रयसङ्घटनापक्षः तदा गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती गुणपरतन्त्रस्वभावा न तु गुणरूपैवेत्यर्थः। किं पुनरेवं विकल्पनस्य प्रयोजनमिति?

संघटनाश्रित गुण है। इनमें से ऐक्य (अभेदपक्ष) पक्ष में और संघटनाश्रय गुणपक्ष में अर्थ होता है कि आत्मभूत अथवा आधेयभूत गुणों का आश्रयण कर रहती हुई संघटना रस आदि को अभिव्यक्त करती है। परन्तु जब गुण और संघटना के भेदपक्ष में गुणाश्रित संघटना का पक्ष मानते हैं तब अर्थ होगा कि गुणों का आश्रय कर रहती हुई, संघटना गुणों के परतन्त्र स्वभाव वाली है, न कि गुण रूप ही है। तब कहते हैं कि इस प्रकार के विकल्प का प्रयोजन क्या है? इस

लोचनम्

आत्मभूतानिति। स्वभावस्य कल्पनया प्रतिपादनार्थं प्रदर्शितभेदस्य स्वाश्रयवाचोयुक्तिर्दृश्यते शिंशपाश्रयं वृक्षत्वमिति। *आधेयभूतानिति।* सङ्घटनाया धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादयः, धर्माश्च धर्म्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्गः। *गुणपरतन्त्रेति।* अत्र नाधाराधेयभाव आश्रयार्थः। न हि गुणेषु सङ्घटना तिष्ठतीति। तेन राजाश्रयः प्रकृतिवर्ग इत्यत्र यथा राजाश्रयौचित्येनामात्यादिप्रकृतय इत्ययमर्थः, एवं गुणेषु परतन्त्रस्वभावा तदायत्ता तन्मुखप्रेक्षिणी सङ्घटनेत्ययमर्थो लभ्यत इति भावः। *सङ्घटनाया इवेति।* प्रथमपक्षे तादात्म्येन समानयोगक्षेमत्वादितरत्र तु धर्मत्वेनेति भावः।

इति आत्मभूतानिति। स्वभाव से प्रतिपादन के लिये कल्पना से प्रदर्शित भेद वाली वस्तु का स्वाश्रय कहने का प्रकार देखा जाता है, जैसे शिंशपा के आश्रित वृक्षत्व। **आधेयभूतानिति** आधेयभूत। उद्भट आदि के अनुसार गुण संघटना के धर्म हैं और यह प्रसिद्ध मार्ग (सिद्धान्त) है कि धर्म धर्मी के आश्रित होते हैं। **गुणपरतन्त्रेति** गुणों के परतन्त्र। यहाँ आश्रय का अर्थ आधाराधेयभाव नहीं है, क्योंकि गुणों में संघटना नहीं रहती। प्रकृतिवर्ग राजा के आश्रित है यहाँ जैसे राजा के आश्रय के औचित्य से अमात्यादि प्रकृतियाँ रहती हैं यह अर्थ है। इस प्रकार गुणों में परतन्त्र स्वभाव उनके अधीन उनके मुह ताकने वाली (अपेक्षा करने वाली) संघटना है यह अर्थ प्राप्त होता है, यह भाव है। **संघटना इवेति** संघटना की भाँति पहले पक्ष में तादात्म्य होने से योगक्षेम समान होगा और अन्यत्र अर्थात् दूसरे पक्ष में धर्म होने के कारण योगक्षेम समान होगा, यह भाव है। अनियतविषयत्व हों क्या दोष है। इस आशङ्का पर कहते हैं। **गुणानां**

ध्वन्यालोकः

अभिधीयते– यदि गुणाः सङ्घटना चेत्येकं तत्त्वं सङ्घटनाश्रया वा गुणाः, तदा सङ्घटनाया इव गुणानामनियतविषयत्वप्रसङ्गः। गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव। रौद्राद्भुतादिविषयमोजः। माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभासविषयावेवेति विषयनियमो व्यवस्थितः, सङ्घटनायास्तु स विघटते। तथा हि शृङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यते रौद्रादिष्वसमासा चेति।

तत्र शृङ्गारे दीर्घसमासा यथा–'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका' इति। यथा वा–

पर समाधान करते हैं यदि गुण और संघटना एक तत्व हैं अथवा संघटना के आश्रितगुण हैं तब संघटना की भाँति गुणों की अनियतता का प्रसङ्ग उपस्थित होगा जबकि गुणों का विषय नियत है (**विषयनियमो व्यवस्थितः** इस आगे के शब्द से अन्वय है) तो विषयनियम निश्चित है जैसे करुण और विप्रलम्भशृङ्गार में ही माधुर्य और प्रसाद का प्रकर्ष होता है। ओज गुण रौद्र और अद्भुत विषय में ही प्रधानतः रहता है। माधुर्य और प्रसाद, रसभाव और तदाभासविषयक होते हैं। इस प्रकार गुणों का विषयनियम बना हुआ है, परन्तु संघटना में यह बिगड़ जाता है। क्योंकि शृङ्गार में भी दीर्घ रचना पाई जाती है और रौद्रादि रसों में भी समासरहित रचना पायी जाती है। उनमें से शृङ्गार में दीर्घ समास वाली रचना संघटना का उदाहरण जैसे '**मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका**' यह पद (यह उदाहरण शृङ्गार में दीर्घसमास वाली रचना का दिया है) परन्तु पूर्ण प्रकरण सामने न होने पर यह उदाहरण ठीक नहीं बैठता यदि कोई इस प्रकार आशङ्का करे तो उसके संतोष के लिये दूसरा उदाहरण देते हैं, अथवा जैसे— **अनवरतेति।**

लोचनम्

भवत्वनियतविषयतेत्याशङ्क्याह–*गुणानां हीति।* हिशब्दस्तुशब्दार्थे। न त्वेवमुपपद्यते, आपद्यते तु न्यायबलादित्यर्थः। *स इति।* योऽयं गुणेषु नियम उक्तोऽसावित्यर्थः। तथात्वे लक्ष्यदर्शनमेव हेतुत्वेनाह– *तथा हीति।*

हीति। यहाँ हि शब्द तु अर्थ में है अर्थात् इस प्रकार उपपन्न नहीं होगा किन्तु न्यायबल से उपपन्न होगा। **स इति।** अर्थात् जो यह गुणों में नियम कहा है वह उस स्थिति में लक्ष्य का दर्शन ही हेतुरूप से कहते हैं। **तथा हीति** देखा जाता है यह कह चुके हैं।

ध्वन्यालोकः

अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं ते ।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति ॥

इत्यादौ। तथा रौद्रादिष्वप्यसमासा दृश्यते। यथा-'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादौ। तस्मान्न सङ्घटनास्वरूपाः, न च सङ्घटनाश्रया गुणाः।

ननु यदि सङ्घटना गुणानां नाश्रयस्तत्किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ताम्। उच्यते- प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्।

हे अबले! निरन्तर अश्रुबिन्दुओं के गिरने से मिटी हुई पत्रावली वाला और हथेली पर रखा हुआ दु:खाभिव्यञ्जक तुम्हारा यह मुख किसको संतप्त नहीं करता। इत्यादि।

और रौद्रादि में भी समासरहित रचनासंघटना पायी जाती है जैसे **यो यः शास्त्रं बिभर्ति स्वभुज गुरुमदः** इत्यादि समासरहित रचना है इसलिये गुण न तो संघटना रूप है और न तो संघटनाश्रित हैं।

यहाँ संदेह करते हैं कि यदि संघटना गुणों का आश्रय नहीं है तो फिर इन गुणों को किसके आश्रित मानेंगे?

लोचनम्

दृश्यत इत्युक्तं दर्शनस्थानमुदाहरणमासूत्रयति-*तत्रेति।* नात्र शृङ्गारः कश्चिदित्याशङ्क्य द्वितीयमुदाहरणमाह-*यथा वेति।* एषा हि प्रणयकुपितनायिकाप्रसादनायोक्तिर्नायकस्येति। *तस्मादिति।* नैतद् व्याख्यानद्वयं कारिकायां युक्तिमिति यावत्। *किमालम्बना इति।* शब्दार्थालम्बनत्वे हि तदलङ्कारेभ्यः को विशेष इत्युक्तं चिरन्तनैरिति भावः। *प्रतिपादितमेवेति।* अस्मन्मूलग्रन्थकृतेत्यर्थः। *अथवेति।* न

इस प्रकार उक्त देखे जाने का स्थान उदाहरणसहित आसूत्रित करते हैं- **तत्रेति** यहाँ कोई शृङ्गार नहीं है। इस आशङ्का पर दूसरा उदाहरण देते है। अथवा जैसे प्रणय कुपित नायिका को प्रसन्न करने के लिये नायक की उक्ति है।

तस्मादिति इस कारण। तात्पर्य यह कि ये दोनों व्याख्यान कारिका में ठीक नहीं है। **किमालम्बना** इति इनका आलम्बन किसे माना जाय। भाव यह कि शब्द और अर्थ के आलम्बन होने पर उनके शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार में क्या भेद रह जायगा। **प्रतिपादितमेवेति** प्रतिपादन किया जा चुका है। हमारे मूलग्रन्थकार द्वारा। **अथवेति** एक

ध्वन्यालोकः

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।।इति।।

अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः, न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्। यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितार्थशब्दधर्मा एव प्रतिपादिताः। गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव। शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेनापि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम् ।

इसका आश्रय द्वितीय उद्योत की छठीं कारिका में बता ही चुके हैं। इस कारिका को नीचे फिर उद्धृत कर देते हैं– **तमर्थमिति** जो उस प्रधानभूत रस का अवलम्बन करते हैं अर्थात् रस के आश्रय रहते हैं वे गुण कहलाते हैं और जो उसके अङ्ग शब्द तथा अर्थ के आश्रित रहते हैं वे कटक-कुण्डलादि के समान अलङ्कार कहे जाते हैं।

अथवा उपचार से गुण शब्दाश्रित ही कहे जा सकते हैं, फिर भी वे अनुप्रासादि के समान शब्दालङ्कार नहीं समझे जा सकते हैं, क्योंकि अनुप्रासादि अर्थनिरपेक्ष शब्दमात्र के धर्म ही बताये गये हैं और गुण तो शृङ्गारादिरसरूप व्यङ्ग्य विशेष के अभिव्यञ्जक वाच्यार्थ के प्रतिपादन में समर्थ शब्द तथा

लोचनम्

ह्येकाश्रितत्वादेवैक्यं, रूपस्य संयोगस्य चैक्यप्रसङ्गात्। संयोगे द्वितीयमपेक्ष्यमिति चेत्– इहापि व्यङ्ग्योपकारकवाच्यापेक्षास्त्येवेति समानम्। न चायं मम स्थितः पक्षः, अपि तु भवत्वेषामविवेकिनामभिप्रायेणापि शब्दधर्मत्वं शौर्यादीनामिव शरीरधर्मत्वम्। अविवेकी हि औपचारिकत्वविभागं विवेक्तुमसमर्थः। तथापि न कश्चिद्दोष

ही वस्तु में आश्रित होने के कारण ही गुण और अलङ्कार का ऐक्य नहीं कहा जा सकता ऐसा मानने पर रूप और संयोग दोनों में ऐक्य (अभेद) प्रसक्त होगा (क्योंकि दोनों ही एक घट आदि द्रव्य के आश्रित हैं) संयोग में दूसरे की अपेक्षा होती है यह तो ठीक है, यहाँ भी व्यङ्ग्य के उपकारक वाच्य की अपेक्षा है अत: यह बात दोनों स्थानों में बराबर है। यह गुणों का शब्दधर्मत्व मेरा पक्ष नहीं है, बल्कि इन अविवेकी जनों के अभिप्राय से भी गुणों का शब्दधर्मत्व शौर्य आदि के शरीरधर्मत्व की भाँति मान लेते हैं। अविवेकी आदमी औपचारिकत्व का विवेक नहीं कर पाता तथापि कोई

ध्वन्यालोकः

ननु यदि शब्दाश्रया गुणास्तत्सङ्घटनारूपत्वं तदाश्रयत्वं वा तेषां प्राप्तमेव। न ह्यसङ्घटिताः शब्दा अर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां गुणानामवाचकत्वादाश्रया भवन्ति। नैवम्; वर्णपदव्यङ्ग्यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात्।

अर्थसापेक्ष शब्द के धर्म रूप में कहे गये हैं। इन गुणों की शब्दधर्मता वस्तुतः अन्य (आत्मा) का धर्म होते हुये भी शौर्यादि गुणों के शरीराश्रित धर्म मानने के समान केवल औपचारिक गौण व्यवहार इस पर संदेह करते हैं- यदि आप उपचार से ही सही गुण शब्दाश्रय हैं ऐसा मान लेते हैं तो उनका संघटना रूपत्व अथवा संघटनाश्रिततत्व स्वयं ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि संघटनारहित शब्द अवाचक होने से अर्थविशेष (शृङ्गारादि रस के अभिव्यञ्जन में समर्थ वाच्य) से अभिव्यक्त रसादि के आश्रित रहने वाले गुणों के आश्रय नहीं हो सकते हैं।

ऐसी बात मत कहो क्योंकि इसी उद्योत की दूसरी कारिका में रसादि की अवाचक वर्ण पदादि से भी व्यङ्ग्यता का प्रतिपादन कर चुके हैं।

लोचनम्

इत्येवम्परमेतदुक्तमित्येतदाह–*शब्दधर्मत्वमिति। अन्याश्रयत्वेऽपीति।* आत्मनिष्ठत्वेऽपीत्यर्थः।

***शब्दाश्रया इति।* उपचारेण यदि शब्देषु गुणास्तदेदं तात्पर्यम्– शृङ्गारादिरसाभिव्यञ्जकवाच्यप्रतिपादनसामर्थ्यमेव शब्दस्य माधुर्यम्। तच्च शब्दगतं विशिष्टघटनयैव लभ्यते। अथ सङ्घटना न व्यतिरिक्ता काचित्, अपि तु सङ्घटिता एव शब्दाः, तदाश्रितं तत्सामर्थ्यमिति सङ्घटनाश्रितमेवेत्युक्तं भवतीति तात्पर्यम्।**

दोष नहीं, इस अभिप्राय से यह कहा है। इस प्रकार यह कहते हैं– **शब्दधर्मत्वमिति अन्याश्रयत्वेऽपीति** अन्य के आश्रित होने पर भी। अर्थात् आत्मनिष्ठ होने पर भी।

शब्दाश्रया इति उपचार से यदि शब्दों में गुण रहते हैं तब यह तात्पर्य है शृङ्गारादि रसाभिव्यञ्जक के वाच्य का प्रतिपादन का सामर्थ्य ही शब्द का माधुर्य है, और वह माधुर्य शब्दगत विशिष्ट संघटना से ही प्राप्त होता है। और वह संघटना अलग से कुछ नहीं, बल्कि संघटित शब्द ही है। उन संघटित शब्द के आश्रित वह पूर्वोक्त सामर्थ्य है इसलिये संघटना के आश्रित वह सामर्थ्य यही तात्पर्य है।

ध्वन्यालोकः

अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे रसादीनां न नियता काचित्सङ्घटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यत इत्यनियतसङ्घटनाः शब्दा

दुर्जनतोपन्यास से यदि रस आदि को वाक्य व्यङ्ग्य ही मान लिया जाय अर्थात् वर्णपदादि को रसाभिव्यञ्जक न माना जाय तो भी कोई नियतसंघटना (जैसे

लोचनम्

ननु शब्दधर्मत्वं शब्दैकात्मकत्वं वा तावतास्तु, किमयं मध्ये सङ्घटनानुप्रवेश इत्याशङ्क्य स एव पूर्वपक्षवाद्याह–*न हीति।* अर्थविशेषैर्न तु पदान्तरनिरपेक्षशुद्धपदवाच्यैः सामान्यैः प्रतिपाद्या व्यङ्ग्या ये रसभावतदाभासतत्प्रशमास्तदाश्रितानां मुख्यतया तन्निष्ठानां गुणानामसङ्घटिताः शब्दा आश्रया न भवन्त्युपचारेणापीति भावः। अत्र हेतुः–*अवाचकत्वादिति।* न ह्यसङ्घटिताः व्यङ्ग्योपयोगिनिराकाङ्क्षरूपं वाच्यमाहुरित्यर्थः। एतत्परिहरति-*नैवमिति।* वर्णव्यङ्ग्यो हि यावद्रस उक्तस्तावदवाचकस्यापि पदस्य श्रवणमात्रावसेयेन स्वसौभाग्येन वर्णवदेव यद्रसाभिव्यक्तिहेतुत्वं स्फुटमेव लभ्यत इति तदेव माधुर्यादीति किं सङ्घटनया? तथा च पदव्यङ्ग्यो यावद्ध्वनिरुक्तस्तावच्छुद्धस्यापि पदस्य स्वार्थस्मारकत्वेनापि रसाभिव्यक्तियोग्यार्थावभासकत्वमेव माधुर्यादीति तत्रापि कः सङ्घटनाया उपयोगः।

शङ्का करते हैं कि शब्दधर्मत्व अथवा शब्दैकात्मकत्व भले हो किन्तु मध्य में इस संघटना का अनुप्रवेश क्यो? इस प्रकार शङ्का करके फिर वही पूर्वपक्षवादी कहता है– **न हीति** अर्थ विशेषों से न कि पदान्तर निरपेक्ष शुद्ध पद के सामान्य वाच्यों से प्रतिपाद्य व्यङ्ग्य रस, भाव, रसाभास, भावप्रशमन उनके आश्रित अर्थात् मुख्य रूप से तन्निष्ठ गुणों से असङ्गठित शब्द आश्रय उपचार से भी नहीं होते। इसका हेतु है **अवाचकत्वादिति** अवाचक होने के कारण अर्थात् असङ्घटित व्यङ्ग्य के उपयोगी निराकाङ्क्ष रूप वाच्य को नहीं कहते हैं। अब इसका परिहार करते हैं– **नैवमिति** अर्थात् ऐसा मत कहो जबकि रस को वर्ण से व्यङ्ग्य कहा जा चुका है तब तो अवाचक भी पद के श्रवणमात्र से निर्धारणीय अपने सौभाग्य के कारण वर्ण की ही भाँति जो रसाभिव्यक्ति का हेतुत्व स्पष्ट ही प्रतीत होता है कहीं माधुर्य आदि है फिर संघटना से क्या? और भी जबकि ध्वनि पद व्यङ्ग्य भी कहा गया है तब उसी प्रकार शुद्ध भी पद का स्वार्थ के स्मारक होने के कारण भी रसाभिव्यक्ति के योग्य अर्थ का आभासकत्व ही माधुर्य आदि है। वहाँ भी संघटना का कौन उपयोग है?

ध्वन्यालोकः

एव गुणानां व्यङ्ग्यविशेषानुगता आश्रयाः। ननु माधुर्ये यदि नामैवमुच्यते तदुच्यताम्; ओजसः पुनः कथमनियतसङ्घटन-

असमासा या दीर्घसमासा आदि) उन रसों का आश्रय नहीं होती इसलिये व्यङ्ग्य विशेष से अनुगत शृङ्गारादि अनियत संघटना वाले शब्द ही गुणों के आश्रय

लोचनम्

ननु वाक्यव्यङ्ग्ये ध्वनौ तर्ह्यवश्यमनुप्रवेष्टव्यं सङ्घटनया स्वसौन्दर्यं वाच्यसौन्दर्यं वा, तया विना कुत इत्याशङ्क्याह–*अभ्युपगत इति।* वाशब्दोऽपिशब्दार्थे, वाक्यव्यङ्ग्यत्वेऽपीत्यत्र योज्यः। एतदुक्तं भवति- अनुप्रविशतु तत्र सङ्घटना, न हि तस्याः सन्निधानं प्रत्याचक्ष्महे। किं तु माधुर्यस्य न नियता सङ्घटना आश्रयो वा स्वरूपं वा तया विना वर्णपदव्यङ्ग्ये रसादौ भावान्माधुर्यादेः वाक्यव्यङ्ग्येऽपि तादृशीं सङ्घटनां विहायापि वाक्यस्य तद्रसव्यञ्जकत्वात् सङ्घटना सन्निहितापि रसव्यक्तावप्रयोजिकेति। तस्मादौपचारिकत्वेऽपि शब्दाश्रया एव गुणा इत्युपसंहरति–*शब्दा एवेति।*

***नन्विति।* वाक्यव्यङ्ग्यध्वन्यभिप्रायेणेदं मन्तव्यमिति केचित्।**

वयं तु ब्रूमः-वर्णपदव्यङ्ग्येऽप्योजसि रौद्रादिस्वभावे वर्णपदानामेकाकिनां स्वसौन्दर्यमपि न तादृगुन्मीलति तावद्यावत्तानि

संदेह करते है कि वाक्यव्यङ्ग्य ध्वनि में अवश्य ही संघटना का अनुप्रवेश करना चाहिये, उसके बिना वाक्य का सौन्दर्य अथवा वाच्य का सौन्दर्य किस प्रकार होगा? इस आशङ्का पर कहते हैं– **अभ्युगते वेति** यहाँ वा शब्द अपि के अर्थ में है इसलिये इसका अर्थ इस प्रकार लगाना चाहिये 'वाक्य के व्यङ्ग्य होने पर भी'। इसका तात्पर्य यह हुआ वहाँ संघटना प्रवेश करे हम उसके सन्निधान का प्रत्याख्यान नहीं करते, किन्तु नियत संघटना माधुर्य का आश्रय अथवा स्वरूप नहीं है, क्योंकि उस संघटना के बिना भी वर्ण पद व्यङ्ग्य रसादि में माधुर्य रहता है। माधुर्यादि के वाक्य व्यङ्ग्य में उस प्रकार की संघटना को छोड़ कर भी वाक्य उस रस का व्यञ्जक होता है। संघटना सन्निहित होकर भी रस की व्यञ्जना में प्रयोजक नहीं है। इस कारण औपचारिक होने पर भी गुण शब्द के आश्रित ही है। अन्त में इस प्रकार उपसंहार करते हैं– **शब्दा एवेति।**

नन्विति कुछ लोगों के अनुसार वाक्यव्यङ्ग्य ध्वनि के अभिप्राय से यह मानना चाहिये। परन्तु हम कहते हैं रौद्रादिस्वभाव ओजस् के वर्णपदव्यङ्ग्य होने पर भी अकेले वर्णपदों का अपना सौन्दर्य भी तब तक उस प्रकार उन्मीलित नहीं होता जब तक

ध्वन्यालोकः

शब्दाश्रयत्वम्। न ह्यसमासा सङ्घटना कदाचिदोजस आश्रयतां प्रतिपद्यते। उच्यते– यदि न प्रसिद्धिमात्रग्रहदूषितं चेतस्तदत्रापि न न ब्रूमः। ओजसः कथमसमासा सङ्घटना नाश्रयः। यतो रौद्रादीन् हि प्रकाशयतः काव्यस्य दीप्तिरोज इति प्राक्प्रतिपादितम्। तच्चौजो यद्यसमासायामपि सङ्घटनायां स्यात्तत्को दोषो भवेत्। न चाचारुत्वं सहृदयहृदयसंवेद्यमस्ति। तस्मादनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वे गुणानां न काचित्क्षतिः। तेषां तु चक्षुरादीनामिव यथास्वं विषयनियमितस्य

हैं इस प्रकार गुण संघटना धर्म नहीं है।

यहाँ शङ्का करते हैं कि यदि अनियत सङ्घटना वाले शब्द ही गुणों के आश्रय होते है, यह बात यदि आप माधुर्य के विषय में कहें तो कह सकते है परन्तु ओजसको अनियत संघटनाश्रित कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि ओज का प्रकशक तो दीर्घसमास सङ्घटना नियत ही है, असमासा संघटना कभी ओज का आश्रय नहीं हो सकती है। इसका उत्तर देते हुये कहते हैं– यदि केवल प्रसिद्धिमात्र के आग्रह से आपका मन दूषित न हो तो यहाँ हम भी ओज की प्रतीति असमासा रचना से नहीं होती यह नहीं कह सकते (अर्थात् प्रसिद्धि की बात छोड़ कर विचारें तो असमासा रचना से ओज की प्रतीति होती है।) असमासा रचना ओज का आश्रय क्यों न होगी? अर्थात् अवश्य होगी ही। क्योंकि रौद्रादि रस को प्रकाशित करने वाली काव्य की दीप्ति का नाम ही तो ओज है। यह बात पहले कह चुके हैं और वह दीप्ति रूप ओज यदि समासरहित रचना में रहे तो क्या दोष है? उस समासरहित रचना से ओज के प्रकाशन में किसी प्रकार का अचारुत्व सहृदयहृदय के अनुभव में नहीं आता। इसलिये गुणों को अनियतसङ्घटना वाले शब्दों का धर्म यदि उपचारत: मान लिया जाय तो कोई

लोचनम्

सङ्घटनाङ्कितानि न कृतानीति सामान्येनैवायं पूर्वपक्ष इति। *प्रकाशयत* इति 'लक्षणहेत्वोः' इति शतृप्रत्ययः। रौद्रादिप्रकाशनाल्लक्ष्यमाणमोज इति भावः। *न चेति।* चशब्दो हेतौ। यस्मात् 'यो यः शस्त्रम्' इत्यादौ नाचारुत्वं प्रतिभाति

वे वर्णपद संघटना से अङ्कित नहीं किये जाते हैं। यह सामान्य रूप से पूर्वरक्ष है। **प्रकाशयत इति।** यहाँ **लक्षणहेत्वोः** इस सूत्र से शतृ प्रत्यय है। भाव यह कि रौद्रादि के प्रकाशन से सम्यक् लक्षित होता हुआ ओजस्। **न चेति** यहाँ च शब्द हेतु अर्थ

ध्वन्यालोकः

स्वरूपस्य न कदाचिद्व्यभिचारः। तस्मादन्ये गुणा अन्या च सङ्घटना। न च सङ्घटनामाश्रिता गुणा इत्येकं दर्शनम्। अथवा सङ्घटनारूपा एव गुणाः।

यत्तूक्तम्– 'सङ्घटनावद्गुणानामप्यनियतविषयत्वं प्राप्नोति। लक्ष्ये व्यभिचारदर्शनात्' इति। तत्राप्येतदुच्यते-यत्र लक्ष्ये परिकल्पितविषयव्यभिचारस्तद्विरूपमेवास्तु। कथमचारुत्वं तादृशे विषये सहृदयानां नावभातीति चेत्? कविशक्तितिरोहितत्वात्। द्विविधो हि दोषः– कवेरव्युत्पत्तिकृतोऽशक्तिकृतश्च। तत्राव्युत्प-

हानि नहीं है। और चक्षरादि इन्द्रियों के समान उनके अपने-अपने विषयनियमित स्वरूप का कभी व्यभिचार नहीं होता इसलिये गुण अलग है। सङ्घटना अलग है और गुण संघटना के आश्रित नहीं रहते यह एक सिद्धान्त है इस प्रकार स्वाभिमत पक्ष का उपसंहार किया गया।

संघटनेति अथवा वामनमतानुसार प्रथम पक्ष में सङ्घटनारूप ही गुण हैं। अर्थात् गुणों को सङ्घटनारूप मानने वाले इस वामन के मत में भी कोई हानि नहीं है। इस पक्ष में पहले जो दोष दिये गये हैं उनका (समाधान करते हैं) इसमें जो कहा था कि लक्ष्य (यो यः, अनवरतनयन आदि उदाहरणों में सङ्घटनानियम का व्यभिचार पाये जाने से संघटना के समान गुणों में भी अनियत विषयत्व प्राप्त होगा उसका भी यह समाधान है कि जिस उदाहरण में संघटना के परिकल्पित विषयनियम का व्यभिचार पाया जाय उस संघटना को विरूप अथवा दूषित ही मान लेना चाहिये।

प्रश्न– यदि '**यो यः शस्त्रं**' इत्यादि की गंघटना दूषित है तो उस प्रकार के विषयों में सहृदयों को अचारुत्व की प्रतीति क्यों नहीं होती? इसका उत्तर देते हैं। कवि की प्रतिभा के बल से दब जाने के कारण (तिरोहित होने के कारण) वह अचारुत्व प्रतीत नहीं होता।

काव्य में दो प्रकार के दोष हो सकते हैं– (१) कवि की अव्युत्पत्तिकृत, (२) कवि की अशक्तिकृत (कवि की नवनवोन्मेषशालिनी-वर्णनीय वस्तु के नये-नये ढंग से वर्णन कर सकने की प्रतिभा को शक्ति कहते हैं और उस प्रतिभा के उपयुक्त समस्त वस्तुओं के पौर्वापर्य के विवेचन कौशल को व्युत्पत्ति कहते हैं। इन्हीं शक्ति या व्युत्पत्ति की न्यूनता से काव्य में दोष आ सकते हैं। उनमें

ध्वन्यालोकः

त्तिकृतो दोषः शक्तितिरस्कृतत्वात् कदाचिन्न लक्ष्यते। यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटिति प्रतीयते। परिकरश्लोकश्चात्र–

'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥

तथा हि– महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसंभोगशृङ्गार न बन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वात् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते।

से अव्युत्पत्तिकृत दोष शक्ति (प्रतिभा के प्रभाव) से दब जाने के कारण कभी-कभी अनुभव में नहीं आता। परन्तु जो अशक्तिकृत दोष है वह सद्यः प्रतीत हो जाता है। इस विषय में परिकर श्लोक भी हैं—

अव्युत्पत्तिकृत इति अव्युत्पत्ति के कारण होने वाला दोष कवि की शक्ति के बल से छिप जाता है। परन्तु कवि की अशक्ति के कारण जो दोष होता है वह सद्यः प्रतीत हो जाता है।

जैसे कि कालिदास आदि महाकवियों के उत्तमदेवताविषयक प्रसिद्ध संभोग शृङ्गारादि के वर्णन का (माता-पिता के संभोग-वर्णन के समान अनुचित होते

लोचनम्

तस्मादित्यर्थः। *तेषान्त्विति* गुणानाम्। *यथास्वमिति।* 'शृङ्गार एव परमो मनःप्रह्लादनो रसः' इत्यादिना च विषयनियम उक्त एव। *अथवेति।* रसाभिव्यक्तावेतदेव सामर्थ्यं शब्दानां यत्तथा तथा सङ्घटमानत्वमिति भावः।

शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्। व्युत्पत्तिस्तदुपयोगिसमस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम्। *तस्येति* कवेः। *अनौचित्यमिति।* आस्वादयितॄणां यः चमत्काराविघातस्तदेव रससर्वस्वम्

में है अर्थात् जिस कारण से **यो यः शस्त्रम्** इत्यादि में अचारुत्व प्रतीत नहीं होता उस कारण **तेषान्त्विति** परन्तु अनुगुणों का। **यथास्वमिति** अपने-अपने शृङ्गार ही मन को आह्लादित करने वाला सर्वोत्कृष्ट रस है। इत्यादि द्वारा भी विषय नियम कहा जा चुका है। **अथवेति** भाव यह कि रसाभिव्यक्ति में गुणों की इतनी ही सामर्थ्य है जो उस प्रकार सङ्घटमानत्व है।

शक्ति अर्थात् प्रतिभा अर्थात् वर्णनीय वस्तु में नवीनता की उल्लेखशालिता। व्युत्पत्ति अर्थात् उस वर्णनीय के उपयोगी समस्त वस्तुओं के पौर्वापर्यपूर्वक परामर्श में कौशल। **तस्येति** उस कवि की। अनोचित्यमिति आस्वाद करने वालों के जो चमत्कार

ध्वन्यालोकः

यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम्। एवमादौ च विषये यथौचित्यात्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे। शक्तितिरस्कृतत्वं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते। तथा हि शक्तिरहितेन कविना एवंविधे विषये शृङ्गार

हुये भी) अनौचित्य भी शक्ति से दब जाने के कारण ग्राम्य रूप से प्रतीत नहीं होता। जैसे कुमारसंभव में देवी पार्वती के संभोग का। इस प्रकार के उदाहरणों में औचित्य का अत्याग (उपादान ग्रहण। किस प्रकार किया जाय यह आगे इसी उद्योत में १० से १४ कारिका तक दिखलाया गया।

अव्युत्पत्तिकृत दोष का शक्तितिरस्कृतत्व अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होता है। क्योंकि शक्तिरहित कवि यदि ऐसे उत्तम देवतादि के विषय में शृङ्गार का वर्णन करे तो माता-पिता के संभोग के समान स्पष्ट ही दोषरूप से प्रतीत होता है और महाकवि कालिदास जैसे प्रतिभावान् का किया हुआ पार्वती के संभोग का वर्णन दोष रूप से प्रतीत नहीं होता अतः अन्वय-व्यतिरेक से दोष का शक्तितिरस्कृतत्व सिद्ध होता है।

प्रश्न—गुणों को सङ्घटनारूप मानने में विषयनियम का अतिक्रमण करने वाली संघटना को दूषित संघटना ठहराने का जो मत आपने स्थिर किया है उसके अनुसार इस पक्ष में '**यो यः शस्त्रं बिभर्ति**' इस उदाहरण में क्या अचारुत्व है?

उत्तर— वास्तव में कोई अवासत्व अनुभव में नहीं आता फिर भी इसमें लोग व्यर्थ ही अविद्यमान अचारुत्व का आरोप करते हैं।

लोचनम्

आस्वादायत्तत्वात्। उत्तमदेवतासंभोगपरामर्शे च पितृसंभोग इव लज्जातङ्कादिना कश्चमत्कारावकाश इत्यर्थः। *शक्तितिरस्कृतत्वादिति।* संभोगोऽपि ह्यसौ वर्णितस्तथा प्रतिभानवता कविना यथा तत्रैव विश्रान्तं हृदयं पौर्वापर्यपरामर्शं कर्तुं न ददाति यथा निर्व्याजपराक्रमस्य पुरुषस्याविषयेऽपि युध्यमानस्य तावत्तस्मिन्नवसरे साधुवादो वितीर्यते न तु पौर्वापर्यपरामर्शे तथात्रापीति भावः। *दर्शितमेवेति।* कारिकाकारेणेति

का अविधाता है वही आस्वाद के अधीन होने के कारण रस सर्वस्व है। उत्तम देवता के संभोग के परामर्श में पितृसंभोग की भाँति कौन सा चमत्कार का अवकाश है। **शक्तितिरस्कृतत्वादिति** शक्ति द्वारा तिरस्कृत होने के कारण। भाव यह कि प्रतिभाशाली कवि द्वारा वह संभोग भी उस प्रकार वर्णित है जैसे कि उसी में विश्रान्त हृदय को

ध्वन्यालोकः

उपनिबध्यमानः स्फुटमेव दोषत्वेन प्रतिभासते। नन्वस्मिन् पक्षे 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ किमचारुत्वम्? अप्रतीयमानमेवारोपयामः। तस्माद् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे गुणरूपत्वे च सङ्घटनाया अन्यः अन्यः कश्चिन्नियमहेतुर्वक्तव्य इत्युच्यते।

तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥६॥

तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो वा, कविनिबद्धश्चापि रसभावरहितो रसभावसमन्वितो वा, रसोऽपि कथानायकाश्रयस्तद्विपक्षाश्रयो

इसलिये संघटना को गुणव्यतिरिक्त मानने पर संघटना नियामक कोई हेतु न होने और संघटना रूप मानने में इसको ठीक तरह से नियामक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि '**यो यः**' इत्यादि में उसका व्यभिचार दिखाया जा चुका है अतएव गुणव्यतिरिक्तत्व और गुणरूपत्व दोनों ही पक्षों में संघटनार्थ के नियमार्थ कोई और ही हेतु बतलाना चाहिये इसलिये कहते हैं– **तन्नियम** इति उस संघटनानियमन का हेतु वक्ता तथा वाच्य औचित्य ही है॥६॥

उसमें वक्ता कवि या कविनिबद्ध दो प्रकार का हो सकता है और कविनिबंद्ध

लोचनम्

भूतप्रत्ययः। वक्ष्यते हि–'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्' इत्यादि। *अप्रतीयमानमेवेति।* पूर्वापरपरामर्शविवेकशालिभिरपीत्यर्थः। *गुणव्यतिरिक्तत्व* इति। व्यतिरेकपक्षे हि सङ्घटनाया नियमहेतुरेव नास्ति ऐक्यपक्षेऽपि न रसो नियमहेतुरित्यन्यो वक्तव्यः।

तन्नियम इति कारिकावशेषः। कथां नयति स्वकर्तव्याङ्गभावमिति कथानायको यो निर्वहणे फलभागी। *धीरोदात्तादीति।* धर्मयुद्धवीरप्रधानो

पौर्वापर्य का परामर्श करने नहीं देता। जिस प्रकार कोई निर्व्याज पराक्रम वाला व्यक्ति जब बिना विषय के युद्ध करने लगता है और अवसर में उसे साधुवाद वितरण किया जाता है, न कि पौर्वापर्य के परामर्श में प्रवृत्ति होती है। उस प्रकार यहाँ भी **दर्शितमेवेति** दिखाया ही है। **कारिकाकारेणेति** यहाँ दर्शितम् में क्त प्रत्यय भूतकाल में हैं।

लक्ष्यते हि कहेंगे। अनौचित्य के अतिरिक्त कोई रसभङ्ग का कारण नहीं। इत्यादि। **अप्रतीयमानमेवेति** प्रतीत न होते हुये भी। अर्थात् पूर्वापर के परामर्श के विवेक वालों द्वारा भी (गुणव्यतिरिक्तत्व इति गुण से व्यतिरिक्त होने में। व्यतिरेक (भेद) पक्ष में संघटना का नियम हेतु ही नहीं है। ऐक्यपक्ष में भी रस नियम हेतु नहीं है। अतः

ध्वन्यालोकः

वा, कथानायकश्च धीरोदात्तादिभेदभिन्नः पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पाः। वाच्यं च ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थमनभिनेयार्थे वा, उत्तमप्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्। तत्र यदा कविरपगतरसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः। यदापि

वक्ता भी रसभावादिरहित या रसभावादियुक्त दो प्रकार का हो सकता है। उसमें रस भी कथानायकनिष्ठ अथवा उसके विरोधी प्रतिनायकनिष्ठ दो प्रकार का हो सकता है। कथानायक भी धीरोदात्तादि (धर्मयुद्धवीरप्रधानो धीरोदात्तः वीररौद्रप्रधानो धीरोद्धतः वीरशृङ्गारप्रधानो धीरललितः दानधर्मवीरशान्तप्रधानो धीरशान्तः इति चत्वारो नायका क्रमेण सात्त्वती आरभटी कैशिकी भारती लक्षणवृत्तिप्रधाना दशरूपक टीका) भेद से भिन्न मुख्य नायक अथवा उसके बाद कोई (उपनायक पीठमर्द) हो सकता है। इस प्रकार वक्ता के अनेक विकल्प हैं।

लोचनम्

धीरोदात्तः। वीररौद्रप्रधानो धीरोद्धतः। वीरशृङ्गारप्रधानो धीरललितः। दानधर्मवीरशान्तप्रधानो धीरप्रशान्त इति चत्वारो नायकाः क्रमेण सात्त्वत्यारभटीकैशिकीभारतीलक्षणवृत्तिप्रधानाः। पूर्वः कथानायकस्तदनन्तर उपनायकः। *विकल्पा इति।* वक्तृभेदा इत्यर्थः। *वाच्यमिति।* ध्वन्यात्मा ध्वनिस्वभावो यो रसस्तस्याङ्गं व्यञ्जकमित्यर्थः। अभिनेयो वागङ्गसत्त्वाहार्यैराभिमुख्यं साक्षात्कारप्रायं नेयोऽर्थो व्यङ्ग्यरूपो ध्वनिस्वभावो यस्य तदभिनेयार्थं वाच्यं, स एव हि काव्यार्थ इत्युच्यते। तस्यैव चाभिनयेन योगः। यथाह मुनिः–'वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति'

अन्य कहना चाहिये **तन्नियम** इति इसके नियमन में यह कारिका का अवशेष है, जो कथा को अपने कर्त्तव्य का अङ्गत्व प्राप्त कराता है। अतः कथानायक है जो निर्बहण में फल प्राप्त करता है। **धीरोदात्तादिति** धर्मवीर युद्धवीर प्रधान धीरोदात्त, वीररौद्रप्रधान धीरोद्धत, वीरशृङ्गारप्रधान धीरललित। दानधर्मवीर, शान्तप्रधान धीरप्रशान्त ये चार नायक क्रम से सात्त्वती, आरभटी, कैशिकी भारती रूप वृत्तिप्रधान होते हैं। पूर्वकथानायक उसके बाद उपनायक। **विकल्पाः** विकल्प अर्थात् वक्तृभेद **वाच्यमिति** ध्वन्यात्मा ध्वनिस्वभाव वाला जो रस उसका अङ्ग अर्थात् व्यञ्जक। अभिनेय अर्थात् वाणी, अङ्ग, सत्त्व, आहार्य द्वारा आभिमुख्य अर्थात् साक्षात्कारप्राय नेय अर्थ जो व्यङ्ग्य रूप ध्वनि स्वभाव है जिसका वह अभिनेयार्थ वाच्य वही काव्य कहा जाता है। उसी

ध्वन्यालोकः

कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव; यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो रसश्च प्रधानाश्रितत्वाद्

वाच्य अर्थ भी ध्वनिप्रधान रस का अङ्ग (अभिव्यञ्जक) अथवा रसाभास का अङ्ग (अभिव्यञ्जक) अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ उत्तम प्रकृति में आश्रित इस तरह नाना प्रकार का हो सकता है। उन अनेकविध वक्ताओं में से जब रसभावरहित कवि वक्ता हो तब रचना की स्वतन्त्रता है, और जब रसभावरहित

लोचनम्

इत्यादि तत्र तत्र। रसाभिनयनान्तरीयकतया तु तद्विभावादिरूपतया वाच्योऽर्थोऽभिनीयत इति वाच्यमभिनेयार्थमित्येषैव युक्ततरा वाचोयुक्तिः। न त्वत्र व्यपदेशिवद्भावो व्याख्येयः, यथान्यैः। *तदितरेति।* मध्यमप्रकृत्याश्रयमधमप्रकृत्याश्रयं चेत्यर्थः। एवं वक्तृभेदान्वाच्यभेदांश्चाभिधाय तद्गतमौचित्यं नियामकमाह–*तत्रेति। रचनाया* इति सङ्घटनायाः रसभावहीनोऽनाविष्टस्तापसादिरुदासीनोऽपीतिवृत्ताङ्गतया यद्यपि प्रधानरसानुयाय्येव, तथापि तावति रसादिहीन इत्युक्तम्। *स एवेति* कामचारः। एवं शुद्धवक्त्रौचित्यं विचार्य वाच्यौचित्येन सह तदेवाह- *यदा त्विति।* कविर्यद्यपि रसाविष्ट एव वक्ता युक्तः।। अन्यथा 'स एव वीतरागश्चेत्' इति स्थित्या नीरसमेव काव्यं स्यात्। तथापि यदा

का अभिनय के साथ सम्बन्ध है। जैसा कि मुनि ने कहा है– वाणी अङ्ग और सत्त्व से उपेत काव्यार्थों का भावन करते हैं इत्यादि वहाँ-वहाँ। रसाभिनय का नान्तरीयक (अविनाभाव अत्यन्त आवश्यक) होने से उसके रस के विभावादि रूप होने के कारण वाच्य अर्थ अभिनीत होता है। इस प्रकार वाच्य अभिनेयार्थ है, यही वाचोयुक्ति सर्वश्रेष्ठ है। न कि यहाँ व्यपदेशिवद्भाव (राहोः शिरः की भाँति भेदविवक्षा) व्याख्यान के योग्य हैं जैसा कि अन्य लोगों ने व्याख्यान किया है। **तदितरेति** अर्थात् मध्यम प्रकृति के अनाश्रित और उत्तम प्रकृति के आश्रित। इस प्रकार वक्ता के भेदों और काव्य के भेदों का अभिधान कर नियामक तद्गत औचित्य को कहते हैं– **तत्रेति** उनमें से रचना की अर्थात् संघटना की। रसभावहीन अनाविष्ट तापस आदि उदासीन भी इतिवृत्ति के अङ्गरूप से यद्यपि प्रधान रस का अनुयायी ही होता है तथापि उतने में रसादि से हीन होता है यह कहा है। **स एवेति** कामचार स्वतन्त्रता। इस प्रकार शुद्ध वक्ता के औचित्य को विचार कर वाच्यौचित्य के साथ उसी को कहते हैं। **यदा त्विति** परन्तु

ध्वन्यालोकः

ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनैव तत्रासमासामध्यसमासे एव सङ्घटने। करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोस्त्वसमासैव सङ्घटना। कथमिति चेत्; उच्यते– रसो यदा प्राधान्येन प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः। एवं च दीर्घसमासा सङ्घटना समासानामनेकप्रकारसम्भावनया कदाचिद्रसप्रतीतिं व्यवदधातीति

निबद्ध वक्ता हो तब भी वही कामचार स्वतन्त्रता है। जब कि कवि या कविनिबद्ध वक्ता रसभावसमन्वित हो और रस भी प्रधानाश्रित होने से ध्वन्यात्मभूत हो तब वहाँ नियम से ही असमास अथवा मध्यमसमास वाली रचना ही करनी चाहिये। करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में तो समासरहित ही संघटना होनी चाहिये। ऐसा क्यों? यदि यह प्रश्न कहो तो उसका उत्तर यह है कि जब रस प्रधान रूप से प्रतिपाद्य है तब उसकी प्रतीति में विघ्न डालने वाले और उसके विरोधियों का पूर्ण रूप से परिहार ही करना चाहिये। इस प्रकार एक समस्त पद में अनेक प्रकार के समास की संभावना होने से दीर्घसमास वाली रचना रसप्रतीति में कदाचित् बाधक हो इसलिये उस दीर्घसमास रचना के विषय में अत्यन्त आग्रह

लोचनम्

यमकादिचित्रदर्शनप्रधानोऽसौ भवति, तदा 'रसादिहीन' इत्युक्तम्। नियमेन रसभावसमन्वितो वक्ता न तु कथञ्चिदपि तटस्थः। रसश्च ध्वन्यात्मभूत एव न तु रसवदलङ्कारप्रायः। तदासमासामध्यसमासे एव सङ्घटने, अन्यथा तु दीर्घसमासापीत्येवं योज्यम्। तेन नियमशब्दस्य द्वयोश्चैवकारयोः पौनरुक्त्यमनाशङ्क्यम्। *कथमिति चेदिति।* किं धर्मसूत्रकारवचनमेतदिति भावः। *उच्यत इति।* न्यायोपपत्त्येत्यर्थः। *तत्प्रतीताविति।* तदास्वादे ये

जब। कवि यद्यपि रसाविष्ट ही वक्ता ठीक होता है अन्यथा वही वीतराग हो इस स्थिति के अनुसार काव्य नीरस ही होगा। तथापि जब वह यमकादि चित्र दर्शन में प्रधानतया लग जाता है तब रसविहीन हो जाता है यह कहा है। नियमतः वक्ता रसभाव समन्वित होता है न कि किसी प्रकार भी उसे तटस्थ होना चाहिंये। और रस ध्वनि के अनुरूप ही होना चाहिये न कि रसवदलङ्कार। ऐसी स्थिति में असमासा और मध्यमसमासा ही संघनायें होगीं। अन्यथा दीर्घसमासा भी होगी इस प्रकार ग्रन्थ को लगाना चाहिये। इस कारण से नियम शब्द का तथा दो एवकार का प्रयोग पुनरुक्त है ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। **कथमिति चेत्** कैसे? भाव यह कि क्या यह धर्मसूत्रकार का वचन

ध्वन्यालोकः

तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये, ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोः। तयोर्हि सुकुमार-तरत्वात् स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरीभवति। रसान्तरे पुनः प्रतिपाद्ये रौद्रादौ मध्यमसमासा सङ्घटना

उचित नहीं है विशेष रूप से अभिनेयार्थक काव्य में। उससे भिन्न काव्य में विशेष कर करुण विप्रलम्भ शृङ्गार में। क्योंकि उनके सुकुमार होने से शब्द और अर्थ की तनिक भी अस्पष्टता होने पर रस की प्रतीति शिथिल हो जाती है और रौद्रादि दूसरे रसों के प्रतिपादन में तो धीरोद्धत नायक के सम्बन्ध या व्यापारादि के सहारे मध्यमसमासा संघटना अथवा दीर्घसमासा रचना भी उस (दीर्घसमासारचना) के

लोचनम्

व्यवधायका आस्वादविघ्नरूपा विरोधिनश्च तद्विपरीतास्वादमया इत्यर्थः। *सम्भावनयेति।* अनेकप्रकारः सम्भाव्यते सङ्घटना तु सम्भावनायां प्रयोक्त्रीति द्वौ णिचौ। *विशेषतोऽभिनेयार्थेति।* अत्रुटितेन व्यङ्ग्येन तावत्समासार्थाभिनयो न शक्यः कर्तुम्। काक्वादयोऽन्तरप्रसादगानादयश्च। तत्र दुष्प्रयोज्या बहुतरसन्देहप्रसरा च तत्र प्रतिपत्तिर्न नाट्येऽनुरूपा स्यात्। प्रत्यक्षरूपत्वात्तस्या इति भावः। *अन्यत्र चेति।* अनभिनेयार्थेऽपि। *मन्थरीभवतीति।* आस्वादो विघ्नितत्वात्प्रतिहन्यत इत्यर्थः। तस्या दीर्घसमाससङ्घटनायाः य आक्षेपस्तेन विना यो न भवति व्यङ्ग्याभिव्यञ्जकस्तादृशो रसोचितो रसव्यञ्जकतयो-

है। इस पर कहते है— **उच्यते** इति न्याय की उपपत्ति से। **तत्प्रतीताविति** अर्थात् उसके आस्वाद में जो व्यवधायक और आस्वाद का विघ्नरूप विरोधी हैं उसके विपरीत आस्वादमय। **संभावनयेति** संभावना के कारण अनेक प्रकार संभावित होती है। और संघटना संभावना में प्रयोजकत्री भी है। इसलिये दो णिच् हैं। **विशेषतोऽभिनेयार्थे** इति विशेष कर अभिनेयार्थ में। बिना व्यङ्ग्य अर्थ को तोड़े समासार्थ का अभिनय नहीं किया जा सकता। काकु आदि तथा बीच-बीच में प्रसन्न करने के लिये गान आदि। भाव यह कि वहाँ यह दुष्प्रयोज्य है और बहुत संदेह भरी प्रतिपत्ति भी नाट्य में अनुरूप नहीं होती, क्योंकि वह प्रत्यक्ष रूप होती है। **अन्यत्र चेति** उससे अतिरिक्त में अभिनेयार्थ में भी। **मन्थरी भवतीति** मन्थर हो जाती है विघ्नित हो जाने के कारण आस्वाद प्रतिहत हो जाता है। उस दीर्घसमास संघटना के आक्षेप के बिना भी जो व्यङ्ग्य का अभिव्यञ्जक नहीं होता उस प्रकार का रसोचित अर्थात् रस के व्यञ्जक रूप से उपादीयमान जो

ध्वन्यालोक:

कदाचिद्धीरोद्धतनायकसम्बन्धव्यापाराश्रयेण दीर्घसमासापि वा तदाक्षेपाविनाभाविरसोचितवाच्यापेक्षया न विगुणा भवतीति सापि नात्यन्तं परिहार्या। सर्वासु च सङ्घटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। स हि सर्वरससाधारणः सर्वसङ्घटनासाधारणश्चेत्युक्तम्। प्रसादातिक्रमे ह्यसमासापि सङ्घटना करुणविप्रलम्भशृङ्गारौ न व्यनक्ति। तदपरित्यागे च मध्यमसमासापि न प्रकाशयति। तस्मात्सर्वत्र प्रसादोऽनुसर्तव्यः। अत एव च 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ यद्योजसः स्थितिर्नेष्यते

बिना प्रतीत न हो सकने वाले किन्तु रसोचित वाच्यार्थ प्रतीति तो आवश्यकतावश प्रतिकूल नहीं होती है इसलिये उसका भी अत्यन्त त्याग नहीं करना चाहिये।

प्रसाद नामक गुण सभी संघटनाओं में व्यापक है, यह समस्त रसों और समस्त रचनाओं में समान रूप से रहने वाला साधारण गुण है। इसे प्रथम उद्योत में कहा जा चुका है। प्रसाद के बिना समासरहित रचना भी करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार को अभिव्यक्त नहीं करती हैं और उसके रहने पर मध्यम समास वाली रचना भी करुण या विप्रलम्भ शृङ्गार को नहीं प्रकाशित करती यह बात नहीं है (अर्थात् प्रकाशित करती ही है) इसलिये प्रसाद का सर्वत्र सभी रसों और सभी रचनाओं में अनुसरण करना चाहिये।

लोचनम्

पादीयमानो वाच्यस्तस्य यासावपेक्षा दीर्घसमाससङ्घटनां प्रति सा अवैगुण्ये हेतु;। नायकस्याक्षेपो व्यापार इति यद्व्याख्यातं तन्न शिलष्यतीवेत्यलम्। *व्यापीति।* या काचित्सङ्घटना सा तथा कर्तव्या, यथा वाच्ये झटिति भवति प्रतीतिरिति यावत्। *उक्तमिति।* 'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु' इत्यादिना। *न व्यनक्तीति।* व्यञ्जकस्य स्ववाच्यस्यैवाप्रत्यायनादिति भावः। *तदिति।*

वाच्य उसकी जो यह अपेक्षा दीर्घसमास संघटना के प्रति है वह अप्रातिकूल्य में हेतु है नायक का आक्षेप अर्थात् व्यापार यह जो व्याख्यान किया गया है वह मेल नहीं खाता अत: ठीक नहीं। **व्यापीति** व्याप्त रहने वाला। तात्पर्य यह कि यह संघटना उस प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार वाच्य अर्थ की प्रतीति शीघ्र हो जावे **उक्तमिति** कहा गया है '**समर्पकत्वं काव्यस्य**' इत्यादि द्वारा। **न व्यनक्तीति** व्यक्त नहीं करती है। भाव यह कि व्यञ्जक अपने वाच्य का ही प्रत्यायन नहीं कर पाता। **तदिति** उसके अर्थात्

ध्वन्यालोकः

तत्प्रसादाख्य एव गुणो न माधुर्यम्। न चाचारुत्वम्; अभिप्रेतरसप्रकाशनात्। तस्माद्गुणाव्यतिरिक्तत्वे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा सङ्घटनाया यथोक्तादौचित्याद्विषयनियमोऽस्तीति तस्या अपि रसव्यञ्जकत्वम्। तस्याश्च रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया योऽयमनन्त-रोक्तो नियमहेतुः स एव गुणानां नियतो विषय इति गुणाश्रयेण व्यवस्थानमप्यविरुद्धम्।

इसलिये '**यो यः शस्त्रं बिभर्ति**' इत्यादि उदाहरण में दीर्घसमासा रचना न होने पर भी यदि ओज गुण की स्थिति अभिमत नहीं है तो उसमें प्रसाद गुण है ही माधुर्य नहीं और सर्वसाधारण उस प्रसाद गुण के वहाँ रहने से किसी प्रकार का अचारुत्व नहीं होता है, क्योंकि प्रसादगुण से भी अभिप्रेत रौद्र रस की अभिव्यक्ति हो सकती है।

इसलिये संघटना को गुणों से अभिन्न माने या भिन्न दोनों अवस्थाओं में उक्त वक्ता तथा वाच्य के औचित्य से संघटना का विषय नियम बन ही जाता है इसलिये वह भी रस की अभिव्यञ्जक होती है। रस की अभिव्यक्ति में हेतुभूत रस उस संघटना का नियामक जो वह वक्ता और वाच्य का औचित्य रूप हेतु

लोचनम्

प्रसादस्यापरित्यागे अभीष्टत्वादत्रार्थे स्वकण्ठेनान्वयव्यतिरेकावुक्तौ। *न माधुर्यमिति।* ओजोमाधुर्ययोर्ह्यन्योन्याभावरूपत्वं प्राङ्निरूपितमिति तयोः सङ्करोऽत्यन्तं श्रुतिबाह्य इति भावः। *अभिप्रेतेति।* प्रसादेनैव स रसः प्रकाशितः न न प्रकाशित इत्यर्थः। *तस्मादिति।* यदि गुणाः सङ्घटनैकरूपास्तथापि गुणनियम एव सङ्घटनाया नियमः। गुणाधीनसङ्घटनापक्षेऽप्येवम्। सङ्घटनाश्रय-गुणपक्षेऽपि सङ्घटनाया नियामकत्वेन यद्वक्तृवाच्यौचित्यं

प्रसाद के होने पर मध्यम समासादि भी अभीष्ट होता है इस अर्थ में अपने कण्ठ से अन्वयव्यतिरेक कह दिया गया है। **न माधुर्यमिति** भाव यह कि ओजस् और माधुर्य का अन्योन्याभावरूप पहले निरूपण किया जा चुका है उनका एकत्र सम्मिश्रण कही सुना नहीं गया है **अभिप्रेतेति** प्रसाद से ही वह रस प्रकाशत होता है। अर्थात् नहीं प्रकाशित यह बात नहीं। इसलिये गुण एकमात्र संघटना रूप हैं तब तो गुणनियम ही संघटना के नियम हैं। गुण के अधीन संघटनापक्ष में भी इसी प्रकार का नियम है। संघटना के आश्रित गुणपक्ष में भी संघटना के नियामक होने से वक्तृगत और

ध्वन्यालोक:

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा॥७॥

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति। यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंश-

जिसे अभी ऊपर कहा है वही गुणों का नियत विषय है। इसलिये संघटना की गुणाश्रय रूप से व्यवस्था में भी कोई विरोध नहीं है।

विषयाश्रयेति वक्ता और वाच्य के औचित्य के अतिरिक्त विषयाश्रित औचित्य भी उस संघटना का नियन्त्रण करता है। काव्य के मुक्तक आदि भेदों से भी उस संघटना के भेद हो जाते हैं।

वक्ता तथा वाच्यगत औचित्य के संघटना नियामक होने पर उससे अन्य विषयाश्रित्य औचित्य भी उस संघटना का नियन्त्रण करता है, क्योंकि काव्य के

लोचनम्

हेतुत्वेनोक्तं तद्गुणानामपि नियमहेतुरिति पक्षत्रयेऽपि न कश्चिद्विप्लव इति तात्पर्यम्॥५-६॥

नियामकान्तरमप्यस्तीत्याह–*विषयाश्रयमिति।* विषयशब्देन सङ्घातविशेष उक्तः। यथा हि सेनाद्यात्मकसङ्घातनिवेशी पुरुषः कातरोऽपि तदौचित्यादनुगुणतयैवास्ते तथा काव्यवाक्यमपि सङ्घातविशेषात्मकसन्दानितकादिमध्यनिविष्टं तदौचित्येन वर्तते। मुक्तकं तु विषयशब्देन यदुक्तं तत्सङ्घाताभावेन स्वातन्त्र्यमात्रं प्रदर्शयितुं स्वप्रतिष्ठितमाकाशमिति

वाच्यगत औचित्य को हेतुरूप से कहा है वह गुणों का भी नियमहेतु है। इस प्रकार तीनों पक्षों में कोई भी विप्लव नहीं है, यह तात्पर्य है।

अन्य (दूसरे) नियामक भी हैं इस बात को कहते है– **विषयाश्रयमिति** विषय के आश्रित यहाँ विषय शब्द से संघात विशेष का ग्रहण है। जैसे कोई सेना आदि रूप सङ्घात में रहने वाला कातर भी पुरुष उसके औचित्य के कारण अनुगुण रूप (अकातर रूप) से ही रहता है उसी प्रकार सङ्घातविशेष रूप सन्दानितक आदि के मध्य में रहने वाला काव्यवाक्य भी उस वचन के औचित्य से रहता है परन्तु मुक्तक को जो विषय शब्द से कहा है उसके सङ्घात के अभाव के कारण स्वप्रतिष्ठित आकाश की भाँति स्वातन्त्र्यभाव को दिखाने के लिये 'मुक्तक' ऐसा कहा है। **अपि शब्देनेदमाह** भी शब्द से यह कहते हैं— वक्तृगत औचित्य और वाच्यगत औचित्य के होने पर भी विषयगत

ध्वन्यालोकः

निबद्धम्। सन्दानितकविशेषककलापककुलकानि। पर्यायबन्धः परिकथा खण्डकथा-सकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिका-कथे इत्येवमादयः। तदाश्रयेणापि सङ्घटना विशेषवती भवति। तत्र

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में निबद्ध मुक्तक (स्वयं में परिपूर्ण स्फुट श्लोक जैसे अमरुकशतक, गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती आदि के श्लो.) सन्दानितक (दो श्लोको में एक क्रिया का अन्वय वाला युग्म) विशेषक (तीन श्लोकों में एक क्रिया समाप्ति वाले) कलापक (चार का एक साथ एक क्रिया में अन्वित श्लो.) कुलक (५ या ५ से अधिक एक साथ अन्वित होने वाले श्लो.) २. पर्यायबन्ध (वसन्तादि केवल एक विषय का वर्णन करने वाला प्रकरण पर्यायबन्ध कहलाता है। परिकथा (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) इन पुरुषार्थचतुष्टयों में से एक के सम्बन्ध में बहुत सी कथाओं का संग्रह परिकथा कही जाती है।

लोचनम्

यथा। अपिशब्देनेदमाह—सत्यपि वक्तृवाच्यौचित्ये विषयौचित्यं केवलं तारतम्यभेदमात्रव्याप्तम्, न तु विषयौचित्येन वक्तृवाच्यौचित्यं निवार्यत इति। *मुक्तकमिति।* मुक्तमन्येनानालिङ्गितं तस्य सञ्ज्ञायां कन्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तिनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते। मुक्तकस्यैव विशेषणं संस्कृतेत्यादि। क्रमभावित्वात्तथैव निर्देशः। द्वाभ्यां क्रियासमाप्तौ सन्दानितकम्। त्रिभिर्विशेषकम्। चतुर्भिः कलापकम्। पञ्चप्रभृतिभिः कुलकम्। इति क्रियासमाप्तिकृता भेदा इति द्वन्द्वेन निर्दिष्टाः। अवान्तरक्रियासमाप्तावपि वसन्तवर्णनादि-रेकवर्णनीयोद्देशेन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः। एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य

औचित्य केवल तारतम्य भेदमात्र का प्रवर्त्तक है, न कि विषयगत औचित्य से वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य निवारण किये जाते हैं। **मुक्तकमिति** मुक्त अर्थात् अन्य से अनालिङ्गित। यहाँ संज्ञा में कन् प्रत्यय है इसलिये स्वतन्त्र रूप से निराकाङ्क्ष अर्थ से रहित भी प्रबन्ध के बीच रहने वाला मुक्तक नहीं कहा जाता। संस्कृत इत्यादि मुक्तक का ही विशेषण है। क्रम से होने के कारण उसी प्रकार निर्देश है। दो पद्यों से क्रिया समाप्त हो जाने पर सन्दानितक होता है। तीन से विशेषक, चार से कलापक, पाँच प्रभृति से कुलक। इस प्रकार क्रिया की समाप्ति से युक्त भेद द्वन्द्व द्वारा निर्दिष्ट है। अवान्तर क्रिया के समाप्त होने पर भी वसन्त वर्णन आदि एक वर्णनीय के उद्देश्य से प्रवृत्त काव्य पर्यायबन्ध होता है। धर्म आदि एक पुरुषार्थ के उद्देश्य से विभिन्न प्रकारों से अनन्त

ध्वन्यालोक:

मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्। तच्च दर्शितमेव। अन्यत्र कामचारः।

खण्डकथा किसी बहुत बड़ी कथा के एक देश का वर्णन करने वाली कथा सकलकथा (फलपर्यन्त संपूर्ण इतिवृत्त की कथा सकलकथा कही जाती है) खण्डकथा और संपूर्णकथा दोनों का प्राकृत में अधिक प्रयोग होने से द्विवचनान्त द्वन्द्व समास का रूप दिया है। सर्गबन्ध महाकाव्य अभिनेयार्थ (नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क आदि दशविध रूपक) आख्यायिका (उच्छ्वासादि भागों में निबद्ध वक्ता-प्रतिवक्ता आदि युक्त कथा आख्यायिका और उससे रहित कथा कही जाती है। इस प्रकार काव्य के अनेक प्रकार हैं। इनके आश्रय से भी संघटना में भेद हो जाता है।

उनमें से मुक्तकों में रसनिबन्ध में आग्रहवान् कवि के लिये जो रसाश्रित औचित्य नियामक है उन्हें दिखला चुके हैं।

लोचनम्

प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा। एकदेशवर्णना खण्डकथा। समस्तफलान्तेतिवृत्तवर्णना सकलकथा। द्वयोरपि प्राकृतप्रसिद्धत्वाद् द्वन्द्वेन निर्देशः। पूर्वेषां तु मुक्तकादीनां भाषायामनियमः। महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः समस्तवस्तुवर्णनाप्रबन्धः सर्गबन्धः संस्कृत एव। अभिनेयार्थं दशरूपकं नाटिकात्रोटकरासकप्रकरणिकाद्यवान्तर-प्रपञ्चसहितमनेकभाषाव्यामिश्ररूपम्। आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रा-परवक्त्रादिना च युक्ता। कथा तद्विरहिता। उभयोरपि गद्यबन्धस्वरूपतया

वृत्तान्तों के वर्णन प्रकार को परिकथा कही जाती है। एकदेश (किसी कथा का एक अंश) का वर्णन खण्डकथा कही जाती है। समस्त फलपर्यन्त इतिवृत्त का वर्णन सकलकथा कही जाती है। खण्डकथा और सकलकथा इन दोनों के प्राकृत में प्रसिद्ध होने के कारण द्वन्द्व समास द्वारा निर्देश है, किन्तु मुक्तक आदि पहले प्रभेदों के भाषा में नियम नहीं। महाकाव्यरूप पुरुषार्थ फल वाला एवं समस्त वस्तुओं के वर्णनों वाला प्रबन्ध संस्कृत में ही होता है। अभिनेयार्थ दशरूपक नाटिका, त्रोटक, रासक, प्रकरणिका आदि अवान्तर प्रपञ्चसहित अनेक भाषाओं का मिला-जुला रूप है। आख्यायिका उच्छ्वास आदि से वक्त्र और अपरवक्त्र आदि से युक्त होती है। कथा उससे विरहित होती है। आख्यायिका और कथा इन दोनों का भी गद्यबन्ध स्वरूप होने के कारण द्वन्द्व समास

ध्वन्यालोकः

मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव। सन्दानितकादिषु तु विकटनिबन्धनौचित्यान्मध्यमसमासादीर्घसमासे एव रचने। प्रबन्धाश्रयेषु यथोक्तप्रबन्-

अन्यत्र रसाभिनिवेशरहित काव्य में कवि चाहे जैसी रचना करे कामचार अर्थात् स्वतन्त्रता है। प्रबन्ध काव्यों के समान मुक्तकों में भी रस का अभिनिवेश करने वाले कवि पाये जाते हैं, जैसे अमरुक कवि के शृङ्गार रस को प्रवाहित करने वाले प्रबन्धकाव्य सदृश विभावादि से परिपूर्ण मुक्तक प्रसिद्ध ही है। सन्दानितक आदि में तो विकटबन्ध के उचित होने से मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा संघटना ही होती है। प्रबन्धकाव्य में आश्रित सन्दानितक, कुलक-पर्यन्त भेदों में प्रबन्ध काव्य के यथोक्त पूर्व वर्णित वक्ता और वाच्यादिगत औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिये। पर्यायबन्ध (**वसन्तवर्णनादिरेकवर्णनीयोद्देश्येन**

लोचनम्

द्वन्द्वेन निर्देशः। आदिग्रहणाच्चम्पूः यथाह दण्डी–'गद्यमपद्यमयी चम्पूः' इति। *अन्यत्रेति।* रसबन्धानभिनिवेशे।

ननु मुक्तके विभावादिसङ्घटना कथं येन तदायत्तो रसः स्यादित्याशङ्क्याह–*मुक्तकेष्विति।अमरुकस्येति।*

कथमपि कृतप्रत्यापत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
विरहकृशया कृत्वा व्याजप्रकल्पितमश्रुतम् ।
असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिं विशङ्क्य ससम्भ्रमं
विवलितदृशा शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं ततः ॥

से निर्देश है आदि ग्रहण से चम्पू का ग्रहण है जैसा कि दण्डी ने कहा है '**गद्यपद्यमयी चम्पू**'। **अन्यत्रेति** रस के निबन्धन का अभिनिवेश जहाँ नहीं है।

मुक्तक में विभावादि की संघटना किस प्रकार होगी? जिससे उसके अधीन रस होगा, इस आशङ्का पर कहते है—**मुक्तकेषु। अमरुकस्येत्यादि।**

अपने प्रियतम के गोत्रस्खलन के अपराधी होने पर किसी प्रकार विश्वास दिलाये जाने पर विरह से कृश नायिका ने पुनः समागम की आशा को बहाना कर अनसुनी कर दिया। फिर इसे न सह सकने वाली सखी के कानों तक इस बात के पहुँच जाने के प्रमाद से व्याकुल हो अपने सूने घर में आँखें झुका कर रोने लगी। इस श्लोक में स्पष्ट ही विभावादि संपत् की प्रतीति होती है।

ध्वन्यालोकः

धौचित्यमेवानुसर्तव्यम्। पर्यायबन्धे पुनरसमासामध्यमसमासे एव सङ्घटने। कदाचिदर्थौचित्याश्रयेण दीर्घसमासायामपि सङ्घटनायां परुषा ग्राम्या च वृत्तिः परिहर्तव्या। परिकथायां कामचारः, तत्रेतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यन्तं रसबन्धाभिनिवेशात्। खण्डकथा-सकलकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वाद्दीर्घ-

प्रवृत्तः पर्यायबन्धः) वसन्तादि किसी एक ही विषय के वर्णन के उद्देश्य से प्रवृत्त काव्यविशेष को पर्यायबन्ध कहते हैं। इस पर्यायबन्ध नामक काव्यभेद में साधारणतः असमासा तथा मध्यमसमासा संघटना ही होनी चाहिये। परन्तु कभी अर्थ के औचित्य के कारण दीर्घसमासा रचना होने पर भी परुषा और ग्राम्या वृत्ति को बचाना चाहिये। परिकथा (एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणा-नन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा) धर्म अर्थ आदि किसी एक पुरुषार्थ को लेकर अनेक प्रकार की बहुत सी कथाओं का वर्णन परिकथा कही जाती है। उस परिकथा नामक काव्यभेद में कामचार अर्थात् स्वतन्त्रता है, क्योंकि उसमें केवल कथांश (इतिवृत्त आख्यान वस्तु) का वर्णन मुख्य होने से रसबन्ध का विशेष आग्रह नहीं होता। प्राकृत भाषा में कुलकादि (**तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्**) चार से अधिक अन्वित

लोचनम्

इत्यत्र हि श्लोके स्फुटैव विभावादिसम्पत्प्रतीतिः। *विकटेति।* असमासायां हि सङ्घटनायां मन्थररूपा प्रतीतिः साकाङ्क्षा सती चिरेण क्रियापदं दूरवर्त्यनुधावन्ती वाच्यप्रतीतावेव विश्रान्ता सती न रसतत्त्वचर्वणायोग्या स्यादिति भावः। *प्रबन्धाश्रयेष्विति।* सन्दानितकादिषु कुलकान्तेषु। यदि वा प्रबन्धेऽपि मुक्तकस्यास्तु सद्भावः, पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। यथा-

विकटेति– भाव यह कि असमासा संघटना में मन्थररूप प्रतीति साकाङ्क्ष चिरकाल तक दूरवर्त्ती क्रियापद का अनुधावन करती हुई वाच्य की प्रतीति में विश्रान्त होती हुई इस तत्त्व के चर्वणा के योग्य नहीं होगी। **प्रबन्धाश्रयेष्विति** सन्दानितक आदि से कुलकान्त में प्रबन्ध के आश्रित होने पर भी। अथवा प्रबन्ध में ही मुक्तक का सद्भाव माना जाय। पूर्वापरनिरपेक्ष जिस श्लोक से रसचर्वणा की जावे वह मुस्तक है। जैसे मेघदूत का **त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्** इत्यादि श्लोक। **कदाचिदिति** रौद्रादि विषय में। **नात्यन्तमिति** रस के निबन्धन में जिसका अभिनिवेश नहीं है इस कारण

ध्वन्यालोकः

समासायामपि न विरोधः वृत्त्यौचित्यं तु यथारसमनुसर्तव्यम्। सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यमन्यथा तु कामचारः, द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्धविधायिनां दर्शनाद्रसतात्पर्यं साधीयः। अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः। आख्यायिकाकथयोस्तु गद्यनिबन्धन-बाहुल्याद्गद्ये च छन्दोबन्धभिन्नप्रस्थानत्वादिह नियमे हेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक्क्रियते॥७॥

श्लोक का एक साथ बहुल प्रयोग होने से दीर्घसमासा संघटना में भी विरोध नहीं हैं, परन्तु वृत्तियों को रस के अनुसार औचित्य अवश्य अनुसरण करना चाहिये। सर्गबन्ध महाकाव्य में रस प्रधान होने पर रस के अनुसार औचित्य होना चाहिये। अन्यथा (केवल इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य जैसे भट्टजयन्त का कादम्बरी कथासार होने पर) तो कामचार अर्थात् स्वतन्त्रता है (रसप्रधान इतिवृत्तमात्र प्रधान) दोनों प्रकार के महा काव्यनिर्माता देखे जाते हैं उनमें से रस प्रधान महाकाव्य श्रेष्ठ होता है। अभिनेयार्थ नाटकों में सर्वथा रसयोजना पर ही पूर्ण बल देना चाहिये। आख्यायिका और कथा में तो गद्यरचना की ही प्रधानता रहने पर और गद्य में छन्दोबद्ध रचना से भिन्न मार्ग होने से उसके विषय में कोई नियामक हेतु इसके पूर्व निर्मित न होने पर भी कुछ थोड़ा सा निर्देश करते है। **एतदिति।**

लोचनम्

'त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्' इत्यादिश्लोकः। *कदाचिदिति।* रौद्रादिविषये। *नात्यन्तमिति।* रसबन्धे यो नात्यन्तमभिनिवेशस्तस्मादिति सङ्गतिः। *वृत्त्यौचित्यमिति।* परुषोपनागरिकाग्राम्याणां वृत्तीनामौचित्यं यथाप्रबन्धं यथारसं च। *अन्यथेति।* कथामात्रतात्पर्ये वृत्तिष्वपि कामचारः। *द्वयोरपीति* सप्तमी। कथातात्पर्ये सर्गबन्धो यथा भट्टजयन्तकस्य कादम्बरीकथासारम्। रसतात्पर्यं यथा रघुवंशादि। अन्ये तु संस्कृतप्राकृतयोर्द्वयोरिति व्याचक्षते, तत्र तु रसतात्पर्यं साधीय इति यदुक्तं तत्किमपेक्षयेति नेयार्थं स्यात्॥७॥

वृत्यौचित्यपरुष उपनागरिका ग्राम्या वृत्तियों का प्रबन्ध के अनुसार और रस के अनुसार औचित्य। **अन्यथेति** कथा मात्र में तात्पर्य होने पर वृत्तियों में भी स्वतन्त्रता है। **द्वयोरपीति** दोनों मार्गों में यहाँ सप्तमी है। कथा के तात्पर्य में सर्गबन्ध जैसे भट्टजयन्त का कादम्बरी-कथासार रस के तात्पर्य में जैसे रघुवंश आदि। अन्य व्याख्याकार करते हैं संस्कृत प्राकृत दोनों में। उस प्रकार के व्याख्यान में जो कहा है कि रस के तात्पर्य

ध्वन्यालोकः

एतद्यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम्।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥८॥

यदेतदौचित्यं वक्तृवाच्यगतं सङ्घटनाया नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियमावर्जितेऽपि विषयापेक्षं नियमहेतुः। तथा ह्यत्रापि यदा कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावरहितस्तदा कामचारः। रसभावसमन्विते तु वक्तरि पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम्। तत्रापि च विषयौचित्यमेव। आख्यायिकायां तु भूम्ना मध्यमसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटने। गद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण छायावत्त्वात्। तत्र च तस्य प्रकृष्यमाणत्वात्। कथायां तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तिमौचित्यमनुसर्तव्यम्॥८॥

यह पूर्ववर्णित औचित्य ही छन्द के नियम से रहित गद्यरचना में भी सर्वत्र उस सङ्घटना का नियामक होता है॥८॥

संघटना का नियामक वक्तृगत और वाच्यगत जो औचित्य बताया है छन्दोरहित गद्य में भी विषयगत औचित्यसहित वही नियामक होता है। इसलिये गद्य में भी कवि या कविनिबद्ध वक्ता जब रसभावरहित होता है तब स्वतन्त्रता (कामचार) है और वक्ता के रसभावयुक्त होने पर तो उन पूर्वोक्त नियमों का ही पालन करना चाहिये। उसमें भी विषयगत औचित्य होता ही है। आख्यायिका में तो अधिक रूप से मध्यमसमासा और दीर्घसमासा संघटना ही होती है। क्योंकि कठिन रचना से गद्य में सौन्दर्य आ जाता है, और उस विकटबन्ध में रचनाप्रकर्ष का सौन्दर्य होने से। कथा में गद्य की विकट रचना का बाहुल्य होने पर भी रसबन्धसम्बन्धी औचित्य का पालन करना ही चाहिये।

लोचनम्

***विषयापेक्षमिति।* गद्यबन्धस्य भेदा एव विषयत्वेनानुमन्तव्याः॥८॥**

से उत्तम होता है। ऐसा कहा है, वहाँ अपेक्षा होगी कि किसकी अपेक्षा में, इसलिये यह व्याख्यान नेयार्थ (संदिग्ध असमर्थ) रहेगा।

विषयापेक्षमिति विषयगत औचित्य-गद्य रचना के भेद ही विषयरूप से मानने चाहिये॥८॥

ध्वन्यालोकः

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद्विभेदवत्॥९॥

अथवा पद्यवद्गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भवति। तत्तु विषयापेक्षं किञ्चिद्विशेषवद्भवति, न तु सर्वाकारम्। तथा हि गद्यबन्धेऽप्यतिदीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भशृङ्गार-करुणयोराख्यायिकायामपि शोभते। नाटकादावप्यसमासैव न

रसबन्ध में उक्त नियमनार्थ प्रतिपादित औचित्य का आश्रय करने वाली रचना सर्वत्र गद्य और पद्य दोनों में शोभित होती है। विषयगत औचित्य की दृष्टि से उसमें कुछ भेद हो जाता है॥९॥

अथवा पद्यरचना के समान गद्य में भी रसबन्धोक्त औचित्य का सर्वत्र आश्रय लेने वाली रचना शोभित होती है। वह औचित्य विषयगत औचित्य की दृष्टि से कुछ विशेष हो जाता है परन्तु सर्वथा नहीं। उदाहरणार्थ गद्यरचना में भी करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में आख्यायिका तक में भी अत्यन्त दीर्घ समास वाली रचना अच्छी नहीं लगती। नाटकादि में असमासा संघटना ही होनी चाहिये।

लोचनम्

स्थितपक्षन्तु दर्शयति–*रसबन्धोक्तमिति*। वृत्तौ च वाशब्दोऽस्यैव पक्षस्य स्थितिद्योतकः। यथा–

स्त्रियो नरपतिर्वह्निर्विषं युक्त्या निषेवितम्।
स्वार्थाय यदि वा दुःखसम्भारायैव केवलम्॥इति।

रचना सङ्घटना। तर्हि विषयौचित्यं सर्वथैव त्यक्तं नेत्याह–तदेव रसौचित्यं विषयं सहकारितयापेक्ष्य किञ्चिद्विभेदोऽवान्तरवैचित्र्यं विद्यते यस्य समपाद्यत्वेन तादृशं भवति। एतद्व्याचष्टे–*तत्त्विति*। *सर्वाकारमिति* क्रिया-

स्थितपक्ष प्रदर्शित करते हैं– **रसबन्धोक्तमिति** वृत्ति में वा शब्द इसी पक्ष की स्थिति का द्योतक है। जैसे **स्त्रिय इति** स्त्री, राजा, अग्नि और विष युक्तिपूर्वक सेवन किये जाने पर स्वार्थ सिद्ध करते हैं अन्यथा दुःखसंभार के लिये होते हैं।

रचना अर्थात् संघटना। तब तो विषयगत औचित्य छोड़ दिया गया इस प्रकार कहते हैं नहीं। सर्वथा नहीं छोड़ा है। नहीं रस का औचित्य विषय को सहकारी रूप से अपेक्षा कर कुछ विभेद अर्थात् अवान्तर वैचित्र्य हो जाता हैं जो संपाद्य होने के कारण उस प्रकार का होता है– **एतद्व्याचष्टे तत्त्विति** इसका व्याख्यान करते हैं किन्तु

ध्वन्यालोकः

रौद्रवीरादिवर्णने। विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च। तथा ह्याख्यायिकायां नात्यन्तमसमासा स्वविषयेऽपि नाटकादौ नातिदीर्घसमासा चेति सङ्घटनाया दिगनुसर्तव्या॥९॥

इदानीमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायण-महाभारतादौ प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव। तस्य तु यथा प्रकाशनं तत्प्रतिपाद्यते—

विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा॥१०॥

नाटकादि में रौद्र, वीर आदि के वर्णन में विषय की अपेक्षा करने वाला औचित्य प्रमाण के बल से घट-बढ़ जाता है जैसे आख्यायिका में स्वविषय करुणविप्रलम्भ शृङ्गार में भी अत्यन्त समासहीन और नाटक आदि में स्वविषय रौद्रवीरादि में भी अत्यन्त दीर्घसमासा रचना नहीं होनी चाहिये। अतः संघटना-मार्ग का सर्वत्र अनुसरण करना चाहिये।

इदानीमिति अब असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि जो रामायण, महाभारत आदि में प्रबन्धगत रूप से प्रकाशित होता हुआ प्रसिद्ध ही है, उसे जिस प्रकार प्रकाशित होना चाहिये वह प्रकार कहते हैं— **विभावेति**— विभाव, स्थायीभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के औचित्य से सुन्दर वृत्त अथवा उत्प्रेक्षित ऐतिहासिक अथवा पूर्वकल्पित कथाशरीर का निर्माण॥१०॥

लोचनम्

विशेषणम्। *असमासैवेति।* सर्वत्रैवेति शेषः। तथा हि वाक्याभिनयलक्षणे 'चूर्णपादैः प्रसन्नैः' इत्यादि मुनिरभ्यधात्। अत्रापवादमाह—*न चेति। नाटकादाविति।* स्वविषयेऽपीति सम्बन्धः॥९॥

एवं सङ्घटनायां चालक्ष्यक्रमो दीप्यत इति निर्णीतम्। प्रबन्धे दीप्यत इति तु निर्विवादसिद्धोऽयमर्थ इति नात्र वक्तव्यं किञ्चिदस्ति। केवलं

उसमें। **सर्वाकारमिति** सब प्रकार से। यह क्रिया विशेषण है। **असमासैवेति** यहाँ सर्वत्र इतना शेष है। जैसा कि वाक्याभिनय लक्षण में मुनि ने **चूर्णपादैः प्रसन्नैः** इत्यादि कहा है। **अत्रापवादमाह न चेति** इसमें अपवाद कहते हैंनहीं इत्यादि **नाटकादाविति** अपने विषय में भी इस प्रकार का सम्बन्ध है॥९॥

एवमिति इस प्रकार संघटना में अलक्ष्यक्रमदीप्त होता है यह निर्णय किया। प्रबन्ध काव्य में भी दीप्त होता है यह तो निर्विवाद सिद्ध बात है अतः हमें इस सम्बन्ध

ध्वन्यालोकः

इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥११॥
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥१२॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥१३॥
अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥१४॥

ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल स्थिति (कथांशादि) को छोड़कर बीच में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का संस्करण (संस्कार विशुद्धि)॥११॥

केवल शास्त्रीय विधान के परिपालन की इच्छा से नहीं अपितु शुद्ध रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि और सन्ध्यङ्गों की रचना॥१२॥

यथावसर रसों का उद्दीपन तथा प्रशमन की योजना और विश्रान्त होते हुये प्रधान रस का अनुसन्धान (अन्वेषण संस्मरण)॥१३॥

अलङ्कारों के यथेच्छ प्रयोग की पूर्णशक्ति होने पर भी रस के अनुरूप ही परिमित मात्रा में अलङ्कारों की योजना। ये पाँच प्रबन्धगत रस के अभिव्यञ्जक हेतु हैं॥१४॥

लोचनम्

कविसहृदयान् व्युत्पादयितुं रसव्यञ्जने येतिकर्तव्यता प्रबन्धस्य सा निरूप्येत्याशयेनाह–*इदानीमिति*। इदानीं तत्प्रकारजातं प्रतिपाद्यत इति सम्बन्धः। *प्रथमं तावदिति* प्रबन्धस्य व्यञ्जकत्वे ये प्रकारास्ते क्रमेणैवोपयोगिनः। पूर्वं हि कथापरीक्षा। तत्राधिकावापः फलपर्यन्त-तानयनम्, रसं प्रति जागरणम्, तदुचितविभावादिवर्णनेऽलङ्कारौचित्यमिति।

में कुछ नहीं कहना है, केवल कवियों और सहृदयों को व्युत्पन्न करने के लिये रस के अभिव्यञ्जन में जो प्रबन्ध की इतिकर्त्तव्यता (प्रकार) है वह निरूपणीय है इस आशय से कहते हैं– **इदानीमिति** अब उन प्रकारों का प्रतिपादन करते हैं। यह सम्बन्ध हैं। प्रथम तो प्रबन्ध के व्यञ्जक होने में जो प्रकार हैं वे क्रम से उपयोगी होते हैं। पहले कथा की परीक्षा, उसमें अधिक ग्रहण कर फलपर्यन्त पहुँचाना। फिर रस के प्रति जागरण

ध्वन्यालोकः

प्रबन्धोऽपि रसादीनां व्यञ्जक इत्युक्तं तस्य व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। प्रथमं तावद्विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः कथाशरीररस्य विधिर्यथायथं प्रतिपिपादयिषितरसभावाद्यपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽनुभावः सञ्चारी वा तदौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिर्व्यञ्जकत्वे निबन्धनमेकम्। तत्र विभावौचित्यं तावत्प्रसिद्धम्। भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृतिर्ह्युत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिभावेन च विभेदिनी। तां यथाय-

प्रबन्धकाव्य भी रसादि का व्यञ्जक होता है। इस बात को **स प्रबन्धेऽपि दीप्यते** (द्र. उद्योत ३ का. २) में कह आये हैं। उसके व्यञ्जकत्व के हेतु ५ हैं जो इस प्रकार हैं—

सबसे प्रथम विभाव, स्थायीभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के औचित्य से सुन्दर कथा– शरीर का निर्माण उचित प्रकार से प्रतिपादनाभिमत रसभाव आदि की दृष्टि से जो उचित विभाव, स्थायीभाव, अनुभाव वा सञ्चारीभाव उनके औचित्य से सुन्दर कथा-शरीर का निर्माण जो रस का अभिव्यञ्जक हो प्रथम कारण है।

उनमें से विभाव का औचित्य तो लोक तथा भरतनाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध ही है। स्थायीभाव का औचित्य प्रकृति के औचित्य से होता है। प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम और दिव्य तथा मानुष भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है उसका यथोचित रूप से अनुसरण करते हुये असङ्कीर्ण अमिश्रित विशुद्ध रूप से उपनिबद्ध स्थायीभाव औचित्ययुक्त माना जाता है। नहीं तो केवल मानुष प्रकृति के आश्रय दिव्य प्रकृति उत्साहादि अथवा केवल दिव्य प्रकृति के आश्रय के

लोचनम्

तत्क्रमेण पञ्चकं व्याचष्टे–*विभावेत्यादिना। तदौचित्येति।* शृङ्गारवर्णनेच्छुना तादृशी कथा संश्रयणीया यस्यामृतुमाल्यादेर्विभावस्य लीलादेरनुभावस्य हर्षधृत्यादेः सञ्चारिणः स्फुट एव सद्भाव इत्यर्थः। *प्रसिद्धमिति।* लोके

फिर उसके उचित विभावादि के वर्णन में अलङ्कारों का औचित्य। अब क्रमशः उस पञ्चक का व्याख्यान करते हैं– **विभावेत्यादिमिति** विभाव आदि के द्वारा। **तदौचित्यमिति** उसका औचित्य अर्थात् शृङ्गार के वर्णन की इच्छा वाले को उस प्रकार की कथा का आश्रयण करना चाहिये जिसमें ऋतु, माल्य आदि विभाव, लीला आदि अनुभाव का, हर्ष, धृति आदि सञ्चारी का स्पष्ट ही सद्भाव हो। **प्रसिद्धमिति** लोक में

ध्वन्यालोकः

थमनुसृत्यासङ्कीर्णः स्थायी भाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग् भवति। अन्यथा तु केवलमानुषाश्रयेण दिव्यस्य केवलदिव्याश्रयेण वा केवलमानुषस्योत्साहादय उपनिबध्यमाना अनुचिता भवन्ति। तथा च केवलमानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमानाः सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति, तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः।

ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां श्रूयन्ते, तदलोकसामान्यप्रभावातिशयवर्णने किमनौचित्यं सर्वोर्वीभरण-क्षमाणां क्षमाभुजामिति। न तदस्ति; न वयं ब्रूमो

उपनिबध्यमान केवल मानुष के उत्साहादि स्थायीभाव अनुचित होते हैं। इसलिये केवल मानुषप्रकृति राजा आदि के वर्णन के प्रसङ्ग में सात समुद्र पार करने आदि उत्साह का वर्णन सुन्दर होने पर भी निश्चित रूप से नीरस ही प्रतीत होते हैं इसका कारण अनौचित्य है।

यहाँ संदेह करते है कि सातवाहन आदि राजाओं के नागलोकगमन आदि का वर्णन मिलता है। तो समस्त पृथ्वी के धारण में समर्थ राजाओं के अलौकिक प्रभावातिशय के वर्णन में क्या अनौचित्य है? उत्तर देते है– मेरा तात्पर्य यह

लोचनम्

भरतशास्त्रे च। *व्यापार इति। तद्विषयोत्साहोपलक्षणमेतत्।* स्थाय्यौचित्यं हि व्याख्येयत्वेनोपक्रान्तं नानुभावौचित्यम्। *सौष्ठवभृतोऽपीति।* वर्णनामहिम्ने-त्यर्थः। *तत्र* त्विति नीरसत्वे।

***व्यतिरिक्तं त्विति।* अधिकमित्यर्थः।**

एतदुक्तं भवति– यत्र विनेयानां प्रतीतिखण्डना न जायते तादृग्वर्णनीयम्। तत्र केवलमानुषस्य एकपदे सप्तार्णवलङ्घनमसम्भा-

और भरतशास्त्र में। **व्यापार इति** उस विषय के उत्साह का यह उपलक्षण है, क्योंकि स्थायी का औचित्य व्याख्येय रूप से उपक्रान्त है न कि अनुभाव का औचित्य। **सौष्ठवभृतोऽपीति** सौष्ठवयुक्त होने पर भी। वर्णन की महिमा से। **तत्र त्विति** अर्थात् नीरसत्व मे। **व्यतिरिक्तमिति** अर्थात् अधिक। **एतदुक्तं भवति** इसका तात्पर्य यह है– जहाँ विनेय (शिक्षणीय) जनों की प्रतीति खण्डित नहीं होती, उस प्रकार का वर्णन करना चाहिये। वहाँ केवल मनुष्य का एक छलांग में सात समुद्र का लाँघ जाना

ध्वन्यालोकः

यत्प्रभावातिशयवर्णनमनुचितं राज्ञाम्, किं तु केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम्। दिव्यमानुष्यायां तु कथायामुभयौचित्ययोजनमविरुद्धमेव। यथा पाण्ड्वादिकथायाम्। सातवाहनादिषु तु येषु यावदपदानं श्रूयते तेषु तावन्मात्रमनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते। व्यतिरिक्तं तु तेषामेवोपनिबध्यमानमनुचितम्। तदयमत्र परमार्थः–

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

अत एव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तम्। तेन हि नायकौचित्या-

नहीं है कि राजाओं के प्रभावातिशय का वर्णन करना अनुचित है किन्तु जो मनुष्य प्रकृति के आधार पर जो कथा कल्पित की जाय उसमें दिव्य प्रकृति के औचित्य को नहीं जोड़ना चाहिये। दिव्य और मानुष उभय प्रकृत्यात्मक कथा में तो दोनों प्रकार के औचित्यों का वर्णन अविरुद्ध है ही। जैसे पाण्डु आदि की कथा में सातवाहन आदि की कथा आदि में तो जिनके विषय में जितना पूर्व वृत्तान्त दिव्य प्रकृतिसम्बन्धी सुना जाता है उन कथाओं में केवल उतने अंश का अनुसरण तो उचित प्रतीत होता है। परन्तु उन्हीं का उससे अधिक का वर्णन अनुचित है। **(यावदपदानं श्रूयते)** इस मूल में अपदान शब्द आया है, कोष में उस अपदान का अर्थ 'अपदानं कार्यवृत्तं' अर्थात् प्राचीन प्रशस्त चरित किया है। इसका सारांश यह हुआ– अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का और कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है।

इसीलिये भरत के नाट्यशास्त्र में (नाटक में) प्रख्यात कथावस्तु को विषय और प्रख्यात उदात्त नायक को रखना अनिवार्य प्रतिपादित किया गया है। इससे

लोचनम्

व्यमानतयाऽनृतमिति हृदये स्फुरदुपदेश्यस्य चतुर्वर्गोपायस्याप्यलीकतां बुद्धौ निवेशयति। रामादेस्तु तथाविधमपि चरितं पूर्वप्रसिद्धिपरम्परोपचितसं-

असंभाव्यमान होने के कारण अनृत के रूप में हृदय में प्रतीत हुआ उपदेश्य चतुवर्ग के उपाय को भी अलीकता की बुद्धि में निविष्ट करता है। परंतु राम आदि का उस

ध्वन्यालोकः

नौचित्यविषये कविर्न व्यामुह्यति। यस्तूत्पाद्यवस्तु नाटकादि कुर्यात्तस्याप्रसिद्धानुचितनायकस्वभाववर्णने महान् प्रमादः।

ननु यद्युत्साहादिभाववर्णने कथञ्चिद्दिव्यमानुष्याद्यौचित्यपरीक्षा क्रियते तत्क्रियताम्, रत्यादौ तु किं तया प्रयोजनम्? रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः। नैवम्; तत्रौचित्यातिक्रमेण सुतरां दोषः। तथा ह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता। त्रिविधं प्रकृत्यौचित्यं भारते वर्षेऽप्यस्ति शृङ्गारविषयम्। यत्तु दिव्यमौचित्यं

नायक के औचित्य अनौचित्य के विषय में कवि भ्रम में नहीं पड़ता है, और जो कल्पित कथा के आधार पर नाटकादि का निर्माण करता है उससे प्रसिद्ध और अनुचित नायक के स्वभावादि वर्णन में बहुत बड़ी भूल की संभावना बनी रहती है।

यहाँ सन्देह करते हैं– उत्साहादि स्थायी भावों के वर्णन में यदि दिव्य मानुष आदि प्रकृति के औचित्य की परीक्षा करते हैं तो करें परन्तु रत्यादि के वर्णन में उस परीक्षा से क्या लाभ? रति तो भारतवर्षोचित व्यवहारों से ही दिव्यों (देवताओं) की भी वर्णन करना चाहिये यह भरत के नाट्यशास्त्र का उत्तर ऐसी बात नहीं है वहाँ रति विषय में भी औचित्य का उल्लङ्घन करने में दोष ही हैं क्योंकि उत्तम प्रकृति के नायक-नायिका में अधम प्रकृति के उचित शृङ्गारादि के वर्णन में कौन सी उपहास्यता नहीं होगी। प्रश्नकर्त्ता भारतवर्ष में भी तीन प्रकार

लोचनम्

प्रत्ययोपारूढमसत्यतया न चकास्ति। अत एव तस्यापि यदा प्रभावान्तरमुत्प्रेक्ष्यते तदा तादृशमेव। न त्वसम्भावनापदं वर्णनीयमिति। *तेन हीति*।प्रख्यातोदात्तनायकवस्तुत्वेन। *व्यामुह्यतीति* किं वर्णयेयमिति। *यस्त्विति* कविः। *महान् प्रमाद* इति। तेनोत्पाद्यवस्तु नाटकादि न निरूपितं मुनिनेति न

प्रकार के चरित्र पूर्वप्रसिद्धि की परम्परा से उपचित विश्वास द्वारा हृदय में उपारूढ होने के कारण असत्य रूप से प्रतीत नहीं होता। अतएव जब उसके भी अन्य प्रभाव की कल्पना करेंगे तब वह उसी प्रकार का होगा। असंभावना के स्थान का वर्णन नहीं करना चाहिये। **तेन हीति** इस कारण प्रख्यात उदात्त नायक की कथा होने के कारण **व्यामुह्यतीति** व्यामोह प्राप्त करता है– क्या वर्णन करूँ। **यस्त्विति** वह कवि। **महान्**

ध्वन्यालोकः

तत्तत्रानुपकारकमेवेति चेत्– न वयं दिव्यमौचित्यं श्रृङ्गारविषयमन्यत्किञ्चिद्ब्रूमः। किं तर्हि? भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु श्रृङ्गारोपनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते। न च राजादिषु प्रसिद्धग्राम्यशृङ्गारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथैव देवेषु तत्परिहर्तव्यम्। नाटकादेरभिनेयार्थत्वादभिनयस्य च

का शृङ्गारविषयक प्रकृति का औचित्य पाया जाता है उससे भिन्न यदि कोई और दिव्य औचित्य है वह उस रसाभिव्यक्ति में अनुपकारक ही है, क्योंकि द्रष्टा को उस दिव्य रति आदि विषयक संस्कार न होने से रसानुभूति नहीं होगी। उत्तर— हम शृङ्गारविषयक दिव्य औचित्य भारतवर्षोचित औचित्य से भिन्न (अलग) कुछ और नहीं मानते हैं।

प्रश्न– तो फिर आप का अभिप्राय क्या है?

उत्तर– भारतवर्ष के विषय में उत्तम राजा आदि में जिस प्रकार के शृङ्गार का वर्णन होता है, वह दिव्य नायक आदि के आश्रित होने पर भी शोभित होता है और जैसे उत्तम नायक राजा आदि में प्रसिद्ध ग्राम्य शृङ्गार का वर्णन नाटकादि में प्रचलित नहीं है उसी प्रकार देवों में भी उसको बचाना चाहिये हमारे कहने का यह अभिप्राय है।

लोचनम्

कर्तव्यमिति तात्पर्यम्। आदिशब्दः प्रकारे, डिमादेः प्रसिद्धदेवचरितस्य संग्रहार्थः।

अन्यस्तु–'उपलक्षणमुक्तो बहुव्रीहिरिति प्रकरणमत्रोक्तमि'त्याह। 'नाटिकादि' इति वा पाठः। तत्रादिग्रहणं प्रकारसूचकम्, तेन मुनिनिरूपिते नाटिकालक्षणे 'प्रकरणनाटकयोगादुत्पाद्यं वस्तु नायको नृपतिः' इत्यत्र

प्रमाद इति इसलिये उत्पाद्य अर्थात् कल्पित कथानक वाले नाटक आदि का भरतमुनि ने निरूपण नहीं किया है। अतः हम लोगों को भी कल्पित तथा वस्तु को आधार मान कर नाटकादि का प्रणयन नहीं करना चाहिये यह तात्पर्य है। नाटकादि में आदि शब्द प्रकार के अर्थ में है, डिम आदि प्रसिद्ध देवचरित के संग्रहार्थ है।

अन्य व्याख्याकार तो कहते है कि नाटकादि में उपलक्षण रूप से बहुब्रीहि समास कहा गया है अतः यहा नाटकादौ का अर्थ प्रकरण कहा गया है अतः यहाँ आदि पद का अर्थ प्रकार या सादृश्य नहीं। अथवा नाटिकादि यह पाठ है। यहाँ आदि अनेक

ध्वन्यालोकः

सम्भोगशृङ्गारविषयस्यासभ्यत्वात्तत्र परिहार इति चेत्– न; यद्यभिनयस्यैवंविषयस्यासभ्यता तत्काव्यस्यैवंविषयस्य सा केन निवार्यते? तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत्पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम्। तथैवोत्तमदेवतादिविषयम्।

पुनः प्रश्न होता है कि नाटकादि अभिनेयार्थ होते हैं, संभोगशृङ्गारविषयक अभिनय के असभ्यतापूर्ण होने के कारण नाटकादि में उसका परिहार किया जाता है, परन्तु काव्य में तो अभिनय न होने के कारण उसके परिहार की आवश्यकता नहीं हैं यदि ऐसा कहें तो।

उत्तर– यह कहना उचित नहीं है यदि इस प्रकार का संभोगशृङ्गारविषयक अभिनय असभ्यतापूर्ण है तो इस प्रकार के संभोगशृङ्गारविषयक काव्य में उस असभ्यतापूर्ण दोष को कौन निवारण कर सकता है? वहाँ भी वह दोष होगा ही इसलिये अभिनेयार्थ सभी प्रकार के काव्य में उत्तम प्रकृति वाले राजा आदि का उत्तम प्रकृति की नायिकाओं के साथ जो ग्राम्यसंभोग का वर्णन करना है वह माता-पिता के संभोग-वर्णन के समान अत्यन्त अनुचित तथा असभ्यतापूर्ण है। उसी प्रकार उत्तम देवताविषयक संभोगशृङ्गार का वर्णन अनुचित और असभ्य है।

लोचनम्

यथासंख्येन प्रख्यातोदात्तनृपतिनायकत्वं बोद्धव्यमिति भावः। कथं तर्हि सम्भोगशृङ्गारः कविना निबध्यतामित्याशङ्क्याह–*न चेति। तथैवेति।* मुनिनापि स्थाने स्थाने प्रकृत्यौचित्यमेव विभावानुभावादिषु बहुतरं प्रमाणीकृतं 'स्थैर्येणोत्तममध्यमाधमानां नीचानां सम्भ्रमेण' इत्यादि वदता।

प्रकार के सूचक हैं, इसलिये मुनि द्वारा निरूपित नाटिका के लक्षण में प्रकरण और नाटक को मिला कर कथावस्तु उत्पाद्य कल्पित होता है और वहाँ नायक राजा होता है यह क्रम से प्रख्यात एवं उदात्त राजा का नायकत्व समझना चाहिये यह भाव है। तब फिर कवि द्वारा संभोगशृङ्गार का निबन्धन किस प्रकार हो इस आशङ्का पर कहते हैं– **संभोगशृङ्गारविषयस्यासभ्यत्वादिति** तस्मादिति उसी प्रकार। स्थैर्य से उत्तम, मध्यम, अधम तथा नीचों के सम्भ्रम से इत्यादि कहते हुये मुनि ने स्थान-स्थान पर विभाव, अनुभाव आदि में प्रकृत्यौचित्य को ही बहुत प्रकार से प्रमाणित किया है।

ध्वन्यालोकः

न च सम्भोगश्रृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, यावदन्येऽपि प्रभेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते? तस्मादुत्साहवद्रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम्। तथैव विस्मयादिषु। यत्त्वेवंविधे विषये महाकवीनाप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव। स तु शक्तितिरस्कृतत्वात्तेषां न लक्ष्यत इत्युक्तमेव। अनुभावौचित्यं तु भरतादौ प्रसिद्धमेव।

इयत्तूच्यते–भारतादिविरचितां स्थितिं चानुवर्तमानेन महाकविप्रबन्धांश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनावहितचेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्यभ्रंशपरित्यागे परः प्रयत्नो विधेयः। औचित्यवतः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यञ्जक

संभोगशृङ्गार का केवल सुरतवर्णन रूप एक ही प्रकार तो नहीं है, अपितु उसके परस्पर प्रेम-दर्शन आदि और भी भेद हो सकते हैं। उत्तम प्रकृति के नायकादि के विषय में उसका वर्णन क्यों नहीं करते? अर्थात् उन्हीं का वर्णन करना चाहिये इसलिये उत्साह के समान रति में भी प्रकृत्योचित्य का अनुसरण करना ही चाहिये। इसी प्रकार विस्मयादि में भी। इस प्रकार के विषय में जो कालिदासादि महाकवियों की असमीक्ष्यकारिता कुमारसंभवादि ग्रन्थों में देखी जाती है वह दोषरूप ही है, केवल उनकी प्रतिमा से अभिभूत हो दब जाने से प्रतीत नहीं होती यह बात पहले कह ही चुके हैं। अनुभावों का औचित्य तो भरतादि के नाट्यशास्त्रादि में प्रसिद्ध ही है, केवल विशेषरूप से इतना ही कहना है कि भरतादि मुनियों द्वारा निर्धारित मर्यादा का पालन करते हुये महाकवियों के प्रबन्धों (काव्यों) का पर्यालोचन करते हुये और अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुये कवि को सावधान होकर विभावादि औचित्य से पतित होने से बचने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

लोचनम्

इयत्त्विति। **लक्षणज्ञत्वं लक्ष्यपरिशीलनमदृष्टप्रसादोदितस्वप्रतिभाशालित्वं चानुसर्तव्यमिति संक्षेपः। रसवतीष्वित्यनादरे सप्तमी। रसवत्त्वं**

इयत्त्विति परन्तु इतना और कहते हैं– **लक्षणज्ञता** लक्ष्य में परिशीलन। अदृष्ट अर्थात् देवता की प्रसन्नता से उत्पन्न निजी प्रतिभाशालित्व का अनुसरण करना चाहिये, यह संक्षेप हैं। **रसवतीषु** यहाँ अनादर में सप्तमी विभक्ति है। रसवान् होना अविवेचक

ध्वन्यालोकः

इत्यनेनैतत् प्रतिपादयति–यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र विभावाद्यौचित्यवत्कथाशरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत्। वृत्तादपि च कथाशरीरं तदेव ग्राहं नेतरत्। वृत्तादपि च कथाशरीरादुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम्। तत्र ह्यनवधानात्स्खलतः कवेरव्युत्पत्तिसम्भावना महती भवति।

परिकरश्लोकश्चात्र–

कथाशरीरमुत्पाद्यवस्तु कार्यं तथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते ॥

तत्र चाभ्युपायः सम्यग्विभावाद्यौचित्यानुसरणम्। तच्च दर्शितमेव। किञ्च–

ऐतिहासिक अथवा कल्पित औचित्ययुक्त कथाशरीर का ग्रहण करना रस का अभिव्यञ्जक होता है, इससे कारिकाकार यह प्रतिपादन करते हैं कि इतिहासादि में सरस नाना प्रकार की कथाओं के होने पर भी उनमें जो विभावादि के औचित्य से युक्त कथावस्तु है उसी को ग्रहण करना चाहिये अन्यों को नहीं। और ऐतिहासिक कथावस्तु से भी अधिक कल्पित कथावस्तु में सावधान रहने का प्रयत्न करना चाहिये। उस कल्पित कथावस्तु में असावधानीवश भूल कर जाने पर कवि की अव्युत्पत्ति की बहुत संभावना रहती है, इस विषय में परिकर श्लोक इस प्रकार हैं–**कथेति।**

कल्पित कथावस्तु का इस प्रकार निर्माण करना चाहिये कि जिससे वह सबका सब रसमय प्रतीत हो। उसका उपाय विभावादि के औचित्य का भली प्रकार से अनुसरण करना ही हैं जिसे पहले दिखा चुके हैं। और भी कहा है–

लोचनम्

चाविवेचकजनाभिमानाभिप्रायेण मन्तव्यम्। विभावाद्यौचित्येन हि विना का रसवत्ता। *कवेरिति।* न हि तत्रेतिहासवशादेव मया निबद्धमिति जात्युत्तरमपि सम्भवति। *तत्र चेति।* रसमयत्वसम्पादने। *सिद्धेति।* सिद्धः आस्वादमात्रशेषो

जनों के अभिमान के अभिप्राय से मानना चाहिये। विभावादि के औचित्य के बिना रसवत्ता कैसी? **कवेरिति** उस उत्प्रेक्षित कथाशरीर में मैने इतिहास के वशीभूत होकर निबन्धन किया है, इस प्रकार का असमीचीन उत्तर संभव नहीं है। **तत्र चेति** रसमयत्व के संपादन में। **सिद्धेति।** सिद्ध जिसमें आस्वादमात्र शेष हो न कि भावनीय रस है

ध्वन्यालोकः

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी॥

तेषु हि कथाश्रयेषु तावत्स्वेच्छैव न योज्या। यदुक्तम्–'कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः'। स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रसविरोधिनी न योज्या।

इदमपरं प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। इतिवृत्तवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तरा-

सिद्ध रसों के समान कथाओं के आश्रय जो रामायणादि इतिहास हैं उनके साथ रसविरोधिनी स्वकीय इच्छा का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

पहली बात तो यह कि उन कथाओं में अपनी इच्छा का प्रयोग नहीं करना चाहिये जैसा कि कहा है– '**कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः** कथामार्ग में थोड़ा भी हेर-फेर नहीं करना चाहिये। और यदि प्रयोजनवश स्वेच्छा का प्रयोग करे भी तो रसविरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग न करे।

प्रबन्धकाव्य के रसाभिव्यञ्जकत्व का दूसरा और कारण है कि उसे ऐतिहासिक परम्परा से प्राप्त होने पर भी किसी प्रकार रसविरोधिनी स्थिति वाले

लोचनम्

न तु भावनीयो रसो येषु। कथानामाश्रया इतिहासाः, तैरितिहासार्थैः तैस्सह स्वेच्छा न योज्या। सहार्थश्चात्र विषयविषयिभाव इति व्याचष्टे–*तेष्विति* सप्तम्या। स्वेच्छा तेषु न योज्या, कथञ्चिद्वा यदि योज्यते तत्तत्प्रसिद्धरसविरुद्धा न योज्या। यथा रामस्य धीरललितत्वयोजनेन नाटिकानायकत्वं कश्चित्कुर्यादिति त्वत्यन्तासमञ्जसम्। *यदुक्तमिति।* रामाभ्युदये यशोवर्मणा–'स्थितमिति यथा शय्याम्' *कालिदासेति।*

जिसमें ऐसा सिद्ध। **कथाश्रया** इति कथाओं का आश्रय अर्थात् इतिहास। उस इतिहास के अर्थों के साथ अपनी योजना नहीं करनी चाहिये। यहाँ सह का अर्थ विषय-विषयीभाव है। इसी का व्याख्यान करते हैं– **तेष्विति** इस सप्तमी विभक्ति से उन कथा के आश्रयों में अपनी इच्छावश कोई योजना नहीं करनी चाहिये। अथवा यदि किसी प्रकार योजना आवश्यक हो तो उसकी प्रसिद्ध रस के प्रतिकूल योजना न करे। जैसे राम को धीर-ललित नायक बना कर कोई कवि उन्हें किसी नाटिका का नायक बनावे तो यह असमञ्जस (अयुक्त) होगा। **यदुक्तिमिति** क्योंकि कहा है– रामाभ्युदय में यथोवर्मा

ध्वन्यालोकः

भीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः यथा कालिदासप्रबन्धेषु। यथा च सर्वसेनविरचिते हरिविजये। यथा च मदीय एवार्जुनचरिते महाकाव्ये। कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित्प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः।

कथांश को छोड़ कर और बीच में कल्पना कर के भी अभीष्ट रसोचित कथा का निर्माण करना चाहिये, जैसे कालिदास की रचनाओं में रघुवंश में अजादि का विवाह-वर्णन, अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में शकुन्तला का प्रत्याख्यान आदि इतिहास में उस रूप से वर्णित नहीं है; किन्तु कथा को रसानुगुण और राजा दुष्यन्त को उदार चरित बनाने के लिये तत्तत्कल्पना की गई है। और जैसे सर्वसेन-विरचित हरिविजय में कान्ता के अनुनय किये जाने पर पारिजातहरण का वर्णन और जैसे मेरे ही बनाये अर्जुनचरित में पातालविजयादि उस रूप से इतिहास में वर्णित न होने पर भी कथा को रसानुगुण बनाने के लिये कल्पित किया गया है। काव्यनिर्माण के समय कवि को पूर्णरूप से रसपरतन्त्र बन जाना चाहिये इसलिये यदि इतिहास में रस के विपरीत स्थिति देखे तो उसको तोड़ कर स्वतन्त्र रूप से रस के अनुरूप दूसरी कथा बना ले। इतिवृत्तमात्र निर्वाह कर देने मात्र से कवि का कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि वह प्रयोजन तो इतिहास से सद्धि ही है।

लोचनम्

रघुवंशेऽजादीनां राज्ञां विवाहादिवर्णनं नेतिहासेषु निरूपितम्। हरिविजये कान्तानुनयनाङ्गत्वेन पारिजातहरणादिनिरूपितमितिहासेष्वदृष्टमपि। तथा-र्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालविजयादि वर्णितमितिहासाप्रसिद्धम् एतदेव युक्तमित्याह–*कविनेति। सन्धीनामिति।* इह प्रभुसम्मितेभ्यः श्रुतिस्मृति-

ने (**स्थिमिति यथाशय्याम्) कालिदासेति** रघुवंश में जो अजादि राजाओं के विवाह का वर्णन किसी इतिहास में निरूपित नहीं है। हरिविजय में प्रियतमा के अनुनयन के अङ्ग के अनुरूप पारिजातहरण आदि का निरूपण किया गया है जो इतिहास में देखा भी नहीं गया। उस प्रकार अर्जुनचरित में पातालविजयादि का वर्णन किया गया है वह इतिहास में अप्रसिद्ध है। **एतदेव युक्तमित्याह कविनेति** यह ठीक ही है।

ध्वन्यालोकः

रसादिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं,

प्रबन्ध काव्य के रसाभिव्यञ्जकत्व का यह और तीसरा कारण है कि

लोचनम्

प्रभृतिभ्यः कर्तव्यमिदमित्याज्ञामात्रपरमार्थेभ्यः। शास्त्रेभ्यो ये न व्युत्पन्नाः, न चाप्यस्येदं वृत्तममुष्मात्कर्मण इत्येवं युक्तियुक्तकर्मफलसम्बन्ध-प्रकटनकारिभ्यो मित्रसम्मितेभ्य इतिहासशास्त्रेभ्यो लब्धव्युत्पत्तयः, अथ चावश्यं व्युत्पाद्याः प्रजार्थसम्पादनयोग्यताक्रान्ता राजपुत्रप्रायास्तेषां हृदयानुप्रवेशमुखेन चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिराधेया। हृदयानुप्रवेशश्च रसास्वादमय एव। स च रसश्चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिनान्त-रीयकविभावादिसंयोगप्रसादोपनत इत्येवं रसोचितविभावाद्युपनिबन्धे रसास्वादवैवश्यमेव स्वरसंभाविन्यां व्युत्पत्तौ प्रयोजकमिति प्रीतिरेव व्युत्पत्तेः प्रयोजिका। प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यं नाट्यमेव वेद इत्यस्मदुपाध्यायः। न चैते प्रीतिव्युत्पत्ती भिन्नरूपे एव द्वयोरप्येक-विषयत्वात्। विभावाद्यौचित्यमेव हि सत्यतः प्रीतेर्निदानमित्यसकृदवोचाम।

सन्धीनामिति यहाँ प्रभुसम्मित श्रुति-स्मृति प्रभृति 'यह करना ही चाहिये'। इस प्रकार आज्ञामात्र परमार्थ वाले शास्त्रों से जो व्युत्पत्ति प्राप्त नहीं है और 'इस कर्म से इसका यह फल हुआ' इस प्रकार युक्तिपूर्वक कर्म और फल के सम्बन्ध को प्रकट करने वाले मित्रसम्मित इतिहास-शास्त्रों से भी व्युत्पत्ति प्राप्त नहीं हैं। अथ च व्युत्पत्ति प्राप्त कराने योग्य हैं एवं प्रजा के कार्य-संपादन की योग्यता भी रखते हैं तब उन राजपुत्रों के हृदय में अनुप्रवेश के प्रकार से चतुर्वर्ग के उपाय की व्युत्पत्ति का आधान करना चाहिये। हृदय में अनुप्रवेश रसास्वाद रूप ही होता है और वह रस चतुर्वर्ग के उपाय की व्युत्पत्ति के नान्तरीयक (आनुषङ्गिकफल) वाले विभावादि संयोग के कारण प्राप्त होता है। इस प्रकार रसोचित विभाव आदि के उपनिबन्धन में रसास्वाद का वैवश्य ही स्वभावतः होने वाली व्युत्पत्ति में प्रयोजक है। अतः प्रीति ही व्युत्पत्ति की प्रयोजिका है। प्रीति रूप ही रस है, रस ही नाट्य है और नाट्य ही वेद है यह हमारे उपाध्याय का कथन है। और प्रीति और व्युत्पत्ति भिन्न रूप नहीं हैं, क्योंकि दोनों का विषय एक है। कई बार हम कह चुके है कि विभावादि का औचित्य ही ठीक रूप से प्रीति का निदान है। उसे रस के उचित विभावादि का फलपर्यन्तीभूत रूप से स्वरूप के संवेदन को व्युत्पत्ति कहते हैं और फल वह है जो अदृष्टवश देवता के प्रसाद से अथवा अन्य से उत्पन्न होता है। वह उपदेश्य नहीं है, क्योंकि उससे उपाय में व्युत्पत्ति नहीं होती

लोचनम्

विभावादीनां तद्रसोचितानां यथास्वरूपवेदनं फलपर्यन्तीभूततया व्युत्पत्तिरित्युच्यते। फलं च नाम यददृष्टवशाद्देवताप्रसादादन्यतो वा जायते। न च तदुपदेश्यम्, तत उपाये व्युत्पत्त्ययोगात्। तेनोपायक्रमेण प्रवृत्तस्य सिद्धिः अनुपायद्वारेण प्रवृत्तस्य नाश इत्येवं नायकप्रतिनायकगतत्वेनार्थानर्थोपायव्युत्पत्तिः कार्या। उपायश्च कर्त्राश्रीयमाणः पञ्चावस्था भजते। तद्यथा-स्वरूपं, स्वरूपात्किञ्चिदुच्छूनतां, कार्यसम्पादनयोग्यतां, प्रतिबन्धोपनिपातेनाशङ्क्यमानतां, निवृत्तप्रतिपक्षतायां बाधकबाधनेन सुदृढफलपर्यन्तताम्। एवमार्थिसहिष्णूनां विप्रलम्भभीरूणां प्रेक्षापूर्वकारिणां तावदेवं कारणोपादानम्। ता एवंविधाः पञ्चावस्थाः कारणगता मुनिनोक्ताः–

संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारणस्य यः।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः॥
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च सम्भवः।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः॥इति।

एवं या एताः कारणस्यावस्थास्तत्सम्पादकं यत्कर्तुरितिवृत्तं पञ्चधाविभक्तम्। त एव मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्या अन्वर्थनामानः पञ्चसन्धय इतिवृत्तखण्डाः, सन्धीयन्त इति कृत्वा। तेषामपि सन्धीनां

इस कारण उपायक्रम से प्रवृत्त की सिद्धि और अनुपाय द्वारा प्रवृत्त का नाश होता है। इस प्रकार नायक और प्रतिनायकगत अर्थ और अनर्थ की व्युत्पत्ति करनी चाहिये। कर्त्ता द्वारा आश्रीयमाण उपाय ५ अवस्थाओं को प्राप्त करता है। स्वरूप अर्थात् (उपाय के अनुष्ठान की अवस्था), स्वरूप से कुछ उच्छूनता (पोषण), कार्य के संपादन की योग्यता, प्रतिबन्धन के नष्ट हो जाने से अशङ्कता (प्रतिपक्षता प्रतिकूलता) के न रहने पर बाधक के बाधन द्वारा सुदृढ़फलपर्यन्तता। इस प्रकार कष्टसहिष्णु विप्रलम्भ (कार्य की असिद्धि से भयभीत रहने वाले) और समझ-बूझ कर काम करने वालों के कारणों का उपादान (ग्रहण) है। इस प्रकार कारणगत उन अवस्थाओं को स्वयं मुनि ने कहा है– **संसाध्य इति** फलयोग के साध्य होने में कारण का जो व्यापार है उसकी आनुपूर्वी से ५ अवस्थायें प्रयोक्ताओं को जाननी चाहिये। आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति की संभावना, नियतफलप्राप्ति और फलयोग (भा. ना. २१.७९)।

इस प्रकार जो ये कारण की अवस्थायें हैं, उनको उत्पन्न करने वाला जो कर्त्ता का इतिवृत्त है वह ५ प्रकारों में प्रविभक्त हैं। वे ही मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श, निर्वहण नामक यथार्थ नामों वाली ५ सन्धियाँ इतिवृत्त-खण्ड हैं, 'सन्धान की जाती हैं'

लोचनम्

स्वनिर्वाह्यं प्रति तथा क्रमदर्शनादवान्तरभिन्ना इतिवृत्तभागाः। सन्ध्यङ्गानि– 'उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्' इत्यादीनि।

अर्थप्रकृतयोऽत्रैवान्तर्भूताः। तथा हि स्वायत्तसिद्धेर्बीजं बिन्दुः कार्यमिति तिस्रः। बीजेन सर्वव्यापाराः बिन्दुनानुसन्धानं कार्येण निर्वाहः सन्दर्शनप्रार्थनाव्यवसायरूपा ह्येतास्तिस्रोऽर्थसम्पाद्ये कर्तुः प्रकृतयः स्वभावविशेषाः। स चवायत्तसिद्धित्वे तु सचिवस्य तदर्थमेव वा स्वार्थमेव वा स्वार्थमपि वा प्रवृत्तत्वेन प्रकीर्णत्वप्रसिद्धत्वाभ्यां प्रकरीपताकाव्य-पदेश्यतयोभयप्रकारसम्बन्धी व्यापारविशेषः प्रकरीपताकाशब्दाभ्यामुक्त इति। एवं प्रस्तुतफलनिर्वाहणान्तस्याधिकारिकस्य वृत्तस्य पञ्चसन्धित्वं पूर्णसन्ध्यङ्गता च सर्वजनव्युत्पत्तिदायिनी निबन्धनीया। प्रासङ्गिके त्वितिवृत्ते नायं नियम इत्युक्तम्–

'प्रासङ्गिके परार्थत्वान्न ह्येष नियमो भवेत्'

इति मुनिना। एवं स्थिते रत्नावल्यां धीरललितस्य नायकस्य धर्माविरुद्धसम्भोगसेवायामनौचित्याभावात्प्रत्युत न निस्सुखः स्यादिति

यह व्युत्पत्ति करके। उन सन्धियों के भी स्वनिर्वाह्य (फल) के प्रति उस प्रकार क्रम देखने से अवान्तरभिन्न इतिवृत्त भाग हैं। सन्धि के अङ्ग– उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन इत्यादि।

अर्थप्रकृतियाँ इसी के अन्तर्भूत हैं। जैसा कि अपने अधीन सिद्धि वाले कर्त्ता की बीज, बिन्दु और कार्य ये तीन हैं। बीज के समस्त व्यापार, बिन्दु के अनुसन्धान और कार्य से निर्वाह विवक्षित है, सन्दर्शन, प्रार्थना, व्यवसाय रूप ये तीन संपाद्य अर्थ में कर्त्ता की प्रकृतियाँ अर्थात् स्वभावविशेष हैं। परन्तु कर्त्ता और नायक के सचिव के अधीन सिद्धि वाला होने पर सचिव के लिये उसके कर्त्ता के लिये अथवा अपने लिये भी प्रवृत्त होने पर प्रकीर्ण और प्रसिद्ध होने के कारण पताका के नाम से उभय प्रकार के सम्बन्ध वाला व्यापारविशेष 'प्रकरी' और 'पताका' शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत फल के निर्वाह करने तक आधिकारिक कथानक का पञ्चसन्धित्व और पूर्ण सन्ध्यङ्गता सब लोगों को व्युत्पत्ति देने वाली निबन्धनीय है; परन्तु प्रासङ्गिक इतिवृत्त (कथानक) में यह नियम नहीं है, जैसा कि कहा है– **प्रासङ्गिके** इति परार्थ होने के कारण प्रासङ्गिक में यह नियम लागू नहीं होगा, यह भरत मुनि ने कहा है।

ऐसी स्थिति में रत्नावली में धरिललित नायक की धर्माविरुद्ध संभोगसेवा में अनौचित्य के अभाव के कारण, प्रत्युत 'सुखरहित न हो' इस दृष्टि से श्लाघ्य होने

लोचनम्

श्लाध्यत्वात्पृथ्वीराज्यमहाफलान्तरानुबन्धिकन्यालाभफलोद्देशेन प्रस्तावनोपक्रमे पञ्चापि सन्धयोऽवस्थापञ्चकसहिताः समुचितसन्ध्यसङ्गपरिपूर्णा अर्थप्रकृतियुक्ता दर्शिता एव। 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इति हि बीजादेव प्रभृति 'विश्रान्तविग्रहकथः' इति 'राज्यं निर्जितशत्रु' इति च वचोभिः 'उपभोगसेवावसरोऽयम्' इत्युपक्षेपात्प्रभृति हि निरूपितम्। एतत्तु समस्तसन्ध्यङ्गस्वरूपं तत्पाठपृष्ठे प्रदर्श्यमानमतितमां ग्रन्थगौरवमावहति। प्रत्येकेन तु प्रदर्श्यमानं पूर्वापरानुसन्धानवन्ध्यतया केवलं संमोहदायि भवतीति न विततम्। अस्यार्थस्य यत्नावधेयत्वेनेष्टत्वात्स्वकण्ठेन यो व्यतिरेक उक्तो 'न तु केवलया' इति तस्योदाहरणमाह–*न त्विति।* केवलशब्दमिच्छाशब्दं च प्रयुज्जानस्यायमाशयः–भरतमुनिना सन्ध्यङ्गानां रसाङ्गभूतमितिवृत्तप्राशस्त्योत्पादनमेव प्रयोजनमुक्तम्। न तु पूर्वरङ्गाङ्गवददृष्टसम्पादनं विघ्नादिवारणं वा। यथोक्तम्–

इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानपक्षयः।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानां चैव गूहनम्॥
आश्चर्यवदभिख्यानं प्रकाश्यानां प्रकाशनम्।
अङ्गानां षड्विधं ह्येतद् दृष्टं शास्त्रे प्रयोजनम्॥इति।

के कारण पृथ्वी राज्य के महाफल के बीच में प्राप्त कन्यालाभ के फल के उद्देश्य से प्रस्तावना के उपक्रम में समुचित सन्ध्यङ्गों से युक्त अर्थप्रकृतियों से युक्त एवं पाँच. अवस्थाओं से युक्त पाँचों सन्धियाँ दिखाई गई हैं। **'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतोः'** इस बीज से ही लेकर **विश्रान्तविग्रहकथः** और **राज्यं निर्जितशत्रुः** इन कथनों से **'उपभोग सेवावसरोऽयम्'** इस उपक्षेप से लेकर निरूपण किया है। परन्तु इन समस्त सन्धियों के अङ्गों का स्वरूप रत्नावली के पाठों पर दिखाने से अत्यधिक ग्रन्थगौरव होगा और एक-एक उदाहरणमात्र दिखाने पर पूर्वापर के अनुसन्धान के न हो पाने से केवल सम्मोह उत्पन्न होगा। अतः विस्तार से नहीं कहा गया। रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से सन्धिसन्ध्यङ्गघटन को यत्नपूर्वक अवधेय रूप से इष्ट होने के कारण जो व्यतिरेक 'न केवलया (द्र. स. ३ का. १२) कहा गया है। उसका उदाहरण कहते हैं– **न तु** न कि केवल शब्द और इच्छा का प्रयोग करते हुये कारिकाकार का यह आशय है कि भरतमुनि ने रसाङ्गभूत इतिवृत्त के प्राशस्त्य के उत्पादन को ही सन्ध्यङ्गों का प्रयोजन कहा है। पूर्वरङ्ग के अङ्ग की भाँति अदृष्टसंपादन अथवा विघ्नादिवारण को कहा है। जैसे कि **इष्टस्यार्थस्येति** शास्त्र में छ प्रकार के अङ्गों का प्रयोजन देखा गया है। इष्ट

ध्वन्यालोकः

यत्सन्धीनां मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्यानां तदङ्गानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया, यथा रत्नावल्याम्; न तु केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया। यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम्।

नाट्यशास्त्रोक्त मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण नामक पञ्चसन्धियों और उनके उपक्षेपादि ६४ अङ्गों का रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से जोड़ना। जैसे रत्नावली नाटिका में। न कि केवल शास्त्रमर्यादा का पालन करने की इच्छा से। जैसे वेणीसंहार नाटक में प्रतिमुखसन्धि के विलास नामक अङ्ग के प्रकृतगत वीररस के विरुद्ध होने पर भी भरतमत के अनुसरणमात्र की इच्छा से द्वितीय अङ्क में दुर्योधन और भानुमती के शृङ्गारवर्णन के प्रसङ्ग को जोड़ना।

लोचनम्

ततश्च–

समीहा रतिभोगार्था विलासः परिकीर्तितः।

इति प्रतिमुखसन्ध्यङ्गविलासलक्षणे। रतिभोगशब्द आधिकारिकरसस्थायिभावोपव्यञ्जकविभावाद्युपलक्षणार्थत्वेन प्रयुक्तः, यथा तत्त्वं नाधिगतार्थ इति। प्रकृतो ह्यत्र वीररसः। *उद्दीपन इति।* उद्दीपनं विभावादिपरिपूरणया। यथा–'अयं स राआ उदयणो त्ति' इत्यादि सागरिकायाः। प्रशमनं वासवदत्तातः पलायने। पुनरुद्दीपनं चित्रफलकोल्लेखे। प्रशमनं सुसङ्गताप्रवेशे इत्यादि। गाढं ह्यनवरतपरिमृदितो रसः

वस्तु की रचना, वृत्तान्त का न टूटना, अभिनय का मनोरञ्जक होना, गुप्त बातों को प्रकट न करना तथा प्रकाशनीय का प्रकाशन करना। इस कारण रतिभोग की इच्छा को विलास कहा गया है।

यह प्रतिमुखसन्धि के अङ्ग 'विलास' के लक्षण में कहा गया है। रतिभोग शब्द आधिकारिक स्थायीभाव के उपव्यञ्जक विभावादि के उपलक्षक रूप में प्रयुक्त हैं। वेणीसंहार के रचयिता ने उस तत्त्वार्थ को नहीं समझा। यहाँ वेणीसंहार में प्रकृत वीररस है। **उद्दीपन** इति विभावादि के परिपूरण द्वारा। यथा **अयं स राजा उदयन** इति यह राजा उदयन है। सागरिका की उक्ति। प्रशमन वासवदत्ता के पलायन में। उसका

ध्वन्यालोकः

इदं चापरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं यदुद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा रसस्य, यथा रत्नावल्यामेव। पुनरारब्धविश्रान्ते रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च। यथा तापसवत्सराजे। प्रबन्धविशेषस्य

प्रबन्धकाव्य के रसाभिव्यञ्जकता का यह और चौथा कारण है कि बीच में यथावसर रस का उद्दीपन और प्रशमन करना। जैसे रत्नावली में ही प्रधान रस के विश्रान्त या विच्छिन्न होने की स्थिति में पुनः उसको संभालना। जैसे तापस-वत्सराज में। प्रबन्धविशेष नाटकादि की रसाभिव्यक्ति का यह पाँचवाँ और निमित्त

लोचनम्

सुकुमारमालतीकुसुमनवज्झटित्येव म्लानिमवलम्बेत। विशेषतस्तु शृङ्गारः। यदाह मुनिः—

यद्वामाभिनिवेशित्वं यतश्च विनिवार्यते।
दुर्लभत्वं यतो नार्या कामिनः सा परा रतिः।।इति।

वीररसादावपि यथावसरमुद्दीपनप्रशमनाभ्यां विना झटित्येवाद्-भुतफलकल्पे साध्ये लब्धे प्रकटीचिकीर्षित उपायोपेयभावो न प्रदर्शित एव स्यात्। *पुनरिति।* इतिवृत्तवशादारब्धाशङ्क्यमानप्राया न तु सर्वथैवोपनता विश्रान्तिर्विच्छेदो यस्य स तथा। *रसस्यैति।* रसाङ्गभूतस्य कस्यापीति यावत्। तापसवत्सराजे हि वासवदत्ताविषयो जीवितसर्वस्वाभिमानात्मा प्रेमबन्धस्त-द्विभावाद्यौचित्यात्करुणविप्रलम्भादिभूमिका गृह्णन्समस्तेतिवृत्तव्यापी।

पुनः उद्दीपन, चित्रफलक के निर्माण में। प्रशमन सुसङ्गता के प्रवेश में, इत्यादि। गाढा तथा निरन्तर चर्वणा किया गया रस सुकुमार मालती के पुष्प की भाँति झटिति म्लान हो जाता है। विशेष कर शृङ्गार। जैसा कि मुनि ने स्वयं कहा है– **यद्वामेति।**

जिस कारण प्रतिकूल आचरण की इच्छा, जिस कारण संभोग निवारण किया जाता है, और जिस कारण नारी दुर्लभ होती है, यह कामी की प्रगाढ़ रति है।

वीररस आदि में भी यथावसर उद्दीपन और प्रशमन के बिना शीघ्र ही अद्भुत (आश्चर्य) फल रूप साध्य के प्राप्त हो जाने पर प्रकटनार्थ अभिलषित उपायोपेयभाव प्रदर्शित नहीं हो पाता। **पुनरिति** इतिवृत्त के कारण आरम्भ हुये की आशङ्क्यमानप्राय न कि सर्वथा ही प्राप्त विश्रान्ति अर्थात् विच्छेद है जिसका वह। **रसस्येति** रस के अङ्गभूत किसी का भी। तापसवत्सराज में वासवदत्ता में जीवितसर्वस्व के अभिमानरूप वत्सराज का प्रेमबन्ध उसके विभावादि के औचित्य के करुणविप्रलम्भ आदि भूमिकाओं

ध्वन्यालोकः

नाटकादे रसव्यक्तिनिमित्तमिदं चापरमवगन्तव्यं यदलंकृतीनां शक्ता-वप्यानुरूप्येण योजनम्। शक्तो हि कविः कदाचिदलङ्कारनिबन्धने

समझना चाहिये कि अलङ्कारों के यथेष्ट प्रयोग की पूर्ण शक्ति रहने पर भी रस के अनुरूप ही अलङ्कारों की योजना करना। अलङ्काररचना में समर्थ कवि कभी

लोचनम्

राज्यप्रत्यापत्त्या हि सचिवनीतिमहिमोपनतया तदङ्गभूतपद्मावतीला-भानुगतयानुप्राण्यमानरूपा परमामभिलषणीयतमतां प्राप्ता वासवदत्ताधि-गतिरेव तत्र फलम्। निर्वहणे हि 'प्राप्ता देवी भूतधात्री च भूयः संबन्धोऽभूद्दर्शकेन' इत्येवं देवीलाभप्राधान्यं निर्वाहितम्। इयति चेतिवृत्तवैचित्र्यचित्रे भित्तिस्थानीयो वासवदत्ताप्रेमबन्धः प्रथममन्त्रार-म्भात्प्रभृति पद्मावतीविवाहादौ, तस्यैव व्यापारात्। तेन स एव वासवदत्ताविषयः प्रेमबन्धः कथावशादाशङ्क्यमानविच्छेदोऽप्यनुसंहितः। तथा हि– प्रथमे तावदङ्के स्फुटं स एवोपनिबद्धः 'तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा तद्गोष्ठ्यैव' इत्यादिना, 'बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमाऽसमाप्तोत्सवम्' इत्यन्तेन। द्वितीयेऽपि 'दृष्टिर्नामृतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न किम्' इत्यादिना स एव विच्छिन्नोऽप्यनुसंहितः। तृतीयेऽपि–

को ग्रहण करता हुआ समस्त इतिवृत्त में व्याप्त है। सचिव की नीति की महिमा से प्राप्त एवं उसके अङ्गभूत पद्मावती के लाभ से अनुगत राज्य की प्राप्ति द्वारा अनुप्राण्यमान एवं परम अभिलषणीयतम भाव को प्राप्त वासवदत्ता की प्राप्ति ही वहाँ फल है। क्योंकि निर्वहण सन्धि में देवी और पृथ्वी दोनों प्राप्त हो गईं और फिर से दर्शक के साथ सम्बन्ध हो गया। इस प्रकार देवी के लाभ का प्राधान्य निर्वाह किया गया है। कथानक के वैचित्र्य के इतने प्रथम मन्त्र से लेकर पद्मावती के विवाह आदि चित्र में वासवदत्ता का प्रेमबन्ध भित्तिस्थानीय हैं, क्योंकि सर्वत्र उसका ही व्यापार है। इस कारण वही वासवदत्ता में प्रेमबन्ध कथा के वश विच्चेद की आशङ्का होने पर अनुसन्धान किया गया है। जैसा कि प्रथम अङ्ग में **तद् वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा तद् गोष्ठ्यैव.... बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमाऽसमाप्तोत्सवम्** स्पष्ट वही प्रेमबन्ध उसके मुखचन्द्र को देखते दिन व्यतीत किया, उस प्रकार सायंकाल भी उसके साथ गोष्ठी में ही इत्यादि से लेकर 'यह मन उत्कण्ठा से परिपूर्ण है, प्रेम में उत्सव प्राप्त नहीं होता। द्वितीय में भी **दृष्टिर्नामृतवर्षिणी**

ध्वन्यालोकः

तदाक्षिप्ततयैवानपेक्षितरसबन्धः प्रबन्धमारभते तदुपदेशार्थमिदमुक्तम्। कभी अलङ्काररचना में ही निमग्न होकर रसबन्ध की परवाह न कर प्रबन्धरचना करने लगता है, उसके उपदेश के लिये यह पञ्चम हेतु कहा गया है।

लोचनम्

सर्वत्र ज्वलितेषु वेश्मसु भयादालीजने विद्रुते
श्वासोत्कम्पविहस्तया प्रतिपदं देव्या पतन्त्या तथा।
हा नाथेति मुहुः प्रलापपरया दग्धं वराक्या तया
शान्तेनापि वयं तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे॥

इत्यादिना। चतुर्थेऽपि

देवीस्वीकृतमानसस्य नियतं स्वप्नायमानस्य मे
तद्गोत्रग्रहणादियं सुवदना यायात्कथं न व्यथाम्।
इत्थं यन्त्रणया कथंकथमपि क्षीणा निशा जाग्रते
दाक्षिण्योपहतेन सा प्रियतमा स्वप्नेऽपि नासादिता॥

इत्यादिना। पञ्चमेऽपि समागमप्रत्याशया करुणे निवृत्ते विप्रलम्भेऽङ्कुरिते

तथाभूते तस्मिन्मुनिवचसि जातागसि मयि
प्रयत्नान्तर्गूढां रुषमुपगता मे प्रियतमा।

स्मितमधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न किम् क्या उसकी दृष्टि अमृत वर्षा करने वाली नहीं है, क्या मुख स्मित के मधु को प्रवाहित करने वाला नहीं है? इत्यादि द्वारा विच्छिन्न हो कर भी अनुसन्धान किया गया है। तीसरे अङ्क में भी **सर्वत्र ज्वलितेषु** इत्यादि।

सभी जगह भवनों के जलते रहने पर जल जाने के भय से सखियों के भाग जाने पर बारम्बार निःश्वास से व्याकुल होकर काँपती हुई पग-पग पर गिरती-पड़ती बेचारी यह देवी हे नाथ! हे नाथ! यह बार-बार प्रलाप करती हुई जल गई, परन्तु हम तो उस शान्त हुई भी अग्नि से आज भी जलाये जा रहे है। पुनः चौथे अङ्क में **देवीति** देवी वासवदत्ता को सर्वथा अपने मन में धारण करते हुये स्वप्नावस्था में उसके नामग्रहण किये जाने पर यह सुमुखी पद्मावती भला कैसे न व्यथित होगी? इस प्रकार चिन्ता से जागते हुये किसी-किसी प्रकार रात बीती। पद्मावती के प्रति दाक्षिण्य के कारण उपहत मैंने स्वप्न में भी अपनी उस प्रियतमा को नहीं प्राप्त किया। इत्यादि से। पाँचवें अङ्क में भी समागम की प्रत्याशा से करुण की निवृत्ति तथा विप्रलम्भ के अङ्कुरित होने पर–

मुनिवचन के उस प्रकार होने पर, मेरे अपराधी होने पर मेरी प्रियतमा प्रयत्न-पूर्वक भीतर ही भीतर कुपित हो गई। 'प्रसन्न हो', मेरे द्वारा पूछने पर 'कुपित नहीं

ध्वन्यालोकः

दृश्यन्ते च कवयोऽलङ्कारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रबन्धेषु। किञ्च–

अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः ।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥१५॥

काव्यों में रस की चिन्ता न कर अलङ्कारनिरूपण में आनन्द लेने वाले कवि भी पाये जाते हैं॥१४॥

१५वीं कारिका का अर्थ आचार्य विश्वेश्वर के मतानुसार दो प्रकार का किया गया है, इसका समर्थन लोचनकार ने भी किया है। अन्यथा मूलानुसार यह अर्थ अप्रामाणिक हो जायेगा। इसको वहीं देखिये।

और भी संलक्ष्यक्रमध्वनि का जो प्रभेद किन्हीं काव्यों में साक्षात् व्यङ्ग्य रूप से स्थित (वर्णित) है वह भी पर्यवसान में इस असंलक्ष्यक्रमध्वनि के व्यञ्जक रूप में भासता है।

लोचनम्

प्रसीदेति प्रोक्ता न खलु कुपितेत्युक्तिमधुरं
समुद्भिन्ना पीतैर्नयनसलिलैः स्थास्यति पुनः ॥

इत्यादिना। षष्ठेऽपि 'त्वत्सम्प्राप्तिविलोभितेन सचिवैः प्राणा मया धारिताः' इत्यादिना। अलङ्कृतीनामिति योजनापेक्षया कर्मणि षष्ठी। *दृश्यन्ते चेति।* यथा स्वप्रवासवदत्ताख्ये नाटके–

'स्वञ्चितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपताडेन ।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा ॥'इति॥१४॥

न केवलं प्रबन्धेन साक्षाद्व्यङ्ग्यो रसो यावत्पारम्पर्येणापीति दर्शयितुमुपक्रमते–*किञ्चेति।*अनुस्वानोपमः-शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च,

हूँ' यह मधुर शब्द कह कर अन्तः स्तम्भित आँसुओं को भीतर ही भीतर धारण करती हुई स्थित रह जायगी।

षष्ठ में भी **त्वत्सम्प्राप्ति विलोभितेन**-'सचिवों ने तुम्हारी प्राप्ति का लोभ दिखा कर अब तक मेरा प्राण धारण करवाया' इत्यादि में। **अलङ्कृतीनामिति** यहाँ योजना की अपेक्षा से कर्म में षष्ठी है। **दृश्यन्ते चेति** देखे जाते हैं– जैसे स्वप्रवासवदत्ता नामक नाटक में। जैसे **स्वञ्चितेति।**

पक्ष्मकपाट से बन्द मेरे नेत्रद्वार को अपने रूप के धक्के से खोल कर वह राजकुमारी सहसा मेरे हृदयरूपी घर में प्रवेश कर गई।

ध्वन्यालोकः

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यङ्ग्योऽपि यः प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचिद्द्योतते। तद्यथा

(२) अथवा अनुस्वानोपमः संलक्षयक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का दो उदाहृत भेद किन्ही काव्यों में प्रतीत होता है उस संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का भी द्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहीं-कहीं होता है।

इस विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूल ध्वनि का (शब्दशक्त्युत्थ और अर्थशक्त्युत्थ दो प्रकार का जो संलक्षयक्रमव्यङ्ग्य भेद वर्णित किया है वह भी

लोचनम्

यो ध्वनेः प्रभेद उदाहृतः सः केषुचित्प्रबन्धेषु निमित्तभूतेषु व्यञ्जकेषु सत्सु व्यङ्ग्यतया स्थितः सन्। *अस्येति।* रसादिध्वनेः प्रकृतस्य भासते व्यञ्जकतयेति शेषः। वृत्तिग्रन्थोऽप्येवमेव योज्यः। अथ वानुस्वानोपमः प्रभेद उदाहृतो यः प्रबन्धेषु भासते अस्यापि 'द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्' इत्युत्तरश्लोकेन कारिकावृत्त्योः सङ्गतिः।

एतदुक्तं भवति– प्रबन्धेन कदाचिदनुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिः साक्षाद्व्यज्यते स तु रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति। यदि तु स्पष्टमेव व्याख्यायते तदा ग्रन्थस्य पूर्वोत्तरस्यालक्ष्यक्रमविषयस्य मध्ये ग्रन्थोऽयमसङ्गतः स्यात्, नीरसत्वं च पाञ्चजन्योक्त्यादीनामुक्तं स्यादित्यलम्।

केवल प्रबन्ध से ही साक्षात् रस व्यङ्ग्य होता है ऐसी बात नहीं, अपितु पारम्पर्य से भी व्यक्त होता है, इस बात को प्रदर्शित करने के लिये उपक्रम करते हैं– **किञ्चेति** अनुस्वानसदृश शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल जो ध्वनि का प्रभेद कहा गया है, वह किन्हीं प्रबन्धों के निमित्तभूत व्यञ्जक होने पर व्यङ्ग्य रूप से स्थिर होता हुआ। **अस्येति** इसका प्रकृत रसादि ध्वनि का व्यञ्जक रूप से भासित होता है, इतना शेष है। वृत्तिग्रन्थ को भी इसी प्रकार लगाना चाहिये अथवा अनुस्वान सदृश कहा गया जो प्रभेद प्रबन्धों में भासित होता है। इसका भी कहीं पर अलक्ष्यक्रम द्योत्य होता है इस उत्तर श्लोक से कारिका और वृत्ति की संगति होती है। इसका तात्पर्य यह है– प्रबन्ध रूप से कहीं अनुरणन रूप व्यङ्ग्य ध्वनि साक्षात् व्यञ्जित होती है, वह रसादि ध्वनि में पर्यवसित होती हैं। परन्तु यदि स्पष्ट ही यथावस्थित व्याख्यान करते हैं तब पूर्वोत्तर अलक्ष्यक्रमविषयक ग्रन्थ के बीच में होने से यह ग्रन्थ असङ्गत होगा और पाञ्चजन्य की उक्ति आदि का नीरसत्व कहा जाने लगेगा। इत्यलम्। **लीलेति।**

ध्वन्यालोकः

मधुमथनविजये पाञ्चजन्योक्तिषु। यथा वा ममैव कामदेवस्य

किन्हीं काव्यों में व्यङ्ग्य होता है और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनि का व्यञ्जक भी होता है। जैसे मधुमथनविजय नामक महाकाव्य में पाञ्चजन्य की उक्तियों में।

लोचनम्

लीलादाढा शुध्यूद्वासअलमहिमण्डलसञ्चिअ अज्ज।
कीस्ममुणालाहरतुज्जआइ अङ्गम्मि ॥

इत्यादयः पाञ्चजन्योक्तयो रुक्मिणीविप्रलम्भवासुदेवाशयप्रतिभेदनाभिप्रायमभिव्यञ्जयन्ति। सोऽभिव्यक्तः प्रकृतरसस्वरूपपर्यवसायी। सहचराः वसन्तयौवनमलयानिलादयस्तैः सह समागमे।

मिअवहण्डिअरोरोणिरङ्कुसो अविवेअरहिओ वि।
सविण वि तुमम्मि पुणोवन्ति अ अतन्ति पंमुसिम्मि ॥

इत्यादयो यौवनस्योक्तयस्तत्तन्निजस्वभावव्यञ्जिकाः, स स्वभावः प्रकृतरसमपर्यवसायी। *यथा चेति।* श्मशानावर्तीणं पुत्रदाहार्थमुद्योगिनं जनं विप्रलब्धुं गृध्रो दिवा शवशरीरभक्षणार्थी शीघ्रमेवापसरत यूयमित्याह।

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसङ्कुले।
कङ्कालबहले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥

मात्र लीला से दंष्ट्रा के अग्रभाग पर सारी पृथ्वी को उठा लेने वाले तुम्हारे अङ्ग में मृणालमात्र का यह आभरण क्यों भारी हो रहा है।

इत्यादि पाञ्चजन्य की उक्तियाँ रुक्मिणी के विरही वासुदेव श्रीकृष्ण के अभिलाष के आविष्करण का अभिप्राय व्यञ्जित कर रही हैं। प्रकृत रस विप्रलम्भ शृङ्गार के स्वरूप में पर्यवसन्न होने वाला वह अभिप्राय अभिव्यक्त है। विषमबाणलीला में काम के सहचर वसन्त, यौवन, मलयानिल आदि उसके साथ समागम में कामदेव के प्रति यौवन की यह उक्ति है। **भवामिति।**

मैं मर्यादा का अतिक्रमण करने वाला भले ही हूँ (**अपहस्तिता रेखा मर्यादा येन सः** मर्यादा का बिगाड़ने वाला) लोक चाहे भले ही कहें कि यह यौवन निरङ्कुश है, विवेकरहित है परन्तु हे देव! मैं स्वप्न में भी तुम्हारी भक्ति को नहीं याद करता हूँ। इस यौवन की उक्ति में यौवन का कामोपासक स्वभाव व्यक्त होता है और उसका पर्यवसान प्रकृत शृङ्गाररस रूप असंलक्ष्यक्रमध्वनि की अभिव्यक्ति में होता है।

यथा चेति श्मशान में पहुँचे हुये पुत्र को जलाने के लिये प्रयत्नशील व्यक्ति को प्रवञ्चित करने के लिये दिन में शवशरीर को खाने की इच्छा से गृध्र 'शीघ्र ही

ध्वन्यालोकः

सहचरसमागमे विषमबाणलीलायाम्। यथा च गृध्रगोमायुसंवादादौ महाभारते॥१५॥

अथवा जैसे मेरे विषमबाणलीला नामक महाकाव्य में कामदेव के सहचर यौवन के समागम के प्रसङ्ग में और जैसे महाभारत में गृध्रगोमायुसंवाद आदि में॥१५॥

लोचनम्

न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी॥

इत्याद्यवोचत्। गोमायुस्तु निशोदयावधि अमी तिष्ठन्तु, ततो गृध्रादपहृत्याहं भक्षयिष्यामीत्यभिप्रायेणावोचत्।

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम्।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम्।
गृध्रवाक्यात्कथं बालास्त्यक्ष्यध्वमविशङ्किताः॥

इत्यादि। स चाभिप्रायो व्यक्तः शान्तरस एव परिनिष्ठिततां प्राप्तः॥१५॥

तुम लोग यहाँ से चले जाओ, ऐसा कहता है। गृध्रों और शृङ्गालों से परिपूर्ण, अस्थिपञ्जरों से व्याप्त अत्यन्त घोर एवं सभी प्राणियों के लिये भयङ्कर इस श्मशान में ठहरना निरर्थक हैं। कालधर्म (मृत्यु) प्राप्त इस श्मशान में कोई जीवित नहीं हुआ हैं चाहे प्रिय हो चाहे शुत्र जो मर गया वह मर गये सभी प्राणियों की गति इसी प्रकार है। इसलिये आप लोग अपने-अपने घर जाओ यह गृध्र का अभिप्राय संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है और उससे प्रकृत शान्तरस रूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि अभिव्यक्त होता है। किन्तु सियार ने इस अभिप्राय से कि ये लोग रात होने तक ठहरें तब मैं गृध्र से छीन कर शव को खाऊँगा इस अभिप्राय से कहा– **आदित्योऽयमिति** अरे! अभी सूर्य निकला हुआ है। इस बच्चे को प्यार करो, यह मुहूर्त्त बड़ा विघ्नमय है, संभव है कि यह बालक जी उठे। अरे मूर्खो सोने जैसे रङ्ग के और प्राप्त यौवन इस सुन्दर बालक को इस गृध्र के कहने से विना किसी शङ्का के यहाँ छोड़कर किस प्रकार चले जाना चाहते हो? रात्रि में अपना काम सिद्ध करने वाले शृङ्गाल की यह उक्ति उसके अभिप्राय को व्यक्त करती है, और उसका भी पर्यवसान प्रकृत शान्त रस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति करता है॥१५॥

ध्वन्यालोकः

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥१६॥

सुप्तिङेति सुप् अर्थात् प्रथमादि विभक्तियाँ, तिङ् अर्थात् क्रिया में होने वाली विभक्तियाँ, वचन अर्थात् ए. द्वि. बहुवचन, सम्बन्ध षष्ठी विभक्ति कारक-शक्ति, कृत् धातु से विहित तिङ्भिन्न प्रत्यय, तद्धित प्रतिपादिक से विहित सुप्-तिङ् भिन्न प्रत्यय और समास से भी कहीं-कहीं असंलक्ष्यक्रम ध्वनि अभिव्यक्त होता है॥१६॥

लोचनम्

एवमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य रसादिध्वनेर्यद्यपि वर्णेभ्यः प्रभृति प्रबन्धपर्यन्ते व्यञ्जकवर्गे निरूपिते न निरूपणीयान्तरमवशिष्यते, तथापि कविसहृदयानां शिक्षां दातुं पुनरपि सूक्ष्मदृशान्वयव्यतिरेकावाश्रित्य व्यञ्जकवर्गमाह– *सुप्तिङित्यादि।* वयं त्वित्थमेतदनन्तरं सवृत्तिकं वाक्यं बुध्यामहे। सुबादिभिः योऽनुस्वानोपमो भासते वक्त्रभिप्रायादिरूपः अस्यापि सुबादिभिर्व्यक्तस्यानुस्वानोपमस्यालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो द्योत्यः। *क्वचिदिति* पूर्वकारिकया सह संमील्य सङ्गतिरिति। सर्वत्र हि सुबादीनाम-भिप्रायविशेषाभिव्यञ्जकत्वमेव। उदाहरणे स त्वभिव्यक्तोऽभिप्रायो यथास्वं विभावादिरूपताद्वारेण रसादीन्व्यनक्ति।

एतदुक्तं भवति–वर्णादिभिः प्रबन्धान्तैः साक्षाद्वा रसोऽभिव्यज्यते विभावादिप्रतिपादनद्वारेण यदि वा विभावादिव्यञ्जनद्वारेण परम्परयेति तत्र

इस प्रकार यद्यपि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनि के वर्णो से लेकर प्रबन्धपर्यन्त व्यञ्जकवर्ग के निरूपण हो जाने पर कोई दूसरा निरूपणीय बच नहीं जाता तथापि कवि और सहृदयों को शिक्षा देने के लिये पुनः सूक्ष्मदृष्टि से अन्वय-व्यतिरेक का आश्रयण कर व्यञ्जक वर्ग को कहते हैं– सुप् तिङ् इत्यादि। हम तो इस प्रकार इसके बाद वृत्तिसहित वाक्य को समझते हैं सुप् आदि से जो वक्ता के अभिप्राय आदि के रूप में अनुस्वान सदृश अनुरणन रूप से भासित होता है, सुप् आदि से व्यक्त अनुस्वानवश इसका भी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य द्योत्य होता है, कहीं इसे पूर्वकारिका के साथ मिला कर संगति करते हैं। सभी जगह सुप् आदि अभिप्राय विशेष के ही व्यञ्जक होते हैं, उदाहरण में यह अभिव्यक्त अभिप्राय यथानुसार विभावादि रूपता के प्रकार से रसादि को व्यञ्जित करता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ– वर्ण आदि से प्रबन्ध तक से साक्षात् रस अभिव्यक्त होता है विभावादि के प्रतिपादन द्वारा, अथवा विभावादि के व्यञ्जन के द्वारा परम्परा

ध्वन्यालोकः

अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरात्मा रसादिः सुब्विशेषैस्तिङ्विशेषै-र्वचनविशेषैः सम्बन्धविशेषैः कारकशक्तिभिः कृद्विशेषैस्तद्धितविशेषैः समासैश्चेति। चशब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते। यथा–

> **न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः**
> **सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।**
> **धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा**
> **स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥**

ध्वनि का आत्मभूत (प्रधानभूत) अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग रसादि सुब्विशेष, तिङ्-विशेष, वचनविशेष, सम्बन्धविशेष, कारकशक्तियों, कृत्‌विशेष, तद्धितविशेष और समासविशेष से व्यक्त होता है। च शब्द से निपात, उपसर्ग, कालादि के प्रयोग से अभिव्यक्त होता देखा जाता है, जैसे **न्यक्कार** इति।

मुझ रावण के शत्रु हों यह मेरा अपमान है, उनमें भी सर्वथा वराक भिक्षुक तापस! वह भी यहीं इस लङ्का में मेरी नाक के नीचे ही राक्षसकुलों का नाश कर रहा है, यह सब देखते हुए भी रावण जी रहा है वह बहुत बड़ा आश्चर्य हैं। इन्द्रविजयी मेघनाद को धिक्कार है, कुम्भकर्ण को जगाने से भी क्या लाभ हुआ? औरों की बात तो छोड़ दी जाय, स्वर्ग की उस छोटी सी गँउटिया को लूट कर अभिमान से व्यर्थ फूली हुई मेरी इन भुजाओं से भी क्या लाभ?

लोचनम्

बन्धस्यैतत्परम्परया व्यञ्जकत्वं प्रसङ्गादादावुक्तम्। अधुना तु वर्णपदादीनामुच्यत इति। तेन वृत्तावपि 'अभिव्यज्यमानो दृश्यते' इति। व्यञ्जकत्वं दृश्यत इत्यादौ च वाक्यशेषोऽध्याहार्यः विभावादिव्यञ्जनद्वारतया पारम्पर्येणेत्येवंरूपः। *ममारय इति।* मम शत्रुसद्भावो नोचित इति सम्बन्धानौचित्यं क्रोधविभावं व्यनक्ति अरय इति बहुवचनम्। तपो विद्यते

से। उनमें बन्ध का इस परंपरा से व्यञ्जक पहले प्रसङ्गतः कहा है। अब वर्ण, पद आदि का कहते हैं। इसलिये वृत्ति में भी 'अभिव्यक्त होता हुआ देखा जाता है'। व्यञ्जक दिखाई देता है इत्यादि में विभावादि के व्यञ्जन द्वारा परम्परा से इस प्रकार का वाक्यशेष अध्याहार कर लेना चाहिये। **ममारय** इति शत्रु यह बहुवचन है मेरे शत्रुओं का होना उचित नहीं, यह सम्बन्धानौचित्य रूप क्रोध के विभावको व्यञ्जित करता है। **तापस**

ध्वन्यालोकः

अत्र हि श्लोके भूयसा सर्वेषामप्येषां स्फुटमेव व्यञ्जकत्वं दृश्यते। तत्र 'मे यदरयः' इत्यनेन सुप्सम्बन्धवचनानामभिव्यञ्जकत्वम्। 'तत्राप्यसौ तापस' इत्यत्र तद्धितनिपातयोः। 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति

इस श्लोक में प्रायः सभी पदों का व्यञ्जकत्व स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। उनमें से '**मे यदरयः**' इससे सुप्, सम्बन्ध और वचन का अभिव्यञ्जकत्व प्रदर्शित होता है। '**तत्राप्यसौ तापसः** यहाँ तपस् शब्द से अच् प्रत्यय करने पर तद्धित' तत्र

लोचनम्

यस्येति पौरुषकथाहीनत्वं तद्धितेन मत्वर्थीयेनाभिव्यक्तम्। तत्रापिशब्देन निपातसमुदायेनात्यन्तासम्भावनीयत्वम्। मत्कर्तृका यदि जीवनक्रिया तदा हननक्रिया तावदनुचिता। तस्यां च स कर्ता अपिशब्देन मनुष्यमात्रकम्। *अत्रैवेति*–मदधिष्ठितो देशोऽधिकरणम् निःशेषेण हन्यमानतया राक्षसबलं च कर्मेति तदिदमसंभाव्यमानमुपनतमिति पुरुषकारासम्पत्तिर्ध्वन्यते तिङ्कारकशक्तिप्रतिपादकैश्च शब्दैः। रावण इति त्वर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वं पूर्वमेव व्याख्यातम्। धिग्धिगिति निपातस्य शक्रं जितवानित्याख्यायिकेयमिति उपपदसमासेन सहकृतः स्वर्गेत्यादिसमासस्य स्वपौरुषानुस्मरणं प्रति व्यञ्जकत्वम्। ग्रामटिकेति स्वार्थिकतद्धितप्रयोगस्य स्त्रीप्रत्ययसहितस्याबहुमानास्पदत्वं प्रति, विलुण्ठनशब्दे विशब्दस्य

इति **तपो विद्यते यस्य असौ तापसः** इस मत्वर्थीय तद्धित से पुरुषार्थ का अभाव अभिव्यक्त होता है। निपातसमुदाय रूप तत्रापि शब्द से अत्यन्त असम्भवनीयता अभिव्यक होती है। यदि मैं जी रहा हूँ तब हननकार्य अनुचित है। और उस क्रिया में वह कर्त्ता मनुष्य अपि शब्द से कुत्सित मात्र को व्यक्त करता है। **अत्रैवेति** मेरे द्वारा अधिष्ठित देश अधिकरण निःशेष रूप से हन्यमान होने से और राक्षसबल कर्म, यह संभव नहीं होकर संभव हो रहा है, इस प्रकार पौरुष का अभाव तिङ् और कारकशक्ति के प्रतिपादक शब्दों से ध्वनित हो रहा है। रावण (कम्पित कर देने वाला) यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य पहले व्याख्यान किया जा चुका है। **धिग् धिग् शक्रजितमिति** शक्र को जीत लिया है जिसने यह आख्यायिका है। इस उपपद समास का साथ देने वाला धिक् धिक् पद निपात व्यञ्जक है। **स्वर्गग्रामटिकेति** यह समास अपने पौरुष के अुस्मरण के प्रति व्यञ्जक है। ग्रामटिका (गउंटिया) यह स्त्री प्रत्ययसहित स्वार्थिक तद्धित प्रयोग का अबहुमानास्पदत्व के प्रति विलुण्ठन शब्द में वि शब्द का निर्दयतापूर्वक अवस्कन्दन (आक्रमण) के प्रति व्यञ्जकत्व है। निपात 'वृथा' शब्द की

ध्वन्यालोकः

राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः' इत्यत्र तिङ्कारकशक्तीनाम्। 'धिग्धिक्छक्रजितम्' इत्यादौ श्लोकार्धे कृत्तद्धितसमासोपसर्गाणाम्। एवंविधस्य व्यञ्जकभूयस्त्वे च घटमाने काव्यस्य सर्वातिशायिनी बन्धच्छाया समुन्मीलति। यत्र हि व्यङ्ग्यावभासिनः पदस्यैकस्यैव तावदाविर्भाव-

अपि में निपात का, '**सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलम् जीवत्यहो रावणः**' यहाँ निहन्ति और जीवित पदों में तिङ् का राक्षसकुलं तथा रावण पदों में कर्म तथा कर्त्ता रूप कारक शक्तियों का, धिग् धिक्शक्रजितम् इत्यादि श्लोकार्ध में शक्रजित् पद में क्विप् प्रत्यय होने से कृत् का तथा ग्रामटिका में क प्रत्यय से तद्धित का, स्वर्गग्रामटिका में समास का, विलुण्ठन में 'वि' उपसर्ग का स्पष्ट रूप से व्यञ्जकत्व है। और इस प्रकार के व्यञ्जक बाहुल्य होने पर काव्य का सर्वोत्कृष्ट

लोचनम्

निर्दयावस्कन्दनं प्रति व्यञ्जकत्वम्। वृथाशब्दस्य निपातस्य स्वात्मपौरुषनिन्दां प्रति व्यञ्जकता। भुजैरिति बहुवचनेन प्रत्युत भारमात्रमेतदिति व्यज्यते। तेन तिलशस्तिलशोऽपि विभज्यमानेऽत्र श्लोके सर्व एवांशो व्यञ्जकत्वेन भातीति किमन्यत्। एतदर्थप्रदर्शनस्य फलं दर्शयति–*एवमिति।* एकस्य पदस्येति यदुक्तं तदुदाहरति– *यथात्रेति।* अतिक्रान्तं न तु कदाचन वर्तमानतामवलम्बमानं सुखं येषु ते काला इति, सर्व एव न तु सुखं प्रति वर्तमानः स कोऽपि काललेश इत्यर्थः। प्रतीपान्युपस्थितानि वृत्तानि प्रत्यावर्तमानानि तथा दूरभावीन्यपि

अपने पौरुष की निन्दा के प्रति व्यञ्जकता है। भुजाओं से इस बहुवचन से प्रत्युत यह भार मात्र है, यह व्यक्त होता है। इस प्रकार तिल-तिल विभाग करने पर इस श्लोक में सभी अंश व्यञ्जक रूप में प्रतीत होते है और क्या? इस अर्थ के प्रदर्शन का फल दिखाते हैं– **एवमिति।** कहीं-कहीं एक पद भी अभिव्यञ्जक होता है ऐसा जो कहा है उसका उदाहरण देते हैं– **अतिक्रान्तेति** वे समय जिसमें सुख अतिक्रान्त हो गया है, न किं वर्त्तमानता का अवलम्बन कर रहा है अर्थात् सभी काल न कि सुख के प्रति वर्त्तमान वह कोई काललेश। जिन समयों में प्रतिकूल दारुण दुःख गये थे वे पुनः लौटे हुये दूरकाल में होने वाले भी निकट रूप में वर्त्तमान मालूम होते हैं। बहुत प्रकार के ही दुःख को प्रवर्तित करते हुये सभी कालांश हैं। इस प्रकार निर्वेद की व्यञ्जना करते हुये काल का शान्तरसव्यञ्जकत्व है, देश का भी कहते हैं– **पृथ्वी गतयौवनेति**

ध्वन्यालोकः

स्तत्रापि काव्ये कापि बन्धच्छाया किमुत यत्र तेषां बहूनां समवायः। यथात्रानन्तरोदितश्लोके। अत्र हि रावण इत्यस्मिन् पदेऽर्थान्तर-संक्रमितवाच्येन ध्वनिप्रभेदेनालङ्कृतेऽपि पुनरनन्तरोक्तानां व्यञ्जकप्रकाराणामुद्भासनम्। दृश्यन्ते च महात्मनां प्रतिभाविशेषभाजां बाहुल्येनैवंविधा बन्धप्रकाराः।

रचनासौन्दर्य अभिव्यक्त होता है, जहाँ व्यङ्ग्य से प्रकाशमान एक भी पद का आविर्भाव हो सके उस काव्य में भी अनिर्वचनीय सौन्दर्य आ जाता है। तो फिर जहाँ ऐसे बहुत से पदों का एकत्र सन्निवेश हो जाय उसका तो कहना ही क्या? जैसे ऊपर कहे गये 'न्यक्कारो' इत्यादि श्लोक में। इसमें रावण इस पद के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य लक्षणामूल ध्वनि ध्वनिभेद से अलङ्कृत होने पर भी उसमें अनन्तरोक्त व्यञ्जक प्रकारों का भी उद्भासन होता है।

लोचनम्

प्रत्युपस्थितानि निकटतया वर्तमानानि भवन्ति दारुणानि दुःखानि येषु ते। दुःखं बहुप्रकारमेव प्रतिवर्तमानाः सर्वे कालांशा इत्यनेन कालस्य तावन्निर्वेदमभिव्यञ्जयतः शान्तरसव्यञ्जकत्वम्। देशस्याप्याह–पृथिवी श्वः श्वः प्रातः प्रातर्दिनाद्दिनं पापीयदिवसाः पापानां सम्बन्धिनः पापिष्ठजनस्वामिका दिवसा यस्यां सा तथोक्ता। स्वाभावत एव तावत्कालो दुःखमयः तत्रापि पापिष्ठजनस्वामिकपृथिवीलक्षणदेशदौरात्म्याद्विशेषतो दुःखमय इत्यर्थः। तथा हि श्वः श्व इति दिनाद्दिनं गतयौवना वृद्धस्त्रीवदसंभाव्यमानसंभोगा गतयौवनतया हि यो यो दिवस आगच्छति स स पूर्वपूर्वापेक्षया पापीयान् निकृष्टत्वात्। यदि वेयसुनन्तोऽयंशब्दो

हर सुबह दिन-दिन पापीय दिवस है अर्थात् पापों के सम्बन्धी, पापिष्ठ जन स्वामी हैं जिनमें ऐसे दिवसों वाली है। अर्थात् स्वभावतः ही जो दुःखमय है उसमें भी स्वामी के रूप में पापिष्ठ जनों वाली पृथ्वी लक्षणा देश के दौरात्म्य के कारण विशेष रूप से दुःखमय है; **पृथिवी गतयौवनेति** जैसा कि दिन-दिन प्रत्येक आने वाले कल के सुबह गतयौवना स्त्री की भाँति असंभाव्यमान संभोग वाली। यौवन के चले जाने पर जो-जो दिन आते हैं वह पूर्व की अपेक्षा पापीयान् होते हैं, क्योंकि निकृष्ट होता है अथवा मुनि ने पापीय शब्द को इयसुन् प्रत्ययान्त प्रयोग किया है जो आर्ष है या णिजन्त भी हो सकता है। **अत्यन्तेति** भाव यह कि वह भी प्रकार इसी का अङ्ग हो

ध्वन्यालोकः

यथा महर्षेर्व्यासस्य–

अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना॥

अत्र हि कृत्तद्धितवचनैरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः, 'पृथिवी गतयौवना' इत्यनेन चात्यन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिः प्रकाशितः।

एषां च सुबादीनामेकैकशः समुदितानां च व्यञ्जकत्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण दृश्यते। सुबन्तस्य व्यञ्जकत्वं यथा–

तालैः शिञ्जद्वलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे।
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः॥

विशेष प्रतिभाशाली महात्माओं (महाकवियों) की इस प्रकार की रचनाशैलियाँ बहुतायत से पाई जाती हैं। जैसे महर्षि व्यास का **अतिक्रान्तेति** अब समय सुखविरहित और दुःख से परिपूरित हो गया है। गतयौवना पृथ्वी के उत्तरोत्तर बुरे दिन आ रहे हैं।

इस उदाहरण में अतिक्रान्त और प्रत्युपस्थित में क्त प्रत्यय रूप कृत्, पापीय में छ प्रत्यय रूप तद्धित और कालाः में बहुवचन इन सबसे निर्वेद को सूचित करते हुये शान्तरसरूप असंलक्ष्यक्रमरसध्वनि और पृथ्वी गतयौवना इसमें गतयौवन बना पद से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य (अविवक्षितवाच्य) ध्वनि प्रकाशित हो रहा है। इन सुबादिकों का अलग-अलग और मिल कर दोनों प्रकार का व्यञ्जकत्व महाकवियों की रचनाओं में सुबन्त के व्यञ्जकत्व का उदाहरण, जैसे **तालैरिति।**

मेरी प्रिया द्वारा अपने बजते हुये कङ्कणों की मधुर ध्वनि से मनोहर तालियों से नचाया जाने वाला तुम्हारा मित्र नीलकण्ठ (मयूर) दिन के समाप्त होने पर

लोचनम्

मुनिनैवं प्रयुक्तो णिजन्तो वा। *अत्यन्तेति।* सोऽपि प्रकारोऽस्यैवाङ्गतामेतीति भावः। *सुबन्तस्येति।* समुदितत्वे तूदाहरणं दत्तं व्यस्तत्वे चोच्यत इति भावः। *तालैरिति* बहुवचनमनेकविधं वैदग्ध्यं ध्वनत् विप्रलम्भोद्दीपकतामेति।

जाता है। **सुबन्तस्येति।** भाव यह कि सुबन्तादि को मिलाकर व्यञ्जकत्व का उदाहरण तो एक पद्य में दे दिया, अब सुप्-तिङ् आदि व्यञ्जकत्व का उदाहरण क्रमशः अलग-अलग कहते हैं। सुबन्त का उदाहरण जैसे **तालैरिति** तालैः यह बहुवचन अनेकविध वैदग्ध्य को ध्वनित करता हुआ विप्रलम्भ का उद्दीपक है। तिङन्त का व्यञ्जकत्व जैसे

ध्वन्यालोकः

तिङन्तस्य यथा–

अवसर रोउं चिअ णिम्मिआईँ मा पुंस मे हअच्छीइं ।
दंसणमेत्तुम्भत्तेहिं जहिं हिअअं तुह ण णाअम् ॥

यथा वा–

मा पन्थं रुन्धीओ अवेहि बालअ अहोसि अहिरीओ ।
अम्हेअ णिरिच्छाओ सुण्णघरं रक्खिदव्वं णो ॥

रात्रि के समय जहाँ जाकर बैठता है। तिङन्त के व्यञ्जकत्व का उदाहरण जैसे—

हटो रोने के लिये ही बने हुये इन दुष्ट नेत्रों को अपने दर्शन से विकसित करने का प्रयास मत करो, जिन्होंने तुन्हारे दर्शनमात्र से उन्मत्त हो कर तुम्हारे निष्ठुर हृदय का पहचान नहीं किया। यहाँ अपसर और मा पुंस मे दो तिङ्न्त पद मुख्यतः अभिव्यञ्जक हैं। दूसरा उदाहरण जैसे **मेति** अरे नादान बालक! रास्ता को न रोको। आश्चर्य है तुम इतना कहने पर भी नहीं मानते, क्या इतने निर्लज्ज हो। हम तो परतन्त्र हैं, क्योंकि हमको तो अकेले बैठकर सूने घर की रखवाली करनी पड़ती है। व्यङ्ग्य- जब मन हो तब मेरे उस शून्य घर में आ जाना, रास्ते में छेड़खानी क्यों करते हो?

सम्बन्ध के व्यञ्जकत्व का उदाहरण जैसे **अन्यमेति।**

लोचनम्

अपसर रोदितुमेव निर्मिते मा पुंसय हते अक्षिणी मे।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां तव हृदयमेवंरूपं न ज्ञातम् ॥

उन्मत्तो हि न किञ्चिज्जानातीति न कस्याप्यत्रापराधः दैवेनेत्थमेव निर्माणं कृतमिति। अपसर मा वृथा प्रयासं कार्षीः दैवस्य विपरिवर्तयितुमशक्यत्वादिति तिङ्न्तो व्यञ्जकः तदनुगृहीतानि पदान्तराण्यपीति भावः।

मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अप्रौढ अहो असि अह्रीकः।
वयं परतन्त्रा यतः शून्यगृहं मामकं रक्षणीयं वर्तते ॥

अपसरेति यतः उन्मत्त कुछ नहीं जानता, न कुछ समझता ही है इसलिये यहाँ किसी का अपराध नहीं है। दैव ने इसे वैसा ही निर्माण किया है। भाव यह कि हटो व्यर्थ प्रयास मत करो, दैव का परिवर्त्तन अशक्य है। इस प्रकार 'अपसर' तिङन्त व्यञ्जक है और उसके द्वारा अनुगृहीत पदान्तर भी व्यञ्जक हैं।

ध्वन्यालोकः

सम्बन्धस्य यथा–

अण्णत्त वच्च बालअ ह्णा अन्तिं किं मं पुलोएसिएअम्।
भो जाआभीरुआणं तडं विअण होई ॥

कृतकप्रयोगेषु प्राकृतेषु तद्धितविषये व्यञ्जकत्वमावेद्यत एव। अवज्ञातिशये कः। समासानां च वृत्त्यौचित्येन विनियोजने। निपातानां व्यञ्जकत्वं यथा-

अरे लड़के तुम कहीं और जाओ, नहाती हुई मुझको सस्पृह नेत्रों से क्यों देख रहे हो? अपनी पत्नी से डरने वालों के काम का यह तट नहीं है।

क प्रत्यय के प्रयोग से युक्त प्राकृत पदों में तद्धितविषयक व्यञ्जकत्व भी सूचित होता ही है जैसे यहाँ अवज्ञातिशय में क प्रत्यय ईर्ष्याविप्रलम्भ का व्यञ्जक है, वृत्ति के अनुरूप समासों की योजना होने पर समासों का व्यञ्जकत्व होता है, उसका उदाहरण यहाँ नहीं दिया गया है। निपातों के व्यञ्जकत्व का उदाहरण जैसे **अयमिति** एक साथ ही उस हृदयेश्वरी प्रिया के साथ यह असह्य वियोग आ पड़ा। और उस पर नये बादलों के उमड़ते आने से आतपरहित वर्षा के दिन भी होने लगे अब यह किस प्रकार सहा जायेगा? यहाँ दो च शब्द अभिव्यञ्जक है। यहाँ दो बार च शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि प्रिया

लोचनम्

इत्यत्रापेहीति तिङन्तमिदं ध्वनति–त्वं तावदप्रौढो लोकमध्ये यदेवं प्रकाशयसि। अस्ति तु सङ्केतस्थानं शून्यगृहं तत्रैवागन्तव्यमिति। 'अन्यत्र व्रज बालक' अप्रौढ बुद्धे स्नान्तीं मां कि प्रकर्षेयणालोकयस्येतत्। भो इति सोल्लुण्ठमाह्वानम्। जायाभीरुकाणां सम्बन्धितटमेव न भवति। अत्र जायातो ये भीरवस्तेषामेतत्स्थानमिति दूरापेतः सम्बन्ध इत्यनेन सम्बन्धेनेर्ष्यातिशयः

इसी का दूसरा उदाहरण जैसे **मा पन्थानमिति** यहाँ अपेहि यह तिङन्त यह ध्वनित करता है कि अभी तुम अप्रौढ हो लोगों के बीच बात खोल दोगे, सङ्केत स्थान मेरा शून्यगृह है वहीं आ। सम्बन्ध का उदाहरहण यथा **अन्यत्र व्रजेति** हे अप्रौढ बुद्धि वाले बालक अन्यत्र चले जाओ। स्नान करती हुई मुझे इस प्रकार गुरेर कर क्यों देखता है? यहाँ अरे! भो! यह सपरिहास आह्वान है, पत्नी से डरने वालों का यह स्थान नहीं होता यहाँ जो पत्नी से डरने वाले हैं उनका यह स्थान है यह सम्बन्ध दूरापेत अर्थात् बिल्कुल नहीं है इस षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध से प्रच्छन्न कामिनी ने ईर्ष्यातिशय

ध्वन्यालोकः

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपार्धरम्यैः ॥

इत्यत्र चशब्दः। यथा वा–

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरौष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥

अत्र तुशब्दः। निपातानां प्रसिद्धमपीह द्योतकत्वं रसापेक्षयोक्तमिति द्रष्टव्यम्। उपसर्गाणां व्यञ्जकत्वं यथा–

का वियोग था ही उसके साथ-साथ वर्षा के दिन आ पड़े।

दूसरा उदाहरण जैसे **मुहरिति** मेरे द्वारा हठात् चुम्बन करने का प्रयत्न करने पर भी उसने अपने मनोहर अंगुलियों से अधरोष्ठ कों ढक लिया 'मान जाओ मान जाओ'। इस प्रकार के निषेधापरक मनोहर वचनों को कहते हुये अपने मुख को कन्धे की ओर मोड़ लिया। इस प्रकार सुन्दर पलकों वाली प्रियतमा शकुन्तला का मुख किसी प्रकार ऊपर की ओर उठा तो लिया पर उसे चूम नहीं पाया।

यहाँ तु शब्द पश्चात्ताप का व्यञ्जक है। और चुम्बनमात्र से कृतकृत्यता का सूचक होने से शृङ्गार रस को अभिव्यक्त करता है। निपातों का द्योतकत्व वैयाकरणमत में प्रसिद्ध होने पर भी रस की दृष्टि से उसे यहाँ फिर कहा है।

लोचनम्

प्रच्छन्नकामिन्याभिव्यक्तः। *कृतकेति* कग्रहणं तद्धितोपलक्षणार्थम्। कृतः कप्रत्ययप्रयोगो येषु काव्यवाक्येषु यथा जायाभीरुकाणामिति। ये ह्यरसज्ञा धर्मपत्नीषु प्रेमपरतन्त्रास्तेभ्यः कोऽन्यो जगति कुत्सितः स्यादिति कप्रत्ययोऽवज्ञातिशयद्योतकः। *समासानां चेति* केवलानामेव व्यञ्जकत्वमावेद्यत इति सम्बन्धः।

चशब्द इति जातावेकवचनम्। द्वौ चशब्दावेवमाहतुः काकतालीयन्यायेन गण्डस्योपरि स्फोट इतिवत्तद्वियोगश्च वर्षासमयश्च

अभिव्यक्त किया। **कृत क प्रयोगेष्विति** यहाँ क का ग्रहण तद्धितमात्र के उपलक्षण के लिये किया गया है। 'क' प्रत्यय का प्रयोग जिन काव्यवाक्यों में जैसे 'जायाभीरुकाव्यम्' जो अरसज्ञ अपनी धर्मपत्नियों में ही प्रेम परतन्त्र होते हैं उनसे बढ़कर दूसरा कौन संसार में कुत्सित हो सकता है। यह 'क' प्रत्यय अवज्ञातिशय का द्योतक है। **समासानां चेति** सम्बन्ध में षष्ठी का अर्थ यह है कि केवल समासों का व्यञ्जकत्व सूचित किया जाता है। **अयमेक पदे** यहाँ पर दोनों चकार ऐसा कहते हैं,

ध्वन्यालोकः

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दलेखाङ्किताः ॥

इत्यादौ। द्वित्राणां चोपसर्गाणामेकत्र पदे यः प्रयोगः सोऽपि रसव्यक्त्यनुगुणतयैव निर्दोषः। यथा–'प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि तमसि

ऐसा समझना चाहिये।

उपसर्गो का व्यञ्जकत्व जैसे **नीवारा** इति शुकयुक्त कोटरों के मुख से गिरे हुये नीवार के कण वृक्षों के नीचे बिखरे पड़े हैं। कहीं-कहीं चिकने पत्थर दिखाई दे रहे हैं जो इस बात की सूचना देते हैं कि उनसे इङ्गुदीफल के तोड़ने का काम लिया जाता है, सर्वथा आश्वस्त होने से आने वाले शब्दों को सुन कर भी मृगों की गति में कोई परिवर्तन नहीं होता है और जलाशयों के मार्ग स्नानोत्तर गीले वत्कल वस्त्रों से टपकती हुये जलबिन्दुओं की रेखाओं से अङ्कित हैं। इत्यादि में।

यहाँ प्रस्निग्धा को उपसर्ग प्रकर्षेण स्निग्धा प्रस्निग्धा इस व्युत्पत्ति से प्रकर्ष

लोचनम्

सममुपनतौ एतदलं प्राणहरणाय। अत एव रम्यपदेन सुतरामुद्दीपनविभावत्वमुक्तम्। *तुशब्द इति।* **पश्चात्तापसूचकस्सन् तावन्मात्रपरिचुम्बनलाभेनापि कृतकृत्यता स्यादिति ध्वतीति भावः।** *प्रसिद्धमपीति।* **वैयाकरणादिगृहेषु हि प्राक्प्रयोगस्वातन्त्र्य-प्रयोगाभावात्षष्ठ्याद्यश्रवणाल्लिङ्गसंख्याविरहाच्च वाचकवैलक्षण्येन द्योतका निपाता इत्युद्धोष्यत एवेति भावः। प्रकर्षेण स्निग्धा इति प्रशब्दः**

काकतालीय न्याय से गण्ड के ऊपर उत्पन्न फोड़े की भाँति उसका वियोग और वर्षाकाल दोनों साथ ही प्राप्त हो गये हैं जो प्राणहरण के लिये पर्याप्त हैं। इसलिये रम्यपद से सुतरामुद्दीपन विभाव को कहा हैं 'तु' शब्द इति। भाव यह कि पश्चात्ताप का सूचक होता हुआ उतने मात्र से परिचुम्बन के लाभ से कृतकृत्यता ही ध्वनित करता है। **निपातानां प्रसिद्धमपीह द्योतकत्वमिति** भाव यह कि वैयाकरणादि के घरों में धातु के पहले प्रयोग होने से स्वतन्त्र रूप से प्रयोग न होने से षष्ठी आदि का श्रवण न होने से लिङ्ग तथा संख्या न होने से निपात वाचक शब्द से विलक्षण द्योतक रूप से घोषित किये गये हैं। **प्रस्निग्धाः** अर्थात् प्रकर्षेण स्निग्धाः इसमें प्रशब्द प्रकर्ष

ध्वन्यालोकः

समुद्वीक्ष्य वीतावृतीन्द्राग्जन्तून्' इत्यादौ। यथा वा-'मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तम्' इत्यादौ।

अर्थ को सूचित करता है और इङ्गुदीफलों की सरसता का द्योतक होकर आश्रम के सौन्दर्यातिशयत्व को व्यक्त करता है। दो-तीन उपसर्गों का प्रयोग जब एक ही पद में हो तो वह भी रसाभिव्यक्ति के अनुकूल होने से ही निर्दोष होता है। जैसे प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि यहाँ पर उत्तरीय के समान अन्धकार के गिर जाने पर आवरणरहित जन्तुओं को देख कर (सूर्यशतक) यहाँ समुद्वीक्ष्य पद में एक साथ सम् उत् और वि इन तीन उपसर्गों का प्रयोग सूर्यदेव की कृपा का अतिशय व्यञ्जक और रसानुकूल होने से निर्दोष है। अथवा जैसे मनुष्यवृत्त्येति।

मनुष्य रूप से आचरण करते हुये यहाँ सम् उप आ उपसर्ग से भगवान् की कृपा का अतिशयित्व व्यक्त होता है।

निपातों के विषय में भी वैसा ही नियम है (अर्थात् दो-तीन निपातों का

लोचनम्

प्रकर्षं द्योतयन्निङ्गुदीफलानां सरसत्वमाचक्षाण आश्रमस्य सौन्दर्यातिशयं ध्वनिति। 'तापसस्य फलविशेषविषयोऽभिलाषातिरेको ध्वन्यते' इति त्वसत्; अभिज्ञानशाकुन्तले हि राज्ञ इयमुक्तिर्न तापसस्येत्यलम्। *द्वित्राणामित्य-नेनाधिक्यं* निरस्यति। सम्यगुच्चैर्विशेषेणोक्षितत्वे भगवतः कृपातिश-योऽभिव्यक्तः।

मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं स्वबुद्धिसामान्यकृतानुमानाः।
योगीश्वरैरप्यसुबोधमीश त्वां बोद्धुमिच्छन्त्यबुधाः स्वतर्कैः॥

सम्यग्भूतमुपांशुकृत्वा आ समन्ताच्चरन्तमित्यनेन लोकानुजिघृक्षाति-शयस्तत्तदाचरतः परमेश्वरस्य ध्वनितः।

द्योतित करता है और इङ्गुदीफल को सरसत्व कहता हुआ आश्रम के सौन्दर्य को ध्वनित करता है: तापस का फलविशेष के सम्बन्ध में अभिलाषातिरेक भी ध्वनित होता है यह व्याख्यान गलत है, क्योंकि अभिज्ञानशाकुन्तल में यह राजा की उक्ति है न कि तापस की इत्यलम्। **द्वित्राणामिति** दो-तीन इस कथन से आधिक्य का निरास करते हैं **सुद्वीक्ष्य** सम्यग् अर्थात् उच्चैः विशष रूप से ईक्षित दृष्ट होने से भगवान् सूर्य का कृपातिशय द्योतित होता है। **मनुष्यवृत्येति** मनुष्य के व्यापार से समुपाचरण करते हुये योगीश्वरों द्वारा भी दुर्बोध आप को हे ईश अपनी सामान्य बुद्धि से अनुमान करके अबुधजन अपने तर्कों से जानना चाहते हैं। 'समुयाचरन्तम् सम्यग्भूतमुपांशु कृत्वा' (गुप्त

ध्वन्यालोकः

निपातानामपि तथैव। यथा–'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः' इत्यादौ। यथा वा–

ये जीवन्ति न मान्ति ये स्म वपुषि प्रीत्या प्रनृत्यन्ति च
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रवः पुलकिता दृष्टे गुणिन्यूर्जिते।
हा धिक्कष्टमहो क्व यामि शरणं तेषां जनानां कृते
नीतानां प्रलयं शठेन विधिना साधुद्विषः पुष्यता॥

इत्यादौ।

पदपौनरुक्त्यं च व्यञ्जकत्वापेक्षयैव कदाचित्प्रयुज्यमानं शोभामावहति। यथा–

एक साथ प्रयोग होने पर भी रसाभिव्यक्ति के अनुरूप होने से कोई दोष नहीं होता। जैसे अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः इत्यादि में अहो बत आदि निपात इत्यादि में। अथवा अनेक निपातों के रसानुगुण सहप्रयोग का दूसरा उदाहरण यथा– **ये जीवन्ति** इत्यादि गुणी जनों की वृद्धि देख कर जो जीते हैं और जो अपने शरीर में फूले नहीं समाते, हर्ष से नाच उठते हैं, जिनके आनन्दाश्रु बहने लगते हैं और जिनका शरीर पुलकित हो जाता है। हा धिक्कार है उन सज्जन पुरुषों के द्वेषियों का पोषण करने वाले दुष्ट दैव ने उन सज्जनों को विनष्ट कर दिया यह बड़े दुःख की बात है। अब उन्हें प्राप्त करने के लिये मैं किसकी शरण जाऊँ? इत्यादि में यहाँ हा धिक् इस निपातद्वय में गुणियों की अभिवृद्धि से प्रसन्नता अनुभव करने वाले महापुरुषों का श्लाघातिशय और दैव की असमीक्ष्यकारिता के कारण निर्वेदातिशय ध्वनित होता है।

कभी-कभी व्यञ्जकत्व की दृष्टि से प्रयुक्त पदों की पुनरुक्ति भी शोभाजनक

लोचनम्

तथैवेति। रसव्यञ्जकत्वेन द्वित्राणामपि प्रयोगो निर्दोष इत्यर्थः। श्लाघातिशयो निर्वेदातिशयश्च अहो बतेति हा धिगिति च ध्वन्यते। प्रसङ्गात्पौनरुक्त्यान्तरमपि व्यञ्जकमित्याह–*पदपौनरुक्त्यमिति।* पदग्रहणं

रूप से) आ समन्ताच्चरन्तम् इससे तत् तत् का आचरण करते हुये परमेश्वर का लोकानुग्रह का इच्छातिशय अभिव्यक्त किया।

तथैवेति उसी प्रकार अर्थात् रस के अभिव्यञ्जक रूप से दो-तीन निपातों का प्रयोग निर्दोष है। अहो बत, हा धिक् से श्लाघातिशय निर्वेदातिशय ध्वनित होते हैं। प्रसङ्ग से पौनरुक्त्यन्तर भी व्यञ्जक होते हैं इसी बात को कहते हैं **पदपौनरुक्त्यम्।**

ध्वन्यालोकः

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहुचाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु
कर्तुं वृथाप्रणयमस्य न पारयन्ति ॥

इत्यादौ।

कालस्य व्यञ्जकत्वं यथा–

समविसमणिव्विसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंआरा।
अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लङ्घा ॥
(समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ॥
इति छाया)

होती है **यदिति** दूसरों को धोका देने वाला और अपना काम निकालने वाला दुष्ट पुरुष जो चापलूसी भरी मीठी बातें करता है उसे सज्जन पुरुष नहीं समझते यह बात नहीं अपितु खूब समझते हैं, किन्तु उनके आग्रह को अस्वीकार करने में समर्थ नहीं होते इत्यादि में। यहाँ **न न विदन्ति**। यह न पद की पुनरुक्ति शोभाधायक है।

काल की व्यञ्जकता जैसे **समेति** वर्षाकाल में सभी भार्गों में पानी भर जाने से सम विषम की विशेषता से हरित चारों ओर से मन्दसंचारयुक्त सारे मार्ग शीघ्र ही मनोरथ से भी अगम्य हो जायेंगे।

यहाँ 'अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानः' मार्ग शीघ्र ही अगम्य हो जायेंगे इसमें

लोचनम्

वाक्यादेरपि यथासम्भवमुपलक्षणम्। *विदन्तीति।* त एव हि सर्वं विदन्ति सुतरामिति ध्वन्यते । वाक्यपौनरुक्त्यं यथा–'पश्य द्वीपादन्यस्मादपि' इति वचनानन्तरं 'कः सन्देहः? द्वीपादन्यस्मादपि' इत्यनेनेप्सितप्राप्तिरविघ्नितैव

यहाँ पद ग्रहण वाक्यादि का भी यथासंभव उपलक्षण है **विदन्तीति** वे ही ठीक-ठीक समझते हैं। यह ध्वनित होता है। वाक्यपौनरुत्त्य जैसे रत्नावली में 'द्वीपादन्यस्मादपि' इस वचन के बाद 'कः संदेहः द्वीपादन्यस्मादपि' इससे ईप्सित वस्तु की प्राप्ति विघ्नरहित ही है। यह ध्वनित होता है किं किं? स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः'

ध्वन्यालोकः

अत्र ह्यचिराद्भविष्यन्ति पन्थान इत्यत्र भविष्यन्तीत्यस्मिन् पदे प्रत्ययः कालविशेषाभिधायी रसपरिपोषहेतुः प्रकाशते। अयं हि गाथार्थः प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारविभावतया विभाव्यमानो रसवान्। यथात्र प्रत्ययांशो व्यञ्जकस्तथा क्वचित्प्रकृत्यंशोऽपि दृश्यते। यथा–

तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावगाहं दिवः
सा धेनुर्जरती चरन्ति करिणामेता घनाभा घटाः।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं सङ्गीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः॥

भविष्यन्ति इस पद में कालविशेष (भविष्यत्काल) का वाचक 'स्य' प्रत्यय रस के परिपोषक में हेतु प्रतीत होता है। गाथा का यह अर्थ प्रवासविप्रलम्भशृङ्गार (उद्दीपन) विभाव रूप में प्रतीत होकर विशेष रूप से रसयुक्त प्रतीत होता है जैसे यहाँ 'स्य' प्रत्यय अंश व्यञ्जक है वैसे ही प्रकृतिभाग भी व्यञ्जक रूप में देखा जाता है जैसे **तद् गेहमिति** कहाँ वह टूटी-फूटी दीवारों वाला घर और कहाँ आज आकाशचुम्बी अट्टालिकायें। कहाँ उसकी यह बूढ़ी गाय और कहाँ आज ये मेघों के समान काली-काली ऊँची-ऊँची हाथियों की पङ्क्तियाँ झूम रही है, कहाँ यह मुशल की क्षुद्र ध्वनि और कहाँ आज यह सुनाई पड़ने वाला सुन्दरियों का सङ्गीत। आश्चर्य है इन थोड़े से दिनों में ही इस दरिद्र ब्राह्मण सुदामा

लोचनम्

ध्वन्यते। 'किं किम्? स्वस्था भवन्ति मयि जीवति' इत्यनेनामर्षातिशयः। 'सर्वाक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी' इत्युन्मादातिशयः।

कालस्येति। **तिङन्तपदानुप्रविष्टस्याप्यर्थकलापस्य कारककाल-संख्योपग्रहरूपस्य मध्येऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सूक्ष्मदृशा भागगतमपि व्यञ्जकत्वं विचार्यमिति भावः।** ***रसपरिपोषेति।*** **उत्प्रेक्ष्यमाणो वर्षासमयः कम्पकारी किमुत वर्तमान इति ध्वन्यते। अंशांशिकप्रसङ्गादेवाह–*यत्रात्रेति।***

इससे अमर्षातिशय ध्वनित होता है। सर्वाक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी यहाँ वक्ता का उन्मादातिशय ध्वनित होता है।

कालस्येति भाव यह कि कारक, काल, संख्या, उपग्रह रूप तिङन्त पद में अनुप्रविष्ट अर्थसमूह के बीच अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सूक्ष्मदृष्टि से भागगत (अर्थात् कारक आदि चारों के एकदेशभूत कालगत) भी व्यञ्जकत्व का विचार करना चाहिये। रसपरिपोषेति उत्प्रेक्ष्यमाण कम्पकारी वर्षा समय क्या वर्त्तमान है? यह ध्वनित होता

ध्वन्यालोकः

अत्र श्लोके दिवसैरित्यस्मिन् पदे प्रकृत्यंशोऽपि द्योतकः। सर्वनाम्नां च व्यञ्जकत्वं यथानन्तरोक्ते श्लोके। अत्र च सर्वनाम्नामेव व्यञ्जकत्वं हृदि व्यवस्थाप्य कविना क्वेत्यादिशब्दप्रयोगो न कृतः। अनया दिशा सहृदयैरन्येऽपि व्यञ्जकविशेषाः स्वयमुत्प्रेक्षणीयाः।

की इतनी अच्छी हालत हो गई। इस श्लो. में 'दिवसैः' इस पद में प्रकृत्यंश दिवस शब्द भी इस प्रतिपादित अर्थ की अत्यन्त असम्भाव्यता का अभिव्यञ्जक है। सर्वनाम भी अभिव्यञ्जक होते हैं जैसे अभी कहे गये 'तद् गेहं' श्लोक में। यहाँ सर्वनामों के व्यञ्जकत्व को मन में रख कर कवि ने 'क्व' इत्यादि शब्द का प्रयोग नहीं किया। इसी प्रकार अन्य व्यञ्जकों को भी सहृदय पुरुष स्वयं समझ लेवें यह सब सुप् लिङ् आदि की व्यञ्जकता तो १६वीं कारिका में कहे हुये पद, वाक्य, रचना आदि की द्योतनोक्ति से ही गतार्थ हो सकता है फिर भी

लोचनम्

दिवसार्थो ह्यत्रात्यन्तासम्भाव्यमानतामस्यार्थस्य ध्वनति। *सर्वनाम्ना चेति।* प्रकृत्यंशस्य चेत्यर्थः। तेन प्रकृत्यंशेन सम्भूय सर्वनामव्यञ्जकं दृश्यत इत्युक्तं भवतीति न पौनरुक्त्यम्। तथा हि तदिति हि केवलमुच्यमाने समुत्कर्षातिशयोऽपि संभाव्येत। न च नतभित्तिशब्देनाप्येते दौर्भाग्यायतनत्वसूचका विशेषा उक्ताः। एवं सा धेनुरित्यादावपि योज्यम्। एवंविधे च विषये स्मरणाकारद्योतकता तच्छब्दस्य। न तु यच्छब्दसंबद्धतेत्युक्तं प्राक्। अत एवात्र तदिदंशब्दादिना स्मृत्यनुभवयोरत्यन्तविरुद्धविषयतासूचनेनाश्चर्यविरुद्धविषयतासूचनेनाश्चर्यविभावता योजिता। तदिदंशब्दाद्यभावे तु

है अशांशिक प्रसङ्ग से कहते हैं– **यथात्रेति** यहाँ दिवस का अर्थ इस अर्थ की अत्यन्त असम्भाव्यता ध्वनित करता है, **सर्वनाम्नां चेति** अर्थात् प्रकृत्यंश का उस प्रकृत्यंश के साथ मिल कर सर्वनाम व्यञ्जक देखा जाता है, अतः पौनरुक्य नहीं है जैसा कि 'वहा' यह पद झुकी भीतों वाला (नतभित्ति) इस प्रकृत्यंश की सहायता से समस्त अमङ्गलों का निधानभूत मूषक आदि द्वारा आकीर्णता को ध्वनित करता है। केवल 'तत्' कहते तो अतिशय समुत्कर्ष भी संभावित होने लगता। न कि केवल नतामित्ति शब्द से भी दौर्भाग्य के आयतनत्व के सूचक ये विशेष कहे गये हैं। इस प्रकार वह गाय इत्यादि में भी लगाना चाहिये। इस प्रकार के विषय में तत् शब्द स्मरण के आकार का द्योतन करता है न कि जो यत् शब्द के साथ सम्बन्ध है, यह पहले कह चुके हैं, अतएव

ध्वन्यालोकः

एतच्च सर्वं पदवाक्यरचनाद्योतनोक्त्यैव गतार्थमपि वैचित्र्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम्।

ननु चार्थसामर्थ्याक्षेप्या रसादय इत्युक्तम्, तथा च सुबादीनां व्यञ्जकत्ववैचित्र्यकथनमनन्वितमेव। उक्तमत्र पदानां व्यञ्जकत्वोक्त्यवसरे। किञ्चार्थविशेषाक्षेप्यत्वेऽपि रसादीनां तेषामर्थविशेषाणां

भिन्न प्रकार से व्युत्पत्ति ज्ञानवृद्धि बुद्धिवैशद्य के लिये दुबारा कहा गया है।

अब यहाँ सन्देह करते हैं कि अर्थ की सामर्थ्य से ही रसादि का आक्षेप होता है यह पहले कहा जा चुका है, उस दशा में केवल सुबादि के वाचक न होने से सुबादि का नाना प्रकार से व्यञ्जकत्व वर्णन करना असङ्गत ही है। इसका उत्तर देते हैं- पदों की व्यञ्जकता के प्रतिपादन के अवसर पर इस विषय

लोचनम्

सर्वमसङ्गतं स्यादिति तदिदमंशयोरेव प्राणत्वं योज्यम्। एतच्च द्विशः सामस्त्यं त्रिशः सामस्त्यमिति व्यञ्जकमित्युपलक्षणपरम्। तेन लोष्टप्रस्तारन्यायेनानन्तवैच्त्र्यिमुक्तम्। यद्वक्ष्यत्यन्येऽपीति। अतिविक्षिप्ततया शिष्यबुद्धिसमाधानं न भवेदित्यभिप्रायेण संक्षिपति-*एतच्चेति।* वितत्याभिधानेऽपि प्रयोजनं स्मारयति-*वैचित्र्येणेति।*

***नन्विति।* पूर्वं निर्णीतमप्येतदविस्मरणार्थमधिकाभिधानार्थं चाक्षिप्तम्। उक्तमत्रेति। न वाचकत्वं ध्वनिव्यवहारोपयोगि येनावाचकस्य व्यञ्जकत्वं न स्यात् इति प्रागेवोक्तम्। ननु न गीतादिवद्रसाभिव्यञ्जकत्वेऽपि शब्दस्य तत्र**

यहाँ 'तत्' और 'इदं' शब्द आदि से स्मृति और अनुभव को अत्यन्त विरुद्ध विषयता के सूचन द्वारा आश्चर्य की विभाववत्ता योजित की है। तत् और इदं शब्द आदि के अभाव में सब असङ्गत हो जाता इसलिये तत् और इदं इस अंशों को प्राण (चमत्कारकारी) समझना चाहिये। यहाँ इन दो सर्वनामों का अथवा तीन सर्वनामों का सामस्त्य व्यञ्जक है, इसका तात्पर्य उपलक्षण में भी है। इसलिये लोष्टप्रस्तारन्याय से अनन्त वैचित्र्य कहा गया। **यद् वक्ष्यत्यन्येऽ**पतिअत्यन्त (विक्षिप्त प्रस्तुत) होने के कारण शिष्य की बुद्धि का समाधान नहीं होगा। इस अभिप्राय से संक्षेप में करते हैं **एतच्छेति** विस्तार कर कथन में भी प्रयोजन का स्मरण दिलाते हैं- **वैचित्र्येणेति नन्विति** पहले निर्णीत होने पर भी भूल न जाय इसके लिये अधिक बात कहने के लिये आक्षेप किया है। **उक्तमत्रेति** इस सम्बन्ध में कह चुके हैं। यह पहले ही कह चुके हैं कि वाचकत्व

ध्वन्यालोकः

व्यञ्जकशब्दाविनाभावित्वाद्यथाप्रदर्शितं व्यञ्जकस्वरूपपरिज्ञानं विभज्योपयुज्यत एव। शब्दविशेषाणां चान्यत्र च चारुत्वं यद्विभागेनोपदर्शितं तदपि तेषां व्यञ्जकत्वेनैवावस्थितमित्यवगन्तव्यम्।

यत्रापि तत्सम्प्रति न प्रतिभासते तत्रापि व्यञ्जके रचनान्तरे यद् दृष्टं सौष्ठवं तेषां प्रवाहपतितानां तदेवाभ्यासादपोद्धृतानामप्यवभासत

का उत्तर कह चुके हैं। साथ ही यह हेतु भी है अर्थ विशेष से ही रस की अभिव्यक्ति मानने पर भी उनकी अर्थविशेष के व्यञ्जक शब्दों के बिना प्रतीति नहीं हो सकती है अतएव जैसा कि दिखलाया गया है उस प्रकार व्यञ्जक के स्वरूप को अलग-अलग करके ज्ञान रसादि की प्रतीति में उपयोगी है ही। और अन्यत्र भामह विवरण में भट्टोद्भट ने शब्द-विशेषों का जो चारुत्व अलग-अलग प्रदर्शित किया है वह भी उनके अर्थव्यञ्जकत्व के कारण ही व्यवस्थित होता है ऐसा समझना चाहिये।

और जहाँ जिस शब्द में वह चारुत्व इस समय (शृङ्गारादि व्यतिरिक्त स्थल के प्रयोगकाल में) प्रतीत नहीं होता वहाँ उस शब्द में भी व्यञ्जक दूसरी रचना में समुदाय में प्रयुक्त उन शब्दों का सौष्ठव देखा था, उन शब्दों के व्यञ्जकसमुदाय

लोचनम्

व्यापारोऽस्त्येव; स च व्यञ्जनात्मैवेति भावः। एतच्चास्माभिः प्रथमोद्द्योते निर्णीतचरम्। न चेदमस्माभिरपूर्वमुक्तमित्याह–*शब्दविशेषाणां चेति। अन्यत्रेति।* भामहविवरणे। *विभागेनेति।* स्रक्चन्दनादयः शब्दाः शृङ्गारे चारवो बीभत्से त्वचारव इति रसकृत एव विभागः। रसं प्रति च शब्दस्य व्यञ्जकत्वमेवेत्युक्तं प्राक्।

***यत्रापीति।* स्रक्चन्दनादिशब्दानां तदानीं शृङ्गारादिव्यञ्जकत्वाभावेऽपि व्यञ्जकत्वशक्तेर्भूयसा दर्शनात्तदधिवाससुन्दरीभूतमर्थं प्रतिपादयितुं**

ध्वनि के व्यवहार में उपयोगी नहीं है। जिससे अवाचकत्व का व्यञ्जकत्व न हो। भाव यह कि गीतादि की भाँति रसाभिव्यञ्जक होने पर भी शब्द का उनमें अपना व्यापार नहीं होता, किन्तु वह शब्द व्यञ्जन रूप ही है इसे हम प्रथम उद्योत में निर्णय कर चुके हैं। हमने यह कोई अपूर्व बात नहीं कही है इसे कहते हैं– **शब्दविशेषाणां चेति** शब्दविशेषों का **अन्यत्रेति** भामह के विवरण में **विभागेनेति** अलग-अलग माला, चन्दन आदि शब्द शृङ्गार में सुन्दर और बीभत्स में असुन्दर है। इस प्रकार विभाग रसकृत ही है। शब्द रस के प्रति व्यञ्जक होते हैं इसे पहले कह चुके हैं।

ध्वन्यालोकः

इत्यवसातव्यम्। कोऽन्यथा तुल्ये वाचकत्वे शब्दानां चारुत्वविषयो विशेषः स्यात्।

से अलग हो जाने पर भी अभ्यासवश वही चारुत्व प्रतीत होता रहता है। यह समझना चाहिये अन्यथा सभी शब्दों में वाचकत्व के समान रूप होने से किन्ही विशेष शब्दों में चारुत्वविषयक भेद कहाँ से आयेगा?

यदि यह कहें कि शब्दों के चारुत्वविशेष का नियामक सहृदय संवेद्य कोई

लोचनम्

सामर्थ्यमस्ति। तथाहि-'तटी तारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्रमेवाश्रितं सहृदयैः 'स्त्रीति नामापि मधुरम्' इति कृत्वा। यथा वास्मदुपाध्यायस्य विद्वत्कविसहृदयचक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य-

इन्दीवरद्युति यदा बिभृयान्न लक्ष्म
स्युर्विस्मयैकसुहृदोऽस्य यदा विलासाः।
स्यान्नाम पुण्यपरिणामवशात्तथापि
किं किं कपोलतलकोमलकान्तिरिन्दुः॥

अत्र हीन्दीवरलक्ष्मविस्मयसुहृद्विलासनामपरिणामकोमलादयः शब्दाः शृङ्गाराभिव्यञ्जनदृष्टशक्तयोऽत्र परं सौन्दर्यमावहन्ति। अवश्यं

यत्रापीति माला, चन्दन आदि शब्दों का उस समय (अर्थात् शृङ्गार से अतिरिक्त स्थान में) शृङ्गारादि के व्यञ्जक न होनेपर भी उनकी व्यञ्जकत्व शक्ति बार-बार देखी जाने के कारण उनके रहने से उनमें सुन्दर अर्थ के प्रतिपादन करने की सामर्थ्य है जैसा कि 'तटी तारं ताम्यति' तटी जोरों से गिर रही है ध्वस्त हो रही है, यहाँ सहृदयों ने तट शब्द के पुंस्त्व तथा नपुंसकत्व का अनादर कर स्त्रीत्व का ही आश्रयण किया है यह समझ कर कि स्त्री का नाम भी मधुर होता है अथवा जैसे विद्वानों, कवियों और सहृदयों के चक्रवर्ती हमारे उपाध्याय भट्ट इन्दुराज का **इन्दीवरेति** पुण्यों के परिणामवश यदि चन्द्रमा नीलरूप कमल के समान कलङ्क नहीं धारण करता और यदि इसके समस्त विलास विस्मय के एकमात्र सुहृद होते तब सुन्दरी के कपोलतल की भाँति कोमल कान्ति वाला यह क्या-क्या हो सकता था?

यहाँ शृङ्गार के अभिव्यञ्जन में दृष्टशक्ति वाले नील कमल, विस्मय, सुहृद्, विलास, परिणाम, कोमल आदि शब्द अधिक सौन्दर्य धारण करते हैं और इसे अवश्य

ध्वन्यालोकः

अन्य एवासौ सहृदयसंवेद्य इति चेत्, किमिदं सहृदयत्वं नाम? किं रसभावानपेक्षकाव्याश्रितसमयविशेषाभिज्ञत्वम्, उत रसभावादिमय-काव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्। पूर्वस्मिन् पक्षे तथाविधसहृदय-व्यवस्थापितानां शब्दविशेषाणां चारुत्वनियमो न स्यात्। पुनः समयान्तरेणान्यथापि व्यवस्थापनसम्भवात्। द्वितीयस्मिस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पण-सामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यञ्जकत्वाश्रय्येव तेषां

अन्य विशेषता है तो उससे यह पूछना चाहिये कि आप के मत में वह सहृदयत्व क्या है? क्या रसभाव की अपेक्षा के बिना ही काव्याश्रित सङ्केत-विशेष का ज्ञान रखना ही सहृदयत्व है? अथवा रसभावमय काव्य के स्वरूप परिज्ञान की कुशलता सहृदयत्व है? यदि पहला पक्ष मानें तो इस प्रकार के सहृदयों द्वारा निर्धारित शब्दविशेषों के चारुत्व का नियम नहीं बन सकता, क्योंकि दूसरी बार उन शब्दों का संकेत अन्य प्रकार से किया जा सकता है, इसलिये पहला पक्ष ठीक नहीं हैं। दूसरे 'रसभावादिमय काव्यस्वरूप परिज्ञाननैपुम्यमेव सहृदयत्वम्' पक्ष में रसज्ञता का नाम ही सहृदयत्व हुआ इस प्रकार के सहृदयों से संवेद्य (शब्द विशेषों के चारुत्व का नियामक) शब्दों का रस समर्पण (रसाभिव्यक्ति) की स्वाभाविक सामर्थ्य ही शब्दों की (चारुत्व द्योतन की नियामक) विशेषता है, इसलिये मुख्यतया व्यञ्जकत्व शक्ति के आश्रित ही शब्दों का चारुत्व निर्धारित होता है। वाचकत्वाश्रय (चारुत्व हेतु) उन शब्दों के अर्थ की अपेक्षा होने पर प्रसादगुण ही उसका भेदक है और अर्थ की अपेक्षा न होने पर अनुप्रासादादि

लोचनम्

चैतदभ्युपगन्तव्यमित्याह—*कोऽन्यथेति*। असंवेद्यस्तावदसौ न युक्त इत्याशयेनाह—*सहृदयेति*। *पुनरिति*। अनियन्त्रितपुरुषेच्छायत्तो हि समयः कथं नियतः स्यात्। *मुख्यं चारुत्वमिति*। विशेष इति पूर्वेण सम्बन्धः। *अर्थापेक्षायामिति*। वाच्यापेक्षायामित्यर्थः। *अनुप्रासादिरेवेति*। शब्दान्तरेण

स्वीकार करना चाहिये इस बात को कहते हैं— **कोऽन्यथेति** असंवेद्य होने पर यह उचित न होगा, आशय से कहते हैं— **सहृदयेति**। **पुनरिति** पुनः क्योंकि पुरुष की अनियन्त्रित इच्छा के अधीन समय (सङ्केत) कैसे नियत होगा? **मुख्यं चारुत्वमिति** विशेष यह पूर्व से सम्बद्ध है। **अर्थापेक्षायामिति** अर्थ की अपेक्षा होने पर अर्थात् वाच्य की अपेक्षा होने पर।

ध्वन्यालोकः

मुख्यं चारुत्वम्। वाचकत्वाश्रयाणान्तु प्रसाद एवार्थापेक्षायां तेषां विशेषः। अर्थानपेक्षायां त्वनुप्रासादिरेव॥१५-१६॥

एवं रसादीनां व्यञ्जकस्वरूपमभिधाय तेषामेव विरोधिरूपं लक्षयितुमिदमुपक्रम्यते–

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादान् बन्द्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥१७॥

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसभावनिबन्धनं प्रत्यादृतमनाः कविर्विरोधिपरिहारे परं यत्नमादधीत। अन्यथा त्वस्य रसमयः श्लोक एकोऽपि सम्यङ् न सम्पद्यते॥१७॥

प्रसादगुण ही उसका भेदक है और अर्थ की अपेक्षा न होने पर अनुप्रासादादि ही अन्य साधारण शब्दों के भेदक हैं।

इस प्रकार रसादि के अभिव्यञ्जकों के स्वरूप का प्रतिपादन कर अब उन्हीं रसादि के विरोधी स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये आगे प्रारम्भ करते हैं। प्रबन्ध काव्य अथवा मुक्तक काव्यों में रसादि के निबन्धन की इच्छा रखने वाले कवि को रस के विरोधी तत्त्वों का परिहार करने के लिये अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिये।

लोचनम्

सह या रचना तदपेक्षोऽसौ विशेष इत्यर्थः। आदिग्रहणाच्छब्दगुणालङ्काराणां सङ्ग्रहः। अत एव रचनया प्रसादेन चारुत्वेन चोपबृंहिता एव शब्दाः काव्ये योज्या इति तात्पर्यम्॥१५-१६॥

रसादीनां यद्यव्यञ्जकं वर्णपदादिप्रबन्धान्तं तस्य स्वरूपमभिधायेति सम्बन्धः उपक्रम्यत *इति।* विरोधिनामपि लक्षणकरणे प्रयोजनमुच्यते

अनुप्रासादि हो अर्थात् दूसरे शब्द के साथ जो रचना उसकी अपेक्षा वाला यह विशेष। आदि ग्रहण से शब्दगुण और शब्दालङ्कारों का संग्रह है। अतएव यह तात्पर्य है कि रचना से, प्रसाद से और चारुत्व से उपबृंहित ही शब्दों की काव्य में योजना करनी चाहिये।

वर्ण पद से लेकर प्रबन्ध पर्यन्त जितने रसादि के अव्यञ्जक हैं उनके स्वरूप का अभिधान कर इतना सम्बन्ध है। **उपक्रम्यत** इति उपक्रम करते हैं— इस कारिका से विरोधियों के भी लक्षण करने में शक्य हानत्व (विरोधियों के लक्षण ज्ञात होने

ध्वन्यालोकः

कानि पुनस्तानि विरोधीनि यानि यत्नतः कवेः परिहर्तव्यानीत्युच्यते–

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥१८॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।

प्रबन्ध काव्य अथवा मुक्त काव्यों में रसबन्ध के लिये समुत्सुक कवि विरोधियों के परिहार के लिये पूर्ण प्रयास करे अन्यथा उसका एक भी श्लोक रसमय नहीं हो सकता।

रसादि के विरोधी जिनको यत्नपूर्वक कवि को बचाना चाहिये कौन से है? बताते हैं उसे विरोधी रस सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना; रस से सम्बद्ध होने पर भी वस्तु से; अन्य वस्तु का बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन करना;

लोचनम्

शक्यहानत्वं नाम अनया कारिकया। लक्षणं तु विरोधिरससम्बन्धीत्यादिना भविष्यतीत्यर्थः॥१७॥

ननु 'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः' इति यदुक्तं तत एव व्यतिरेकमुखेनैतदप्यवगंस्यते। मैवम्; व्यतिरेकेण हि तदभावमात्रं प्रतीयते न तु तद्विरुद्धम्। तदभावमात्रं च न तथा दूषकं यथा तद्विरुद्धम्। पथ्यानुपयोगो हि न तथा व्याधिं जनयति यद्वदपथ्योपयोगः। तदाह–यत्नत इति। 'विभावे' त्यादिना श्लोकेन यदुक्तं तद्विरुद्धं *विरोधी*त्यादिनार्धश्लोकेनाह। 'इतिवृत्ते'त्यादिना श्लोकद्वयेन यदुक्तं तद्विरुद्धं *विस्तरेणे*त्यर्धश्लोकेनाह।

पर उनका परिहार किया जायगा) यदि प्रयोजन कहते हैं किन्तु लक्षण तो विरोधि रस सम्बन्धि इत्यादि होगा॥१७॥

यहाँ सन्देह करते हैं कि जो विभाव, भाव, अनुभाव, सञ्चारी के औचित्य से चारु यह कह चुके हैं, उसी के व्यतिरेक के प्रकार से यह भी मालूम हो जायगा। उसका समाधान करते हैं— ऐसा नहीं। व्यतिरेक से उसका अभाव मात्र प्रतीत होगा, न कि उसके विरुद्ध। उसका अभाव मात्र उसमें उस प्रकार दूषक नहीं है जिस प्रकार उसका विरोधी, क्योंकि पथ्य का अनुपयोग उस प्रकार व्याधि उत्पन्न नहीं करता जिस प्रकार अपथ्य का उपयोग व्याधि उत्पन्न करता है। **तदाह यत्नत इति** विभाव (द्र. उ. ३.१०) इत्यादि श्लो. से जो कहा गया है उसके विरुद्ध विरोधि. इत्यादि आधे श्लोक

ध्वन्यालोकः

परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥१९॥

प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः सम्भवनीयः। तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने। विरोधिरसभावपरिग्रहो

असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन करना और रस का पूर्ण परिपोष.हो जाने पर बार-बार उसका उद्दीपन करना और व्यवहार में औचित्य ये पाँचों रस के विरोधी तत्त्व हैं॥१८+१९

प्रस्तुत रस की दृष्टि से जो विरोधी रस हों उससे सम्बन्ध रखने वाले विभाव, भाव तथा अनुभावों का वर्णन सब से प्रथम रस विरोधी हेतु समझना चाहिये। उसमें विरोधी रस के विभाव-परिग्रह का उदाहरण जैसे शान्तरस के विभावों का उसके विभावरूप से ही वर्णन के बाद तुरन्त ही शृङ्गार के विभाव का वर्णन करने लग जाना, क्योंकि शान्त रस का शृङ्गार रस का नैरन्तर्येण

लोचनम्

'उद्दीपने'त्यर्धश्लोकोक्तस्य विरुद्धम् अकाण्ड इत्यर्धश्लोकेन। 'रसस्ये' त्यर्धश्लोकोत्तस्य विरुद्धं *परिपोषं गतस्येत्यर्धश्लोकेन। 'अलङ्कृतीनामि' त्यनेन* यदुक्तं तद्विरुद्धमन्यदपि च विरुद्धं *वृत्त्यनौचित्यमित्यनेन।* एतत्क्रमेण व्याचष्टे–प्रस्तुतरसापेक्षयेत्यादिना। हास्यशृङ्गारयोर्वीराद्भुतयो रौद्रकरुणयो-र्भयानकबीभत्सयोर्न विभावविरोध इत्यभिप्रायेण शान्तशृङ्गारावुपन्यस्तौ, प्रशमरागयोर्विरोधात्। विरोधिनो रसस्य यो भावो व्यभिचारी तस्य परिग्रहः, विरोधिनस्तु यः स्थायी स्थायितया तत्परिग्रहोऽसम्भवनीय एव

से कहते हैं, इति वृत्त॰ (द्र. उ. ११ + १२ इत्यादि दो श्लोक से जो कहा है उसके विरुद्ध विरोधि॰ विस्तरेंणेत्यादि श्लोकार्थ से कहते हैं। दीपनम् इत्यादि आधे श्लो. में कहे हुये के विरुद्ध अकाण्ड इस आधे श्लोक से रसस्य इस आधे श्लोक से विरुद्ध परिपोषं गतस्य इस अर्थश्लोक से अलङ्कृतीनाम्। इससे जो कहा गया है उसके विरुद्ध और दूसरा भी विरुद्ध वृत्यनौचित्य. इससे कहते हैं। एतत् क्रमेण व्याचष्टे इस क्रम से व्याख्यान करते हैं प्रस्तुतरसापेक्षयेति प्रस्तुत रस की अपेक्षा से।

हास्य शृङ्गार का, वीर-अद्भुत का भयानक-बीभत्स का विभाव विरोध नहीं, इस अभिप्राय से शान्त शृङ्गार का उपन्यास किया है, क्योंकि प्रशम और राग का परस्पर

ध्वन्यालोकः

यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये। विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने।

अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत्प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिदन्वितस्यापि विस्तरेण कथनम्। यथा विप्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद्वर्णयितुमुपक्रान्ते कवेर्यमकाद्यलङ्कारनिबन्धन-

विरोधी होने से ऐसा-ऐसा वर्णन दोषाधायक है। विरोधी रस के व्यभिचारीभाव के परिग्रह का उदाहरण जैसे प्रिय के प्रति प्रणय-कलह में कुपित कामिनियों को मनाने के लिये वैराग्यचर्चा द्वारा अनुनयन वर्णन। विरोधी रस के अनुभाव के परिग्रह का उदाहरण जैसे प्रणय-कलह में कुपित मानिनी के प्रसन्न न होने पर कोपाविष्ट नायक के रौद्रानुभावों का वर्णन।

यह दूसरा रसभङ्ग का हेतु और है कि प्रस्तुत रस से किसी प्रकार संबद्ध होने पर भी रस से भिन्न किसी अन्य वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन। जैसे किसी नायक के विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन प्रारम्भ कर कवि का यमकादि रचना में

लोचनम्

तदनुत्थानप्रसङ्गात्। व्यभिचारितया तु परिग्रहो भवत्येव। अत एव सामान्येन भावग्रहणम्। वैराग्यकथाभिरिति वैराग्यशब्देन निर्वेदः शान्तस्य यः स्थायी स उक्तः। यथा–'प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं सन्त्यज रुषम्' इत्याद्युपक्रम्यार्थान्तरन्यासो 'न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः' इति। मनागपि निर्वेदानुप्रवेशे सति रतेर्विच्छेदः। ज्ञातविषयसतत्त्वो हि जीवितसर्वस्वाभिमानं कथं भजेत। न हि ज्ञातशुक्तिकारजततत्त्व-

विरोध है, विरोधी रस का जो भाव वह व्यभिचारी है उसका परिग्रह। परन्तु विरोधी का जो स्थायी है, स्थायी रूप से उसका परिग्रह असंभव ही है, क्योंकि स्थायीरूप से उनके उत्थान का प्रसङ्ग नहीं है। परन्तु व्यभिचारी रूप से उसका परिग्रह होगा ही अतएव सामान्य रूप से भाव का ग्रहण है **वैराग्यकथामिरिति** वैराग्य की कथाओं द्वारा इसमें वैराग्य शब्द से निर्वेद शान्त रस का जो स्थायी भाव है उसे कहा गया है जैसे **प्रसादे वर्त्तस्व॰** इत्यादि श्लो. **प्रसाद इति** 'प्रसन्न हो जाओ' खुशी व्यक्त करो 'रोष छोड़ो' इत्यादि उपक्रम करके अर्थान्तरन्यास से अरी मुग्धे। कालरूपी हरिण चले जाने पर पुनः लौटने वाला नहीं। थोड़ा भी निर्वेद का अनुप्रवेश होने पर रति का

ध्वन्यालोकः

रसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने। अयं चापरो रसभङ्गहेतुरवगन्तव्यो यदकाण्ड एव विच्छित्तिः रसस्याकाण्ड एव च प्रकाशनम्। तत्रानवसरे विरामो रसस्य यथा नायकस्य कस्यचित्स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचित्परां परिपोषपदवीं प्राप्ते श्रृङ्गारे विदिते च परस्परानुरागे समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने। अनवसरे च प्रकाशनं

अनुराग से अत्यन्त विस्तार के साथ पर्वतादि का वर्णन करने लगना। जैसे किरातार्जुनीय में सुराङ्गना विलासादि अथवा हयग्रीववध में हयग्रीव का अतिविस्तृत वर्णन।

अकाण्ड (अनवसर) में रस को विच्छिन्न कर देना अथवा अनवसर में ही उसका विस्तार करने लग जाना यह भी और इसके अतिरिक्त तीसरा रसभङ्ग का हेतु है।

उसमें अकाण्ड में विराम का उदाहरण जैसे किसी नायक का जिसके साथ उसको समागम अभीष्ट है, ऐसी नायिका के साथ किसी प्रकार रतिभाव के परिपुष्ट हो जाने अथवा उनके परस्पर अनुराग का पता लग जाने पर उनके समागम के उपाय के चिन्तनयोग्य व्यापार को छोड़ कर स्वतन्त्र रूप से किसी अन्य व्यापार का वर्णन करने लग जाना (जैसे रत्नावलीनाटिका में वाभ्रव्य के आने पर सागरिका की विस्मृति।

लोचनम्

स्तदुपादेयधियं भजते ऋते संवृतिमात्रात्। कथाभिरिति बहुवचनं शान्तरसस्य व्यभिचारिणो धृतिं मतप्रिभृतीन् सङ्गृह्णाति।

नन्वन्यदनुन्मत्तः कथं वर्णयेत्, किमुत विस्तरत इत्याह– *कथञ्चिदन्वितम्येति।* यथा वत्सराजचरिते चतुर्थेऽङ्के–रत्नावलीनामधेय-

विच्छेदक हो जाता है, क्योंकि विषय का तत्त्व जान लेने वाला व्यक्ति किस प्रकार किसी रमणी के प्रति जीवित सर्वस्व का अभिमान करेगा? क्योंकि जिसे शुक्ति का ज्ञान हो गया है वह उस शुक्ति में रजत तत्त्व के उपादेयता की बुद्धि नहीं कर सकता यदि भ्रम न हो तो। **कथाभिरिति** यह बहुवचन शान्त रस के धृति, मति प्रभृति व्यभिचारियों को सङ्गृहीत करता है।

यदि कहो कि अनुन्मत्त व्यक्ति अन्य विषय का वर्णन किस प्रकार करेगा? अथवा क्यों उसका विस्तार करेगा? इस पर कहते हैं– **कश्चिदन्वितस्येति** किसी प्रकार सम्बन्द्ध

ध्वन्यालोकः

रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृत्तविविधवीरसङ्क्षये कल्पसङ्क्षयकल्पे सङ्ग्रामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्तविप्रलम्भशृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथायामवतारवर्णने। न चैवंविधे विषये देवव्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारो यतो रसबन्ध एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्तिनिबन्धनं युक्तम्। इतिवृत्तवर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक् 'आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः' इत्यादिना।

अनवसर में रस के प्रकाशन का उदाहरण जैसे नाना वीरों के विनाशक कल्पप्रलय के समान भीषण संग्राम के प्रारम्भ हो जाने पर विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रसङ्ग के बिना और बिना किसी उचित कारण के रामचन्द्र सरीखे देवपुरुष का भी शृङ्गारकथा में पड़ जाने का वर्णन करने में भी रसभङ्ग होता है। जैसे वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर भी भानुमती और दुर्योधन के शृङ्गारवर्णन में विप्रवृत्ति।

इस प्रकार यहाँ दुर्योधन ने दैववश विषय के व्यामोह में पड़ कर यह सब कुछ किया इस प्रकार कथानायक के दैवी व्यामोह से उस दोष का परिहार नहीं हो सकता है; क्योंकि रसबन्धन ही कवि की प्रवृत्ति का मुख्य कारण है और इतिहास-वर्णन तो उसका उपायमात्र ही है। यह बात **'आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः'** यह बात प्रथम उद्योत की नवम कारिका में कह चुके हैं।

लोचनम्

मप्यगृह्णतो विजयवर्मवृत्तान्तवर्णने। अपि-तावदितिशब्दाभ्यां दुर्योधनादेस्तद्वर्णनं दूरापात्तमिति वेणीसंहारे द्वितीयाङ्कमेवोदाहरणत्वेन ध्वनति। अत एव वक्ष्यति-दैवव्यामोहितत्वमि'ति। पूर्वं तु सन्ध्यङ्गाभिप्रायेण प्रत्युदाहरणमुक्तम्। कथापुरुषस्येति प्रतिनायकस्येति यावत्।

होने पर भी। **व्यापारान्तेरति** दूसरे व्यापार से जैसे वत्सराजचरित में चतुर्थ अङ्क में रत्नावली का नामग्रहण न लेते हुये विजय वर्मा के वृत्तान्त के वर्णन में (वहाँ मूलग्रन्थ में अपि, तावत् इन दोनों शब्दों से दुर्योधनादि का यह वर्णन दूर से ही छोड़ दिया गया है इसलिये वेणीसंहार में दूसरे अङ्क को ही उदाहरण रूप में ध्वनित करता है। अतएव **वक्ष्यति दैवव्यामोहितत्वमिति** इस बात को कहेंगे कीं इसमें कारण दैववश व्यामोहित हो जाना है। पहले सन्धि के अङ्ग के अभिप्राय से प्रत्युदाहरण कहा गया है। **कथापुरुष्स्येति** कथा के प्रतिनायक का।

ध्वन्यालोकः

अत एव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहितरसभावनिबन्धेन च कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूपव्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन। पुनश्चायमन्यो रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत्परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौनःपुन्येन दीपनम्। उपभुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमानः परिम्लान-

इसलिये केवल इतिहास के वर्णन का प्राधान्य होने पर अङ्ग और अङ्गीभाव का विचार किये बिना ही रस और भाव का निबन्धन करने से कवियों से इस प्रकार के दोष हो जाया करते हैं। अतः रसादि रूप व्यङ्ग्य तत्परत्व ही उनके लिये उचित है। इसी दृष्टि से हमने ध्वनिनिरूपण का यत्न प्रारम्भ किया है, केवल ध्वनि के प्रतिपादन के आग्रह के कारण नहीं। फिर यह चौथा और रसभङ्ग का हेतु समझना चाहिये कि रस के परिपुष्टि के प्राप्त हो जाने पर भी बार-बार उसी को उद्दीप्त करना अपनी विभावादि सामग्री से परिपुष्ट और उपयुक्त रस बार-बार स्पर्श करने से मुरझाये हुये फूल के समान मलिन हो जाता है। अन्य व्यवहारों का जो अनौचित्य है वह भी रसभङ्ग का ही पाँचवाँ हेतु होता है। जैसे नायक

लोचनम्

***अत एव चेति।* यतो रसबन्ध एव मुख्यः कविव्यापारविषयः इतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्ये सति यदङ्गाङ्गिभावरहितानामविचारितगुणप्रधानभावानां रसभावानां निबन्धनं तन्निमित्तानि स्खलितानि सर्वे दोषा इत्यर्थः। *न ध्वनिप्रतिपादनमात्रेति।* व्यङ्ग्योऽर्थो भवतु मा वा भूत् कस्तत्राभिनिवेशः? काकदन्तपरीक्षाप्रायमेव तत्स्यादिति भावः। वृत्त्यनौचित्यमेव चेति बहुधा व्याचष्टे, *तदपीत्यनेन* चशब्दं कारिकागतं व्याचष्टे। रसभङ्गहेतुरेव**

अतएव चेति और इसीलिये। क्योंकि रसबन्ध ही मुख्य कवि-व्यापार का विषय है, इतिवृत्त मात्र के वर्णन का प्राधान्य होने पर अङ्गाङ्गिभाव से रहित एवं अविचारित गुणप्रधान-भाव वाले रसभावों का जो निबन्धन है उसके कारण स्खलित अर्थात् सारे दोष होते हैं न कि ध्वनि का प्रतिपादन मात्र। व्यङ्ग अर्थ हो चाहे मत हो उसमें कौन अभिनिवेश है? भाव यह कि वह कौवे की दन्तपरीक्षा के समान निष्फल होगा। अब १९वीं कारिका में कहे गये **वृत्यनौचित्यमेव च** का व्याख्यान करते हैं, रसभङ्ग का हेतु भी है इससे कारिका में प्रयुक्त एवकार का भिन्नक्रम कहा गया है अर्थात्

ध्वन्यालोकः

कुसुमकल्पः कल्पते। तथा वृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुरेव। यथा नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्चिदुश्चितां भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्भोगाभिलाषकथने। यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः। एवमेषां रसविरोधिनामन्येषां चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहितैर्भवितव्यम्। परिकरश्लोकाश्चात्र–

के प्रति किसी नायिका का उचित हावभाव के बिना स्वयं शब्दतः संभोगाभिलाष कहने से व्यवहार के अनौचित्य हो जाने से रसभङ्ग होता है। अथवा भरत प्रसिद्ध कैशिकी आदि वृत्तियों का अथवा दूसरे भामहकृत काव्यालङ्कार और उस पर भट्टोद्भटकृत भामहविवरण में प्रसिद्ध उपनागरिका आदि वृत्तियों का जो अनौचित्य अर्थात् अविषय निबन्धन वह भी रसभङ्ग का पाँचवाँ हेतु है। इस प्रकार इन रसनिबन्धन पाँचों हेतुओं का और इसी मार्ग से स्वयं उत्प्रेक्षित अन्यरसभङ्ग हेतुओं का परिहार करने में सत्कवियों को सावधान रहना चाहिये। इस विषय के संग्रह-श्लोक इस प्रकार है।

लोचनम्

इत्यनेनैवकारस्य कारिकागतस्य भिन्नक्रमत्वमुक्तम्। रसस्य विरोधायैवेत्यर्थः। *नायकं प्रतीति।* नायकस्य हि धीरोदात्तादिभेदभिन्नस्य सर्वथा वीररसानुवेधेन भवितव्यमिति तं प्रति कातरपुरुषोचितमधैर्ययोजनं दुष्टमेव। *तेषामिति* रसादीनाम्। *तैरिति* सुकविभिः। सोऽपशब्द इति दुर्यश इत्यर्थः। ननु कालिदासः परिपोषं गतस्यापि करुणस्य रतिविलापेषु पौनःपुन्येन दीपनमकार्षीत्, तत्कोऽयं रसविरोधिनां परिहारनिर्बन्ध इत्याशङ्क्याह–*पूर्व*

रस के विरोध के लिये ही नायक के प्रति-धीरोदात्त नायक आदि भेद से भिन्न नायक के सर्वथा वीररस का अनुवेध (संसर्ग) होना चाहिये। इसलिये उसके प्रति कातर पुरुषोचित अधैर्य की योजना सदोष ही होती है। **तेषामिति** उनका अर्थात् उन रसादि का **तैरिति** उन सुकवियों को भी **सोऽपशब्द** इति दुर्दश प्राप्त होता है। कालिदास ने परिपोष को प्राप्त भी करुण रस का रति के विलापों में बार-बार उद्दीपन किया है, तो रस के विरोधियों का यह कौन सा परिहार का निर्बन्ध (आग्रह) है? इस आशङ्का

ध्वन्यालोकः

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्ये तैः सदैवाप्रमादिभिः॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥
पूर्वे विशृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः।
तान्समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा॥
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः।।इति॥१९॥
विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला॥२०॥

मुख्येति– सुकवियों के व्यापार मुख्य विषय रसादि हैं, उनके निबन्धन में उन सत्कवियों को सदैव जागरूक रहना चाहिये। नीरस इति कवि का जो नीरस काव्य है वह उसके लिये महान् अपशब्द है। उस नीरस काव्य से वह कवि नहीं रह जाता और न कोई कवि रूप में उसका नाम स्मरण करता है।

इति उन नियमों का उल्लङ्घन करने वाले स्वच्छन्द रचना करने वाले पूर्वकवि प्रसिद्ध हो गये हैं, उनके उदाहरणों को लेकर बुद्धिमान् नव कवि को यह नीति नहीं छोड़नी चाहिये। वाल्मीकीति क्योंकि वाल्मीकि, व्यास इत्यादि जो प्रसिद्ध कवीश्वर हो चुके हैं उनके अभिप्राय के विरुद्ध हमने यह नीति निर्धारित नहीं की है।

विवक्षित इति– विवक्षित (प्रधान) रस के परिपुष्ट हो जाने पर तो बाह्य रूप अथवा अङ्गरूपता को प्राप्त विरोधियों का कथन निर्दोष है। प्रधान से अपनी

लोचनम्

इति। **न हि वसिष्ठादिभिः कथञ्चिद्यदि स्मृतिमार्गस्त्यक्तस्तद्वयमपि तथा त्यजामः। अचिन्त्यहेतुकत्वादुपरिचरितानामिति भावः। इति शब्देन परिकरश्लोकसमाप्तिं सूचयति॥१९॥**

पर कहते हैं– **पूर्व इति** यदि किसी प्रकार वसिष्ठ आदि ने स्मृतिमार्ग को छोड़ दिया तो हम उस प्रकार न छोड़ें। ऊपर उठे महान् लोगों के सम्बन्ध में कारण नहीं सोचा जाता। इति शब्द से परिकर श्लोकों की समाप्ति सूचित करते हैं॥१९॥

ध्वन्यालोकः

स्वसामग्र्या लब्धपरिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां विरोधिरसाङ्गानां बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां सतामुक्तिरदोषा। बाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्याभिभवत्वे सति नान्यथा। तथा च तेषामुक्तिः प्रस्तुतरसपरिपोषायैव सम्पद्यते। अङ्गभावं प्राप्तानां च तेषां विरोधित्वमेव निवर्तते। अङ्गभावप्राप्तिर्हि तेषां स्वाभाविकी समारोपकृता वा। तत्र येषां नैसर्गिकी तेषां तावदुक्तावविरोध एव। यथा विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याध्यादीनां तेषाञ्च तदङ्गानामेवादोषो

विभावादि सामग्री के आधार पर परिपुष्ट हो जाने पर विरोधियों (विरोधी) रस के अङ्गों का वाच्य अथवा अङ्गभाव प्राप्त रूप में वर्णन करने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि विरोधी रसाङ्गों का बाह्यत्व उनका अभिभव संभव होने पर ही हो सकता है अन्यथा नहीं। अतएव उनका बाह्यरूप वर्णन प्रस्तुत रस का परिपोषक ही होता है इसलिये विरुद्ध रसों का अङ्ग में प्रकृत रस से अभिभूत अर्थात् बाधित होकर उस विवक्षित प्रधान रस के परिपोषक ही हो जाते हैं अतः ऐसी दशा में उनका वर्णन करने में कोई हानि नहीं है।

अङ्गभाव प्राप्त हो जाने पर तो विरोध ही समाप्त हो जाता है, इसलिये अङ्गभाव को प्राप्त विरोधी रस के वर्णन में कोई हानि नहीं है। उन विरोधी रसाङ्गों का अङ्गभाव भी स्वाभाविक अथवा समारोपित दो रूपों से हो सकता है, उनमें जिनका स्वाभाविक अङ्गभाव है उनके वर्णन में तो अविरोध ही है जैसे विप्रलम्भ शृङ्गार में उसके अङ्गभूत व्याधि आदि का अविरोध है उन व्याधि आदि

लोचनम्

एवं विरोधिनां परिहारे सामान्येनोक्ते प्रतिप्रसवं नियतविषयमाह— ***विवक्षित इति। वाध्यानामिति।*** **बाध्यत्वाभिप्रायेणाङ्गत्वाभिप्रायेण वेत्यर्थः।** ***अच्छला*** **निर्दोषेत्यर्थः। बाध्यत्वाभिप्रायं व्याचष्टे—*बाध्यत्वं हीति।***

इस प्रकार विरोधियों के परिहार के विषय में सामान्यतः कहे जाने पर अब उसके नियतविषयक प्रतिप्रसव को कहते हैं— **विवक्षित इति**। बाध्यानामिति बाध्य अर्थात् बाध्यत्व के अभिप्राय से अथवा अङ्गत्व के अभिप्राय से? **अच्छला** निर्दोषः। बाध्यत्व के अभिप्राय की व्याख्या करते हैं— **बाध्यत्वं हीति** अङ्गभाव के अभिप्राय की उभय़ प्रकार से व्याख्या करते हैं उनमें प्रथम स्वाभाविक प्रकार का निरूपण करते

ध्वन्यालोकः

नातदङ्गानाम्। तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान्। आश्रयविच्छेदे रसस्यात्यन्तविच्छेदप्राप्तेः। करुणस्य तु तथाविधे विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत् न; तस्याप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतस्य च विच्छेदात्। यत्र तु करुणरसस्यैव काव्यार्थत्वं तत्राविरोधः। शृङ्गारे वा

व्यभिचारी भावों में उस विप्रलम्भ शृङ्गार के अङ्गभूत व्यभिचारी भावों का वर्णन भी दोषरहित है उससे भिन्न जो उस विप्रलम्भ शृङ्गार के अङ्ग नहीं है उनका वर्णन उचित नहीं है।

मरण को उस विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग हो सकने पर भी उसका वर्णन करना उचित नहीं है। क्योंकि आश्रय (आलम्बन विभाव) का ही नाश हो जाने से रस का अत्यन्त विनाश हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि ऐसे स्थान में करुण रस का परिपोषण होगा, क्योंकि रस का सर्वथा नाश तो नहीं हुआ यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वहाँ करुण रस प्रस्तुत रस नहीं है, और जो विप्रलम्भ

लोचनम्

अङ्गभावाभिप्रायमुभयथा व्याचष्टे, तत्र प्रथमं स्वाभाविकप्रकारं निरूपयति–*तदङ्गानामिति।* निरपेक्षभावतया सापेक्षभावविप्रलम्भ-शृङ्गारविरोधिन्यपि करुणे ये व्याध्यादयस्सर्वथाङ्गत्वेन दृष्टाः तेषामिति। ते हि करुणे भवन्त्येव त एव च भवन्तीति। शृङ्गारे तु भवन्त्येव नापि त एवेति। *अतदङ्गानामिति।* यथालस्यौग्रजुगुप्सानामित्यर्थः। *तदङ्गत्वे चेति।* 'सर्व एव *शृङ्गारे* व्यभिचारिण इत्युक्तत्वादि' ति भावः। आश्रयस्य स्त्रीपुरुषान्यतरस्याधिष्ठानस्यापाये रतिरेवोच्छिद्येत तस्या जीवित-सर्वस्वाभिमानरूपत्वेनोभयाधिष्ठानत्वात्। *प्रस्तुतस्येति।* विप्रलम्भस्येत्यर्थः।

हैं– **तदङ्गानामिति** उनके अङ्गों का निरपेक्षभाव वाला होने के कारण सापेक्षभाव वाले विप्रलम्भ शृङ्गार के विरोधी करुण में जो व्याधि आदि सर्वथा अङ्ग के रूप में देखे जाते हैं उनका। वे करुण में होते हैं ही और वे ही करुण में होते हैं। शृङ्गार में होते हैं ही किन्तु वे ही नहीं होते। **अतदङ्गानामिति** जो उनके अङ्ग नहीं है अर्थात् जैसे आलस्य, औग्र्य, जुगुप्सा। **तदङ्गत्वे चेति** और उनका अङ्ग होने पर क्योंकि शृङ्गार में सभी व्यभिचारी है यह कहा गया है। स्त्री-पुरुष के अन्यतर अधिष्ठान रूप आश्रय के नाश होने पर रति ही उच्छिन्न हो जायेगी। क्योंकि जीवितसर्वस्वाभिमान रूप होने के कारण वह उभयाधिष्ठान है। **प्रस्तुतस्येति** विप्रलम्भ का **काव्यार्थत्वमिति** अर्थात्

ध्वन्यालोकः

मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी। दीर्घकालप्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एवेत्येवंविधेतिवृत्तोपनिबन्धनं रसबन्धप्रधानेन कविना परिहर्तव्यम्।

शृङ्गार प्रस्तुत है उसका अत्यन्त विच्छेद हो जाता है। हाँ, जहाँ करुण रस काव्य का मुख्य रस है, वहाँ मरणदशा के वर्णन में कोई दोष नहीं है।

अथवा शृङ्गार में जहाँ शीघ्र ही उनका समागम फिर हो सके ऐसे स्थान पर मरण का वर्णन भी अत्यन्त विरोधी नहीं है, परन्तु जहाँ दीर्घकाल के बाद पुनः सम्मिलन की संभावना हो वहाँ तो बीच में रसप्रवाह का विच्छेद हो ही जाता है, अतएव रसप्रधान कवि को इस प्रकार के इतिवृत्त के वर्णन को बचाना ही चाहिये।

लोचनम्

_काव्यार्थत्वमिति।_ प्रस्तुतत्वमित्यर्थः। नन्वेवं सर्व एव व्यभिचारिण इति विघटितमित्याशङ्क्याह–_शृङ्गारे वेति।_ अदीर्घकाले यत्र मरणे विश्रान्तिपदबन्ध एव नोत्पद्यते तत्रास्य व्यभिचारित्वम्। _कदाचिदिति।_ यदि तादृशीं भङ्गिं घटयितुं सुकवेः कौशलं भवति। यथा–

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहन्यासादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥

अत्र स्फुटैव रत्यङ्गता मरणस्य। अत एव सुकविना मरणे

प्रस्तुतत्व। तब तो इस प्रकार सभी व्यभिचारी हो जायेंगे इसलिये विघटन होगा इस आशङ्का पर कहते हैं– **शृङ्गारे वेति** अथवा शृङ्गार में अदीर्घकाल में जहाँ मरण की प्रतीति की विश्रान्ति की प्रतिष्ठा ही नहीं उपपन्न होती वहाँ वह मरण व्यभिचारी होगा। **कदाचिदिति** यदि उस प्रकार भङ्गी की घटना के लिये सुकवि का कौशल होता है जैसे **तीर्थे तोयव्यतिकरेति**।

इन्दुमती के मर जाने पर ८ वर्ष की बीमारी के बाद अज ने गङ्गा और सरयू के सङ्गम पर अपना शरीर त्याग कर देवभाव को प्राप्त किया। उस देवलोक में पहले से पहुँची हुई पहले से अधिक चतुर कान्ता इन्दुमती के साथ नन्दनवन के भीतर बने लीलाभवनों में रमण करने लगा। रघु. ८।९५। यहाँ स्पष्ट ही मरण रति का अङ्ग है, अतएव सुकवि ने मरण में प्रतीति की विश्रान्ति का पदबन्ध मात्र नहीं किया है, क्योंकि

ध्वन्यालोकः

तत्र लब्धप्रतिष्ठे तु विवक्षिते रसे विरोधिरसाङ्गानां बाध्यत्वेनोक्तावदोषो यथा–

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति॥

उनमें प्रधान रस के लब्धप्रतिष्ठ (परिपुष्ट) हो जाने पर बाह्य रूप होने से विरोधी रसाङ्गों के वर्णन में कोई दोष नहीं होगा। इसका उदाहरण जैसे– **क्वाकार्यमिति** कहाँ यह अनुचित कार्य और कहाँ उज्ज्वल मेरा चन्द्रवंश (वितर्क)। क्या वह फिर कभी देखने को मिलेगी? (औत्सुक्य)। अरे मैंने तो कामादि दोषों का दमन करने के लिये शास्त्रों का श्रवण किया है (मति)। क्रोध में भी कैसा सुन्दर उसका मुख लगता था (स्मरण) मेरे इस व्यवहार को देखकर धर्मात्मा विद्वान् लोग क्या कहेंगे (शङ्का)। वह तो अब स्वप्न में भी दुर्लभ हो गई (दैन्य)। अरे चित्त! धैर्य धारण करो (धृति) न जाने कौन सौभाग्यशाली युवक उसके अधरामृत का पान करेगा (चिन्ता)

लोचनम्

पदबन्धमात्रं न कृतम्, अनूद्यमानत्वेनैवोपनिबन्धनात्। पदबन्धनिवेशे तु सर्वथा शोकोदय एवातिपरिमितकालप्रत्यापत्तिलाभेऽपि।

अथ दूरपरामर्शकसहृदयसामाजिकाभिप्रायेण मरणस्यादीर्घकाल-प्रत्यापत्तेरङ्गतोच्यते, हन्त तापसवत्सराजेऽपि यौगन्धरायणादिनीतिमार्गा-कर्णनसंस्कृतमतीनां वासवदत्तामरणबुद्धेरेवाभावात्करुणस्य नामापि न स्यादित्यलमवान्तरेण बहुना। तस्माद् दीर्घकालतात्र पदबन्धलाभ एवेति

अनूद्यमान रूप से ही उसका उपनिबन्धन है। पदबन्ध के निवेश में तो अतिपरिमित काल में प्रत्यापत्ति (समागम) लाभ होने पर भी सर्वथा शोक का उदय होता।

यदि दीर्घकाल में समागम हो जाने के कारण मरण को अङ्ग के रूप में दूर परामर्शक सामाजिक के अभिप्राय से कहते हैं तब तो खेद की बात है कि तापस-वत्सराज में भी यौगन्धरायण आदि के नीतिमार्ग के आकर्णन से संस्कृत बुद्धिवालों के वासवदत्ता के मरणबुद्धि के न होने के कारण वहाँ करुण का नाम भी नहीं होगा। अतः यह अवान्तर चर्चा व्यर्थ है इसलिये यहाँ दीर्घकालता पदबन्ध के लाभ में ही है यह मानना चाहिये। इस प्रकार नैसर्गिक अङ्गता का व्याख्यान किया। समारोपित

ध्वन्यालोकः

यथा वा पुण्डरीकस्य महाश्वेतां प्रति प्रवृत्तनिर्भरानुरागस्य द्वितीयमुनिकुमारोपदेशवर्णने। स्वाभाविक्यामङ्गभावप्राप्तावदोषो यथा–

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

अथवा जैसे कादम्बरी में महाश्वेता को देख कर उस पर पुण्डरीक के अत्यन्त मोहित हो जाने पर दूसरे मुनिकुमार के उपदेशवर्णन में प्रदर्शित शान्तरस के अङ्ग मुख्य रस के अङ्गों से बाधित हो जाते हैं और रति स्थिर रहती है इसलिये बाध्यत्वेन उनका प्रतिपादन दोषावह नहीं है।

विरोधी रसाङ्गों की स्वाभाविक अङ्गरूपता-प्राप्ति में अदोषता का उदाहरण, जैसे– **भ्रमिमिति** मेघ रूप सर्प से उत्पन्न विष (जल तथा विष) वियोगिनियों को चक्कर, बेचैनी, अलसहृदयता, प्रलय, (ज्ञान और चेष्टा का अभाव) मूर्च्छा,

लोचनम्

मन्तव्यम्। एवं नैसर्गिकाङ्गता व्याख्याता। समारोपितत्वे तद्विपरीतेत्यर्थ-लब्धत्वात्स्वकण्ठेन न व्याख्याता।

एवं प्रकारत्रयं व्याख्याय क्रमेणोदाहरति–*तत्रेत्यादिना। क्वाकार्यमिति।* वितर्क औत्सुक्येन मतिः स्मृत्या शङ्का दैन्येन धृतिश्चिन्तया च बाध्यते। एतच्च द्वितीयोद्द्योतारम्भ एवोक्तमस्माभिः। *द्वितीयेति।* विपक्षीभूतवैराग्यविभावाद्यवधारणेऽपि ह्यशक्यविच्छेदत्वेन दार्ढ्यमेवानु-रागस्योक्तं भवतीति भावः। *समारोपितायामिति।* अङ्गभावप्राप्ताविति शेषः।

अवस्था में उस नैसर्गिक के विपरीत यह अर्थ लब्ध हो जाने से स्वकण्ठतः व्याख्यान नहीं किया है।

इस प्रकार भय का व्याख्यान करके क्रमशः उदाहरण देते है– **तत्रेत्यादि** यह अकार्य कहाँ इत्यादि यहाँ वितर्क औत्सुक्य से, मति स्मृति से, शङ्का दैन्य से और धृति चिन्ता से बाधित होती है; इसे द्वितीय उद्योत के आरम्भ में (उद्योत २ का. नं. ३ के व्याख्यान में) ही हमने कह दिया है। **द्वितीयेति** भाव यह कि विपक्षीभूत वैराग्य के विभाव आदि का अवधारण होने पर भी विच्छेद के अशक्य होने के कारण अनुराग का दाढ्र्य ही उक्त होता है। **समारोपित इति** अङ्गप्राप्ति में यह शेष है।

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ। समारोपितायामप्यविरोधो यथा–'पाण्डुक्षामम्'-इत्यादौ।

यथा वा–'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादौ। इयं चाङ्गभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात्प्रधान एकस्मिन्वाक्यार्थे रसयोर्भावयोर्वा परस्परविरोधिनोर्द्वयोरङ्गभावगमनं तस्यामपि न दोषः। यथोक्तं 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादौ। कथं तत्राविरोध इति चेत्,

मोह, शरीर सन्नता और मरण उत्पन्न कर देता है इत्यादि में समारोपित अङ्गता में भी अविरोध होता है। उसका उदाहरण, जैसे– **पाण्डुक्षाममित्यादि** में अथवा जैसे **कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन** इत्यादि में।

यह आगे वक्ष्यमाण अङ्गभाव-प्राप्ति दूसरे प्रकार की है कि जहाँ आधिकारिक होने से एक प्रधान वाक्यार्थ में परस्पर विरोधी दो रसों या भावों की अङ्गरूपता प्राप्त हो, इस प्रकार कि अङ्गता में भी विरोधी रसाङ्गों के वर्णन में दोष नहीं होता जैसे– **'क्षिप्तो हस्तावलग्नः'** इत्यादि में कह चुके हैं।

लोचनम्

पाण्डुक्षामं वक्त्रं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः॥

अत्र करुणोचितो व्याधिः श्लेषभङ्ग्या स्थापितः। कोपादिति बद्ध्वेति हन्यत इति च रौद्रानुभावानां रूपकबलादारोपितानां तदनिर्वाहादेवाङ्गत्वम्। तच्च पूर्वमेवोक्तं 'नातिनिर्वहणैषिता' इत्यत्रान्तरे। *अन्येति।* चतुर्थोऽयं प्रकार इत्यर्थः। पूर्वं हि विरोधिनः प्रस्तुतरसान्तरेऽङ्गतोक्ता, अधुना तु

हे सखि! तेरा पीला और मुरझाया चेहरा, सरस हृदय और सालस देह तेरे हृदय में स्थित नितान्त असाध्य रोग की सूचना देते हैं जिसे लोग क्षेत्रिय रोग कहते हैं, जो इस शरीर से साध्य न हो।

यहाँ करुणा के उचित व्याधि श्लेष की भङ्गी से स्थापित है। कोप में बाँधकर पीटा जाता है, रूपक के बल से आरोपित इन रौद्र के अनुभावों का उस रूपक के निर्वाह न होने से ही अङ्गत्व है, इसे पहले कह चुके हैं। **'नाति निर्वहणैषिता'** इस कारिका के प्रसङ्ग में। **अन्येति** अर्थात् यह चौथा प्रकार है। शेष यह कि विरोधी रसाङ्ग की प्रस्तुत रसान्तर में अङ्गता कही गई, अब दो विरोधी रसाङ्गों की प्रस्तुत वस्त्वन्तर

ध्वन्यालोकः

द्वयोरपि तयोरन्यपरत्वेन व्यवस्थानात्। अन्यपरत्वेऽपि विरोधिनोः कथं विरोधनिवृत्तिरिति चेत्, उच्यते–विधौ विरुद्धसमावेशस्य दुष्टत्वं नानुवादे।

यह अविरोध किस प्रकार होता है? यदि कोई पूछे तो उत्तर यह है कि उन ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण दोनों रसों के अन्य शिवप्रभावातिशयमूलक भक्ति के अङ्ग रूप में व्यवस्थित होने से यहाँ अविरोध है।

पुनः प्रश्न करते है– अन्य के अङ्ग होने पर भी उन दो विरोधी रसों के विरोध की निवृत्ति कैसे होती है? इसका समाधान यह है कि विधि अंश में दो विरोधियों के समावेश करने में दोष होता है, अनुवाद में नहीं।

लोचनम्

द्वयोर्विरोधिनोर्वस्त्वन्तरेऽङ्गभाव इति शेषः। *क्षिप्त इति।* व्याख्यातमेतत् 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे' इत्यत्र। नन्वन्यपरत्वेऽपि स्वभावो न निवर्तते, स्वभावकृत एव च विरोध इत्यभिप्रायेणाह–*अन्यपरत्वेऽपीति। विरोधिनोरिति।* तत्स्वभावयोरिति हेतुत्वाभिप्रायेण विशेषणम्। *उच्यत इति।* अयं भावः–सामग्रीविशेषपतितत्वेन भावानां विरोधाविरोधौ न स्वभावमात्रनिबन्धनौ शीतोष्णयोरपि विरोधाभावात्। *विधाविति।* तदेव कुरु मा कार्षीरिति यथा। विधिशब्देनात्रैकदा प्राधान्यमुच्यते। अत एवातिरात्रे षोडशिनं गृह्णन्ति न गृह्णन्तीति विरुद्धविधिर्विकल्पपर्यवसायीति वाक्यविदः। *अनुवाद इति।* अन्याङ्गतायामित्यर्थः। क्रीडाङ्गत्वेन ह्यत्र विरुद्धानामर्थानाम-

में अङ्गभाव कहते है **क्षिप्त इति** इसका व्याख्यान कर चुके हैं। यह **प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे** इस कारिका में **व्याख्यात है।**

संदेह करते हैं कि अन्यपर होने पर भी स्वभाव निवृत्त नहीं होता। और विरोध स्वभावकृत ही होता है, इस पर कहते हैं– **अन्यपरत्वेऽपीति विरोधिनोरिति**, दो विरोधियों का उस विरोध के स्वभाव वाले, यह हेतुत्व के अभिप्राय से विशेषण है। **उच्यते** इति भाव यह है कि सामग्रीविशेष में अनुप्रवेश के कारण भावों के विरोध-अविरोध होते हैं न कि स्वभावमात्र के कारण। क्योंकि सामग्रीविशेष के अनुप्रवेश के कारण शीत और उष्ण में भी विरोध नहीं होता। **विधाविति**-विधि में, जैसे– यही करो मत करो। विधि शब्द से यहाँ एक समय प्राधान्य कहा गया है अतएव **अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णन्ति न गृह्णन्ति**' इस विरुद्ध वाक्य को विकल्प पर्यवसायी मानते हैं। वाक्य-प्रमाण मानने वाले महामीमांसका यह कथन है। अनुवाद में। अर्थात् अन्य की

ध्वन्यालोकः

यथा–

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥

इत्यादौ। अत्र हि विधिप्रतिषेधयोरनूद्यमानत्वेन समावेशे न विरोधस्तथेहापि भविष्यति। श्लोके ह्यस्मिन्नीर्ष्याविप्रलम्भशृङ्गार-करुणवस्तुनोर्न विधायमानत्वम्। त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्या-र्थत्वात्तदङ्गत्वेन च तयोर्व्यवस्थानात्।

जैसे– **एहीति** आशारूप ग्रह के चक्कर में पड़े हुये याचकों के साथ धनी लोग आओ, जावो, बैठ जाओ, खड़े हो जाओ, बोलो, मत बोलो, चुप रहो इस प्रकार कहते हुये खेलवाड़ करते हैं। इस उदाहरण में परस्पर विरोधी बातें अनुवाद रूप में कही गई हैं, अतः दोष नहीं है।

यहाँ जिस प्रकार **'एहि आगच्छ आदि'** में विधि और प्रतिषेध के अनुद्यमान रूप में सन्निवेश करने से दोष नहीं है इसी प्रकार **'क्षिप्तो हस्तावलग्नः'** इत्यादि में भी समझना चाहिये। **'क्षिप्तो हस्तावलग्नः'** इत्यादि श्लोक में इर्ष्याविप्रलम्भ और करुण विधीयमान नहीं है। त्रिपुरारि शिव के प्रभावतिशय के मुख्य वाक्यार्थ होने और ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण इन दोनों के अङ्ग रूप में स्थित होने से उनका परस्पर विरोध नहीं है।

लोचनम्

भिधानमिति राजनिकटव्यवस्थितातताियिद्वयन्यायेन विरुद्धानामप्यन्य-मुखप्रेक्षितापरतन्त्रीकृतानां श्रौतेन क्रमेण स्वात्मपरामर्शेऽप्यविश्राम्यताम्, का कथा परस्पररूपचिन्तायां येन विरोधः स्यात्। केवलं विरुद्धत्वादरुणाधिकरणस्थित्या यो वाक्यीय एषां पाश्चात्त्यः सम्बन्धः सम्भाव्यते स विघटताम्।

अङ्गता में। यहाँ क्रीडा अर्थात् खिलवाड़ अङ्ग रूप से अभिधान है। इस कारण राजा के निकट खड़े दो आततायी हैं, इस न्याय के अनुसार अन्यमुखप्रेक्षिता से परतन्त्र (उपसर्जनीकृत) हुये श्रुत क्रम के अनुसार अपने परामर्श में भी विश्रान्ति न प्राप्त करते हुये विरुद्धों के भी परस्पर रूप की चिन्ता की कोई बात ही नहीं, जिससे विरोध होगा। केवल विरुद्ध होने के कारण अरुणाधिकरणन्याय के अनुसार जो वाक्य प्रतिपाद्य पाश्चात्त्य सम्बन्ध संभावित होगा वह केवल विघटित होगा।

ध्वन्यालोकः

न च रसेषु विध्यनुवादव्यवहारो नास्तीति शक्यं वक्तुम्, तेषां वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात्। वाक्यार्थस्य वाच्यस्य च यौ विध्यनुवादौ तौ तदाक्षिप्तानां रसानां केन वार्येते। यैर्वा साक्षात्काव्यार्थता रसादीनां नाभ्युपगम्यते, तैस्तेषां तन्निमित्तता तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या। तथाप्यत्र श्लोके न विरोधः। यस्मादनूद्यमानाङ्गनिमित्तोभयरसवस्तु-

रसों में विधि और अनुवाद व्यवहार नहीं होता, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पुन: रसों को वाक्यार्थ रूप में स्वीकार किया जाता है। वाच्य रूप वाक्यार्थ में जो विधि और अनुवादरूपता रहती है, उसको उस वाच्यार्थ से आक्षिप्त व्यङ्ग्य रसादि में कौन रोक सकता है? जब वाच्यार्थ में विधि अनुवादरूपता से रह सकती है तो व्यङ्ग्य रसादि में नहीं रह सकता है, यह कैसे कहा जा सकता है अर्थात् उनमें भी व्यङ्ग्य रह सकता है।

अथवा जो रसादि को साक्षात् काव्य का अर्थ नहीं मानते उनको भी उन रसादि की तन्निमित्तता (वाक्यार्थव्यङ्ग्यता) अवश्य स्वीकार करनी होगी। तब भी **'क्षिप्तो हस्तावलग्नः'** इस श्लोक में विरोध नहीं रहता। क्योंकि अनूद्यमानो

लोचनम्

ननु प्रधानतया यद्वाच्यं तत्र विधिः अप्रधानत्वेन तु वाच्येऽनुवादः। न च रसस्य वाच्यत्वं त्वयैव सोढमित्याशङ्कमानः परिहरति–*न चेति।* प्रधानाप्रधानत्वमात्रकृतौ विध्यनुवादौ, तौ च व्यङ्ग्यतायामपि भवत एवेति भावः। मुख्यतया च रस एव काव्यवाक्यार्थ इत्युक्तम्। तेनामुख्यतया यत्र सोऽर्थस्तत्रानूद्यमानत्वं रसस्यापि युक्तम्। यदि वानूद्यमानविभावादिसमाक्षिप्तत्वाद्रसस्यानूद्यमानता तदाह–*वाक्यार्थस्येति।* यदि वा मा

संहेद करते है– **नन्विति**– प्रधान रूप से जो वाच्य है वह विधि हैं और अप्रधान रूप से वाच्य में अनुवाद है और रस की वाच्यता तो तुमने ही सहन नहीं की है, इस आशङ्का का परिहार करते हैं– **न चेति** नहीं। भाव यह कि विधि और अनुवाद प्रधान अप्रधान मात्र कृत हैं और वे दोनों व्यङ्ग्यता में भी होते ही हैं, यह कहा जा चुका है। मुख्य रूप से रस ही काव्यवाक्य का अर्थ है इसलिये जहाँ वह अर्थ अमुख्य रूप से है वहाँ रस का अनूद्यमानत्व ठीक है। अथवा अमूद्यमानत्व विभाव आदि द्वारा समाक्षिप्त होने के कारण रस की अनूद्यमानता है, उसे कहते है– **वाक्यार्थस्येति** अथवा

ध्वन्यालोकः

सहकारिणो विधीयमानांशाद्भावविशेषप्रतीतिरुत्पद्यते ततश्च न कश्चिद्विरोधः। दृश्यते हि विरुद्धोभयसहकारिणः कारणात्कार्य-विशेषोत्पत्तिः। विरुद्धफलोत्पादनहेतुत्वं हि युगपदेकस्य कारणस्य

अङ्ग तन्निमित्तक जो उभयरसवस्तु (करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार रूप उभय रसवस्तु या रसजातीय तत्त्व) यह जिसका सहकारी है एवं विधीयमान अंश (शाम्भवशराग्निजन्यदुरितदाह) से भावविशेष (रतिर्देवादिविषया भावः प्रेयोऽलङ्कार-विषयक शिव की प्रतापातिशयमूलक भक्ति) की प्रतीति उत्पन्न होती है, इसलिये कोई विरोध नहीं है। दो विरुद्ध (जल और अग्नि रूप शीतोष्ण) जिसके सहकारी है ऐसे मुख्य कारण से कार्यविशेष (ओदन आदि) की उत्पत्ति देखी जाती है। तब तो फिर विरोध का कोई अर्थ ही नहीं रहा। वह सर्वथा अकिञ्चित्कर हो जाता है, ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि एक कारण का

लोचनम्

भूदनूद्यमानतया विरुद्धयो रसयोः समावेशः, सहकारितया तु भविष्यतीति सर्वथाविरुद्धयोर्युक्तियुक्तोऽङ्गाङ्गिभावो नात्र प्रयासः कश्चिदिति दर्शयति– *यैर्वेति। तन्निमित्ततेति।* काव्यार्थो विभावादिनिमित्तं येषां रसादीनां ते तथा तेषां भावस्तत्ता। अनूद्यमाना ये हस्तक्षेपादयो रसाङ्गभूता विभावादयस्त-न्निमित्तं यदुभयं करुणविप्रलम्भात्मकं रसवस्तु रससजातीयं तत्सहकारि यस्य विधीयमानस्य शाम्भवशरवह्निजनितदुरितदाहलक्षणस्य तस्माद्भा-वविशेषे प्रेयोलङ्कारविषये भगवत्प्रभावातिशयलक्षणे प्रतीतिरिति सङ्गतिः। विरुद्धं यदुभयं वारितेजोगतं शीतोष्णं तत्सहकारि यस्य तण्डुलादेः कारणस्य

यदि अनूद्यमान रूप से विरुद्ध रसों का समावेश मत हो किन्तु सहकारी रूप से होगा। इस प्रकार सर्वथा दो विरुद्धों का अङ्गाङ्गिभाव युक्तियुक्त है यहाँ कोई प्रयास नहीं यह दिखाते हैं– **यैर्वेति। तन्निमित्ततेति** वाच्यार्थ विभावादि निमित्त जिन रसादि का है उनका भाव। अनूद्यमान जो रसाङ्गभूत हस्तक्षेप आदि विभाव आदि तन्निमित्त जो उभय करुणविप्रलम्भात्मक रस वस्तु अर्थात् (सज़ातीय वस्तु) वह सहकारी है जिनका ऐसे शिवजी के बाण वह्नि से उत्पन्न दुरितों का दाह रूप विधीयमान अंश से भावविशेष अर्थात् भगवत्प्रभावातिशयरूप प्रेयोऽलङ्कार के विषय में प्रतीति है यह सङ्गति है। विरुद्ध जो उभय जल और तेजगत शीत-उष्ण वह सहकारी है जिस तण्डुल आदि कारण का उससे कोमल भक्त (भात) का निर्माण कर कार्यविशेष की उत्पत्ति देखी

ध्वन्यालोक:

विरुद्धं न तु विरुद्धोभयसहकारित्वम्। एवंविधविरुद्धपदार्थविषयः कथमभिनयः प्रयोक्तव्य इति चेत्, अनूद्यमानैवंविधवाच्यविषये या वार्ता सात्रापि भविष्यति। एवं विध्यनुवादनयाश्रयेणात्र श्लोके परिहृतस्तावद्विरोधः।

युगपत् (एक साथ) विरुद्ध फलों के उत्पादन का हेतुत्व मानना यही विरुद्ध है, दो विरोधियों को उसका सहकारी मानने में कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार का विरुद्ध पदार्थविषयक अभिनय कैसे मानना चाहिये? यह प्रश्न हो तो इस प्रकार के विरुद्ध अनूद्यमान वाच्य एहि, गच्छ, पत, उत्तिष्ठ आदि के विषय में जो बात है वही यहाँ भी होगी। (अर्थात् एहि, गच्छ, पत,

लोचनम्

तस्मात्कार्यविशेषस्य कोमलभक्तकरणलक्षणस्योत्पत्तिर्दृश्यते। सर्वत्र हीत्थमेव कार्यकारणभावो बीजाङ्कुरादौ नान्यथा।

ननु विरोधस्तर्हि सर्वत्राकिञ्चित्करः स्यादित्याशङ्क्याह–*विरुद्धफलेति।* तथा चाहुः– 'नोपादानं विरुद्धस्य' इति। नन्वभिनेयार्थे काव्ये यदीदृशं वाक्यं भवेत्तदा यदि समस्ताभिनयः क्रियते तदा विरुद्धार्थविषयः कथं युगपदभिनयः कर्तुं शक्य इत्याशयेनाशङ्कमान आह–*एवमिति।* एतत्परिहरति–*अनूद्यमानेति।* अनूद्यमानमेवंविधं विरुद्धाकारं वाच्यं यत्र तादृशो यो विषयः 'एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ' इत्यादिस्तत्र या वार्ता सात्रापीति।

एतदुक्तं भवति–'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इत्यादौ प्राधान्येन भीतविप्लुतादिदृष्ट्युपपादनक्रमेण प्राकरणिकस्तावदर्थः प्रदर्शयितव्यः।

जाती है। सभी जगह इसी प्रकार का कार्यकारणभाव है। बीज अङ्कुर आदि में अन्यथा नहीं है। तब तो विरोध सर्वथा अकिञ्चितकर ही होगा? इस आशङ्का पर कहते हैं– **विरुद्धफलेति** जैसा कि कहा भी गया है विरुद्ध के उपादान नहीं। अभिनेयार्थ काव्य में यदि इस प्रकार का वाक्य हो तब यदि समस्त अभिनय किया जाय तब विरुद्ध अर्थों के सम्बन्ध का अभिनय कैसे किया जा सकता है? इस आशय की आशङ्का पर कहते हैं– **एवमिति** इसका परिहार करते हैं **अनूद्यमानेति**– अनूद्यमान इस प्रकार का अर्थात् विरुद्ध आकार का वाच्य जहाँ है उस प्रकार का जो विषय आवो, जाओ, बैठो, उठो इत्यदि है वहाँ जैसे अभिनय होगा वैसे यहाँ भी।

इतनी बात यहाँ कही गई **क्षिप्तो हस्तावलग्न**' इत्यादि में प्राधान्यत: भीत विलुप्त आदि दृष्टियों को उपपन्न करने के क्रम से प्राकरणिक अर्थ का प्रदर्शन अभिनय

ध्वन्यालोकः

किं च नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित्प्रभावतिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति

उत्तिष्ठ आदि का अभिनय जिस प्रकार किया जायगा उसी प्रकार **'क्षिप्तो हस्तावलग्नः**। में भी करुण और शृङ्गार का अभिनय किया जा सकता है। इसी प्रकार विधि और अनुवाद की नीति का आश्रय लेकर इस **'क्षिप्तो हस्तावलग्न'** में विरोध का परिहार हो गया।

किंच किसी प्रशंसनीय उत्कर्षप्राप्त नायक के प्रभायातिशय के वर्णन में उसके शत्रुओं का अथवा उन शत्रुओं से सम्बन्ध रखने वाले का जो करुण रस

लोचनम्

यद्यप्यत्र करुणोऽपि पराङ्गमेव तथापि विप्रलम्भापेक्षया तस्य तावन्निकटं प्राकरणिकत्वं महेश्वरप्रभावं प्रति सोपयोगत्वात्। विप्रलम्भस्य तु कामीवेत्युत्प्रेक्षोपमाबलेनायातस्य दूरत्वात्। एवं च सास्त्रनेत्रोत्पलाभिरत्यन्तं प्राधान्येन करुणोपयोगाभिनयक्रमेण लेशतस्तु विप्रलम्भस्य करुणेन सादृश्यात्सूचनां कृत्वा। कामीवेत्यत्र यद्यपि प्रणयकोपोचितोऽभिनयः कृतस्तथापि ततः प्रतीयमानोऽप्यसौ विप्रलम्भः समनन्तराभिनीयमाने स दहतु दुरितमित्यादौ साटोपाभिनयसमर्पितो यो भगवत्प्रभावस्तत्राङ्गतायां पर्यवस्यतीति न कश्चिद्विरोधः। एतं विरोधपरिहारमुपसंहरति–*एवमिति।*

विषयान्तरे तु प्रकारान्तरेण विरोधपरिहारमाह–*किञ्चेति।* परीक्षकाणामिति सामाजिकानां विवेकशालिनाम्। *न वैक्लव्यमिति।* न

करना चाहिये। यद्यपि यहाँ करुण भी पराङ्ग ही है तथापि विप्रलम्भ की अपेक्षा उसका प्राकरणिकत्व निकट हैं, क्योंकि यह महेश्वर के प्रभाव के प्रति उपयोगी है; किन्तु कामी की भाँति इस उत्प्रेक्षा या उपमा के बल से प्राप्त विप्रलम्भ दूर पड़ जाता है। और इस प्रकार आँसू भरे नेत्रकमलों वाली इस अत्यन्त प्राधान्यतः करुण के उपयोग के अभिनय के क्रम से लेशतः विप्रलम्भ की करुण के सादृश्य से सूचना करके अभिनय है। **'कामी की भाँति'** यहाँ पर यद्यपि प्रणयकोप के उचित अभिनय किया गया है तथापि उससे प्रतीयमान भी वह विप्रलम्भ तुरन्त बाद में अभिनीयमान 'वह दुरित को दहन करें।' इत्यादि में सापेक्ष अभिनय से समर्पित जो भगवान् का प्रभाव है उसकी अङ्गता में पर्यवसन्न हो जाता है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं। इस विरोध के परिहार का उपसंहार करते हैं– **एवमिति।**

अब विषयान्तर में प्रकारान्तर से विरोध का परिहार करते हैं– **किञ्चेतिपरीक्षकाणामिति** विवेकशाली सामाजिक। **न वैक्लव्यमिति** व्याकुलता नहीं–

ध्वन्यालोकः

प्रत्युत प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यत इत्यतस्तस्य कुण्ठशक्तिकत्वात्तद्विरोधविधायिनो न कश्चिद्दोषः। तस्माद्वाक्यार्थीभूतस्य रसस्य भावस्य वा विरोधी रसविरोधीति वक्तुं न्याय्यः, न त्वङ्गभूतस्य कस्यचित्।

होता है वह विवेकशील प्रेक्षकों को विकल नहीं करता अपितु आनन्दातिशय का कारण बनता है। अतएव विरोध करने वाले उस करुण के कुण्ठित शक्ति (चित्तद्रुतिरूप स्वकार्योत्पादन में असमर्थ) होने से कोई दोष नहीं होता। इसलिये वाक्यार्थीभूत (प्रधान) रस अथवा भाव के विरोधी को ही रसविरोधी कहना उचित है किसी अङ्गभूत गौण के विरोधी को रसविरोधी कहना उचित नहीं।

लोचनम्

तादृशे विषये चित्तद्रुतिरुत्पद्यते करुणास्वादविश्रान्त्यभावात्, किन्तु वीरस्य योऽसौ क्रोधो व्यभिचारितां प्रतिपद्यते तत्फलरूपोऽसौ करुणरसः स्वकारणाभिव्यञ्जनद्वारेण वीरास्वादातिशय एव पर्यवस्यति। यथोक्तम्– 'रौद्रस्य चैव यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः' इति तदाह–*प्रीत्यतिशयेति।* अत्रोदाहरणम्–

> **कुरबक कुचाघातक्रीडासुखेन वियुज्यसे**
> **बकुलविटपिन् स्मर्तव्यं ते मुखासवसेचनम्।**
> **चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक सशोकता-**
> **मिति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः॥**

***भावस्य वेति।* तस्मिन् रसे स्थायिनः प्रधानभूतस्य व्यभिचारिणो वा यथा विप्रलम्भशृङ्गार औत्सुक्यस्य।**

इस प्रकार के विषय में चित्त द्रवित नहीं होता, क्योंकि करुण के आस्वाद की विश्रान्ति नहीं होती। किन्तु वीररस का जो वह क्रोध व्यभिचारी भाव बन रहा है उसका फलरूप यह करुणरस अपने कारणों में अभिव्यञ्जन के द्वारा वीर के अतिशय आस्वाद में ही पर्यवसित होता है। जैसा कि कहा है– रौद्र रस का जो ही कर्म है उसे करुण रस समझना चाहिये। इसी बात को कहते हैं' **प्रीत्यातिशयेति** इसका उदाहरण–

हे कुरबक! अब तुम कुचाघात की क्रीडाओं से विमुक्त हो रहे हो, हे बकुलवृक्ष, मुखासव द्वारा हमारे द्वारा सिञ्चन तुम याद रखना, अशोक! अब तुम चरणाघात से रहित होकर सशोक बन जाओगे, इस प्रकार जिसके शत्रुओं की पत्नियाँ अपने नगर के छोड़ने के अवसर पर कह रही थीं।

ध्वन्यालोकः

अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित्करुणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गारवस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते। यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं शोकावेशमुपजनयन्ति। यथा–

अथवा वाक्यार्थ रूप किसी करुण रस के विषय को उसी प्रकार के वाक्यार्थरूप शृङ्गारविषय के साथ किसी सुन्दर ढंग से जोड़ देने पर वह रस का परिपोषक हो ही जाता है; क्योंकि स्वभावतः सुन्दर पदार्थ शोचनीय अवस्था में प्राप्त हो जाने पर पूर्व अवस्था के अनुभूतचर सौन्दर्य के स्मरण से और भी अधिक शोकावेग को उत्पन्न करते हैं जैसे— **अयमिति।**

लोचनम्

अधुना पूर्वस्मिन्नेव श्लोके क्षिप्त इत्यादौ प्रकारान्तरेण विरोधं परिहरति–*अथवेति।* अयं चात्र भावः–पूर्वं विप्रलम्भकरुणयोरन्यत्राङ्गभावगमनान्निर्विरोधत्वमुक्तम्। अधुना तु स विप्रलम्भः करुणस्यैवाङ्गतां प्रतिपन्नःकथं विरोधीति व्यवस्थाप्यते– तथा हि करुणो रसो नामेष्टजनविनिपातादेर्विभावादित्युक्तम्। इष्टता च नाम रमणीयतामूला। ततश्च कामीवार्द्रापराध इत्युत्प्रेक्षयेदमुक्तम्। शांभवशरवह्निचेष्टितावलोकने प्राक्तनप्रणयकलहवृत्तान्तः स्मर्यमाण इदानीं विध्वस्ततया शोकविभावतां प्रतिपद्यते। तदाह–*भङ्गिविशेषेति।* अग्राम्यतया विभावानुभावादि-

भावस्य वेति उस रस में स्थायी प्रधानभूत का अथवा व्यभिचारी का, जैसे विप्रलम्भ शृङ्गार में औत्सुक्य का जो विरोधी है वह रसविरोधी है।

अब पूर्वश्लोक में आये हुये क्षिप्त इत्यादि में प्रकारान्तर से विरोध का परिहार करते हैं– **अथवेति**– यहाँ इसका भाव इस प्रकार है– पहले विप्रलम्भ और करुण का अन्यत्र (शिव जी के अतिशय प्रभाव में) अङ्गत्व प्राप्त होने से विरोध का अभाव कहा गया। अब वह विप्रलम्भ करुण का ही अङ्गत्व प्राप्त कर कैसे विरोधी होगा? इस शङ्का पर व्यवस्था करते है– जैसा कि करुण रस इष्टजन के विनिपात आदि के विभावादि से होता है यह कह चुके है। रमणीयता इष्टता के मूल में होती है। और उस कारण 'आर्द्रापराध कामी की भाँति' यह उत्प्रेक्षा से कहा है। शिव जी की शराग्नि के कार्यावलोकन से स्मर्यमाण प्राक्तन प्राप्त प्रणयकलह का वृत्तान्त अब विध्वस्त होने के कारण शोक का विभाव बन गया है। उसे कहते हैं– **भङ्गिविशेषेति**। अर्थात् विभाव

ध्वन्यालोकः

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्युरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

इत्यादौ। तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरति स्म तथा व्यवहृतवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम्। तस्माद्यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषाभावः। इत्थं च–

संभोगावस्था में करधनी को हटाने वाला, उन्नत उरोजों का मर्दन करने वाला, नाभि, जङ्घा और नितम्बभाग का स्पर्श करने वाला और नीवी को ढीला करने वाला मेरे प्रियतम का यह वही हाथ है, इत्यादि में।

इसलिये यहाँ आर्द्रापराघ कामी जैसा व्यवहार करता है उसी प्रकार शाम्भव शराग्नि ने त्रिपुर सुन्दरियों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया। अतएव स्मर्यमाण कामी-व्यवहार वर्त्तमान करुण रस का परिपोषक होता है। इस प्रकार से निर्विरोधत्व है ही अत: इस पर जितना अधिक विचार करते हैं उतना-उतना

लोचनम्

रूपताप्रापणया ग्राम्योक्तिरहितयेत्यर्थः। अत्रैव दृष्टान्तमाह–*यथा अयमिति।* अत्र भूरिश्रवसः समरभुवि निपतितं बाहुं दृष्ट्वा तत्कान्तानामेतदनुशोचनम्। रशनां मेखलां सम्भोगावसरेषूर्ध्वं कर्षतीति रशनोत्कर्षी। अमुना विरोधोद्धरणप्रकारेण बहुतरं लक्ष्यमुपपादितं भवतीत्यभिप्रायेणाह–*इत्थं चेति।* होमाग्निधूमकृतं बाष्पाम्बु यदि वा बन्धुगृहत्यागदुःखोद्भवम्। भयं कुमारीजनोचितः साध्वसः। एवमियताङ्गभावं प्राप्तानामुक्तिरच्छलेति कारिकाभागोपयोगि निरूपितमित्युपसंहरति-*एवमिति। तावद्ग्रहणेन* वक्तव्यान्तरमप्यस्तीति सूचयति॥२०॥

अनुभाव आदि रूपता को प्राप्त कराने वाली ग्राम्योक्तिरहित अग्राम्यता से। यहाँ दृष्टान्त कहते हैं– **यथा अयमिति। अत्र भूरिश्रवसः** इति युद्धक्षेत्र में भूरिश्रवा के गिरे बाहु को देख कर उसकी पत्नियों का यह अनुशोचन है– रशना अर्थात् मेखला को संभोग के अवसरों पर ऊर्ध्व कर्षण करने वाला अत: रशनोत्कर्षी। इस प्रकार विरोध के उद्धरण में अनेक लक्ष्य उपपादित हो जायेगे, इस अभिप्राय से कहते हैं– **इत्थं चेति**, होमाग्नि के धूयें से उत्पन्न वाष्पजल अथवा बन्धुजनों एवं गृह के त्याग के दु:ख से उत्पन्न (भय अर्थात् कुमारी जन के उचित साध्वस। इस प्रकार इतने से अङ्गभाव को प्राप्त विरोधियों का कथन छलरहित (निर्दोष) है। इस कारिकाभाग के उपयोगी है उसका

ध्वन्यालोक:

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव पतद्बाष्पाम्बुधौताननाः ।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वद्वैरिनाथोऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा ।।इव।।

इत्येवमादीनां सर्वेषामेव निर्विरोधत्वमवगन्तव्यम्।

एवं तावद्रसादीनां विरोधिरसादिभिः समावेशासमावेशयोर्विषयविभागो दर्शितः।।२०।।

अधिक दोषाभाव प्रतीत होता है। और इस प्रकार **क्रामन्त्य** इति। हे राजन्, घायल हुई अपने सुकोमल अङ्गलियों से रक्त टपकाती हुई, अतएव मानो महावर लगे हुये पैरों से कुशाङ्कुर भूमि पर चलती हुई गिरते हुये आँसुओं से अपना मुख धोती हुई भयभीत होने से पतियों के हाथ में अपना हाथ पकड़ाये हुये तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रियाँ इस समय फिर दूसरे विवाह के लिये उद्यत सी दावाग्नि के चारों ओर घूम रही है।

इस प्रकार सभी उदाहरणों में विरुद्ध प्रतीत होने वाले रसादिकों का अविरोध समझना चाहिये। इस प्रकार रसादि का विरोधी रसादि के साथ समावेश और (असमावेश) विषयविभाग प्रदर्शित किया।।२०।।

लोचनम्

तदेवावतारयति–*इदानीमित्यादिना।* तेषां रसानां क्रम इति योजना। *प्रसिद्धेऽपीति।* भरतमुनिप्रभृतिभिर्निरूपितेऽपीत्यर्थः। तेषामिति प्रबन्धानाम्। महाकाव्यादिष्वित्यादिशब्दः प्रकारे। अनभिनेयान्भेदानाह, द्वितीयस्त्वभिनेयान्। *विप्रकीर्णतयेति।* नायकप्रतिनायकपताकाप्रकरी-

निरूपण किया। इसलिये अन्त में उपसंहार करते है– **एवमिति**। तावद् ग्रहण से यह सूचित करते हैं कि और भी वक्तव्य है।।२०।।

अब उसी वक्तव्य को अवतारित करते है– **इदानीमिति** 'उन रसों का क्रम' यह इस वाक्य की योजना है। **प्रसिद्धेऽपीति**– प्रसिद्ध होने पर भी अर्थात् भरतादि मुनियों द्वारा निरूपित होने पर भी। **तेषामिति** उन प्रबन्धों का महाकाव्यादि शब्द में आदि शब्द प्रकार अर्थ में है। यह प्रकारार्थक आदि शब्द अनभिनेय भेदों को कहता है परन्तु दूसरा आदि शब्द अभिनेय भेदों को कहता है। **विप्रकीर्णतयेति**– विप्रकीर्ण

ध्वन्यालोकः

इदानीं तेषामेकप्रबन्धविनिवेशने न्याय्यो यः क्रमस्तं प्रतिपादयितुमुच्यते–

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥२१॥

प्रबन्धेषु महाकाव्यादिषु नाटकादिषु वा विप्रकीर्णतया-ङ्गाङ्गिभावेन बहवो रसा उपनिबध्यन्त इत्यत्र प्रसिद्धौ सत्यामपि यः प्रबन्धानां छायातिशययोगमिच्छति तेन तेषां रसानामन्यतमः कश्चिद्विवक्षितो रसोऽङ्गित्वेन विनिवेशयितव्य इत्ययं युक्ततरो मार्गः॥२१॥

अब उन्हें एक प्रबन्ध में रखने में जो उचित क्रम हैं उसके प्रतिपादन के लिये कहते हैं– **प्रसिद्धेऽपीति** महाकाव्य या नाटकादि प्रबन्धों में अनेक रसों का समावेश प्रसिद्ध होने पर भी उनका उत्कर्ष चाहने वाले कवि को किसी एक रस को अङ्गी (प्रधान) अवश्य बनाना चाहिये॥२१॥

महाकाव्यादि अनभिनेय अथवा नाटकादि अभिनेय प्रबन्धों में नायक, प्रतिनायक, पताकानायक, प्रकरीनायक आदि निष्ठ विप्रकीर्ण रूप में अङ्गाङ्गिभाव से अनेक रसों का निबन्धन किया जाता है। इस प्रकार की प्रसिद्धि (परिपाटी) होने पर भी जो कवि सौन्दर्यातिशय को चाहता है उसे उन रसों में से किसी एक प्रतिपादन अभिमत रस को ही अङ्गी रूप से अथवा प्रधान रूप से समाविष्ट करना चाहिये यही अधिक उचित मार्ग है॥२१॥

लोचनम्

नायकादिनिष्ठतयेत्यर्थः। अङ्गाङ्गिभावेनेत्येकनायकनिष्ठत्वेन। *युक्ततर* इति। यद्यपि समवकारादौ पर्यायबन्धादौ च नैकस्याङ्गित्वं तथापि नायुक्तता तस्याप्येवंविधो यः प्रबन्धः तद्यथा नाटकं महाकाव्यं वा तदुत्कृष्टतरमिति तरशब्दस्यार्थः॥२१॥

रूप में– अर्थात् नायकनिष्ठ, प्रतिनायकनिष्ठ, पताकानायकनिष्ठ, प्रकरीनायकनिष्ठ आदि रूप में। **अङ्गाङ्गिभावेनेति** अङ्गाङ्गिभाव से अर्थात् एक नायकनिष्ठ रूप से। युक्ततर इति यद्यपि समवकारादि में और पर्यायबन्ध आदि में एक अङ्गी नहीं होता तथापि उसकी भी अयुक्तता नहीं, इस प्रकार का जो प्रबन्ध वह जैसे नाटक अथवा महाकाव्य वह उत्कृष्टतर है यह युक्ततर के तरप् प्रत्यय का अर्थ है।

ध्वन्यालोकः

ननु रसान्तरेषु बहुषु प्राप्तपरिपोषेषु सत्सु कथमेकस्याङ्गिता न विरुध्यत इत्याशङ्क्येदमुच्यते–

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः ॥२२॥

प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलबन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति।

अन्य अनेक रसों के एक साथ परिपोष होने पर उनमें से किसी एक का अङ्गी होना विरोधी क्यों नहीं होगा? इस बात की आशङ्का पर कहते हैं– **रसान्तरेति।**

अप्रधान अन्य रसों के साथ प्रस्तुत रस का जो समावेश है वह प्रबन्धव्यापी स्थायी रूप से प्रतीत होने वाले इस प्रधान रस की अङ्गिता अर्थात् प्राधान्य का विघातक नहीं होता है।

काव्य या नाटकादि प्रबन्धों में अन्यों की अपेक्षा प्रथम प्रस्तुत और बार-बार उपलब्ध होने से जो स्थायी रस है, आद्यन्त सर्वत्र प्रबन्ध में वर्तमान उस

लोचनम्

_नन्विति।_ स्वयं लब्धपरिपोषत्वे कथमङ्गत्वम्? अलब्धपरिपोषत्वे वा कथं रसत्वमिति रसत्वमङ्गत्वं चान्योन्यविरुद्धं तेषां चाङ्गत्वायोगे कथमेकस्याङ्गित्वमुक्तमिति भावः। _रसान्तरेति।_ प्रस्तुतस्य समस्तेतिवृत्तयापिनस्तत एव विततव्याप्तिकत्वेनाङ्गिभावोचितस्य रसस्य रसान्तरैरितिवृत्तवशाव्यातत्वेन परिमितकथाशकलव्यापिभिर्यः समावेशः समुपबृंहणं स तस्य स्थायित्वेनेतिवृत्तव्यापितया भासमानस्य नाङ्गितामुपहन्ति, अङ्गितां पोषयत्येवेत्यर्थः।

यहाँ सन्देह करते हैं कि स्वयं परिपोष प्राप्त कर लेने पर उसका अङ्गत्व कैसे होगा? अथवा परिपोष प्राप्त न होने पर रसत्व कैसे होगा? इस प्रकार रसत्व और अङ्गत्व दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, और उनके अङ्गत्व के न होने पर कैसे एक का अङ्गित्व कहा गया। यह भाव है– **रसान्तरेति**– प्रस्तुत अर्थात् समस्त इतिवृत्त में व्याप्त रहने वाले अब व्याप्ति के विस्तृत होने से अङ्गित्व के उचित रस का इतिवृत्तवश प्राप्त होने के कारण परिमित कथा-खण्डों में व्याप्त रहने वाले रसान्तरों के साथ जो समावेश अर्थात् समुपबृंहण है वह स्थायीरूप से अर्थात् इतिवृत्त में व्यापक रूप से भासित होने वाले उस (रस) अङ्गित्व को उपहत (विघात) नहीं करता, बल्कि अङ्गित्व को पुष्ट ही करता है।

ध्वन्यालोकः

एतदेवोपपादयितुमुच्यते–

कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥२३॥

रस का बीच-बीच में आये हुये अन्य रसों के साथ जो समावेश है उसके प्राधान्य का विघातक नहीं होता है।

इसी के उपपादन के लिये कहते है– **कार्यमिति**। जैसे प्रबन्ध में आद्योपान्त व्यापक (प्रासङ्गिक अवान्तर कार्य अथवा आख्यान वस्तु से परिपुष्ट) एक प्रधान कार्य (विषय आख्यान वस्तु) रखा जाता है। (और अवान्तर अनेक कार्य उसको परिपुष्ट करते हैं) इसी प्रकार रस के विधान (एक प्रबन्ध व्यापी अङ्गी रस के साथ अङ्गभूत अवान्तर रसों का समावेश) में भी विरोध नहीं है॥२३।

लोचनम्

एतदुक्तं भवति– अङ्गभूतान्यपि रसान्तराणि स्वविभावादिसामग्र्या स्वावस्थायां यद्यपि लब्धपरिपोषाणि चमत्कारगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, तथापि स चमत्कारस्तावत्येव न परितुष्य विश्राम्यति किं तु चमत्कारान्तर-मनुधावति। सर्वत्रैव ह्यङ्गाङ्गिभावेऽयमेवोदन्तः। यथाह तत्रभवान्–

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥इति॥२२॥

उपपादयितुमिति। दृष्टान्तस्य समुचितस्य निरूपणेनेति भावः। न्यायेन चैतदेवोपपद्यते, कार्यं हि तावदेकमेवाधिकारिकं व्यापकं प्रासङ्गिक-कार्यान्तरोपक्रियमाणमवश्यमङ्गीकार्यम्। तत्पृष्ठवर्तिनीनां नायकचित्त-

इससे इतनी बात कही गई– अङ्गभूत भी रसान्तर अपनी विभावादि की सामग्री से अपनी अवस्था में यद्यपि परिपोष प्राप्त करके चमत्कारगोचर बन जाते हैं तथापि वह चमत्कार उतने से ही परिपुष्ट होकर विश्राम नहीं कर लेता, किन्तु अन्य चमत्कार का भी अनुधावन करता है, अङ्गाङ्गीभाव में सर्वत्र यही वृत्तान्त है, जैसा कि कहा भी है– **गुण इति।**

गुण (अर्थात् अङ्गभूत) अथवा संस्कार कर लेने पर प्रधान को प्राप्त करता है वहाँ जा कर उस प्रधान के उपकार में अधिक से अधिक तत्परता प्रदर्शित करता है। **उपपादयितुमिति।** उपपादन करने के लिये। भाव यह कि समुचित दृष्टान्त के निरूपण के द्वारा और न्यायानुसार यही उपपन्न होता है कि प्रासङ्गिक कार्यान्तरों से उपकृत

ध्वन्यालोकः

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्धशरीररस्य यथा कार्यमेकमनुयायि व्यापकं कल्प्यते न च तत्कार्यान्तरैर्न सङ्कीर्यते, न च तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि तस्य प्राधान्यमपचीयते, तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशे क्रियमाणे

सन्धि आदि से युक्त प्रबन्ध (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निवर्हण रूप पञ्चसन्धियुक्त प्रबन्ध अर्थात् नाटकादि) शरीर में जैसे समस्त प्रबन्ध में व्यापक निरन्तर विद्यमान एक आधिकारिक वस्तु रूप कार्य की रचना की जाती है, वह आधिकारिक वस्तु (कार्य) अन्य प्रासङ्गिक कार्यों से संकीर्ण नहीं होती हो, ऐसी बात नहीं है। अन्य प्रासङ्गिक वस्तुओं से आधिकारिक वस्तु का सम्बन्ध अवश्य होता है, परन्तु उनसे सम्बन्ध होने पर भी उस आधिकारिक मुख्य कथावस्तु का प्राधान्य कम नहीं होता है। इसी प्रकार अङ्गभूत रसों के साथ प्रधानभूत एक

लोचनम्

वृत्तीनां तद्बलादेवाङ्गाङ्गिभावः प्रवाहापतित इति किमत्रापूर्वमिति तात्पर्यम्। *तथेति।* व्यापितया। यदि वा एवकारो भिन्नक्रमः, तथैव तेनैव प्रकारेण कार्याङ्गाङ्गिभावरूपेण रसानामपि बलादेवासावापततीत्यर्थः। तथा च वृत्तौ वक्ष्यति 'तथैवे'ति।

***कार्यमिति।* 'स्वल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यद्विसर्पति' इति लक्षितं बीजम्। बीजात्प्रभृति प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणं यावत्समाप्तिबन्धं स तु बिन्दुः' इति बिन्दुरूपयार्थप्रकृत्या निर्वहणपर्यन्तं व्याप्नोति तदाह–*अनुयायीति।* अनेन बीजं बिन्दुश्चेत्यर्थप्रकृती सङ्गृहीते।**

होता हुआ एक ही आधिकारिक व्यापक कार्य अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। उस कार्य के पीछे चलने वाली नायक की चित्तवृत्तियों के उसके कार्यों के अङ्गाङ्गिभाव के बल से ही अङ्गाङ्गिभाव का क्रम चलता है, (प्रवाह में) आपतित होता है, इसमें कौन सी नई बात है? यह तात्पर्य है। **तथेति** उस प्रकार अर्थात् व्यापक रूप से। अथवा यहाँ एवकार भिन्नक्रम है, उसी तरह उसी प्रकार से जैसे कार्य का अङ्गाङ्गिभाव होता है उसी प्रकार रसों का भी अङ्गाङ्गिभाव होगा जैसा कि वृत्ति में आगे चल कर **तथैवेति** शब्द से कहेंगे।

कार्यमिति जो थोड़ी मात्रा में छोड़े जाने पर बहुत प्रकार से फैल जाती है उसे बीज कहते हैं। बीज से लेकर प्रयोजनों के विच्छेद की स्थिति में समाप्तिपर्यन्त अविच्छेद के कारण को बिन्दु कहते हैं। इस बिन्दुरूप अर्थ-प्रवृत्ति से निर्वहणपर्यन्त जो व्याप्त रहता है उसे अनुयायी कहते हैं, इससे बीज और बिन्दु इन दो अर्थ-प्रकृतियों को संगृहीत किया गया।

ध्वन्यालोकः

विरोधो न कश्चित्। प्रत्युत प्रत्युदितविवेकानामनुसन्धानवतां सचेतसां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते॥२३॥

रस का अङ्गित्वेन सन्निवेश करने में कोई विरोध नहीं होता। अपितु विवेकी एवं पारखी सहृदयों को इस प्रकार के विषयों में और अधिक आनन्द आता है।

लोचनम्

कार्यान्तरैरिति। 'आगर्भादाविमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते' इति प्रासङ्गिकं यत्पताकालक्षणार्थप्रकृतिनिष्ठं कार्यं यानि च ततोऽप्यूनव्याप्तितया प्रकरीलक्षणानि कार्याणि तैरित्येवं पञ्चानामर्थप्रकृतीनां वाक्यैकवाक्यतया निवेश उक्तः। *तथाविध* इति। यथा तापसवत्सराजे।

एवमनेन श्लोकेनाङ्गितायां दृष्टान्तनिरूपणमितिवृत्तबलापतितत्वं च रसाङ्गाङ्गिभावस्येति द्वयं निरूपितम्। वृत्तिग्रन्थोऽप्युभयाभिप्रायेणैव नेयः। शृङ्गारेण वीरस्याविरोधो युद्धनयपराक्रमादिना कन्यारत्नलाभादौ। हास्यस्य तु स्पष्टमेव तदङ्गत्वम्। हास्यस्य स्वयमपुरुषार्थस्वभावत्वेऽपि समधिकतररञ्जनोत्पादनेन शृङ्गाराङ्गतयैव तथात्वम्। रौद्रस्यापि तेन कथञ्चिदविरोधः। यथोक्तम्–'शृङ्गारश्च तैः प्रसभं सेव्यते'। तैरिति रौद्रप्रभृतिभिः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यैरित्यर्थः। केवलं नायिकाविषयमौग्र्यं

कार्यान्तरैरिति अन्य कार्यों से। गर्भ अथवा विमर्श सन्धिपर्यन्त पताका लौटती है इस पताकारूप अर्थ-प्रकृति में रहने वाला प्रासङ्गिक जो कार्य है और जो उससे भी अधिक व्याप्ति रूप से प्रकरी रूप कार्य है उनसे। इस प्रकार पाँच अर्थ-प्रकृति में वाक्यैकवाक्य रूप से निवेश कहा गया है। तथाविध इति उस प्रकार के– जैसे तापसवत्सराज में।

इस प्रकार इस श्लोक में अङ्गाङ्गिभाव के दृष्टान्त का निरूपण और उस अङ्गाङ्गि-भाव का इतिवृत्त के बल से प्रवाह में आपतित्व इन दो बातों का निरूपण किया गया। वृत्तिग्रन्थ को भी दोनों के अभिप्राय से ही समझना चाहिये। शृङ्गार के साथ वीररस का अविरोध युद्ध, नीति और पराक्रम आदि द्वारा कन्यारत्न के लाभ आदि में। हास्य तो स्पष्ट ही उस शृङ्गार का अङ्ग है। हास्य स्वयं अपुरुषार्थ रूप है तथापि सम्यक् प्रकार से अधिकतर रञ्जन के उत्पन्न करने से शृङ्गार के अङ्गरूप से ही उस प्रकार पुरुषार्थ है। रौद्र का भी उस शृङ्गार के साथ कथंचिद्विरोध नहीं। जैसा कि कहा है– 'रौद्रप्रकृति वाले राक्षस, दानव एवं उद्धत मनुष्य प्रभृति वे सभी शृङ्गार का हठात् सेवन करते हैं। इसमें केवल नायिका के सम्बन्ध की उग्रता वहाँ परिहर्त्तव्य हैं। पृथ्वी के

ध्वन्यालोकः

ननु येषां रसानां परस्पराविरोधः यथा– वीरशृङ्गारयोः शृङ्गारहास्ययो रौद्रशृङ्गारयोर्वीराद्भुतयोर्वीररौद्रयो रौद्रकरुणयोः शृङ्गाराद्भुतयोर्वा तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभावः। तेषां तु स कथं भवेद्येषां

जिन रसों का परस्पर अविरोध है, बाध्य-बाधकभाव नहीं है, जैसे वीर और शृङ्गार का [युद्धनीति, पराक्रम आदि से कन्यारत्न के लाभ में), शृङ्गार और हास्य का (हास्य के स्वयं पुरुषार्थ न होने और अनुरञ्जनात्मक होने से), रौद्र शृङ्गार का (भरत के नाट्यशास्त्र में 'शृङ्गारश्च तैः प्रसभं सेव्यते' मे तैः रौद्रप्रभृतिभिः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यैः सेव्यते' इस व्याख्या में रौद्र और शृङ्गार का कथञ्चित् अविरोध है केवल नायिकाविषयक उग्रता बचानी चाहिये] वीर और

लोचनम्

तत्र परिहर्तव्यम्। असम्भाव्यपृथिवीसम्मार्जनादिजनितविस्मयतया तु वीराद्भुतयोः समावेशः। यथाह मुनिः– 'वीरस्य चैव यत्कर्म सोऽद्भुतः' इति। वीररौद्रयोर्धीरोद्धते भीमसेनादौ समावेशः क्रोधोत्साहयोरविरोधात्। रौद्रकरुणयोरपि मुनिनैवोक्तः–

'रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः।' इति।

***शृङ्गाराद्भुतयोरिति।* यथा रत्नावल्यामैन्द्रजालिकदर्शने। *शृङ्गार-बीभत्सयोरिति।* ययोर्हि, परस्परोन्मूलनात्मकतयैवोद्भवस्तत्र कोऽङ्गाङ्गिभावः आलम्बननिमग्नरूपतया च रतिरुत्तिष्ठति ततः पलायमानरूपतया जुगुप्सेति समानाश्रयत्वेन तयोरन्योन्यसंस्कारोन्मूलनत्वम्। भयोत्साहावप्येवमेव विरुद्धौ वाच्यौ। शान्तस्यापि तत्त्वज्ञानसमुत्थितसमस्तसंसार-**

सम्मार्जन आदि असंभाव्य कार्यों से विस्मय के उत्पन्न करने के कारण वीर और अद्भुत का समावेश है। जैसा कि भरतमुनि कहते हैं– और वीर का जो कर्म है वही अद्भुत है। वीर और रौद्र का धीरोद्धत भीमसेनादि में समावेश है। क्योंकि क्रोध और उत्साह में विरोध नहीं। रौद्र और करुण के विषय में स्वयं मुनि ने कहा है– रौद्र का जो कर्म है उसे करुण रस समझना चाहिये।

शृङ्गाराद्भुतयोरिति। जैसे रत्नावली में ऐन्द्रजालिक के दर्शन के प्रसङ्ग में। शृङ्गार और बीभत्स का जिन शृङ्गार और बीभत्स का परस्पर उन्मूलनात्मक रूप से ही उद्भव हुआ है वहाँ कौन सा अङ्गाङ्गीभाव होगा? आलम्बन में निमग्नता से रति का उद्भव होता है और उस आलम्बन से पलायमानरूपता से जुगुप्सा का उदय होता है। इसलिये

ध्वन्यालोकः

परस्परं बाध्यबाधकभावः यथा–शृङ्गारबीभत्सयोर्वीरभयानकयोः शान्तरौद्रयोः शान्तशृङ्गारयोर्वा इत्याशङ्क्येदमुच्यते–

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ॥२४॥

अद्भुत का (वीररस्य चैव यत्कर्म सोऽद्भुतः भ. ना.) रौद्र और करुण का, [रौद्रस्यैव च यत्कर्म स शेषः करुणो रसः) अथवा शृङ्गार एवं अद्भुत का (जैसे रत्नावली में ऐन्द्रजालिक के वर्णन प्रसङ्ग में) वहाँ अङ्गाङ्गिभाव भले ही हो जाय परन्तु उनका वह अङ्गाङ्गिभाव कैसे होगा? जिनका बाध्य-बाधकभाव [विरोध] है जैसे शृङ्गार और बीभत्स का (आलम्बन रूप नायिका में अनुरक्ति से रति की और आलम्बन से पलायमान रूप से जुगुत्सा की उत्पत्ति होती है इसलिये आलम्बनैक्य में रति और जुगुत्सा दोनों का बाध्य-बाधकभाव विरोध है। वीर और भयानक का (भय और उत्साह का आश्रयैक्य में बाध्य-बाधकभाव विरोध है], शान्त और रौद्र का (नैरन्तर्य और विभावैक्य दोनों रूप में वाध्य-बाघक-भाव विरोध है) अथवा शान्त और शृङ्गारका, विभावैक्य और नैरन्तर्य में विरोध है) इनमें अङ्गाङ्गिभाव कैसे बनेगा इस आशङ्का से यह कहते हैं– **अविरोधीति**।

दूसरे रस के प्रधान होने पर उसके अविरोधी अथवा विरोधी किसी भी रस का परिपोष नहीं करना चाहिये, इस कारण उनका अविरोध हो सकता है।।२४।।

लोचनम्

विषयनिर्वेदप्राणत्वेन सर्वतो निरीहस्वभावश्य विषयासक्तिजीविताभ्यां रतिक्रोधाभ्यां विरोध एव॥२३॥

अविरोधी विरोधी वेति। **वाग्रहणस्यायमभिप्रायः–अङ्गिरसापेक्षया यस्य रसान्तरस्योत्कर्षो निबध्यते तदा तदविरुद्धोऽपि रसो निबद्धश्चोद्यावहः।**

समानाश्रय रूप से दोनों ही एक दूसरे का उन्मूलन करते हैं। भय और उत्साह इसी प्रकार विरोधी कहे जाने चाहिये। तत्त्वज्ञान से समुत्थित समस्त संसार के विषय में निर्वेद के प्राण होने के कारण सब प्रकार से निरीहस्वभाव शान्त का विषयासक्ति से अनुप्राणित रति और क्रोध से विरोध है ही, इस प्रकार की आशङ्का पर कहते हैं– **अविरोधी विरोधी वेति** यहाँ अङ्गाङ्गीभाव के ग्रहण का इस प्रकार अभिप्राय है– अङ्गी रस की अपेक्षा जिस अन्य रस का निबन्धन किया जाता है वह उस अङ्गीरस के अविरुद्ध होने पर भी दोषावह होता है। परन्तु युक्तिपूर्वक अङ्गीरस में अङ्गभावता

ध्वन्यालोकः

अङ्गिनि रसान्तरे शृङ्गारादौ प्रबन्धव्यङ्ग्ये सति अविरोधी विरोधी वा रसः परिपोषं न नेतव्यः। तत्राविरोधिनो रसस्याङ्गिरसापेक्षयात्यन्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्ययं प्रथमः परिपोषपरिहारः। उत्कर्षसाम्येऽपि तयोर्विरोधासम्भवात्।

यथा–

प्रधानभूत शृङ्गारादि रस के प्रबन्धव्यङ्ग होने पर उसके अविरोधी अथवा विरोधी रस का परिपोषण नहीं करना चाहिये। उस परिपोषण के तीन प्रकार से परिहार को क्रमशः कहते हैं– **तत्रेति।**

उनमें से अविरोधी रस का अङ्गी प्रधानभूत रस की अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिये। यह प्रथम परिहार है। उन दोनों का समान उत्कर्ष हो जाने तक भी विरोध संभव नहीं है। जैसे—

लोचनम्

अथ तु युक्त्याङ्गिनि रसेऽङ्गभावतानयेनोपपत्तिर्घटते तद्विरुद्धोऽपि रसो वक्ष्यमाणेन विषयभेदादियोजनेनोपनिबध्यमानो न दोषावह इति विरोधाविरोधावकिञ्चित्करौ। विनिवेशनप्रकार एव त्ववधातव्यमिति। *अङ्गिनीति सप्तम्यनादरे।* अङ्गिनं रसविशेषमनादृत्य न्यक्कृत्याङ्गभूतो न पोषयितव्य इत्यर्थः। *अविरोधितेति।* निर्दोषतेत्यर्थः। परिपोषपरिहारे त्रीन् प्रकारानाह–*तत्रेत्यादिना तृतीय इत्यन्तेन।* ननु न्यूनत्वं कर्तव्यमिति वाच्ये आधिक्यस्य का सम्भावना येनोक्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्याशङ्क्याह– *उत्कर्षसाम्य इति।*

के प्रकार से उपपत्ति घटित होती है तो अङ्गी रस के विरुद्ध भी रस-वक्ष्यमाण विषय भेदादि की योजना से उपनिबद्धयमान होकर दोषावह नहीं होता। इस प्रकार का विरोध और अविरोध अकिञ्चित्कर होते हैं, केवल उनके विनिवेशन के प्रकार में ही सावधानी रखनी चाहिये। अङ्गिनि में सप्तमी अनादरार्थक है अर्थात् अङ्गी रस विशेष का अनादर करके तिरस्कार करे अङ्गभूत रस का पोषण नहीं करना चाहिए? विरोध नहीं अविरोधता अर्थात् निर्दोषता। परिपोष के परिहार में तीनों प्रकारों को कहते हैं– **तथेत्यादिना... तृतीय इत्यन्ते** ग्रन्थ से। शङ्का करते हैं कि जब 'न्यूनत्व करना' चाहिये ऐसी स्थिति में आधिक्य की संभावना किस प्रकार? जिसे कहते है कि आधिक्य नहीं करना चाहिये। इस प्रकार की संभावना पर कहते हैं– **उत्कर्षसाम्य** इति उदाहरण जैसे **एकत** इति।

ध्वन्यालोकः

एकन्तो रुअइ पिआ अण्णन्तो समरतूरणिग्घोसो।
णेहेण रणरसेण अ भडस्य दोलाइअं हिअअम्॥

यथा वा–

कण्ठाच्छित्त्वाक्षमालावलयमिव करे हारमावर्तयन्ती
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विषधरपतिना मेखलाया गुणेन।
मिथ्यामन्त्राभिजापस्फुरदधरपुटव्यञ्जिताव्यक्तहासा
देवी सन्ध्याभ्यसूयाहसितपशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वोऽव्यात्॥

एकत इति, एक ओर प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर युद्ध के बाजे का उद्घोष हो रहा है, अतः स्नेह और युद्धोत्साह से वीर का हृदय दोलायमान हो रहा है। यहाँ वीर और शृङ्गार का साम्य होने पर भी अविरोध है। अथवा रसों में साम्य होने पर भी अविरोध का दूसरा उदाहरण– जैसे **कण्ठेति**– गले से हार निकाल कर हाथ में जपमाला के समान उसे फेरती हुई नागराज के स्थान पर मेखलासूत्र से पर्यङ्क आसन बाँधकर झूठ-मूठ मन्त्र के जपके कारण हिलते हुये अधरपुट से अभिव्यक्त हास प्रकट करती हुई सन्ध्या नामक सपत्नी के प्रति ईर्ष्यावश महादेव का उपहास करती हुई देखी गई देवी पार्वती तुम सभी की रक्षा करें।

लोचनम्

एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः।
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम्॥

इति च्छाया। रोदिति प्रियेत्यतो रत्युत्कर्षः। समरतूर्येति भटस्येति चोत्साहोत्कर्षः। दोलायितमिति तयोरन्यूनाधिकतया साम्यमुक्तम्। एतच्च मुक्तकविषयमेव भवति न तु प्रबन्धविषयमिति केचिदाहुस्तच्चासत्; आधिकारिकेष्वितिवृत्तेषु त्रिवर्गफलसमप्राधान्यस्य सम्भवात्। तथाहि– रत्नावल्यां सचिवायत्तसिद्धित्वाभिप्रायेण पृथिवीराज्यलाभ आधिकारिकं

प्रिया रो रही है यह रति का उत्कर्ष है और युद्ध का तूर्य यह भट के उत्साह का उत्कर्ष है, दोलायित के द्वारा उन दोनों रति और उत्साह की साम्यता (अन्यूनाधिक) कही गई हैं। यह मुक्तक में ही होता है न कि प्रबन्ध में, ऐसा कुछ लोगों ने कहा है वह ठीक नहीं। क्योंकि आधिकारिक इतिवृत्तों में त्रिवर्गरूप का समप्राधान्य संभव है, जैसा कि रत्नावली में सचिवायत्तसिद्धित्व के अभिप्राय से पृथ्वी के राज्य का लाभ आधिकारिक फल है और कन्यारत्न का लाभ प्रासङ्गिक फल है, परन्तु नायक के

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र।

अङ्गिरसविरुद्धानां व्यभिचारिणां प्राचुर्येणानिवेशनम्, निवेशने वा क्षिप्रमेवाङ्गिरसव्यभिचार्यनुवृत्तिरिति द्वितीयः।

इसमें प्रकृत ईर्ष्याविप्रलम्भ और तद्विरोधी मन्त्रजपादि से व्यङ्ग्य शान्त इन दोनों रसों का साम्य होने पर भी कोई विरोध नहीं है।

अङ्गी रस के विरुद्ध व्यभिचारी भावों का अधिक निवेश न करना अथवा निवेश करने पर शीघ्र ही अङ्गी रस से व्यभिचारी रूप में परिणत कर देना यह परिपोष के परिहार का दूसरा उपाय है।

लोचनम्

फलं कन्यारत्नलाभः प्रासङ्गिकं फलं, नायकाभिप्रायेण तु विपर्यय इति स्थिते मन्त्रिबुद्धौ नायकबुद्धौ च स्वाम्यमात्यबुद्ध्येकत्वात्फलमिति नीत्या एकीक्रियमाणायां समप्राधान्यमेव पर्यवस्यति। यथोक्तम्– 'कवेः प्रयत्नान्नेतॄणां युक्तानाम्' इत्यलमवान्तरेण बहुना।

एवं प्रथमं प्रकारं निरूप्य द्वितीयमाह–*अङ्गीति। अनिवेशनमिति।* अङ्गभूते रस इति शेषः। नन्वेवं नासौ परितुष्टो भवेदित्याशङ्क्य–*निवेशने वेति।* अत एव वाग्रहणमुत्तरपक्षदार्ढ्यं सूचयति न विकल्पम्। तथा चैक एवायं प्रकारः। अन्यथा तु द्वौ स्याताम्। अङ्गिनो रसस्य यो व्यभिचारी तस्यानुवृत्तिरनुसन्धानम्। यथा–'कोपात्कोमललोल' इति श्लोकेऽङ्गिभूतायां रतावङ्गत्वेन यः क्रोध उपनिबद्धस्तत्र बद्ध्वा दृढम्–इत्यमर्षस्य निवेशितस्य क्षिप्रमेव रुदत्येति हसन्निति च इत्युचितेर्ष्यौत्सुक्यहर्षानुसन्धानम्।

अभिप्राय से विपरीत है, ऐसी स्थिति में मन्त्री की बुद्धि और नायक की बुद्धि एक होने से फल होता है इस नीति से मन्त्री की बुद्धि और नायक की बुद्धि के एक किये जाने पर समप्राधान्य ही पर्यवसित होता । जैसा कि कहा है– **कवेः प्रयत्नेति** 'कवि के प्रयत्न से युक्त नायकों का.' इत्यादि। यह बहुत अवान्तर चर्चा उचित नहीं।

इस प्रकार प्रथम प्रकार का निरूपण कर दूसरा प्रकार कहते हैं– **अङ्गीति अनिवेशनमिति** निवेशन न करना। शेष यह कि अद्भुत रस में। इस प्रकार वह परिपुष्ट नहीं होगा, ऐसी आशङ्का करके मतान्तर कहते हैं– **निवेशने वेति**– अथवा निवेशन में। मैंने यहाँ वा ग्रहण उत्तर पक्ष की दृढता के लिये सूचित किया गया है। विकल्पार्थ के नहीं। जैसा कि यह एक ही प्रकार है, अन्यथा दो होते। अङ्गी रस का जो व्यभिचारी है उसकी अनुवृत्ति अर्थात् अनुसन्धान। जैसे **'कोपात् कोमललो.'** इस श्लोक में अङ्गीभूत रति में अङ्ग रूप से कोप उपनिबद्ध किया गया है उसमें व्यङ्ग्य दृढ़ से

ध्वन्यालोक:

अङ्गत्वेन पुनः पुनः प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्य रसस्येति तृतीयः। अनया दिशान्येऽपि प्रकारा उत्प्रेक्षणीयाः। विरोधिनस्तु रसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता सम्पादनीया। यथा शान्तेऽङ्गिनि शृङ्गारे वा शान्तस्य। परिपोषरहितस्य रसस्य कथं

अङ्गभूत रस का परिपोष करने पर भी बार-बार उसकी अङ्गरूपता का ध्यान रखना यह परिपोष के परिहार का तीसरा प्रकार है। इस विषय में तापस-वत्सराज में वत्सराज के पद्मावतीविषयक संभोग शृङ्गार को उदाहरण रूप में रखा जा सकता है। इस पद्धति से अन्य प्रकार भी स्वयं समझ लेना चाहिये। जैसे किसी विरोधी रस को अङ्गी रस की अपेक्षा न्यूनता कर लेनी चाहिये। जैसे शान्तरस के प्रधान होने पर शृङ्गार की अथवा शृङ्गार के प्रधान होने पर शान्त की न्यूनता कर लेनी चाहिये।

लोचनम्

तृतीयं प्रकारमाह–*अङ्गत्वेनेति।* अत्र च तापसवत्सराजे वत्सराजस्य पद्मावतीविषयः सम्भोगशृङ्गार उदाहरणीकर्तव्यः। *अन्येऽपीति।* विभावानुभावानां चापि उत्कर्षो न कर्तव्योऽङ्गिरसविरोधिनां निवेशनमेव वा न कार्यम्, कृतमपि चाङ्गिरसविभावानुभावैरुपबृंहणीयम्। परिपोषिता अपि विरुद्धरसविभावानुभावा अङ्गत्वं प्रति जागरयितव्या इत्यादि स्वयं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्। एवं विरोध्यविरोधिसाधारणं प्रकारमभिधाय विरोधि-विषया साधारणदोषपरिहारप्रकारगतत्वेनैव विशेषान्तरमप्याह–*विरोधिन* इति। *सम्भवीति।* प्रधानाविरोधित्वेनेति शेषः। *एतच्चेति।* उपकार्यो-

निवेशित अमर्ष के शीघ्र ही व्यभिचारी रूप से रुदस्या और हसन् इस रति के उचित औत्सुक्य और हर्ष से अनुसन्धान है।

अब तीसरा प्रकार कहते हैं– **अङ्गत्वेनेति**– अङ्ग रूप से। यहाँ तापसवत्सराज में वत्सराज का पद्मावती के प्रति संभोग शृङ्गार का उदाहरण देना चाहिये। **अन्येऽपीति**- अन्य प्रकारों की भी। और विभावों तथा अनुभावों का भी उत्कर्ष नहीं करना चाहिये अथवा अङ्गी रस के विरोधी विभावों तथा अनुभावों का सन्निवेश ही नहीं करना चाहिये। सन्निवेश कर देने पर भी अङ्गीरस के विभावों तथा अनुभावों का पोषण करना चाहिये। परिपोषित भी विरुद्ध रस के विभाव तथा अनुभावों को अङ्गत्व के प्रति जागरित करते रहना चाहिये। इत्यादि बातें स्वयं उत्प्रेक्षा की जा सकती हैं। इस प्रकार विरोधी और अविरोधी के साधारण प्रकार का अभिधान कर विरोधी के विषय में असाधारण दोष-

ध्वन्यालोक:

रसत्वमिति चेत्– उक्तमात्राङ्गिरसापेक्षयेति। अङ्गिनो हि रसस्य यावान् परिपोषस्तावांस्तस्य न कर्त्तव्यः, स्वतस्तु सम्भवी परिपोषः केन वार्यते। एतच्चापेक्षिकं प्रकर्षयोगित्वमेकस्य रसस्य बहुरसेषु प्रबन्धेषु

परिपोष प्राप्त हुये बिना रस का रसत्व ही कैसे बनेगा? यदि यह पूछा जाय तो इसके उत्तर में **'अङ्गिरसापेक्षया'** यह कहा गया है अर्थात् अङ्गी रस का जितना परिपोष किया जाय उतना परिपोष उस विरोधी रस का नहीं करना चाहिये। स्वयं होने वाले साधारण परिपोषण को कौन मना करता है?

अनेक रसों वाले प्रबन्धों में रसों के परस्पर अङ्गाङ्गिभाव को न मानने वाले भी इस आपेक्षिक (प्रधान रस को अधिक और शेष रस को कम) प्रकर्ष का खण्डन नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार से भी प्रबन्धों में अविरोधी और विरोधी

लोचनम्

पकारकभावो रसानां नास्ति स्वचमत्कारविश्रान्तत्वात्; अन्यथा रसत्वायोगात्, तदभावे च कथमङ्गाङ्गितेत्यपि येषां मतं तैरपि कस्यचिद्रसस्य प्रकृष्टत्वं भूयः प्रबन्धव्यापकत्वमन्येषां चाल्पप्रबन्धानुगामित्वमभ्युपगन्तव्यमितिवृत्तसङ्घटनाया एवान्यथानुपपत्तेः, भूयः प्रबन्धव्यापकस्य च रसस्य रसान्तरैर्यदि न काचित्सङ्गति- स्तदितिवृत्तस्यापि न स्यात्सङ्गतिश्चेदयमेवोपकार्योपकारकभावः। न च चमत्कारविश्रान्तेर्विरोधः कश्चिदिति समनन्तरमेवोक्तं तदाह–*अनभ्युपग- च्छतापीति।* शब्दमात्रेणासौ नाभ्युपगच्छति। अकाम एवाभ्युपगमयितव्य

परिहार के प्रकार में ही विशेषान्तर जो चर्चा करते हैं : **विरोधिन इति सम्भवीति** संभव होने वाला। प्रधान के अविरोधी रूप में इतना शेष है। **एतच्चेति**– इन आपेक्षिक रसों का उपकार्योपकारक भाव नहीं है, क्योंकि वे अपने ही चमत्कार में विश्रान्त हो जाते हैं। अन्यथा उनका रसत्व नहीं बन सकता। और रसत्व के अभाव में उनमें अङ्गाङ्गि- भाव भी कैसा? यह भी जिनका मत है उन्हें भी किसी रस का प्रकृष्टत्व अर्थात् प्रबन्ध में अनुगामित्व स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि उसके बिना इतिवृत्त की संघटना ही उपपन्न न हो सकेगी। फिर प्रबन्ध में अधिक व्यापक रस का रसान्तरों के साथ यदि कोई सम्बन्ध नहीं तब इतिवृत्त का भी सम्बन्ध नहीं होगा। इसलिये यही उपकार्योपकारकभाव है। चमत्कारविश्रान्ति का कोई विरोध नहीं अभी जो यह बात कही गई है उसे कहते हैं– **अनभ्युपगच्छतापीति**– न स्वीकार करने वाला भी। वचनमात्र

ध्वन्यालोकः

रसानामङ्गाङ्गिभावमनभ्युपगच्छताप्यशक्यप्रतिक्षेपमित्यनेन प्रकारेणाविरोधिनां विरोधिनां च रसानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रबन्धेषु स्यादविरोधः। एतच्च सर्वं येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारीभवति इति

रसों के अङ्गाङ्गिभाव से समावेश करने में अविरोध हो सकता है। ये सभी बातें उन लोगों के मत से कही गई हैं जो एक रस को दूसरे रस में व्यभिचारी होने का सिद्धान्त मानते हैं। दूसरे रस का रसान्तर में व्यभिचारित्व अर्थात् अङ्गत्व

लोचनम्

इति भावः। अन्यस्तु व्याचष्टे-एतच्चापेक्षिकमित्यादिग्रन्थो द्वितीयमतमभिप्रेत्य यत्र रसानामुपकार्योपकारकता नास्ति, तत्रापि हि भूयो वृत्तव्याप्तत्वमेवाङ्गित्वमिति। एतच्चासत्; एवं *हि एतच्च सर्वमिति* सर्वशब्देन य उपसंहार एकपक्षविषयः मतान्तरेऽपीत्यादिना च यो द्वितीयपक्षोपक्रमः सोऽतीव दुःश्लिष्ट इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह बहुना संलापेन। *येषामिति।* भावाध्यायसमाप्तावस्ति श्लोकः–

> **बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु।**
> **स मन्तव्यो रसस्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः।।इति।**

तत्रोक्तक्रमेणाधिकारिकेतिवृत्तव्यापिका चित्तवृत्तिरवश्यमेव स्थायित्वेन भाति प्रासङ्गिकवृत्तान्तगामिनी तु व्यभिचारितयेति

से वह स्वीकार नहीं करता। भाव यह कि न चाहतें हुये भी वह स्वीकार कराने योग्य है। और दूसरे लोग इसका व्याख्यान करते है–

'आपेक्षिक' इत्यादि ग्रन्थ दूसरे मत को अभिप्रेत कर कहा गया है। जहाँ रसों का उपकार्योपकारकभाव नहीं है वहाँ भी वृत्त अर्थात् कथा में अधिक व्याप्तत्व रूप ही अङ्गित्व है। यह व्याख्यान ठीक नहीं, क्योंकि **एतच्च सर्वम्** इस पद में सर्व शब्द से जो उपसंहार किया गया है वह एक पक्षीय उपसंहार है और जो **'मतान्तरेपि'** इत्यादि द्वारा जो-जो दूसरे पक्ष का उपक्रम है वह अतीव दुःश्लिष्ट (वेमेल) है। अपने वंश वालों के साथ बहुत अधिक विवाद ठीक नहीं। जिनके भावाध्याय की समाप्ति में श्लोक हैं– **बहुनामिति** बहुत से समवेत (एकत्रित) भावों में जिसका स्वरूप अत्यन्त व्यापक हो उस स्थायीभाव को ही रस मानना चाहिये शेष सञ्चारीभाव माने जाते हैं।

इस श्लोक में उक्त क्रम के अनुसार आधिकारिक इतिवृत्त में व्याप्त रहने वाली चित्तवृत्ति अवश्य ही स्थायीरूप से प्रतीत होती है और प्रासङ्गिक वृत्तान्त में रहने वाली चित्तवृत्ति व्यभिचारी रूप में प्रतीत होती है। इस प्रकार रसास्वाद के समय में स्थायी

ध्वन्यालोकः

दर्शनं तन्मतेनोच्यते। मतान्तरे'पि रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद्रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव॥२४॥

न मानने वाले) मत में रस के स्थायीभाव उपचार से रस शब्द से कहे गये हैं (ऐसा समाधान समझना चाहिये) उन स्थायीभावों का अङ्गत्व तो निर्विरोध

लोचनम्

रस्यमानतासमये स्थायिव्यभिचारिभावस्य न कश्चिद्विरोध इति केचिद्व्याचचक्षिरे। तथा च भागुरिरपि किं रसानामपि स्थायिसञ्चारिता-स्तीत्याक्षिप्याभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद्बाढमस्तीति।

अन्ये तु स्थायितया पठितस्यापि रसस्य रसान्तरे व्यभिचारित्वमस्ति, यथा क्रोधस्य वीरे व्यभिचारितया पठितस्यापि स्थायित्वमेव रसान्तरे, यथा तत्त्वज्ञानविभावकस्य निर्वेदस्य शान्ते; व्यभिचारिणो वा सत एव व्यभिचार्यन्तरापेक्षया स्थायित्वमेव, यथा विक्रमोर्वश्यामुन्मादस्य चतुर्थेऽङ्के इतीयन्तमर्थमवबोधयितुमयं श्लोकः बहूनां चित्तवृत्तिरूपाणां भावानां मध्ये यस्य बहुलं रूपं यथोपलभ्यते स स्थायी भावः, स च रसो रसीकरणयोग्यः; शेषास्तु सञ्चारिण इति व्याचक्षते, न तु रसानां स्थायिसञ्चारिभावेनाङ्गा-ङ्गितोक्तेति। अत एवान्ये रसस्थायीति षष्ठ्या सप्तम्या द्वितीयया वाश्रितादिषु गम्यादीनामिति समासं पठन्ति। तदाह–*मतान्तरेऽपीति। रसशब्देनेति*

और व्यभिचारी भाव का कोई विरोध नहीं है, कुछ लोगों ने ऐसा व्याख्यान किया है। जैसा कि भागुरि ने भी 'क्या रसों का भी स्थायित्व और सञ्चारित्व है'? इस प्रश्न का आक्षेप कर अभ्युपगम से ही उत्तर कहा है– हाँ है, अवश्य है।

किन्तु अन्य लोग व्याख्यान करते हैं कि स्थायी रूप से पठित भी रस रसान्तर में व्यभिचारी हो जाता है, जैसे क्रोध वीर में व्यभिचारी रूप से पठित भी रस रसान्तर में स्थायी ही हो जाता है। जैसे तत्त्वज्ञानरूप विभाव वाला सदैव शान्त में अथवा व्यभिचारी की अवस्था में ही अन्य व्यभिचारियों की अपेक्षा स्थायी ही होता है, जैसे विक्रमोर्वशी में उन्माद चतुर्थ अङ्क में; इतने अर्थ को समझाने के लिये यह श्लोक है– बहुत सी चित्तवृत्तिरूप भावों के बीच जिसका बहुत रूप जैसे उपलब्ध होता है वह स्थायीभाव है और वह रस रसीकरण के योग्य है शेष तो सञ्चारी भाव हैं। रसों के स्थायीभाव तथा सञ्चारीभाव की दृष्टि से यहाँ अङ्गाङ्गिभाव नहीं कहा गया है अतएव अन्य लोग रसस्थायी में षष्ठी, सप्तमी अथवा द्वितीया से आश्रित रूप अर्थ में (द्वितीया श्रितातीत. सूत्र से) **गम्यादीनां च** से समास मानते हैं, इसी बात को कहते हैं–

ध्वन्यालोकः

एवमविरोधिनां विरोधिनां च प्रबन्धस्थेनाङ्गिना रसेन समावेशे साधारणमविरोधोपायं प्रतिपाद्येदानीं विरोधिविषयमेव तं प्रतिपादयितुमिदमुच्यते–

विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्।
स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥२५॥

ऐकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी। तत्र प्रबन्धस्थेन स्थायिनाङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षया विरुद्धैकाश्रयो यो

है (अर्थात् भावों को अङ्ग मानने में उनको भी कोई आपत्ति नहीं है जो रस का अङ्गत्व स्वीकार नहीं करते॥२५॥

इस प्रकार प्रबन्धस्थ प्रधान रस के साथ उसके अविरोधी तथा विरोधी रसों के समावेश में साधारण अविरोधोपाय का प्रतिपादन कर अब विशेष रूप से विरोधी रस के ही उस अविरोधापादक उपाय का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं– **विरुद्धैकेति।**

स्थायी (प्रधान) रस का जो विरोधी ऐकाधिकरण्य रूप से विरोधी है उसको विभिन्नाश्रय कर देना चाहिये। फिर तो उसके परिपोष में भी कोई दोष नहीं है।

विरोधी रस दो प्रकार के होते हैं– (१) ऐकाधिकरण्यविरोधी (२) नैरन्तर्य विरोधी। ऐकाधिकरण्य विरोधी के भी पुनः दो भेद– आलम्बन के ऐक्य में विरोधी

लोचनम्

'रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः' इत्यादिप्राक्तन-कारिकानिविष्टेनेत्यर्थः॥२४॥

अथ साधारणं प्रकारमुपसंहरन्नसाधारणमासूत्रयति–*एवमिति।* तमित्यविरोधोपायम्। विरुद्धेति विशेषणं हेतुगर्भम्। यस्तु स्थायी स्थाय्यन्तरेणासंभाव्यमानैकाश्रयत्वाद्विरोधी भवेद्यथोत्साहेन भयं स

मतान्तरेऽपीति। रस शब्देनेति अर्थात् प्रस्तुत रस का जो रसान्तर में समावेश है इत्यादि प्राचीन कारिका में निविष्ट रस शब्द से॥२४॥

इसके बाद साधारण प्रकार का उपसंहार करते हुए असाधारण प्रकार का सूत्र बताते हैं– **एवमिति** इस प्रकार तमिति उस अविरोध के उपाय को। **विरुद्धेति** यह हेतुगर्भ विशेषण है जो स्थायी अन्य स्थायी के साथ एकाश्रय रूप से रहने में संभव न होने के कारण विरोधी हो जैसे– उत्साह के साथ भय वह विभिन्नाश्रयरूप से नायक के

ध्वन्यालोकः

विरोधी यथा वीरेण भयानकः स विभिन्नाश्रयः कार्यः। तस्य वीरस्य य आश्रयः कथानायकस्तद्विपक्षविषये सन्निवेशयितव्यः। तथा सति च तस्य विरोधिनोऽपि यः परिपोषः स निर्दोषः। विपक्षविषये हि भयातिशयवर्णने नायकस्य नयपराक्रमादिसम्पत्सुतरामुद्द्योतिता भवति। एतच्च अस्मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम्।

और आश्रयैक्य में विरोधी। इनमें से प्रबन्ध के प्रधान रस की दृष्टि से जो एकाधिकरण विरोधी रस हो जैसे वीर में भयानक उसको भिन्न आश्रय में कर देना चाहिये। अर्थात् उस वीर का जो आश्रय कथानायक उसके विपक्ष प्रतिनायक में उस भयानक रस का सन्निवेश करना चाहिये। ऐसा होने पर उस विरोधी भयानक का परिपोषण भी निर्दोष है, क्योंकि विपक्षी शत्रुविषयक भय के अतिशय के वर्णन से नायक की नीति और पराक्रम आदि का बाहुल्य प्रकाशित होता है। यह बात मेरे 'अर्जुनचरित' नामक काव्य में अर्जुन के पातालगमन के प्रसङ्ग में स्पष्टरूप से प्रदर्शित की गई है।

लोचनम्

विभिन्नाश्रयत्वेन नायकविपक्षादिगामित्वेन कार्यः। *तस्येति।* तस्य विरोधिनोऽपि तथाकृतस्य तथानिबद्धस्य परिपुष्टतायाः प्रत्युत निर्दोषता नायकोत्कर्षाधानात्। अपरिपोषणन्तु दोष एवेति यावत्। अपिशब्दो भिन्नक्रमः। एवमेव वृत्तावपि व्याख्यानात्। ऐकाधिकरण्यमेकाश्रयेण सम्बन्धमात्रम्, तेन विरोधी यथा–भयेनोत्साहः, एकाश्रयत्वेऽपि सम्भवति कश्चिन्निरन्तरत्वेन निर्व्यवधानत्वेन विरोधी, यथा रत्या निर्वेदः। *प्रदर्शितमिति।* 'समुत्थिते धनुर्ध्वनौ भयावहे किरीटिनो महानुपप्लवोऽभवत्पुरे पुरन्दरद्विषाम्।' इत्यादिना॥२५॥

विपक्ष आदि में प्रदर्शित करना चाहिये **तस्येति** उसका– उस प्रकार विरुद्ध उस विरोधी का भी केवल परिपुष्टता के कारण नहीं प्रत्युत निर्दोषता भी होगी। क्योंकि ऐसा करने से नायक के उत्कर्ष का आधान होता है। अपरिपोषण तो दोष होगा ही। अपि शब्द भिन्न क्रम है, क्योंकि वृत्ति में भी इसी प्रकार का व्याख्यान है। ऐकाधिकरण्य का तात्पर्य यह है कि एक आश्रय में सम्बन्ध मात्र। उससे विरोधी, जैसे भय से उत्साह। एकाश्रयत्व के संभव होने पर भी कोई नैरन्तर्य अर्थात् निर्व्यवधानत्व के कारण विरोधी होता है, जैसे रति से निर्वेद दिखाया गया है। अर्जुन के गाण्डीव से होने वाले भयावह शब्द के होने के कारण इन्द्रशत्रु असुरों के नगर में खलबली मच गई इत्यादि द्वारा॥२५॥

ध्वन्यालोकः

एवमैकाधिकरण्यविरोधिनः प्रबन्धस्थेन स्थायिना रसेनाङ्गभावगमने निर्विरोधित्वं यथा तथा तद्दर्शितम्। द्वितीयस्य तु तत्प्रतिपादयितुमुच्यते–

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यः सुमेधसा ॥२६॥

प्रबन्धस्थ प्रधान रस के साथ ऐकाधिकरण्यरूप विरोधी का अङ्गभाव होकर जिस प्रकार अविरोध हो सकता है, वह प्रकार दिखलाया गया। अब दूसरे जिनके निरन्तर समावेश में विरोध होता है उन नैरन्तर्यविरोधियों के भी उस अविरोधोपपादक प्रकार को दिखलाने के लिये यह कहते हैं– **एकाश्रयत्व इति**।

जिस रस के एक आश्रय में निबन्धन में दोष नहीं है परन्तु निरन्तर अव्यवहित रूप से समावेश में विरोध उपस्थित होता है उन दोनों के बीच में अविरोधी रस के वर्णन से व्यवहित करके बुद्धिमान् कवि को वर्णन करना चाहिये।

लोचनम्

द्वितीयस्येति। नैरन्तर्यविरोधिनः। *तदिति।* निर्विरोधित्वम्। एकाश्रयत्वेन निमित्तेन यो निर्दोषः न विरोधी किं तु निरन्तरत्वेन निमित्तेन विरोधमेति स तथाविधविरुद्धरसद्वयाविरुद्धेन रसान्तरेण मध्ये निवेशितेन युक्तः कार्य इति कारिकार्थः। प्रबन्ध इति बाहुल्यापेक्षं, मुक्तकेऽपि कदाचिदेवं भवेदपि। यद्वक्ष्यति–'एकवाक्यस्थयोरपि' इति। *यथेति।* तत्र हि– 'रागस्यास्पदमित्यवैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः' इत्यादिनोपक्षेपात्प्रभृति परार्थशरीरवितरणात्मकनिर्वहणपर्यन्तः शान्तो रसस्तस्य विरुद्धो

द्वितीयस्येति दूसरे का– अर्थात् नैरन्तर्य विरोधी का– **तदिति** निर्विरोधित्व को। कारिका का अर्थ यह है कि एकाश्रयत्वरूप कारण से जो निर्दोष अर्थात् विरोधी नहीं है किन्तु निरन्तरत्वरूप कारण से विरोध ग्रहण करता है उसे उस प्रकार के विरुद्ध दो रसों के बीच अविरुद्ध रसान्तर के साथ युक्त करना चाहिये। **प्रबन्ध इति** प्रबन्ध में। अपेक्षा करके बहुल रूप से कदाचित् वह प्रकार मुक्तक में भी हो सकता है। **यद्वक्ष्यति** जिसे कहेंगे **एकवाक्यस्थयोरपीति** इस शब्द से **यथेति** जैसे– क्योंकि वहाँ रागस्यास्पदमित्यवैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः से लेकर परार्थ शरीर वितरणात्मक निर्वहण पर्यन्तः) जिस शरीर को राग का आस्पद करके समझता हूँ कि यह शरीर ध्वंसशील नहीं है ऐसा मेरा विश्वास नहीं, इत्यादि उपक्षेप से लेकर दूसरों के लिये

ध्वन्यालोकः

यः पुनरेकाधिकरणत्वे निर्विरोधो नैरन्तर्ये तु विरोधी स रसान्तरव्यवधानेन परबन्धे निवेशयितव्यः। यथा शान्तशृङ्गारौ नागानन्दे निवेशितौ।

और जो रस एक अधिकरण में अविरोधी है, परन्तु नैरन्तर्य में विरोधी है उसका दूसरे रस के व्यवधान से प्रबन्ध में समावेश करना चाहिये। जैसे नागानन्द में शान्त और शृङ्गार का (बीच में दोनों के अविरोधी अद्भुत रस के समावेश से व्यवहित करके समावेश किया गया है।)

लोचनम्

मलयवतीविषयः शृङ्गारस्तदुभयाविरुद्धमद्भुतमन्तरीकृत्य क्रमप्रसरसम्भावनाभिप्रायेण कविना निबद्धः 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इति एतदर्थमेव 'व्यक्तिर्व्यञ्जन धातुना' इत्यादि नीरसप्रायमप्यत्र निबद्धमद्भुतरसपरिपोषकतयात्यन्तरसरसतावहमिति 'निर्दोषदर्शनाः कन्यकाः' इति च क्रमप्रसरो निबद्धः। यथाहुः– 'चित्तवृत्तिप्रसरप्रसंख्यानधनाः सांख्याः पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेने'ति। अननतरं च निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गागतो यः शेखरकवृत्तान्तोदितहास्यरसोपकृतः शृङ्गारस्तस्य विरुद्धो यो वैराग्यशमपोषको नागीयकलेवरास्थिजालावलोकनादिवृत्तान्तः स मित्रावसोः प्रविष्टस्य मलयवतीनिर्गमनकारिणः 'संसर्पद्भिः समन्तात् इत्यादि काव्योपनिबद्धक्रोधव्यभिचार्युपकृतवीररसान्तरितो निवेशितः।

शरीर का वितरण रूप निर्वहण तक शान्त रस है। उसके विरुद्ध मलयतीविषयक शृङ्गार की उन दोनों शान्त और शृङ्गार के अविरुद्ध अद्भुत रस को मध्य में रख कर कविने क्रम के प्रसर की संभावना के अभिप्राय से निबन्धन किया हैं। **अहो गीतमहो वादित्रम्।** एतदर्थ ही **व्यक्तिर्व्यञ्जन धातुना** इत्यादि अद्भुत रस के परिपोषक रूप से अत्यन्त रस की रसता का वहन करने वाले रस नीरस प्राय को भी यहाँ निबन्धन किया है और **निर्दोषदर्शनाः कन्यकाः** इस क्रम से प्रसर को भी निबन्धन किया है। जैसे चित्तवृत्ति के प्रसरों में दोषदर्शन करने वाले सांख्य लोग कहते है– निमित्त (धर्म आदि) नैमित्तिक (स्थूल देह आदि) के प्रसङ्ग में यह (लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर नट की भाँति विविध रूप धारण करके) पुरुषार्थरूप फल के लिये व्यवस्थित होता है। अनन्तर जो निमित्त-नैमित्तिक के प्रसङ्ग से आया हुआ शेखरक के वृत्तान्त से उत्पन्न हास्य रस से उपकृत शृङ्गार है उसके विरुद्ध जो वैराग्य एवं शम का पोषक नाग के शरीर में अस्थिजाल का अवलोकन आदि वृत्तान्त है वह मलयवती का निर्गमन करने

ध्वन्यालोकः

शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव। तथा चोक्तम्–

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

तृष्णानाश से उत्पन्न सुख का जो परिपोष तत् स्वरूप शान्त रस प्रतीत होता ही है (अर्थात् उसका अपलाप या निषेध नहीं किया जा सकता है) इसी से कहा है–

संसार में जो काम सुख है और जो अलौकिक दिव्य महान् सुख है ये दोनों ही तृष्णाक्षय (सन्तोषजन्य) सुख की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं हैं।

लोचनम्

ननु नास्त्येव शान्तो रसः तस्य तु स्थाय्येव नोपदिष्टो मुनिनेत्याशङ्क्याह–*शान्तश्चेति।* तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदः तदेव सुखं तस्य स्थायिभूतस्य यः परिपोषो रस्यमानताकृतस्तदेव लक्षणं यस्य स शान्तो रसः। *प्रतीयत एवेति।* स्वानुभवेनापि निवृत्तभोजनाद्यशेषविषयेच्छाप्रसरत्वकाले सम्भाव्यत एव।

अन्ये तु सर्वचित्तवृत्तिप्रशम एवास्य स्थायीति मन्यन्ते। तृष्णासद्भावस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपत्वे चेतोवृत्तित्वाभावेन भावत्वायोगात्। पर्युदासे त्वस्मत्पक्ष एवायम्। अन्ये तु–

वाले प्रविष्ट मित्रावसुके **'संसर्पद्भिः समन्तात्'** इत्यादि काव्य द्वारा उपनिबद्ध क्रोध के व्यभिचारी से उपकृत रस से अन्तरित होकर रखा गया है।

संदेह करते हैं कि 'शान्त रस तो है ही नहीं, क्योंकि स्वयं मुनि ने उसके स्थायीभाव का उपदेश नहीं किया है, इस आशङ्का पर कहते हैं– **शान्तश्चेति** विषयाभिलाष रूप तृष्णाओं का जो क्षय अर्थात् सभी विषयों से निवृत्ति रुप जो निर्वेद है तद्रूप ही सुख है, स्थायी रूप में उस निर्वेद का जो रस्यमानताकृत परिपोष है वह रूप है जिसका ऐसा शान्त रस है। **प्रतीयत एवेति**– प्रतीत होता ही है। भोजनादि अशेष विषयों की इच्छा के प्रसरत्व के समय अपने अनुभव से भी संभावित होता ही है।

अन्य लोग सभी चित्तवृत्तियों का प्रशम ही इसका स्थायी मानते हैं। तृष्णा के सद्भाव के प्रसज्यप्रतिषेध (अर्थात् अत्यन्ताभाव) होने पर चित्तवृत्तिमात्र के अभाव से भावत्व संभव नहीं होगा। पर्युदास के प्रकार से मानने पर तो हमारा पक्ष ही यह है। [हमें भी स्वीकार है कि सभी चित्तवृत्तियों के प्रशम का अर्थ सभी चित्तवृत्तियों

लोचनम्

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते॥

इति भरतवाक्यं दृष्टवन्तः सर्वरससामान्यस्वभावं शान्तमाचक्षाणा अनुपजातविशषान्तरचित्तवृत्तिरूपं शान्तस्य स्थायिभावं मन्यन्ते। एतच्च नातीवास्मत्पक्षाद् दूरम्। प्रागभावप्रध्वंसाभावकृतस्तु विशेषः। युक्तश्च प्रध्वंस एव तृष्णानाम्। यथोक्तम्–'वीतरागजन्मादर्शनात्' इति। *प्रतीयत एवेति।* **मुनिनाप्यङ्गीक्रियत एव 'क्वचिच्छमः' इत्यादि वदता। न च तदीया पर्यन्तावस्था वर्णनीया येन सर्वचेष्टोपरमादनुभावाभावेनाप्रतीयमानता स्यात्। 'शृङ्गारादेरपि फलभूमावर्णनीयतैव पूर्वभूमौ तु 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्', 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' इति सूत्रद्वयनीत्या चित्राकारा यमनियमादिचेष्टा राज्यधुरोद्वहनादिलक्षणा वा शान्तस्यापि जनकादेदृष्टैवेत्यनुभावसद्भावाद्यमनियमादिमध्यसम्भाव्यमानभूयोव्यभिचारि-सद्भावाच्च प्रतीयत एव।**

का विरोधी चित्तवृत्तिविशेष है]। अन्य लोग तो **स्वं स्वमिति** भाव अपना-अपना निमित्त पाकर शान्त से प्रवृत्त होता है परन्तु पुनः निमित्त के समाप्त होने पर शान्त में ही प्रलीन हो जाता है। इस भरतवाक्य को देख कर सभी रसों के सामान्य स्वरूप का अभाव रूप शान्त को कहते हुये शान्त का स्थायीभाव विशेष में उत्पन्न न होने वाली आन्तर (आत्मविषयक) चित्तवृत्ति को मानते हैं यह भी हमारे पक्ष में अतीव दूर नहीं है, किन्तु इसमें भेद प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का है। इस मत का प्रागभाव में पर्यवसान है हमारे मत का प्रध्वंसाभाव में। तृष्णाओं का प्रध्वंसक ही ठीक जान पड़ता है जैसा कि कहा है **'वीतरागजन्मादर्शनात्'**। क्योंकि वीतराग पुरुष का जन्म नहीं देखा जाता। **प्रतीयत एवेति** प्रतीत होता ही है 'कहीं शम है' इत्यादि कथन करते हुये मुनि ने भी शान्तके स्थायी भाव शम को अङ्गीकार किया है। उस शान्त की पर्यन्त अवस्था का वर्णन नहीं करना चाहिये जिससे समस्त चेष्टाओं का उपरम हो जाने से उस शान्त की अप्रतीति हो। फल भूमि (अर्थात् सुरत आदि पर्यन्तभूमि) में शृङ्गार आदि को अवर्णनीयता होती ही है। **'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्'** अर्थात् उक्त निरोध के संस्कार से वह चित्त विक्षेपरहित होकर प्रशान्त का ही अर्थात् सदृश प्रवाह परिणामी हो जाता है और **तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः** उस समाधि में स्थित योगी के छिद्रों (अन्तरालों) में प्रत्ययान्तर (व्युत्थान) रूप ज्ञान होते हैं। अर्थात् प्राग्भूत व्युत्थान के अनुभव से उत्पन्न **'अहं मम'** इत्याकारक क्षीयमाण संस्कारों से भी व्युत्थान रूप ज्ञान होते हैं। इन दोनों सूत्रों के अनुसार राज्यधुरा के उद्वहन रूप यम-नियमादि

ध्वन्यालोकः

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति नैतावतासावलोकसामान्यमहानुभावचित्तवृत्तिविशेषः प्रतिक्षेप्तुं शक्यः। न च वीरे तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः। तस्याभिमानमयत्वेन

यदि शान्त रस सर्वसाधारण के अनुभव का विषय़ नहीं है तो इससे असाधारण महापुरुषों के चित्तवृत्ति विशेषरूप शान्त रस का निषेध तो नहीं किया जा सकता है। और न वीररस में उसका अन्तर्भाव करना उचित है, क्योंकि वीररस अहङ्कारमयरूप से स्थित होता है। और इस शान्त की स्थिति अहङ्कार-प्रशमन

लोचनम्

ननु न प्रतीयते नास्य विभावाः सन्तीति चेत्– नः प्रतीयत एव तावदसौ। तस्य च भवितव्यमेव प्राक्तनकुशलपरिपाकपरमेश्वरानुग्रहाध्यात्मरहस्यशास्त्रवीतरागपरिशीलनादिभिर्विभावैरितीयतैव विभावानुभावव्यभिचारिसद्भावः स्थायी च दर्शितः। ननु तत्र हृदयसंवादाभावाद्रस्यमानतैव नोपपन्ना। क एवमाह स नास्तीति, यतः प्रतीयत एवेत्युक्तम्।

ननु प्रतीयते सर्वस्य श्लाघास्पदं न भवति। तर्हि वीतरागाणां शृङ्गारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसत्वाच्च्यवतामिति तदाह–*यदि नामेति।* ननु धर्मप्रधानोऽसौ वीर एवेति सम्भावयमान आह–*न चेति।* तस्येति वीरस्य।

आश्चर्यकारिणी चेष्टाजनक आदि भी देखी ही गई है, इस कारण अनुभावों के सद्भाव से यम-नियम के आदि के बीच संभाव्यमान बहुत से व्यभिचारी भावों के सद्भाव से शान्त रस प्रतीत होता ही है।

यदि कहो कि शान्तरस प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसके विभाव नहीं होते, ऐसी बात नहीं, वह तो प्रतीत होता ही है और उसके प्राक्तन कुशल सत्कर्मों का विपाक, परमेश्वर का अनुग्रह तथा अध्यात्म शासन के एवं वीतरागों के सम्बन्ध में परिशीलन आदि विभाव होने भी चाहिये। इस प्रकार इतने से ही विभाव, अनुभाव, सञ्चारी का सद्भाव और स्थायीभाव दिखाया गया। पुनः संदेह करते हैं– उस शान्त रस में हृदय-संवाद के न होने से रस्यमानता ही नहीं बनती, इस शङ्का का समाधान करते हैं– कौन ऐसा कहता है कि वह हृदयसंवाद नहीं है। क्योंकि प्रतीत होता ही है यह कहा जा चुका है। पुनः संदेह करते हैं– प्रतीति तो होता ही है पर सब की प्रशंसा का पात्र नहीं होता। अर्थात् सब लोग उसे नहीं चाहते। समाधान– तब तो वीतराग पुरुषों

ध्वन्यालोकः

व्यवस्थापनात्। अस्य चाहङ्कारप्रशमैकरूपतया स्थितेः। तयोश्चैवंविध-विशेषसद्भावेऽपि यद्यैक्यं परिकल्प्यते तद्वीररौद्रयोरपि तथा प्रसङ्गः।

रूप से होती है उन शान्त और वीर में इस प्रकार का भेद होते हुये भी यदि ऐक्य माना जाय तो फिर वीर और रौद्र को भी एक ही मानना चाहिये। दया

लोचनम्

अभिमानमयत्वनेति। उत्साहो ह्यहमेवंविध इत्येवंप्राण इत्यर्थः। अस्य चेति शान्तस्य। *तयोश्चेति।* ईहामयत्वनिरीहत्वाभ्यामत्यन्तविरुद्धयोरपीति चशब्दार्थः। वीररौद्रयोस्त्वत्यन्तविरोधोऽपि नास्ति। समानं रूपं च धर्मार्थकामार्जनोपयोगित्वम्।

नन्वेवं दयावीरो धर्मवीरो दानवीरो वा नासौ कश्चित्, शान्तस्यैवेदं नामान्तरकरणम्। तथा हि मुनिः

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च।
रसवीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधसम्मितम्॥

इत्यागमपुरःसरं त्रैविध्यमेवाभ्यधात्। तदाह–*दयावीरादीनाच्चे-त्यादिग्रहणेन।* विषयजुगुप्सारूपत्वाद् वीभत्सेऽन्तर्भावः। शङ्क्यते। **सा त्वस्य व्यभिचारिणी भवति न तु स्थायितामेति, पर्यन्तनिर्वाहे तस्या मूलत एव विच्छेदात्। अधिकारिकत्वेन तु शान्तो रसो न निबद्धव्य इति चन्द्रिकाकारः।**

की दृष्टि में शृङ्गार श्लाध्य नहीं है तब तो वह भी रसत्व से च्युत हो गया। इस पर कहते हैं– **यदि नामेति** वह शान्त धर्मप्रधान वीर ही है यह संभावना करते हुये कहते हैं– **न चेति**– वीर रस में शम का अन्तर्भाव ठीक नहीं। **तस्येति** उस वीर के **अभिमानमयत्वेनेति** अभिमानमय रूप होने से। अर्थात् मैं इस प्रकार का हूँ एतद् रूप उत्साह उसमें रहता है। **अस्य चेति** इस शान्त का **तयोश्चेति** ईहामयत्व और निहीरत्व इन दोनों में। वीर और रौद्र का तो अत्यन्त विरोध भी नहीं है। धर्म, अर्थ, काम के अर्जन का उपयोगित्व समान रूप से है। संदेह करते हैं– इस प्रकार वह दयावीर, धर्मवीर अथवा दानवीर कोई नहीं बल्कि वह शान्त का ही दूसरा नामकरण है। जैसा कि मुनि ने स्वयं कहा है– दानवीर-धर्मवीर और उसी प्रकार युद्धवीर से रसवीर को ही बह्मा जी ने तीन प्रकार से विभक्त कर कहा है– इस आगम के अनुसार त्रैविध्य ही कहा है इसी बात को कहते हैं– और दयावीर आदि ग्रहण द्वारा शान्त रस के स्थायीभाव को विषयजुगुप्सा रूप होने के कारण बीभत्स में इसके अन्तर्भाव का कुछ लोग संभावना करते हैं, परन्तु वह जुगुप्सा शान्त की व्यभिचारी भाव होती है न कि

ध्वन्यालोकः

दयावीरादीनां च चित्तवृत्तिविशेषाणां सर्वाकारमहङ्काररहितत्वेन शान्तरसप्रभेदत्वम्, इतरथा तु वीरप्रभेदत्वमिति व्यवस्थाप्यमाने न कश्चिद्विरोधः। तदेवमस्ति शान्तो रसः। तस्य चाविरुद्धरसव्यवधानेन प्रबन्धे विरोधिरससमावेशे सत्यपि निर्विरोधत्वम्। यथा प्रदर्शिते विषये।

एतदेव स्थिरीकर्तुमिदमुच्यते–

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि ।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥२७॥

वीर आदि चित्तवृत्ति-विशेष यदि सब प्रकार के अहङ्कार से रहित हो तब तो उसको शान्तरस का भेद कह सकते हैं अन्यथा अहङ्कारमय चित्तवृत्ति होने पर वह वीररस का भेद होगा। ऐसी व्यवस्था करने से उनमें कोई विरोध नहीं होगा। इस प्रकार शान्तरस है और विरोधी रस का समावेश रहने पर भी अविरुद्ध रस के व्यवधान से प्रबन्ध में उनका समावेश करने से कोई विरोध नहीं रहता। जैसा कि ऊपर दिखलाये गये नागानन्द के विषय में है। इसी को स्थिर करने के लिये कहते हैं– **रसान्तरेति**, एक वाक्य में स्थित होने पर भी दूसरे (दोनों के अविरोधी) रस से व्यवहित हुये दो विरोधी रसों का समावेश होने पर उनका विरोध समाप्त हो जाता है॥२७॥

लोचनम्

तच्चेहास्माभिर्न पर्यालोचितं, प्रसङ्गान्तरात्। मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः। स चायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयपूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना॥२६॥

स्थायीभाव है। पर्यन्त तक निर्वाह की स्थिति में यह मूल में ही विच्छिन्न हो जाती है। चन्द्रिकाकार का कहना है कि आधिकारिक रूप से शान्त रस का निबन्धन नहीं करना चाहिये। प्रसङ्गान्तर होने के कारण हमने इसका पर्यालोचन नहीं किया हैं। मोक्ष रूप फल वाला होने के कारण परम पुरुषार्थनिष्ठ होने से यह शान्त सभी रसों में प्रधानतम हैं। उसे हमारे उपाध्याय भट्टतौत ने काव्यकौतुक में और हमने उसके विवरण में पूर्वपक्ष और सिद्धान्त के द्वारा बहुत प्रकार से निर्णय किया है।

ध्वन्यालोकः

रसान्तरव्यवहितयोरेकप्रबन्धस्थयोर्विरोधिता निवर्तत इत्यत्र न काचिद्भ्रान्तिः। यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तया नीत्या विरुद्धता निवर्तते। यथा–

भूरेणुदिग्धान्नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः ।
**गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानांल्ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥**

दूसरे रस से व्यवधान हो जाने पर एक प्रबन्ध में स्थित विरोधी रसों का विरोध भी मिट जाता है, इसमें किसी प्रकार का भ्रम नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त नीति से एक वाक्यस्थ रसों का भी विरोध नहीं रहता जैसे– **भूरेणुदिगिति।**

नवीन परिजातमाला के पराग से सुगन्धित वक्षःस्थलवाले, सुराङ्गनाओं से आलिङ्गित उरःस्थल वाले, चन्दन जल से संसिक्त सुगन्धित कल्पलता के बने दूकुलो (वस्त्रों) द्वारा निर्मित पङ्खों से हवा किये जाते हुये, विमान के पलङ्ग पर बैठे हुये युद्ध में मारे गये वीरों ने कौतूहलवश ललनाओं (अप्सराओं स्वर्वेश्याओं) के द्वारा अङ्गुली के संकेत से दिखलाये जाते हुये पृथ्वी की धूल से सने हुये शृङ्गालियों से गाढ़ आलिङ्गित मांसाहारी पक्षियों के रक्त से सने हुये तथा हिलते हुये पङ्खों से हवा किये जाते हुये युद्धभूमियों में पड़े हुये अपने शरीरों को देखा। इत्यादि में।

लोचनम्

***स्थिरीकर्तुमिति।* शिष्यबुद्धावित्यर्थः। अपिशब्देन प्रबन्धविषयतया सिद्धोऽयमर्थ इति दर्शयति–*भूरेण्विति।* विशेषणैरतीव दूरापेतत्वमसम्भावनास्पदमुक्तम्। स्वदेहानित्यनेन देहत्वाभिमानादेव तादात्म्य-**

स्थिरीकर्त्तुमिति। स्थिर करने के लिये। शिष्यबुद्धि में। अपि शब्द के प्रबन्ध का विषय होने के कारण यह बात सिद्ध हो चुका है इसे दिखाते है– **भूरेणुदिगिति**– नये पारिजात इन विशेषणों से बहुत दूर की बात और संभावना का आस्पद न होना कहा गया है– **स्वदेहान्** अर्थात् अपने शरीरों के– इससे शरीरत्वाभिमान के कारण ही तादात्म्य (अभेद) की संभावना निष्पन्न होती है अतः एकाश्रयत्व है अन्यथा विभिन्न

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ। अत्र हि शृङ्गारबीभत्सयोस्तदङ्गयोर्वा वीररसव्यवधानेन समावेशो न विरोधी।

विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत्।
विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमा ह्यसौ ॥२८॥

यथोक्तलक्षणानुसारेण विरोधाविरोधौ सर्वेषु रसेषु प्रबन्धेऽन्यत्र च निरूपयेत्सहृदयः; विशेषतस्तु शृङ्गारे। स हि रतिपरिपोषात्मकत्वाद्

यहाँ शृङ्गार और बीभत्स रस अथवा उनके अङ्गों (स्थायीभावों रति तथा जुगुप्सा) का वीररस के व्यवधान से समावेश विरुद्ध नहीं है।

विरोध तथा अविरोध का सर्वत्र इसी प्रकार निरूपण करना चाहिये विशेष कर शृङ्गार में; क्योंकि वह सबसे सुकुमार रस है॥२८॥

उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार प्रबन्धकाव्य में और अन्यत्र मुक्तकों में सहृदयों को रसों में विरोध अथवा अविरोध को पहचानना चाहिये विशेष कर शृङ्गार में।

लोचनम्

सम्भावनानिष्पत्तेरेकाश्रयत्वमस्ति, अन्यथा विभिन्नविषयत्वात्को विरोधः। ननु वीर एवात्र रसो न शृङ्गारो न वीभत्सः किन्तु रतिजुगुप्से हि वीरं प्रति व्यभिचारीभूते। भवत्वेवम्, तथापि प्रकृतोदाहरणता तावदुपपन्ना। तदाह— तदङ्गयोर्वेति। तयोरङ्गे तत्स्थायिभावावित्यर्थः। *वीररसेति।* 'वीराः स्वदेहान्' इत्यादिना तदीयोत्साहाद्यवगत्या कर्तृकर्मणोः समस्तवाक्यार्थानुयायितया प्रतीतिरिति मध्यपाठाभावेऽपि सुतरां वीरस्य व्यवधायकतेति भावः॥२७॥

अन्यत्र चेति मुक्तकादौ। स हि शृङ्गारः सुकुमारतम इति सम्बन्धः।

विषय होने के कारण कौन विरोध होता। संदेह करते हैं कि यहाँ वीर ही रस है, न शृङ्गार है, न बीभत्स है, किन्तु रति और जुगुप्सा वीर के प्रति व्यभिचारी भाव हो गये हैं, इसका समाधान करते हैं– इस प्रकार हो भी तथापि प्रकृत में इसका उदाहरण होना उपपन्न है। इसी बात को कहते हैं– **तदङ्गयोर्वेति** उनके अङ्ग अर्थात् उनके स्थायीभाव। वीर रसेति भाव यह कि वीरों ने अपने शरीरों को इत्यादि से उनके उत्साहादि के ज्ञान से कर्त्ता और कर्म का समस्त वाक्यार्थ में अनुगत रूप से प्रतीति होती है, इसके अनुसार बीच में पाठ न होने पर भी सुतरां वीर ही व्यवधायक है॥२७॥

अन्यत्र चेति– मुक्तकादि में वह शृङ्गार अत्यन्त सुकुमार है, यहाँ इस प्रकार

ध्वन्यालोकः

रतेश्च स्वल्पेनापि निमित्तेन भङ्गसम्भवात्सुकुमारतमः सर्वेभ्यो रसेभ्यो मनागपि विरोधिसमावेशं न सहते।

अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः।
भवेत्तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ॥२९॥

तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशययोगिनि कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात्। तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये क्षिप्रमेवावज्ञानविषयता भवति। शृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः।

एवं च सति–

क्योंकि यह रति के परिपोषरूप होने से और रति के स्वल्प निमित्त से भङ्ग हो जाने की संभावना के कारण अधिक सुकुमार है और यह विरोधी के स्वल्पमात्र सन्निवेश को सहन नहीं कर सकता है॥२८॥

सत्कवि को उसी शृङ्गार रस में अत्यन्त सावधान रहना चाहिये, क्योंकि उसमें स्वल्प भी प्रमाद सद्यः प्रतीत होने लगता है॥२९॥

सब रसों में अधिक सुकुमार उसी रस में कवि को सावधानतया प्रयत्नशील होना चाहिये। उसमें प्रमाद करने वाला वह कवि सहृदयों के बीच शीघ्र ही तिरस्कार का पात्र बन जाता है।

शृङ्गर रस समस्त सांसारिक पुरुषों के अनुभव का विषय अवश्य होता है अतः सौन्दर्य की दृष्टि से प्रधानतम है। ऐसा होने से–

लोचनम्

सुकुमारस्तावद्रसजातीयस्ततोऽपि करुणस्ततोऽपि शृङ्गार इति तमप्रत्ययः॥२८-२९॥

एव *चेति।* यतोऽसौ सर्वसंवादीत्यर्थः। *तदिति।* शृङ्गारस्य विरुद्धा ये शान्तादयस्तेष्वपि तदङ्गानां शृङ्गाराङ्गानां सम्बन्धी स्पर्शो न दुष्टः। तया

का वाक्यसम्बन्ध समझना चाहिये। एक तो रसमात्र सुकुमार होता है, उसमें भी करुण और उसमें भी शृङ्गार। इसलिये तमप् प्रत्यय किया गया है। **एवं चेति** अर्थात् ऐसा होने पर। जिस कारण वह शृङ्गार सर्वसंवादी अर्थात् सभी सहृदयों के हृदय का संवाद रखने वाला है। **तदिति** उसके शृङ्गार के विरुद्ध जो शान्त आदि है उनमें भी उन शृङ्गार

ध्वन्यालोकः

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥३०॥

शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गाराङ्गानां यः स न केवलमविरोध-लक्षणयोगे सति न दुष्यति यावद्विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति। शृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः

शिष्यों को शिक्षणीय विषयों में प्रवृत्त करने की दृष्टि से अथवा काव्य की शोभा के लिये उस शृङ्गार के विरोधी शान्त आदि रसों में उस शृङ्गार के अङ्गों (व्यभिचारी भावादि) का स्पर्श दूषित नहीं होता॥३०॥

शृङ्गार के अङ्गों का जो श्रृङ्गार विरुद्ध रसों के साथ स्पर्श है वह केवल पूर्वोक्त अविरोध लक्षणों के होने पर निर्दोष हो यह बात नहीं अपितु शिष्यों को उन्मुख करने अथवा काव्य की शोभा की दृष्टि से किये जाने पर दूषित नहीं होता है। शिष्यगण शृङ्गार रस के अङ्गों द्वारा प्रवृत्त कराये जाने पर सदाचार के उपदेशों को आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। भरतादि मुनियों ने शिक्षणीय जनों

लोचनम्

भङ्ग्या रसान्तरगता अपि विभावानुभावाद्या वर्णनीया यया शृङ्गाराङ्गभावमुपागमन्। यथा ममैव स्तोत्रे–

त्वां चन्द्रचूडं सहसा स्पृशन्ती प्राणेश्वरं गाढवियोगतप्ता।
सा चन्द्रकान्ताकृतिपुत्रिकेव संविद्विलीयापि विलीयते मे ॥

इत्यत्र शान्तविभावानुभावानामपि शृङ्गारभङ्ग्या निरूपणम्। विनेयानुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा तदर्थं नैव दुष्यतीति सम्बन्धः। वाग्रहणेन पक्षान्तरमुच्यते। तदेव व्याचष्टे–*न केवलमिति।*

के अङ्गों से सम्बन्ध रखने वाला स्पर्श दोषयुक्त नहीं होता। उस अङ्गी के रसान्तरर्गत भी विभाव, अनुभाव आदि का वर्णन करना चाहिये जिससे वे शृङ्गार के अङ्ग बन जावें। जैसे मेरे ही स्तोत्र में– **त्वमिति** चन्द्र का आभूषण धारण करने वाले तुम प्राणेश्वर को सहसा स्पर्श करती हुई गाढ़ वियोग से तप्त मेरी संवित् (अन्तःकरण अथवा उसकी वृत्ति) चन्द्रकान्त की बनी हुई पुतली की भाँति विलीन होकर भी पुनः विलीन हो रही है।

यहाँ शान्त के विभाव और अनुभावों का भी शृङ्गार की भङ्गी से निरूपण है। शिष्यों को उन्मुख करने के लिये जो काव्य की शोभा है वह उसके लिये दूषित नहीं होती यह वाक्य का सम्बन्ध हैं। अथवा ग्रहण से पक्षान्तर कहा गया है, उसी का

ध्वन्यालोकः

सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता।

किं च शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात्तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी। ततश्च–

के हित के लिये ही सदाचारोपदेश रूप नाटकादि गोष्ठी की अवतारणा की है।

इतना ही नहीं शृङ्गार सब लोगों के मन को हरण करने वाला और सुन्दर होने से उसके अङ्गों का समावेश काव्य में सौन्दर्य के अतिशय की वृद्धि करने वाला होता है। इस प्रकार से भी विरोधी रस में शृङ्गार का समावेश विरोधी नहीं

लोचनम्

वाशब्दस्यैतद्व्याख्यानम्। अविरोधलक्षणं परिपोषपरिहारादि पूर्वोक्तम्। विनेयानुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा तदर्थमपि वा विरुद्धसमावेशः न केवलं पूर्वोक्तैः प्रकारैः, न तु काव्यशोभा विनेयोन्मुखीकरणमन्तरेणास्ते, व्यवधानाव्यवधाने नापि लभ्येते यथान्यैर्व्याख्याते। *सुखमिति।* रञ्जनापुरःसरमित्यर्थः। ननु काव्यं क्रीडारूपं क्व च वेदादिगोचरा उपदेशकथा इत्याशङ्क्याह–*सदाचारेति। मुनिभिरिति*–भरतादिभिरित्यर्थः। एतच्च प्रभुमित्रसम्मितेभ्यः शास्त्रेतिहासेभ्यः प्रीतिपूर्वकं जायासम्मितत्वेन नाट्यकाव्यगतं व्युत्पत्तिकारित्वं पूर्वमेव निरूपितमस्माभिरिति न पुनरुक्तभयादिह लिखितम्।

व्याख्यान करते हैं– **न केवलमिति 'वा'** शब्द का यह व्याख्यान है परिपोष परिहार आदि अविरोध के लक्षण पहले कह चुके हैं। शिष्यों को उन्मुख करने के लिये जो काव्य की शोभा है उसके लिये भी 'वा' यह विरुद्ध समावेश हैं न केवल पूर्वोक्त प्रकारों से और न कि काव्य की शोभा शिष्यों को उन्मुख किये बिना हो सकती है। बल्कि वह तो रसान्तर के व्यवधान और अव्यवधान से भी हो सकती है जैसा कि अन्य लोगों द्वारा किये गये व्याख्यान में स्पष्ट किया गया है। **सुखमिति** सुखपूर्वक अर्थात् रञ्जनपूर्वक। जब काव्य क्रीडारूप है तो फिर वेद आदि में रहने वाली उपदेश की कथा कैसे? इस आशङ्का पर कहते हैं **सदाचारेति। मुनिभिरिति** अर्थात् भरत आदि मुनियों ने। प्रभुसम्मित तथा मित्रसम्मित शास्त्रों और इतिहासों से अतिरिक्त ही यह काव्यशास्त्र प्रीतिपूर्वक जायासम्मित रूप होने से नाट्यगत और काव्यगत व्युत्पत्तिकारित्व का हमने पहले ही निरूपण किया है, इसलिये पुनरुक्त होने के भय से यहाँ नहीं लिखा।

ध्वन्यालोकः

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किं तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥
इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः।

है। इसलिये यह ठीक है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोरम होती हैं, यह ठीक है कि विभूति (ऐश्वर्य) बड़ी सुन्दर होती है किन्तु उसका भोग करने वाला यह जीवन तो मत्त स्त्री के कटाक्ष के समान अत्यन्त अस्थिर है। इत्यादि में शान्त में शृङ्गार द्वारा रसविरोध का दोष नहीं है॥३०॥

लोचनम्

ननु शृङ्गाराङ्गताभङ्ग्या यद्विभावादिनिरूपणमेतावतैव किं विनेयोन्मुखीकारः। न; अस्ति प्रकारान्तरं, तदाह–*किं चेति। शोभातिशयमिति।* अलङ्कारविशेषमुपमाप्रभृतिं पुष्यति सुन्दरीकरोतीत्यर्थः। यथोक्तम्– 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा' इति। *मत्ताङ्गनेति।* अत्र हि शान्तविभावे सर्वस्यानित्यत्वे वर्ण्यमाने न कस्यचिद्विभावस्य शृङ्गारभङ्ग्या निबन्धः कृतः, किं तु सत्यमिति परहृदयानुप्रवेशेनोक्तम्; न खल्वलीकवैराग्यकौतुकरुचिं प्रकटयामः, अपि तु यस्य कृते सर्वमभ्यर्थ्यते तदेवेदं चलमिति; तत्र मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गस्य शृङ्गारं प्रति सम्भाव्यमानविभावानुभावत्वेनाङ्गस्य लोलतायामुपमानतोक्तेति प्रियतमाकटाक्षो हि सर्वस्याभिलषणीय इति च तत्प्रीत्या प्रवृत्तिमान्

संदेह करते हैं– शृङ्गार होने की भङ्गी से जो विभावादि का निरूपण है उतने से ही (काम चल जायगा) शिष्यों के उन्मुख करने का प्रयोजन क्यो? इसका समाधान करते हैं, उसे छोड़ कर अन्य प्रकार नहीं है, इसी बात को कहते हैं– **किं चेति शोभातिशयमिति** शृङ्गार अलङ्कारविशेष उपमाप्रभृति को पुष्ट करता है जैसा कि कहा है– काव्य की शोभा करने वाले धर्म गुण हैं, और उस शोभा को बढ़ाने वाले अलङ्कार होते हैं। **मत्ताङ्गनेति** यहाँ सभी का अनित्यत्व रूप शान्त के विभाव के वर्णन में किसी विभाव का शृङ्गार की भङ्गी से निबन्धन नहीं किया गया है, किन्तु सत्यम् यह वचन दूसरों के हृदय में अनुप्रवेश के द्वारा कहा है। हम वैराग्य के कौतुक के प्रति अपनी रुचि प्रकट करते है, अपितु जिसके लिये यह चाहते हैं वही यह जीवन चञ्चल है। वहाँ शृङ्गार के प्रति विभाव और अनुभाव के संभाव्यमान होने से अङ्गभूत मतवाली अङ्गना के अपाङ्गभङ्ग की चञ्चलता में उपमानता कही गई है, क्योंकि प्रियतमा का कटाक्ष सबका अभिलषणीय होता है इसलिये उसकी प्रीति से प्रवृत्त होकर शिष्य गुड-

ध्वन्यालोकः

विज्ञायेत्थं रसादीनामविरोधविरोधयोः।
विषयं सुकविः काव्यं कुर्वन्मुह्यति न क्वचित् ॥३१॥

इत्थमनेनानन्तरोक्तेन प्रकारेण रसादीनां रसभावतदाभासानां परस्परं विरोधस्याविरोधस्य च विषयं विज्ञाय सुकविः काव्यविषये प्रतिभातिशययुक्तः काव्यं कुर्वन्न क्वचिन्मुह्यति।

विज्ञायेत्थमिति इस प्रकार रस आदि के अविरोध और विवोध के विषय को समझ कर काव्य-निर्माता कवि कहीं भ्रम में नहीं पड़ता है।।३१।।

इस प्रकार अभी कही गई रीति से रसादि अर्थात् रस, भाव और तदाभासों के परस्पर विरोध और अविरोध के विषय को समझ कर काव्य के विषय में अत्यन्त निपुण (प्रतिभावान्) हुआ सत्कवि काव्यरचना करते हुये कभी व्यामोह (भ्रम) में नहीं पड़ता है।।३१।।

लोचनम्

गुडजिह्विकया प्रसक्तानुप्रसक्तवस्तुतत्त्वसंवेदनेन वैराग्ये पर्यवस्यति विनेयः॥३०॥

तदेतदुपसंहरन्नस्योक्तस्य प्रकरणस्य फलमाह–*विज्ञायेत्थमिति*॥३१॥

रसादिषु रसादिविषये व्यञ्जकानि यानि वाच्यानि विभावादीनि वाचकानि च सुप्तिङादीनि तेषां यन्निरूपणं तस्येति। *तद्विषयस्येति।* रसादिविषयस्य। *तदिति* उपयोगित्वम्। *मुख्यमिति।* 'आलोकार्थी' इत्यत्र यदुक्तं तदेवोपसंहृतम्। *महाकवेरिति* सिद्धवत्फलनिरूपणम्। एवं हि महाकवित्वं नान्यथेत्यर्थः। *इतिवृत्तविशेषाणामिति।* इतिवृत्तं हि प्रबन्धवाच्यं तस्य विशेषाः प्रागुक्ताः– 'विभावभावानुभाव-सञ्चार्यौचित्यचारुणः।

जिह्विका द्वारा प्रसक्तानुप्रसक्त वस्तुओं के तत्त्व के संवेदन से वैराग्य में पर्यवसित होगा।।३०।।

इसका उपसंहार करते हुये इस उक्त प्रकरण का फल कहते हैं–

विज्ञायेत्थमिति– इस प्रकार जान कर।

रसादिष्विति– रसादिविषय में जो वाच्य विभावादि और वाचक सुप्, तिङ् आदि हैं उनके निरूपण का। **तद्विषयस्येति** उन रसादि विषयों के। **तदिति** उस उपयोगिता। **मुख्यमिति** आलोकार्थी इस कारिका में जो कहा है उसका, उसी का उपसंहार किया है। **महाकवेरिति** महाकवि के। सिद्ध के समान फल का निरूपण किया है। अर्थात् इस प्रकार महाकवित्व पदवी प्राप्त करता है अन्यथा नहीं। **इतिवृत्त विशेषाणामिति,**

ध्वन्यालोकः

एवं रसादिषु विरोधाविरोधनिरूपणस्योपयोगित्वं प्रतिपाद्य व्यञ्जकवाच्यवाचकनिरूपणस्यापि तद्विषयस्य तत्प्रतिपाद्यते–

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥३२॥

वाच्यानामितिवृत्तविशेषाणां वाचकानां च तद्विषयाणां रसादिविषयेणौचित्येन यद्योजनमेतन्महाकवेर्मुख्यं कर्म। अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबन्धनम्।

इस प्रकार रस आदि में विरोध और अविरोध के निरूपण की उपयोगिता का प्रतिपादन कर उस रसादि विषय के व्यञ्जक वाच्य (कथावस्तु) तथा वाचक शब्दादि के निरूपण की भी उपयोगिता का प्रतिपादन करते हैं।

वाच्य (कथावस्तु) और उसके वाचक शब्दादि की रसादिविषयक औचित्य की दृष्टि से जो योजना कर्त्तव्य है वही महाकवि का मुख्य कर्त्तव्य है॥३२॥

वाक्य अर्थात् इतिवृत्त (कथावस्तुविशेष) और उसके सम्बन्धी वाचक शब्दादि के रसादिविषयक औचित्य की दृष्टि से जो योजना करता है, वही महाकवि का मुख्य कर्त्तव्य है। रसादि को मुख्य रूप से काव्य का विषय बना कर उसके अनुरूप शब्दों और अर्थों की रचना करना यही महाकवि का मुख्य कार्य है॥३२॥

लोचनम्

विधिः कथाशरीरस्य' इत्यादिना। *काव्यार्थीकृत्येति।* अन्यथा लौकिकशास्त्रीयवाक्यार्थेभ्यः कः काव्यार्थस्य विशेषः। एतच्च निर्णीतमाद्योद्योते-'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इत्यत्रान्तरे॥३२॥

इतिवृत्त प्रबन्ध का वाच्य होता है उसके विषय में विशेष पहले कह चुके हैं, विभाव, भाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के औचित्य से सुन्दर कथाशरीर का विधान इत्यादि द्वारा। **काव्यार्थीकृत्येति** काव्य का अर्थ बना कर। अन्यथा लौकिक और शास्त्रीय वाक्यार्थों से काव्यार्थ का विशेष (भेद) कौन होगा? यह प्रथम उद्योत में निर्णय कर चुके हैं- 'काव्य का आत्मा वही अर्थ है' इस प्रसङ्ग में॥३२॥

ध्वन्यालोकः

एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति प्रतिपादयितुमाह–

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः ॥३३॥

रसादि को प्रधान मान कर यह काव्य-रचना भरत के नाट्यशास्त्र आदि में भी प्रसिद्ध है इसका प्रतिपादन के करने के लिये कहते हैं– **रसाद्येति**– रस आदि के अनुकूल शब्द और अर्थ का जो उचित व्यवहार है वही ये दो प्रकार की वृत्तियाँ मानी जाती हैं॥३३॥

लोचनम्

एतच्चेति। यदस्माभिरुक्तमित्यर्थः। भरतादावित्यादिग्रहणादलङ्कार-शास्त्रेषु परुषाद्या वृत्तय इत्युक्तं भवति। *द्वयोरपि तयोरिति।* वृत्तिलक्षणयोर्व्यवहारयोरित्यर्थः। *जीवभूता* इति। 'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति ब्रुवाणेन मुनिना रसोचितेतिवृत्तसमाश्रयणोपदेशेन रसस्यैव जीवितत्वमुक्तम्। भामहादिभिश्च–

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं वाक्यार्थमुपभुञ्जते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥

इत्यादिना रसोपयोगजीवितः शब्दवृत्तिलक्षणो व्यवहार उक्तः। *शरीरभूतमिति।* 'इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं' इति मुनिः। नाट्यं च रस एवेत्युक्तं प्राक्।

एतच्चेति अर्थात् जिसे हमने कहा है। 'भरत आदि में' इत्यादि शब्द के ग्रहण से यह बात कही गई कि अलङ्कार शास्त्रों में परुषा आदि वृत्तियाँ है। **द्वयोरपि तयोः**– उन दोनों के भी अर्थात् दोनों वृत्तिरूप व्यवहारों के **जीवभूता** इति वृत्तियाँ काव्य की मातायें होती है यह कहते हुये मुनि ने रसोचित वृत्ति के समाश्रय के उपदेश द्वारा रस के ही जीवितत्व का कथन किया है। और भामह आदि ने **स्वाद्विति** स्वादु काव्य के रस से मिले वाक्यार्थ का उपयोग करते हैं। इसका भाव हुआ कि पहले मधु का आलेहन कर पश्चात् कटु औषध का पान करते हैं– इत्यादि द्वारा रस के उपयोग से जीवित शब्दवृत्तिरूप व्यवहार कहा गया है। **शरीरभूतमिति**– मुनि के अनुसार 'इतिवृत्त नाट्य का शरीर है' और नाट्य रस ही है यह पहले कह चुके है।

ध्वन्यालोकः

व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिक्याद्या वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः। वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण संनिवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च च्छायामावहन्ति। रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवभूताः। इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।

अत्र केचिदाहुः–'गुणगुणिव्यवहारो रसादीनामितिवृत्तादिभिः सह युक्तः, न तु जीवशरीरव्यवहारः। रसादिमयं हि वाच्यं प्रतिभासते न तु रसादिभिः पृथग्भूतम्' इति। अत्रोच्यते– यदि रसादिमयमेव वाच्यं यथा गौरत्वमयं शरीरम्। एवं सति यथा शरीरे प्रतिभासमाने नियमेनैव गौरत्वं प्रतिभासते सर्वस्य तथा वाच्येन सहैव रसादयोऽपि

व्यवहार को ही वृत्ति कहते हैं, उनमें रसानुगुण औचित्ययुक्त जो वाच्य का व्यवहार है वे कैशिकी आदि वृत्तियाँ हैं, और वाचक शब्द के आश्रित जो व्यवहार है, वे उपनागरिकादि वृत्तियाँ हैं, रसादि के अनुकूल रसादि को मान कर प्रयुक्त की गई कैशिकी आदि तथा उपनागरिकादि वृत्तियाँ नाटक और काव्य में क्रमशः कुछ अनिर्वचनीय सौन्दर्य उत्पन्न कर देती हैं। रसादि उन दोनों प्रकार की वृत्तियों के आत्मभूत है और कथावस्तु आदि शरीरभूत हैं। पूर्वपक्ष– कुछ लोगों का कहना है कि इतिवृत्त (कथावस्तु) के साथ रसादि का गुण-गुणीभाव होना ही युक्त है जीव और शरीरव्यवहार नहीं। क्योंकि वाच्य कथावस्तु गुण और रसादिरूप गुणी से युक्त होने से रसादिमय प्रतीत होता है आत्मा से भिन्न शरीर के समान रसादि से पृथक् प्रतीत नहीं होता है।

सिद्धान्तपक्ष इस पर हम कह सकते हैं कि यदि वाच्य कथावस्तु गौरत्व-मय शरीर के समान रसादिमय ही होता तो जैसे शरीर की प्रतीति होने पर हर एक व्यक्ति को गौरत्व की प्रतीति अवश्य होती है इसी प्रकार वाच्य के साथ

लोचनम्

गुणगुणिव्यवहार **इति। अत्यन्तसम्मिश्रतया प्रतिभासनाद्धर्मधर्मि-व्यवहारो युक्तः।** ***न त्विति।*** **क्रमस्यासंवेदनादिति भावः।**

गुणगुणिव्यवहार इति अत्यन्त मिले जुले (सम्मिश्रित) रूप से मालूम पड़ने के कारण धर्मधर्मिव्यवहार ठीक है। **न त्विति**-भाव यह कि क्रम मालूम नहीं पड़ता।

ध्वन्यालोकः

सहृदयस्यासहृदयस्य च प्रतिभासेरन्। न चैवम्; तथा चैतत्प्रतिपादितमेव प्रथमोद्योते।

स्यान्मतम्; रत्नानामिव जात्यत्वं प्रतिपत्तृविशेषतः संवेद्यं

ही सहृदय असहृदय सबको रसादि की प्रतीति भी होनी चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं, इसका हम प्रथम उद्योत में, शब्दार्थ साधन इत्यादि कारिका में प्रतिपादन कर चुके हैं।

पूर्वपक्ष– जिस प्रकार रत्नों का प्रकाश (जात्यत्व उत्कृष्ट जातीयत्व) विशेषज्ञ (जौहरी) ही जान सकता है, हर एक व्यक्ति को वह प्रतीत नहीं होता

लोचनम्

प्रथमेति। **'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते'इत्यादिना प्रतिपादितमदः।**

ननु यद्यस्य धर्मरूपं तत्तत्प्रतिभाने सर्वस्य नियमेन भातीत्यनैकान्तिकमेतत्। माणिक्यधर्मो हि जात्यत्वलक्षणो विशेषो न तत्प्रतिभासेऽपि सर्वस्य नियमेन भातीत्याशङ्कते–*स्यादिति।* एतत्परिहरति–*नैवमिति।* एतदुक्तं भवति–अत्यन्तोन्मग्नस्वभावत्वे सति तद्धर्मत्वादिति विशेषणमस्माभिः कृतम्। उन्मग्नरूपता च न रूपवज्जात्यत्वस्य, अत्यन्तलीनस्वभावत्वात्। रसादीनां चोन्मग्नतास्त्येवेत्येवं केचिदेतं ग्रन्थमनैषुः। अस्मद्गुरवस्त्वाहुः–अत्रोच्यत इत्यनेनेदमुच्यते– यदि रसादयो

प्रथमेति शब्द और अर्थ के शासन के ज्ञानमात्र से यह नहीं जाना जाता है इत्यादि द्वारा यह प्रतिपादन किया जा चुका है।

शङ्का– जो गौरत्वादि जिस शरीरादि का धर्म रूप है, वह गौरत्वादि उस शरीरादि के प्रतीत होने पर सभी को नियमतः प्रतीत होते हैं यह नियम अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है, क्योंकि माणिक्य का धर्मजात्यत्वरूप विशेष उस माणिक्य के प्रतीत होने पर भी सबको नियमतः प्रतीत नहीं होता। इस आशङ्का पर कहते हैं– **स्यादिति** ऐसा हो सकता है– **एतत्परिहरति** इसका परिहार करते हैं– **नैवमिति**– ऐसा नहीं। इतनी बात कही गई– हमने यह विशेषण बनाया है कि उसका धर्म अत्यन्त उन्मग्न स्वभाव वाला होना चाहिये (अर्थात् उस धर्म को वस्तु से अत्यन्त भिन्नरूप से प्रतीत होना चाहिये)। और जात्यत्व में रूप की भाँति उन्मग्नरूपता (वस्तु से भिन्नरूपता) नहीं, क्योंकि वह अत्यन्त लीन स्वभाव का है। और रसादि में उन्मग्नता है ही। इस प्रकार इसको कुछ लोगों ने लगाया है, परन्तु हमारे गुरु यहाँ कहते हैं– **'अत्रोच्यते'** से यह बात कही गई

ध्वन्यालोकः

वाच्यानां रसादिरूपत्वमिति। नैवम्; यतो यथा जात्यत्वेन प्रतिभासमाने रत्ने रत्नस्वरूपानतिरिक्तत्वमेव तस्य लक्ष्यते तथा रसादीनामपि विभावानुभावादिरूपवाच्याव्यतिरिक्तत्वमेव लक्ष्येत। न चैवम्; न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अत एव च विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां

इसी प्रकार वाच्य कथावस्तु का रसादि रूपत्व (रसादिमयत्व रूप गुणोत्कर्ष) विशेषज्ञ सहृदय को ही प्रतीत होता है सर्वसाधारण को नहीं, यदि यह अभिमत हो तो उत्तर यह है कि (सिद्धान्तपक्ष) यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि जैसे उत्कृष्टजातीय रूप से प्रतीत होने वाले रत्न में वह उत्कर्ष रत्न के स्वरूप से अभिन्न रत्नस्वरूप भूत ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार रसादि को भी विभावानुभावादि से अभिन्न विभावादि रूप में ही प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं होता। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव ही रस हैं ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता। अतएव विभावादि प्रतीति के अविनाभूत परन्तु उससे

लोचनम्

वाच्यानां धर्मास्तथा सति द्वौ पक्षौ रूपादिसदृशा वा स्युर्माणिक्यगतजात्यत्वसदृशा वा। न तावत्प्रथमः पक्षः, सर्वान् प्रति तथानवभासात्। नापि द्वितीयः, जात्यत्ववदनतिरिक्तत्वेनाप्रकाशनात्। एष च हेतुराद्येऽपि पक्षे सङ्गच्छत एव। तदाह—स्यान्मतमित्यादिना न चैवमित्यन्तेन। एतदेव समर्थयति— *न हीति। अत एव चेति।* यतो न वाच्यधर्मत्वेन रसादीनां प्रतीतिः, यतश्च तत्प्रतीतौ वाच्यप्रतीतिः सर्वथानुपयोगिनी तत एव हेतोः क्रमेणावश्यं भाव्यं,

है। यदि रसादि वाच्यों के धर्म हैं ऐसा होने पर दो पक्ष होंगे– वे रसादि धर्म रूपादि के सहृश हैं अथवा माणिक्य में रहने वाले जात्यत्व के सदृश हैं। प्रथम पक्ष इसलिये नहीं होगा, क्योंकि वह रसादिधर्म सबको उस प्रकार प्रतीत नहीं होते। दूसरा भी नहीं होगा, क्योंकि जात्यत्व की भाँति अनतिरिक्त रूप से प्रकाशित नहीं होता, यह हेतु प्रथम पक्ष में संगत होता ही है। तदाह **स्यान्मतमित्यादिना... न चैवमित्यतेन। एतदेव समर्थयति– न हीति अतएव चेति** यह कह सकते है इत्यादि से.. ऐसा नहीं इस ग्रन्थ तक। इसी का समर्थन करते हैं– **न हीति**, नहीं होता और इसलिये जिस कारण वाच्य के धर्म क़े रूप में रसादि की प्रतीति नहीं है और जिस कारण उस रसादि की प्रतीति में वाच्य की प्रतीति सर्वथा अ़नुपयोगिनी है उसी कारण से क्रम को भी अवश्य

ध्वन्यालोकः

प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेन व्यवस्थानात्क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न प्रकाश्यते 'इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादयः' इत्युक्तम्।

ननु शब्द एव प्रकरणाद्यवच्छिन्नो वाच्यव्यङ्ग्ययोः सममेव प्रतीतिमुपजनयतीति किं तत्र क्रमकल्पनया। न हि शब्दस्य

पृथक् रसादि की प्रतीति होती है; अतः उन दोनों विभावादि तथा रसादि की प्रतीतियों के कार्यकारणभाव से स्थित होने से उनमें क्रम अवश्यभावी है। परन्तु उत्पलशतपत्रभेदवत्। [जैसे कमल के सौ पत्रों में सुई चुमाने से वह प्रत्येक पत्र को क्रम से ही छेदेगी, परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि सूई एक साथ ही सब पत्तों को पार कर गई इसी प्रकार।] इसी प्रकार शीघ्रता के कारण वह क्रम दिखलाई नहीं पड़ता है, इसलिये रसादि असंलक्ष्यक्रम रूप से ही व्यङ्ग्य होते हैं यह कहा गया।

पूर्वपक्ष– प्रकरणादि सहकृत शब्द ही वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों की एक साथ ही प्रतीति उत्पन्न कर देता है, उसमें क्रम की कल्पना करने की क्या

लोचनम्

सहभूतयोरुपकारायोगात्। स तु सहृदयभावनाभ्यासान्न लक्ष्यते अन्यथा तु लक्ष्येतापीत्युक्तं प्राक्। यस्यापि प्रतीतिविशेषात्मैव रस इत्युक्तिः, प्राक्तस्यापि व्यपदेशिवत्त्वाद्रसादीनां प्रतीतिरित्येवमन्यत्र।

ननु भवन्तु वाच्यादतिरिक्ता रसादयस्तत्रापि क्रमो न लक्ष्यत इति तावत्त्वयैवोक्तम्। तत्कल्पने च प्रमाणं नास्ति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीतिमन्तरेण रसप्रतीत्युदयस्य पदविरहितस्वरालापगीतादौ शब्दमात्रोपयोगकृतस्य दर्शनात्। ततश्चैकयैव सामग्र्या सहैव वाच्यं व्यङ्ग्याभिमतं च

होना चाहिये। क्योंकि साथ में उत्पन्न होने वाले एक दूसरे का उपकार नहीं कर सकते। परन्तु वह क्रम सहृदयों की भावना के अभ्यास से नहीं लक्षित होता। अन्यथा लक्षित भी होता है यह पहले कह चुके हैं। पहले जिसकी भी यह उक्ति है कि रसप्रतीतिविशेष रूप ही है उसकी भी रसादि की प्रतीति **'राहोः शिरः'** की भाँति व्यपदेशिवद्भाव (भेदारोप) से होगी। इसी प्रकार अन्यत्र भी।

अथवा रसादि वाच्य से अतिरिक्त हैं, उनमें भी क्रम लक्षित नहीं होता, यह बात तो तुमने कही है, इस क्रम की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से अर्थ की प्रतीति के बिना, पदविरहित स्वरालाप वाले गीतादि में शब्दमात्र

ध्वन्यालोक:

वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः। अत्रापि ब्रूमः– प्रकरणाद्यवच्छेदेन व्यञ्जकत्वं शब्दानामित्यनुमतमेवैतदस्माकम्। किं तु तद्व्यञ्जकत्वं तेषां

आवश्यकता है? शब्द के वाच्य (अर्थ) की प्रतीति का परामर्श (सम्बन्ध) व्यञ्जकत्व का कारण हो यहाँ ऐसी बात तो है नहीं। (इसी से वाच्यार्थ सम्बन्ध या ज्ञान के बिना केवल स्वर रागादि के अनुसार ही) गीत आदि शब्दों से भी रसादि की अभिव्यक्ति होती है। (आदि शब्द से वाद्य या विलापादि के शब्द का ग्रहण है) उन (गीतशब्दों के श्रवण और रसाभिव्यक्ति) के बीच वाच्य और अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। अत: शब्द बिना किसी क्रम के वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति एक साथ करा सकते हैं।

लोचनम्

रसादि भातीति वचनव्यञ्जनव्यापारद्वयेन न किञ्चिदिति तदाह–*नन्विति।* यत्रापि गीतशब्दानामर्थोऽस्ति तत्रापि तत्प्रतीतिरनुपयोगिनी ग्रामरागानुसारेणापहस्तितवाच्यानुसारतया रसोदयदर्शनात्। न चापि सा सर्वत्र भवन्ती दृश्यते, तदेतदाह–*न चेति।* तेषामिति गीतादिशब्दानाम्। आदिशब्देन वाद्यविलपितशब्दादयो निर्दिष्टाः। *अनुमतमिति।* 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति ह्यवोचामेति भावः। *न तर्हीति।* ततश्च गीतवदेवार्थावगमं विनैव रसावभासः स्यात्काव्यशब्देभ्यः, न चैवमिति वाचकशक्तिरपि

के उपयोग से होने वाली रसप्रतीति का उदय देखा जाता है तब एक ही सामग्री से साथ-साथ ही वाच्य और व्यङ्ग्य के रूप में अभिमत रसादि प्रतीत होता है। इस प्रकार के दो वचन और व्यञ्जन व्यापार से कुछ नहीं होता, उसे कहते है– **नन्विति।** यहाँ शङ्का करते हैं कि जहाँ भी गीत के शब्दों का अर्थ है वहाँ भी उसकी प्रतीति का उपयोग नहीं, क्योंकि ग्राम्य, राग के अनुसार वाच्य का अनुसरण छोड़ देने से रस का उदय देखा जाता है। ऐसा नहीं कि उस वाच्य की प्रतीति सब जगह होती देखी जाती है। इसलिये कहते हैं– **न चेति। तेषाम्**– उन गीतादि शब्दों का। आदि शब्द से वाद्य, विलपित इत्यादि शब्द निर्दिष्ट है। उत्तर देते हैं– **अत्रापि ब्रूम इति। अनुमतमिति– यत्रार्थः शब्दो वा.** (द्र. प्रथम उद्योत) यह हमने कहा है यदि (न तर्हीति) वहाँ वाचकं शक्तिमूलक नहीं है तब तो गीत ही की भाँति अर्थज्ञान के बिना ही काव्य के शब्दों में भी रस की प्रतीति होने लगेगी, पर ऐसा होता नहीं इसलिये

ध्वन्यालोकः

कदाचित्स्वरूपविशेषनिबन्धनं कदाचिद्वाचकशक्तिनिबन्धनम्। तत्र येषां वाचकशक्तिनिबन्धनं तेषां यदि वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव स्वरूपप्रतीत्या निष्पन्नं तद्भवेन्न तर्हि वाचकशक्तिनिबन्धनम्। अथ तन्निबन्धनं तन्नियमेनैव वाच्यवाचकभावप्रतीत्युत्तरकालत्वं व्यङ्ग्यप्रतीतेः प्राप्तमेव।

सिद्धान्त पक्ष– इसमें हमारा कहना यह है कि प्रकरण आदि के सहकृत शब्द अर्थ के व्यञ्जक होते है यह बात हमें भी अभिमत है, परन्तु वह व्यञ्जकत्व उन शब्दों में कभी स्वरूपविशेष के कारण और कभी वाचकशक्ति के कारण होता है। उनमें से जिन शब्दों में वाचकशक्तिमूलक व्यञ्जकत्व है उनमें यदि वाच्यप्रतीति के बिना ही स्वरूप की प्रतीतिमात्र से ही वह व्यञ्जकत्व पूर्ण हो जाय तो वह वाचकशक्तिमूलक नहीं हुआ और यदि वाचकशक्तिमूलक है तो व्यङ्ग्यप्रतीति अवश्य ही वाच्यवाचक की प्रतीति के उत्तरकाल में ही होगी, यह सिद्ध है, यह क्रम शीघ्रता के कारण यदि प्रतीत न हो सके तो इसके लिये किया ही क्या जा सकता है।

लोचनम्

तत्रापेक्षणीया; सा च वाच्यनिष्ठैवेति प्राग्वाच्ये प्रतिपत्तिरित्युपगन्तव्यम्। तदाह–*अथेति।* तदिति वाचकशक्तिः। *वाच्यवाचकभावेति।* सैव वाचकशक्तिरित्युच्यते।

एतदुक्तं भवति– मा भूद्वाच्यं रसादिव्यञ्जकम्; अस्तु शब्दादेव तत्प्रतीतिस्तथापि तेन स्ववाचकशक्तिस्तस्यां कर्तव्यायां सहकारित-यावश्यापेक्षणीयेत्यायातं वाच्यप्रतीतेः पूर्वभावित्वमिति। ननु गीतशब्दवदेव

वहाँ वाचकशक्ति की अपेक्षा है और वह वाच्यनिष्ठ ही है अतः पहले वाक्य का 'ज्ञान' मानना चाहिये इसी बात को कहते हैं– **यदीति।** वह अर्थात् वाचकशक्ति। **वाच्यवाचकभावेति** वही वाचकशक्ति कही जाती है।

यहाँ तक यह बात कही गई। वाच्य भले ही रसादि का व्यञ्जक मत हो, शब्द से ही उसकी प्रतीति हो, तथापि उस शब्द को अपने वाचकशक्ति की रसादिप्रतीति को उत्पन्न करने में अवश्य अपेक्षा करनी होगी। इस कारण वाच्य की प्रतीति की पहले उत्पन्न होने की बात आ जाती है। शङ्का करते हैं– गीत शब्दों की भाँति ही यहाँ भी वाचकशक्ति का कोई उपयोग नहीं, किन्तु जो कहा गया है कि पर काव्य के सुनने

ध्वन्यालोकः

स तु क्रमो यदि लाघवान्न लक्ष्यते तत्किं क्रियते। यदि च वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दमात्रसाध्या रसादिप्रतीतिः स्यात्तदनवधारितप्रकरणानां वाच्यवाचकभावे च स्वयमव्युत्पन्नानां प्रतिपत्तॄणां काव्यमात्रश्रवणादेवासौ भवेत्। सहभावे

सिद्धान्तपक्षी पुनः कहता है– यदि वाच्यप्रतीति के बिना ही प्रकरणादि सहकृत शब्दमात्र से रसादिप्रतीति साध्य हो तो किसी वाक्यविशेष में वाच्यवाचक न समझने और स्वयं भी प्रकरण नहीं जानने पर, किन्तु किसी अन्य के द्वारा प्रकरण का ज्ञान कर लेने वाले ज्ञाता को भी काव्य के श्रवणमात्र से रसादिप्रतीति होनी चाहिये। जैसे गीतादि शब्द से बिना वाच्यादि के ज्ञान के प्रकरण आदि सहकृत श्रवणमात्र से रसादि प्रतीति होती है। वाच्य और व्यङ्ग्यप्रतीति के साथ

लोचनम्

वाचकशक्तिरत्राप्यनुपयोगिनी, यत्तु क्वचिच्छ्रुतेऽपि काव्ये रसप्रतीतिर्न भवति तत्रोचितः प्रकरणावगमादिः सहकारी नास्तीत्याशङ्क्याह–*यदि चेति।* प्रकरणावगमो हि क उच्यते? किं वाक्यान्तरसहायत्वम्? अथ वाक्यान्तराणां सम्बन्धिवाच्यम्। उभयपरिज्ञानेऽपि न भवति प्रकृतवाक्यार्थावेदने रसोदयः। *स्वयमिति।* प्रकरणमात्रमेव परेण केनचिद्येषां व्याख्यातमिति भावः। न चान्वयव्यतिरेकवतीं वाच्यप्रतीतिमपह्नुत्यादृष्टसद्भावाभावौ शरणत्वेनाश्रितौ मात्सर्यादधिकं किञ्चित्पुष्णीत इत्यभिप्रायः।

नन्वस्तु वाच्यप्रतीतेरुपयोगः क्रमाश्रयेण किं प्रयोजनम्, सहभावमात्रमेव ह्युपयोग एकसामग्र्यधीनतालक्षणमित्याशङ्क्याह–*सहेति।*

पर भी रस की प्रतीति नहीं होती वहाँ उचित प्रकरण ज्ञान आदि सहकारी नहीं है। इस आशङ्का पर कहते हैं– **यदि चेति।** प्रकरणज्ञान किसको कहते हैं? सहकारी वाक्यान्तर क्या है? यदि वाक्यान्तरों का सम्बन्धी ही वाच्य है तो दोनों के (वाक्यान्तर और उसका वाच्य) परिज्ञान से भी प्रकृत वाच्य के अर्थ का ज्ञान करने पर रस का उदय नहीं होता। **स्वयमिति** भाव यह कि किसी दूसरे ने किन्हीं ज्ञाताओं का प्रकरणमात्र व्याख्यान किया है। भाव यह कि यदि अन्वय–व्यतिरेक वाली वाच्यप्रतीति का अपह्नव करके प्रयोजक रूप से अदृष्ट के सद्भाव और अभाव को मानते हैं तो वे मात्सर्य से अधिक और किसी की पुष्टि नहीं करते।

अच्छा मान लिया कि वाच्य की प्रतीति रसादि की उत्पत्ति में उपयोगी है पर क्रम के आश्रय का क्या प्रयोजन है? उसमें एक सामग्री का केवल नामकरण वस्तु

ध्वन्यालोकः

च वाच्यप्रतीतेरनुपयोगः, उपयोगे वा न सहभावः। येषामपि स्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिशब्दानां तेषामपि स्वरूपप्रतीतेर्व्यङ्ग्यप्रतीतेश्च नियमभावी क्रमः। तत्तु शब्दस्य क्रियापौर्वापर्यमनन्यसाध्यतत्फलघटनास्वाशुभाविनीषु वाच्येनाविरोधिन्यभिधेयान्तरविलक्षणे रसादौ न प्रतीयते।

होने पर व्यञ्जकत्व में वाच्यप्रतीति का कोई उपयोग नहीं है और यदि उपयोग है तो सहभाव नहीं हो सकता। इसलिये जिन शब्दों में वाच्यशक्तिमूलक व्यञ्जकत्व रहता है उनमें वाच्य और व्यङ्ग्यप्रतीति में क्रम अवश्य रहता है।

दूसरे प्रकार के शब्दों में जहाँ गीतादि में स्वरूपविशेषप्रतीतिमूलक व्यञ्जकत्व है जैसे गीतादि शब्दों में, उनके यहाँ भी स्वरूपविशेष की प्रतीति और व्यङ्ग्य की प्रतीति में क्रम अवश्य रहता है। किन्तु शब्द की (वाचकत्व और व्यञ्जकत्व अथवा अभिधा-व्यञ्जनारूप) क्रियाओं का पौर्वापर्य (क्रम) प्रकारान्तरासाध्यफलक क्षिप्तभाविनी रचनाओं में वाच्य के अविरोधी तथा अन्य वाच्यों से विलक्षण रसादि (रूप व्यङ्ग्य के बोधन) में वह क्रम प्रतीत नहीं होता है।

लोचनम्

एवं ह्युपयोग इति अनुपकारके सञ्ज्ञाकरणमात्रं वस्तुशून्यं स्यादिति भावः। उपकारिणो हि पूर्वभावितेति त्वयाप्यङ्गीकृतमित्याह–*येषामिति।* त्वद्दृष्टान्तेनैव वयं वाच्यप्रतीतेरपि पूर्वभावितां समर्थयिष्याम इति भावः। ननु संश्लेत्क्रमः किं न लक्ष्यत इत्याशङ्क्याह–*तत्त्विति।* क्रियापौर्वापर्यमित्यनेन क्रमस्य स्वरूपमाह–*क्रियेते इति।* क्रिये वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीती यदि वाभिधाव्यापारो व्यञ्जनापरपर्यायो ध्वननव्यापारश्चेति क्रिये तयोः पौर्वापर्यं

शून्य होगा। क्योंकि आपने भी अङ्गीकार किया है कि जो उपकारी होता है वह पहले होता है। इस शङ्का का समाधान करते है– **येषामिति।** जिनका भाव यह कि तुम्हारे दृष्टान्त से ही हम वाच्यप्रतीति का भी प्रथम होना समर्थन करेंगे। अतः यदि क्रम है तो क्यों नहीं लक्षित होता? इस पर कहते हैं– **तत्त्विति**– क्रियाओं का पौर्वापर्य इसके द्वारा क्रम का स्वरूप कहते हैं। **क्रियेते**– जो की जाय वह क्रिया है, यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीतियाँ क्रियायें हैं अथवा अभिधाव्यापार और व्यञ्जनारव्य ध्वनन व्यापार ये दो क्रियायें हैं उनका पौर्वापर्य प्रतीत नहीं होता कहाँ? इस पर कहते है– रसादि विषय में किस प्रकार के? उस अभिधेय विशेष अभिधेयान्तर से विलक्षण अर्थात् उसे सर्वथा ही अनभिधेय होना चाहिये। इससे सूचित किया कि क्रम अवश्य होना चाहिये।

लोचनम्

न प्रतीयते। केत्याह–*रसादौ* विषये। कीदृशि? अभिधेयान्तरात्तदभिधेय-विशेषाद्विलक्षणे सर्वथैवानभिधेये अनेन भवितव्यं तावत्क्रमेणेत्युक्तम्। तथा वाच्येनाविरोधिनि, विरोधिनि तु लक्ष्यत एवेत्यर्थः। कुतो न लक्ष्यते इति निमित्तसप्तमीनिर्दिष्टं हेत्वन्तरगर्भं हेतुमाह–*आशुभाविनीष्विति।* अनन्य-साध्यतत्फलघटनासु घटनाः पूर्वं माधुर्यादिलक्षणाः प्रतिपादिता गुणनिरूपणावसरे ताश्च तत्फलाः रसादिप्रतीतिः फलं यासाम्, तथा अनन्यत्तदेव साध्यं यासाम्, न ह्योजोघटनायाः करुणादिप्रतीतिः साध्या।

एतदुक्तं भवति–यतो गुणवति काव्येऽसंकीर्णविषयतया सङ्घटना प्रयुक्ता ततः क्रमो न लक्ष्यते। ननु भवत्वेवं सङ्घटनानां स्थितिः, क्रमस्तु किं न लक्ष्यते अत आह–*आशुभाविनीषु।* वाच्यप्रतीतिकालप्रतीक्षणेन विनैव झटित्येव ता रसादीन् भावयन्ति तदास्वादं विदधतीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति–सङ्घटनाव्यङ्ग्यत्वाद्रसादीनामनुपयुक्तेऽप्यर्थविज्ञाने पूर्वमेवोचितसङ्घटना-श्रवण एव यत आसूत्रितो रसास्वादस्तेन वाच्यप्रतीत्युत्तरकालभवेन परिस्फुटास्वादयुक्तोऽपि पश्चादुत्पन्नत्वेन न भाति। अभ्यस्ते हि विषयेऽविनाभावप्रतीतिक्रम इत्थमेव न लक्ष्यते। अभ्यासो ह्ययमेव

वह भी वाच्य से विरोध वाले (रसादि) में अविरोध वाले रसादि में तो वह लक्षित हो ही जाता है। वहाँ क्या नहीं लक्षित होता? इस प्रश्न के समाधान के लिये निमित्त सप्तमी के द्वारा निर्देश करते हुये हेत्वन्तरगर्भ हेतु कहते हैं– **आशुभाविनीष्विति।** अनन्यसाध्य उस फलवाली घटनाओं में प्रथम गुणनिरूपण के अवसर में प्रतिपादित माधुर्यादि लक्षण घटनाएँ रसादि की प्रतीतिरूप फल हैं जिनका ऐसी वे घटनायें तथा नहीं है अन्य (अर्थात् वही) साध्य है जिनका ऐसी वे घटनायें ओज वाली घटना को साध्य करुण आदि की प्रतीति नहीं है।

इसका तात्पर्य यह है जिस कारण गुणवान् काव्य में असङ्कीर्ण विषय के रूप में सङ्घटनायें प्रयुक्त होती हैं उस कारण क्रम लक्षित नहीं होता। इस प्रकार की संघटनाओं की स्थिति हो तब क्रम क्यों नहीं लक्षित होता? इस पर कहते हैं– आशुभाविनी-वाच्य के प्रतीतिकाल की प्रतीक्षा के बिना ही अत्यन्त शीघ्रता से वे रसादि का उद्भावन करने लगती हैं अर्थात् उनका आस्वादन कराने लगती हैं, इतनी बात कही गई। रसादि की संघटना से व्यङ्ग्य होने के कारण अर्थज्ञान के अनुपयुक्त होने पर भी पहले ही उचित संघटना के श्रवण में ही जिस कारण थोड़ा स्फुरित रसास्वाद होता है वह वाच्य की प्रतीति के उत्तरकाल में होने वाले उस कारण से परिस्फुट आस्वाद से युक्त होकर पश्चात् उत्पन्न रूप से प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अभ्यस्त विषय में अविनाभाव (व्याप्ति) की

ध्वन्यालोकः

क्वचित्तु लक्ष्यत एव। यथानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिषु। तत्रापि कथमिति चेदुच्यते–अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ तावदभिधेयस्य तत्सामर्थ्याक्षिप्तस्य चार्थस्याभिधेयान्तरविलक्षण-

क्वचिदिति– कहीं (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के भेदों में वाच्य और व्यङ्ग्य का क्रम) दिखलाई देता ही है। जैसे अनुरणन रूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की प्रतीतियों में। वहाँ भी (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में) कैसे प्रतीत होता है यदि ऐसा प्रश्न करो तो उसका उत्तर इस प्रकार है (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के शब्द-

लोचनम्

यत्प्रणिधानादिनापि विनैव संस्कारस्य बलवत्तात्सदैव प्रबुभुत्सुतया अवस्थापनमित्येवं यत्र धूमस्तत्राग्निरिति हृदयस्थितत्वाद्व्याप्तेः पक्षधर्मज्ञानमात्रमेवोपयोगि भवतीति परामर्शस्थानमाक्रमति, झटित्युत्पन्ने हि धूमज्ञाने तद्व्याप्तिस्मृत्युपकृते तद्विजातीयप्रणिधानानुसरणादि-प्रतीत्यन्तरानुप्रवेशविरहादाशुभाविन्यामग्निप्रतीतौ क्रमो न लक्ष्यते तद्वदिहापि। यदि तु वाच्याविरोधी रसो न स्यादुचिता च घटना न भवेत्तल्लक्ष्येतैव क्रम इति।

चन्द्रिकाकारस्तु पठितमनुपठतीति न्यायेन गजनिमीलिकया व्याचचक्षे–तस्य शब्दस्य फलं तद्वा फलं वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्यात्मकं तस्य घटना निष्पादना यतोऽनन्यसाध्या शब्दव्यापारैकजन्येति। न चात्रार्थसतत्त्वं व्याख्याने किञ्चिदुत्पश्याम इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना।

प्रतीति का क्रम यों ही लक्षित नहीं होता। यही अभ्यास है जो कि प्रविधान आदि के बिना ही संस्कार के प्रबल होने के कारण सदैव जानने के इच्छुक भाव से अवस्थापन है। इस प्रकार 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' इस व्याप्ति के हृदय में स्थित होने के कारण केवल धूमादि का पक्षधर्मताज्ञान ही उपयोगी होता है। इस कारण वही परामर्श का स्थान ग्रहण कर लेता है, क्योंकि उस वह्नि की व्याप्ति की स्मृति से उपकृत धूमज्ञान के झटिति उत्पन्न होने पर उन धूमज्ञान और व्याप्तिस्मृति में विजातीय प्रणिधान का अनुसरण आदि अन्य प्रतीतियों का अनुप्रवेशन होने से आशु होने वाली अग्नि की प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता। उस प्रकार यहाँ भी। किन्तु यदि रस वाच्य का अविरोधी न हो और यदि संघटना उचित हो तो क्रम लक्षित होगा ही।

परन्तु चन्द्रिकाकार ने 'पढ़े हुये को पढ़ने' के न्याय के अनुसार गजनिमीलिका से जो व्याख्यान किया है कि उस शब्द का फल अथवा वाच्य-व्यङ्ग्य प्रतीतात्मक

ध्वन्यालोक:

तयात्यन्तविलक्षणे ये प्रतीती तयोरशक्यनिह्नवो निमित्तनिमित्तिभाव इति स्फुटमेव तत्र पौर्वापर्यम्। यथा प्रथमोद्योते प्रतीयमानार्थ-सिद्ध्यर्थमुदाहृतासु गाथासु। तथाविधे च विषये वाच्यव्यङ्ग्ययोरत्यन्तविलक्षणत्वाद्यैव एकस्य प्रतीतिः सैवेतरस्येति न शक्यते वक्तुम्। शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये तु ध्वनौ–

शक्त्युत्थ और अर्थशक्त्युत्थ दो मुख्य भेद हैं उन दोनों में क्रम लक्षित होता है इस बात को अलग-अलग रूप से प्रतिपादित करते है। अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनियों अभिधेय (वाच्यार्थ) और उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त (व्यङ्ग्य) अर्थ के अन्य वाच्यार्थो से विलक्षण होने से वह दोनों जो अत्यन्त विलक्षण (वाच्य और व्यङ्ग्यरूप) प्रतीतियाँ है उनके कार्यकारणभाव को छिपाया नहीं जा सकता है, इसलिये उनमें पौर्वापर्यक्रम स्पष्ट ही है। जैसे प्रथम उद्योत में प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिये उदाहृत (भ्रम धार्मिक इत्यादि) गाथाओं में। ऐसे स्थलों में वाच्य और व्यङ्ग्य के अत्यन्त भिन्न होने से जो एक (वाच्य या व्यङ्ग्य) की प्रतीति है वही दूसरे (व्यङ्ग्य या वाच्य की) प्रतीति है, यह नहीं कहा जा सकता है अतएव अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में क्रम अवश्य मानना होगा।

लोचनम्

यत्र तु सङ्घटनाव्यङ्ग्यत्वं नास्ति तत्र लक्ष्यत एवेत्याह–*क्वचित्त्विति*। तुल्ये व्यङ्ग्यत्वे कुतो भेद इत्याशङ्क्ते–*तत्रापीति*। स्फुटमेवेति।

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः॥

इति हि पूर्वं वर्णसङ्घटनादिकं नास्य व्यञ्जकत्वेनोक्तमिति भावः। *गाथास्विति*। 'भम धम्मिअ' इत्यादिकासु। ताश्च तत्रैव व्याख्याताः।

वह फल उसकी घटना अर्थात् निष्पादन जिस कारण अनन्य साध्य है अर्थात् एक-मात्र शब्दव्यापार से जन्य है। इस प्रकार के व्याख्यान में हम कोई अर्थतत्त्व नहीं देखते। **इत्यलम्।** पूर्वजों के साथ बहुत विवाद अनावश्यक है।

किन्तु जहाँ संघटना द्वारा व्यङ्ग्यत्व नहीं है वहाँ प्रतीत होता ही है' इस पर कहते हैं– क्वचिदिति। परन्तु कही पर। व्यङ्ग्यत्व के सदृश होने पर यह भेद क्यो? इस आशङ्का पर कहते हैं तत्रापीति। स्फुटमेवेति। स्पष्ट ही। **अविवक्षितवाच्येति।**

अविवक्षितवाच्य और उससे इतर अनुरणन रूप व्यङ्ग्यध्वनि पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य होता है।

ध्वन्यालोकः

गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु

इत्यादावर्थद्वयप्रतीतौ शाब्द्यामर्थद्वयस्योपमानोपमेयभावप्रतीति-रूपमावाचकपदविरहे सत्यर्थसामर्थ्यादाक्षिप्तेति, तत्रापि सुलक्षमभि-धेयव्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीत्योः पौर्वापर्यम्।

पदप्रकाशशब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्येऽपि ध्वनौ विशेषण-पदस्योभयार्थसम्बन्धयोग्यस्य योजकं पदमन्तरेण योजनम-शाब्दमप्यर्थादवस्थितमित्यत्रापि पूर्ववदभिधेयतत्सामर्थ्याक्षिप्ताल-

(संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के दूसरे भेद) शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमध्वनि में **'गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु'** इस उदाहरण में शब्दतः दो अर्थों की शाब्दी प्रतीति होने पर भी उस अर्थद्वय के उपमानोपमेयभाव की प्रतीति उपमावाचक पद के अभाव में वाच्यार्थप्रतीति के बाद अर्थसामर्थ्य से व्यङ्ग्य ही होती है इसलिये वहाँ भी अभिधेय (वाच्य) और व्यङ्ग्य (उपमा) अलङ्कार की प्रतीति में पौर्वापर्यक्रम स्पष्ट दिखलाई देता है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के शब्दशक्तिमूल प्रभेद के अन्तर्गत वाक्यप्रकाश्य के **'गावो वः'** इत्यादि उदाहरण में वाच्य और व्यङ्ग्य का क्रम स्पष्ट होने के अतिरिक्त पदप्रकाश्य शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में भी जिसका

लोचनम्

शाब्द्यामिति। **शाब्द्यामपीत्यर्थः। उपमावाचकं यथेवादि।** ***अर्थसामर्थ्यादिति।*** **वाक्यार्थसामर्थ्यादिति यावत्।**

एवं वाक्यप्रकाशशब्दशक्तिमूलं विचार्य पदप्रकाशं विचारयति– ***पदप्रकाशेति। विशेषणपदस्येति।*** **जड इत्यस्य।** ***योजकमिति।*** **कूप इति च अहमिति चोभयसमानाधिकरणतया संवलनम्। अभिधेयं च**

भाव यह कि इसमें पहले इस ध्वनि के व्यञ्जकरूप से वर्ण, संघटना आदि को नहीं कहा है। **गाथास्विति**–'भ्रम धार्मिक' इत्यादि गाथाओं में जिनकी व्याख्या उसी जगह हो चुकी है। **शाब्दयामिति** शाब्दी प्रतीति में भी। उपमावाचक यथा, इव इत्यादि। **अर्थसामर्थ्यादिति** अर्थ की सामर्थ्य से। **वाक्यार्थसामर्थ्यादिति** वाक्यार्थ सामर्थ्य से।

एवमिति इस प्रकार वाक्यप्रकाश्य शब्दशक्तिध्वनि का विचार कर पदप्रकाश का विचार करते है। **पदप्रकाशेति– विशेषणपदस्येति** विशेषण पद को जड़ **इत्यस्य** जड़ इसका। **योजकमिति** जोड़ने वाले। **कूप इति च** 'कूप' और 'मैं' इन दोनों का

ध्वन्यालोकः

ङ्कारमात्रप्रतीत्योः सुस्थितमेव पौर्वापर्यम्। आर्थ्यपि च प्रतिपत्तिस्तथाविधे विषये उभयार्थसम्बन्धयोग्यशब्दसामर्थ्यप्रसा-वितेति शब्दशक्तिमूला कल्प्यते। अविवक्षितवाच्यस्य तु ध्वनेः

उदाहरण **'प्राप्तुं धनैरर्थि जनस्य वाञ्छाम्' 'दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः कूपोऽथवा किन्नजढः कृतोऽहम्'** दोनों अर्थों (कूप और अहं) के साथ सम्बन्ध योग्य विशेषण जड़ को जोड़ने वाले शब्द के बिना भी (दोनों ओर) योजना अशाब्द होते हुये भी अर्थशक्ति से निश्चित होती है इसलिये यहाँ भी पूर्व उदाहृत **गावो वः** के समान वाच्य अर्थ (यहाँ जड़त्व का दोनों ओर अन्वय से दीपकालङ्कार वाच्य है जैसा कि कहा है– **अत्राभिधेयालङ्कारो दीपकम् जडस्योभयमान्वयात् तत्सामर्थ्याक्षिप्ता चोपमा)** और उसकी सामर्थ्य से आक्षिप्त अलङ्कार की प्रतीतियों में पौर्वापर्य क्रम निश्चित है। ऐसे स्थलों पर व्यङ्ग्य अलङ्कारों की प्रतीति आर्थी होने पर भी दोनों ओर के सम्बन्ध के योग्य शब्द की सामर्थ्य से उत्पन्न होती है इसलिये शब्दशक्तिमूला मानी जाती है।

लोचनम्

तत्सामर्थ्याक्षिप्तं च तयोरलङ्कारमात्रयोः। ये प्रतीती तयोः पौर्वापर्यं क्रमः। ***सुस्थितं सुलक्षित*मित्यर्थः। मात्रग्रहणेन रसप्रतीतिस्तत्राप्यलक्ष्यक्रमैवेति दर्शयति। नन्वेवमार्थत्वं शब्दशक्तिमूलत्वं चेति विरुद्धमित्याशङ्क्याह– *आर्थ्यपीति।* नात्र विरोधः कश्चिदिति भावः। एतच्च वितत्य पूर्वमेव निर्णीतमिति न पुनरुच्यते। *स्वविषयेति।* अन्धशब्दादेरुपहतचक्षुष्कादिः स्वो विषयः, तत्र यद्वैमुख्यमनादर इत्यर्थः। *विचारो न कृत इति।* नामधेयनिरूपणद्वारेणेति शेषः। सहभावस्य शङ्कितुमत्रायुक्तत्वादिति भावः।**

समानाधिकरण रूप से सम्मिश्रित अभिधेय तथा उसकी सामर्थ्य से आक्षिप्त उन दो अलङ्कार मात्रों की। उनकी जो प्रतीतियाँ उनका पौर्वापर्य अर्थात् क्रम। **सुस्थितमिति** सुलक्षित है। मात्र ग्रहण से यह दिखाते हैं कि (रस की प्रतीति वहाँ-वहाँ भी अलक्ष्यक्रम होने से सुलभ ही है; तब तो इस प्रकार आर्थत्व होना और शब्दशक्तिमूल होना विरुद्ध है, इस प्रकार की आशङ्का कर कहते हैं– **आर्थ्यपि** च आर्थी भी। भाव यह कि यहाँ कोई विरोध नहीं। इसे विस्तारपूर्वक पहले ही निर्णय कर चुके हैं इसलिये पुनः नहीं कहते हैं। **स्वविषयेति** अपने विषय में अर्थात् 'अन्ध' आदि शब्द का उपहत-चतुष्क (अन्धी आँखों वाला आदमी) यह अपना विषय है उसमें जो वैमुख्य अर्थात् अनादर। **विचारो न कृत** इति विचार नहीं किया है। शेष यह है नाम के निरूपण

ध्वन्यालोकः

प्रसिद्धस्वविषयवैमुख्यप्रतीतिपूर्वकमेवार्थान्तरप्रकाशनमिति नियमभावी क्रमः। तत्राविवक्षितवाच्यत्वादेव वाच्येन सह व्यङ्ग्यस्य क्रमप्रतीतिविचारो न कृतः।

तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योर्निमित्तनिमित्तिभावान्नियमभावी क्रमः। स तुक्तयुक्त्या क्वचिल्लक्ष्यते क्वचिन्न लक्ष्यते।

अविवाक्षितवाच्यध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के उदाहरण **निःश्वासन्ध इवादर्शः** और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के **'रामोऽस्मि सर्वं सहे'** उदाहरण पहले ही दिये जा चुके हैं। उनमें अपने प्रसिद्ध अर्थ की प्रतीति से विमुख होकर ही अर्थान्तर का प्रकाशन होता है अतएव क्रम अवश्यंभावी है परन्तु वाच्य के अविवक्षित होने से ही वाच्य के साथ व्यङ्ग्य के क्रम की प्रतीति का विचार नहीं किया गया है।

इसलिये वाचक और वाच्य (शब्द और अर्थ) की प्रतीतियों के समान वाच्य और व्यंङ्ग्य की प्रतीतियों में कारणकार्यभाव होने से क्रम अवश्यंभावी है किन्तु

लोचनम्

एवं रसादयः कैशिक्यादीनामितिवृत्तभागरूपाणां वृत्तीनां जीवितमुपनागरिकाद्यानां च सर्वस्यास्योभयस्यापि वृत्तिव्यवहारस्य रसादिनियन्त्रितविषयत्वादिति यत्प्रस्तुतं तत्प्रसङ्गेन रसादीनां वाच्यातिरिक्तत्वं समर्थयितुं क्रमो विचारित इत्येतदुपसंहरति–*तस्मादिति।* अभिधानस्य शब्दरूपस्य पूर्वं प्रतीतिस्ततोऽभिधेयस्य। यदाह तत्र भवान्–

'विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते' इत्यादि।

द्वारा। भाव यह कि यहाँ सद्भाव की शङ्का भी ठीक नहीं। इस प्रकार रसादि इतिवृत्त के भाग रूप कैशिकी और उपनागरिका आदि वृत्तियों के जीवित हैं, क्योंकि उपनागरिकादि वृत्तियाँ तथा उभयात्मक समस्तवृत्तिव्यवहार रसादि के विषयों से ही नियन्त्रित रहते है वह जो प्रस्तुत या उसके प्रसङ्ग से रसादि का वाच्यातिरिक्तत्व समर्थन के लिये क्रम विचार किया है अब उसका उपसंहार करते हैं– **तस्मादिति** उस कारण से। शब्द रूप अभिधान की पहले प्रतीति होती है इसके पश्चात् अभिधेय की। जैसा कि तत्र भवान् ने स्वयं कहा है **विषयत्वमिति** स्वयं ज्ञात न होने वाले शब्द से अर्थ प्रकाशित नहीं होता इत्यादि।

ध्वन्यालोकः

तदेवं व्यञ्जकमुखेन ध्वनिप्रकारेषु निरूपितेषु कश्चिद् ब्रूयात्– किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनम्, न हि व्यञ्जकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चार्थस्य व्यञ्जकसिद्ध्यधीनं व्यङ्ग्यत्वम्, व्यङ्ग्यापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयादव्यवस्थानम्। ननु वाच्यव्यतिरिक्तस्य व्यङ्ग्यस्य सिद्धिः प्रागेव प्रतिपादिता तत्सिद्ध्यधीना च

उक्त प्रकरण से यह क्रम कहीं लक्षित होता है और कहीं असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनियों में संलक्षित नहीं होता है।

पूर्वपक्ष– इस प्रकार व्यञ्जक की दृष्टि से ध्वनि के भेदों का निरूपण करने पर कोई कह सकता है कि यह व्यञ्जकत्व क्या पदार्थ है? क्या व्यङ्ग्य अर्थ का प्रकाशन ही व्यञ्जकत्व है? यह ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ का व्यञ्जकत्व अथवा व्यङ्ग्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। व्यञ्जक की सिद्धि के अधीन व्यङ्ग्य की सिद्धि और व्यङ्ग्य की दृष्टि से व्यञ्जक की सिद्धि हो सकती है इसलिये अन्योन्याश्रय होने से दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकते।

लोचनम्

अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात्किमाहेत्यभिधीयते' इत्यत्रापि चाविनाभाववत्समयस्याभ्यस्तत्वात्क्रमो न लक्ष्येतापि।

उद्योतारम्भे यदुक्तं व्यञ्जनमुखेन ध्वनेः स्वरूपं प्रतिपाद्यत इति तदिदानीमुपसंहरन्व्यञ्जकभावं प्रथमोद्योते समर्थितमपि शिष्याणामेकप्रघट्टकेन हृदि निवेशयितुं पूर्वपक्षमाह–*तदेवमिति। कश्चिदिति।* मीमांसकादिः। *किमिदमिति।* वक्ष्यमाणश्चोदकस्याभिप्रायः। *प्रागेवेति।* प्रथमोद्द्योते अभाववादनिराकरणे। अतश्च न व्यञ्जकसिद्ध्या

इसीलिये रूप के ज्ञात न होने के कारण क्या कहते है? इस पर कहते हैं– **इत्यत्रापि** अर्थात् अभिधान और अभिधेय की प्रतीतियों में अविनाभाव की भाँति समय (सङ्केत) के अभ्यास होने के कारण क्रम लक्षित नहीं होगा।

उद्योत के आरम्भ में जो कहा है कि व्यञ्जक के द्वारा ध्वनि का स्वरूप प्रतिपादन करते है, उसका अब उपसंहार करते हुये व्यञ्जकत्व का प्रथम उद्योत में समर्थन हो जाने पर भी एक प्रकरण के द्वारा शिष्यों के हृदय में निविष्ट करने के लिये पूर्वपक्ष कहते हैं– **तदेवमिति** तो इस प्रकार। **कश्चिदिति** कोई मीमांसक आदि। **किमिदमिति** ऐसा क्यो? अर्थात् दोषद्रष्टा का वक्ष्यमाण अभिप्राय। **प्रागेवेति** पहले ही। प्रथम उद्योत में अभाववाद के निराकरण के प्रसङ्ग में। भाव यह कि इसलिये व्यञ्जकत्व की सिद्धि

ध्वन्यालोकः

व्यञ्जकसिद्धिरिति कःपर्यनुयोगावसरः सत्यमेवैतत्; प्रागुक्तयुक्ति-भिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिः कृता, स त्वर्थो व्यङ्ग्यतयैव कस्माद्व्यपदिश्यते यत्र च प्राधान्येनानवस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः, तत्परत्वाद्वाक्यस्य। अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य

व्यञ्जकत्व प्रतिषेधक मीमांसक आदि का यह पूर्वपक्ष ठीक है। पहले कही गई युक्तियों से वाच्य से भिन्न अर्थ की सिद्धि आप प्रथम उद्योत में कर चुके हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि उस अर्थ को व्यङ्ग्य ही क्यों कहते हैं? वाच्य क्यों नहीं कहते? या फिर वाच्य को भी व्यङ्ग्य क्यों नहीं कहते? जबकि ये दोनों अर्थ समान ही है। जहाँ वह अर्थ प्रधान रूप से स्थित है वहाँ उसको वाच्य

लोचनम्

तत्सिद्धिर्येनान्योन्याश्रयः शङ्क्येत, अपि तु हेत्वन्तरैस्तस्य साधितत्वादिति भावः। तदाह–*तत्सिद्धीति। स त्विति।* अस्त्वसौ द्वितीयोऽर्थः, तस्य यदि व्यङ्ग्य इति नाम कृतम्, वाच्य इत्यपि कस्मान्न क्रियते? व्यङ्ग्य इति वा वाच्याभिमतस्यापि कस्मान्न क्रियते? अवगम्यमानत्वेन हि शब्दार्थत्वं तदेव वाचकत्वम्। अभिधा हि यत्पर्यन्ता तत्रैवाभिधायकत्वमुचितम्, तत्पर्यन्तता च प्रधानीभूते तस्मिन्नर्थ इति मूर्धाभिषिक्तं ध्वनेर्यत्तत्रैवाभिधाव्यापारेण भवितुं युक्तम्। तदाह–*यत्र चेति।*

से व्यङ्गत्व की सिद्धि नहीं होती है जिससे अन्योन्याश्रय की शङ्का की जाय, बल्कि अन्य हेतुओं से भी वह सिद्ध किया जाता है। इसलिये कहते हैं– **तत्सिद्धीति** उसकी सिद्धि। **स त्विति** माना कि वह दूसरा अर्थ है यदि उसका व्यङ्ग्य नाम देते हैं तो वाच्य यही नाम क्यों नहीं देते। अथवा वाच्य रूप से अभिमत का भी व्यङ्ग्य नाम क्यों नहीं करते है? शब्द के द्वारा जो अवगम्यमानत्व है वही वाचकत्व है। जहाँ तक अभिधा है वहीं अभिधायकत्व उचित है और उस अभिधा की पर्यन्तता प्रधानीभूत उस अर्थ में है। इस प्रकार ध्वनि का मूर्धाभिषिक्त रूप निरूपण किया गया है, उसमें ही अभिधाव्यापार का होना ठीक है, इसलिये कहते हैं **यत्र चेति** और जहाँ। उस व्यङ्ग्य रूप अभिमत को जो वाक्य अवश्य प्रकाशित करता है उसका। उपायमात्र इस साधारण कथन से भाट्ट, प्राभाकर और वैयाकरण को पूर्वपक्ष में सूचित करते है। भाट्टमत में वाक्यार्थ के ज्ञान के लिये उन पदों की प्रवृत्ति में पदार्थ का प्रतिपादन पाककार्य में काष्ठों की ज्वाला की भाँति नान्तरीयक [उपायमात्र] है।

ध्वन्यालोकः

वाचकत्वमेव व्यापारः। किं तस्य व्यापारान्तरकल्पनया? तस्मात्तात्पर्यविषयो योऽर्थः स तावन्मुख्यतया वाच्यः। या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रं पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीतेः।

कहना ही ठीक हैं, क्योंकि वाक्य मुख्यतः उसी का प्रतिपादन करता है, इसलिये उस अर्थ के प्रकाशक वाक्य का उस अर्थ के बोधन में अभिधा द्वारा वाचकत्व व्यापार ही होता है। तब उसके व्यञ्जकत्व नामक अलग व्यापार की कल्पना करने की आवश्यकता ही क्या हैं? इसलिये वाक्य का तात्पर्यविषयीभूत जो अर्थ है वह मुख्यार्थ होने से वाच्य अर्थ है और इस प्रकार के स्थलों में बीच में जो दूसरे वाच्यार्थ की प्रतीति होती है वह उस मुख्य प्रतीति का उपाय मात्र है। जैसे पदार्थप्रतीति वाक्यार्थप्रतीति का उपाय मात्र होता है।

लोचनम्

इति। तद्व्यङ्ग्याभिमतं प्रकाशयत्यवश्यं यद्वाक्यं तस्येति। *उपायमात्रमित्यनेन* साधारण्योक्त्या भाट्टं प्रभाकरं वैयाकरणं च पूर्वपक्षं सूचयति। भाट्टमते हि–

वाक्यार्थमितये तषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥

इति शब्दावगतैः पदार्थैस्तात्पर्येण योऽर्थ उत्थाप्यते स एव वाक्यार्थः, स एव च वाच्य इति। प्राभाकरदर्शनेऽपि दीर्घदीर्घो व्यापारो निमित्तिनि वाक्यार्थे, पदार्थानां तु निमित्तभावः पारमार्थिक एव। वैयाकरणानां तु सोऽपारमार्थिक इति विशेषः। एतच्चास्माभिः प्रथमोद्योत एव वितत्य निर्णीतमिति न पुनरायस्यते ग्रन्थयोजनैव तु क्रियते। तदेतन्मतत्रयं पूर्वपक्षे योज्यम्।

इसलिये शब्दों से अवगत पदार्थों द्वारा तात्पर्यरूप से जो अर्थ उठाया जाता है वही वाक्यार्थ है और वही वाच्य है। प्राभाकर दर्शन में भी दीर्घदीर्घव्यापार नैमित्तिक कार्यरूप व्यापार में होता है। किन्तु पदार्थों का निमित्तभाव पारमार्थिक ही होता है। वैयाकरणों की दृष्टि में यह सब अपारमार्थिक है यह विशेष है। इसे हमने प्रथम उद्योत में विस्तार के साथ निर्णय किया है। इसलिये पुनः श्रम नहीं करते हैं, किन्तु ग्रन्थ की योजना है इतनी बात कर देते हैं, इन तीनों मतों को पूर्वपक्ष में लगाना चाहिये।

ध्वन्यालोकः

अत्रोच्यते– यत्र शब्दः स्वार्थमभिदधानोऽर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं यच्च तदर्थान्तरावगमहेतुत्वं तयोरविशेषो विशेषो वा। न तावदविशेषः; यस्मात्तौ द्वौ व्यापारौ भिन्नविषयौ भिन्नरूपौ च प्रतीयेते एव। तथाहि वाचकत्वलक्षणो व्यापारः शब्दस्य स्वार्थविषयः गमकत्वलक्षणस्त्वर्थान्तरविषयः। न च स्वपरव्यवहारो वाच्यव्यङ्ग्ययोरपह्नोतुं शक्यः, एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीतेरपरस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन। वाच्यो ह्यर्थः साक्षाच्छब्दस्य सम्बन्धी

इस प्रकार पूर्वपक्ष के होने पर यह सिद्धान्त पक्ष कहते हैं– जहाँ शब्द अपने अर्थ को अभिधा से बोधन कर दूसरे अर्थ का बोधन कराता है वहाँ उस शब्द का जो स्वार्थ का अभिधान करना और परार्थ का बाध कराना है, उन दोनों में अभेद है अथवा भेद? अभेद तो कह नहीं सकते हैं, क्योंकि वे दोनों व्यापार विभिन्न विषयक और भिन्नरूप से प्रतीत होते ही है जैसे कि शब्द का वाचकत्व व्यापार अपने अर्थ के विषय में और गमकत्व रूप व्यापार दूसरे अर्थ के विषय में होता है। वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ के विषय में शब्द के स्व और पर (अर्थविषयक) व्यापार को छिपाया नहीं जा सकता है, क्योंकि एक वाच्यार्थ की शब्दशक्ति के साथ साक्षात् सम्बन्धित रूप से प्रतीति होती है और दूसरे

लोचनम्

_अत्रेति,_ पूर्वपक्षे। _उच्यत_ इति सिद्धान्तः। वाचकत्वं गमकत्वं चेति स्वरूपतो भेदः स्वार्थेऽर्थान्तरे च क्रमेणेति विषयतः। ननु तस्माच्चेदसौ गम्यतेऽर्थः कथं तर्ह्युच्यतेऽर्थान्तरमिति। नो चेत्स तस्य न कश्चिदिति को विषयार्थ इत्याशङ्क्याह-_न चेति। न स्यादिति।_ एवकारो भिन्नक्रमः, नैव स्यादित्यर्थः। यावता न साक्षात्सम्बन्धित्वं तेन युक्त एवार्थान्तरव्यवहार इति

अत्रेति– पूर्वपक्ष में। **उच्यते** सिद्धान्त। वाचकत्व का स्वरूपतः भेद है और क्रमशः स्वार्थ में और अर्थान्तर में विषयगत भेद है। यदि उसी शब्द से वह व्यङ्ग्य अर्थ अवगत होता है तो उसे अर्थान्तर क्यों कहते हैं? यदि ऐसा नहीं तो वह उसका कोई नहीं फिर विषय का अर्थ क्या? इस आशङ्का पर कहते हैं– **न चेति स्व– पर व्यवहारो न स्यादिति** नहीं होगा– यहाँ 'हि' भिन्नक्रम है अर्थात् नहीं ही होगा। जिस कारण साक्षात् सम्बन्धित्व नहीं है उस कारण अर्थान्तर व्यवहार यही ठीक है, इसलिये

ध्वन्यालोकः

तदितरस्त्वभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तः सम्बन्धिसम्बन्धी। यदि च स्वसम्बन्धित्वं साक्षात्तस्य स्यात्तदार्थान्तरत्वव्यवहार एव न स्यात्। तस्माद्विषयभेदस्तावत्तयोर्व्यापारयोः सुप्रसिद्धः। रूपभेदोऽपि प्रसिद्ध एव। न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः। अवाचकस्यापि गीतशब्दादे रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात्। अशब्दस्यापि

की शब्द के सम्बन्धी अर्थ के सम्बन्धी परस्पर सम्बन्धित रूप से प्रतीति होती है। वाच्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी है और उससे भिन्न दूसरा अर्थ तो वाच्यार्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त सम्बन्धि सम्बन्धी (परम्परया शब्द से सम्बन्ध) है। यदि उस वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ का शब्द के साथ साक्षात् स्वसम्बन्धित्व (शब्दसम्बन्धित्व) हो तो उसमें (अर्थान्तर वाच्यार्थ से भिन्न) दूसरा अर्थ यह अर्थ व्यवहार ही न हो इसलिये स्वार्थ विषय में वाच्यव्यवहार और परार्थविषय में व्यङ्ग्यव्यवहार होने से उन दोनों व्यापारों का विषयभेद प्रसिद्ध ही है।

(वाच्य और व्यङ्ग्य का स्वरूपभेद भी प्रसिद्ध ही है) जो शब्द की अभिधानवाचक शक्ति है वही अवगमन (व्यञ्जक) शक्ति नहीं है, क्योंकि जो गीत आदि के शब्द वाचक नहीं अर्थात् अभिधा शक्ति से रहित हैं, उनसे भी

लोचनम्

विषभेद उक्तः। ननु भिन्नेऽपि विषये अक्षशब्दादेर्बह्वर्थस्य एक एवाभिधालक्षणो व्यापार इत्याशङ्क्य रूपभेदमुपपादयति–*रूपभेदोऽपीति।* प्रसिद्धिमेव दर्शयति– *न हीति।* विप्रतिपन्नं प्रति हेतुमाह–*अवाचकस्यापीति।* यदेव वाचकत्वं तदेव गमकत्वं यदि स्यादवाचकस्य गमकत्वमपि न स्यात्, गमकत्वे नैव वाचकत्वमपि न स्यात्। न चैतदुभयमपि गीतशब्दे शब्दव्यतिरिक्ते चाधोवक्त्रत्वकुचकम्पनवाष्पावेशादौ तस्यावाचकस्याप्य-

विषयभेद कहा है। संदेह करते हैं कि विषय भिन्न होने पर भी बह्वर्थ 'अक्ष' आदि शब्दों का एक ही अभिधारूप व्यापार होगा, इस आशङ्का पर रूपभेद का उपपादन करते है– रूप **भेदोऽपीति प्रसिद्धिमेव दर्शयति**– प्रसिद्धि ही दिखाते हैं। **न हीति।** विप्रतिपन्न के प्रति हेतु कहते हैं– **अवाचकस्यापीति** अवाचक का। तात्पर्य यह कि जो ही वाचकत्व है वही गमकत्व है तो अवाचक का भी गमकत्व न होगा। गमकत्व न होने पर वाचकत्व भी नहीं होगा। यह दोनों भी (वाचकत्व और गमकत्व) गीत शब्द में और शब्द व्यतिरिक्त अधोमुख, कुचकम्पन, वाष्पावेश आदि में नहीं है, क्योंकि

ध्वन्यालोकः

चेष्टादेरर्थविशेषप्रकाशनप्रसिद्धेः। तथाहि 'व्रीडायोगान्नतवदनया' इत्यादिश्लोके चेष्टाविशेषः सुकविनार्थप्रकाशनहेतुः प्रदर्शित एव। तस्माद्भिन्नविषयत्वाद्भिन्नरूपत्वाच्च स्वार्थाभिधायित्वमर्थान्तरावगमहेतुत्वं च शब्दस्य यत्तयोः स्पष्ट एव भेदः। विशेषश्चेन्न तर्हीदानीमवगमनस्याभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तस्यार्थान्तरस्य वाच्यत्व-

रसादि रूप अर्थ की अवगति (ज्ञान) होती है। न केवल अभिधारहित अपितु शब्दप्रयोगरहित केवल चेष्टादि से भी अर्थविशेष का प्रकाशन प्रसिद्ध है। जैसे **'व्रीडायोगान्नतवदनया'** इत्यादि श्लोक में सुकवि ने चेष्टाविशेष को अर्थप्रकाशन का हेतु दिखलाया ही है। इसलिये भिन्नविषय और भिन्नस्वरूप होने से शब्द का जो स्वार्थाभिधायित्व और अर्थान्तरावगमहेतुत्व है उनका भेद स्पष्ट ही है। इसलिये शब्द के स्वार्थाभिधायित्व और अर्थान्तरावगमहेतुत्व को अविशेष अभिन्न नहीं मान सकते हैं।

(स्वार्थाभिधायित्व तथा परार्थावगमहेतुत्वरूप शब्दधर्म में) यदि विशेष (भेद) है तो फिर अवगमन (व्यङ्ग्य) रूप अभिधेय सामर्थ्य से आक्षिप्त दूसरे अर्थ को वाच्य नाम से कहना उचित नहीं है (उस वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त) अर्थ का शब्दव्यापार का विषय होना तो हमें अभिमत ही हैं। परन्तु व्यङ्ग्य रूप से न

लोचनम्

वगमकारित्वदर्शनादवगमकारिणोऽप्यवाचकत्वेन प्रसिद्धत्वादिति तात्पर्यम्। एतदुपसंहरति–*तस्माद्भिन्नेति। न तर्हीति।* वाच्यत्वं ह्यभिधाव्यापारविषयता न तु व्यापारमात्रविषयता, तथात्वे तु सिद्धसाधनमित्येतदाह–*शब्दव्यापारेति।*

ननु गीतादौ मा भूद्वाचकत्वमिह त्वर्थान्तरेऽपि शब्दस्य वाचकत्वमेवोच्यते, किं हि तद्वाचकत्वं सङ्कोच्यत इत्याशङ्क्याह–*प्रसिद्धेति।*

वह अवाचक (गीतशब्द भी) अवगमकारी देखा जाता है और अवगमनकारी भी अवाचक रूप से प्रसिद्ध होता है। इसका उपसंहार करते हैं– **तस्माद्भिन्नेति** इसलिये भिन्न। **न तर्हीति** तब नहीं। वाच्य अभिधाव्यापार का विषय होता है न कि व्यापारमात्र का विषय होता है, ऐसा होने पर तो वह सिद्धसाधन होगा, इसी बात को कहते हैं– **शब्दव्यापारेति।**

गीत आदि में वाचकत्व मत हो, परन्तु यहाँ अर्थान्तर में भी शब्द का वाचकत्व ही कहा जायगा। उसके वाचकत्व को सङ्कुचित क्यों करते है? इस आशङ्का पर कहते हैं– **प्रसिद्धेति**– शब्दान्तर द्वारा उस अर्थान्तर का जो विषयीकरण है वहाँ प्रकाशन

ध्वन्यालोकः

व्यपदेश्यता। शब्दव्यापारगोचरत्वं तु तस्यास्माभिरिष्यत एव, तत्तु व्यङ्ग्यत्वेनैव न वाच्यत्वेन। प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तरस्य प्रतीतेः शब्दान्तरेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता।

कि वाच्यरूप से। क्योंकि उस दूसरे वाच्यव्यतिरिक्त अर्थ की प्रतीति (जिस व्यञ्जक अवाचक शब्द से इस समय उसका बोध कराया गया है उससे भिन्न अन्य) प्रसिद्धवाचक शब्द के सम्बन्ध से भी हो सकती है। इसलिये (किसी अर्थ को अपने वाचक शब्द से न कह कर) अभिधा शक्ति से अपने दूसरे अर्थ के वाचक [अर्थात् जिसका मुख्यार्थ कुछ और हो इस प्रकार के किसी) दूसरे शब्द द्वारा जो (व्यङ्ग्यार्थ को बोध का विषय बनाना है उसके लिये 'प्रकाशन' कहना ही उचित है, उसे वाच्य या वाचक कहना उचित नहीं है। इसलिये व्यङ्ग्य और व्यञ्जक शब्द का प्रयोग ठीक ही है।

लोचनम्

शब्दान्तरेण तस्यार्थान्तरस्य यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता न वाचकत्वोक्तिः शब्दस्य, नापि वाच्यत्वोक्तिरर्थस्य तत्र युक्ता, वाचकत्वं हि समयवशादव्यवधानेन प्रति पादकत्वं, यथा तस्यैव शब्दस्य स्वार्थे; तदाह– ***स्वार्थाभिधायिनेति।*** **वाच्यत्वं हि समयबलेन निर्व्यवधानं प्रतिपाद्यत्वं यथा तस्यैवार्थस्य शब्दान्तरं प्रतितदाह–*प्रसिद्धेति।* प्रसिद्धेन वाचकतया-भिधानान्तरेण यः सम्बन्धो वाच्यत्वं तदेव तत्र वा यद्योग्यत्वं तेनोपलक्षितस्य। न चैवविधं वाचकत्वमर्थं प्रति शब्दस्येहास्ति, नापि तं**

की उक्ति यही ठीक हैं उसे वाचक कहना उचित नहीं। और वहाँ अर्थ का वाच्यत्व कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि समय (सङ्केत) के द्वारा बिना किसी व्यवधान के प्रतिपादकत्व का नाम वाचकत्व है। जैसे उसी शब्द का अपने अर्थ में। इसी बात को कहते हैं– **स्वार्थाभिधायिनेति** स्वार्थ का अभिधान करने वाले। समय (संकेत) के बल से बिना किसी व्यवधान के प्रतिपाद्यत्व का नाम वाच्यत्व है। उसी अर्थ का शब्दान्तर के प्रति इसी बात को कहते हैं– **प्रसिद्धेति**। वाचक रूप से प्रसिद्ध अभिधानान्तर के साथ जो वाच्यत्व सम्बन्ध है वही अथवा उसमें जो योग्यत्व है उससे उपलक्षित। इस प्रकार का वाचकत्व शब्द का अर्थ के प्रति नहीं है और उस शब्द के प्रति उस उक्त अर्थ का वाच्यत्व भी नहीं है। यदि नहीं है तो कैसे उसका विषयीकरण कहा गया

ध्वन्यालोकः

न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः। यतः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति कैश्चिद्विद्वद्भिरास्थितम्। यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते तैर्वाक्यार्थपदार्थयोर्घटतदुपादानकारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः। यथाहि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भस्तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानां तेषां तदा विभक्ततयोपलम्भे

वाच्य और व्यङ्ग्य का पदार्थ वाक्यार्थ न्याय भी नहीं है, क्योंकि कुछ वैयाकरण विद्वान् पदार्थ-प्रतीति को असत्य ही मानते हैं। जो (भट्ट नैयायिक आदि) इसको असत्य नहीं मानते हैं उनको वाक्यार्थ तथा पदार्थ में घट और उसके उपादान (समवायी कारण) का न्याय मानना होगा। जैसे घट के बन जाने पर उसके उपादान कारणों (समवायिकारण कपालद्वय) की अलग प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार वाक्य अथवा वाक्यार्थ के प्रतीत हो जाने पर क्रमशः पद और पदार्थ की अलग प्रतीति नहीं होती। (तब पदार्थ वाक्यार्थ कैसे बनेगा?) उस

लोचनम्

शब्दं प्रति तस्यार्थस्योक्तरूपं वाच्यत्वम्। यदि नास्ति तर्हि कथं तस्य विषयीकरणमुक्तमित्याशङ्क्याह–*प्रतीतेरिति।* अथ च प्रतीयते सोऽर्थो न च वाच्यवाचकत्वव्यापारेणेति विलक्षण एवासौ व्यापार इति यावत्।

नन्वेवं मा भूद्वाचकशक्तिस्तथापि तात्पर्यशक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह–*न चेति। कैश्चिदिति* वैयाकरणैः *यैरपीति* भट्टप्रभृतिभिः तमेव न्यायं व्याचष्टे–*यथाहीति। तदुपादानकारणानामिति।* समवायिकारणानि कपालानि अनयोक्त्या निरूपितानि। सौगतकापिलमते तु यद्यप्युपादातव्यघटकाले

है, इस आशङ्का पर कहते हैं– **प्रतीतिरिति** प्रतति का, अर्थात् यहाँ **प्रतीयते यः सः प्रतीतिः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अर्थ प्रतीयमान होता है न कि वाच्यवाचकव्यापार द्वारा प्रतीत होता है। इसलिये यह व्यापार विलक्षण है।

शङ्का करते है– **नन्विति** इस प्रकार वाचक शक्तिस्वरूप न हो तथापि उसमें तात्पर्य शक्ति तो होगी इस आशङ्का पर कहते हैं– **म चेति कैश्चिदिति** कुछ और वैयाकरण लोग और भट्ट प्रभृति मीमांसक विद्वान्। **तमेव न्यायं व्याचष्टे** उसी न्याय की व्याख्या करते हैं– **यथाहीति। तदुपादानकारणानामिति** उसके उपादान कारणों का। इस उक्ति से घट के समवायी कारण कपालों का निरूपण किया गया है। परन्तु और सांख्य के मत .यद्यपि उपादातव्य घट के काल में उपादानों की सत्ता एक मत

ध्वन्यालोकः

वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत्। न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोर्न्यायः, न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति, वाच्यावभासाविनाभावेन तदस्य प्रकाशनात्। तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः, यथैव हि

समय (वाक्यार्थप्रतीतिकाल में पदों और वाक्यार्थप्रतीतिकाल में पदार्थों की) उनकी पृथक् रूप से प्रतीति मानने पर वाक्यार्थबुद्धि ही नहीं रहेगी। (क्योंकि एक संपूर्ण अर्थ का बोधन करने वाले पदसमुदाय को ही वाक्य कहते हैं 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' इस जैमिनीय सूत्र के अनुसार अर्थ का एकत्व होने पर ही वाक्यत्व होता है, इसलिये पदार्थ और वाक्यार्थ की अलग प्रतीति नहीं मानी जा सकती। और जब अलग प्रतीति नहीं होती है तब पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय भी नहीं बन सकता है) वाच्य और व्यङ्ग्य में ऐसी बात नहीं है। व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर वाच्यबुद्धि दूर हो जाती है ऐसी बात नहीं। व्यङ्ग्यप्रतीति वाच्यप्रतीति की अविनाभाविनी (वाच्यप्रतीति के बिना व्यङ्ग्यप्रतीति हो नहीं सकती है) रूप में प्रकाशित होती है।

इसलिये उन दोनों (वाच्य और व्यङ्ग्यप्रतीतियों) में घटप्रदीपन्याय लागू

लोचनम्

उपादानानां न सत्ता एकत्र क्षणक्षयित्वेन परत्र तिरोभूतत्वेन तथापि पृथक्तया नास्त्युपलम्भ इतीयत्यंशे दृष्टान्तः। *दूरीभवेदिति।* अर्थैकत्वस्याभावादिति भावः। एवं पदार्थवाक्यार्थन्यायं तात्पर्यशक्तिसाधकं प्रकृते विषये निराकृत्याभिमतां प्रकाशशक्तिं साधयितुं तदुचितं प्रदीपघटन्यायं प्रकृते योजयन्नाह–*तस्मादिति।* यतोऽसौ पदार्थवाक्यार्थन्यायो नेह युक्तस्तस्मात्, प्रकृतं न्यायं व्याकरणपूर्वकं दार्ष्टान्तिके योजयति–*यथैव हीति।*

में (बौद्ध मत में) क्षण भर स्थायी रहने के बाद दूसरे क्षण में तिरोहित होने के कारण वह नहीं रहती तथापि अलग से उपालम्भ नहीं है। इस अंश में दृष्टान्त है– **दूरीभवेदिति** दूर हो जायगी। भाव यह कि एक अर्थ के न होने के कारण। इस प्रकार तात्पर्यशक्ति के साधक पदार्थ-वाक्यार्थन्याय को प्रकृत विषय में निराकरण कर स्वाभिमत प्रकाशशक्ति को सिद्ध करने के लिये उसके उचित प्रदीप-घटन्याय को प्रकृत में लगाते हुये कहते हैं– **तस्मादिति** इस कारण से। जिस कारण वह पदार्थवाक्यार्थन्याय यहाँ ठीक नहीं है इसलिये प्रकृत प्रदीपघटन्याय को विवरणपूर्वक दार्ष्टान्तिक में लगाते हैं– **यथैव**

ध्वन्यालोकः

प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद्व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः। यत्तु प्रथमोद्द्योते 'यथा पदार्थद्वारेण' इत्याद्युक्तं तदुपायत्वमात्रात्साम्यविवक्षया।'

नन्वेवं युगपदर्थद्वययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तं तद्भावे च तस्य वाक्यतैव विघटते, तस्या ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्; नैष दोषः;

होता है अर्थात् जैसे प्रदीप द्वारा घट की प्रतीति हो जाने पर भी प्रदीप की प्रतीति नष्ट नहीं होती, वह भी होती रहती है इसी प्रकार व्यङ्ग्य की प्रतीति हो जाने पर भी वाच्य की प्रतीति होती रहती है। जो 'यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः संप्रतीयते। वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः' प्रथम उद्योत की इस दसवीं (१०) कारिका से वाच्य और व्यङ्ग्य में पदार्थवाक्यार्थन्याय आप के मत से भी प्रतीत होता है, यहाँ उसी का खण्डन कैसे किया जा रहा है इसका समाधान करते हैं– प्रथम उद्योत में जो 'पदार्थद्वारेण' इत्यादि कहा है वह केवल (जैसे पदार्थबोध वाक्यार्थबोध का उपाय होता है इसी प्रकार वाच्यार्थबोध व्यङ्ग्यार्थप्रतीति का उपाय होता है) इस उपायत्वरूप सादृश्य का कथन करने की इच्छा से ही वहाँ लिखा था। वैसे पदार्थवाक्यार्थन्याय हमको यहाँ अभिमत नहीं है। यहाँ प्रश्न करते हैं कि यदि घटप्रदीपन्याय से वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों की प्रतीति मानेगे तो इस प्रकार वाक्य में एक साथ दो अर्थ होने लगेंगे और ऐसा होने पर वाक्य की वाक्यार्थता नष्ट हो जायगी, क्योंकि एकार्थत्व ही वाक्य का लक्षण है।

लोचनम्

ननु पूर्वमुक्तम्–

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाक्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥

इति तत्कथं स एव न्याय इह यत्नेन निराकृत इत्याशङ्क्याह–*यत्त्विति। तदिति।* न तु सर्वथा साम्येनेत्यर्थः। *एवमिति।* प्रदीपघटवद्युगपदुभयावभासप्रकारेणेत्यर्थः। तस्या इति वाक्यतायाः। ऐकार्थ्यलक्षमर्थैकत्वाद्धि

हीति पहले जैसा कहा है– **यथेति** जैसे पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ प्रतीत होता है उसी प्रकार उस व्यङ्ग्यरूप वस्तु की प्रतिपत्ति वाच्यार्थ की प्रतीतिपूर्वक होती है। तो आपने उस न्याय को यहाँ यत्न से क्यों निराकरण किया है, इस आशङ्का पर कहते है– **यत्त्विति तदिति** न कि सर्वथा साम्यपूर्वक। **एवमिति** इस प्रकार। प्रदीप-घट की भाँति

ध्वन्यालोकः

गुणप्रधानभावेन तयोर्व्यवस्थानात्। व्यङ्ग्यस्य हि क्वचित्प्राधान्यं वाच्यस्योपसर्जनभावः क्वचिद्वाच्यस्य प्राधान्यमपरस्य गुणभावः। तत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तमेव; वाच्यप्राधान्ये तु प्रकारान्तरं निर्देक्ष्यते। तस्मात्-स्थितमेतत्- व्यङ्ग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वमपि तु व्यङ्ग्यत्वमेव।

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि यह दोष नहीं होगा, क्योंकि वहाँ उस वाच्य और व्यङ्ग्य की गुण और प्रधान रूप से व्यवस्था है। कहीं व्यङ्ग्य का प्राधान्य और वाच्यार्थ उपसर्जन (गुण) होता है और कही वाच्यार्थ का प्राधान्य तथा व्यङ्ग्यार्थ गुणभाव होता है, उनमें व्यङ्ग्य प्राधान्य होने पर ध्वनिकाव्य होता है यह कह ही चुके हैं और वाच्य का प्राधान्य होने पर दूसरा प्रकार अर्थात् गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है इसे आगे प्रदर्शित करेंगे, इसलिये यह सिद्ध हो गया कि काव्य के व्यङ्ग्यप्रधान होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ अभिधेय नहीं अपितु व्यङ्ग्य ही होता है।

लोचनम्

वाक्यमेकमित्युक्तम्। सकृत् श्रुतो हि शब्दो यत्रैव समयस्मृतिं करोति स चेदनेनैवावगमितः तद्विरम्यव्यापाराभावात्समयस्मरणानां बहूनां युगपदयोगात्कोऽर्थभेदस्यावसरः। पुनः श्रुतस्तु स्मृतो वापि नासाविति भावः। *तयोरिति* वाच्यव्यङ्ग्ययोः। *तत्रेति।* उभयोः प्रकारयोर्मध्याद्यदा प्रथमः प्रकार इत्यर्थः। *प्रकारान्तरमिति।* गुणीभूतव्यङ्ग्यसञ्ज्ञितम्। *व्यङ्ग्यत्वमेवेति* प्रकाश्यत्वमेवेत्यर्थः।

'ननु यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इति व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये वाच्यत्वमेव

एक काल में दोनों के अवभास के प्रकार से **तस्या** इति उस एक वाक्यता का। अर्थ एक होने से स्वार्थस्वरूप एक वाक्य होता है ऐसा कहा गया है। भाव यह कि एक बार श्रुत शब्द जहाँ पर हो समय (सङ्केत) की स्मृति कराता है। वह यदि एक बार श्रुत शब्द ही से विदित हो गया तो विरत होने पर पुनः व्यापार नहीं होती। इसलिये बहुत से सङ्केत के स्मरणों को एक कालावच्छेदेन न होने के कारण अर्थभेद का अवसर ही कहाँ? वह शब्द फिर से न श्रुत है न स्मृत है। **तयोरिति** उन दोनों वाच्य और व्यङ्ग्य का। **तत्रेति** उसमें। दोनों प्रकारों के बीच से जब प्रथम प्रकार हो जायगा तब गुणीभूत व्यङ्ग्यसंज्ञक। इस प्रकार व्यङ्ग्यत्व ही प्रकाश्यत्व है। **प्रकारान्तरेति।**

नन्विति-शब्द का जिसमें तात्पर्य होता है वही शब्दार्थ है। इस नियम के अनुसार व्यङ्ग्य के प्राधान्य में वाच्यत्व ही उचित है अतः अप्राधान्य में क्या व्यङ्ग्यत्व

ध्वन्यालोकः

किं च व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षायां वाच्यत्वं तावद्भवद्भिर्नाभ्युपगन्तव्यमतत्परत्वाच्छसब्दस्य। तदस्ति तावद्-व्यङ्ग्यः शब्दानां कश्चिद्विषय इति। यत्रापि तस्य प्राधान्यं तत्रापि किमिति तस्य स्वरूपमपह्नूयते। एवं तावद्वाचकत्वादन्यदेव व्यञ्जकत्वम्; इतश्च वाचकत्वाद्व्यञ्जकत्वस्यान्यत्वं यद्वाचकत्वं शब्दैकाश्रयमितरत्तु शब्दाश्रयमर्थाश्रयं च शब्दार्थयोर्द्वयोरपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात्।

किञ्चेति– इसके अतिरिक्त जहाँ व्यङ्ग्य का प्राधान्य विवक्षित नहीं है वहाँ शब्द के तत्पर (गुणीभूत व्यङ्ग्य के प्रतिपादक) न होने से उस गुणीभूत व्यङ्ग्यार्थ को आप वाच्यार्थ नहीं मानेंगे, ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि शब्द का कोई व्यङ्ग्य अर्थ भी है। (जो शब्द के तत्पर न होने अर्थात् गुणीभूत व्यङ्ग्य होने से वाच्य नहीं है अत: व्यङ्ग्य है) और जहाँ उस व्यङ्ग्य का प्राधान्य है वहाँ उसके स्वरूप का निषेध किसलिये करते हैं, इस प्रकार वाचकत्व से व्यञ्जकत्व अलग ही है। इसलिये भी वाचकत्व से व्यञ्जकत्व भिन्न है, क्योंकि वाचकत्व केवल शब्द के आश्रित रहता है और व्यञ्जकत्व शब्द और अर्थ दोनों में रहता है। शब्द और अर्थ दोनों का व्यञ्जकत्व प्रतिपादन किया जा चुका है।

लोचनम्

न्याय्यम्, तर्ह्यप्राधान्ये किं युक्तं व्यङ्ग्यत्वमिति चेत्सिद्धो नः पक्षः, एतदाह–*किञ्चेति।* ननु प्राधान्ये मा भूद्व्यङ्ग्यत्वमित्याशङ्क्याह–*यत्रापीति।* अर्थान्तरत्वं सम्बन्धिसम्बन्धित्वमनुपयुक्तसमयत्वमिति व्यङ्ग्यतायां निबन्धनं, तच्च प्राधान्येऽपि विद्यत इति स्वरूपमहेयमेवेति भावः। एतदुपसंहरति–*एवमिति।* विषयभेदेन स्वरूपभेदेन चेत्यर्थः। *तावदिति* वक्तव्यान्तरमासूत्रयति। तदेवाह–*इतश्चेति।* अनेन सामग्रीभेदात्कारणभेदोऽप्यस्तीति दर्शयति। एतच्च

ठीक है? अगर ऐसा मानते हैं तो हमारा पक्ष सिद्ध हो गया। इसी बात को कहते हैं– **किञ्चेति** प्राधान्य में व्यङ्ग्यत्व मत हो, इस आशङ्का पर कहते हैं– **यत्रापीति** जहाँ भी। अर्थान्तर होना, सम्बन्धी का सम्बन्धी होना अनुपयुक्त समय (सङ्केत) का होना यह व्यङ्ग्य होने में कारण है और यह प्राधान्य में भी विद्यमान है। इस प्रकार स्वरूप अत्याज्य ही है यह भाव है। **तदुपसंहरति** इसका उपसंहार करते हैं। **एवमिति** इस प्रकार विषयभेद से और स्वरूपभेद से भी। **तावदिति** दूसरा वक्तव्य प्रस्तुत करते हैं उसे ही कहते हैं– **इतश्चेति** और इस कारण भी। सामग्रीभेद से कारण भेद भी है।

ध्वन्यालोकः

गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति। किन्तु ततोऽपि व्यञ्जकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिद्यते। रूपभेदस्तावदयम्–यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा। व्यञ्जकत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापारः। न ह्यर्थाद्व्यङ्ग्यत्रयप्रतीतिर्या तस्या अमुख्यत्वं मनागपि लक्ष्यते।

अयं चान्यः स्वरूपभेदः–यद्गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थितं

गुणवृत्ति तो उपचार (सादृश्य सम्बन्ध से अमुख्यार्थ में प्रयोग) तथा लक्षणा (सादृश्येतर सम्बन्ध में अमुख्यार्थ में प्रयोग) से दोनों (शब्द तथा अर्थ उभय) में आश्रित रहती है, किन्तु उससे भी स्वरूपतः और विषयतः व्यञ्जकत्व का भेद है। स्वरूपतः भेद यह है कि अमुख्यतया अर्थ का बोध कराने वाला शब्दव्यापार गुणवृत्ति नाम से प्रसिद्ध है और व्यञ्जकत्व मुख्यतया अर्थबोधक व्यापार है तीन प्रकार से (रसादि ध्वनि, वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि) व्यङ्ग्यों की प्रतीति होती है। उसका वाच्यार्थ से किसी प्रकार रञ्चमात्र अमुख्यत्व दिखलाई नहीं देता है।

और दूसरा स्वरूपभेद यह है कि अमुख्य रूप से स्थित वाचकत्व ही

लोचनम्

वितत्य ध्वनिलक्षणे 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति वाग्रहणं 'व्यङ्क्तः' इति द्विर्वचनं च व्याचक्षाणैरस्माभिः प्रथमोद्द्योत एव दर्शितमिति पुनर्न विस्तार्यते।

एवं विषयभेदात्स्वरूपभेदात्कारणभेदाच्च वाचकत्वान्मुख्यात्प्रकाशकत्वस्य भेदं प्रद्यिपाद्योभयाश्रयत्वाविशेषात्तर्हि व्यञ्जकत्वगौणत्वयोः को भेद इत्याशङ्क्यामुख्यादपि प्रतिपादयितुमाह–*गुणवृत्तिरिति। उभयाश्रयापीति* शब्दार्थाश्रया। उपचारलक्षणयोः प्रथमोद्द्योत एव विभज्य निर्णीतं

इससे दिखाते हैं। इसे विस्तार कर ध्वनिलक्षण में **'यत्रार्थः शब्दो वा'** यहाँ वा ग्रहण और व्यङ्ग्य इसमें द्विर्वचन का व्याख्यान करते हुये हमने प्रथम उद्योत में ही दिखा दिया है। इसलिये फिर विस्तार नहीं करते।

इस प्रकार विषयभेद, स्वरूपभेद और कारणभेद द्वारा मुख्य वाचकत्व से प्रकाशकत्व के भेद का प्रतिपादन कर शब्द और अर्थ रूप उभयाश्रित होने के अविशेष होने से व्यञ्जकत्व और गौणत्व का क्या भेद है? यह आशङ्का कर अमुख्य से भी भेदप्रतिपादनार्थ कहते हैं– **गुणवृत्तिरिति उभयाश्रयापीति** उभय के आश्रित अर्थात् शब्द और अर्थ के आश्रित। उपचार और लक्षणा का स्वरूप प्रथम उद्योत में ही विभाग

ध्वन्यालोकः

वाचकत्वमेवोच्यते। व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव। एतच्च प्रतिपादितम्। अयं चापरो रूपभेदो यद्गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति तदोपलक्षणीयार्थात्मना परिणत एवासौ सम्पद्यते। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ। व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत्। यथा– 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास

गुणवृत्ति है और व्यञ्जकत्व वाचकत्व से अत्यन्त भिन्न होती है यह कह चुके है। और तीसरा स्वरूप यह है कि गुणवृत्ति में जब एक अर्थ का वाचक शब्द दूसरे अर्थ को लक्षणा द्वारा बोधित करता है तब (जहत्स्वार्था या लक्षणलक्षणा में लक्षणीय अर्थ रूप में परिणत होकर ही लक्ष्यार्थ होता है जैसे 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा पद अपने अर्थ को छोड़ कर तट रूप में परिणत होकर ही तट अर्थ का बोधन करता है) व्यञ्जकत्व की पद्धति में जब अर्थ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है तब प्रदीप के समान वह अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही अन्य अर्थ का प्रकाशक होता है (अर्थात् जहत्स्वार्था लक्षणा में गङ्गा पद अपने मुख्य अर्थ को सर्वथा छोड़कर तट रूप अर्थान्तर का बोधक होता है। व्यञ्जक शब्द अपने स्वार्थ को प्रकाशित करता हुआ अर्थान्तर का बोधक होता है यह तीसरा भेद है जिससे व्यञ्जकत्व गुणवृत्ति से अलग है) 'जैसे लीला कमलपत्राणि गणयामास पार्वती' में पहले मुख्यार्थ का बोध होता है, उसके बाद वह वाच्यार्थ

लोचनम्

स्वरूपमिति न पुनर्लिख्यते। *मुख्यतयैवेति।* अस्खलद्गतित्वेनेत्यर्थः। *प्रतिपादितमिति।* इदानीमेव। *परिणत इति।* स्वेन रूपेणानिर्भासमान इत्यर्थः।

कीदृश इति मुख्यो वा न वा प्रकारान्तराभावात्। मुख्यत्वे वाचकत्वमन्यथा गुणवृत्तिः, गुणो निमित्तं सादृश्यादि तद्द्वारिका वृत्तिः

कर निर्णय कर दिया गया है। इसलिये फिर नहीं लिखते हैं। **मुख्यतयैवेति** अर्थात् अस्खलद्गतिरूप से ही। **प्रतिपादितमिति** तीनों व्यङ्ग्य-वस्तु, अलङ्कार और रस रूप-प्रतिपादन कर चुके हैं। **इदानीमेवेति** अभी ही परिणत इति अर्थात् अपने रूप से प्रतीत न होता हुआ।

कीदृश इति मुख्य अथवा अमुख्य। क्योंकि कोई तीसरा प्रकार नहीं है। मुख्य होने पर वाचकत्व (व्यापार) अन्यथा गुणवृत्ति (व्यापार) होगा। भाव यह कि गुण अर्थात्

ध्वन्यालोकः

पार्वती' इत्यादौ। यदि च यत्रातिरस्कृतस्वप्रतीतिरर्थोऽर्थान्तरं लक्षयति तत्र लक्षणाव्यवहारः क्रियते, तदेवं सति लक्षणैव मुख्यः शब्दव्यापार इति प्राप्तम्। यस्मात्प्रायेण वाक्यानां वाच्यव्यतिरिक्ततात्पर्य-विषयार्थावभासित्वम्।

ननु त्वत्पक्षेऽपि यदार्थो व्यङ्ग्यत्रयं प्रकाशयति तदा शब्दस्य कीदृशो व्यापारः। उच्यते– प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दवशेनैवार्थस्य तथा-विधं व्यञ्जकत्वमिति शब्दस्य तत्रोपयोगः कथमपह्नूयते।

लज्जा अथवा अवहित्था रूप शृङ्गाराङ्ग को अभिव्यक्त करता है। और जहाँ (अजहत्स्वार्था उपादानलक्षणा अथवा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि में) अर्थ अपनी प्रतीति का परित्याग किये बिना अर्थान्तर को लक्षित करता है वहाँ यदि लक्षणा व्यवहार ही करें तब तो फिर अभिधा के स्थान पर लक्षणा ही शब्द का मुख्य व्यापार आ जाता है, क्योंकि अधिकांश वाक्य स्वार्थ का परित्याग किये बिना भी वाच्य से भिन्न तात्पर्यविषयीभूत अर्थों के प्रकाशक होते हैं। प्रश्न होता है कि आपके मत में भी जब अर्थ (रसादि अलङ्कार तथा वस्तुरूप) व्यङ्ग्य को प्रकाशित करता है तब शब्द का किस प्रकार व्यापार होता है?

उत्तर– प्रकरण आदि सहकृत शब्द की सामर्थ्य से ही अर्थ में उस प्रकार रसादि का व्यञ्जकत्व होता है, इसलिये उसमें शब्द का उपयोग होता है। और उसमें अस्खलद्गतित्व समय अर्थात् सङ्केतग्रह के अनुपयोगित्व और

लोचनम्

शब्दस्य व्यापारो गुणवृत्तिरिति भावः। मुख्य एवासौ व्यापारः समग्रीभेदाच्च वाचकत्वाद्व्यतिरिच्यत इत्यभिप्रायेणाह–*उच्यत इति।* एवमस्खलद्गतित्वात् कथञ्चिदपि समयानुपयोगात्पृथगाभासनमानत्वाच्चेति त्रिभिः प्रकारैः प्रकाशकत्वस्यैतद्विपरीतरूपत्रयायाश्च गुणवृत्तेः स्वरूपभेदं व्याख्याय

सादृश्य आदि निमित्त उसके द्वारा वृत्ति अर्थात् शब्द का व्यापार गुणवृत्ति है। वह व्यापार मुख्य ही है और सामग्री के भेद से वाचकत्व से अलग हो जाता है इस अभिप्राय से कहते हैं– **उच्यत** इति। इस प्रकार स्खलद्गति न होने के कारण किसी प्रकार समय (सङ्केत) के उपयोग न होने के कारण और पृथक् आभासमान होने के कारण इन तीनों प्रकारों से प्रकाशकत्व (व्यञ्जकत्व) का और इसके विपरीत तीन रूपों वाली गुणवृत्ति का स्वरूप व्याख्यान करके विषयभेद को भी कहते हैं– **विषयभेदोऽपीति**

ध्वन्यालोकः

विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव। यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयोऽलङ्कारविशेषा व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषयः। तत्र रसादिप्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनचिदुच्यते न च शक्यते वक्तुम्। व्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीतिरपि तथैव। वस्तुचारुत्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन यत्प्रतिपिपादयितुमिष्यते तद्व्यङ्ग्यम्। तच्च न सर्वं

पृथगवभासित्व को किस प्रकार छिपाया जा सकता है?

गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व का विषयभेद भी स्पष्ट ही है, क्योंकि व्यञ्जकत्व के विषय रसादि अलङ्कार और व्यङ्ग्यरूप वस्तु ये तीन हैं। उनमें से रसादि की प्रतीति को कोई भी गुणवृत्ति नहीं कहता है और न कह ही सकता है। व्यङ्ग्य अलङ्कार की प्रतीति भी ऐसी ही है। (अर्थात् उसको न तो कोई गुणवृत्ति कहता है न कोई कह सकता है) चारुत्व की प्रतीति के लिये वाच्यभिन्न (स्वशब्दानभिधेयत्वेन) रूप से जिसका प्रतिपादन इष्ट हो वह वस्तु व्यङ्ग्य है यह सब गुणवृत्ति का विषय नहीं है। क्योंकि प्रसिद्ध (अर्थात् रूढिवश लावण्यादि

लोचनम्

विषयभेदमप्याह–*विषयभेदोऽपीति।* वस्तुमात्रं गुणवृत्तेरपि विषय इत्यभिप्रायेण विशेषयति–*व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नमिति।* व्यञ्जकत्वस्य यो विषयः स गुणवृत्तेर्न विषयः अन्यश्च तस्या विषयभेदो योज्यः। तत्र प्रथमं प्रकारमाह–*तत्रेति।* *न च शक्यत इति।* लक्षणासामग्र्यास्तत्राविद्यमानत्वादिति हि पूर्वमेवोक्तम्। *तथैवेति।* न तत्र गुणवृत्तिर्युक्तेत्यर्थः। वस्तुनो यत्पूर्वं विशेषणं कृतं तद्व्याचष्टे–*चारुत्वप्रतीतय इति। न सर्वमिति।* किंचित्तु भवति। यथा–'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इति। यदुक्तम्–'कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्' इति। प्रसिद्धितो लावण्यादयः शब्दाः,

विषयभेद भी। वस्तुमात्र गुणवृत्ति का भी विषय है यह विशेषता बताते है– **व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नमिति** व्यङ्ग्य रूप से अवच्छिन्न। जो व्यञ्जकत्व का विषय है वह गुणवृत्ति का विषय नहीं है और अन्य उसका भेद लगा लेना चाहिये। उसमें प्रथम प्रकार कहते हैं– **तत्रेति** उनमें। **न च शक्यत** इति नहीं कह सकता है, क्योंकि यह पहले कह चुके हैं कि वहाँ लक्षणासामग्री विद्यमान नहीं। **तथैवेति** उसी प्रकार अर्थात् वहाँ गुणवृत्ति ठीक नहीं। वस्तु का जो विशेषण किया है उसकी व्याख्या करते हैं– **चारुत्व प्रतीतय** इति चारुत्व की प्रतीति के लिये– **न सर्वमिति** सब नहीं। **किंचित्तु** भवति कुछ तो

ध्वन्यालोक:

गुणवृत्तेर्विषयः प्रसिद्ध्यनुरोधाभ्यामपि गौणानां शब्दानां प्रयोगदर्शनात्। तथोक्तं प्राक्। यदपि च गुणवृत्तेर्विषयस्तदपि च व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेन। तस्माद्गुणवृत्तेरपि व्यञ्जकत्वस्यात्यन्त-विलक्षणत्वम्। वाचकत्वगुणवृत्तिविलक्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानम्।

शब्द) और अनुरोध (अर्थात् व्यवहार के अनुरोध से **'वदति विसिनीपत्रशयनम्'** आदि) में भी गौणशब्द का प्रयोग देखा जाता है जैसा कि पहले कह चुके हैं और (जहाँ **गङ्गायां घोषः** इत्यादि प्रयोजनवती लक्षणा में शैत्यपावनत्व का अतिशयत्व) गुणवृत्ति का विषय होता भी है वहाँ व्यञ्जकत्व के अनुप्रवेश से (वस्तुव्यङ्ग्य गुणवृत्ति का विषय) होता है। इसलिये गुणवृत्ति से भी व्यञ्जकत्व अत्यन्त भिन्न है। वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से विलक्षण (भिन्न) होने पर भी उन दोनों (वाचकत्व या गुणवृत्ति) के आश्रय ही उस व्यञ्जकत्व की स्थिति होती है।

लोचनम्

वृत्तानुरोधव्यवहारानुरोधादेः 'वदति बिसिनीपत्रशयनम्' इत्येवमादयः। *प्रागिति।* प्रथमोद्योते 'रूढा ये विषयेऽन्यत्र' इत्यत्रान्तरे। न सर्वमिति यथास्माभिर्व्याख्यातं तथा स्फुटयति–*यदपि चेति।* गुणवृत्तेरिति पञ्चमी। अधुनेतररूपोपजीवकत्वेन तदितरस्मात्तदितररूपोपजीवकत्वेन च तदितरस्मादित्यनेन पर्यायेण वाचकत्वाद् गुणवृत्तेश्च द्वितयादपि भिन्नं व्यञ्जकत्वमित्युपपादयति–*वाचकत्वेति।* चोऽवधारणे भिन्नक्रमः, अपिशब्दोऽपि। न केवल पूर्वोक्तो हेतुकलापो यावत्तदुभयाश्रयत्वेन मुख्योपचाराश्रयत्वेन यद्व्यवस्थानं तदपि वाचकगुणवृत्तिविलक्षणस्यैवेति

होता है। जैसे **'निःश्वासान्ध इवादर्शः'। यदुक्तं कस्यचिदिति** जैसा कहा है– किसी ध्वनि के भेद का वह गुणवृत्ति उपलक्षण हो सकती है। **प्रसिद्ध्यनुरोधाभ्यामिति** प्रसिद्धि से लावण्यादि शब्द। वृत्तानुरोध और व्यवहारानुरोध आदि से **'वदति विसिनीपत्रशयनम्'** इत्यादि **प्रागिति** पहले प्रथम उद्योत में **'रूढा ये विषयोऽन्यत्र'** इसके बीच। **न सर्वमिति** सब नहीं। जिस प्रकार हमने व्याख्यान किया है उसी को स्पष्ट करते हैं– **यदपि चेति** और जो कि गुणवृत्ति यहाँ पञ्चमी विभक्ति है। अब व्यञ्जकत्व और तदितर रूप गुणवृत्ति के उपजीवक (आश्रय) रूप के कारण इतर रूप वाचकत्व से भिन्न होता है। और इतर रूप वाचकत्व के उपजीवक रूप से उससे इतर रूपगुणवृत्ति से भिन्न होता है। इस प्रकार क्रम से वाचकत्व और गुणवृत्ति इन दोनों से भी व्यञ्जकत्व

ध्वन्यालोकः

व्यञ्जकत्वं हि क्वचिद्वाचकत्वाश्रयेण व्यवतिष्ठते, यथा विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ। क्वचित्तु गुणवृत्त्याश्रयेण यथा अविवक्षितवाच्ये ध्वनौ। तदुभयाश्रयत्वप्रतिपादनायैव च ध्वनेः प्रथमतरं द्वौ प्रभेदावुपन्यस्तौ। तदुभयाश्रितत्वाच्च तदेकरूपत्वं तस्य न शक्यते वक्तुम्। यस्मान्न तद्वाचकत्वैकरूपमेव, क्वचिल्लक्षणाश्रयेण वृत्तेः। न च लक्षणैकरुपमेवान्यत्र वाचकत्वाश्रयेण व्यवस्थानात्। न

व्यञ्जकत्व कहीं वाचकत्व के आश्रित रहता है जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूलध्वनि में और कहीं गुणवृत्ति के आश्रय से जैसे अविवक्षितवाच्य लक्षणामूलध्वनि में। उस व्यञ्जकत्व के उभय (वाचकत्व और गुणवृत्ति) में आश्रितत्व प्रतिपादन के लिये है। सबसे पहले ध्वनि के अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपवाच्य दो भेद किये गये हैं। उभयाश्रित होने के कारण ही वह व्यञ्जकत्व उन वाचकत्व और गुणवृत्ति के साथ एक रूप (वाचकत्व और गुणवृत्ति रूप उनसे अभिन्न) नहीं कहा जा सकता है, अपितु उन दोनों से भिन्न है, क्योंकि कहीं (अविवक्षितवाच्यलक्षणामूल ध्वनि में) लक्षणा के आश्रय भी रहने से वह व्यञ्जकत्व) वाचकत्व रूप ही नहीं हो सकता है। और कहीं विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि में वाचकत्वाश्रय भी रहने से लक्षणारूप भी नहीं हो सकता है और न

लोचनम्

व्याप्तिघटनम्। तेनायं तात्पर्यार्थः–तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानात्तदुभय-वैलक्षण्यमिति।

एतदेव विभजते–*व्यञ्जकत्वं हीति। प्रथमतरमिति।* प्रथमोद्द्योते 'स च' इत्यादिना ग्रन्थेन। हेत्वन्तरमपि सूचयति–*न चेति।* वाचकत्वगौणत्वो-भयवृत्तान्तवैलक्षण्यादिति सूचितो हेतुः। तमेव प्रकाशयति–*तथाहीत्यादिना।*

भिन्न होता है यह उपपादन करते हैं। **वाचकत्वेति**– यहाँ च शब्द अवधारणार्थक और भिन्नक्रम है। अपि शब्द भी भिन्नक्रम है– न केवल पूर्वोक्त हेतुसमूह बल्कि दोनों के आश्रित होकर मुख्य और उपचार के आश्रित रूप से जो व्यवस्थान है वह भी वाचक और गुणवृत्ति से विलक्षण उस व्यञ्जक की व्याप्ति की संघटना है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उन दोनों के आश्रित रूप से रहने के कारण उन दोनों से वैलक्षण्य है।

इसी का विभाग करते हैं– **व्यञ्जकत्वं हीति प्रथमतरमिति** प्रथम उद्योत में स च इत्यादि ग्रन्थ से अन्य हेतु भी सूचित करते हैं– **न चेति** वाचक और गौणत्व इन दोनों वृत्तान्तों से वैलक्षण्य के कारण यह हेतु है इसे सूचित किया है– **तमेव**

ध्वन्यालोकः

चोभयधर्मत्वेनैव तदेकैकरूपं न भवति। यावद्वाचकत्वलक्षणादिरूपरहितशब्दधर्मत्वेनापि। तथाहि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्ति रसादिविषयम्। न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते। शब्दादन्यत्रापि विषये व्यञ्जकत्वस्य दर्शनाद्वाचकत्वादि-

केवल (वाचकत्व तथा गुणवृत्ति) का धर्म होने से ही वह एक-एक रूप (वाचकत्व तथा गुणवृत्ति) नहीं होता। (अर्थात् व्यञ्जकत्व के वाचकत्व अथवा गुणवृत्ति रूप न होने का केवल उभयाश्रित होना यह एक ही कारण नहीं है। अपितु आगे बतलाये हुये और भी कारण उसको वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से भिन्न करते हैं) अपितु वाचकत्व और लक्षणा आदि व्यापार से रहित (गीत आदि के) शब्दों का धर्म होने से भी (व्यञ्जकत्व वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से भिन्न है। जैसे गीत के ध्वनि में भी रसादि विषयक व्यञ्जकत्व रहता है, परन्तु उनमें वाचकत्व अथवा लक्षणा किसी प्रकार भी दिखलाई नहीं देती। इसके अतिरिक्त शब्द से भिन्न चेष्टा

लोचनम्

***तेषामिति।* गीतादिशब्दानाम्। हेत्वन्तरमपि सूचयति–*शब्दादन्यत्रेति।* वाचकत्वगौणत्वाभ्यामन्यद् व्यञ्जकत्वं शब्दादन्यत्रापि वर्तमानत्वात्प्रमेयत्वादिवदिति हेतुः सूचितः। नन्वन्यत्रावाचके यद्व्यञ्जकत्वं तद्भवतु वाचकत्वादेर्विलक्षणम्, वाचके तु यद् व्यञ्जकत्वं तदविलक्षणमेवास्त्वित्याशङ्क्याह– *यदीति।* आदिपदेन गौणं गृह्यते। *शब्दस्यैवेति।* व्यञ्जकत्वं वाचकत्वमिति यदि पर्यायौ कल्प्येते तर्हि व्यञ्जकत्वं शब्द इत्यपि पर्यायता कस्मात्र कल्प्यते, इच्छाया अव्याहतत्वात्। व्यञ्जकत्वस्य तु विविक्तं**

प्रकाशयति उसी को प्रकाशित करते हैं– **तथाहीत्यादिना** जैसा की इत्यादि के द्वारा **तेषामिति** उन गीतादि शब्दों का– **हेत्वन्तरमपि सूचयति** दूसरा हेतु भी सूचित करते हैं। **शब्दादन्यत्रेति** शब्द के अतिरिक्त वाचकत्व और गौणत्व से व्यञ्जकत्व भिन्न है, क्योंकि शब्द के अतिरिक्त स्थल में भी वह वर्त्तमान रहता है। प्रमेयत्व आदि की भाँति यह हेतु सूचित किया। अन्यत्र अवाचक गीतादि स्थल में जो व्यञ्जकत्व है वह वाचकत्व आदि से विलक्षण भले ही हो, परन्तु वाचक में जो व्यञ्जकत्व है वह विलक्षण नहीं है, इस आशङ्का पर कहते हैं– **यदीति** और यदि यहाँ आदि पद से गौण को ग्रहण करते हैं। **शब्दस्यैवेति** शब्द का ही। व्यञ्जकत्व और वाचकत्व को यदि पर्याय मानते हो तो व्यञ्जकत्व और शब्द को क्यों पर्याय नहीं मान लेते? क्योंकि इच्छा तो अव्याहत

ध्वन्यालोकः

शब्दधर्मप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम्। यदि च वाचकत्वलक्षणादीनां शब्दप्रकाराणां प्रसिद्धप्रकारविलक्षणत्वेऽपि व्यञ्जकत्वं प्रकारत्वेन परिकल्प्यते तच्छब्दस्यैव प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते। तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः–वाचकत्वं गुणवृत्तिर्व्यञ्जकत्वं च। तत्र व्यञ्जकत्वे यदा व्यङ्ग्यप्राधान्यं तदा ध्वनिः, तस्य चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ प्रभेदावनुक्रान्तौ प्रथमतरं तौ सविस्तरं निर्णीतौ।

आदि विषय में भी व्यञ्जकत्व के पाये जाने से उसे वाचकत्व आदि रूप शब्दधर्मविशेष कहना उचित नहीं है और यदि प्रसिद्ध (वाचकत्व तथा गुणवृत्ति रूप) भेदों से (पूर्वोक्त हेतुओं से) अतिरिक्त होने पर भी व्यञ्जकत्व को वाचकत्व और लक्षणा आदि शब्दधर्मों का विशेष प्रकार मानना चाहते हैं तो उस व्यञ्जकत्व को शब्द का ही प्रकारविशेष भेद क्यों नहीं मान लेते। जब प्रवलतर युक्तियों से वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से व्यञ्जकत्व का भेद स्पष्ट सिद्ध हो गया है फिर भी आप उस व्यञ्जकत्व को वाचकत्व या गुणवृत्ति के भेदों में ही परिगणित करने का असङ्गत प्रयत्न कर रहे हैं तो उसको शब्द का एक अलग प्रकार मानने में आप को क्या आपत्ति है?

इस तरह शाब्द व्यवहार के तीन प्रकार होते हैं– वाचकत्व, गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व। उनमें से व्यञ्जकत्व में जब व्यङ्ग्य का प्राधान्य होता है तब ध्वनि काव्य कहा जाता है और उस ध्वनि के अविवक्षितवाच्य लक्षणामूल तथा विरक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूल ये दो भेद किये गये है जिनका पहले सविस्तर वर्णन किया जा चुका है।

लोचनम्

स्वरूपं दर्शितं तद्विषयान्तरे कथं विपर्यस्यताम्। एवं हि पर्वतगतो धूमोऽनग्निजोऽपि स्यादिति भावः। अधुनोपपादितं विभागमुपसंहरति– *तदेवमिति।* व्यवहारग्रहणेन समुद्रघोषादीन् व्युदस्यति।

होती है। व्यञ्जकत्व का अलगरूप दिखा चुके है। वह विषयान्तर में कैसे विपर्यस्त होगा? भाव यह कि इस प्रकार तो पर्वतगत धूम अनग्निज भी हो सकता है। अब उपपादित विभाग का उपसंहार करते है– **तदेवमिति** तो इस प्रकार। व्यवहार के ग्रहण से समुद्रादि के शब्द का निराकरण करते हैं।

ध्वन्यालोकः

अन्यो ब्रूयात्– ननु विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ गुणवृत्तिता नास्तीति यदुच्यते तद्युक्तम्। यस्माद्वाच्यवाचकप्रतीति-पूर्विका यत्रार्थान्तरप्रतिपत्तिस्तत्र कथं गुणवृत्तिव्यवहारः, न हि गुणवृत्तौ यदा निमित्तेन केनचिद्विषयान्तरे शब्द आरोप्यते अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थः यथा– 'अग्निर्माणवकः' इत्यादौ, यदा वा

पूर्वपक्ष– यहाँ कोई कह सकता है कि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में गुणवृत्ति नहीं होती, ऐसा जो कहते हैं वे ठीक कहते हैं, क्योंकि जहाँ (विवक्षिता-न्यपरवाच्यध्वनि में) वाच्य-वाचक (अर्थ-शब्द) की प्रतीतिपूर्वक व्यङ्ग्य रूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है वहाँ गुणवृत्ति व्यवहार हो ही कैसे सकता है? (क्योंकि वहाँ वाच्य और व्यङ्ग्य की अलग-अलग और क्रम से प्रतीति होती है इसलिये विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में गुणवृत्ति नहीं रह सकती है)। इसी प्रकार कहे गये हेतु से गुणवृत्ति में विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि नहीं रह सकती है। गुणवृत्ति

लोचनम्

ननु वाचकत्वरूपोपजीवकत्वाद् गुणवृत्त्यनुजीवकत्वादिति च हेतुद्वयं यदुक्तं तदविवक्षितवाच्यभागे सिद्धं न भवति तस्य लक्षणैकशरीर-त्वादित्यभिप्रायेणोपक्रमते–*अन्यो ब्रूयादिति।* यद्यपि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानादिति ब्रुवता निर्णीतचरमेवैतत्, तथापि गुणवृत्तेरविवक्षितवाच्यस्य च दुर्निरूपं वैलक्षण्यं यः पश्यति तं प्रत्याशङ्कानिवारणार्थोऽयमुपक्रमः। अत एवाद्यभेदस्याङ्गीकरणपूर्वकमयं द्वितीयभेदाक्षेपः। *विवक्षितान्यपरवाच्य* इत्यादिना पराभ्युपगमस्य स्वाङ्गीकारो दर्श्यते। गुणवृत्तिव्यवहाराभावे हेतुं दर्शयितुं तस्या एव गुणवृत्तेस्तावद्

जो कि वाचकत्व रूप उपजीवकत्व और गुणवृत्तिरूप अनुजीवकत्व ये दो हेतु कहे गये हैं वह अविवक्षितवाच्य को अंश में सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उसका एकमात्र शरीर लक्षणा है, इस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं– **अन्यो ब्रूयादिति** अन्य कोई कह सकता है– वह उन दोनों के आश्रय से व्यवस्थित होता है, यद्यपि यह कथन करते हुये निर्णय कर ही चुके हैं तथापि जो व्यक्ति गुणवृत्ति और अविवक्षितवाच्य का वैलक्षण्य दुर्निरूप देखता है उसकी आशङ्का के निवारणार्थ यह उपक्रम है, इसीलिये प्रथम भेद का अङ्गीकारपूर्वक दूसरे भेद का आक्षेप है। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में इत्यादि द्वारा अन्य किसी के मन्तव्य की स्वीकृति दिखाते हैं। गुणवृत्ति व्यवहार न

ध्वन्यालोकः

स्वार्थमंशेनापरित्यजंस्तत्सम्बन्धद्वारेण विषयान्तरमाक्रामति, यथा– 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ। तदाविवक्षितवाच्यत्वमुपपद्यते। अत एव च विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ वाच्यवाचकयोर्द्वयोरपि स्वरूपप्रतीतिरर्थावगमनं च दृश्यत इति व्यञ्जकत्वव्यवहारो युक्त्यनुरोधी। स्वरूपं

में जब किसी विशेष कारण से विषयान्तर में (उसके अवाचक) शब्द का अपने अर्थ को अत्यन्त तिरस्कृत कर आरोपमूलक व्यवहार किया जाता है। जैसे **अग्निर्माणवकः** इत्यादि में (अग्नि शब्द का अपने अर्थ को छोड़कर तेजस्वितादि सादृश्य से बालक में आरोपित व्यवहार किया जाता है तब वहाँ अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य या जहत्स्वार्था लक्षणा तो मानी जा सकती है, परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि नहीं) अथवा कुछ अंश में अपने अर्थ को छोड़कर सामीप्यादि सम्बन्ध द्वारा गङ्गा आदि शब्द जब अर्थान्तर तट आदि रूप अर्थ का बोध कराता है जैसे **गङ्गायां घोष** इत्यादि में। तब ऐसे स्थलों पर अविवक्षितवाच्य लक्षणामूल ध्वनि हो सकता है। (परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि नहीं हो सकता। अतएव यहाँ विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि होता है वहाँ गुणवृत्ति में रहने से और जहाँ गुणवृत्ति रहती है वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि न रहने से उन दोनों की एक

लोचनम्

वृत्तान्तं दर्शयति–*न हीति।* गुणतया वृत्तिर्व्यापारो गुणवृत्तिः। गुणेन मिमित्तेन सादृश्यादिना वृत्तिः अर्थान्तरविषयेऽपि शब्दस्य सामानाधिकरण्यमिति गौणं दर्शयति। *यदा वा स्वार्थमिति* लक्षणां दर्शयति। अनेन भेदद्वयेन च स्वीकृतमविवक्षितवाच्यभेदद्वयात्मकमिति सूचयति। अत एव *अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थशब्देन विषयान्तरमाक्रामति चेत्यनेन* शब्देन तदेव भेदद्वयं दर्शयति–*अत एव चेति।* यत एव न तत्रोक्तहेतुबलाद्

होने का कारण दिखाने के लिये उसी गुणवृत्ति का वृत्तान्त दिखाते है– **न हि गुण वृत्ताविति** गुणवृत्ति में गुणरूप (अप्रधान रूप) से वृत्ति अर्थात् व्यापार गुणवृत्ति हैं। सादृश्य आदि गुण के निमित्त से वृत्ति अर्थात् अर्थान्तर के विषय में शब्द का सामानाधिकरण्य गुणवृत्ति है। इससे गौणभेद दिखाते हैं। और जब स्वार्थ को इससे लक्षणा को दिखाते हैं इन दोनों भेदों से अविवक्षित वाच्य का स्वीकृत भेदद्वयात्मक है, यह सूचित करते हैं। इसीलिये और अत्यन्ततिरस्कृत स्वार्थ शब्द से और विषयान्तर पर पहुँच जाता है इस शब्द से उन्हीं दोनों भेदों को दिखाते हैं– **अतएव चेति।** और

ध्वन्यालोकः

प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यञ्जक इत्युच्यते, तथाविधे विषये वाचकत्वस्यैव व्यञ्जकत्वमिति गुणवृत्तिव्यवहारो नियमेनैव न शक्यते कर्तुम्।

अविवक्षितवाच्यस्तु ध्वनिर्गुणवृत्तेः कथं भिद्यते। तस्य प्रभेदद्वये गुणवृत्तिप्रभेदद्वयरूपता लक्ष्यत एव यतः। अयमपि न दोषः।

विषयता नहीं हो सकती है यह कहना तो ठीक ही है? इसलिये विवक्षितान्य-परवाच्यध्वनि में वाच्य और वाचक दोनों के स्वरूप की प्रतीति और व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान पाया जाता है इसलिये व्यञ्जकत्व व्यवहार युक्तिसंगत है। क्योंकि अपने रूप को प्रकाशित करते हुये दीपकादि के समान पर के रूप को प्रकाशित करने वाला ही व्यञ्जक कहलाता है। ऐसे उदाहरणों में वाचकत्व और व्यञ्जकत्व स्पष्ट रूप से अलग-अलग प्रतीत होते हैं अतः वाचकत्व ही व्यञ्जकत्व रूप है इस प्रकार का गुणवृत्तिमूलक व्यवहार निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता है इसलिये विवक्षितान्यपरवाच्य गुणवृत्ति रूप नहीं है यह ठीक ही है।

परन्तु अविवक्षितवाच्यलक्षणामूल ध्वनि गुणवृत्ति से कैसे अलग हो सकता है? उसके दोनों भेदों (अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) में

लोचनम्

गुणवृत्तिव्यवहारो न्याय्यस्तत इत्यर्थः। युक्तिं लोकप्रसिद्धिरूपामबाधितां दर्शयति–*स्वरूपमिति।* उच्यत इति प्रदीपादिः, इन्द्रियादेस्तु करणत्वान्न व्यञ्जकत्वं प्रतीत्युत्पत्तौ।

एवमभ्युपगमं प्रदर्श्याक्षेपं दर्शयति–*अविवक्षितेति।* तु शब्दः पूर्वस्माद्विशेषं द्योतयति। *तस्येति।* अविवक्षितवाच्यस्य यत्प्रभेदद्वयं तस्मिन् गौणलाक्षणिकत्वात्मकं प्रकारद्वयं *लक्ष्यते* निर्भास्यत इत्यर्थः।

इसलिये अर्थात् जिस कारण वहाँ उक्त हेतु के बल से गुणवृत्ति व्यवहार ठीक नहीं है उस कारण। लोकप्रसिद्धिरूप अबाधित युक्ति दिखाते हैं– **स्वरूपमिति।** स्वरूप को। **उच्यते** कहा जाता है प्रदीपादि। किन्तु इन्द्रियादि करण होते हैं अतः प्रतीति की उत्पत्ति में व्यञ्जक नहीं कहे जाते।

इस प्रकार अभ्युपगम को दिखा कर आक्षेप दिखाते हैं– **अविवक्षितेति** यहाँ तु शब्द पहले से विशेषता को प्रकाशित करता है। **तस्येति** उसके अविवक्षित वाच्य के जो दो प्रभेद हैं उनमें गौण और लाक्षणिक रूप दो प्रकार लक्षित होते हैं अर्थात्

ध्वन्यालोकः

यस्मादविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्गुणवृत्तिमार्गाश्रयोऽपि भवति न तु गुणवृत्तिरूप एव। गुणवृत्तिर्हि व्यञ्जकत्वशून्यापि दृश्यते। व्यञ्जकत्वं च यथोक्तचारुत्वहेतुं व्यङ्ग्यं विना न व्यवतिष्ठते। गुणवृत्तिस्तु

गुणवृत्ति के दोनों भेद (उपचार और लक्षणारूप) स्पष्ट दिखलाई देते ही हैं। अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि उपादान लक्षणा अथवा अजहत्स्वार्थालक्षणा और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि जहत्स्वार्था अथवा लक्षणलक्षणा रूप या गुणवृत्ति स्वरूप प्रतीत होती है। अतएव यह लक्षणागुणवृत्ति से कैसे भिन्न हो सकती है? यह प्रश्नकर्त्ता का आशय है।

उत्तर– यह दोष भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अविवक्षितवाच्यध्वनि गुणवृत्ति लक्षणा के मार्ग का आश्रय लेता है। किन्तु वह गुणवृत्ति लक्षणास्वरूप नहीं है, क्योंकि गुणवृत्ति व्यञ्जकत्वरहित भी हो सकती है (जैसे लावण्यादि पदों में व्यङ्ग्य प्रयोजन के अभाव में भी गुणवृत्ति या केवल रूढिमूलक लक्षणा पाई जाती है। वहाँ गुणवृत्ति है परन्तु व्यञ्जकत्व नहीं) और व्यञ्जकत्व पूर्वोक्त चारुत्वहेतु व्यङ्ग्य के बिना नहीं रहता इसलिये गुणवृत्ति और अविवक्षितवाच्यध्वनि एक नहीं है)

लोचनम्

एतत्परिहरति–*अयमपीति*। गुणवृत्तेर्यो मार्गः प्रभेदद्वयं स आश्रयो निमित्ततया प्राक्कक्ष्यानिवेशी यस्येत्यर्थः। एतच्च पूर्वमेव निर्णीतम्। ताद्रूप्याभावे हेतुमाह–*गुणवृत्तिरिति*। गौणलाक्षणिकरुपोभयी अपीत्यर्थः। ननु व्यञ्जकत्वेन कथं शून्या गुणवृत्तिर्भवति, यतः पूवमेवोक्तम्–

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ।।इति।

निर्भासित होते हैं **एतत्परिहरति**– इसका परिहार करते हैं **अयमपीति**– यह भी। गुणवृत्ति का जो मार्ग प्रभेदद्वय है वह आश्रय अर्थात् निमित्त रूप से पहली कक्ष्या में रहने वाला है जिसका। इसे पहले ही निर्णय कर चुके हैं। ताद्रूप्य के अभेद का हेतु कहते हैं– **गुणवृत्तिरिति**। अर्थात् गौण और लाक्षणिक दोनों भी गुणवृत्ति व्यञ्जकत्व से शून्य कैसे हो सकती है? क्योंकि पहले कहा है **मुख्येति**–

जिस फल का उद्देश्य कर मुख्य वृत्ति को छोड़ कर गुणवृत्ति द्वारा अर्थ का ज्ञान कराते हैं उसमें शब्द स्खलद्गति (बाधित अर्थ वाला) नहीं है।

ध्वन्यालोकः

वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यङ्ग्यमात्राश्रयेण चाभेदोपचाररूपा सम्भवति, यथा–तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः, आह्लादकत्वाच्चन्द्र एवास्या मुखमित्यादौ। यथा च 'प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्' इत्यादौ। यापि लक्षणरूपा गुणवृत्तिः साप्युपलक्षणीयार्थसंबन्धमात्राश्रयेण चारुरूप-व्यङ्ग्यप्रतीतिं विनापि सम्भवत्येव, यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ विषये।

अभेदोपचाररूप गुणवृत्ति तो वाच्य धर्म के आश्रय से रुढिहेतुक और व्यङ्ग्य मात्र के आश्रय से (प्रयोजनवती) हो सकती है जैसे तेजस्वितादि धर्मयुक्त होने से यह लड़का अग्नि है तथा आनन्ददायक होने से इसका मुख चन्द्रमा है इत्यादि में और प्रियजन में पुनरुक्ति नहीं होती इत्यादि में और जो लक्षणारूपा गुणवृत्ति है वह भी लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्धमात्र के आश्रय से चारुत्व रूप व्यङ्ग्यप्रतीति के बिना भी हो सकती है जैसे **मञ्चाः क्रोशन्ति** मचान चिल्लाते हैं इत्यादि में।

लोचनम्

न हि प्रयोजनशून्य उपचारः प्रयोजनांशनिवेशी च व्यञ्जनव्यापार इति भवद्भिरेवाभ्यधायीत्याशङ्क्याभिमतं व्यञ्जकत्वं विश्रान्तिस्थानरूपं तत्र नास्तीत्याह–*व्यञ्जकत्वं चेति।* वाच्यविषयो यो धर्मोऽभिधाव्यापार-स्तस्याश्रयेण तदुबृंहणायेत्यर्थः। श्रुतार्थापत्ताविवार्थान्तरस्याभिधेया-र्थोपपादन एव पर्यवसानादिति भावः। तत्र गौणस्योदाहरणमाह–*यथेति।* द्वितीयमपि प्रकारं व्यञ्जकत्वशून्यं निदर्शयितुमुपक्रमते–*यापीति।* चारुरूपं विश्रान्तिस्थानं, तदभावे स व्यञ्जकत्वव्यापारो नैवोन्मीलति, प्रत्यावृत्त्य वाच्य एव विश्रान्तेः, क्षणदृष्टनष्टदिव्यविभवप्राकृतपुरुषवत्।

आप ही कह चुके हैं कि उपचार प्रयोजनशून्य नहीं होता और व्यञ्जन व्यापार प्रयोजन के अंश में रहता है, इस आशङ्का पर कहते हैं– हमारा अभिमत विश्रान्तिस्थान रूप व्यञ्जकत्व वहाँ नहीं है। इस आशय से कहते हैं– **व्यञ्जकत्वं चेति** और व्यञ्जकत्व। **वाच्यधर्मेति** अर्थात् वाच्यविषयक जो धर्म अभिधाव्यापार उसके आश्रय से उसके उपबृंहण के लिये। भाव यह कि श्रुतार्थापत्ति की भाँति अर्थान्तर का पर्यवसान अभिधेय अर्थ के उपपादन में ही होता है। उनमें गौण का उदाहरण देते हैं– **यथाचेति** जैसे– व्यञ्जकत्वरहित दूसरे प्रकार को भी दिखाने के लिये उपक्रम करते हैं– **यापीति** जो भी। चारु रूप अर्थात् विश्रान्ति का स्थान, उसके अभाव में वह व्यञ्जकत्व व्यापार उन्मीलित नहीं होता, क्योंकि लौट कर वाच्य में ही विश्रान्ति हो जाती है, उस दरिद्र पुरुष की भांति जिसकी दिव्य सम्पत्ति क्षण में ही दिख जाने के बाद नष्ट हो जाती है।

ध्वन्यालोकः

यत्र तु सा चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिहेतुस्तत्रापि व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेनैव वाचकत्ववत्। असम्भविना चार्थेन यत्र व्यवहारः, यथा– 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इत्यादौ तत्र चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिरेव प्रयोजिकेति तथाविधेऽपि विषये गुणवृत्तौ सत्यामपि ध्वनिव्यवहार

यत्रेति– और जहाँ वह लक्षणा चारुत्व रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति का हेतु (प्रयोजिका) होती है वहाँ वह लक्षणा भी वाचकत्व के समान व्यञ्जकत्व के अनुप्रवेश से ही चारुत्व रूप व्यङ्ग्यप्रतीति का हेतु होती है जहाँ असंभव अर्थ (आरोपमूलक गुणवृत्ति) से व्यवहार होता है, जैसे **सुवर्णपुष्पाम् पृथ्वीम्** इत्यादि में, वहाँ चारुत्व रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति ही उस आरोपमूलक गुणवृत्ति का हेतु

लोचनम्

ननु यत्र व्यङ्ग्येऽर्थे विश्रान्तिस्तत्र किं कर्तव्यमित्याशङ्क्याह–*यत्र त्विति।* अस्ति तत्रापरो व्यञ्जनव्यापारः परिस्फुट एवेत्यर्थः। दृष्टान्तं पराङ्गीकृतमेवाह–*वाचकत्ववदिति।* वाचकत्वे हि त्वयैवाङ्गीकृतो व्यञ्जनव्यापारः प्रथमं ध्वनिप्रभेदमप्रत्याचक्षाणेनेति भावः। किञ्च वस्त्वन्तरे मुख्ये सम्भवति सम्भवदेव वस्त्वन्तरं मुख्यमेवारोप्यते विषयान्तरमात्रतस्त्वारोपव्यवहार इति जीवितमुपचारस्य, सुर्णपुष्पाणां तु मूलत एवासम्भवात्तदुच्चयनस्य तत्र क आरोपव्यवहारः; सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इति हि स्यादारोपः, तस्मादत्र व्यञ्जनव्यापार एव प्रधानभूतो नारोपव्यवहारः, स परं व्यञ्जनव्यापारानुरोधितयोत्तिष्ठति। तदाह– *असम्भविनेति।*

ननु यत्रेति– जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ में विश्रान्ति हो जाती है वहाँ क्या करना चाहिये? इस आशङ्का पर कहते हैं– **यत्र त्विति** परन्तु जहाँ अर्थात् वहाँ दूसरा व्यञ्जन व्यापार स्पष्ट ही है। दूसरे द्वारा अङ्गीकृत ही दृष्टान्त कहते हैं– **वाचकत्ववदिति** वाचकत्व की भाँति। भाव यह कि वाचकत्व में प्रथम ध्वनिप्रभेद का प्रत्याख्यान न करते हुये तुमने ही व्यञ्जन व्यापार को स्वीकार कर लिया है। और भी मुख्य सम्भव वत्स्वन्तर में संभव होता हुआ ही मुख्य वस्त्वन्तर आरोपित होता है, और आरोप का व्यवहार विषयान्तर होने के कारण होता है, यह उपचार आरोप का जीवित है, परन्तु सुवर्णपुष्प तो मूलतः ही संभव नहीं, फिर उसके चुनने का आरोप व्यवहार कैसा? **'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीं'** यह आरोप होगा, इसलिये व्यञ्जन व्यापार ही यहाँ प्रधानभूत है न कि आरोप व्यवहार। वह आरोप व्यवहार केवल व्यञ्जन व्यापार के अनुरोध से उठता है। इसी बात को

ध्वन्यालोकः

एव युक्त्यनुरोधी। तस्मादविवक्षितवाच्ये ध्वनौ द्वयोरपि प्रभेदयोर्व्यञ्जकत्वविशेषाविशिष्टा गुणवृत्तिर्न तु तदेकरूपा सहृदयहृदयाह्लादिनी प्रतीयमाना प्रतीतिहेतुत्वाद्विषयान्तरे तद्रूपशून्याया दर्शनात्। एतच्च सर्वं प्राक्सूचितमपि स्फुटतरप्रतीतये पुनरुक्तम्।

है इसलिये इस प्रकार के उदाहरणों में गुणवृत्ति होने पर भी आयास प्रचुर धनोपार्जन रूप चमत्कारी व्यङ्ग्य के कारण ही गुणवृत्ति व्यवहार होने से ध्वनिव्यवहार ही युक्तिसंगत है। इसलिये अविवक्षितवाच्यलक्षणामूलध्वनि में (अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) दोनों भेदों में व्यञ्जकत्वविशेष से युक्त गुणवृत्ति सहृदयहृदयाह्लादिनी होती है। तदेकरूपा नहीं अर्थात् गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व एक नहीं है, क्योंकि गुणवृत्ति प्रतीयमान चारुत्व रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति का हेतु नहीं है। दूसरे स्थानों पर **अग्निर्माणवकः** आदि में उस गुणवृत्ति को उस व्यञ्जकत्व से रहित पाते है। **अग्निर्माणवकः** अथवा **नास्ति पुनरुक्तम्** आदि उदाहरणों में गुणवृत्ति व्यञ्जकशून्य पायी जाती है इसलिये **'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीं'** आदि में भी व्यञ्जना के द्वारा ही चारुत्व रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है गुणवृत्ति रूप से नहीं। अतः अविवक्षितवाच्यध्वनि से भी गुणवृत्ति अलग है। ये सभी बातें पहले उद्योत में सूक्ष्म रूप से सूचित की जा चुकी हैं। फिर भी अधिक स्पष्टरूप से प्रतिपादनार्थ यहाँ फिर कही गई है।

लोचनम्

प्रयोजिकेति। **व्यङ्ग्यमेव हि प्रयोजनरूपं प्रतीतिविश्रामस्थानमारोपिते त्वसम्भवति प्रतीतिविश्रान्तिराशङ्कनीयापि न भवति।** ***सत्यामपीति।*** **व्यञ्जनव्यापारसम्पत्तये क्षणमात्रमवलम्बितायामिति भावः।** ***तस्मादिति।*** **व्यञ्जकत्वलक्षणो यो विशेषस्तेनाविशिष्टा अविद्यमानं विशिष्टं विशेषो भेदनं यस्याः व्यञ्जकत्वं न तस्या भेद इत्यर्थः। यदि वा व्यञ्जकत्वलक्षणेन व्यापारविशेषेणाविशिष्टा न्यक्कृतस्वभावा आसमन्ताद्व्याप्ता।** ***तदेकेति।***

कहते हैं– **असम्भवीति। प्रयोजिकेति** प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य ही प्रतीति का विश्रामस्थान होता है। संभव न होते हुये भी आरोपित में प्रतीति-विश्रान्ति की आशङ्का नहीं की जा सकती। **सत्यामपीति** होने पर भी। भाव यह कि व्यञ्जन व्यापार को संपन्न करने के लिये क्षणमात्र गुणवृत्ति के अवलम्बित होने पर भी। **तस्मादिति** इसलिये। व्यञ्जकत्व रूप जो विशेष उससे अविशिष्ट (अविद्यमानं विशिष्टं विशेषो भेदनं यस्याः सा) अर्थात्

ध्वन्यालोकः

अपि च व्यञ्जकत्वलक्षणो यः शब्दार्थयोर्धर्मः स प्रसिद्धसम्ब-न्धानुरोधीति न कस्यचिद्विमतिविषयतामर्हति। शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुरुन्धान एव व्यञ्जकत्व-

स्वरूपभेद और निमित्तभेद प्रतिपादन के कारण पुनरुक्त नहीं है और शब्द तथा अर्थ का व्यञ्जकत्व रूप जो धर्म है वह प्रसिद्ध सम्बन्ध (वाचकत्व) का अनुसरण करता है, इसमें किसी का मतभेद नहीं होना चाहिये। शब्द और अर्थ का जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध प्रसिद्ध है, उसका अनुसरण करते हुये ही अन्य सामग्री (प्रकरणादि वैशिष्ट्य रूप) के सम्बन्ध से व्यञ्जकत्व नामक शब्द-व्यापार औपाधिक रूप से व्यङ्ग्यार्थ बोधनार्थ प्रवृत्त होता है।

लोचनम्

तेन व्यञ्जकत्वलक्षणेन सहैकं रूपं यस्याः सा तथाविधा न भवति। अविवक्षितवाच्ये व्यञ्जकत्वं गुणवृत्तेः पृथक्चारुप्रतीतिहेतुत्वात् विवक्षितवाच्यनिष्ठव्यञ्जकत्ववत्, न हि गुणवृत्तेश्चारुप्रतीतिहेतुत्वमस्तीति दर्शयति–*विषयान्तर* इति। अग्निर्वटुरित्यादौ। *प्रागिति* प्रथमोद्योते।

नियतस्वभावाच्च वाच्यवाचकत्वादौपाधिकत्वेनानियतं व्यञ्जकत्वं कथं न भिन्ननिमित्तमिति दर्शयति–*अपि चेति। औपाधिक* इति। व्यञ्जकत्ववैचित्र्यं यत्पूर्वमुक्तं तत्कृत इत्यर्थः। अत एव समयनियमितादभिधाव्यापाराद्विलक्षण इति यावत्। एतदेव स्फुटयति–*अत*

जिसका भेदन विद्यमान नहीं) अर्थात् व्यञ्जकत्व उस गुणवृत्ति का भेद (अवान्तर धर्म) नहीं। अथवा व्यञ्जकत्व रूप व्यापार विशेष से अविशिष्ट तिरस्कृत स्वभाव वाली या आ समन्तात् व्याप्त। **तदवेति** उस व्यञ्जकत्व रूप व्यापार के साथ एक रूप है जिसका वह उस प्रकार की नहीं होगी। अविवक्षितवाच्य में व्यञ्जकत्व गुणवृत्ति के चारुत्व-प्रतीति का हेतु होने के कारण विवक्षितवाच्य में रहने वाले व्यञ्जकत्व की भाँति होता है। गुणवृत्ति चारुत्व की प्रतीति का हेतु नहीं है इस बात को दिखाते हैं– **विषयान्तर** इति दूसरे स्थलों में **अग्निर्माणवकः** इत्यादि में। **प्रागिति** प्रथम उद्योत में।

नियत स्वरूप वाले वाच्य-वाचक से औपाधिक होने के कारण अनियत होने से व्यञ्जकत्व कैसे भिन्न निमित्त वाला नहीं है? इसे प्रदर्शित करते हैं– **अपि चेति** और भी। **औपाधिक इति** व्यञ्जकत्व का वैचित्र्य जो पहले कहा है तत्कृत औपाधिक। इसीलिये वह सङ्केत में नियमित अभिधाव्यापार से विलक्षण है। इसी को स्पष्ट करते

ध्वन्यालोकः

लक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तरसम्बन्धादौपाधिकः प्रवर्तते। अत एव वाचकत्वात्तस्य विशेषः। वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स त्वनियतः, औपाधिकत्वात्। प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतेः। ननु यद्यनियतस्तत्किं तस्य स्वरूपपरीक्षया। नैष दोषः; यतः शब्दात्मनि तस्यानियतत्वम्, न तु स्वे विषये व्यङ्ग्यलक्षणे। लिङ्गत्वन्यायश्चास्य व्यञ्जकभावस्य लक्ष्यते, यथा लिङ्गत्वमाश्रयेष्व-

इसलिये वाचकत्व से उसका भेद है। वाचकत्व शब्द का निश्चित स्वरूप (आत्मा के समान नियत धर्म) है, क्योंकि सङ्केतग्रह के समय से लेकर वाचकत्व शब्द से अविनाभूत (सदैव साथ रहने वाला) प्रसिद्ध है और वह व्यञ्जकत्व तो औपाधिक प्रकरणादि सामग्र्यन्तर समवधानजन्य होने से शब्द का नियत धर्म नहीं है। प्रकरणादि के वैशिष्ट्य से उस व्यञ्जकत्व की प्रतीति होती है। अन्यथा नहीं। अतः वह नियत या स्वाभाविक नहीं अपितु औपाधिक धर्म है।

प्रश्न अब यदि वह व्यञ्जकत्व नियत धर्म नहीं है, औपाधिक अवास्तविक कल्पित धर्म है तो उसकी स्वरूपपरीक्षा से क्या लाभ? वह वन्ध्यापुत्र की स्वरूपपरीक्षा के समान व्यञ्जकत्व की स्वरूपपरीक्षा भी व्यर्थ है। इसका समाधान करते हैं– यह दोष नहीं है क्योंकि शब्दरूप अंश में ही उस व्यञ्जकत्व का अनिश्चय है, परन्तु व्यङ्ग्य रूप अपने विषय में अनियत नहीं है। और इस व्यञ्जकत्व भाव का लिङ्गत्व न्याय भी दिखलाई देता है। जैसे लिङ्गत्व आश्रयों (धूमादि) में अनुमित्सा रूप इच्छा के अधीन होने से अनियत रूप (सदा न प्रतीत होने वाला) होता है और अपने विषय (साध्य वह्नि) में अव्यभिचारी (सदा

लोचनम्

एवेति। औपाधिकत्वं दर्शयति–*प्रकरणादीति।* *किं तस्येति।* अनियतत्वाद्यथारुचि कल्प्येत पारमार्थिकं रूपं नास्तीति; न चावस्तुनः परीक्षोपपद्यत इति भावः। *शब्दात्मनीति।* सङ्केतास्पदे पदस्वरूपमात्र इत्यर्थः।

हैं– **अतएवेति** औपाधिक को दिखाते हैं– **प्रकरणोदेति** प्रकरणादि **तस्येति** उसके स्वरूप की। भाव यह कि अनियत होने के कारण जो चाहे कल्पित हो सकता है, उसका पारमार्थिक रूप नहीं है अतः अवस्तु की परीक्षा उपपन्न नहीं। **शब्दात्मनीति**

ध्वन्यालोकः

नियतावभासम्, इच्छाधीनत्वात्; स्वविषयाव्यभिचारि च। तथैवेदं यथा दर्शितं व्यञ्जकत्वम्। शब्दात्मन्यनियतत्वादेव च तस्य वाचकत्वप्रकारता न शक्या कल्पयितुम्। यदि हि वाचकत्वप्रकारता तस्य भवेत्तच्छब्दात्मनि नियततापि स्याद्वाचकत्ववत्। स च तथाविध औपाधिको धर्मः शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिना वाक्य-तत्त्वविदा पौरुषापौरुषेययोर्वाक्ययोर्विशेषमभिदधता नियमेनाभ्यु-

नियत) होता है इसी प्रकार जैसे कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, यह व्यञ्जकत्व अपने आश्रय शब्दों में इच्छाधीन होने से अनियत और स्वविषये अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ के बोधनमें नियत (अव्यभिचारी) है।

शब्द स्वरूप में अनियत होने से ही उस व्यञ्जकत्व को वाचकत्व का भेद नहीं माना जा सकता है। यदि वह व्यञ्जकत्व वाचकत्व का भेद होता तो वाचकत्व के समान उसे शब्द में नियत भी होना चाहिये। परन्तु वह शब्द स्वरूप में नियत नहीं है। प्रकरणादि सहकार से व्यञ्जकत्व होता है अतः वह व्यञ्जकत्व वाचकत्व से भिन्न है। और इस प्रकार का वह औपाधिक धर्म शब्द और अर्थ के सम्बन्धों को नित्य मानने वाले पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्यों में भेद मानने वाले वाक्य के तत्त्व को जानने वाले मीमांसक को भी अवश्य मानना पड़ेगा। उसके स्वीकार किये बिना शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होने पर भी पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्यों के अर्थबोधन में समानता होने लगेगी। भेद का उपपादन नहीं हो सकेगा। और उस व्यञ्जक रूप औपाधिक धर्म को स्वीकार कर लेने पर पौरुषेय वाक्यों में अपने वाच्य-वाचकभावरूप नित्य सम्बन्ध का परित्याग किये बिना भी पुरुष

लोचनम्

आश्रयेष्विति। **न हि धूमे वह्निगमकत्वं सदातनम्, अन्यगमकत्वस्य वह्न्यगमकत्वस्य च दर्शनात्।** ***इच्छाधीनत्वादिति।*** **इच्छात्र पक्षधर्मत्वजिज्ञासाव्याप्तिसुस्मूर्षाप्रभृतिः।** ***स्वविषयेति।*** **स्वस्मिन्विषये च गृहीते त्रैरूप्यादौ न व्यभिचरति। न कस्यचिद्विमतिमेतीति यदुक्तं**

शब्दरूप अर्थात् सङ्केत के आस्पद पदस्वरूप मात्र में। आश्रयेष्विति आश्रयों में। धूम का वह्निवोधक भाव सदातन नहीं है, क्योंकि वह अन्य का बोधन और वह्निका अबोधक भी देखा गया है, क्योंकि इच्छा के अधीन होता है। यहाँ इच्छा पक्षधर्मता (व्याप्य धूम की पक्ष पर्वत में स्थिति) की जिज्ञासा और व्याप्ति के स्मरण की इच्छा प्रभृति।

ध्वन्यालोकः

पगन्तव्यः, तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुषेयपौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने निर्विशेषत्वं स्यात्। तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौपाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत्।

की इच्छा का अनुसरण करने वाले दूसरे औपाधिक (व्यञ्जकत्व रूप) व्यापारयुक्त वाक्यों की मिथ्यार्थता भी हो सकती है।

अपने स्वभाव का परित्याग किये बिना भी अन्य कारणसामग्री के संयोग से औपाधिक अन्य व्यापारों को प्राप्त करने वाले पदार्थों में विपरीत क्रियाकारित्व देखा जाता है । जैसे समस्त संसार को शान्ति प्रदान करने वाले शीतल स्वभाव से युक्त होने पर भी प्रिया के विरहानल से संतप्त चित्त वाले पुरुषों के दर्शनगोचर चन्द्रमा आदि शीतल पदार्थों का संतापकारित्व प्रसिद्ध ही है। इसलिये शब्द और अर्थ का स्वाभाविक नित्य सम्बन्ध होने पर भी पौरुषेय वाक्यों की मिथ्यार्थता

लोचनम्

तत्स्फुटयति–*स चेति।* व्यञ्जकत्वलक्षण इत्यर्थः। *औत्पत्तिकेति।* जन्मना द्वितीयो भावविकारः सत्तारूपः सामीप्याल्लक्ष्यते विपरीतलक्षणातो वानुत्पत्तिः, रूढ्या वा औत्पत्तिकशब्दो नित्यपर्यायः तेन नित्यं यः शब्दार्थयोः शक्तिलक्षणं संबन्धमिच्छति जैमिनेयस्तेनेत्यर्थः। *निर्विशेषत्वमिति।* ततश्च पुरुषदोषानुप्रवेशस्याकिञ्चित्करत्वात्तन्निबन्धं पौरुषेयेषु वाक्येषु यदप्रामाण्यं तन्न सिध्येत्। प्रतिपत्तुरेव हि यदि तथा

अपने विषय में गृहीत होने पर त्रैरूप्य (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षसत्त्व) आदि में व्यभिचरित नहीं होता। इसमें किसी को विवाद नहीं। इसे और स्पष्ट करते हैं– **स चेति**– वह औपाधिक अर्थात् (व्यञ्जकत्व लक्षण) **औत्पत्तिक** इति।

जन्म (उत्पत्ति) से दूसरा सत्तारूप भावविकार सामीप्य से लक्षित होता है। (अथवा विपरीत लक्षणा से औत्पत्कि शब्द से अनुत्पत्ति रूप अर्थ का ग्रहण होगा) (अथवा रूढि से औत्पत्तिक शब्द नित्य का पर्याय माना जायगा) इसलिये जो शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध मानता है उस जैमिनेय (मीमांसक) को। **निर्विशेषत्वमिति** भेदराहित्य भेदाभाव अभेद) और उस कारण पुरुष के दोषों का अनुप्रवेश कुछ नहीं कर सकेगा। इसलिये पौरुषेय वाक्यों में तत्प्रयुक्त जो अप्रामाण्य है वह सिद्ध न होगा। यदि प्रतिपत्ता को ही उस प्रकार की प्रतिपत्ति है तो वाक्य का

ध्वन्यालोकः

दृश्यते हि भावानामपरित्यक्तस्वस्वभावानामपि सामग्र्यन्तरसम्पातसम्पादितौपाधिकव्यापारान्तराणां विरुद्धक्रियत्वम्। तथा हि- हिममयूखप्रभृतीनां निर्वापितसकलजीवलोकं शीतलत्वमुद्वहतामेव प्रियाविरहदहनदह्यमानमानसैर्जनैरालोक्यमानानां सतां सन्तापकारित्वं प्रसिद्धमेव। तस्मात्पौरुषेयाणां वाक्यानां सत्यपि नैसर्गिकेऽर्थसम्बन्धे मिथ्यार्थत्वं समर्थयितुमिच्छता वाचकत्वव्यतिरिक्तं किञ्चिद्रूपमौपाधिकं व्यक्तमेवाभिधानीयम्। तच्च व्यञ्जकत्वादृते नान्यत्।

का समर्थन करने की इच्छा रखने वाले मीमांसक को वाचकत्व से अतिरिक्त वाक्यों में कुछ स्थानों पर औपाधिक रूप अवश्य मानना पड़ेगा। और वह औपाधिक रूप व्यञ्जकत्व के सिवा और कुछ नहीं हो सकता है। व्यङ्ग्य अर्थ का प्रकाशन ही व्यञ्जकत्व है। पौरुषेय वाक्य मुख्य रूप से वक्ता पुरुष के अभिप्राय को ही व्यङ्ग्य रूप से प्रकाशित करते हैं और वह पुरुषाभिप्राय व्यङ्ग्य ही होता है वाच्य नहीं। क्योंकि उस पुरुषाभिप्राय के साथ वाचक वाक्य का वाच्यवाचकभावसम्बन्ध संकेतग्रह से नहीं होता है इसलिये मीमांसक को वक्ता के अभिप्राय रूप को मानना होगा। प्रश्न– इस प्रकार तो सभी लौकिक वाक्यों को पुरषाभिप्राय रूप व्यङ्ग्य के कारण ध्वनि व्यवहार होने लगेगा। सभी लौकिक वाक्य ध्वनि कहलाने लगेंगे।

लोचनम्

प्रतिपत्तिस्तर्हि वाक्यस्य न कश्चिदपराध इति कथमप्रामाण्यम्। अपौरुषेये वाक्येऽपि प्रतिपत्तृदौरात्म्यात्तथा स्यात्।

ननु धर्मान्तराभ्युपगमेऽपि कथं मिथ्यार्थता, न हि प्रकाशकत्वलक्षणं स्वधर्मं जहाति शब्द इत्याशङ्क्याह–*दृश्यत* इति। *प्राधान्येनेति।* यदाह– 'एवमयं पुरुषो वेदेति भवति प्रत्ययः न त्वेवमयमर्थ' इति। तथा

कोई अपराध नहीं है। इसलिये अप्रामाण्य कैसे होगा? (यदि औपाधिक धर्म को स्वीकार नहीं करते हो तब) अपौरुषेय वाक्य में भी प्रतिपत्ता के दोष से उस प्रकार (अयथार्थता की प्रतीति से) अप्रामाण्य) होगा।

धर्मान्तर के स्वीकार करने पर भी मिथ्यार्थता कैसे होगी? क्योंकि शब्द अपने प्रकाशकत्व रूप धर्म को नहीं छोड़ता है। इस आशङ्का पर कहते हैं– **दृश्यत इति** देखा जाता है। **प्राधान्येन**– क्योंकि कहा जाता है कि इस पुरुष ने इस प्रकार समझा यह प्रत्यय होता है, वहाँ यह प्रत्यय नहीं होता कि यह अर्थ इस प्रकार है, इस कारण

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यप्रकाशनं हि व्यञ्जकत्वम्। पौरुषेयाणि च वाक्यानि प्राधान्येन पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति। स च व्यङ्ग्य एव न त्वभिधेयः, तेन सहाभिधानस्य वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धाभावात्। नन्वनेन न्यायेन सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानां ध्वनिव्यवहारः प्रसक्तः। सर्वेषामप्यनेन न्यायेन व्यञ्जकत्वात्। सत्यमेतत्; किं तु वक्त्र्यभिप्रायप्रकाशनेन यद् व्यञ्जकत्वं तत्सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानामविशिष्टम्। तत्तु वाचकत्वान्न भिद्यते व्यङ्ग्यं हि तत्र नान्तरीयकतया व्यवस्थितम्। न तु विवक्षितत्वेन। यस्य तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य स्थितिः तद्व्यञ्जकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम्।

उत्तर : यह ठीक है। वक्ता के अभिप्राय के प्रकाशन से जो व्यञ्जकत्व आता है वह तो सब लौकिक वाक्यों के समान है, किन्तु वह वाचकत्व से भिन्न नहीं है, क्योंकि उनमें व्यङ्ग्य वाच्य के अविनाभूत रूप में स्थित है विवक्षितरूप में नहीं। व्यङ्ग्य के विवक्षित न होने से उसमें ध्वनिव्यवहार नहीं किया जाता है और जिस व्यङ्ग्य की स्थिति तो प्रधानरूप से विवक्षित रूप में है, वही व्यञ्जकत्व ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक होता है। अतः सब लौकिक वाक्य ध्वनि नहीं है।

लोचनम्

प्रमाणान्तरदर्शनमत्र बाध्यते, न तु शाब्दोऽन्यव इत्यनेन पुरुषाभिप्रायानुप्रवेशादेवाङ्गुल्यग्रवाक्यादौ मिथ्यार्थत्वमुक्तम्। *तेन सहेति।* अनियततया नैसर्गिकत्वाभावादिति भावः। *नान्तरीयकतयेति।* गामानयेति श्रुतेऽप्यभिप्राये व्यक्ते तदभिप्रायविशिष्टोऽर्थ एवाभिप्रेतनयनादिक्रियायोग्यो न त्वभिप्रायमात्रेण किंचित्कृत्यमिति भावः। *विवक्षितत्वेनेति।* प्राधान्येने-

यहाँ प्रमाणान्तर का दर्शन बाधित होता है न कि शाब्द अन्वय, इसलिये पुरुष के अभिप्राय के अनुप्रवेश के कारण ही 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' इत्यादि वाक्य में मिथ्यार्थता कही गई है। **तेन सहेति** उसके साथ। भाव यह कि अनियत होने से नैसर्गिकता के अभाव के कारण। **नान्तरीयकतयेति** नान्तरीयक रूप से। भाव यह कि **'गामानय'** इस वाक्य के सुनने पर अभिप्राय के व्यक्त होने पर भी उस अभिप्राय से विशिष्ट अर्थ ही अभिप्रेत होने से आनयन आदि क्रिया के योग्य है, न कि अभिप्राय

ध्वन्यालोकः

यत्त्वभिप्रायविशेषरूपं व्यङ्ग्यं शब्दार्थाभ्यां प्रकाशते तद्भवति विवक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानं सत्। किन्तु तदेव केवलमपरिमितविपयस्य ध्वनिव्यवहारस्य न प्रयोजकमव्यापकत्वात्। तथा दर्शितभेदत्रयरूपं तात्पर्येण द्योत्यमानमभिप्रायरूपमनभिप्रायरूपं च सर्वमेव ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकमिति यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषे

जो अभिप्रायविशेष रूप व्यङ्ग्य शब्द और अर्थ से प्रकाशित होता है वह प्रधानरूप से प्रकाशमान हो तो विवक्षितव्यङ्ग्य कहलाता है। किन्तु केवल वह ही अपरिमित स्थलों पर होने वाले ध्वनिव्यवहार का कारण नहीं है, ध्वनिव्यवहार की अपेक्षा अव्यापक होने से। जैसा कि ऊपर दिखलाये गये भेदत्रय रसादि वस्तु और अलङ्कार रूप तात्पर्य से द्योत्यमान अभिप्राय रूप (रसादि) और अनभिप्राय रूप वस्तु तथा अलङ्कार) सभी ध्वनिव्यवहार के प्रयोजक है अतएव (यत्रार्थः

लोचनम्

त्यर्थः। *यस्य त्विति।* ध्वन्युदाहरणेष्विति भावः। काव्यवाक्येभ्यो हि न नयनानयनाद्युपयोगिनी प्रतीतिरभ्यर्थ्यते, अपि तु प्रतीतिविश्रान्तिकारिणी, सा चाभिप्रायनिष्ठैव नाभिप्रेतवस्तुपर्यवसाना।

नन्वेवमभिप्रायस्यैव व्यङ्ग्यत्वात्त्रिविधं व्यङ्ग्यमिति यदुक्तं तत्कथमित्याह–*यत्त्विति।* एवं मीमांसकानां नात्र विमतिर्युक्तेति प्रदर्श्य वैयाकरणानां नैवात्र सास्तीति दर्शयति–*परिनिश्चितेति।* परितः निश्चितं प्रमाणेन स्थापितं निरपभ्रंशं गलितभेदप्रपञ्चतया अविद्यासंस्काररहितं शब्दाख्यं प्रकाशपरामर्शस्वभावं ब्रह्म व्यापकत्वेन बृहद्विशेषशक्तिनिर्भरतया

मात्र से वहाँ कुछ होगा। **विवक्षितत्वेनेति** विवक्षितत्व होने से। अर्थात् प्राधान्यतः **यस्य त्विति** परन्तु जो। भाव यह कि ध्वनि के उदाहरणों में। काव्य वाक्यों से नयन-आनयन आदि क्रियाओं के उपयोग की प्रतीति उपस्थापित नहीं होती है, बल्कि उस प्रतीति की विश्रान्तिकारिणी प्रतीति उपस्थापित होती है और वह प्रतीति अभिप्राय से ही रहती है, न कि अभिप्रेत वस्तु वाच्य अर्थ में पर्यवसित होती है।

इस प्रकार जब अभिप्राय ही व्यङ्ग्य होता है तो तीन प्रकार का व्यङ्ग्य होता है वह कैसे? इस पर कहते हैं– **यत्त्विति** जो कि– यहाँ मीमांसकों का वैमत्य ठीक नहीं इसे दिखा कर वैयाकरणों की भी ठीक नहीं यह दिखाते हैं– **परिनिश्चितेति** 'परितः निश्चितप्रमाणेन स्थापितम्' जिन्होंने (सब प्रमाणों से निश्चित किया है) शब्दारव्य प्रकाशपरामर्शस्वभाव ब्रह्म-व्यापक होने के कारण और बृहत् एवं विशेष शक्ति से पूर्ण

ध्वन्यालोकः

ध्वनिलक्षणे नातिव्याप्तिर्न चाव्याप्तिः। तस्माद्वाक्यतत्त्वविदां मतेन तावद्व्यञ्जकत्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते। परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते।

शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्थार्थौ व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः (१.१३) पूर्वोक्त व्यञ्जकत्व विशेष रूप ध्वनिलक्षण मानने में न अतिव्याप्ति होती है और न अव्याप्ति। **तस्मादिति**– इसलिये वाक्य-तत्त्वज्ञों (मीमांसकों) के मत में व्यञ्जकत्व को वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से भिन्न शाब्द व्यापार मानना विरोधी नहीं, अपितु अनुकूल ही प्रतीत होता है। अविद्यासंस्कार-रहित सर्वथा विशुद्ध शब्दब्रह्म का निश्चय करने वाले वैयाकरण विद्वानों के मत का आश्रय लेकर ही हमारे साहित्यशास्त्र में यह ध्वनिव्यवहार प्रचलित हुआ है इसलिये उनके साथ विरोध-अविरोध की चिन्ता की आवश्यकता ही क्या है? अर्थात् उनका विरोध कथमपि संभव ही नहीं है। अतः उसके परिहार की चिन्ता भी व्यर्थ है।

लोचनम्

च बृंहित विश्वनिर्माणशक्तीश्वरत्वाच्च बृंहणम् *यैरिति।*

एतदुक्तं भवति– वैयाकरणास्तावद् ब्रह्मपदेनान्यत्किंचिदिच्छन्ति तत्र का कथा वाचकत्वव्यञ्जकत्वयोः, अविद्यापदे तु तैरपि व्यापारान्तर-मभ्युपगतमेव। एतच्च प्रथमोद्द्योते वितत्य निरूपितम्। एवं वाक्यविदां पदविदां चाविमतिविषयत्वं प्रदर्श्य प्रमाणतत्त्वविदां तार्किकाणामपि न युक्तात्र विमतिरिति दर्शयितुमाह–*कृत्रिमेति।* कृत्रिमः सङ्केतमात्रस्वभावः

होने के कारण बृंहित तथा विश्व का निर्माण करने वाली शक्ति का ईश्वर होने के कारण बृंहण (परिपोष रूप) को निरपभ्रंश अर्थात् भेदप्रपञ्च के गलित हो जाने से अविद्या के संस्कार से रहित परिनिश्चित अर्थात् प्रमाण से स्थापित किया है।

इसका तात्पर्य यह है– वैयाकरण लोग 'ब्रह्म' पद से कुछ दूसरा ही कहना चाहते हैं, वहाँ वाचकत्व और व्यञ्जकत्व का प्रसङ्ग ही नहीं। परन्तु उन्होंने भी अविद्या की स्थिति में व्यापारान्तर को स्वीकार किया ही है; इसे प्रथम उद्योत में विस्तार के साथ निरूपण कर चुके हैं। इस प्रकार वाक्यविदों (मीमांसकों) और पदविदों (वैयाकरणों) की भी अविमति का विषयत्व दिखा कर प्रमाणतत्त्वविद तार्किकों (नैयायिकों) की भी विमति यहाँ ठीक नहीं है इसे दिखाने के लिये कहते हैं– **कृत्रिमेति**

ध्वन्यालोकः

कृत्रिमशब्दार्थसम्बन्धवादिनां तु युक्तिविदामनुभवसिद्ध एवायं व्यञ्जकभावः शब्दानामर्थान्तराणामिवाविरोधश्चेति न प्रतिक्षेप्यपदवी-मवतरति।

वाचकत्वे हि तार्किकाणां विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्ताम्, किमिदं स्वाभाविकं शब्दानामाहोस्वित्सामयिकमित्याद्याः। व्यञ्जकत्वे तु

शब्द और अर्थ का कृत्रिम (अनित्य) सम्बन्ध (सङ्केतकृत वाच्यवाचकत्व रूप) प्रमाणविदों (नैयायिकों) के मत में (दीपक आदि) अन्य अर्थों के (व्यञ्जकत्व) समान शब्दों का व्यञ्जकत्व अनुभवसिद्ध और निर्विरोध ही है, अतः नैयायिक मत में व्यञ्जकता का निराकरण करना उचित नहीं है।

तार्किकों (नैयायिकों) को वाचकत्व के विषय में क्या शब्दों का वाचकत्व स्वाभाविक है? अथवा सङ्केतकृत इत्यादि प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ भले ही हों

लोचनम्

परिकल्पितः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति ये वदन्त नैयायिकसौगतादयः। यथोक्तम्–'न सामयिकत्वाच्छब्दार्थप्रत्ययस्ये'ति। तथा शब्दाः सङ्केतित प्राहुरिति। *अर्थान्तराणामिति।* दीपादीनाम्। नन्वनुभवेन द्विचन्द्राद्यपि सिद्धं तच्च विमतिपदमित्याशङ्क्याह– *अविरोधश्चेति।* अविद्यमानो विरोधो निरोधो बाधकात्मको द्वितीयेन ज्ञानेन यस्य तेनानुभवसिद्धश्चाबाधितश्चेत्यर्थः। अनुभवसिद्धं न प्रतिक्षेप्यं यथा वाचकत्वम्।

ननु तत्राप्येषां विमतिः। नैतत्; न हि वाचकत्वे सा विमतिः, अपि तु वाचकत्वस्य नैसर्गिकत्वकृत्रिमत्वादौ तदाह–*वाचकत्वे हीति।* नन्वेवं व्यञ्जकत्वस्यापि धर्मान्तरमुखेन विप्रतिपत्तिविषयतापि स्यादित्याशङ्क्याह–

कृत्रिम अर्थात् सङ्केतमात्र स्वभाव का बनाया गया शब्द-अर्थ का सम्बन्ध अनित्य है ऐसा जो कहते हैं, नैयायिक बौद्ध आदि। जैसा कि कहा है– 'न सामयिक-त्वाच्छब्दार्थप्रत्ययस्ये'ति अर्थात् शब्द लिङ्ग द्वारा अर्थ का बोधक नहीं होता, क्योंकि शब्द के अर्थ का बोध सामयिक (सङ्केतकृत) होता है; इस प्रकार शब्द सङ्केतित अर्थ को कहते हैं। **अर्थान्तराणामिति** अन्य अर्थों के– दीपादि। शङ्का– जब द्विचन्द्र आदि अनुभव से सिद्ध है तब तो उसमें विमति होगी? इस पर कहते हैं– **अविरोधश्चेति** विरोधरहित। जिस व्यञ्जकत्व के द्वितीय ज्ञान का बाधात्मक जो विरोध वह विरोध विद्यमान नहीं इसलिये व्यञ्जकत्व अनुभवसिद्ध और अबाधित है। अनुभव से सिद्ध का निराकरण नहीं किया जा सकता। जैसे वाचकत्व का। शङ्का– उस वाचकत्व के विषय में भी इन नैयायिकों की विमति है। समाधान– ऐसा नहीं, वाचकत्व के विषय

ध्वन्यालोकः

तत्पृष्ठभाविनि भावान्तरसाधारणे लोकप्रिसिद्ध एवानुगम्यमाने को विमतीनामवसरः। अलौकिके ह्यर्थे तार्किकाणां विमतयो निखिलाः प्रवर्तन्ते न तु लौकिके। न हि नीलमधुरादिष्वशेषलोकेन्द्रियगोचरे बाधारहिते तत्त्वे परस्परं विप्रतिपन्ना दृश्यन्ते। न हि बाधारहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति। तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनामशब्द-रूपाणां च चेष्टादीनां यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव तत्केनापह्नूयते।

परन्तु उसके वाचकत्व के बाद आने वाले दीपक आदि अन्य पदार्थों के समान लोकप्रसिद्ध अनुभूयमान व्यञ्जकत्व के विषय में तो मतभेद का अवसर ही कहाँ है? अतः न्यायसिद्धान्त को भी व्यञ्जकविरोधी नहीं मानना चाहिये।

तार्किकों को आत्मा आदि अलौकिक (लोकप्रत्यक्ष के अगोचर) अर्थों के विषय में सारी विप्रतिपत्तियाँ होती हैं। लौकिक प्रत्यक्षादि सिद्ध अर्थ के विषय में नहीं। नील, मधुर आदि में जहाँ निर्धारण में सप्तमी है सर्वलोक प्रत्यक्ष और अबाधित पदार्थ के विषय में परस्पर मतभेद नहीं दिखलाई पड़ता है। बाधारहित नील को नील कहने वाले किसी को दूसरा निषेध नहीं करता है कि यह नील नहीं है, यह पीत है। इसी प्रकार वाचक शब्दों का अवाचक शब्दरूप गीत आदि

लोचनम्

व्यञ्जकत्वे त्विति। भावान्तरेति। **अक्षिनिकोचादेः साङ्केतिकत्वं चक्षुरादिकस्यानादिर्योग्यतेति दृष्ट्वा काममस्तु संशयः शब्दस्याभिधेय-प्रकाशने व्यञ्जकत्वं तु यादृशमेकरूपं भावान्तरेषु तादृगेव प्रकृतेऽपीति निश्चितैकरूपे कः संशयस्यावकाश इत्यर्थः। नैतन्नीलमिति नीले हि न विप्रतिपत्तिः, अपि तु प्राधानिकमिदं पारमाणवमिदं ज्ञानमात्रमिदं**

में वह विमति नहीं है अपितु वाचकत्व के नैसर्गिकत्व और कृत्रिमत्व आदि के सम्बन्ध में वह विमति है। उसे कहते हैं– **वाचकत्वे हीति** वाचकत्व के सम्बन्ध में। तब तो इस प्रकार धर्मान्तर (नैसर्गिकत्वादि) के द्वारा व्यञ्जकत्व के विषय में भी विप्रतिपत्ति हो सकती है। इस आशङ्का पर कहते है– **व्यञ्जकत्वे त्विति भावान्तरेति। अक्षिनिकोचादेः** आदि का सांकेतिक चक्षु की अनादि योग्यता है, यह देख कर शब्द के अभिधेय के प्रकाशन में चाहे जो संशय हो, परन्तु व्यञ्जकत्व जिस प्रकार भावान्तरों में एक रूप है उसी प्रकार प्रकृत में भी है। इस प्रकार निश्चित एक रूप वाले व्यञ्जकत्व

ध्वन्यालोकः

अशब्दमर्थं रमणीयं हि सूचयन्तो व्याहारास्तथा व्यापारा निबद्धाश्चानिबद्धाश्च विदग्धपरिषत्सु विविधा विभाव्यन्ते। तानुपहास्यतामात्मनः परिहरन् कोऽतिसन्दधीत सचेताः। ब्रूयात्, अस्त्यतिसन्धानावसरः व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वमतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गिलिङ्गभाव एव

ध्वनियों का और अशब्द रूप चेष्टा आदि तीनों का व्यञ्जकत्व जो सबके अनुभव से सिद्ध हैं उसका अपलाप कौन कर सकता है?

विद्वानों की गोष्ठियों में शब्द से अनभिधेय (अभिधा) द्वारा शब्द से कथित न किये जा सकने वाले सुन्दर चमत्कारजनक अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले अनेक प्रकार के वचन और व्यापार शब्द रूप में निबद्ध अथवा अनिबद्ध रूप से पाये जाते हैं। अतः अपने आप को उपहास्यता से बचाने वाला कौन बुद्धिमान् उसे स्वीकार नहीं करेगा? पूर्वपक्ष– (यहाँ) कोई कहते है कि व्यञ्जकत्व को अस्वीकार करने का अवसर है। शब्दों के अन्यार्थ बोधकत्व (गमकत्व) का नाम ही तो व्यञ्जकत्व है और वह गमकत्व लिङ्गत्व रूप ही है, इसलिये व्यङ्ग्य की प्रतीति लिङ्गी की प्रतीति है, अतएव लिङ्गलिङ्गिभाव ही उन शब्दों का व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव है और वह लिङ्गलिङ्गिभाव से अलग कुछ नहीं है और इसलिये भी ऐसा अवश्य मानना चाहिये कि वक्ता के अभिप्राय की दृष्टि से व्यञ्जकत्व

लोचनम्

तुच्छमिदमिति तत्सृष्टावलौकिक्य एव विप्रतिपत्तयः। *वाचकानामिति।* ध्वन्युदाहरणेष्विति भावः। *अशब्दमिति।* अभिधाव्यापारेणास्पृष्टमित्यर्थः। *रमणीयमिति।* यद्गोप्यमानतयैव सुन्दरीभवतीत्यनेन ध्वन्यमानतायामसाधारणप्रतीतिलाभः प्रयोजनमुक्तम्। *निबद्धाः* प्रसिद्धाः *तानिति* व्यवहारान्। कः सचेता अतिसन्दधीत नाद्रियेतेत्यर्थः। लक्षणे शत्रादेशः

में संशय का अवकाश कहाँ? यह नील नही है, यह विप्रतिपत्ति नील में नहीं अपितु उसकी सृष्टि में अलौकिकत्व में ही यह प्रधान (मूलप्रकृति) द्वारा रचित है। वह परमाणुओं द्वारा रचित है, यह ज्ञान मात्र है, यह तुच्छ (शून्य) है, ये विप्रतिपत्तियँ हैं। **वाचकानामिति** वाचक शब्दों का। भाव यह कि ध्वनि के उदाहरणों में। **अशब्दमिति** शब्दरहित। अभिधाव्यापार से अस्पृष्ट **रमणीयमिति** जो गोप्यमान रूप से ही सुन्दर होता है। इससे अर्थ की ध्वन्यमानता में असाधारण प्रतीति का लाभ इस प्रयोजन को

ध्वन्यालोकः

तेषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नापरः कश्चित्। अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्यं यस्माद्वक्त्र्यभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादितं वक्त्र्यभिप्रायश्चानुमेयरूप एव।

अत्रोच्यते– नन्वेवमपि यदि नाम स्यात्तत्किं नश्छिन्नम्। वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। तस्य चैवमपि न काचित् क्षतिः। तद्धि

का प्रतिपादन (व्यञ्जक-व्यङ्ग्य का लिङ्गलिङ्गिभाव) तुमने (व्यञ्जकतावादी ने) अभी मीमांसक के खण्डन के प्रसङ्ग में किया है, और वक्ता का अभिप्राय अनुमेय रूप ही होता है।

अतएव जिसे व्यञ्जकत्ववादी व्यञ्जना व्यापार का विषय मानना चाहता है, वह अनुमान का विषय है अतः व्यञ्जना अनुमिति के अन्तर्गत है यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय है। इसका उत्तर इस प्रकार है– यदि कुछ काल के लिये प्रौढिवाद

लोचनम्

आत्मनः कर्मभूतस्य योपहसनीयता तस्याः परिहारेणोपलक्षितस्तां परिजिहीर्षुरित्यर्थः ***अस्तीति।*** **व्यञ्जकत्वं नापह्नूयते तत्त्वतिरिक्तं न भवति अपि तु लिङ्गिलिङ्गभाव एवायम्।** ***इदानीमेवेति।*** **जैमिनीयमतोपक्षेपे।**

यदि नाम स्यादिति। **प्रौढवादितयाभ्युपगमेऽपि स्वपक्षस्तावन्न सिद्ध्यतीति दर्शयति–*शब्देति।* शब्दस्य व्यापारः सन् विषयः शब्दव्यापारविषयः। अन्ये तु शब्दस्य यो व्यापारस्तस्य विषयो विशेष इत्याहुः।** ***न पुनरिति।*** **प्रदीपालोकादौ लिङ्गिलिङ्गभावशून्योऽपि हि**

कहा है। **निबद्धेति** प्रसिद्ध। **तानिति** उन्हीं व्यवहारों को। कौन सचेता अतिसन्धान करेगा, अर्थात् आदर नहीं करेगा। **परिहरन्** इति शतृ प्रत्यय है। जो आत्मा की कर्मभूत उपहसनीयता है उसका परिहार उपलक्षित है। अर्थात् उस अपनी उपहसनीयता को छोड़ देने की इच्छा वाला अस्तीति अवसर है। व्यञ्जकत्व को छिपाते नहीं किन्तु वह अतिरिक्त भी नहीं अपितु वह लिङ्गलिङ्गिभाव ही है। **इदानीमेवेति** जैमिनीयमत के निराकरण के प्रसङ्ग में।

यदि नाम स्यादिति यदि इस प्रकार हो भी। प्रौढवादी बन कर स्वीकार करने पर भी पूर्वपक्षी का अपना पक्ष सिद्ध नहीं होता। इसे दिखाते है– **शब्देति** शब्द-शब्द का व्यापार होता हुआ विषय शब्दव्यापार का विषय है। परन्तु अन्यलोग शब्द का जो व्यापार उसका विषय अर्थात् विशेष यह कहते हैं– **न पुनरिति** फिर। प्रदीप के

ध्वन्यालोकः

व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमस्तु अन्यद्वा। सर्वथा प्रसिद्धशाब्दप्रकारविलक्षणत्वं शब्दव्यापारविषयत्वं च तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवादः। न पुनरयं परमार्थो यद्व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेवेति।

यदपि स्वपक्षसिद्धयेऽस्मदुक्तमनूदितं त्वया वक्त्र्यभिप्रायस्य व्यङ्ग्यत्वेनाभ्युपगमात्तत्प्रकाशने शब्दानां लिङ्गत्वमेवेति

से ऐसा मान भी लें तो हमारी क्या हानि है? हमने तो यह स्वीकार किया है कि वाचकत्व और गुणवृत्ति से अतिरिक्त व्यञ्जकत्व रूप अलग से एक तीसरा व्यापार है। उस सिद्धान्त को ऐसा (व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव को अथवा लिङ्गलिङ्गिभाव रूप को) मानने पर भी हमारी कोई हानि नहीं होगी। वह व्यञ्जकत्व चाहे लिङ्गत्व रूप हो अथवा अन्य कुछ, प्रत्येक दशा में प्रसिद्ध अभिधा तथा गुणव्यापार रूप शब्दव्यापार से भिन्न और शब्दव्यापार का विषय वह रहता ही है इसलिये हमारा तुम्हारा कोई झगड़ा नहीं रह गया। वास्तव में यह बात ठीक नहीं है कि व्यञ्जकत्व सभी जगह लिङ्ग स्वरूप और व्यङ्ग्य की प्रतीति सर्वत्र लिङ्गि (अनुमितिरूप) ही हों।

और अपने पक्ष की सिद्धि के लिये जो हमारे कथन का अनुवाद किया है कि तुमने (व्यञ्जकतावादी ने) वक्ता के अभिप्राय को व्यङ्ग माना है और वक्ता

लोचनम्

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽस्तीति व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य लिङ्गिलिङ्गभावोऽव्यापक इति कथं तादात्म्यम्। *विषय* इति। शब्द उच्चरिते यावति प्रतिपत्तिस्तावान्विषय इत्युक्तः। तत्र शब्दप्रयुयुक्षा अर्थप्रतिपिपादयिषा चेत्युभय्यपि विवक्षानुमेया तावत्। यस्तु प्रतिपादयिषायां कर्मभूतोऽर्थस्तत्र शब्दः करणत्वेन व्यवस्थितः न त्वसावनुमेयः, तद्विषया हि प्रतिपिपादयिषैव केवलमनुमीयते। न च तत्र शब्दस्य करणत्वे यैव लिङ्गस्येतिकर्तव्यता

आलोक आदि में लिङ्गलिङ्गिभाव से रहित भी व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव हैं। इस प्रकार व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव का लिङ्गलिङ्गीभाव अव्यापक है इसलिये तादात्म्य (अभेद) कैसे होगा? **विषय इति** शब्द के उच्चरित होने पर जितने अंश में ज्ञान होगा उतना विषय है। यह कहा गया है, वहाँ शब्द के प्रयोग की इच्छा और अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा में दोनों विवक्षायें अनुमेय हैं। परन्तु जो प्रतिपादन की इच्छा में कर्मभूत अर्थ है उसमें शब्द करण रूप से व्यवस्थित है न कि वह अनुमेय है, क्योंकि उसके विषय की

ध्वन्यालोकः

तदेतद्यथास्माभिरभिहितं तद्विभज्यं प्रतिपाद्यते श्रूयताम्– द्विविधो विषयः शब्दानाम्– अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च। तत्रानुमेयो विवक्षालक्षणः। विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा। तत्राद्या न शाब्दव्यवहाराङ्गम्। सा हि प्राणित्व-मात्रप्रतिपत्तिफला। द्वितीया तु शब्दविशेषावधारणावसितव्यवहितापि

के अभिप्राय के प्रकाशन में शब्दों का लिङ्गत्व है ही अत: इस विषय में हमने जो कहा है, उसको अलग-अलग कर स्पष्ट रूप से कह रहे हैं, सावधान हो कर सुनो। शब्दों का विषय दो प्रकार का होता है– एक अनुमेय और दूसरा प्रतिपाद्य। उनमें विवक्षा (अर्थात् अर्थ कहने की इच्छा अनुमेय है। विवक्षा भी शब्द के आनुपूर्वी स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा, अर्थ शब्द से अर्थ प्रकाशन की इच्छा दो प्रकार की होती है– उनमें से पहली शब्द के आनुपूर्वी स्वरूप प्रकाशन की इच्छा शाब्दव्यवहार (शाब्दबोध) का अङ्ग (उपकारिणी) नहीं है, केवल प्राणित्वमात्र की प्रतीति ही उसका फल है (शब्द का स्वरूपमात्र) अर्थात् अर्थहीन व्यक्त या अव्यक्त ध्वनि कोई प्राणी कर सकता है, किन्तु अचेतन नहीं। इसलिये शब्द के स्वरूपमात्र प्रकाशन से प्राणी का ज्ञान तो अवश्य हो सकता है, परन्तु उससे किसी प्रकार के अर्थ का ज्ञान न हो सकने से वह शाब्दबोध या शाब्दव्यवहार में अनुपयोगी है) दूसरी (अर्थ प्रकाशनेच्छा रूप) शब्दविशेष (वाचकादि) के अवधारण से व्यवहित होने पर भी शब्दकरणक व्यवहार अर्थात् शाब्दबोध का अङ्ग होती है; ये दोनों शब्द सम्बन्धी इच्छायें शब्दों के अनुमेय का विषय है। विशेष प्रकार के शब्दों को सुनकर शब्दस्वरूप प्रकाशन की इच्छा अथवा शब्द अर्थप्रकाशन की इच्छा का अनुमान होता है इसलिये ये दोनों इच्छाएँ

लोचनम्

पक्षधर्मत्वग्रहणादिका सास्ति, अपि त्वन्यैव सङ्केतस्फुरणादिका तन्न तत्र शब्दो लिङ्गम्। इतिकर्तव्यता च द्विधा-एकयाभिधाव्यापारं करोति द्वितीयया व्यञ्जनाव्यापारम्। तदाह–*तत्रेत्यादिना। कयाचिदिति।* गोपनकृतसौन्दर्यादि-

प्रतिपादनेच्छा ही केवल अनुमेय होती है। शब्द के न कि करणत्व में जो ही लिङ्ग का पक्षधर्मत्व ग्रहण आदि इतिकर्त्तव्यता वही सहकारी कारण है, बल्कि अन्य ही सङ्केतस्फुरण आदि इतिकर्त्तव्यता है, इसलिये शब्द लिङ्ग नहीं है। इतिकर्त्तव्यता दो प्रकार की होती है– शब्द एक से अभिधा व्यापार करता है, दूसरे से व्यञ्जना व्यापार।

ध्वन्यालोकः

शब्दकरणव्यवहारनिबन्धनम्। ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम्। प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः।

स च द्विविधः- वाच्यो व्यङ्ग्यश्च। प्रयोक्ता हि कदाचित्स्वशब्देनार्थं प्रकाशयितुं समीहते कदाचित्स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित्। स तु द्विविधोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गितया स्वरूपेण प्रकाशते, अपि तु कृत्रिमेणाकृत्रिमेण वा सम्बन्धान्तरेण। विवक्षाविषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दैर्लिङ्गितया प्रतीयते न तु स्वरूपम्। यदि हि लिङ्गितया तत्र शब्दानां व्यापारः स्यात्तच्छब्दार्थे सम्यङ् मिथ्यात्वादिविवादा एव न प्रवर्तेरन् धूमादिलिङ्गानुमितानुमेयान्तरवत्। व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्या-

शब्दों के अनुमेय का विषय हैं। शब्द प्रयोक्ता के अर्थप्रतिपादन की इच्छा का विषयीभूत अर्थ शब्द का प्रतिपाद्य विषय होता है।

और वह वाच्य तथा व्यङ्ग्य दो प्रकार का होता है। प्रयोक्ता कभी अपने वाचक शब्द में अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है और कभी किसी प्रयोजन विशेष (गोपनकृत सौन्दर्यातिशयत्वादि के बोधन) की दृष्टि से स्वशब्द (वाचक शब्द) से अनभिधेयरूप से (इनमें से पहला स्वशब्दाभिधेय अर्थ वाच्य और दूसरा स्वशब्दानभिधेय अर्थ व्यङ्ग्य होता है।) शब्दों का यह दोनों प्रकार का प्रतिपाद्य विषय अनुमेय रूपक से स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता अपितु (नैयायिक मत में सङ्केतादि रूप) कृत्रिम (अनित्य) अथवा (मीमांसक मतमें नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध रूप) अकृत्रिम (अभिधा-व्यञ्जना रूप) अन्य सम्बन्ध से प्रकाशित होता है। (वक्ता के शब्दों को सुन कर लिङ्गरूप उन) शब्दों से उस अर्थ का विवक्षाविषयत्व (वक्ता अमुक अर्थ कहना चाहता है यह बात) तो अनुमेय रूप से प्रतीत हो सकता है, परन्तु अर्थ का स्वरूप अनुमेय रूप से प्रतीत नहीं होता।

यदि उस अर्थ के विषय में लिङ्गी रूप से शब्द का व्यापार हो। अर्थात् शब्दों से अनुमान द्वारा अर्थसिद्ध हो तो धूम आदि लिङ्गों से अनुमित दूसरे वह्नि

लोचनम्

लाभाभिसन्धानादिकयेत्यर्थः। *शब्दार्थ* इति। अनुमानं हि निश्चस्वरूपमेवेति

उसे कहते हैं- **तत्रेत्यादिना।** वहाँ इत्यादि द्वारा प्रयोजनापेक्षया अर्थात् गोपनकृत सौन्दर्यादिलाभ के अतिसंधान आदि प्रयोजन की अपेक्षा से। **शब्दार्थे** इति शब्द के

ध्वन्यालोकः

क्षिप्ततया वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ततया वाच्यवच्छब्दस्य सम्बन्धी भवत्येव। साक्षादसाक्षाद्भावो हि सम्बन्धस्याप्रयोजकः। वाच्यवाचकभावाश्रयत्वं च व्यञ्जकत्वस्य प्रागेव दर्शितम्। तस्माद्वक्त्र्यभिप्रायरूप एव व्यङ्ग्ये लिङ्गतया शब्दानां व्यापारः। तद्विषयीकृते तु प्रतिपाद्यतया। प्रतीयमाने तस्मिन्नभिप्रायरूपेऽनभिप्रायरूपे च वाचकत्वे नैव व्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा। न तावद्वाचकत्वेन यथोक्तं प्राक्।

आदि अनुमेयों के समान शब्द के अर्थ के विषय में भी यह ठीक है अथवा मिथ्या इस प्रकार के विवाद न उठें। **व्यङ्ग्येति** यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ का शब्द द्वारा बोध होने के विषय में यह शङ्का हो सकती है कि व्यङ्ग्य अर्थ का शब्द से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है इसलिये उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है। इस शङ्का को मन में रखकर आगे की पङ्क्ति लिखते हैं– **व्यङ्ग्यश्चेति** और व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त होने से वाच्य के समान सम्बन्धी होता ही है। साक्षाद्भाव अर्थात् असाक्षाद्भाव सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं है। (अर्थात् साक्षात् सम्बन्ध हो सकता है) असाक्षात् परम्परया भी सम्बन्ध हो सकता है, इसलिये न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान में अपेक्षित इन्द्रिय तथा अर्थ का ६ प्रकार का सम्बन्ध माना गया है।.... व्यञ्जकत्व का वाच्यवाचकभाव पर आश्रितत्व पहले ही दिखला चुके हैं। इसलिये वक्ता के अभिप्राय रूप व्यङ्ग्य के विषय में शब्दों का लिङ्ग रूप से व्यापार होता है और उसके विषयभूत अर्थ के विषय में तो प्रतिपाद्य रूप से शब्दव्यापार होता ही है। यहाँ वक्ता के अभिप्राय को व्यङ्ग्य कहा है। वह केवल स्थूलरूप से चल रहे व्यङ्ग्य शब्द की दृष्टि से कह दिया है। वास्तव में तो परेच्छा रूप अभिप्राय के केवल अनुमानसाध्य होने से वह अभिप्राय अनुमेय ही होता है व्यङ्ग्य नहीं। उस प्रतीयमान व्यङ्ग्य अनभिप्रायरूप वस्तु और अभिप्रायरूप में (जैसे 'उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि' इत्यादि में चुम्बनाभिप्राय रूप) में या तो वाचकत्व से ही व्यापार हो सकता है अथवा अन्य व्यञ्जकत्व सम्बन्ध से। अभी ऊपर की पङ्क्ति में अभिप्राय को अनुमेय कहा हैं और यहाँ उसको व्यङ्ग्य कह रहे हैं, इससे वदतोव्याधात की शङ्का नहीं करनी चाहिये। जहाँ अभिप्राय को अनुमेय कहा है वहाँ वक्ता के अभिप्राय से तात्पर्य है वक्ता का अभिप्राय अनुमेय ही है। और जहाँ उसको व्यङ्ग्य कहा है वहाँ जैसे 'उमामुखे' उदाहरणों में शिव के अभिप्राय आदि

ध्वन्यालोकः

सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेव। न च व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वरूपमेव आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात्। तस्मात्प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गित्वेन सम्बन्धी वाच्यवत्। यो हि लिङ्गित्वेन तेषां सम्बन्धी यथा दर्शितो विषयः स न वाच्यत्वेन प्रतीयते, अपि तूपाधित्वेन।

का ग्रहण है। इस वाक्य में शिव का चुम्बनाभिलाष व्यङ्ग्य ही हैं वाच्य या अनुमेय नहीं। इस प्रकार विषयभेद से विरोध का परिहार हो जाता है; उसमें वाचकत्व तो बनता नहीं जैसा कि पहले कह चुके हैं, क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ के साथ सङ्केतग्रह नहीं। और सम्बन्धान्तर मानने से व्यञ्जकत्व ही होता है।

दीपक के आलोक आदि में अन्यथा (लिङ्गत्व के अभाव में भी घटादि का व्यञ्जकत्व) देखे जाने से व्यञ्जकत्व सदा लिङ्ग रूप ही नहीं होता है। (प्रकाश घटादि का अभिव्यञ्जक तो होता हैं परन्तु वह घटादि का अनुमिति के हेतु न होने से लिङ्ग नहीं होता। इसलिये व्यञ्जक का लिङ्ग ही होना आवश्यक नहीं है) इसलिये प्रतिपाद्य व्यङ्ग्य विषय वाच्य की तरह लिङ्गित्वेन शब्द से सम्बंन्ध नहीं है (जैसे वाच्य अर्थ शब्द से अनुमेय नहीं है इसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ भी शब्द से अनुमेय नहीं है)। इसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ भी शब्द से अनुमेय नहीं है और जो लिङ्गी रूप से उन शब्दों का सम्बन्धी (शब्दों से अनुमेय) है जैसा कि ऊपर दिखलाया हुआ (वक्ता का अभिप्राय या विवक्षारूप) विषय वह वाच्य रूप से प्रतीत नहीं होता है, अपितु औपाधिक (वाच्यादि अर्थ के विशेषणीभूत)

लोचनम्

भावः। *उपाधित्वेनेति।* वक्त्रिच्छा हि वाच्यादेरर्थस्य विशेषणत्वेन भाति। *प्रतिपाद्यस्येति।* अर्थाद्व्यङ्ग्यस्य। *लिङ्गित्व* इति। अनुमेयत्व इत्यर्थः। *लौकिकैरेवेति।* इच्छायां लोको न विप्रतिपद्यतेऽर्थे तु विप्रतिपत्तिमानेव।

अर्थ में। भाव यह कि अनुमान निश्चय रूप ही होता है।।

उपाधित्वेनेति उपाधिरूप से। वक्ता की इच्छा वाच्यादि अर्थ के विशेषता रूप से प्रतीत होती है। **प्रतिपाद्यस्येति** प्रतिपाद्य विषय के। अर्थात् व्यङ्ग के **लिङ्गित्वेनेति** लिङ्गी होने से। अर्थात् अनुमेय होने से। **लौकिकैरेवेति** लौकिक लोगों द्वारा ही। लोग इच्छा में विप्रतिपन्न नहीं होते परन्तु अर्थ में विप्रतिपत्तिमान् होते ही हैं।

ध्वन्यालोकः

प्रतिपाद्यस्य च विषय्रस्य लिङ्गित्वे तद्विषयाणां विप्रतिपत्तीनां लौकिकैरेव क्रियमाणानामभावः प्रसज्येतेति। एतच्चोक्तमेव।

यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतौ क्वचित्क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापारविषयताहानिस्तद्वव्यङ्ग्यस्यापि। काव्यविषये च

रूप से प्रतीत होता है। प्रतिपाद्य विषय को लिङ्गी मानने पर उसके विषय में लौकिक पुरुषों द्वारा ही की जाने वाली विप्रतिपत्तियों का अभाव प्राप्त होगा यह कह ही चुके हैं।

जिस वाच्य (अर्थ) के विषय में अन्य (अर्थापत्ति अथवा अनुमान आदि) प्रमाणों के सम्बन्ध से प्रामाण्य ग्रहण होने पर कही उस वाच्य अर्थ के प्रमाणान्तर अर्थापत्ति अनुमान आदि का विषय होने पर भी शब्द व्यापार के विषय़त्व की हानि नहीं होती है (उसे शाब्द व्यापार शाब्दबोध का विषय माना ही जाता है।

लोचनम्

ननु यदा व्यङ्ग्योऽर्थः प्रतिपन्नस्तदा सत्यत्वनिश्चयोऽस्यानुमानादेव प्रमाणान्तरात् क्रियत इति पुनरप्यनुमेय एवासौ। मैवम्; वाच्यस्यापि हि सत्यत्वनिश्चयोऽनुमानादेव। यदाहुः–

'आप्तवादाविसंवादसामान्यादत्र चेदनुमानता' इति।

न चैतावता वाच्यस्य प्रतीतिरानुमानिकी किं तु तद्गतस्य ततोऽधिकस्य सत्यत्वस्य तद्व्यङ्ग्येऽपि भविष्यति। एतदाह–*यथा चेत्यादिना।* एतच्चाभ्युपगम्योक्तं न त्वनेन नः प्रयोजनमित्याहुः।

शङ्का– जब व्यङ्ग्य अर्थ ज्ञात हो जाता है तब उसके सत्यत्व का निश्चय अन्य प्रमाण अनुमान से ही किया जाता है इसलिये वह फिर भी अनुमेय ही है ऐसा क्यो? समाधान– ऐसा नहीं, क्योंकि वाच्य के भी सत्यत्व का निश्चय अनुमान से ही होगा। जैसा कि कहा गया है– **आप्तेति** 'यहाँ आप्तवाद अविसंवाद सामान्य से अनुमानता होगी।

इतने मात्र से वाच्य की प्रतीति अनुमानप्राप्त नहीं समझी जा सकती। उसे व्यङ्ग्य मानने पर भी उसके अधिक सत्यत्व की प्रतीति हो सकती है इसे कहते हैं– **यथा चेति** और जैसे इत्यादि के द्वारा इसे अभ्युपगम करके कहा है, इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है यह कहते हैं, **काव्यविषये चेति** और काव्य के विषय में।

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्।

इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ में भी प्रामाण्य और अप्रामाण्य के निश्चय में अर्थापत्ति अथवा अनुमान आदि प्रमाणों का उपयोग होने पर भी उसे व्यञ्जनारूप शब्दव्यापार का विषय मानने में कोई हानि नहीं, यह समझना चाहिये।

अन्य लौकिक तथा वैदिक वाक्यों के अनुष्ठान आदि परक होने से उनमें प्रामाण्य या अप्रामाण्य के ज्ञान का उपयोग है, परन्तु काव्य वाक्यों का उपयोग तो केवल चमत्कारिक प्रतीति कराना ही है। उसमें प्रामाण्य-अप्रामाण्यज्ञान का कोई उपयोग नहीं है इसलिये यहाँ इस दृष्टि से अनुमान के प्रवेश मानने की आवश्यकता नहीं है। काव्य के विषय में व्यङ्ग्यप्रतीति के सत्यत्व और असत्यत्व के निरूपण का अप्रयोजकत्व होने से उनमें प्रमाणान्तर के व्यापार का विचार (यह केवल तर्कवादी हैं रसिक नहीं) इस प्रकार उपहासजनक ही होगा। इसलिये सर्वत्र अनुमिति (लिङ्गप्रतीति) ही व्यङ्ग्य प्रतीति होती है, यह नहीं कहा जा सकता है।

लोचनम्

***काव्यविषये चेति। अप्रयोजकत्वमिति।* न हि तेषां वाक्यानामग्निष्टोमादिवाक्यवत्सत्यार्थप्रतिपादनद्वारेण प्रवर्तकत्वाय प्रामाण्यमन्विष्यते, प्रीतिमात्रपर्यवसायित्वात्। प्रीतेरेव चालौकिकचमत्काररूपाया व्युत्पत्त्यङ्गत्वात्। एतच्चोक्तं वितत्य प्राक्। *उपहासायेवेति।* नायं सहृदयः केवलं शुष्कतर्कोपक्रमकर्कशहृदयः प्रतीतिं परामष्टुं नालमित्येष उपहासः।**

अप्रयोजकत्वमिति अप्रयोजक। **'अग्ष्टिोमेन स्वर्गकामो यजेत'** यहाँ अग्निष्टोमादि वाक्यों की भाँति सत्य अर्थ के प्रतिपादन द्वारा प्रवृत्त कराने के लिये उन वाक्यों का प्रामाण्य नहीं ढूँढते, क्योंकि ये प्रीतिमात्र तक पर्यवसित हो जाते हैं। क्योंकि अलौकिक चमत्कार रूप प्रीति ही व्युत्पत्ति का अङ्ग है। इसे विस्तारपूर्वक कह चुके हैं। **उपहासायैवेति** उपहासास्पद ही। यह सहृदय नहीं है, केवल शुष्क तर्क के उपक्रम से कर्कश हृदय वाला व्यक्ति है, क्योंकि प्रतीति का परामर्श नहीं कर सकता यह उपहास है।

ध्वन्यालोकः

यत्त्वनुमेयरूपव्यङ्ग्यविषयं शब्दानां व्यञ्जकत्वं तद्ध्वनिव्यवहारस्याप्रयोजकम्। अपि तु व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दानां व्यापार औत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिनाप्यभ्युपगन्तव्य इति प्रदर्शनार्थमुपन्यस्तम्। तद्धि व्यञ्जकत्वं कदाचिल्लिङ्गत्वेन कदाचिद्रूपान्तरेण शब्दानां वाचकानामवाचकानां च सर्ववादिभिरप्रतिक्षेप्य-

और जो अनुमेय रूप व्यङ्ग्य (विवक्षा आदि) के विषय में शब्दों का व्यञ्जकत्व है, वह ध्वनि-व्यवहार का प्रयोजक नहीं है, अपितु शब्द अर्थ का नित्यसम्बन्ध मानने वाले मीमांसक को भी वक्ता के अभिप्रायादि में शब्दों का वाचकत्व से भिन्न व्यञ्जकत्व रूप व्यापार स्वीकार करना ही होगा। इस बात को दिखलाने के लिये ही (वास्तव में अनुमेय परन्तु अभिधा और गुणवृत्ति से विलक्षण शब्दव्यापार के कारण व्यङ्ग्य रूप से निर्दिष्ट वक्ता के अभिप्राय के विषय में शब्दों का व्यञ्जना व्यापार) यह मीमांसक के मत के प्रसंङ्ग में दिखलाया था। यह व्यञ्जकत्व कहीं अनुमान रूप से (वक्ता के अभिप्रायरूप व्यङ्ग्य के बोधन में) और कही अन्य रूप से (घटादि की अभिव्यक्ति में दीपादि की प्रत्यक्ष रूप से व्यञ्जकता अवाचक गीतध्वनि आदि की रसादि के विषय में स्वरूप प्रत्यक्षेण व्यञ्जकता विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में अभिधा सहकार से व्यञ्जकता अविवक्षितवाच्य

लोचनम्

नन्वेवं तर्हि मा भूद्यत्र यत्र व्यञ्जकता तत्र तत्रानुमानत्वम्; यत्र यत्रानुमानत्वं तत्र तत्र व्यञ्जकत्वमिति कथमपह्नूयत इत्याशङ्क्याह– *यत्त्वनुमेयेति।* तद्व्यञ्जकत्वं न ध्वनिलक्षणमभिप्रायव्यतिरिक्तविषयाव्यापरादिति भावः। नन्वभिप्रायविषयं यद्व्यञ्जकत्वमनुमानैकयोगक्षेमं तच्चेन्न प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारस्य तर्हि किमर्थं

इस प्रकार जहाँ-जहाँ व्यञ्जकता है वहाँ-वहाँ अनुमानता मत हो। किन्तु जहाँ-जहाँ अनुमानता है वहाँ-वहाँ व्यञ्जकत्व है इसे कैसे छिपाया जा सकता है? इस आशङ्का पर कहते है– **यत्त्वनुमेयेति** जो कि अनुमेय। भाव यह कि वह व्यञ्जकत्व ध्वनि रूप नहीं हैं, क्योंकि अभिप्राय के व्यतिरिक्त विषय। (रस अलङ्कारादि व्यङ्ग्य) में व्यापाररहित हैं। एक मात्र अनुमान के साथ योग-क्षेम वाला जो अभिप्राय के विषय का व्यञ्जकत्व है वह यदि ध्वनि-व्यवहार का प्रयोजक नहीं है तो उसे पहले क्यों उपन्यस्त किया है? इस आशङ्का पर कहते हैं– **अपित्विति**। अपितु। इसे ही संक्षेप में निरूपण करते

ध्वन्यालोकः

मित्ययमस्माभिर्यत्न आरब्धः। तदेवं गुणवृत्तिवाचकत्वादिभ्यः शब्दप्रकारेभ्यो नियमेनैव तावद्विलक्षणं व्यञ्जकत्वम्। तदन्तः-पातित्वेऽपि तस्य हठादभिधीयमाने तद्विशेषस्य ध्वनेर्यत्प्रकाशनं विप्रतिपत्तिनिरासाय सहृदयव्युत्पत्तये वा तत्क्रियमाणमनति-

ध्वनि में गुणवृत्ति के सहयोग से व्यञ्जकता इत्यादि किसी रूप में) वाचक अवाचक सभी प्रकार के शब्दों का सभी वादियों को स्वीकार करना ही पड़ेगा, इसलिये हमने यह यत्न आरम्भ किया है। इस प्रकार गुणवृत्ति और वाचकत्व आदि शब्द-प्रकारों से व्यञ्जकत्व अवश्य ही भिन्न है। हठपूर्वक उस व्यञ्जकत्व को उस अभिधा अथवा गुणवृत्ति के अन्तर्गत मानने पर भी उसके विशेष प्रकार ध्वनि का विप्रतिपत्तियों के निराकरण करने के लिये अथवा सहृदयों की व्युत्पत्ति- परिज्ञान

लोचनम्

तत्पूर्वमुपक्षिप्तमित्याशङ्क्याह–*अपि त्विति।* एतदेव संक्षिप्य निरूपयति–*तद्धीति।* अत एव हि क्वचिदनुमानानेनाभिप्रायादौ क्वचित्प्रत्यक्षेण दीपालोकादौ क्वचित्कारणत्वेन गीतध्वन्यादौ क्वचिदभिधया विवक्षितान्यपरे क्वचिद्गुणवृत्त्या अविवक्षितवाच्येऽनुगृह्यमाणं व्यञ्जकत्वं दृष्टं तत एव तेभ्यः सर्वेभ्यो विलक्षणमस्य रूपं नस्सिध्यति तदाह–*तदेवमिति।*

ननु प्रसिद्धस्य किमर्थं रूपसंकोचः क्रियते अभिधाव्यापारगुणवृत्त्यादेः। तस्यैव सामग्र्यन्तरोपनिपाताद्यद्विशिष्टं रूपं तदेव व्यञ्जकत्वमुच्यताभित्याशङ्क्याह–*तदन्तःपातित्वेऽपीति।* न वयं संज्ञानिवेशनादि निषेधाम इति भावः। विप्रतिपत्तिस्तादृग्विशेषो नास्तीति।

हैं– **तद्धीति** उस व्यञ्जकत्व को– जिस कारण कहीं अनुमान से, जैसे अभिप्राय आदि में, कहीं प्रत्यक्ष से जैसे दीप के आलोक आदि में, कहीं कारण रूप से जैसे गीतध्वनि आदि में, कहीं अभिधा से विवक्षितान्य पर होने से, कहीं गुणवृत्ति जैसे अविवक्षितवाच्य में अनुगृह्यमाण व्यञ्जकत्व देखा गया है इसी कारण इन सभी से इसका विलक्षण रूप हमें सिद्ध होता है, उसे कहते हैं– **तदेवमिति।**

प्रसिद्ध अभिधाव्यापार गुणवृत्ति आदि का रूपसङ्कोच किस लिये करते हैं? उसी अभिधाव्यापार आदि की अन्य सामग्री के प्राप्त होने से जो विशिष्ट रूप है वही व्यञ्जकत्व कहा जाय, इस आशङ्का पर कहते हैं– **तदन्तः पातित्वेऽपीति** अन्तर्भुक्त होने पर भी। भाव यह कि हम नाम के अनुप्रवेश आदि का निषेध नहीं करते। विप्रतिपत्ति

ध्वन्यालोकः

सन्धेयमेव। न हि सामान्यमात्रलक्षणेनोपयोगिविशेषलक्षणानां प्रतिक्षेपः शक्यः कर्तुम्। एवं हि सति सत्तामात्रलक्षणे कृते सकलसद्वस्तुलक्षणानां पौनरुक्त्यप्रसङ्गः। तदेवम्–

के लिये जो प्रकाशन ग्रन्थकार द्वारा किया जा रहा है, उसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। किसी पदार्थ के सामान्य लक्षण मात्र से उसके अवान्तर उपयोगी विशेष लक्षणों का निषेध नहीं किया जा सकता है। यदि ऐसा निषेध हो तब तो वैशेषिक मत में द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों में रहने वाली जाति सामान्य का लक्षण कर दिये जाने पर उसके अन्तर्गत (पृथिव्यादि ९ द्रव्य, रूप- रस आदि २४ गुण और उत्क्षेपणादि पञ्चविध कर्म आदि) सब सद् वस्तुओं के लक्षण ही व्यर्थ एवं पुनरुक्त हो जावेंगे। इसलिये लक्षण और गुणवृत्ति से भिन्न व्यङ्ग्य प्रधान ध्वनि के बोध के लिये व्यञ्जना को अलग वृत्ति मानना ही होगा।।३३।।

लोचनम्

व्युत्पत्तिः संशयाज्ञाननिरासः। *न हीति।* उपयोगिषु विशेषेषु यानि लक्षणानि तेषाम्। उपयोगिपदेनानुपयोगिनां काकदन्तादीनां व्युदासः। *एवं हीति।* त्रिपदार्थसङ्करी सत्तेत्यनेनैव द्रव्यगुणकर्मणां लक्षितत्वाच्छ्रुति-स्मृत्यायुर्वेदधनुर्वेदप्रभृतीनां सकललोकयात्रोपयोगिनामनारम्भः स्यादिति भावः। विमतिविषयत्वे हेतुः–*अविदितसतत्त्व इति।* अत एवाधुनात्र न कस्यचिद्विमतिरेतस्मात्क्षणात्प्रभृतीति प्रतिपादयितुम्– *आसीत्* इत्युक्तम्।।३३।।

अर्थात् इस प्रकार का विशेष व्यञ्जकत्व नहीं है (यह विरुद्ध ज्ञान) व्युत्पत्ति अर्थात् संशय और अज्ञान का निराकरण करने के लिये **न हीति** सामान्य मात्र में अर्थात् उपयोगी विशेषों में जो लक्षण है, उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। यहाँ उपयोगी पद से अनुपयोगी का काकदन्तपरीक्षया की भाँति निराकरण किया गया है। **एवं हीति** क्योंकि ऐसा होने पर। भाव यह कि सत्ता ३ पदार्थों में रहती है इस लक्षण से द्रव्य, गुण, कर्म लक्षित हो जाने पर सकल लोकयात्रा के उपयोगी श्रुति-स्मृति-आयुर्वेद-धनुर्वेद प्रभृति शास्त्र बन्द हो जायेंगे। विमति का विषय होने के कारण है अविदित स्वरूप। अतएव अब इस क्षण से इसमे किसी की विमति नहीं है, इसे प्रतिपादन के लिये **आसीत्** 'था' क्रिया का प्रयोग किया गया है।।३३।।

ध्वन्यालोकः

विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः ।
ध्वनिसञ्ज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम् ॥३४॥
प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ॥३५॥

व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्ननिरित्युक्तम्। तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूत-

तदेवम् विमतिविषयेति इस प्रकार ध्वनि नामक काव्य-भेद जो नैयायिक आदि विद्वानों की विमति (मतभेद) का विषय अब तक निरन्तर अविदित सदृश रहा, उसको हमने इस प्रकार प्रकाशित किया।

जहाँ व्यङ्ग्य का सम्बन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व अधिक प्रकर्षयुक्त हो जाता है वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य नाम का दूसरा भेद होता है॥३५॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव यस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।१.४)

ललनाओं के लावण्य के समान जिस व्यङ्ग्य अर्थ का प्रतिपादन किया है उसका प्राधान्य होने पर ध्वनि काव्य होता है यह हम कह चुके हैं। उस व्यङ्ग्य

लोचनम्

एवं यावद्ध्वनेरात्मीयं रूपं भेदोपभेदसहितं यच्च व्यञ्जकभेदमुखेन रूपं तत्सर्वं प्रतिपाद्य प्राणभूतं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावमेकप्रघट्टकेन शिष्यबुद्धौ विनिवेशयितुं व्यञ्जकवादस्थानं रचितमिति ध्वनिं प्रति यद्वक्तव्यं तदुक्तमेव। अधुना तु गुणीभूतोऽप्ययं व्यङ्ग्यः कविवाचः पवित्रयतीत्यमुना द्वारेण तस्यैवात्मत्वं समर्थयितुमाह– *प्रकार इति।* व्यङ्ग्येनान्वयो वाच्यस्योपस्कार इत्यर्थः। *प्रतिपादित इति।* 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यत्र। *उक्तमिति।*

इस प्रकार जितना ध्वनि का भेदोपभेदसहित स्वरूप है और जो व्यञ्जक के भेद के प्रकार से रूप है, उन सबका प्रतिपादन कर प्राणभूत व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव को एक प्रघट्टक द्वारा शिष्य की बुद्धि में बैठाने के लिये यह व्यञ्जकवाद का स्थान बनाया है। इस प्रकार ध्वनि के प्रति जो कहना चाहिये वह कह ही चुके। अब गुणीभूत भी यह व्यङ्ग्य कवियों की वाणी को पवित्र करता है इसलिये उसी व्यङ्ग्य के स्वरूप समर्थनार्थ कहते है– **प्रकार इति** जहाँ व्यङ्ग्य। व्यङ्ग्य का सम्बन्ध और वाच्य का उपस्कार। प्रतिपादन किया गया है। 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' (द्र. १.४) इस स्थल में।

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते। तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता।

यथा–

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

के गुणीभाव हो जाने से वाच्य अर्थ के चारुत्व की वृद्धि हो जाने पर गुणीभूत नाम का काव्य-भेद माना जाता है, उनमें (अविवक्षितवाच्य लक्षणामूल ध्वनि के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-प्रभेद में) तिरस्कृत वाच्य वाले शब्दों से प्रतीयमान वस्तुमात्र व्यङ्ग्य के कभी वाच्यरूप वाक्यार्थ की अपेक्षा गुणीभाव (अप्राधान्य) होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य होता है। जैसे लावण्येति (नदी के किनारे स्नानार्थ आई हुई किसी तरुणी को देख कर किसी रसिक की यह उक्ति है) इसमें युवती का स्वयं नदी रूप में वर्णन है। यहाँ यह नयी कौन सी लावण्यनदी आ गई है जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैरते हैं। जिसमें हाथी की गण्डस्थली उभर रही है और जहाँ कुछ और ही प्रकार के कदलीखण्ड तथा मृणालदण्ड दिखाई

लोचनम्

'यत्रार्थः शब्दो वा' इत्यत्रान्तरे व्यङ्ग्यं च वस्त्वादित्रयं तत्र वस्तुनो व्यङ्ग्यस्य ये भेदा उक्तास्तेषां क्रमेण गुणभावं दर्शयति–*तत्रेति। लावण्येति।* अभिलाषविस्मयगर्भेयं कस्यचित्तरुणस्योक्तिः।

अत्र सिन्धुशब्देन परिपूर्णता, उत्पलशब्देन कटाक्षच्छटाः, शशिशब्देन वदनं, द्विरदकुम्भतटीशब्देन स्तनयुगलं, कदलिकाण्डशब्देनोरुयुगलं,

कह चुके हैं। **'यत्रार्थः शब्दो वा'** द्र. १.१३ इसके प्रसङ्गमें वस्तु आदि तीन व्यङ्ग्य कहे गये हैं। उनमें वस्तु व्यङ्ग्य के जो भेद कहे गये हैं, उनका क्रम से गुणभाव दिखाते हैं– **तत्रेति। लावण्येति** यह किसी तरुण की अभिलाष और विस्मय से युक्त उक्ति हैं।

यहाँ नदी शब्द से परिपूर्णता, कमल शब्द से कटाक्षच्छटा, शशी शब्द से मुख, हाथी के कुम्भ के अग्रभाग शब्द से स्तनयुगल, कदलीखण्ड शब्द से ऊरुयुगल,

ध्वन्यालोकः

अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य कदाचिद्वाच्यप्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता, यथोदाहृतम्–'अनुरागवती सन्ध्या' इत्येवमादि।

देते हैं। कभी अतिरस्कृत वाच्य शब्दों से प्रतीयमान व्यङ्ग्य का काव्य के चारुत्व की अपेक्षा से वाच्य का प्राधान्य होने से गुणीभाव हो जाने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यता हो जाती है, जैसे 'अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि में, उसी व्यङ्ग्य वस्तु के स्वयं

लोचनम्

मृणालदण्डशब्देन दोर्युग्ममिति ध्वन्यते। तत्र चैषां स्वार्थस्य सर्वथानुपपत्तेरन्धशब्दोक्तेन न्यायेन तिरस्कृतवाच्यत्वम्। स च प्रतीयमानोऽप्यर्थविशेषः 'अपरैव हि केयं' इत्युक्तिगर्भीकृते वाच्येंऽशे चारुत्वच्छायां विधत्ते, वाच्यस्यैव स्वात्मोन्मज्जनया निमज्जित-व्यङ्ग्यजातस्य सुन्दरत्वेनारभासनात्। सुन्दरत्वं चास्यासम्भाव्य-मानसमागमसकललोकसारभूतकुवलयादिभाववर्गस्यातिसुभगैकाधिकरणवि-श्रान्तिलब्धसमुच्चयरूपतया विस्मयविभावनाप्राप्तिपुरस्कारेण व्यङ्ग्यार्थो-पस्कृतस्य तथा विचित्रस्यैव वाच्यरूपोन्मज्जनेनाभिलाषादिविभावत्वात्। अत एवेयति यद्यपि वाच्यस्य प्राधान्यं, तथापि रसध्वनौ तस्यापि गुणतेति सर्वस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य प्रकारे मन्तव्यम्। अत एव ध्वनेरेवात्मत्वमित्युक्तचरं बहुशः।

मृणालदण्ड शब्द से हस्तयुगल ध्वनि होते हैं और वहाँ इनके स्वार्थ के सर्वथा अनुपपन्न होने के कारण अन्धशब्दोक्तन्यायेन तिरस्कृत वाच्यत्व है। और वह प्रतीयमान व्यङ्ग्य भी **'अपरैव हि केयम्'** इस उक्ति से युक्त वाच्य अंश में चारुत्वच्छाया का विधान करता है क्योंकि, काव्य के स्वरूप के उन्मज्जित होने और व्यङ्ग्यसमूह के निमज्जित होने से सुन्दर रूप से प्रतीति होती है। इसका सुन्दरत्व इसलिये है कि जिनका-जिनका समागम सम्भाव्यमान नहीं है ऐसे सकललोक के सारभूत कुवलयादि भाववर्ग की अतिसुभग (नायिकारूप) एक अधिकरण में विश्रान्ति से समुच्चय रूप प्राप्त होने से विस्मय के विभावत्व की प्राप्तिपूर्वक व्यङ्ग्य अर्थ से उपस्कृत तथा विचित्र ही (वाच्य) वाच्यरूप के उन्मज्जन के कारण अभिलाष आदि का विभाव बन जाता है। इसलिये इतने में यद्यपि वाच्य का प्राधान्य है तथापि रसध्वनि में उसका भी गुणीभाव हो जाता है, इस प्रकार सभी गुणीभूत व्यङ्ग्य के प्रकार में मानना चाहिये। इसीलिए बहुत बार कह चुके हैं कि ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

ध्वन्यालोकः

तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाशीकृतत्वेन गुणीभावः, यथोदाहृतम्– 'सङ्केतकालमनसम्' इत्यादि। रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावो

अपने वचन द्वारा प्रकाशित कर देने से वाच्यसिद्धव्यङ्ग्य गुणीभाव होता है जैसे 'सङ्केत कालमनसम्' इत्यादि। रसादिरूप व्यङ्ग्य का गुणीभाव रसवदलङ्कार के

लोचनम्

अन्ये तु जलक्रीडावतीर्णतरुणीजनलावण्यद्रवसुन्दरीकृतनदीविषये-यमुक्तिरिति सहृदयाः, तत्रापि चोक्तप्रकारेणैव योजना। यदि वा नदीसन्निधौ स्नानावतीर्णयुवतिविषया। सर्वथा तावद्विस्मयमुखेनेयति व्यापाराद्गुणता-व्यङ्ग्यस्य। *उदाहृतमिति।* एतच्च प्रथमोद्द्योत एव निरूपितम्। अनुरागशब्दस्य चाभिलाषे तदुपरक्तत्वलक्षणया लावण्यशब्दवत्प्रवृत्ति-रित्यभिप्रायेणातिरस्कृतवाच्यत्वमुक्तम्। *तस्यैवेति।* वस्तुमात्रस्य। *रसादीति।* आदिशब्देन भावादयः रसवच्छब्देन प्रेयस्विप्रभृतयोऽलङ्कारा उपलक्षिताः।

नन्वत्यर्थं प्रधानभूतस्य रसादेः कथं गुणीभावः, गुणीभावे वा कथमचारुत्वं न स्यादित्याशङ्क्य प्रत्युत सुन्दरता भवतीति प्रसिद्धिदृष्टान्तमुखेन दर्शयति– तत्र चेति। रसवदाद्यलंकारविषये। एवं वस्तुनो रसादेश्च गुणीभावं प्रदर्श्यालङ्कारात्मनोऽपि तृतीयस्य व्यङ्ग्यप्रकारस्य तं दर्शयति–*व्यङ्ग्यालङ्कारस्येति।* उपमादेः॥३४॥

किन्तु अन्य सहृदय लोगों के अनुसार यह जलक्रीडा के लिये अवतीर्ण युवतियों के लावण्यद्रव से सुन्दरीकृत नदी के सम्बन्ध में उक्ति है और वहाँ पर भी उक्त प्रकार से योजना होगी। अथवा यह नदी में स्नानार्थ युवतियों के सम्बन्ध में उक्ति है। सब प्रकार से विस्मय के प्रकार से इतने में व्यापार होने से व्यङ्ग्य का गुणीभाव है। उदाहरण दे चुके हैं– इसे प्रथम उद्योत में ही निरूपण कर चुके हैं। अनुराग शब्द की अभिलाष अर्थ में उसके उपरक्तत्व में लक्षणा द्वारा लावण्य शब्द की भाँति प्रवृत्ति है, इसलिये अतिरस्कृत वाच्यत्व कहा है **तस्येवेति। वस्तुमात्रस्य।** उसी वस्तुमात्र का। **रसादीति** आदि शब्द से भाव आदि, रसवत् शब्द से प्रेयस्वी प्रभृति अलङ्कार उपलक्षित होते हैं।

अत्यन्त प्रधानभूत रस आदि का गुणीभाव कैसे होगा? या गुणीभाव होने पर अचारुत्व कैसे नहीं होगा?

इस आशङ्का पर कहते हैं– बल्कि उससे उसकी सुन्दरता ही होती है, इस बात को प्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा प्रदर्शित करते हैं– **तत्र चेति** वहाँ। रसवत् आदि अलङ्कारों के विषय में। इस प्रकार वस्तुरूप रसादि का गुणीभाव प्रदर्शित कर अलङ्कार रूप तीसरे व्यङ्ग्य प्रकार को दिखाते हैं– **व्यङ्ग्यालङ्कारस्येति** व्यङ्ग्य अलङ्कार के। उपमा आदि के॥३४॥

ध्वन्यालोकः

रसवदलङ्कारे दर्शितः; तत्र च तेषामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो विवहनप्रवृत्तभृत्यानुयायिराजवत्। व्यङ्ग्यालङ्कारस्य गुणीभावे दीपकादिविषयः।

तथा–

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ॥३५॥

प्रसङ्ग में दिखला चुके हैं। वहाँ रसवदलङ्कार में उन रसादि का आधिकारिक (मुख्य) वाक्य की अपेक्षा से विवाह में प्रवृत्त वररूप भृत्य के अनुयायी राजा के समान गुणीभाव होता है।

व्यङ्ग्य अलङ्कार के गुणीभाव का विषय दीपक आदि अलङ्कार है। वैसे ही **प्रसन्नेति।**

प्रसन्न (प्रसादगुणयुक्त) और गम्भीर (व्यङ्ग्य सम्बन्ध से अर्थगाम्भीर्ययुक्त) जो आनन्ददायक काव्य रचनायें हों, उनमें बुद्धिमान् कवि को इसी प्रकार का उपयोग करना चाहिये। ध्वनि संभव न होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य की योजना से भी कवि को कविपद की प्राप्ति होती है अन्यथा उसकी कविता उपहासास्पद ही होती है।

लोचनम्

एवं प्रकारत्रयस्यापि गुणभावं प्रदर्श्य बहुतरलक्ष्यव्यापकतास्येति दर्शयितुमाह–*तथेति।* प्रसन्नानि प्रसादगुणयोगाद्गभीराणि च व्यङ्ग्यार्थाक्षेपकत्वात्पदानि येषु। *सुखावहा इति* चारुत्वहेतुः। तत्रायमेव प्रकार इति भावः। *सुमेधसेति।* यस्त्वेतं प्रकारं तत्र योजयितुं न शक्तः स परमलीकसहृदयभावनामुकुलितलोचनोत्त्योपहसनीयः स्यादिति भावः।

इस प्रकार तीनों प्रकारों का भी गुणभाव दिखा कर उसकी बहुत लक्ष्यों में व्यापकता है, इसे दिखाने के लिये कहते हैं– **तथेति** उस प्रकार। प्रसादगुण के योग से प्रसन्न और व्यङ्ग्य अर्थ के आक्षेपक होने से गम्भीर पद है जिनमें। सुखावह अर्थात् चारुत्व के हेतु। भाव यह कि यहाँ भी यही प्रकार है। **सुमेधसेति** भाव यह कि जो इस प्रकार को वहाँ जोड़ने में समर्थ नहीं है वह 'अलीक सहृदय भावना से मुकुलित लोचनों वाला है' इस प्रकार के कथन से उपहासयोग्य है। **लक्ष्मीति।**

ध्वन्यालोकः

ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः। यथा–

लच्छी दुहिदा जामाउओ हरी तंस धरिणिआ गङ्गा ।
अमिअमिअङ्का अ सुआ अहो कुडुम्बं महोअहिणो ॥

और जो यह नाना प्रकार (अपरिमित स्वरूपा) की उस (अलौकिक व्यङ्ग्य के संस्पर्श) प्रकार के अर्थ से रमणीय प्रकाशमान रचनायें विद्वानों के लिये आनन्ददायक होती है, उन सभी काव्य रचनाओं में गुणीभूत व्यङ्ग्य नाम का यह प्रकार उपयोग में लाना चाहिये जैसे **लक्ष्मीति**

लक्ष्मी समुद्र की पुत्री है, विष्णु जामाता है, गङ्गा उसकी पत्नी है, अमृत और चन्द्रमा जैसे उसके पुत्र हैं। अहो! महोदधि का ऐसा उत्तम परिवार है। यह

लोचनम्

लक्ष्मीः सकलजनाभिलाषभूमिर्दुहिता। जामाता हरिः यः समस्तभोगापवर्गदानसततोद्यमी। तथा गृहिणी गङ्गा यस्याः समभिलषणीये सर्वस्मिन्वस्तुन्यपहत उपायभावः। अमृतमृगाङ्कौ च सुतौ, अमृतमिह वारुणी तेन गङ्गास्नानहरिचरणाराधनाद्युपायशतलब्धाया लक्ष्म्याश्चन्द्रोदयपानगोष्ठ्युपभोगलक्षणं मुख्यं फलमिति त्रैलोक्यसारभूतता प्रतीयमाना सती अहो कुटुम्बं महोदधेरित्यहोशब्दाच्च गुणीभावमनुभवत॥३५॥

एवं निरलङ्कारेषूत्तानतायां तुच्छतयैव भासमानममुनान्तःसारेण काव्यं पवित्रीकृतमित्युक्त्वालङ्कारस्याप्यनेनैव रम्यतरत्वमिति दर्शयति–*वाच्येति।*

समस्त लोगों के अभिलाष की भूमि लक्ष्मी पुत्री हैं, जामाता विष्णु जो समस्त भोग और अपवर्ग (मोक्ष) को देने के लिये सतत उद्यमशील रहते हैं, पत्नी गङ्गा जिनके समभिलषीय समस्त वस्तु में उपायभाव अपहत है और अमृत तथा चन्द्रा पुत्र हैं। 'अमृत' यहाँ वारुणी मदिरा है। इस अर्थ से गङ्गास्नान, हरिचरण के आराधन आदि सैकड़ों उपायों से लक्ष्मी का मुख्य फल चन्द्रोदय और पानगोष्ठी का उपभोग है। इस प्रकार (समुद्र की) त्रैलोक्य में सारभूतता प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) होती हुई वाह रे, महासमुद्र का परिवार। यहाँ इस वाह रे! शब्द से गुणीभाव को प्राप्त करती है॥३५॥

इस प्रकार निरलङ्कार (काव्यों) में आपाततः प्रतीति में तुच्छ रूप से भासमान काव्य इस अन्तःसार गुणीभूत व्यङ्ग्य द्वारा पवित्रित कर दिया गया है यह कह कर

३५ धन्या.

ध्वन्यालोकः

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥३६॥

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशस्यालङ्कारस्य वस्तुमात्रस्य वा यथायोगमनुगमे सति च्छायातिशयं बिभ्रल्लक्षणकारैरेकदेशेन दर्शितः। स तु तथारूपः प्रायेण सर्व एव परीक्ष्यमाणो लक्ष्ये निरीक्ष्यते।

प्रसिद्ध वाच्य अलङ्कारों का वर्ग व्यङ्ग्य अर्थ के संस्पर्श से काव्यों में प्रायः अत्यन्त शोभातिशय प्राप्त हुआ लक्षणकारो ने स्थालीपुलाकन्याय से एकदेशेन दिखलाया है (अर्थात् व्यङ्ग्य उपमादि अलङ्कार से संस्पर्श से दीपक तथा व्यङ्ग्य नायक-नायिका व्यवहारादि वस्तु के संस्पर्श से समासोक्ति आदि अलङ्कारों में शोभावृद्धि के जो कतिपय उदाहरण दिये है वह स्थालीपुलाकन्याय से ही दो तीन उदाहरण दे दिये हैं) परन्तु विशेष परीक्षा करने पर तो प्रायः सभी अलङ्कार उसी रूप में (व्यङ्ग्य के संस्पर्श से शोभातिशयप्राप्त) काव्यों में देखे जा सकते हैं।

जैसे दीपक और समासोक्ति (जिनके उदाहरण इस रूप में दिये जा चुके हैं) आदि के समान अन्य अलङ्कार भी प्रायः व्यङ्ग्य अन्य अलङ्कार अथवा वस्तु के संस्पर्श से युक्त दिखाई देते हैं, क्योंकि सबके पहले तो सभी अलङ्कार

लोचनम्

अंशत्वं गुणमात्रत्वम्। *एकदेशेनेति।* एकदेशविवर्तिरूपकमनेन दर्शितम्।

तदयमर्थः– एकदेशविवर्तिरूपके–

राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः

इत्यत्र हंसानां यच्चामरत्वं प्रतीयमानं तन्नृपा इति वाच्येऽर्थे गुणतां प्राप्तमलङ्कारकारैर्यावदेव दर्शितं तावदमुना द्वारेण सूचितोऽयं प्रकार इत्यर्थः। अन्ये त्वेकदेशेन वाच्यभागवैचित्र्यमात्रेणेत्यनुद्भिन्नमेव व्याचचक्षिरे। व्यङ्ग्यं

अलङ्कार का भी इसी से रम्यतरत्व होता है इसे दिखाते हैं– **वाच्येति** यह वाच्य। **अंशत्वम्** गुणमात्र। **एकदेशेनेति** एकदेश से। यहाँ एकदेश पद से एकदेशविवर्त्ति रूपक दिखाता है। जैसे **राजतहंसैरिति**

शरद् ने सरोवर रूपी राजाओं को हंस रूपी चामरों से पङ्ख झला। यहाँ जो हंसों का चामरत्व व्यङ्ग्य हो रहा है, वह राजा इस वाच्य अर्थ में गुणता को प्राप्त है, इस प्रकार आलङ्कारिकों ने जितना ही दिखाया है उसी प्रकार को इस ढंग से सूचित किया है। किन्तु अन्य लोगों ने एक देश से अर्थात् वाच्यभाग के वैचित्र्यमात्र से यह

ध्वन्यालोकः

तथा हि– दीपकसमासोक्त्यादिवदन्येऽप्यलङ्काराः प्रायेण व्यङ्ग्यालङ्कारान्तरवस्त्वन्तरसंस्पर्शिनो दृश्यन्ते। यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति, कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन

अतिशयोक्ति गर्भ हो सकते हैं। महाकवियों द्वारा विरचित वह (अन्य अलङ्कारों की अतिशयोक्तिगर्भता) काव्य की अनिर्वचनीय शोभा प्रदान करती ही है। अपने विषय के अनुसार उचित रूप में किया गया अतिशयोक्ति का सम्बन्ध काव्य

लोचनम्

यदलङ्कारान्तरं वस्त्वन्तरं च संस्पृशन्ति ये स्वात्मनः संस्कारायाश्लिष्यन्तीति ते तथा। *महाकविभिरिति।* कालिदासादिभिः। काव्यशोभां पुष्यतीति यदुक्तं तत्र हेतुमाह–*कथं हीति।* हिशब्दो हेतौ। अतिशययोगिता कथं नोत्कर्षमावहेत् काव्ये नास्त्येवासौ प्रकार इत्यर्थः। स्वविषये यदौचित्यं तेन चेद्धृदयस्थितेन तामतिशयोक्तिं कविः करोति। यथा भट्टेन्दुराजस्य–

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥

अत्र हि भगवतो मन्मथवपुषः सौभाग्यविषयः सम्भाव्यत

अस्पष्टार्थक व्याख्यान किया है। जो व्यङ्ग्य अलङ्कारान्तर और वस्त्वन्तर का स्पर्श करते हैं, अपने संस्कार के लिये आश्लेष करते हैं वे उस प्रकार। **महाकविभिरिति** महाकवियों द्वारा । कालिदास आदि द्वारा। काव्य की शोभा को बढ़ाती है यह जो कहा है उसमें हेतु कहते है– **कथं हीति**– यहाँ हि शब्द हेतु अर्थ में है। अतिशययोगिता कैसे नहीं उत्कर्ष लायेगी। काव्य में वह प्रकार नहीं ही है। अपने विषय में जो औचित्य है उस हृदयस्थित औचित्य से उस अतिशयोक्ति को कवि करता है। जैसे भट्ट इन्दुराज का– **यद्विश्रम्येति** जिन्हें बारम्बार देखते रहने पर भी आँखें देखने के लिये आतुर होती रहती हैं, शरीर के समस्त अवयव कटी हुई नलिनी (कमलिनी) के नाल की भाँति सूखते जा रहे हैं, बहुत क्या, जिनके देख लेने पर जिनका गण्डस्थल दूर्वाकाण्ड के सदृश घना पीला होता जा रहा है, युवक श्रीकृष्ण के प्रति तरुणी गोपियों की ऐसी वेष- रचना हो रही है।

यहाँ मन्मथ की भाँति शरीरवाले भगवान् का सौन्दर्यातिशय संभावित हो रहा

ध्वन्यालोकः

क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्। भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्–

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।।इति।

में उत्कर्ष क्यों नहीं लायेगा? (अर्थात् अवश्य लायेगा) भामह ने भी अतिशयोक्ति के लक्षण में जो कहा है– **सैषेति।**

जो अतिशयोक्ति पहले कही जा चुकी है वह सब अलङ्कारों की जननी है। यह सब वही वक्रोक्ति है, इसके द्वारा पुराना पदार्थ भी विलक्षणतया वर्णित किये जाने से चमक उठता है अतः कवियों को इसमें विशेष यत्न करना चाहिये। इसके बिना और अलङ्कार ही क्या हैं?

लोचनम्

एवायमतिशय इति तत्काव्ये लोकोत्तरैव शोभोल्लसति। अनौचित्येन तु शोभा लीयेत एव। यथा–

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा।
इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम् ।।इति।

नन्वतिशयोक्तिः सर्वालङ्कारेषु व्यङ्ग्यतयान्तर्लीनैवास्त इति यदुक्तं तत्कथम्? यतो भामहोऽतिशयोक्तिं सर्वालङ्कारसामान्यरूपामवादीत्। न च सामान्यं शब्दाद्विशेषप्रतीतेः पृथग्भूततया पश्चात्तनत्वेन चकास्तीति कथमस्य व्यङ्ग्यत्वमित्याशङ्क्याह–*भामहेनेति।* भामहेनापि यदुक्तं तत्रायमेवार्थोऽवगन्तव्य इति दूरेण सम्बन्धः। किं तदुक्तम्–*सैषेति।* यातिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलङ्कारप्रकारः सर्वः।

है इसलिये काव्य में लोकोत्तर ही शोभा उल्लसित हो रही है परन्तु अनौचित्य से काव्यशोभा समाप्त ही हो जाती है। जैसे– **अल्पमिति** विधाता ने इस प्रकार तेरे भावि स्तन की उत्तुङ्गता का ध्यान न रखकर आकाश को छोटा बना दिया।

अतिशयोक्ति सभी अलङ्कारों में व्यङ्ग्य से अन्तर्लीन रहती है जो यह कहा गया है वह कैसे? क्योंकि भामह ने अतिशयोक्ति को सामान्यालङ्कार स्वरूप ही कहा है। सामान्य शब्द से विशेष प्रतीति होने से पृथग्भूत होकर वह पश्चाद्भावी रूप से नहीं प्रतीत होता है अतः इसका व्यङ्गत्व कैसै है? इस आशङ्का पर कहते हैं– **भामहेनेति** भामह ने भी जो कहा है वहाँ यही अर्थ समझना चाहिये। यह दूरान्वयी है, क्या उन्होंने कहा है– **सैषेति** जो अतिशयोक्ति लक्षित की गई है वही वक्रोक्ति

ध्वन्यालोकः

तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरी-

उस कवि की प्रतिभावश अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार को प्रभावित करती है उसी को शोभातिशय प्राप्त होता है। अन्य तो चमत्कारातिशयरहित केवल अलङ्कार ही रह जाते हैं। इसी से सब अलङ्कारों का रूप धारण कर सकने की क्षमता के कारण अभेदोपचार से वही सर्वालङ्कार स्वरूप हैं यही अर्थ समझना चाहिये।

लोचनम्

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।

इति वचनात्। शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलङ्कारभावः; लोकोत्तरतैव चातिशयः, तेनातिशयोक्तिः सर्वालङ्कारसामान्यम्। तथा हि–अनया अतिशयोक्त्या, अर्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते। तथा प्रमदोद्यानादिः विभावतां नीयते। विशेषेण च भाव्यते रसमयीक्रियते, इति तावत्तेनोक्तं, तत्र कोऽसावर्थ इत्यत्राह–*अभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्कार-रूपेति।* उपचारे निमित्तमाह–*सर्वालङ्कारेति।* उपचारे प्रयोजनमाह–*अतिशयोक्तिरित्यादिना अलङ्कारमात्रतैवेत्यन्तेन।* मुख्यार्थबाधोऽप्यत्रैव दर्शितः *कविप्रतिभावशादित्यादिना।*

अलङ्कार का सब प्रकार हैं **वक्रेति** वक्रार्थाभिधेय और शब्द की उक्ति ही वाणी की अलङ्कृति मानी जाती है। इस वचन के प्रमाण से। शब्द की वक्रता और अभिधेय की वक्रता लोकोर्त्तीण रूप से अवस्थान यही अलङ्कार का अलङ्कारत्व है। और लोकोत्तरता ही अतिशय है, इस कारण अतिशयोक्ति सब अलङ्कार का सामान्य रूप है। जैसे कि– इस अतिशयोक्ति का बहुत लोगों द्वारा उपयोग करने से पुराना हुआ भी अर्थ विचित्र रूप से मालूम होने लगता है। जिस प्रकार उद्यान आदि पुराने होने पर भी विभावनावश नये-नये मालूम पड़ते हैं। वह विशेष रूप से विभाजित किया जाता है अर्थात् रसमय किया जाता है, ऐसा जो उन्होंने कहा है उसका अर्थ क्या है? इस प्रसङ्ग में कहते हैं– अभेदोपचार से वही सर्वालङ्कार स्वरूप है। उपचार में निमित्त कहते हैं– **सर्वालङ्कारेति।** उपचारे प्रयोजनमाह उपचार में प्रयोजन कहते हैं– अतिशयोक्ति। सर्वालङ्कार स्वरूपा **इत्यन्तेन ग्रन्थेन।** अर्थात् अतिशयोक्ति से लेकर अलङ्कारमात्र होते हैं यहाँ तक। **कविप्रतिभावशादिति** कवि की प्रतिभा के वश से– इत्यादि से मुख्यार्थ बाध भी यहीं दिखा दिया।

ध्वन्यालोकः

रस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्कारूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः। तस्याश्चालङ्कारान्तरसंकीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन कदाचिद्व्यङ्ग्यत्वेन। व्यङ्ग्यत्वमपि कदाचित्प्राधान्येन कदाचिद्गुणभावेन। तत्राद्ये पक्षे वाच्यालङ्कारमार्गः। द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः। तृतीये तु गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपता।

उस अतिशयोक्ति का अन्य अलङ्कारों के साथ सङ्कर कभी वाच्यत्वेन और कभी व्यङ्गत्वेन होता है। वह व्यङ्गत्व भी कभी प्रधान रूप से और कभी गौणरूप से होता है। उनमें से पहले वाच्यरूप पक्ष में वाच्यालङ्कार का मार्ग है दूसरे प्राधान्येन व्यङ्ग्य पक्ष में ध्वनि में अन्तर्भाव होता है और तीसरे व्यङ्ग्य के अप्राधान्य पक्ष में गुणीभूतव्यङ्गता होती है।

लोचनम्

अयं भावः– यदि तावदतिशयोक्तेः सर्वालङ्कारेषु सामान्यरूपता सा तर्हि तादात्म्यपर्यवसायिनीति तद्व्यतिरिक्तो नैवालङ्कारो दृश्यत इति कविप्रतिभानं न तत्रापेक्षणीयं स्यात्। अलङ्कारमात्रं च न किञ्चिद्दृश्येत। अथ सा काव्यजीवितत्वेनेत्थं विवक्षिता, तथाप्यनौचित्येनापि निबध्यमाना तथा स्यात्। औचित्यवती जीवितमिति चेत्–औचित्यनिबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा नान्यत्किञ्चिदस्तीति तदेवान्तर्यामि मुख्यं जीवितमित्यभ्युपगन्तव्यं न तु सा। एतेन यदाहुः केचित्– औचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमये काव्ये किमन्येनध्वनिनात्मभूतेनेति ते स्ववचनमेव ध्वनिसद्भावाभ्युपगमसाक्षिभूतं

भाव यह है यदि अतिशयोक्ति सभी अलङ्कारों में सामान्यरूप हैं और उसकी सामान्यरूपता तादात्म्य रूप में पर्यवसित होती है। अर्थात् सभी अलङ्कार अतिशयोक्ति स्वरूप है तब तो उसके अतिरिक्त अन्य कोई अलङ्कार नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में कवि की प्रतिभा की अपेक्षा नहीं रह जायगी। और कोई अतिशयोक्ति से अतिरिक्त अलङ्कार भी नहीं दिखाई देगा। यदि वह अतिशयोक्ति काव्य के जीवितत्त्व रूप से विवक्षित है ऐसी स्थिति में भी औचित्य से निबन्ध्यमान होकर वह उस प्रकार काव्य का जीवित हो सकती है। औचित्य वाली अतिशयोक्ति काव्य का जीवित है। यदि कहो तो औचित्य के निबन्धन रस, भाव आदि को छोड़कर कोई दूसरा नहीं है। इसलिये उसी के अन्तर्यामी होने से मुख्य जीवित है यह मानना चाहिये न कि वह औचित्य युक्त अतिशयोक्ति। इसलिये जो लोग कहते हैं कि औचित्यघटित सुन्दर शब्दार्थमय काव्य में अन्य किसी आत्मभूत ध्वनि से क्या होगा? वे अपने वचन को ही ध्वनि

ध्वन्यालोकः

अयं च प्रकारोऽन्येषामप्यलङ्काराणामस्ति, तेषां तु न सर्वविषयः। अतिशयोक्तेस्तु सर्वालङ्कारविषयोऽपि सम्भवतीत्ययं विशेषः। येषु चालङ्कारेषु सादृश्यमुखेन तत्त्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव

और यह अलङ्कारानुप्रवेश द्वारा तत्पोषणरूप प्रकार अन्य उपामादि अलङ्कारों में भी होता है। उनके तो सब अलङ्कार विषय नहीं होते। अतिशयोक्ति के तो सारे अलङ्कार विषय हो सकते हैं। इतना भेद हैं जिन अलङ्कारों में सादृश्य द्वारा अलङ्कार रूप तत्त्व की प्राप्ति होती है जैसे रूपकोपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि में। उनमें गम्यमान व्यङ्ग्य धर्म रूप से प्राप्त जो सादृश्य है,

लोचनम्

मन्यमानाः प्रत्युक्ताः। तस्मान्मुख्यार्थबाधादुपचारे च निमित्तप्रयोजनसद्भावादभेदोपचार एवायम्। ततश्चोपपन्नमतिशयोक्तेर्व्यङ्ग्यत्वमिति। यदुक्तमलङ्कारान्तरस्वीकरणं तदेव त्रिधा विभजते–*तस्याश्चेति। वाच्यत्वेनेति।* सापि वाच्या भवति। यथा–'अपरैव हि केयमत्र' इति। अत्र रूपकेऽप्यतिशयः शब्दस्पृगेव। अस्य त्रैविध्यस्य विषयविभागमाह–*तत्रेति।* तेषु प्रकारेषु मध्ये य आद्यः प्रकारस्तस्मिन्।

नन्वतिशयोक्तिरेव चेदेवम्भूता तत्किमपेक्षया प्रथमं तावदिति क्रमः सूचित इत्याशङ्क्याह– *अयं चेति।* योऽतिशयोक्तौ निरूपितोऽलङ्कारान्तरेऽप्यनुप्रवेशात्मकः। नन्वेवमपि प्रथममिति केनाशयेनोक्तमित्याशङ्क्याह–*तेषामिति।* एवमलङ्कारेषु तावद्व्यङ्ग्यस्पर्शोऽस्तीत्युक्त्या तत्र

के सद्भाव को स्वीकार का साक्षिभूत मानते हैं। उनका खण्डन हो गया। इसलिये मुख्यार्थ के बाध से और निमित्त रूप प्रयोजन के सद्भाव से यह अभेदोपचार ही है। इसलिये अतिशयोक्ति के व्यङ्ग्य होने की बात बन गई। जो कि अलङ्कारान्तर का स्वीकरण कहा है उसे ही तीन प्रकार से विभाग करते हैं– तस्याश्चेति और उसका अलङ्कान्तर से। **वाच्यत्वेनेति** वाच्यरूप से यह अतिशयोक्ति भी वाच्य होती है जैसे– अपैरव केयमत्र। यहाँ रूपक में भी अतिशय शब्द स्पर्श कर रहा है। अर्थात् वाच्य ही है इस त्रैविध्य का विषय विभाग कहते हैं– **तत्रेति** उनमें। इन प्रकारों के बीच में जो पहला प्रकार है उसमें।

जब अतिशयोक्ति इस प्रकार की है तो किस अपेक्षा से यह क्रम सूचित किया है इस आशङ्का पर कहते हैं– **अयं चेति** यह प्रकार। अतिशयोक्ति में अलङ्कारान्तर में अनुप्रवेश रूप जो निरूपण किया गया है फिर भी पहले यह किस आशय से कहा गया है? इस आशङ्का पर कहते हैं– **तेषामिति** उनका। इस प्रकार अलङ्कारों में व्यङ्ग्य

ध्वन्यालोकः

यत्सादृश्यं तदेव शोभातशियशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशयोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः। समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्वव्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवादैव। तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामलङ्काराणां केषाञ्चिदलङ्कारविशेषगर्भतायां नियमः। यथा व्याजस्तुतेः प्रेयोलङ्कारगर्भत्वे। केषाञ्चिदलङ्कारमात्रगर्भतायां नियमः। यथा सन्देहादीनामुपमागर्भत्वे। केषाञ्चिदलङ्काराणां परस्परगर्भतापि सम्भवति। यथा दीपकोपमयोः। तत्र दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम्।

वही शोभातिशययुक्त होता है इसलिये वे सभी चारुत्व के अतिशय से होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य के ही भेद होते हैं समासोक्ति, आक्षेप, पयार्योक्त आदि में तो व्यङ्ग्य अंश के अविनाभूत रूप अंश में ही तत्त्व (उन अलङ्कारों के स्वरूप) की प्रतिष्ठा होती है। अतः उनमें गुणीभूत व्यङ्ग्यता निर्विवाद ही है।

उस गुणीभूत व्यङ्ग्यता में किन्हीं अलङ्कारों का अलङ्कार विशेष गर्भित होने का नियम है जैसे– व्याजस्तुति में प्रेयोऽलङ्कारगर्भत्व के विषय में। किन्हीं अलङ्कारों में अलङ्कारमात्र गर्भित होने का नियम है जैसे सन्देहादि के उपमागर्भ होने में। उपमाशब्द यहाँ सादृश्यमूलक अलङ्कारों की किन्हीं अलङ्कारों में परस्पर गर्भता भी हो सकती है। जैसे दीपक और उपमा में। उनमें से उपमाग भी दीपक प्रसिद्ध

लोचनम्

किं व्यङ्ग्यत्वेन भातीति विभागं व्युत्पादयति–*येषु चेति*। रूपकादीनां पूर्वमेवोक्तं स्वरूपम्। निदर्शनायास्तु 'क्रिययैव तदर्थस्य विशिष्टयस्योपदर्शनम्। इष्टा निदर्शने'ति। उदाहरणम्–

अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन् नरान्॥

का स्पर्श है यह कह कर व्यङ्ग्यत्व से क्या होता है इसका व्युत्पादन करते हैं– **येषु चेति** और जिन अलङ्कारों में रूपक आदि का स्वरूप पहले ही कह चुके हैं। निदर्शना का लक्षण कहते हैं क्रिया के द्वारा ही उसके विशिष्ट अर्थ का उपदर्शन निदर्शना मानी जाती है। उदाहरण **अयमिति** इस मन्द प्रकाश वाले सूर्य का उदय पतन के लिये होता है। इस प्रकार श्रीसंपन्न लोगों को बोध कराता हुआ वह अब अस्ताचल की ओर जाना चाहता है।

ध्वन्यालोकः

उपमापि कदाचिद्दीपकच्छायानुयायिनी। यथा मालोपमा। तथा हि 'प्रभामहत्या शिखयेव दीपः' इत्यादौ स्फुटैव दीपकच्छाया लक्ष्यते।

तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गाः।

ही है, परन्तु कभी-कभी उपमा भी दीपक की छायानुयायिनी होती है। जैसे- मालोपमा में। 'प्रभा महत्या शिखयेव' दीप इत्यादि में दीपक की छाया स्पष्ट ही प्रतीत होती है।

इस प्रकार व्यङ्ग्य का संस्पर्श होने पर शोभातिशय को प्राप्त होने वाले रूपक आदि सभी अलङ्कार गुणीभूत व्यङ्ग्य के मार्ग है और गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व

लोचनम्

प्रेयोलङ्कारेति। चाटुपर्यवसायित्वात्तस्याः। सा चोदाहृतैव द्वितीयोद्द्योतेऽस्माभिः। उपमागर्भत्व इत्युपमाशब्देन सर्व एव तद्विशेषा रूपकादयः, अथवौपम्यं सर्वसामान्यमिति तेन सर्वमाक्षिप्तमेव। *स्फुटैवेति।* 'तया स पूतश्च विभूषितश्च' इत्येतेन दीपस्थानीयेन दीपनाद्दीपकमत्रानुप्रविष्टं प्रतीयमानतया, साधारणधर्माभिधानं ह्येतदुपमायां स्पष्टेनाभिधा-प्रकारेणैव। *तथाजातीयानामिति।* चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः। सुलक्षिता इति यत्किलैषां तद्विनिर्मुक्तं रूपं न तत्काव्येऽभ्यर्थनीयम्। उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवयः' इति। रूपकं 'खलेवाली यूप' इति। श्लेषः 'द्विर्वचनेऽची'ति तन्त्रात्मकः। यथासंख्यं 'तुदीशालातुरे'ति। दीपकं

प्रेयोऽलङ्कार- क्योंकि वह व्याजस्तुति चाटु में पर्यवसान प्राप्त करती है। और उसे हमने दूसरे उद्योत में उदाहृत किया ही है। 'उपमागर्भ' यहाँ उपमा शब्द से उसके सभी विशेष रूपक आदि अथवा औपम्य सब में सामान्य है इसलिये सब आक्षिप्त होता ही है। **स्पुटैवेति**- स्पष्ट ही **'तया स पूतश्च विभूषितश्च'** इस दीपस्थानीय से दीपन होने के कारण प्रतीयमान रूप से यहाँ दीपक अनुप्रविष्ट है। इस उपमा के साधारण धर्म का अभिधान स्पष्ट अभिधा प्रकार से ही है तथा **जातीयानामिति**- उस प्रकार की जाति वाले। अर्थात् अतिशय चारुत्व वाले। **सुलक्षितेति**- सुष्ठु प्रकार से लक्षित। जो कि इन उपमा आदि अलङ्कारों का उस गुणीभूतव्यङ्ग्यभाव से रहित रूप है वह काव्य में अभीष्ट नहीं है। क्योंकि उपमा-'यथा गौस्तथा गवयः' जैसा गौ वैसा गवय। रूपक खलेवाली यूपः। श्लेष- द्विर्वचनेऽचि तन्त्रात्मक है। यथासंख्य- तुदीशालातुरेति।

ध्वन्यालोकः

गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानुक्तानां सामान्यम्। तल्लक्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति। एकैकस्य स्वरूपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपादपाठेनेव शब्दा

उस प्रकार के व्यङ्ग्य संस्पर्श से चारुत्वोपयोगी कहे गये (दीपक, तुल्ययोगिता आदि) या न कहे हुये (सन्देह आदि) उन सभी अलङ्कारों में सामान्यरूप से रहता है। उस गुणीभूतव्यङ्ग्य का लक्षण हो जाने पर अथवा समझ लेने से ये सभी अलङ्करार सुलक्षित हो जाते हैं। सामान्य लक्षणरहित प्रत्येक अलङ्कार के अलग-अलग सरूप कथन से तो प्रतिपद पाठ से अनन्त शब्दों के ज्ञान के समान

लोचनम्

'गामश्वम्' इति। ससन्देहः 'स्थाणुर्वा स्यात्' इति। अपह्नुतिः 'नेदं रजतम्' इति। पर्यायोक्तं 'पीनो दिवा नात्ति' इति। तुल्ययोगिता 'स्थाध्वोरिच्च' इति। अप्रस्तुतप्रशंसा सर्वाणि ज्ञापकानि, यथा पदसंज्ञायामन्तवचनम्– 'अन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न' इति। आक्षेपश्चोभयत्र विभाषासु विकल्पात्मकविशेषाभिधित्सया इष्टस्यापि विधेः पूर्वं निषेधनात्प्रतिषेधेन समीकृत इति न्यायात्। अतिशयोक्तिः 'समुद्रः कुण्डिका' 'विन्ध्योवर्धितवानर्कवर्त्मागृहणात्' इति। एवमन्यत्।

न चैवमादि काव्योपगीति, गुणीभूतव्यङ्ग्यतैवात्रालङ्कारतायां मर्मभूता लक्षिताः तान् सुष्ठु लक्षयति। यया सुपूर्णं कृत्वा लक्षिताः सङ्गृहीता भवन्ति,

दीपक- गामश्वम्। ससन्देह स्थाणुर्वास्यात्। अपह्नुति– नेदं रजतम्। पर्यायोक्त– पीनो दिवा नात्ति। तुल्ययोगिता-स्थाध्वोरिच्च। अप्रस्तुतप्रशंसा– सभी ज्ञापन वचन जो 'सुप्तिङन्तं पदम्' इसमें अन्त शब्द से ज्ञापित होता है। अन्यत्र 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न' आक्षेप विभाषाओं वचनों में और विधि-निषेध दोनों जगह विकल्परूप अभिधान की इच्छा से दृष्ट भी विधि को निषेध से प्रतिषेध के समान बनाया हुआ। इस न्याय से। अतिशयोक्ति। कुण्डिका समुद्र है अथवा विन्ध्य ने बढ़कर सूर्य के मार्ग को अवरुद्ध कर लिया। इसी प्रकार दूसरे अलङ्कारों को भी समझ लेना चाहिये इत्यादि में चारुता से हीन होने के कारण काव्य नहीं कहा जा सकता। अलङ्कारता में मर्मभूत गुणीभूत व्यङ्ग्यता ही यहाँ लक्षित होकर उन्हें सुष्ठु प्रकार से लक्षित करती है। जिस गुणीभूत व्यङ्ग्य से सुपूर्ण करके लक्षित अर्थात् संगृहीत होते हैं, अन्यथा अवश्य

ध्वन्यालोकः

न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम्, आनन्त्यात्। अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः। गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च प्रकारान्तरेणापि व्यङ्ग्यार्थानुगमलक्षणेन विषयत्वमस्त्येव। तदयं

उन अलङ्कारों के अनन्त होने से पूर्णज्ञान नहीं हो सकता। कथन की अनन्त शैलियाँ है और वे ही अलङ्कार के प्रकार होते हैं।

और गुणीभूतव्यङ्ग्य का विषय (केवल एक अलङ्कार में दूसरे व्यङ्ग्य अलङ्कार के सम्बन्ध से ही नहीं, अपितु वस्तु अथवा रसादि रूप अन्य) व्यङ्ग्य अर्थ के सम्बन्ध से अन्य प्रकार से भी होता ही है। इसलिये अतिरमणीय महाकविविषयक यह दूसरा ध्वनिप्रवाह भी सहृदयों को समझ लेना चाहिये।

लोचनम्

अन्यथा त्ववश्यमव्याप्तिर्भवेत्। तदाह–*एकैकस्येति।* न चातिशयोक्तिवक्रोक्त्त्युपमादीनां सामान्यरूपत्वं चारुताहीनानामुपपद्यते, चारुता चैतदायत्तेत्येतदेव गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं सामान्यलक्षणम्। व्यङ्ग्यस्य च चारुत्वं रसाभिव्यक्तियोग्यतात्मकम्, रसस्य स्वात्मनैव विश्रान्तिधाम्न आनन्दात्मकत्वमिति नानवस्था काचिदिति तात्पर्यम्। *अनन्ता हीति।* प्रथमोद्द्योत एव व्याख्यातमेतत् 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इत्यत्रान्तरे।

ननु सर्वेष्वलङ्कारेषु नालङ्कारान्तरं व्यङ्ग्यं चकास्ति; तत्कथं गुणीभूतव्यङ्ग्येन लक्षितेन सर्वेषां संग्रहः। मैवम्; वस्तुमात्रं वा रसो वा व्यङ्ग्यं सद्गुणीभूतं भविष्यति तदेवाह–*गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य चेति। प्रकारान्तरेण* वस्तु रसात्मनोपलक्षितस्य।

अव्याप्ति हो जाती। इसी बात को कहते हैं– **एकैकस्येति**– प्रत्येक का। चारुताहीन अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति उपमा आदि का सामान्य रूप नहीं बन सकता। इतना अवश्य है कि चारुता इनके अधीन है यही गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व का सामान्य लक्षण है और व्यङ्ग्य का चारुत्व रसाभिव्यक्ति योग्यतारूप हैं इस स्वरूप से ही विश्रान्तिधाम है अतएव आनन्दात्मक है। इस प्रकार कोई अनवस्था भी नहीं है यह तात्पर्य है। **अनन्ता** इति क्योंकि अनन्त प्रथम उद्योत में ही 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इस प्रसङ्ग में इसका व्याख्यान कर दिया गया है।

प्रश्न : जब सब अलङ्कारों में अलङ्कारान्तर व्यङ्ग्य नहीं होता, तो गुणीभूत व्यङ्ग्य के लक्षित होने पर किस प्रकार सबका संग्रह होगा? **उत्तर** ऐसा नहीं, वस्तुमात्र अथवा रस व्यङ्ग्य होता हुआ गुणीभूत होगा, उसे कहते हैं– **गुणीभूत व्यङ्ग्यस्य चेति** गुणीभूत व्यङ्ग्य का– **प्रकारान्तरेण**– वस्तु और रसरूप प्रकारान्तर से उपलक्षित।

ध्वन्यालोकः

ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः। सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्। तददिं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्भावनीयम्।

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥३७॥

सहृदयों के हृदयों को मुग्ध करने वाले काव्य का ऐसा कोई भेद नहीं है जिससे व्यङ्ग्य अर्थ के सम्बन्ध से सौन्दर्य न आ जाता हो। इसलिये विद्वानों को यह समझ लेना चाहिये कि यह व्यङ्ग्य और केवल व्यङ्ग्यसंस्पर्श काव्य का परम रहस्य है।

मुख्या इति– अलङ्कार आदि से युक्त होने पर भी जैसे लज्जा ही कुलवधुओं का मुख्य अलङ्कार होती है उसी प्रकार उपमादि अलङ्कारों से भूषित

लोचनम्

यदि वेत्थमवतरणिका– ननु गुणीभूतव्यङ्ग्येनालङ्कारा यदि लक्षितास्तर्हि लक्षणं वक्तव्यं किमिति नोक्तमित्याशङ्क्याह–*गुणीभूतेति*। *विषयत्वमिति* लक्षणीयत्वमिति यावत्। केन लक्षणीयत्वं ध्वनिव्यतिरिक्तो यः प्रकारो व्यङ्ग्यत्वेनार्थानुगमो नाम तदेव लक्षणं तेनेत्यर्थः। व्यङ्ग्ये लक्षिते तद्गुणीभावे च निरूपिते किमन्यदस्य लक्षणं क्रियतामिति तात्पर्यम्। एवं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति निर्वाह्योपसंहरति–*तदयमित्यादिना सौभाग्यमित्यन्तेन*। यत्प्रागुक्तं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमिति तन्न प्रतारणमात्रमर्थवादरूपं मन्तव्यमिति दर्शयितुम्– *तदिदमिति*।३६॥

अथवा अवतरणिका इस प्रकार है– गुणीभूत व्यङ्ग्य से यदि अलङ्कार लक्षित हो गये तब तो उसका लक्षण कहना चाहिये, फिर क्यों नहीं कहा, इस आशङ्का पर कहते हैं– **गुणीभूतेति विषयत्वमिति** लक्षणीय। किससे लक्षणीय होगा? व्यङ्ग्यरूप से अर्थानुगम नाम का ध्वनिव्यतिरिक्त जो प्रकार है उससे। व्यङ्ग्य के लक्षित होने पर और उसके गुणीभाव के निरूपण किये जाने पर दूसरा लक्षण क्या किया जाय, यह तात्पर्य है। इस प्रकार 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' निर्वाह करके उपसंहार करते हैं– **तदयमिति** इत्यादि से लेकर सौभाग्य तक ग्रन्थ से जो पहले कहा है कि समस्त कवियों के काव्य का उपनिषद्भूत है वह प्रतारण मात्र नहीं हैं, बल्कि अर्थवादरूप मानना चाहिये। यह दिखाने के लिये– **तदिदमिति**।

ध्वन्यालोकः

अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि कामनीयकमानीयते।

तद्यथा–

विश्रम्भोत्था मन्मथाज्ञाविधाने ये मुग्धाक्ष्याः केऽपि लीलाविशेषाः।
अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः॥

होने पर भी इस व्यङ्ग्यार्थ की छाया (शोभा कान्ति) महाकवियों की वाणी का मुख्य अलङ्कार है। इस प्रतीयमान की छाया या व्यङ्ग्य के संस्पर्श से सुप्रसिद्ध (बहुवर्णित अथवा पुराना) अर्थ में भी कुछ अनिर्वचनीय सौन्दर्य आ जाता है। जैसे **विस्रम्भेति**-अनुल्लङ्घ्य शासन कामदेव की आज्ञापालन में तत्पर मुग्धाक्षी (वामलोचना सुन्दरी) के विश्वास (परिचय मदनोद्रेकजन्यतया साध्वस आदि ध्वंश)

लोचनम्

मुख्या भूषेति। अलङ्कृतिमृतामपिशब्दादलङ्कारशून्यानामपीत्यर्थः। प्रतीयमानकृता छाया शोभा सा च लज्जासदृशी गोपनासारसौन्दर्यप्राणत्वात्। अलङ्कारधारिणीनामपि नायिकानां लज्जा मुख्यं भूषणम्। प्रतीयमाना च्छाया अन्तर्मदनोद्भेदजहृदयसौन्दर्यरूपा यया, लज्जा ह्यन्तरुद्भिन्नमामान्मथविकारजुगोपयिषारूपा मदनविजृम्भैव। वीतरागाणां यतीनां कौपीनामसारणेऽपि त्रपाकलङ्कादर्शनात्। तथा हि कस्यापि कवेः–'कुरङ्गीवाङ्गानि' इत्यादिश्लोकः। तथा प्रतीयमानस्य प्रियतमाभिलाषानुनाथनमानप्रभृतेः छाया कान्तिः यया। शृङ्गाररसतरङ्गिणी हि लज्जावरुद्धा निर्भरतया तांस्तान् विलासान्नेत्रगात्रविकारपरम्परारूपान् प्रसूत इति गोपनासारसौन्दर्यलज्जाविजृम्भितमेतदिति भावः।

मुख्या भूषेति– 'अलङ्कार युक्त भी' शब्द से 'अलङ्कारशून्य भी' वह अर्थ है। प्रतीयमान कृत छाया (शोभा), वह लज्जा के समान है, क्योंकि गोपना का सार सौन्दर्य का प्राण है। अलङ्कार धारण करने वाली भी नायिकाओं की लज्जा मुख्य भूषण है। अन्तर्मदन के उद्भेद से उत्पन्न सौन्दर्यरूप छाया प्रतीयमान हो जिससे, क्योंकि लज्जा भीतर उद्भिन्न मान्मथविकार की गोपनेच्छारूप मदन विजृम्भा ही है। क्योंकि वीतराग यतियों के कौपीन हटा देने पर भी त्रपा का कलङ्क नहीं दिखाई पड़ता। जैसा कि किसी कवि का 'कुरङ्गी-वाङ्गानि' इत्यादि श्लोक। उस प्रकार प्रतीयमान प्रियतम के अभिलाष, अनुनाथन प्रभृति की छाया अर्थात् कान्ति है जिससे। भाव यह कि शृङ्गार रस की तरङ्गिणी लज्जा से अवरुद्ध होकर नेत्र और गात्र के विकार परम्परारूप उन-उन विलासों को उत्पन्न करती है, इस प्रकार यह गोपनरूप द्वार वाले सौन्दर्यशाली लज्जा का विजृम्भित है।

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र केऽपीत्यनेन पदेन वाच्यमस्पष्टमभिदधता प्रतीयमानं वस्त्वक्लिष्टमनन्तमर्पयता का छाया नोपपादिता।

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥३८॥

से उत्पन्न और केवल चित्त से भी अक्षुण्ण प्रतिक्षण नवीन जो कोई नवीन हाव-भाव होते हैं वह एकान्त में बैठकर (तन्मय हो कर) चिन्तन करने योग्य होते है।

इस उदाहरण में वाच्य अर्थ को स्पष्ट रूप से न कहने वाले 'केऽपि' इस पद ने अनन्त और अक्लिष्ट व्यङ्ग्य का बोधन कराते हुये कौन सा सौन्दर्य नहीं उत्पन्न कर दिया है॥३८॥

अर्थान्तरेति-काकु द्वारा जो यह प्रसिद्ध अर्थान्तर (भिन्न अर्थ अथवा उसी अर्थ का वैशिष्ट्य अथवा उसका अभाव रूप अन्य अर्थ) की प्रतीति दिखलाई देती है। वह व्यङ्ग्य के गौण होने से इसी गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद के अन्तर्गत होती है।

लोचनम्

_विश्रम्भेति।_ मन्मथाचार्येण त्रिभुवनवन्द्यमानशासनेन अत एव लज्जासाध्वसध्वंसिना दत्ता येयमलङ्घनीयाज्ञा तदनुष्ठानेऽवश्यकर्तव्ये सति साध्वसलज्जात्यागेन विस्रम्भसम्भोगकालोपनताः, _मुग्धाक्ष्या_ इति अकृतकसम्भोगपरिभावनोचितदृष्टिप्रसरपवित्रिता येऽन्ये विलासा गात्रनेत्रविकाराः, अत एवाक्षुण्णाः नवनवरूपतया प्रतिक्षणमुन्मिषन्तस्ते, केवलेनान्यत्राव्यग्रेणैकान्तावस्थानपूर्वं सर्वेन्द्रियोपसंहारेण भावयितुं शक्या अर्हा उचिताः। यतः केऽपि नान्येनोपायेन शक्यनिरूपणाः॥३७॥

विश्रम्भेति– त्रिभुवन द्वारा वन्द्यमान शासन वाले अतएव लज्जा और साध्वस (भयसंकोच) को ध्वंस कर देने वाले मन्मथाचार्य की दी हुई जो यह अलङ्घनीय आज्ञा है, उसके अनुष्ठान अर्थात् अवश्य कर्त्तव्य की अवस्था में साध्वस और लज्जा के त्याग से विश्रम्भ संभोग के अवसर में प्राप्त मुग्धाक्षी के अकृत्रिम संभोग के परिभावन से उचित दृष्टि-प्रसार से पवित्रित जो अन्य गात्र और नेत्र के विकार रूप विलास हैं, अतएव अक्षुण्ण नव-नव रूप से प्रतिक्षण उन्मिषित हो रहे हैं, उन्हें केवल अर्थात् अन्यत्र व्यग्रतारहित एकान्त में अवस्थानपूर्वक समस्त इन्द्रियों का उपसंहार कर भावना करने की योग्यता उचित है, वे कुछ अपूर्व है अतः अन्य उपाय से निरूपण नहीं किये जा सकते॥३७॥

ध्वन्यालोकः

या चैषा काक्वा क्वचिदर्थान्तरप्रतीतिर्दृश्यते सा व्यङ्ग्यस्यार्थस्य गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते। यथा– 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः'।

और कहीं काकु से यह (प्रसिद्ध) अन्य (वाक्य अर्थ से भिन्न (१) अर्थान्तर अथवा उसी वाच्य अर्थ का। २. अर्थान्तरसंक्रमित विशेष अथवा ३ तदभावरूप त्रिविध) अर्थ की प्रतीति देखी जाती है, वह व्यङ्ग्य अर्थ के गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक काव्यभेद के अन्तर्गत होती है। जैसे 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' मुझ भीमसेन के जीवित रहते धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ रहें। अथवा जैसे– आम्–

लोचनम्

गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणान्तरमाह–*अर्थान्तरेति।* 'कक लौल्ये' इत्यस्य धातोः काकुशब्दः। तत्र हि साकाङ्क्षनिराकाराकाङ्क्षादिक्रमेण पठ्यमानोऽसौ शब्दः प्रकृतार्थातिरिक्तमपि वाञ्छतीति लौल्यमस्याभिधीयते। यदि वा ईषदर्थे कुशब्दस्तस्य कादेशः। तेन हृदयस्थवस्तुप्रतीतेरीषद्भूमिः काकुः तया याऽर्थान्तरगतिः स काव्यविशेष इमं गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारमाश्रितः। अत्र हेतुर्व्यङ्ग्यस्य तत्र गुणीभाव एव भवति। अर्थान्तरगतिशब्देनात्र काव्यमेवोच्यते। न तु प्रतीतेरत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं वक्तव्यं, प्रतीतिद्वारेण वा काव्यस्य निरूपितम्।

अन्ये त्वाहुः– व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽयं प्रकारः अन्यथा तु तत्रापि ध्वनित्वमेवेति। तच्चासत्; काकुप्रयोगे सर्वत्र शब्दस्पृष्टत्वेन

गुणीभूत व्यङ्ग्य का एक उदाहरण कहते हैं– **'अर्थान्तरगतिः काक्वा'** कक लौल्ये धातु से काकु शब्द निष्पन्न होता है, वहाँ साकाङ्क्ष और निराकाङ्क्ष आदि क्रम से पढ़ा गया वह शब्द प्रकृत अर्थ से अतिरिक्त की भी इच्छा करता है, यह इसका लौल्य प्रकट करता है। अथवा काकु में कुशब्द ईषदर्थ है जिसे 'का' आदेश हो गया है। दूसरा शब्द भूमिवाचक है इसलिये हृदयस्थ वस्तु की प्रतीति की ईषद् भूमि काकु है। उससे जो अर्थान्तर की प्रतीति है वह काव्यविशेष इस गुणीभूत व्यङ्ग्य के प्रकार का आश्रयण करता है, यहाँ हेतु उसमें व्यङ्ग्य का गुणीभाव होना ही है। अर्थान्तरगति शब्द से यहाँ काव्य ही कहा गया है, प्रतीति को गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं कहना चाहिये। अथवा प्रतीति के द्वारा काव्य का गुणीभूत व्यङ्ग्य निरूपण किया गया है।

किन्तु अन्य लोग कहते हैं– व्यङ्ग्य के गुणीभाव होने का यह प्रकार है, अन्यथा वहाँ पर भी ध्वनित्व ही है। वह ठीक नहीं; क्योंकि काकु के प्रयोग में सभी जगह

ध्वन्यालोकः

यथा वा–

आम असइओं ओरम पइव्वए ण तुएँ मलिणिअं सीलम्।
किं उण जणस्स जाअ व्व चन्दिलं तं ण कामेमो ॥

शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तकाकुसहाया सत्यर्थ-

अच्छा यह ठीक है कि हम असती हैं, पतिव्रता महारानी पर आप चुप रहिये आप ने तो अपना चरित्र भ्रष्ट नहीं किया हम क्या साधारण जन की स्त्रियों के समान उस नाई की कामना न करें?

काकु के उदाहरणों में शब्द की अभिधाशक्ति ही अपने वाच्यार्थ की सामर्थ्य

लोचनम्

व्यङ्ग्यस्योन्मीलितस्यापि गुणीभावात्, काकुर्हि, शब्दस्यैव कश्चिद्धर्मस्तेन स्पृष्टं 'गोप्यैवं गदितः सलेशम्' इति, 'हसन्नेत्रार्पिताकूतम्' इतिवच्छब्देनेवानुगृहीतम्। अत एव 'भम धम्मिअ' इत्यादौ काकुयोजने गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव व्यक्तोक्तत्वेन तदाभिमानाल्लोकस्य। स्वस्था इति, भवन्ति इति, मयि जीवति इति, धार्तराष्ट्रा इति च साकाङ्क्षदीप्त-गद्गदतारप्रशमनोद्दीपनचित्रिता काकुरसम्भाव्योऽयमर्थोऽत्यर्थमनुचितश्चेत्यमुं व्यङ्ग्यमर्थं स्पृशन्ती तेनैवोपकृता सती क्रोधानुभावरूपतां व्यङ्ग्योपस्कृतस्य वाच्यस्यैवाधत्ते। *आमेति।*

आम् असत्यः उपरम पतिव्रते न त्वया मलिनितं शीलम् ।
किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तं न कामयामहे ॥

शब्द स्पष्ट होने के कारण उन्मीलित भी व्यङ्ग्य का गुणीभाव हो जाता है। काकु शब्द का ही कोई धर्म है, उससे स्पष्ट 'गोप्यैवं गदितः सलेशं' और 'हसन्नेवार्पिताकूतम्' की भाँति शब्द से ही अनुगृहीत होता है। इसलिये 'भ्रम धार्मिक इत्यादि में काकु की योजना करने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व ही व्यक्त होगा, तब उक्त रूप से लोग समझेंगे। 'स्वस्थ हो जाँय मेरे जीते जी धार्त्तराष्ट्र' इस साकाङ्क्ष, दीप्त, गद्गद् तार, प्रशमन और उद्दीपन से चित्रित काकु 'यह अर्थ असंभाव्य है और अत्यन्त अनुचित है' इस व्यङ्ग्य अर्थ का स्पर्श करती हुई उसी के द्वारा उपकृत होती हुई व्यङ्ग्य से उपस्कृत वाच्य को ही क्रोध के अनुभावरूपता का आधान करती है। **आमिति** हाँ, हम तो– हाँ हम तो असती (वदमाश) औरतें है। यह अभ्युपगम काकु आकाङ्क्षा और उपहास के सहित है। उपरम– 'रुक जा' यह निराकाङ्क्ष होने के कारण सूचनगर्भ काकु है।

ध्वन्यालोकः

विशेषप्रतिपत्तिहेतुर्न काकुमात्रम्। विषयान्तरे स्वेच्छाकृतात्काकुमात्रात्तथाविधार्थप्रतिपत्त्यसम्भवात्। स चार्थः काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपारूढोऽप्यर्थसामर्थ्यलभ्य इति व्यङ्ग्यरूप एव। वाचकत्वा-

से आक्षिप्त काकु की सहायता से अर्थविशेष (व्यङ्ग्य) को प्रतीति का कारण होती है, अकेली काकु मात्र नहीं। क्योंकि अन्य स्थलों में स्वेच्छाकृत काकुमात्र से उस प्रकार के अर्थ की प्रतीति असम्भव है। और वह (काकु से आक्षिप्त) अर्थ काकुविशेष की सहायता से शब्दव्यापार (अभिधा) में उपारूढ होने पर भी

लोचनम्

इति च्छाया।

आम् असत्यो भवामः इत्यभ्युपगमकाकुः साकाङ्क्षोपहासा। उपरमेति निराकाङ्क्षतया सूचनगर्भा। पतिव्रते इति दीप्तस्मितयोगिनी। न त्वया मलिनितं शीलमिति सगद्गदाकाङ्क्षा। किं पुनर्जनस्य जायेव मन्मथान्धीकृता, चन्दिलं नापितमिति पामरप्रकृतिं न कामयामहे इति निराकाङ्क्षगद्गदोपहासगर्भा। एषा हि कयाचिन्नापितानुरक्तया कुलवध्वा दृष्टाविनयाया उपहास्यमानायाः प्रत्युपहासावेशगर्भोक्तिः काकुप्रधानैवेति। गुणीभावं दर्शयितुं शब्दस्पृष्टतां तावत्साधयति–*शब्दशक्तिरेवेत्यादिना।* नन्वेवं व्यङ्ग्यत्वं कथमित्याशङ्क्याह–*स चेति।* अधुना गुणीभावं दर्शयति–*वाचकत्वेति।* वाचकत्वेऽनुगमो गुणत्वं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य

'अरी पतिव्रता'। यह दीप्त स्मित से युक्त है, 'तू ने आबरू को मैला नहीं किया' यह गद्गद भाव और आकाङ्क्षा से युक्त है, और फिर किसी सामान्य जन की पत्नी की तरह चन्दिल अर्थात् नाई को हम नहीं चाहती यह निराकाङ्क्ष गद्गद भाव और उपहास से युक्त है।

किसी नापित से फँसी हुई कुलवधू के द्वारा किये गये अविनय (उसका दुराचार पुंश्चलीपन) को देखने वाली, उसका उपहास करती हुई किसी नायिका की यह प्रत्युपहास के आवेश से गर्भित उक्ति है जो काकुपूर्ण है।

विचारणीय यहाँ नापितानुरक्तया इस तृतीयान्त पद का अन्वय नहीं बैठता।

नोट : यहाँ 'नापितानुरक्तया' इस तृतीयान्त का अन्वय ठीक नहीं बैठता। हमारे मत से इसे भी अन्य पदों की तरह 'नापितानुक्तायाः' यह षष्ठ्यन्त पद होना चाहिये। तब इसका अर्थ इस प्रकार का होगा। नापित से फँसी हुई किसी कुलवधू के प्रति किसी नायिका की यह प्रत्युपहास के आवेश से गर्भित उक्ति है जिसका अविनय (धृष्टता पुंश्चलीत्व) देखा गया है और जो एक के द्वारा उपहास्यमान है।

ध्वन्यालोकः

नुगमेनैव तु यदा तद्विशिष्टावाच्यप्रतीतिस्तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यतया तथाविधार्थद्योतिनः काव्यस्य व्यपदेशः। व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिनो हि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्।

प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ॥३९॥

अर्थ की सामर्थ्य से लभ्य होने से व्यङ्ग्य रूप ही होता है। उस आक्षिप्त अर्थ से विशिष्ट वाच्यार्थ की प्रतीति जब वाचकत्व (अभिधा) की अनुगामिनी गुणीभूत रूप में होती है तब उस अर्थ के प्रकाशक काव्य में गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व रूप से व्यवहार होता है। व्यङ्ग्य विशिष्ट वाच्य का कथन करने वाले (काव्य) का गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व होता है।

प्रभेदेति– और जो काव्य तर्क (युक्ति) से इस (गुणीभूत व्यङ्ग्य) भेद का विषय प्रतीत होता है, सहृदयों को उसमें ध्वनि की योजना नहीं करनी चाहिये।

लोचनम्

व्यङ्ग्यविशिष्टावाच्यप्रतीत्या तत्रैव काव्यस्य प्रकाशकत्वं कल्प्यते; तेन च तथा व्यपदेश इति काकुयोजनायां सर्वत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव। अत एव 'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्' इत्यादौ विपरीतलक्षणां य आहुस्ते न सम्यक्परामृशु;। यतोऽत्रोच्चारणकाल एव 'न कोपात्' इति दीप्ततारगद्गदसाकाङ्क्षकाकुबलान्निषेधस्य निषिध्यमानतयैव युधिष्ठिराभिमतसन्धिमार्गाक्षमारूपत्वाभिप्रायेण प्रतिपत्तिरिति मुख्यार्थबाधाद्यनुसरणविघ्नाभावात्को लक्षणाया अवकाशः। 'दर्शे यजेत्' इत्यत्र तु

गुणीभाव को दिखाने के लिये शब्द के स्वशक्ति को सिद्ध कर रहे हैं– **शब्दशक्तिरिवेत्यादि**, प्रश्न करते हैं कि तो इस प्रकार उसका व्यङ्ग्यत्व कैसे होगा? इस पर कहते हैं– **सचेति** वह अर्थ। अब गुणीभाव को दिखाते हैं– **मान्तु** जब **वाचकत्वेति** वाचकत्व में अनुगम अर्थात् व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव का गुणत्व है, व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य की प्रतीति से वहीं पर काव्य का प्रकाशकत्व माना जाता है, और इसलिये उस प्रकार व्यपदेश होता है, इस प्रकार काकु की योजनायें सर्वत्र गुणीभूत व्यङ्गता ही है। अतएव 'मध्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्' इत्यादि में जिन्होंने विपरीत लक्षणा कही है उन्होंने सम्यक् परामर्श नहीं किया है, क्योंकि यहाँ उच्चारणकाल में ही 'न कोपात्' इस दीप्त तार गद्गद और साकाङ्क्ष काकु के बल से निषेध का निषिद्धमान रूप से ही युधिष्ठिर के अभिमत सन्धिमार्ग के अक्षम्यत्व के अभिप्राय से

ध्वन्यालोकः

सङ्कीर्णो हि कश्चिद्ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः। तत्र यस्य युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः। न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्। यथा–

ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य के संकर का भी कोई मार्ग उदाहरणों में दिखलाई देता है। उनमें जो पक्ष तर्क से समर्पित होता है उसी के अनुसार नामकरण (व्यवहार) करना चाहिये। सब जगह ध्वनि का अनुरागी नहीं होना चाहिये (बिना युक्ति के ध्वनि के अनुराग में गुणीभूतव्यङ्ग्य को भी ध्वनि नहीं कहने लगना चाहिये).. **पत्युरिति।**

लोचनम्

तथाविधकाक्वाद्युपायान्तराभावाद्भवत् विपरीतलक्षणा इत्यलमवान्तरेण बहुना॥३८॥

अधुना संकीर्ण विषयं विभजते–*प्रभेदस्येति। युक्त्येति।* चारुत्वप्रतीतिरेवात्र युक्तिः। *पत्युरिति। अनेनेति।* अलक्तकोपरक्तस्य हि चन्द्रमसः परभागलाभोऽनवरतपादपतनप्रसादनैर्विना न पत्युर्झटिति यथेष्टानुवर्तिन्या भाव्यमिति चोपदेशः। शिरोधृता या चन्द्रकला तामपि परिभवेति सपत्नीलोकापजय उक्तः।

***निर्वचनमिति।* अनेन लज्जावहित्थहर्षेर्ष्यासाध्वससौभाग्याभिमानप्रभृति यद्यपि ध्वन्यते, तथापि तन्निर्वचनशब्दार्थस्य कुमारीजनोचित-**

प्रतीति हो जाती है, इस प्रकार मुख्यार्थबाध आदि के अनुसरण का विघ्न न होने के कारण लक्षणा का अवकाश कहाँ? परन्तु 'दर्शे यजेत' (अमावस्या में याग करे) इस स्थल में उस प्रकार के काकु आदि उपामान्तर के न होने से विपरीत लक्षणा हो सकती है। अतः बहुत अवान्तर की चर्चा व्यर्थ है॥३८॥

अब संकीर्ण विषय का विभाग करते हैं– **प्रभेदस्येति**– और उस प्रभेद का **युक्त्येति**-युक्ति से। यहाँ चारुत्वप्रतीति ही युक्ति है। **पत्युरिति**-पति के। **अनेनेति** इससे। लाक्षा से रँगे हुये चन्द्रमा को दूसरे भाग का लाभ करना अर्थात् निरन्तर पैरों पर गिरकर प्रसादन के बिना झट से पति की इच्छा के अनुकूल मत चलना, यह उपदेश है। सिर पर रखी हुई जो चन्द्रकला है उसे भी परिभूत करो, इस प्रकार सपत्नी जन का पराभव कहा है। **निर्वचनमिति**– बिना कुछ कहे। इससे यद्यपि लज्जा, अवहित्था, हर्ष,

ध्वन्यालोकः

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥

यथा च–

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम्॥

यह कुमारसंभव के १७वे सर्ग का १९वाँ श्लोक है। सखी ने पार्वती के चरणों को लाक्षाराग से रञ्जित कर यह आशीर्वाद दिया कि इस चरण से सुरत के किसी विशेषबन्ध में अथवा सपत्नी होने की स्थिति में पति शिव के शिर पर स्थित चन्द्रकला का स्पर्श करना। इस प्रकार परिहासपूर्वक आशीर्वाद प्राप्त पार्वती ने बिना कुछ कहे माला से उस सखी को मारा

और जैसे **प्रयच्छतेति।**

यह किरात के अष्टम सर्ग के अर्जुन के तपोभङ्ग के लिये आई हुई अप्सराओं के वर्णन-प्रसङ्ग में किसी अप्सरा के वर्णन का श्लोक है।

ऊँचे उस अप्सरा की पहुँच से अधिक ऊँचाई पर लगे हुये अथवा उत्कृष्ट फूलों को तोड़ कर देने के लिये प्रिय द्वारा किसी अन्य सपत्नी के नाम को सम्बोधित किये जाने पर मानिनी अप्सरा ने कुछ कहा नहीं, केवल आँखों में आँसू भर कर पैर से जमीन को कुरेदती रही।

लोचनम्

स्याप्रतिपत्तिलक्षणस्यार्थस्योपस्कारकतां केवलमाचरति। उपस्कृतस्त्वर्थः शृङ्गाराङ्गतामेतीति।

प्रयच्छतेति। उच्चैरिति। उच्चैर्यानि कुसुमानि कान्तया स्वयं ग्रहीतुमशक्यत्वाद्याचितानीत्यर्थः अस्मदुपाध्यायास्तु हृद्यतमानि पुष्पाणि अमुके, गृहाण गृहाणेत्युच्चैस्तारस्वरेणादरातिशयार्थं प्रयच्छता। अत एव

ईर्ष्या, साध्वस, सौभाग्यातशिय ध्वनित होते हैं तथापि वे कुमारीजन के उचित बिना कुछ कहे अप्रतिपत्तिरूप अर्थ के उपस्कारक हो जाते हैं, और उपस्कृत अर्थ शृङ्गार का अङ्ग बन जाता है।

प्रयच्छतेति। उच्चैरिति– फूलों के ऊँची डाल पर होने से प्रियतमा ने स्वयं ग्रहण करने में असमर्थ होकर याचना की। परन्तु हमारे उपाध्याय कहते हैं कि अरी अमुके। इन अच्छे- अच्छे फूलों को ले, ले, इस प्रकार ऊँचे तार स्वर से अतिशय

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र 'निर्वचनं जघान' 'न किञ्चिदूचे' इति प्रतिषेधमुखेन व्यङ्ग्यस्यार्थस्योक्त्या किञ्चिद्विषयीकृतत्वाद् गुणीभाव एव शोभते। यदा वक्रोक्तिं विना व्यङ्ग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते तदा तस्य प्राधान्यम्। यथा 'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादौ। इह पुनरुक्तिर्भङ्ग्यास्तीति वाच्यस्यापि प्राधान्यम्। तस्मान्नात्रानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यपदेशो विधेयः।

यहाँ इन दोनों श्लोकों में क्रमशः 'निर्वचनं जघान' बिना कुछ कहे फूल की माला से मारा और दूसरे श्लोक में 'न किञ्चिदूचे' कुछ कहा नहीं। इस प्रतिषेध के द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ (प्रथम श्लोक में लज्जा, अवहित्था, हर्ष, ईर्ष्या, सौभाग्य, अभिमान आदि और दूसरे श्लोक में सातिशय मन्युसंभार) किसी अंश में अभिधा का विषय हो गया है अतः उसका गुणीभाव होना ही उचित प्रतीत होता है। और जब उक्ति के बिना तात्पर्य रूप से व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है तब उस व्यङ्ग्य का प्राधान्य होता है। जैसे 'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादि में। यहाँ (पत्युः शिरश्चन्द्रकलाम् तथा प्रयच्छतोच्चैः' इत्यादि दोनों श्लोकों में तो कथनशैली से व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है इसलिये वाच्य का भी प्राधान्य है। इसलिये यहाँ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिव्यहार उचित नहीं है अर्थात् ये दोनों गुणीभूत व्यङ्ग्य के ही उदाहरण है, संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के उदाहरण नहीं है।

लोचनम्

लम्भितेति। *न किंचिदिति।* एवं विधेषु शृङ्गारावसरेषु तामेवायं स्मरतीति मानप्रदर्शनमेवात्र न युक्तमिति सातिशयमन्युसंभारो व्यङ्ग्यो वचननिषेधस्यैव वाच्यस्य संस्कारः। तद्वक्ष्यति– *उक्तिर्भङ्ग्यास्तीति।* तस्येति व्यङ्ग्यस्य। इहेति पत्युरित्यादौ। *वाच्यस्यापीति।* अपिशब्दो भिन्नक्रमः। प्राधान्यमपि भवति वाच्यस्य, रसाद्यपेक्षया तु गुणतापीत्यर्थः। अत एवोपसंहारे ध्वनिशब्दस्य विशेषणमुक्तम्॥३९॥

आदरार्थ देते हुये। अतएव लम्भिता। **न किञ्चिदिति** कुछ नहीं। इस प्रकार के शृङ्गार के अवसरों से उसे ही यह स्मरण करता है इसलिये यहाँ मानप्रदर्शन ही ठीक नहीं, इस व्यङ्ग्य सातिशय मन्युभार वचन-निषेधरूप वाच्य का ही संस्कार है। उसे कहेंगे- उक्ति भङ्गी से है। **तस्येति**– उस व्यङ्ग्य का। **इहेति**– **पत्युरित्यादि** मे। **वाच्यस्यापीति**– यहाँ अपि शब्द भिन्नक्रम है, अर्थात् वाच्य का प्राधान्य भी होता है किन्तु रसादि की अपेक्षा से गुणता भी होती है। अतएव उपसंहार में ध्वनि शब्द का विशेषण अनुरणनरूप व्यङ्ग्य कहा है॥३९॥

ध्वन्यालोकः

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥४०॥

गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते। यथात्रैवानन्तरोदाहृते श्लोकद्वये। यथा च–

दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मृजत-

प्रकारेति– इस गुणीभूत व्यङ्ग्य का प्रकार भी रस आदि के तात्पर्य का विचार करने से फिर ध्वनि काव्य हो जाता है। (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की दृष्टि से गुणीभूत होने पर भी रसादि के विचार से वह ध्वनि रूप में माना जा सकता है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य का भेद रस आदि के तात्पर्य का विचार करने से फिर ध्वनि रूप ही हो जाता है। जैसे ऊपर उदाहृत। (पत्युः शिरश्चन्द्रकलावतंसाम्) तथा (प्रयच्छतोच्चैः) इन दोनों श्लोकों में (पददृष्टि से गुणीभूत व्यङ्ग्य का पर्यवसान रस का प्राधान्य होने से ध्वनिकाव्य में ही है।।

और दूसरा उदाहरण– जैसे **दुराराधेति**–

हे सुभग श्रीकृष्ण! मुझसे भिन्न किसी और अपनी प्राणेश्वरी की सुरतोत्तर

लोचनम्

एतदेव निर्वाहयन् काव्यात्मत्वं ध्वनेरेव परिदीपयति–*प्रकार इति। श्लोकद्वय* इति। तुल्यच्छायं यदुदाहृतं पत्युरित्यादि तत्रेति द्वयशब्दादेवंवादिनीत्यस्यानवकाशः। *दुराराधेति।* अकारणकुपिता पादपतिते मयि न प्रसीदसि अहो दुराराधासि मा रोदीरित्युक्तिपूर्वं प्रियतमेऽश्रूणि मार्जयति इयमस्या अभ्युपगमगर्भोक्तिः। *सुभगेति।* प्रियया यः स्वसंभोगभूषणविहीनः क्षणमपि मोक्तुं न पार्यसे। *अनेनापीति।* पश्येदं

एतदेवेति– इसे ही निर्वाह करते हुये कारिकाकार ध्वनि को ही काव्य की आत्मा प्रकाशित करते हुये कहते हैं– **प्रकार इति**– वह गुणीभूतव्यङ्ग्य। **श्लोकद्वय इति**– दोनों श्लोकों में। समान छाया वाले जो उदाहृत है **पत्युरित्यादि**– वहाँ। यहाँ द्वय शब्द से 'एवं वादिनि' इस श्लोक का अवसर नहीं।

सुभेगति– हे सुभग। अकारण कुपित होने पर भी तू मुझ पर प्रसन्न नहीं होती, हन्त! राधा नहीं दुराराधा है अर्थात् प्रसन्न होने वाली नहीं है। मत रो यह कह कर प्रियतम जब आँसू पोंछने लगे तब उसकी यह अभ्युपगमगर्भ उक्ति है। सुभग– अपने संभोग के भूषणों से विहीन जो तुम प्रियतमा द्वारा क्षण भर भी नहीं छोड़े जाते।

ध्वन्यालोकः

स्तवैतत्प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम् ।
कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे
क्रियात्कल्याणं वो हरिरनुनयष्वेवमुदितः ॥

काल में भूल से स्वयं धारण की हुई इस साड़ी से मेरे गिरते हुये आँसुओं को पोंछने पर भी (सौन्दर्य सौभाग्यादि अभिमानशालिनी यह वृषभानुसुता) यह राधा तुमसे प्रसन्न होने वाली नहीं, क्योंकि यह दुराराधा है। स्त्री का चित्त सपत्नीसंभोगादिरूप अपमान को न सहन करने वाला बड़ा कठोर होता है, इसलिये तुम्हारे ये सब मानापनोदन के लिये किये जाने वाले चाटुरूप उपाय व्यर्थ हैं। रहने दो, मनाने के अवसरों पर राधा द्वारा इस प्रकार कहे जाने वाले श्रीकृष्ण तुम्हारा कल्याण करें।

लोचनम्

प्रत्यक्षेणेत्यर्थः। तदेव न यदेवमादृतं यत् लज्जादित्यागेनाप्येवं धार्यते। *मृजत* इत्यनेन हि प्रत्युत स्त्रोतस्सहस्त्रवाही बाष्पो भवति। इयच्च त्वं हतचेतनो यन्मां विस्मृत्य तामेव कुपितां मन्यसे। अन्यथा कथमेवं कुर्याः। *पतितमिति*। गत इदानीं रोदनावकाशोऽपीत्यर्थः। यदि तूच्यते इयताप्यादरेण किमिति कोपं न मुञ्चसि, तत्किं क्रियते कठोरस्वभावं स्त्रीचेतः। *स्त्रीति* हि प्रेमाद्ययोगाद्वस्तुविशेषमात्रमेतत्; तस्य चैष स्वभावः, आत्मनि चैतत्सुकुमारहृदया योषित इति न किञ्चिद्वज्रसाराधिकमासां हृदयं यदेवंविधवृत्तान्तसाक्षात्कारेऽपि सहस्त्रधा न दलति। *उपचारैरिति*। दाक्षिण्यप्रयुक्तैः। *अनुनयेष्विति* बहुवचनेन वारं वारमस्य बहुवल्लभस्येयमेव

अनेनापीति– इससे भी– अर्थात् इसे भी प्रत्यक्ष देख लो। जो कि उसे जिसे सज्जा आदि त्याग कर भी आदरपूर्वक धारण कर रहे हो। **मृजतः इति**– पोछने से। इससे बल्कि वाष्प हजारों स्त्रोतों से बहता है। इतना भी तुम्हें होश नहीं है कि जो मुझे छोड़ कर उस कुपिता को ही मानते हो, अन्यथा ऐसा तुम क्यों करते! **पतितमिति**– गिरे हुये। अर्थात् अब तो रोने का समय भी नहीं रहा। यदि कहते हो कि इतना आदर करने पर भी तू कोप का त्याग क्यों नहीं करती तो क्या करू? स्त्री का चित्त जो कठोर स्वभाव का होता है। स्त्री प्रेम का योग न होने से वस्तुमात्र है और उस वस्तुमात्र का यह स्वभाव। अपने आप यह सोचना कि स्त्रियाँ सुकुमार हृदय की होती हैं, अकिञ्चित्कर है, क्योंकि इनका हृदय वज्रसार से भी अधिक कठोर होता है, क्योंकि इस प्रकार के वृत्तान्त का साक्षात्कार होने पर भी इस हृदय के टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते। **उपचारैरिति**– उपचार अर्थात् दाक्षिण्ययुक्त। अनुनय के अवसरों में इस बहुवचन

ध्वन्यालोकः

एवं स्थिते च 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादिश्लोकनिर्दिष्टानां पदानां व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यप्रतिपादनेऽप्येतद्वाक्यार्थीभूतरसापेक्षया व्यञ्जकत्वमुक्तम्। न तेषां पदानामर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिभ्रमो

इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के विषयविभाग की व्यवस्था हो जाने पर 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोक में निर्दिष्ट पदों के व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य के प्रतिपादक (उस दृष्टि से गुणीभूत व्यङ्ग्य) होने पर भी समस्त श्लोक के प्रधान

लोचनम्

स्थितिरिति सौभाग्यातिशय उक्तः। एवमेष व्यङ्ग्यार्थसारो वाच्यं भूषयति। तत्तु वाच्यं भूषितं सदीर्ष्याविप्रलम्भाङ्गत्वमेतीति। यस्तु त्रिष्वपि श्लोकेषु प्रतीयमानस्यैव रसाङ्गत्वं व्याचष्टे स्म। स देवं विक्रीय तद्यात्रोत्सवमकार्षीत्। एवं हि व्यङ्ग्यस्य या गुणीभूतता प्रकृता सैव समूलं त्रुट्येत्। एवं हि व्यङ्ग्यस्य या गुणीभूतता प्रकृता सेव समूलं त्रुट्येत्। रसादिव्यतिरिक्तस्य हि व्यङ्ग्यस्य रसाङ्गभावयोगित्वमेव प्राधान्यं नान्यत्किञ्चिदित्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन।

एवं स्थित इति। अनन्तरोक्तेन प्रकारेण ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोर्विभागे स्थिते सतीत्यर्थः। कारिकागतमपिशब्दं व्याख्यातुमाह–*न चेति।* एष च श्लोकः पूर्वमेव व्याख्यात इति न पुनर्लिख्यते। *यत्र त्विति।* यद्यपि चात्र

से इस बहुवल्लभ की बार-बार की यही स्थिति है, यह अतिशय सौभाग्य कहा है। इस प्रकार यह व्यङ्ग्यार्थ का सार वाच्य को अलङ्कृत करता है। वह वाच्य भूषित हो कर ईर्ष्याविप्रलम्भ का अङ्ग हो जाता है। जिसने इन तीनों श्लोकों में प्रतीयमान ही रस का अङ्ग है ऐसा व्याख्यान किया है। उसने देवता को बेच कर उनकी यात्रा का उत्सव मनाया है, क्योंकि इस प्रकार व्याख्यान करने पर जो व्यङ्ग्य की गुणीभूतता प्रकृत है वही समूल टूट जायगी। रसादि से व्यतिरिक्त व्यङ्ग्य को रस का अङ्गभाव प्राप्त करना ही प्राधान्य है, दूसरा कुछ नहीं। पूर्वज़ों के साथ विवाद व्यर्थ है।

एवं स्थित इति– इस प्रकार स्थित। अर्थात् अनन्तरोक्त प्रकार से ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य का विभाग स्थित होने पर। **'कारिकागतमपि'** शब्द का व्याख्यान करने के लिये कहते हैं– **न चेति** केवल। यह श्लोक पहले ही व्याख्यात हो चुका है इसलिये फिर नहीं लिखते हैं। **यत्र त्विति**– जिस वाक्य में। यद्यपि यहाँ विषय के प्रति निर्वेदरूप शान्तरस की प्रतीति होती है, तथापि यह चमत्कार वाक्य में ही है।

ध्वन्यालोक:

विधातव्य:, विवक्षितवाच्यत्वात्तेषाम्। तेषु हि व्यङ्ग्यविशिष्टत्वं वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यङ्ग्यरूपपरिणतत्वम्। तस्माद्वाक्यं तत्र ध्वनि:, पदानि तु गुणीभूतव्यङ्ग्यानि। न च केवलं गुणीभूतव्यङ्ग्यान्येव पदान्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेर्व्यञ्जकानि यावदर्थान्तरसंक्रमितवाच्यानि ध्वनिप्रभेदरूपाण्यपि। यथात्रैव श्लोके रावण इत्यस्य प्रभेदान्तर-रूपव्यञ्जकत्वम्। यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्य नास्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यैः पदैरुद्भासितेऽपि तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव समुदायधर्म:।

व्यङ्ग्य वीररस की दृष्टि से उसको ध्वनि व्यञ्जकत्व कहा है। उन (श्लोकोक्त व्यञ्जकपदों) में अर्थान्तरसंक्रमित्तवाच्यध्वनि का भ्रम नहीं करना चाहिये। क्योंकि उनमें वाच्य ही विवक्षित है। (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि लक्षणामूल अविवक्षितवाच्य का भेद होता है, यहाँ श्लोकस्थ व्यञ्जक पदों में वाच्य अविवक्षित नहीं विवक्षित है अत: अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि उनमें नहीं समझना चाहिये) उनमें वाच्य अर्थ का व्यङ्ग्य विशिष्टत्व प्रतीत होता है, व्यङ्ग्य रूप में परिणतत्व नहीं। (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के 'कदली कदली करभ: करभ: करिराजकर: करिराजकर:' इत्यादि उदाहरणों में वाच्यार्थ व्यङ्ग्यरूपतया परिणत हो जाता है) इसलिये उस (न्यक्कार आदि) में वाक्य (सम्पूर्ण श्लोक) ध्वनिरूप है और पद तो गुणीभूत व्यञ्जकत्व रूप हैं। और केवल गुणीभूत व्यङ्ग्यपद ही असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (रसादि) ध्वनि के व्यञ्जक नहीं होते हैं, अपितु अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यध्वनिस्वरूप वाले पद भी (रसादि ध्वनि के अभिव्यञ्जक होते है) जैसे इसी श्लोक में 'रावण:' इस पद का ध्वनि के दूसरे प्रभेद (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य) द्वारा वीररस का व्यञ्जकत्व है। जहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य पदों से रसादि के प्रकाशित होने पर भी वाक्य रसादि पर नहीं होता वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्यता ही समुदाय (समस्त वाक्य) का भी धर्म होती है। जैसे राजानपीत्यादि–

लोचनम्

विषयनिर्वेभदात्मकशान्तरसप्रतीतिरस्ति, तथापि चमत्कारोऽयं वाच्यनिष्ठ एव। व्यङ्ग्यं त्वसम्भाव्यत्वविपरीतकारित्वादि तस्यैवानुयायि, तच्चापिशब्दाभ्यामुभयतो योजिताभ्यां चशब्देन स्थानत्रययोजितेन

असम्भाव्यत्व, विपरीतकारित्वादि व्यङ्ग्य उसी का अनुगमन करते हैं। और यह दो 'अपि' शब्द (राजानमपि' अपि उपभुञ्जते') कर्म और क्रिया दो स्थानों में लगाये जाने

ध्वन्यालोकः

यथा–

राजानमपि सेवन्ते विषममप्युपयुञ्जते ।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः ॥

इत्यादौ। वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः, येन ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरलङ्काराणां चासङ्कीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति। अन्यथा तु प्रसिद्धालङ्कारविषय एव व्यामोहः प्रवर्तते। यथा–

चतुर मनुष्य (अत्यन्त दुःसाध्य) राजा की सेवा भी कर सकते है। सद्यः प्राणविनाशक विष भी खा सकते हैं और त्रियाचरित्रवाली रमणियों के साथ रमण भी कर सकते हैं। इत्यादि में।

वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य अप्राधान्य के परिज्ञान के लिये अत्यन्त यत्न करना चाहिये जिससे ध्वनि-गुणीभूत व्यङ्ग्य और अलङ्कारों का सङ्कररहित विषय भली प्रकार से समझ में आ जावे। (अन्यथा तु) उसके बिना तो प्रसिद्ध वाच्य अलङ्कारों के विषय में ही भ्रम हो जाता है। जैसे **लावण्येति।**

लोचनम्

खलुशब्देन चोभयतो योजितेन मानवशब्देन स्पृष्टमेवेति गुणीभूतम्। विवेकदर्शना चेयं न निरुपयोगिनीति दर्शयति–*वाच्यव्यङ्ग्ययोरिति। अलङ्काराणां चेति।* यत्र व्यङ्ग्यं नास्त्येव तत्र तेषां शुद्धानां प्राधान्यम्। *अन्यथा त्विति।* यदि प्रयत्नवता न भूयत इत्यर्थः।

व्यङ्ग्यप्रकारस्तु यो मया पूर्वमुत्प्रेक्षितस्तस्यासंदिग्धमेव व्यामोहस्थानत्वमित्येवकाराभिप्रायः। द्रविणशब्देन सर्वस्वप्रायत्वमनेकस्वकृत्यो-

से 'च' शब्द का तीनों स्थानों में अन्वय होने से खलु शब्द का दोनों जगह (कुशल शब्द और मानव शब्द के साथ) लगाये जाने से और मानव शब्द से स्पष्ट होने ही के कारण गुणीभूत हैं, विवेक की यह दृष्टि निरुपयोगिनी नहीं है इसे दिखाते हैं– **वाच्य व्यङ्ग्ययोरिति।** वाच्य और व्यङ्ग्य के। **अलङ्कारणां चेति**– तथा अलङ्कारोंका। जहाँ व्यङ्ग्य नहीं है वहाँ शुद्ध अलङ्कारों का प्राधान्य है। **अन्यथा त्विति**– अन्यथा तो अर्थात् यदि प्रयत्न नहीं करते हैं।

'एव' का अभिप्राय यह कि जो मैंने व्यङ्ग्य के प्रकार की पहले उत्प्रेक्षा की है, उसमें व्यामोह होना असंदिग्ध ही है (लावण्य में) द्रविणशब्द से सर्वस्वप्रायत्व

ध्वन्यालोकः

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता ॥

इत्यत्र व्याजस्तुतिरलङ्कार इति व्याख्यायि केनचित्तन्न चतुरस्त्रम्; यतोऽस्याभिधेयस्यैतदलङ्कारस्वरूपमात्रपर्यवसायित्वे न सुश्लिष्टता। यतो न तावदयं रागिणः कस्यचिद्विकल्पः। तस्य 'एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता' इत्येवंविधोक्त्यनुपपत्तेः। नापि

(इसके शरीर-निर्माण में विधाता ने) लावण्य-संपत्ति के व्यय की चिन्ता नहीं की, स्वयं महान् कष्ट उठाया, स्वच्छन्द और सुखपूर्वक बैठे हुये सम्बन्धीजनों के लिये चिन्ताग्नि प्रदीप्त कर दिया और अनुरूप वर के अभाव में यह बेचारी भी मारी गई। मालूम नहीं विधाता ने इस सुन्दरी के शरीर की रचना करने में कौन सा लाभ सोचा था।

इसमें व्याजस्तुति अलङ्कार है ऐसी व्याख्या किसी ने की है। इसके अर्थ का केवल व्याजस्तुति स्वरूप में पर्यवसान मानने से इसका यह वाच्यार्थ सुसङ्गत नहीं होता। क्योंकि यह किसी रागी (उस सुन्दरी में अनुरक्त अथवा मलिन वासना वाले पुरुष) का वितर्क (विचारधारा) नहीं है। क्योंकि उस (अनुरागयुक्त अथवा

लोचनम्

पयोगित्वमुक्तम्। *गणित इति।* चिरेण हि यो व्ययः सम्पद्यते न तु विद्युदिव झटिति तत्रावश्यं गणनया भवितव्यम्। अनन्तकालनिर्माणकारिणोऽपि तु विधेर्न विवेकलेशोऽप्युदभूदिति परमस्योपेक्षावत्त्वम्। अत एवाह–*क्लेशो महानिति। स्वच्छन्दस्येति।* विशृङ्खलस्येत्यर्थः। *एषापीति।* यत्स्वयं निर्मीयते तदेव च निहन्यत इति महद्वैशसमपिशब्देन एवकारेण चोक्तम्। *कोऽर्थ इति।*

तथा अपने अनेक कार्यों का उपयोगी होने वाला कहा है। **गणित इति**– परवाह। जो व्यय देर तक धीरे-धीरे होता रहा है, बिजली की तरह झट से हो जाता है। ऐसा नहीं अतः उसमें गणना अवश्य संभावित है। अनन्त काल से निर्माण करने वाले भी विधाता को विवेक का लेश भी न हुआ। यह उनकी परम उपेक्षाकारिता है इसलिये कहते हैं– 'क्लेशो महान् स्वीकृत:'। स्वच्छन्द अर्थात् शृङ्खलारहित। **एषाऽपीति**– यह बेचारी। जिसे स्वयं बनाता है उसे ही मार डालता है यह उसकी बहुत बड़ी क्रूरता

ध्वन्यालोकः

नीरागस्य; तस्यैवंविधविकल्पपरिहारैकव्यापारत्वात्। न चायं श्लोकः क्वचित्प्रबन्ध इति श्रूयते, येन तत्प्रकरणानुगतार्थतास्य परिकल्प्यते।

वासनायुक्त) की ओर से अनुरूप पति के न मिलने से यह बेचारी भी मारी गई, इस प्रकार का कथन सङ्गत नहीं जान पड़ता। (अनुरक्त पुरुष तो अपने को ही उसके योग्य समझता है। उसके मुख से स्वयं अपनी निन्दा भी अनुपपन्न है और मलिन वासना वाले पुरुष की ओर से यह कारुण्योक्ति संभव नहीं हो सकी) और न किसी रागरहित पुरुष की यह उक्ति है, क्योंकि उस वीतराग पुरुष का इस प्रकार के रागजन्य विक्षेपों का परिहार करना ही प्रधान व्यापार है। वीतराग पुरुष जगत् से अत्यन्त उदासीन होता है। वह तो इस प्रकार के विषय का विचार भी नहीं कर सकता है। और यह श्लोक किसी प्रबन्धकाव्य का है यह भी नहीं सुना है, जिससे उसके प्रकरण की कल्पना की जा सके जिसके आधार पर व्याजस्तुति अलङ्कार की संगति लगाई जाय। इसलिये यह अप्रस्तुतप्रशंसा

लोचनम्

न स्वात्मनो न लोकस्य न निर्मितस्येत्यर्थः। *तस्येति।* रागिणो हि वराकी हतेति कृपणतालिङ्गितममङ्गलोपहतं चानुचितं वचनम्। तुल्यरमणाभावादिति स्वात्मन्यत्यन्तमनुचितम्। आत्मन्यपि तद्रूपासम्भावनायां रागितायां च पशुप्रायत्वं स्यात्।

ननु च रागिणोऽपि कुतश्चित्कारणात्परिगृहीतकतिपयकालव्रतस्य वा रावणप्रायस्य वा सीतादिविषये दुष्यन्तप्रायस्य वाऽनिर्ज्ञातजातिविशेषे शकुन्तलादौ किमियं स्वसौभाग्याभिमानगर्भा तत्स्तुतिगर्भा चोक्तिर्न भवति।

है। **कोऽर्थ** इति इससे क्या लाभ? अर्थात् न अपने काम में आई न संसार के काम आई और न निर्मिति ही सफल हुई। **तस्येति**– उसकी बेचारी को मार डाला यह कृपणता से आलिङ्गित और अमङ्गल से उपहत वचन रागीपुरुष के अनुचित है। अपने आप के सम्बनध में समान रमण के प्राप्त न होने से यह वचन तो अत्यन्त अनुचित हैं। अपने में भी उसके समान रूप की भी असम्भावना में और फिर भी रागिता में इस प्रकार के वह वचन पशुप्रायता जैसी होगी।

सीता आदि के विषय में रावणप्राय की अथवा अविदित जातिविशेषवाली शकुन्तला आदि के विषय में दुष्यन्तप्राय की क्यों यह किसी कारणवश कुछ काल के लिये व्रत धारण किये हुये रागी पुरुष का भी अपने सौभाग्य के अभिमान से युक्त और

ध्वन्यालोकः

तस्मादप्रस्तुतप्रशंसेयम्। यस्मादनेन वाच्येन गुणीभूतात्मना निस्सामान्यगुणावलोपाध्मातस्य निजमहिमोत्कर्षजनित-समत्सरजनज्वरस्य विशेषज्ञमात्मनो न कश्चिदेवापरं पश्यतः

अलङ्कार है। क्योंकि इस (गुणीभूत स्वरूप) अप्रस्तुत वाच्य अर्थ में से अलोक सामान्य (लोकोत्तर ज्ञानादि) गुणों के दर्प से गर्वित अपने पाण्डित्यादि महिमा के उत्कर्ष से ईर्ष्यालु प्रतिपक्षियों के मन में ईर्ष्याज्वर उत्पन्न कर देने वाले और किसी को अपने ग्रन्थादि का विशेषज्ञ न समझने वाले किसी धर्मकीर्त्ति सरीखे

लोचनम्

वीतरागस्य वा अनादिकालाभ्यस्तरागवासनावासिततया मध्यस्थत्वेनापि तां वस्तुतस्तथा पश्यतो नेयमुक्तिः न संभाव्या। न हि वीतरागो विपर्यस्तान् भावान् पश्यति। न ह्यस्य वीणाक्वणितं काकरटितकल्पं प्रतिभाति। तस्मात्प्रस्तुतानुसारेणोभयस्थापीयमुक्तिरुपपद्यते। अप्रस्तुतप्रशंसायामपि ह्यप्रस्तुतः सम्भवन्नेवार्थो वक्तव्यः, न हि तेजसीत्थमप्रस्तुतप्रशंसा सम्भवति– अहो धिक्ते कार्ष्ण्यमिति सा पर प्रस्तुतपरतयेति नात्रासम्भव इत्याशङ्क्याह– *न चेति।* निस्सामान्येति निजमहिमेति विशेषज्ञमिति परिदेवितमित्ये-तैश्चतुर्भिर्वाक्यखण्डैः क्रमेण पादचतुष्टयस्य तात्पर्यं व्याख्यातम्। नन्वत्रापि किं प्रमाणत्याशङ्क्याह–*तथा चेति।* ननु किमियतेत्याशङ्क्य

उसकी (नायिका की) स्तुति से युक्त उक्ति वही हो सकती है? अथवा अनादि काल से राग की वासना से वासित होने के कारण मध्यस्थ रूप से भी उस नायिका को देखते हुये किसी वीतराग पुरुष की क्या यह उक्ति नहीं हो सकती? ऐसी संभावना भी नहीं की जा सकती अर्थात् यह उक्ति संभावित हो सकती है, क्योंकि वीतराग पुरुष भावों को विपर्यस्त रूप से नहीं देखता, वीणा का क्वणित उसे काकरटित कल्प प्रतीत नहीं होता। इसलिये प्रस्तुत के अनुसार यह उक्ति दोनों की (रागी और वीतरागी) उपपन्न होती है। अप्रस्तुतप्रशंसा में भी अप्रस्तुत अर्थ संभव होता हुआ ही कहा जाना चाहिये। प्रस्तुत तेज के विषय में अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं हो सकती। 'अहो तेरी कालिमा को धिक्कार है' इस प्रकार वह अप्रस्तुतप्रशंसा प्रस्तुत में तात्पर्य रखती है इसलिये यहाँ असंभव नहीं, यह आशङ्का कर कहते हैं– **न चेति**– न कि। असाधारण, अपनी महिमा, विशेषज्ञ, परिदेवित इन चार वाक्यखंण्डों के क्रम से श्लोक के चारों चरणों के तात्पर्य का व्याख्यान किया। यहाँ भी क्या प्रमाण है? इस आशङ्का पर कहते हैं– **तथा चेति**। इतने

ध्वन्यालोकः

परिदेवितमेतदिति प्रकाश्यते। तथा चायं धर्मकीर्तेः श्लोक इति प्रसिद्धिः। सम्भाव्यते च तस्यैव। यस्मात्–

अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना-
प्यदृष्टपरमार्थतत्त्वमधिकाभियोगैरपि ।

महाविद्वान् का निर्वेदसूचक वचन है ऐसा प्रतीत होता है जैसा कि यह धर्मकीर्त्ति का श्लोक है यह प्रसिद्धि भी है क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्यविचारचर्चा में लिखा है कि लावण्यद्रवणिव्ययो न गणित: इत्यादि धर्मकीर्त्ते:) अत: उसका ही हो सकता है।

अनध्यवसितेति प्रचुर बुद्धि वाले महापुरुष भी जिस मेरे गम्भीर दार्शनिक मत में अवगाहन नहीं कर सकते हैं (अर्थात् उसे समझ नहीं सकते हैं) किं बहुना अधिकाधिक ध्यान देने पर भी उसके रहस्य तक पहुँचने में असमर्थ रहते हैं ऐसा मेरा मत (दार्शनिक सिद्धान्त) संसार में योग्य ग्रहीता के अभाव के कारण

लोचनम्

तदाशयेन निर्विवादतदीयश्लोकार्पितेनास्याशयं संवादयति–*सम्भाव्यत इति।* अवगाहनमध्यवसितमपि न यत्र आस्तां तस्य सम्पादनम्। परमं यदर्थतत्त्वं कौस्तुभादिभ्योऽप्युत्तमम्, अलब्धं प्रयत्नपरीक्षितमपि न प्राप्तं सदृशं यस्य तथाभूतं प्रतिग्राहमेकैको ग्राहो जलचरः प्राणी ऐरावतोच्चैःश्रवोधन्वन्तरिप्रायो यत्र तदलब्धसदृशप्रतिग्राहकम्।

***एवंविध इति।* परिदेवितविषय इत्यर्थः। इयति चार्थे अप्रस्तुत-प्रशंसोपमालक्षणमलङ्कारद्वयम्। अनन्तरं तु स्वात्मनि विस्मयधामतयाद्भुते**

से क्या? यह आशङ्का करके निर्विवाद उन धर्मकीर्ति के श्लोक से अर्पित उनके आशय से इसके आशय का संवाद करते हैं– **संभाव्यत** इति संभावित होता है।

यस्मात् अनध्यवसितेति जिसमें अवगाहन अध्यवसाय का विषय भी नहीं बना है तो अत: उसके संपादन की बात तो बहुत दूर हैं परम जो अर्थतत्त्व कौस्तुभादि है उससे भी उत्तम अलब्ध अर्थात् प्रयत्न से परीक्षा करने पर भी जिसका सदृश भी प्राप्त होने वाला नहीं हैं ऐसा प्रतिग्रह अर्थात् एक-एक ग्राह जलचर प्राणी ऐरावत, उच्चै: श्रवा धन्वन्तरि प्राय है जहाँ वह अलब्धसदृश प्रतिग्राहक है। **एवं विध** इति इस प्रकार का अर्थात् परिदेवित का विषय। इतने अर्थ में अप्रस्तुतप्रशंसा और उपमारूप से अलङ्कार है। इसके अनन्तर तो अपने आप में धर्मकीर्त्ति को विस्मय का

ध्वन्यालोकः

मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं
प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम् ॥

इत्यनेनापि श्लोकेनैवंविधऽभिप्रायः प्रकाशित एव। अप्रस्तुतप्रशंसायां च यद्वाच्यं तस्य कदाचिद्विवक्षितत्वं, कदाचिदविवक्षितत्वं, कदाचिद्विवक्षिताविवक्षितत्वमिति त्रयी बन्धच्छाया। तत्र विवक्षितत्वं यथा–

अनल्पशक्तियुक्तपुरुष भी जिस समुद्रजलके अवगाहन का साहस न कर सकें और अत्यन्त ध्यान देने पर भी जिसके रत्नों को देख न सकें ऐसे समुद्रजल के समान यह मेरा दार्शनिक मत (अपने में अथवा स्वयं समुद्र में) मेरे शरीर में जीर्ण हो जायगा।

इस श्लोक में भी इसी प्रकार का (अपने अनन्य सदृश पाण्डित्य का गर्व और अपने दर्शन के योग्य ग्रहीता के न मिलने का कारण अपने ज्ञान के निष्फलत्व से उत्पन्न निर्वेदरूप) अभिप्राय प्रगट किया गया है। अप्रस्तुतप्रशंसा से जो वाच्य होता है वह कहीं उपपद्यमान होने से विवक्षित और कहीं अनुपपद्यमान होने से अविवक्षित तथा कहीं अंशतः उपपद्यमान होने से विवक्षिताविवक्षित होता है– इस प्रकार तीन प्रकार की रचनाशैली होती है (अप्रस्तुतप्रशंसा के पाँच भेदों में से अन्तिम तुल्य अप्रस्तुत से तुल्य प्रस्तुत की

लोचनम्

विश्रान्तिः। परस्य च श्रोतृजनस्यात्यादरास्पदतया प्रयत्नग्राह्यतया चोत्साहजननेनैवंभूतमत्यन्तोपादेयं सत्कतिपयसमुचितजनानुग्राहकं कृतमिति स्वात्मनि कुशलकारिताप्रदर्शनया धर्मवीरस्पर्शनेन वीररसे विश्रान्तिरिति मन्तव्यम्। अन्यथा परिदेवितमात्रेण किं कृतं स्यात्। अपेक्षापूर्वकारित्वमात्मन्यावेदितं चेत्किं ततः स्वार्थपरार्थासम्भवादित्यलं बहुना।

धाम होने के कारण अद्भुत में विश्रान्ति है। और दूसरे श्रोताजन के अत्यादर का आस्पद होने से और प्रयत्नग्राह्य होने से उत्साह के जनन द्वारा एवंभूत अत्यन्त उपादेय होता हुआ कतिपय समुचित जनों का अनुग्राहक किया है। इस प्रकार अपने में कुशलकारिता के प्रदर्शन से धर्मवीर के स्पर्श द्वारा वीररस में विश्रान्ति है, यह मानना चाहिये। अन्यथा परिदेवितमात्र से क्या लाभ होता। यदि अपने में अपेक्षापूर्वकारित्व का आवेदन किया है तो उस स्वार्थ और परार्थ के असंभव से क्या? अलं बहुना।

ध्वन्यालोकः

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

यथा वा ममैव–

प्रतीतिरूप जो पञ्चम भेद है उसके ही ये ३ तीन भेद होते हैं, शेष चारों के नहीं) वाच्य अप्रस्तुत के विवक्षितत्व का उदाहरण– जैसे **परार्थे इति।**

जो (सज्जनपक्ष में) दूसरों के लिये पीड़ा सहन करता है (इक्षुपक्ष में कोल्हू में पेरा जाता है) जो (सज्जनपक्ष में) अपमानित होने पर भी (इक्षुपक्ष में) तोड़े जाने पर भी मधुर बना रहता है। जिसका विकार (सज्जनपक्ष में) क्रोधादि (इक्षुपक्षमें) ऊख से बने गुड, शक्कर (आदि) सब को अच्छा लगता है, वह यदि किसी अनुचित स्थान में (इक्षुपक्ष में ऊषर खेत में) पड़कर वृद्धि (पद-वृद्धि या समुन्नति, इक्षुपक्ष में आकार (वृद्धि को) प्राप्त नहीं होता है, तो क्या वह उस इक्षु का दोष है, उस निर्गुण स्वामी अथवा ऊषर खेत का दोष नहीं है? यहाँ अप्रस्तुत विवक्षित वाच्य इक्षुपद से प्रस्तुत महापुरुष की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है और वाच्यार्थ भी उपपद्यमान होने से विवक्षित है।

अथवा जैसे मेरा ही **अमीति–**

लोचनम्

ननु यथास्थितस्यार्थस्यासङ्गतौ भवत्वप्रस्तुतप्रशंसा, इह तु सङ्गतिरस्त्येवेत्याशङ्क्य सङ्गतावपि भवत्येवैषेति दर्शयितुमुपक्रमते– ***अप्रस्तुतेति। नन्विति।*** **यैरिदं जंगद्भूषितमित्यर्थः। यस्य चक्षुषो विषयतां क्षणं गतानामेषां सफलता भवति तदिदं चक्षुरिति सम्बन्धः। आलोको विवेकोऽपि।** ***न सममिति।*** **हस्तो हि परस्पर्शादानादावप्युपयोगी।** ***अवयवैरिति।***

जब कि यथस्थित अर्थ की संगति न हो तब अप्रस्तुतप्रशंसा हो सकती है, यहाँ तो सङ्गति ही हैं, यह आशङ्का कर 'सङ्गति में भी नहीं होगी' यह दिखाने के लिये उपक्रम करते हैं– **अप्रस्तुतप्रशंसेति सुभगेति।** अर्थात् जिन्होंने इस जगत् को भूषित कर रखा है। सम्बन्ध यह कि जिस चक्षु की विषयता क्षण भर प्राप्त कर लेने मात्र से इनकी सफलता होती है वह यह चक्षु। आलोक विवेक भी। **न सममिति–** समान भी नहीं। हाथ दूसरे का स्पर्श करने आदि में भी उपयोगी हैं। **अवयवैरिति–**

ध्वन्यालोकः

अमी ये दृश्यन्ते ननु सुभगरूपाः सफलता
भवत्येषां यस्य क्षणमुपगतानां विषयताम्।
निरालोके लोके कथमिदमहो चक्षुरधुना
समं जातं सर्वैर्न सममथवान्यैरवयवैः॥

अनयोर्हि द्वयोः श्लोकयोरिक्षुचक्षुषी विवक्षितस्वरूपे एव न च प्रस्तुते। महागुणस्याविषयपतितत्वादप्राप्तपरभागस्य कस्यचित्स्वरूप-मुपवर्णयितुं द्वयोरपि श्लोकयोस्तात्पर्येण प्रस्तुतत्वात्। अविवक्षितत्वं यथा–

यह जो सुन्दर आकृति वाले (मनुष्यों के हाथ, पैर, मुख इत्यादि अवयव) दिखाई देते हैं, इन अङ्गों की सफलता जिस चक्षु के मात्र क्षणभर विषय होने के कारण होती है, आश्चर्य है कि इस समय इस अन्धकारमय जगत् में वह चक्षु भी कैसे अन्य सब अवयवों के समान अथवा समान भी नहीं (अपितु उनसे भी गया गुजरा) हो गया है क्योंकि अन्धकार में भी हाथ, पैर आदि अवयवों से काम लिया जाता है। परन्तु चक्षु तो बिल्कुल बेकार है। यहाँ अप्रस्तुत चक्षु से किसी अत्यन्त कुशल महापुरुष की निरालोक विवेकहीन स्वामी आदि के सम्बन्ध से अन्य अवयवों के साम्य से कार्याक्षमत्व आदि प्रस्तुत की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है और उसमें ही वाच्यार्थ उपपन्न होने से विवक्षित है)

(**परार्थे यः** तथा **अमी ये** इन दोनों श्लोकों में) इक्षु और चक्षु दोनों विवक्षितस्वरूप और अप्रस्तुत हैं अस्थान (निर्गुण स्वामी) आदि के सम्बन्ध से उत्कर्ष को प्राप्त न हो सकने वाले किसी महागुणवान् पुरुष के स्वरूप की प्रशंसा के लिये ही दोनों श्लोक तात्पर्य रूप से प्रस्तुत हैं। (अप्रस्तुत इक्षु तथा चक्षु से प्रस्तुत महापुरुष की प्रशंसा करना ही दोनों श्लोकों का तात्पर्य है) अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है और इक्षु तथा चक्षु दोनों विवक्षित हैं।

लोचनम्

अतितुच्छप्रायैरित्यर्थः अप्राप्तः पर उत्कृष्टो भागोऽर्थलाभात्मकः स्वरूप-प्रथनलक्षणो वा येन तस्य। कथयामीत्यादिप्रत्युक्तिः। अनेन पदेनेदमाह– अकथनीयमेतत् श्रूयमाणं हि निर्वेदाय भवति, तथापि तु यदि

अर्थात् अतितुच्छप्राय। जिसने पर अर्थात् उत्कृष्ट अर्थ लाभरूप अथवा स्वरूपख्यातिरूप भाग प्राप्त नहीं किया है उसका। **कथयामि** कहता हूँ इत्यादि प्रत्युक्ति है इस पद से यह कहा है– यह कहने की बात नहीं, क्योंकि सुनने पर निर्वेद होगा, तथापि यदि

ध्वन्यालोकः

कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि, साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरिणी मार्गस्थितस्यापि मे॥

न हि वृक्षविशेषेण सहोक्तिप्रत्युक्ती सम्भवत

अविवक्षितवाच्य का उदाहरण– जैसे अरे! तुम कौन हो? बताता हूँ सुनो, मैं भाग्य का मारा अभागा शाखोटक (सिहोर नामक वृक्षविशेष) हूँ, ऐसा समझो कुछ वैराग्य से कह रहे हो ऐसा जान पड़ता है। ठीक समझे, ऐसा क्यों कह रहे हो? यहाँ से बायीं ओर (रास्ते से हट कर) बड़ा वट का वृक्ष है। पथिक लोग (उसके नीचे लेटने-बैठने, रोटी बनाने और सोने आदि में) सब प्रकार से सहारा लेते हैं और ठीक रास्ते में खड़ा रहने पर भी मेरी छाया से भी किसी का उपकार नहीं होता (इसी बात का मुझे दुःख है)।

वृक्ष-विशेष शाखोटक के साथ प्रश्नोत्तर संभव नहीं इसलिये अविवक्षित-

लोचनम्

निर्बन्धस्तत्कथयामि *वैराग्यादिति।* काक्वा दैवहतकमित्यादिना च सूचितं ते वैराग्यमिति यावत्। *साधु विदितमित्युत्तरम्।* कस्मादिति वैराग्ये हेतुप्रश्नः। इदं कथ्यत इत्यादिसनिर्वेदस्मरणोपक्रमं कथंकथमपि निरूपणीयतयोत्तरम्। *वामेनेति।* अनुचितेन कुलादिनोपलक्षित इत्यर्थः। *वट इति।* च्छायामात्रकरणादेव फलदानादिशून्यादुद्धुरकन्धर इत्यर्थः। *छायापीति।* शाखोटको हि स्मशानाग्निज्वालालीढलतापल्लवादिस्तरुविशेषः।

आग्रह ही है तो कहता हूँ– **वैराग्यादिति** वैराग्य से। काकु से और दैवहतक इस कथन से तुम्हारा वैराग्य मालूम हो गया। तुमने ठीक समझा, यह उत्तर है। क्यों? यह वैराग्य के सम्बन्ध में सहेतुक प्रश्न है। 'यह कहता हूँ' इत्यादि निर्वेदसहित स्मरण का उपक्रम करते हुये किसी-किसी प्रकार निरूपणीय होने के कारण उत्तर है बाईं ओर। अर्थात् अनुचित कुल आदि से उपलक्षित। वटवृक्ष। अर्थात् फलदान आदि से रहित केवल छाया करने से ऊपर कन्धा किये हुये। छाया भी। श्मशान की आग की ज्वाला से झुलसे लता-पल्लवों वाला कोई वृक्षविशेष शाखोटक कहा जाता है।

ध्वन्यालोकः

इत्यविवक्षिताभिधेयेनैवानेन श्लोकेन समृद्धासत्पुरुषसमीपवर्तिनो निर्धनस्य कस्यचिन्मनस्विनः परिदेवितं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते।

विवक्षितत्वाविवक्षितत्वं यथा–

उप्पहजाआएँ असोहिणीएँ फलकुसुमपत्तरहिआए
वेरीएँ वइं देन्तो पामर हो ओहसिज्झिहसि ॥

वाच्य (जिसका वाच्य अप्रस्तुत अर्थ शाखोटक और प्रश्नकर्त्ता पथिक आदि अर्थ विवक्षित नहीं है) इस श्लोक में समृद्ध दुष्ट पुरुष के समीप रहने वाले किसी निर्धन मनस्वी पुरुष के दुःखोद्गार को तात्पर्य रूप से वाक्यार्थ बनाया है ऐसा प्रतीत होता है।

विवक्षिताविवक्षितवाच्य अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण– जैसे **उत्पथेति** कुमार्ग (दूसरे पक्ष में नीच कुल) में उत्पन्न हुई कुरूप (वृक्षपक्ष में कटीली और स्त्रीपक्ष में वदसूरत) फल-फूल और पत्रों से रहित (स्त्रीपक्ष में संतान आदि से रहित) वैर (स्त्रीपक्ष में ऐसी किसी स्त्री) की बाड़ लगाते हुये (स्त्रीपक्ष में उसकी रक्षा करने हुये या घर में बसाते हुये) अरे मूर्ख! तेरा सब लोग उपहास करेंगे।

लोचनम्

अत्राविवक्षायां हेतुमाह–न *हीति*। समृद्धो योऽसत्पुरुषः। 'समृद्धसत्पुरुष' इति पाठे समृद्धेन ऋद्धिमात्रेण सत्पुरुषो न तु गुणादिनेति व्याख्येयम्। *नात्यन्तमिति*। वाच्यभावनियमो नास्तीति न शक्यं वक्तुं, व्यङ्ग्यस्यापि भावादिति तात्पर्यम्। तथा हि उत्पथजाताया इति न तथाकुलोद्भूतायाः। अशोभनाया इति लावण्यरहितायाः। फलकुसुमपत्र-रहिता या इत्येवम्भूतापि काचित्पुत्रिणी वा भ्रात्रादिपक्षपरिपूर्णतया

यहाँ अविवक्षा में हेतु कहते हैं– **न हीति**। समृद्ध सत्पुरु, इस पाठ में समृद्धि अर्थात् ऋद्धिमात्र से सत्पुरुष न कि गुण आदि से भी, ऐसा व्याख्यान करना चाहिये। **नात्यन्तमिति** तात्पर्य यह कि वाच्य का भाव में कोई नियम नहीं है इसलिये उसे नहीं कह सकते, क्योंकि व्यङ्ग्य भी संभव है। जैसा कि कुमार्ग में पैदा हुई (अर्थात् कुलीन नहीं। अशोभन अर्थात् लावण्यरहित। फलफूल और पत्तों से रहित इस प्रकार की भी कोई पुत्र वाली अथवा भाई आदि से भरे होने से अथवा सम्बन्धिवर्ग द्वारा पोषित

ध्वन्यालोकः

अत्र हि वाच्यार्थो नात्यन्तं सम्भवी न चासम्भवी। तस्माद्वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्ये यत्नतो निरूपणीये।

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥४१॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥४२॥

यहाँ अप्रस्तुत वैर का बाड़ लगाना अनुचित होने से वाच्य अविवक्षित और प्रस्तुत स्त्रीपक्ष में किसी प्रकार वृत्ति (शरण-देना या घर में बसाना आदि रूप से उपयोगी होने से वाच्य विवक्षित हो सकता है। इस प्रकार विवक्षिताविवक्षितवाच्य अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण है। वाच्य अर्थ न सर्वथा संभवी है और न अत्यन्त असंभवी है। इसलिये वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य का यत्नपूर्वक निरीक्षण करना चाहिये॥४१॥

प्रधानेति– इस प्रकार व्यङ्ग्य के प्रधान और गुणभाव में स्थित होने पर वे दोनों (ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य) वाक्य होते हैं और उनसे भिन्न जो काव्य शेष रह जाता है उसे चित्र के समान काव्य के तात्त्विक व्यङ्ग्य रूप से विहीन काव्य की प्रतिकृति के समान होने से चित्रकाव्य कहते हैं।

शब्द और अर्थ के भेद से चित्रकाव्य दो प्रकार का होता है। इनमें से कुछ शब्दचित्र होते हैं और उस शब्दचित्र से भिन्न अर्थचित्र कहलाते हैं॥४२॥

लोचनम्

सम्बन्धिवर्गपोषिता वा परिरक्ष्यते। बदर्या वृत्तिं ददत्पामर भोः, हसिष्यसे सर्वलोकैरिति भावः। एवमप्रस्तुतप्रशंसां प्रसङ्गतो निरूप्य प्रकृतमेव यन्निरूपणीयं तदुपसंहरति–*तस्मादिति।* अप्रस्तुतप्रशंसायामपि लावण्येत्यत्र श्लोके यस्माद्व्यामोहो लोकस्य दृष्टस्ततो हेतोरित्यर्थः॥४०॥

होकर रक्षित होती है। हे पामर! बदरी को वृत्ति देता हुआ तू सभी लोगों द्वारा उपहास का पात्र बनेगा, यह भाव है। इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा को प्रसङ्गतः निरूपण कर प्रकृत में जो निरूपणीय है, उसका उपसंहार करते हैं– **तस्मादिति** इस लिये। अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा में भी लावण्यद्रविण इस श्लोक में जो लोगों का व्यामोह देखा जा चुका है उस कारण॥४०॥

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता। ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ। तत्र किञ्चिच्छब्धचित्रं यथा दुष्करयमकादि। वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद्व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि।

व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य होने पर ध्वनि नाम का काव्यभेद होता है और गौण होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है। उन (ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनों) से भिन्न रस, भाव आदि में तात्पर्यरहित और व्यङ्ग्यार्थ-विशेष के प्रकाशन की शक्ति से रहित केवल वाच्य और वाचक (अर्थ और शब्द) के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित जो काव्य (आलेख्य (चित्र) के समान (तात्त्विक रूपरहित प्रकृतिमात्र) प्रतीत होता है, उसको चित्रकाव्य कहते हैं, यह मुख्य रूप से यथार्थ काव्य नहीं है, अपितु काव्य की अनुकृतिमात्र है। उनमें से कुछ शब्दचित्र होते हैं जैसे दुष्कर यमक आदि। और अर्थचित्र उस शब्दचित्र से भिन्न व्यङ्ग्य संस्पर्शरहित रसादि तात्पर्य से शून्य प्रधान वाक्यार्थ रूप से स्थित उत्प्रेक्षा आदि अर्थचित्त या वाच्यचित्र होते हैं।

लोचनम्

एवं व्यङ्ग्यस्वरूपं निरूप्य सर्वथा यत्तच्छून्यं तत्र का वार्तेति निरूपयितुमाह–*प्रधानेत्यादिना।* कारिकाद्वयेन। *शब्दचित्रमिति।* यमकचक्रबन्धादिचित्रतया प्रसिद्धमेव तत्तुल्यमेवार्थचित्रं मन्तव्यमिति भावः। *आलख्यप्रख्यमिति।* रसादिजीवरहितं मुख्यप्रतिकृतिरूपं चेत्यर्थः।

एवमिति– इस प्रकार व्यङ्ग्य का स्वरूप निरूपण कर जो सर्वथा उस व्यङ्ग्य से शून्य है, उसकी बात क्या? यह निरूपण करने के लिये कहते हैं– **प्रधानेति** इत्यादि दो कारिकाओं से। **शब्दचित्रमिति** शब्दचित्र। भाव यह कि यमक, चित्रबन्ध आदि चित्ररूप से प्रसिद्ध ही हैं, उनके तुल्य ही अर्थचित्र वे भी समझना चाहिये। **आलेख्यतुल्यमिति** आलेख्य की भाँति। अर्थात् रसादिरूप जीव से रहित और मुख्य अनुकरणरूप।

ध्वन्यालोक:

अथ किमिदं चित्रं नाम? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः। प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक्प्रदर्शितः। तत्र यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन।

पूर्वपक्ष– अच्छां यह चित्रकाव्य क्या है? क्या वह जिसमें प्रतीयमान व्यङ्ग्य अर्थ का सम्बन्ध न हो? (उसीको चित्रकाव्य कहते हैं न?) प्रतीयमान अर्थ वस्तु, अलङ्कार और रसादि रूप से तीन प्रकार का होता हैं इसे, पहले प्रतिपादन कर चुके हैं। उनमें से जहाँ वस्तु अथवा अलङ्कारादि व्यङ्ग्य न हो इस कारण उसे चित्रकाव्य का विषय भले ही मान लिया जाय, परन्तु जो रसादि का विषय न हो ऐसा कोई काव्य संभव नहीं है। क्योंकि काव्य में किसी वस्तु का संस्पर्श (पदार्थबोधकत्व) न हो यह युक्तिसंगत नहीं है। और संसार की सभी वस्तुयें किसी रस या भाव का अङ्ग अवश्य बन जाती है (अन्य रूप से रस सम्बन्ध न संभव हो सके तो भी अन्ततः विभाव रूप से। (प्रत्येक वस्तु का किसी न किसी रस से सम्बन्ध हो ही जाता है) रसादि के (अनुभवात्मक होने से और अनुभव के चित्तवृत्ति रूप होने से) चित्तवृत्ति विशेष रूप ही है। और संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो किसी प्रकार की चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करे। और वह वस्तु उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न नहीं करती है, वह कवि का विषय हो ही नहीं सकती है। (क्योंकि सांख्य-योग आदि दर्शनों के सिद्धान्त में इन्द्रिय प्रणालिका श्रोत्र आदि द्वारा चित्त का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर चित्त का

लोचनम्

***अथ किमिदमिति।* आक्षेपे वक्ष्यमाण आशयः। अत्रोत्तरम्– *यत्र नेति।* आक्षेप्ता स्वाभिप्रायं दर्शयति–*प्रतीयमान इति। अवस्तुसंस्पर्शितेति।* कचटतपादिवन्निरर्थकत्वं दशदाडिमादिवदसंबद्धार्थत्वं वेत्यर्थः।**

अथ किमिदमिति यह आक्षेप में वक्ष्यमाण है यह आशय है। **अत्रोत्तरमिति**– यहाँ उत्तर है– जहाँ प्रतीयमान। आक्षेप करने वाला अपना अभिप्राय दिखाता है– **प्रतीयमान– अवस्तुसंस्पर्शितेति** वस्तुसंस्पर्श का अभाव। अर्थात् क च ट त प आदि की भाँति निरर्थक होगा अथवा दश दाडिम आदि की भाँति असम्बद्ध होगा।

ध्वन्यालोकः

चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद्यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते।

अत्रोच्यते– सत्यं न तादृक्काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किं तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य

अर्थाकार जो परिणाम होता है उसी को चित्तवृत्ति कहते हैं। और उसी से पुरुष को बोध होता है। चित्तवृत्ति प्रमाण अर्थात् प्रमा का साधनरूप होती है, और उससे पुरुष को जो बोध होता है वही प्रमा या उसका फल कहलाता है। इसी को ज्ञान कहते हैं इसलिये यदि चित्तवृत्ति उत्पन्न न हो तो उस पदार्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकता है अत: वह कवि के ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है। कवि का विषयभूत कोई पदार्थ ही चित्रकाव्य पर कविकर्म कहा जाता है।

(सिद्धान्त पक्ष) इसका उत्तर देते हैं– ठीक है। ऐसा कोई काव्यप्रकार नहीं है जिससे रसादि की प्रतीति न हो। किन्तु रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित कविजन अर्थालङ्कार अथवा शब्दालङ्कार की रचना करते है तब उसकी

लोचनम्

ननु मा भूत्कविविषय इत्याशङ्क्याह–*कविविषयश्चेति।* काव्यरूपतया यद्यपि न निर्दिष्टस्तथापि कविगोचरीकृत एवासौ वक्तव्यः। अन्यस्य वासुकिवृत्तान्ततुल्यस्येहाभिधानायोगात् कवेश्चेद्गोचरो नूनममुना प्रीतिर्जनयितव्या सा चावश्यं विभावानुभावव्यभिचारिपर्यवसायिनीति भावः। *किं त्विति।*

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथंचन।

कवि का विषय मत हो (तो क्या हानि है?) यह आशङ्का कर कहते हैं– **कवि विषयश्चेति**– और कवि का विषय। भाव यह कि काव्यरूप से यद्यपि निर्दिष्ट नहीं है तथापि उसे कवि द्वारा गोचरीकृत ही कहना चाहिये, क्योंकि वासुकि के वृत्तान्त के सदृश अन्य का यहाँ अभिप्राय नहीं है, यदि कवि का गोचर है तो निश्चय ही इसे प्रीति उत्पन्न करनी चाहिये, और वह प्रीति अवश्य ही विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी में पर्यवसित होती है। **किं त्विति** किं तु। अर्थात् तत्पर रूप से विवक्षा होनी चाहिये। अङ्गी रूप से नहीं होनी चाहिये, इत्यादि जो अलङ्कार के निवेशन में समीक्षा का प्रकार कहा है जब उसे अनुसरण नहीं करता है। **रसादिशून्येति** वहाँ रस

ध्वन्यालोकः

परिकल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते। तदिदमुक्तम्–

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥

विवक्षा की दृष्टि से काव्य में रसादिशून्यता की कल्पना करते हैं। काव्य में विवक्षित अर्थ ही शब्द का अर्थ होता है।

उस प्रकार के चित्रकाव्य के विषय में कवि की रसादिविषयक विवक्षा न होने पर भी यदि रसादि की प्रतीति होती है तो वह दुर्बल होती है, इसलिये उसको नीरस मान कर चित्रकाव्य का विषय माना गया है। जैसा कि कहा भी हैं—

रसेति– रस, भाव आदि की विवक्षा के अभाव में जो अलङ्कारों की रचना है वह चित्रकाव्य का विषय माना गया है॥

लोचनम्

इत्यादिर्योऽलङ्कारनिवेशने समीक्षाप्रकार उक्तस्तं यदा नानुसरतीत्यर्थः *रसादिशून्येति।* नैव तत्र रसप्रतीतिरस्ति यथा पाकानभिज्ञसूदविरचिते मांसपाकविशेषे। ननु वस्तुसौन्दर्यादवश्यं भवति कदाचित्तथास्वादोऽकुशलकृतायामपि शिखरिण्यामिवेत्याशङ्क्याह–*वाच्येत्यादि। अनेनापीति।* पूर्वं सर्वथा तच्छून्यत्वमुक्तमधुना तु दौर्बल्यमित्यपिशब्दस्यार्थः। अज्ञकृतायां च शिखरिण्यामहो शिखरिणीति न तज्ज्ञानाच्चमत्कारः अपि तु दधिगुडमरिचं चैतदसमञ्जसयोजितमिति वक्तारो भवन्ति। *उक्तमिति।* मयैवेत्यर्थः।

को प्रतीति नहीं ही है। जैसे पाकक्रिया को न जानने वाले रसोईदार के बनाये हुये किसी मांस के पाक में। वस्तु के सौन्दर्य से भी उस प्रकार का आस्वाद कदाचित् हो सकता है जैसे अकुशल व्यक्ति द्वारा दही आदि को मिला कर बनाई हुई शिखरिणी में, यह आशङ्का कर कहते हैं– **वाच्येत्यादि** वाच्य की सामर्थ्य के वश। **अनेनापीति**– इस प्रकार से भी पहले तो उस रसादि से शून्यत्व कहा है, अब उसका दौर्बल्य भी कहते है यह अपि शब्द का अर्थ है। अज्ञ द्वारा रचित शिखरिणी में अहो कितनी स्वादिष्ट शिखरिणी है। यह चमत्कारयुक्त आस्वाद शिखरिणी के विशेषज्ञों को नहीं होता, बल्कि वह दही, गुड़ और मरीच को बेकायदे डाल कर बनाया गया है ऐसा

ध्वन्यालोकः

रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः ॥'

एतच्च चित्रं कवीनां विशृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः। यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार

और जब रस, भाव आदि की तात्पर्य (प्रधानरूप) से विवक्षा हो तब ऐसा कोई काव्य नहीं हो सकता है जो ध्वनि का विषय न हो।।२।।

विशृङ्खल वाणी वाले कवियों की रसादि में तात्पर्य की अपेक्षा किये बिना ही काव्य-रचना की प्रवृत्ति देखने से ही हमने इस चित्रकाव्य की कल्पना की है। उचित काव्य-मार्ग का निर्धारण कर दिये जाने पर ध्वनि-प्रस्थापन के बादके आधुनिक कवियों के लिये तो ध्वनि से भिन्न और कोई काव्यप्रकार है ही नहीं। रसादि तात्पर्य के बिना परिपाकवान् कवियों का व्यापार ही शोभित नहीं होता। (यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्। तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते। रसादि की दृष्टि से उचित शब्द और अर्थ की जिसमें एक भी शब्द को इधर-उधर अथवा परिवर्तन करने की आवश्यकता न हो, इस प्रकार की रचना का जिनको अभ्यास हो गया है वह कवि परिपाकयुक्त कवि होता है)।

लोचनम्

अलङ्काराणां शब्दार्थगतानां निबन्ध इत्यर्थः। ननु 'तच्चित्रमभिधीयते' इति किमनेनोपदिष्टेन। अकाव्यरूपं हि तदिति कथितम्। हेयतया तदुपदिश्यत इति चेत्– घटे कृते कविर्न भवतीत्येतदपि वक्तव्यमित्याशङ्क्य कविभिः खलु तत्कृतमतो हेयतयोपदिश्यत इत्येतन्निरूपयति– *एतच्चेत्यादिना। परिपाकवतामिति।* शब्दार्थविषयो रसौचित्यलक्षणः परिपाको विद्यते येषाम्।

लोग कहने लगते हैं। **उक्तमिति**– कहा है अर्थात् मैंने ही **अलङ्कारेति** अर्थात् शब्दगत और अर्थगत अलङ्कारों का निबन्ध। तब उस चित्र का अभिधान करते हैं। इस उपदेश से क्या लाभ? क्योंकि स्वयं उसे अकाव्य कह चुके हैं। यदि कहें कि हेय रूप होने से उसका उपदेश करते हैं तो घट-निर्माण करने पर कवि नहीं होता है, यह भी कहना चाहिये, इस आशङ्का पर कहते हैं कि कवियों ने उसे किया है इसलिये हेय रूप से उसका निरूपण करते हैं– **एतच्चेत्यादिना। परिपाकवतामिति** परिपाक वाले। शब्द

ध्वन्यालोकः

एव न शोभते। रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणीभवति। अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचितरसविभावतया चेतनवृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम्। तथा चेदमुच्यते–

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

रसादि में तात्पर्य होने पर तो कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो अभिमत रस का अङ्ग बनाने पर चमक न उठे। (प्रशस्त गुणयुक्त न हो जाय) अचेतन पदार्थ भी कोई ऐसे नहीं है जो कि ढङ्ग से उचित रस के विभावरूप से अथवा उनके साथ चेतन-व्यवहार के सम्बन्ध द्वारा रस का अङ्ग न बन सके जैसा कि कहा भी है– **अपार इति।**

अनन्त काव्य जगत् में उसका निर्माता कवि ही एक प्रजापति (ब्रह्मा) है। उसे जैसा अच्छा लगता है वह काव्य-विश्व उसी प्रकार बदल जाता है।

लोचनम्

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।

इत्यपि रसौचित्यशरणमेव वक्तव्यमन्यथा निर्हेतुकं तत्। ***अपार इति।*** **अनाद्यन्त इत्यर्थः। यथारुचि परिवृत्तिमाह–*शृङ्गारीति।* शृङ्गारोक्तविभावानुभावव्यभिचारिचर्वणारूपप्रतीतिमयो न तु स्त्रीव्यसनीति मन्तव्यम्। अत एव भरतमुनिः–'कवेरन्तर्गतं भावं' 'काव्यार्थान् भावयति' इत्यादिषु कविशब्दमेव मूर्धाभिषिक्ततया प्रयुङ्क्ते। निरूपितं चैतद्रसस्वरूपनिर्णयावसरे। *जगदिति।* तद्रसनिमज्जनादित्यर्थः। शृङ्गारपदं**

और अर्थ का रसौचित्यरूप परिपाक है जिनका। **यत्पदानीति**– जो पद परिवर्तन का सहन नही करते उसे शब्दन्यास में निष्णात लोग शब्दपाक कहते हैं।

यह रसौचित्य की शरण में ही कहना चाहिये, अन्यथा उसका कोई कारण न होगा। **अपार** इति अपार। अर्थात् आदि– अन्तरहित। रुचि के अनुसार परिवर्त्तन कहते हैं– **शृङ्गारीति।** शृङ्गार के उक्त विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव की चर्वणारूप प्रतीति रखने वाला न कि स्त्रीव्यसनी ऐसा समझना चाहिये अतएव भरत मुनि ने **कवेरिति** कवि के अन्तर्गत भाव को काव्य के अर्थों का भावन करता है इत्यादि में कवि शब्द को ही मूर्धाभिषिक्त रूप से प्रयोग किया है। रसस्वरूप के निर्णय के अवसर में इसे निरूपण कर चुके है। **जगदिति** संसार। अर्थात् उस रस में डूब जाने से रसमय

ध्वन्यालोकः

श्रृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥
भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥

तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते। तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति। सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते। अस्माभिरपि स्वेषु काव्यप्रबन्धेषु यथायथं दर्शितमेव। स्थिते चैवं सर्व एव काव्यप्रकारो

यदि कवि श्रृङ्गारप्रधान रसिक है तो वह सारा जगत् रसमय (श्रृङ्गारमय) हो जाता है और वह वैरागी है तो यह सारा काव्यजगत् नीरस हो जाता है।

सुकवि अपने काव्य में अचेतन पदांर्थो को भी चेतन के समान और चेतन पदार्थों को भी अचेतन के समान जैसा चाहता है वैसा व्यवहार कराता है।

इसलिये पूर्णरूप से रस में तत्पर कवि की ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती है जो उसकी इच्छा से उसके अभिमत रस का अङ्ग न बन जावे। अथवा इस प्रकार रसाङ्गतया उपनिबद्ध होकर चारुत्वातिशय को पोषित न करे। यह सब कुछ महाकवियों के काव्यों में दृष्टिगोचर होता है। हमने भी अपने काव्य-प्रबन्धों (विषमबाणलीला, अर्जुनचरित, देवीशतक आदि) में उचित रूप से दिखलाया

लोचनम्

रसोपलक्षणम्। ***स एवेति।*** **यावद्रसिको न भवति तदा परिदृश्यमानोऽप्ययं भाववर्गो यद्यपि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यमात्रं लौकिकं वितरति, तथापि कविवर्णनोपारोहं विना लोकातिक्रान्तरसास्वादभुवं नाधिशेत इत्यर्थः। चारुत्वातिशयं यन्न पुष्णाति तन्नास्त्येवेति संबन्धः।** ***स्वेष्विति।*** **विषमबाणलीलादिषु।** ***हृदयवतीष्विति।*** **'हिअअललिआ' इति**

हो गया। श्रृङ्गार पद समस्त रसों का उपलक्षण है। **स एवेति** वही। अर्थात् जब तक रसिक नहीं होता तब तक परिदृश्यमान भी वह भावसमूह यद्यपि लौकिक सुख-दुःख मोह के माध्यस्थ (अनुभवमात्र का वितरण करता है। तथापि कवि के वर्णन के उपारोह के बिना अलौकिक रसास्वाद की भूमि को नहीं प्राप्त कर सकता। जो अतिशय चारुत्व की पुष्टि नहीं करता वह कवि नहीं ही है यह वाक्य का सम्बन्ध हैं– **स्वेष्विति।** अपने काव्य प्रबन्धों में। विषमवाणलीला आदि में **हृदयवतीष्विति** हियअललिया इस प्रकार

ध्वन्यालोकः

न ध्वनिधर्मतामतिपतति रसाद्यपेक्षायां कवेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गतामवलम्बत इत्युक्तं प्राक्। यदा तु चाटुषु देवतास्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानं हृदयवतीषु च सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद्व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्ये प्राधान्यं तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य ध्वनिनिष्पन्दभूतत्वमेवेत्युक्तं प्राक्। तदेवमिदानींतनकविका-

है। इस प्रकार सब पदार्थों का रस के साथ सम्बन्ध स्थिर हो जाने पर (सभी) कोई भी काव्यप्रकार ध्वनिरूपता का अतिक्रमण नहीं करता। कवि को रसादि की अपेक्षा होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य रूप भेद भी रसध्वनि का अङ्ग बन जाता है। इसे पहले कह चुके हैं।

जब राजा आदि की स्तुतियों (चाटु खुशामद रूप राजादि की स्तुति) अथवा देवताओं की स्तुतियों में रसादि की अङ्गरूप (भावरूप) से स्थिति हो और प्राकृत कवियों की गोष्ठी में 'हिअअललिया' नाम से प्रसिद्ध विशेष प्रकार की हृदयवती नामक सहृदयों (सप्रज्ञकाः सहृदया उच्यन्ते इति लोचनम्) की किन्हीं गाथाओं में व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य में प्राधान्य हो तब भी गुणीभूत व्यङ्ग्य ध्वनि की विशेष धारा रूप ही होता है। यह बात पहले कह आये हैं (दीधितिकार ने

लोचनम्

प्राकृतकविगोष्ठ्यां प्रसिद्धासु। त्रिवर्गोपायोपेयकुशलासु सप्रज्ञाकाः सहृदया उच्यन्ते। तद्गाथा यथा भट्टेन्दुराजस्य–

लङ्घिअगअणा फलहीलआओ होन्तुत्ति वड्ढअन्तीअ।
हालिअस्स आसिसं पालिवेसवतुआ विणिट्ठविआ॥

अत्र लङ्घितगगना कर्पासलता भवन्त्विति हालिकस्याशिषं वर्धयन्त्या प्रातिवेश्यवधुका निर्वृतिं प्रापिता इति चौर्यसंभोगाभिलाषिणीयमित्यनेन व्यङ्ग्येन विशिष्टं वाच्यमेव सुन्दरम्।

से प्राकृत कवियों की गोष्ठियों में प्रसिद्ध गाथाओं में। धर्म आदि त्रिवर्ग के उपायरूप ज्ञातव्य में कुशल गोष्ठियों में सप्रज्ञक लोग सहृदय कहे जाते हैं। यह गाथा जैसे भट्ट इन्दुराज की– **लङ्घिअगअणेति** कपास की लतरें आकाश को लाँघ जाय यह हालिक को बार-बार असती हुई पड़ोस में रहने वाली स्त्री बहुत आनन्दित हुई।

यहाँ कपास की लतरें आकाश को लाँघ जाँय। यह हालिक को बार-बार असती हुई पड़ोस की रहने वाली स्त्री बहुत आनन्दित हुई। इससे 'चौर्य-सुरत की अभिलाषा रखने वाली है यह व्यङ्ग्य से विशिष्ट वाच्य ही सुन्दर है।

ध्वन्यालोकः

व्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्। तदयमत्र संग्रहः–

यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते।
संवृत्त्याभिहितौ वस्तु यत्रालङ्कार एव वा॥

सप्रज्ञक की जगह षट्प्रज्ञक पाठ माना है। धर्मार्थकाममोक्षेषु लोकतत्त्वार्थयोरपि षटसु प्रज्ञास्ति यस्योच्चैः षट्प्रज्ञ इति संस्मृतः)। इति त्रिकाण्डशेषः।

इस प्रकार ध्वनि के ही प्रधान होने पर आधुनिक कवियों के लिये काव्यनीति का उपदेश करने में स्थिति इस प्रकार है कि केवल अभ्यासार्थी भले ही चित्रकाव्य का व्यवहार कर लें, परन्तु परिपक्व सिद्धहस्त कवियों के लिये तो ध्वनि ही एकमात्र काव्य है यह सिद्ध हो गया। इसलिये इस विषय में इतना सारांश संग्रह हुआ– **यस्मिन्निति।**

जिस काव्य-मार्ग में रस अथवा भाव तात्पर्य (प्रधान) रूप से प्रकाशित

लोचनम्

गोलाकच्छकुडङ्गे भरेण जम्बूसु पच्चमाणासु।
हलिअबहुआ णिअंसइ जम्बूरसरत्तअं सिअअम्॥

अत्र गोदावरीकच्छलतागहने भरेण जम्बूफलेषु पच्यमानेषु। हालिकवधूः परिधत्ते जम्बूफलरसरक्तं निवसनमिति त्वरितचौर्यसंभोगसंभाव्यमानजम्बूफलरसरक्तत्वपरभागनिह्नवनं गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्यलं बहुना।

ध्वनिरेव काव्यमिति। **आत्मात्मिनोरभेद एव वस्तुतो व्युत्पत्तये तु विभागः कृत इत्यर्थः। वाग्रहणात्तदाभासादेः पूर्वोक्तस्य ग्रहणम्।** ***संवृत्येति।***

गोदावरी नदी के तीर पर स्थित जामुनों के खूब पक जाने पर हालिक की पत्नी जामुन के रस से रंगा हुआ कपड़ा धारण करती है। यहाँ त्वरित चौर्य-संभोग जो संभाव्यमान है उसके लिए जानुन के रस की लाली परमभाग (दूसरे अंश) का गोपन गुणीभूत व्यङ्ग्य है। **अलं बहुना।**

ध्वनिरेव काव्यमिति ध्वनि ही काव्य है। अर्थात् आत्मा आत्मी (शरीर) का वस्तुतः अभेद ही है, किन्तु विभाग व्युत्पत्ति के लिये किया है। वा ग्रहण से पूर्वोक्त 'तदाभास' आदि का ग्रहण है। **संवृत्येति**– गोपन प्रकार से।

ध्वन्यालोकः

काव्याध्वनि ध्वनिर्व्यङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः ।
सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैर्जनैः ॥
सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा ॥४३॥

तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येन वाच्यालङ्कारैश्च सङ्करसंसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदता लक्ष्ये दृश्यते। तथाहि

हो अथवा जिसमें गोप्यमान रूप से (कामिनी कुचकलशवत् सौन्दर्यातिशयहेतु से) वस्तु अथवा अलङ्कार प्रकाशित हो उन सब में केवल व्यङ्ग्य के प्राधान्य के कारण सहृदयजन ध्वनि को विषयी (तीनों प्रकार की ध्वनि जिसका विषय है ऐसा अथवा) प्रधान समझें॥४३॥

अलङ्कारों के सहित, गुणीभूत व्यङ्ग्यों के सहित और अपने भेदों के साथ संकर तथा संसृष्टि से ध्वनि फिर अनेक प्रकारों से प्रकाशित होता है॥४४॥

उस ध्वनि के अपने भेदों के साथ, गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ और वाच्यालङ्कारों के साथ संकर और संसृष्टि (दो या अधिक भेदों वाली परस्पर

लोचनम्

गोप्यमानतया लब्धसौन्दर्य इत्यर्थः। *काव्याध्वनीति। काव्यमार्गे।* विषयीति। स त्रिविधस्य ध्वनेः काव्यमार्गो विषय इति यावत्॥४१-४२॥

एवं श्लोकद्वयेन संग्रहार्थमभिधाय बहुप्रकारत्वप्रदर्शिकां पठति– *सगुणीति।* सहगुणीभूतव्यङ्ग्येन सहालंकारैर्ये वर्तन्ते स्वे ध्वनेः प्रभेदास्तैः संकीर्णतया संसृष्ट्या वानन्तप्रकारो ध्वनिरिति तात्पर्यम्। बहुप्रकारतां दर्शयति–*तथाहीति।* स्वभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येनालंकारैः प्रकाश्यत इति त्रयो भेदाः। तत्रापि प्रत्येकं संकरेण संसृष्ट्या चेति षट्। संकरस्यापि त्रयः

अर्थात् गोप्यमानरूप से प्राप्त सौन्दर्य वाले। **काव्याध्वनीति** काव्य के मार्ग में। **विषयीति**– वह काव्य-मार्ग तीन प्रकार के ध्वनियों का विषय है।

इस प्रकार दो श्लोकों से संग्रहार्थ का अभिधान कर ध्वनि का बहुप्रकारत्व प्रदर्शन करने वाली कारिका पढ़ते हैं– **सगुणीति** वह ध्वनि– गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ तथा अलङ्कारों के साथ और ध्वनि के अपने प्रभेदों के साथ सङ्कीर्ण होने के कारण अथवा संसृष्टि के कारण ध्वनि अनन्त प्रकार की है यह तात्पर्य है। उस बहुप्रकारता को प्रदर्शित करते हैं– **तथाहीति**– जैसा कि– ध्वनि अपने प्रभेदों के साथ, गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ, अलङ्कारों के साथ प्रकाशित होता है। इस प्रकार उसके तीन भेद

ध्वन्यालोकः

स्वप्रभेदसङ्कीर्णः, स्वप्रभेदसंसृष्टो गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णो गुणीभूतव्यङ्ग्यसंसृष्टो वाच्यालङ्कारान्तरसङ्कीर्णो वाच्यालङ्कारान्तरसंसृष्टः संसृष्टालङ्कारसङ्कीर्णः संसृष्टालङ्कारसंसृष्टश्चेति बहुधा ध्वनिः प्रकाशते।

तत्र स्वप्रभेदसङ्कीर्णत्वं कदाचिदनुग्राह्यानुग्राहकभावेन। यथा– 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादौ। अत्र ह्यर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूप-

निरपेक्ष स्वतन्त्र रूप से एक जगह स्थिति को संसृष्टि कहते हैं और अङ्गाङ्गिभाव आदि रूप में स्थिति होने पर सङ्कर होता है। सङ्कर के अङ्गाङ्गिभावसंकर, एकाश्रयानुप्रवेशंकर और सन्देहसङ्कर ये तीन भेंद होते हैं) की व्यवस्था करने पर लक्ष्य काव्यों में बहुत भेद दिखाई देते हैं। इस प्रकार (१) अपने भेदों (ध्वनि के मुख्य भेदों) के साथ सङ्कीर्ण (त्रिविध सङ्कर (युक्त) (२) अपने भेदों के साथ संसृष्ट (अनपेक्षया स्थित) (३) गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ संकीर्ण (४) गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ संसृष्ट (५) वाच्य अन्य अलङ्कारों के साथ संकीर्ण (६) वाच्य अन्यत्र अलङ्कारों के साथ संसृष्ट (७) संसृष्ट अलङ्कारों के साथ सङ्कीर्ण (८) संसृष्ट अलङ्कारों के साथ संसृष्ट इस रूप में बहुत प्रकार का ध्वनि प्रकाशित होता है।

उनमें से अपने भेदों के साथ सङ्कर तीन प्रकार का होता है जिसमें पहला प्रकार कभी अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव से होता है– जैसे **एवंवादिनि देवर्षौ** इत्यादि

लोचनम्

प्रकाराः अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन संदेहास्पदत्वेनैकपदानुप्रवेशेनेति द्वादश भेदाः। पूर्वं च ये पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः। स्वप्रभेदास्तावन्तोऽलंकार इत्येकसप्ततिः। तत्र संकरत्रयेण संसृष्ट्या च गुणने द्वे शते चतुरशीत्यधिके। तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्तसहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि भवन्ति। अलंकाराणामाननत्यात्वसंख्यत्त्वम्।

हुये। उनमें भी प्रत्येक सङ्कर और संसृष्टि से छः हुये। सङ्कर के भी तीन प्रकार हैं– अनुग्राह्यानुग्राहक-भाव से, सन्देहास्पद होने से और एकपदानुप्रवेश से इस प्रकार १२ भेद हुये और पहले जो ३५ भेद कहे जा चुके हैं वे गुणीभूत व्यङ्ग के भी माने जाने चाहिये। उनमें ३५ अपने प्रभेद अलङ्कार से भी इस प्रकार ७१ भेद हुये। वहाँ तीन सङ्कर और संसृष्टि से गुणन करने पर २८४ भेद हुये। उसके साथ ३५ मुख्य भेदों का गुणन करने से ७४२० सात हजार चार सौ बीस होते हैं। अलङ्कारों के आनन्त्य से ध्वनिभेद असंख्य हो जाता है।

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदेनालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदोऽनुगृह्यमाणः प्रतीयते। एवं कदाचित्प्रभेदद्वयसम्पातसन्देहेन। यथा–

खणपाहुणिआ देअर एसा जाआएँ किंपि दे भणिदा।
रुअई पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई॥
(क्षणप्राघुणिका देवर एषा जायया किमपि ते भणिता।
रोदिति शून्यवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ।इति च्छाया।)

में। यहाँ अर्थ शक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य लज्जा अथवा अवहित्थाभेद से असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (अभिलाषहेतुक विप्रलम्भशृङ्गार अनुगृह्यमाण (परिपोष्यमाण) प्रतीत होता है। लज्जा यहाँ व्यभिचारीभाव रूप से प्रतीत हो रही है, इसलिये भावरूप न होने से संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य हैं। और यह अभिलाषहेतुक विप्रलम्भ का पोषण कर रही है। इस प्रकार यहाँ अङ्गाङ्गिभाव संकर है।

कभी दो भेदों के आ जाने से संदेह संकर होता है जैसे हे देवर! तुम्हारी पत्नी जो उत्सव में पाहुनी रूप से आई हुई है, उससे कुछ कह दिया गया है जिससे वह शून्य वलभीगृह में रो रही है, उस विचारी को मना लेना चाहिये।

लोचनम्

तत्र व्युत्पत्तये कतिपयभेदेषूदाहरणानि दित्सुः स्वप्रभेदानां कारिकायामन्यपदार्थत्वेन प्रधानतयोक्तत्वात्तदाश्रयाण्येव चत्वार्युदाहरणान्याह– *तत्रेति। अनुगृह्यामाण इति।* लज्जया हि प्रतीतया। अभिलाषशृङ्गारोऽत्रानुगृह्यते व्यभिचारिभूतत्वेन। क्षण उत्सवस्तत्र निमन्त्रणेनानीता हे देवर! एषा ते जायया किमपि भणिता रोदिति। पडोहरे शून्ये वलभीगृहे अनुनीयतां वराकी। सा तावद्देवरानुरक्ता तज्जायया विदितवृत्तान्तया किमप्युक्तेत्येषोक्तिस्तद्वृत्तान्तं दृष्टवत्या अन्यस्यास्तद्देवरचौरकामिन्याः।

वहाँ व्युत्पत्ति के लिये कतिपय भेदों के उदाहरण देने की इच्छा रखने वाले (वृत्तिकार) कारिका में दो बहुव्रीहियों में अन्य पदार्थ होने से प्रधान रूप से उक्त होने के कारण उनके आश्रित चार उदाहारण प्रस्तुत करते हैं– **तत्रेति** उनमें। **अनुगृह्यमाण** इति– प्रतीत होने वाली लज्जा से। व्यभिचारी रूप से अभिलाष शृङ्गार यहाँ अनुगृहीत होता है। क्षण अर्थात् उत्सव उसमें निमन्त्रण द्वारा बुलाई गई, हे देवर! यह तेरी पत्नी से कुछ कहे जाने के कारण रो रही है। शून्य वलभीगृह (सूनी अटारी) में मनावन करो। वह उस देवर में अनुराग करती है, वृत्तान्त जान कर उसकी पत्नी ने उसे कुछ कह दिया। उस वृत्तान्त को देखने वाली अन्य उस देवर की चौरकामिनी की यह

ध्वन्यालोकः

अत्र ह्यनुनीयतामित्येतत्पदमर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन च सम्भाव्यते। न चान्यतरपक्षनिर्णये प्रमाणमस्ति। एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यङ्ग्यत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य स्वप्रभेदान्तरापेक्षया बाहुल्येन सम्भवति। यथा–'स्निग्धश्यामल'

यहाँ 'अनुनीयताम्' यह पद (उपभोग प्रकर्षसूचकरूप प्रयोजन से तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा द्वारा) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यरूप (अविवक्षितवाच्य तथा रोदननिवृत्तजनक व्यापाररूप अनुनय अभिधा द्वारा बाधित होने से और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि दोनों रूप से संभव है और दोनों ही पक्षों में उपभोग के व्यङ्ग्य होने से किसी पक्ष में निर्णय करने में प्रमाण (विनिगमक) नहीं है अतः यहाँ सन्देहसङ्कर है।

असंलक्ष्यक्रमरसादि ध्वनि का अपने अन्य प्रभेदों के साथ एकाश्रयानुप्रवेश रूप सङ्कर बहुत अधिक हो सकता है। क्योंकि काव्यों में एक ही पद से अनेक रसादि तथा भावादि की अभिव्यक्ति पायी जाती है; जैसे 'स्निग्ध श्यामल' इत्यादि में। यहाँ स्निग्धश्यामल इत्यादि से विप्रलम्भ शृङ्गार और उसके व्यभिचारी भाव शोकावेग दोनों ही अभिव्यक्ति होने से एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर है। अपने भेद के

लोचनम्

तत्र तव गृहिण्यायं वृत्तान्तो ज्ञात इत्युभयतः कलहायितुमिच्छन्त्येवमाह। तत्रार्थान्तरे संभोगेनेकान्तोचितेन परितोष्यतामित्येवंरूपे वाच्यस्य संक्रमणम्। यदि वा त्वं तावदेतस्यामेवानुरक्त इतीर्ष्याकोपतात्पर्यादनु-नयनमन्यपरं विवक्षितम्। एषा तवेदानीमुचितमगर्हणीयंप्रेमास्पदमित्यनुनयो विवक्षितः, वयं त्विदानीं गर्हणीयाः संवृत्ता इत्येतत्परतया उभयतापि च स्वाभिप्रायप्रकाशनादेकतरनिश्चये प्रमाणाभाव इत्युक्तम्। विवक्षितस्य हि

उक्ति है वहाँ तुम्हारी घरवाली ने यह वृत्तान्त जान लिया है, अतः दोनों ओर लड़ाई लगाना चाहती हुई इस प्रकार कहती है। अतः वहाँ उस एकान्त में उचित संभोग से उसे परितुष्ट करो। इस प्रकार के अर्थान्तर में वाच्य का संक्रमण है। अथवा तुम तो इसी में अनुरक्त हो। इस ईर्ष्याकोप के तात्पर्य से अन्य पर ईर्ष्याकोप व्यङ्ग्य में तात्पर्य वाला अनुनयन विवक्षित है। 'इस समय वह तुम्हारे लिये उचित अगर्हणीय प्रेमास्पद है' इस प्रकार का अनुनय विरक्षित है 'हम तो अब गर्हणीय हो ही गई' इसमें तात्पर्य होने के कारण और दोनों में अपना अभिप्राय प्रकाशन करने से एक पक्ष के निश्चय में प्रमाण नहीं है यह कहा है।

ध्वन्यालोक:

इत्यादौ। स्वप्रभेदसंसृष्टत्वं च यथा पूर्वोदाहरण एव। अत्र ह्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च संसर्गः। गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णत्वं यथा–'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादौ। यथा वा–

साथ संसृष्टि जैसे पूर्वोक्त (स्निग्ध श्यामल) उदाहरण में ही। (यहाँ रामपद के अत्यन्त दुःखसहिष्णु रामपरक होने से) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और लिप्त तथा सुहृत् शब्द से व्यङ्ग्य) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का (निरपेक्षतया स्थिति रूप) संसर्ग होने से संसृष्टि है। गुणीभूतव्यङ्ग्य का (ध्वनि के साथ) सङ्कर का उदाहरण– जैसे 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः।' इत्यादि श्लोक में।

इसी गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ सङ्कर का दूसरा उदाहरण देते हैं– जैसे– **कर्त्तेति** (वेणीसंहार नाटक के पञ्चम अङ्क में कौरवों के विध्वंस करने के बाद भागे हुये दुर्योधन को खोजते हुये भीम और अर्जुन की यह उक्ति है।

लोचनम्

स्वरूपस्थस्यैवान्यपरत्वम्, संक्रान्तिस्तु तस्यैतद्रूपतापत्तिः। यदि वा देवरानुरक्ताया एव तं देवरमन्यया सहावलोकितसंभोगवृत्तान्तं प्रतीयमुक्तिः, देवरेत्यामन्त्रणात्। पूर्वव्याख्याने तु तदपेक्षया देवरेत्यामन्त्रणं व्याख्यातम्। ***बाहुल्येनेति।*** **सर्वत्र काव्ये रसादितात्पर्यं तावदस्ति तत्र रसध्वनेर्भावध्वनेश्चैकेन व्यञ्जकेनाभिव्यञ्जनं स्निग्धश्यामलेत्यत्र विप्रलम्भशृङ्गारस्य तद्व्यभिचारिणश्च शोकावेगात्मनश्चर्वणीयत्वात्। एवं त्रिविधं संकरं व्याख्याय संसृष्टिमुदाहरति–*स्वप्रभेदेति। अत्र हीति।* लिप्तशब्दादौ तिरस्कृतो वाच्यः, रामादौ तु संक्रान्त इत्यर्थः।**

विवक्षितवाच्य का अपने रूप में स्थित अवस्था में ही अन्यपरत्व है, किन्तु सङ्क्रान्ति उसका अन्य रूप को प्राप्त होना है। अथवा देवर में अनुरक्त ही नायिका को अन्य नायिका के साथ जिसका संभोग वृत्तान्त देख चुकी है ऐसे देवर के प्रति यह उक्ति है, क्योंकि देवर। यह आमन्त्रण पद है। किन्तु पूर्व व्याख्यान में उसकी (जो पहुनी है) अपेक्षा से 'देवर।' यह आमन्त्रण व्याख्यात है। **बाहुल्येनेति** बहुत। सभी काव्य में रसादि का तात्पर्य है, वहाँ रसध्वनि और भावध्वनि का एक व्यञ्जक द्वारा अभिव्यञ्जन है क्योंकि 'स्निग्ध श्यामल' यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार और शोकावेग रूप व्यभिचारी चर्वणीय है। इस प्रकार त्रिविध सङ्कर का व्याख्यान कर संसृष्टि का उदाहरण देते हैं– **स्वप्रभेदेति** अपने प्रभेद। **अत्र हीति** यहाँ। अर्थात् लिप्त आदि शब्द में वाच्य तिरस्कृत हैं और राम आदि में सङ्क्रान्त है।

ध्वन्यालोकः

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः॥

पाण्डवों के राज्य का अपहरण करने के लिये जूये में शठतापूर्ण छल-प्रपञ्च करने वाला अतएव जूये में छली, पाण्डवों के विनाश के लिये वारणावत में बनाये गये लाक्षागृह में आग लगाने वाला, द्रौपदी के केश और वस्त्र खीचने में अपनी कुशलता प्रकट करने वाला, पाण्डवों को अपना दास बनाने वाला दु:शासन आदि का राजा, अपने १०० अनुजों का गुरु, (सबसे ज्येष्ठ) अङ्गराज कर्ण का मित्र वह अभिमानी दुर्योधन कहाँ है? हम दोनों भीम और अर्जुन इस समय क्रोध से नहीं, किन्तु उसे केवल देखने के लिये आये हुये हैं।

लोचनम्

एवं स्वप्रभेदं प्रति चतुर्भेदानुदाहृत्य गुणीभूतव्यङ्ग्यं प्रत्युदाहरति– *गुणीभूतेति।*

अत्र हीत्युदाहरणद्वयेऽपि। **अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्येति। रौद्रस्य** *व्यङ्ग्यविशिष्टेत्यनेन* **गुणता व्यङ्ग्यस्योक्ता। पदैरित्युपलक्षणे तृतीया। तेन तदुपलक्षितो योऽर्थो व्यङ्ग्यगुणीभावेन वर्तते तेन संमिश्रता संकीर्णता। सा चानुग्राह्यानुग्राहकभावेन सन्देहयोगेनैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति यथासंभवमुदाहरणद्वये योज्या। तथा हि–मे यदरय इत्यादिभिः सर्वैरिव पदार्थैः कर्तेत्यादिभिश्च विभावादिरूपतया रौद्र एवानुगृह्यते।**

कर्तेत्यादौ च प्रतिपदं प्रत्यवान्तरवाक्यं प्रतिसमासं च व्यङ्ग्यमुत्प्रेक्षितुं

इस प्रकार अपने प्रभेद के प्रति चारों भेदों को उदाहृत कर गुणीभूत व्यङ्ग्य के प्रति उदाहरण देते हैं– **गुणीभूतेति। अत्र हीति**– यहाँ दोनों उदाहरणों में। **अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्स्येति** अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की। व्यङ्ग्यविशिष्ट इस कथन से व्यङ्ग्य रौद्र का गुणभाव कहा है। **पदैरिति**– यहाँ उपलक्षण में तृतीया है। उससे उपलक्षित अर्थात् जो अर्थ गुणीभूतव्यङ्ग्यभाव से है उससे सम्मिश्रता अर्थात् सङ्कीर्णता। और उस सङ्कीर्णता को अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव से सन्देहयोग से और एक व्यञ्जकानुप्रवेश से यथासंभव दोनों उदाहरणों में लगा लेना चाहिये। जैसा कि **'मे यदरयः'** इत्यादि सभी पदार्थों से और **'कर्त्ता'** इत्यादि द्वारा विभावादि रूप से रौद्र ही अनुगृहीत होता है।

'कर्त्ता' इत्यादि में प्रतिपद, प्रति अवान्तर वाक्य, और प्रतिसमास व्यङ्ग्य की

ध्वन्यालोकः

अत्र ह्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वाक्यार्थीभूतस्य व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिभिः पदैः सम्मिश्रता। अत एव च पदार्थाश्रयत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य वाक्यार्थाश्रयत्वे च ध्वनेः सङ्कीर्णतायामपि न

यहाँ (न्यक्कारो और कर्त्ता द्युतच्छलानां इन दोनों श्लोकों में) वाक्यार्थीभूत (समस्त श्लोक से प्रकाशित) असंलक्ष्यिक्रमव्यङ्ग्य (रौद्रवीर या निर्वेद आदि किसी का नामतः उल्लेख नहीं किया गया है) का व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यार्थ (गुणीभूत व्यङ्ग्य को अभिधा से बोधन कराने वाले पदों से द्योत्य गुणीभूतव्यङ्ग्य) के साथ सङ्कर अङ्गाङ्गिभाव रूप है (पदैः सम्मिश्रिता पदैः पद से पदद्योत्य गुणीभूत व्यङ्ग्य अर्थ ही लेना चाहिये) क्योंकि साक्षात् पदों के साथ ध्वनि का सङ्कर संभव नहीं है।

इसलिये (उदाहरणों में ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनों के एक साथ पाये

लोचनम्

शक्यमेवेति न लिखितम्। पाण्डवा यस्य दासा इति तदीयोक्त्यनुकारः। तत्रगुणीभूतव्यङ्ग्यतापि योजयितुं शक्या, वाच्यस्यैव क्रोधोद्दीपकत्वात्। दासैश्च कृतकृत्यैः स्वाम्यवश्यं द्रष्टव्य इत्यर्थशक्त्यनुरणनरूपतापि। उभयथापि चारुत्वादेकपक्षग्रहे प्रमाणाभावः। एकव्यञ्जकानुप्रवेशस्तु तैरेव पदैः गुणीभूतस्य व्यङ्ग्यस्य प्रधानीभूतस्य च रसस्य विभावादिद्वारतयाभिव्यञ्जनात्। *अत एव चेति।* यतोऽत्र लक्ष्ये दृश्यते तत इत्यर्थः। ननु व्यङ्ग्यं गुणीभूतं प्रधानं चेति विरुद्धमेव तद्दृश्यमानमप्युक्तत्वान्न श्रद्धेयमित्याशङ्क्य व्यञ्जकभेदात्तावन्न विरोध इति दर्शयति–*अत एवेति। स्वेति* स्वप्रभेदान्तराणि

उत्प्रेक्षा की ही जा सकती है इसलिये इसे नहीं लिखा। 'पाण्डव जिसके दास हैं' यह उस दुर्योधन की उक्ति का अनुकरण है। वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्यभाव को भी लगा सकते हैं। क्योंकि वाच्य ही क्रोध का उद्दीपक है और कृतकृत्य दासों को चाहिये कि स्वामी को अवश्य देखें। यह अर्थशक्त्यनुरणनरूपता भी है। दोनों प्रकार से भी चारुत्व के कारण किसी एक पक्ष के ग्रहण में निश्चित प्रमाण नहीं है। एक व्यञ्जकानुप्रवेश तो उन्हीं पदों से गुणीभूत व्यङ्ग्य और प्रधानीभूत रस का विभावादि प्रकार के अभिव्यञ्जन से होता है। **अतएव चेति** और इसीलिये। अर्थात् जिस कारण उस लक्ष्य में देखा जाता है उस कारण। गुणीभूत और प्रधान व्यङ्ग्य देखे जाने पर भी विरुद्ध ही हैं, केवल कह देने से श्रद्धा के योग्य नहीं, यह आशङ्का कर व्यञ्जकभेद से विरोध नहीं है इसे दिखाते हैं– **अतएवेति** इसीलिये। **स्वेति** अपने-अपने अन्य प्रभेद सङ्कीर्ण रूप

ध्वन्यालोकः

विरोधः स्वप्रभेदान्तरवत्। यथाहि ध्वनिप्रभेदान्तराणि परस्परं सङ्कीर्यन्ते पदार्थवाक्यार्थाश्रयत्वेन च न विरुद्धानि।

किं चैकव्यङ्ग्याश्रयत्वे तु प्रधानगुणभावो विरुध्यते न तु व्यङ्ग्यभेदापेक्षया, ततोऽप्यस्य न विरोधः। अयं च सङ्करसंसृष्टि-व्यवहारो बहूनामेकत्र वाच्यवाचकभाव इव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽपि

जाने से) ध्वनि के अपने प्रभेदों के समान गुणीभूत व्यङ्ग्य को पदार्थ में आश्रित और ध्वनि को वाक्यार्थ में आश्रित मानने पर (उनका) सङ्कर होने पर भी कोई विरोध नहीं आता। जैसे ध्वनि के अन्य भेदों का परस्पर सङ्कर होता है। और (एक के) पदार्थ और दूसरे के वाक्यार्थ में आश्रित होने से विरोध नहीं होता। (इसी प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य को भी क्रमशः वाक्यार्थ और पदार्थ में आश्रित मानने से उनके सङ्कर होने में कोई विरोध नहीं होता)।

और एक ही व्यङ्ग्य में आश्रित प्रधान और गुणभाव तो विरुद्ध हो सकते हैं, परन्तु व्यङ्ग्यभेद की अपेक्षा से नहीं (भिन्न-भिन्न व्यङ्ग्यों में स्थित प्रधान गुणभाव विरोधी नहीं इसलिये भी इस ध्वनि और इस (ध्वनि और गुणीभात

लोचनम्

संकीर्णतया पूर्वमुदाहृतानीति तान्येव दृष्टान्तयति। तदेव व्याचष्टे–*यथाहीति।* तथात्रापीत्यध्याहारोऽत्र कर्तव्यः। 'तथा हि' इति वा पाठः।

ननु व्यञ्जकभेदात्प्रथमभेदयोः परिहारोऽस्तु एकव्यञ्जकानुप्रवेशे तु किं वक्तव्यमित्याशङ्क्य पारमार्थिकं परिहारमाह–*किञ्चेति। ततोऽपीति।* यतोऽन्यद्व्यङ्ग्यं गुणीभूतमन्यच्च प्रधानमिति को विरोधः। ननु

से जो पहले उदाहृत हो चुके हैं उन्हीं को दृष्टान्त करते हैं। उसी का व्याख्यान करते हैं– **यथा हीति** जैसा कि। उसी प्रकार यहाँ भी इसका अध्याहार करना चाहिये अथवा वहाँ 'तथा हि' यह पाठ है।

व्यञ्जक के प्रथम दो भेदों में विरोध का परिहार हो जाय, किन्तु एकव्यञ्चकानुप्रवेश में क्या कहियेगा? इस शङ्का को मन में रख कर उसका पारमार्थिक परिहार कहते हैं– **कि चेति**। और भी।

ततोऽपीति इस कारण भी। क्योंकि गुणीभूत व्यङ्ग्य अन्य है और प्रधान व्यङ्ग्य अन्य है फिर विरोध कैसा? वाच्य अलङ्कारों के विषय में यह सङ्कर आदि का व्यवहार सुनने में आता है न कि व्यङ्ग्य के विषय में ऐसी आशङ्का पर कहते हैं– **अयं चेति**

ध्वन्यालोकः

निर्विरोध एव मन्तव्यः। यत्र तु पदानि कानिचिदविवक्षित-वाच्यान्यनुरणनरूपव्यङ्ग्यवाच्यानि वा तत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः

व्यङ्ग्य के सङ्कर) का विरोध नहीं है। (सङ्कर और संसृष्टि प्रायः वाच्य अलङ्कारों में ही प्रसिद्ध हैं परन्तु वे व्यङ्ग्य अर्थों में भी हो सकते हैं अब इसका उपपादन करते हैं)– वाच्यवाचक भाव (वाच्यालङ्काररूप) में बहुत से अलङ्कारों का संकर और संसृष्टि व्यवहार जिस प्रकार होता है उसी प्रकार व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव (व्यङ्ग्यरूप अनेक ध्वनि-प्रभेदों अथवा ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य) में भी उसे निर्विरोध समझना चाहिये। (ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के सङ्कर का प्रदर्शन कर अब उनकी संसृष्टि का उपपादन करते हुये उदाहरण देते हैं) जहाँ कुछ पद अविवक्षितवाच्य (लक्षणाभूत ध्वनिपरक) और कुछ पद अनुरणनरूप (संलक्ष्यक्रम) (व्यङ्ग्यपरक हो वहाँ (वाक्य से व्यङ्ग्य) ध्वनि और (उस प्रधान वाक्यार्थीभूत ध्वनि की अपेक्षा से गुणीभूत अविवक्षितवाच्य अथवा संलक्ष्यक्रमरूप) गुणीभूत व्यङ्ग्य की संसृष्टि है। जैसे– 'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादि में।

लोचनम्

वाच्यालंकारविषये श्रुतोऽयं संकरादिव्यवहारो न तु व्यङ्ग्यविषय इत्याशङ्क्याह–*अयं चेति। मन्तव्य इति।* मननेन प्रतीत्या तथा निश्चेयः उभयत्रापि प्रतीतेरेव शरणत्वादिति भावः। एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यसंकर-भेदांस्त्रीनुदाहृत्य संसृष्टिमुदाहरति–*यत्र तु पदानीति।* कानिचिदित्यनेन संकरावकाशं निराकरोति। सुहृच्छब्देन साक्षिशब्देन चाविवक्षितवाच्यो ध्वनिः 'ते' इतिपदेनासाधारणगुणगणोऽभिव्यक्तोऽपि गुणत्वमवलम्बते, वाच्यस्यैव स्मरणस्य प्राधान्येन चारुत्वहेतुत्वात्। 'जाने'

और इस। मन्तव्य इति। मानना चाहिये। मनन अर्थात् प्रतीति से उस प्रकार का निश्चय करना चाहिये। भाव यह है– क्योंकि दोनों ही स्थानों में प्रतीति ही शरण है। इस प्रकार गुणीभूतसङ्कर के तीन भेदों को उदाहृत कर संसृष्टि को उदाहृत करते हैं– **यत्र तु दानीति** परन्तु जहाँ कुछ पद। कुछ इस कथन से संकर के अवकाश का निराकरण करते हैं। सुहृद् शब्द और साक्षी शब्द से अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। 'ते' इस पद से असाधारण गुणसमूह अभिव्यक्त होकर भी वाच्य के प्रति गुणभाव प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वाच्य स्मरण ही प्राधान्यतः चारुत्व का हेतु हैं। उत्प्रेक्ष्यमाण अनन्त धर्म के व्यञ्जक भी 'जाने'

ध्वन्यालोकः

संसृष्टत्वम्। यथा– 'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादौ। अत्र हि 'विलाससुहृदां' 'राधारहःसाक्षिणाम्' इत्येते पदे ध्वनिप्रभेदरूपे 'ते' 'जाने' इत्येते च पदे गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपे।

यहाँ 'विलाससुहृदाम् और राधारहः साक्षिणाम्' ये दोनों पद (लतागृहों के विशेषरूप हैं परन्तु अचेतन लतागृहों में मैत्री और साक्षित्व जो कि वस्तुतः चेतन धर्म हैं नहीं रह सकते हैं अतएव उनमें अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि होने से) ध्वनि अविवक्षित वाच्यध्वनि के भेद रूप हैं। और 'ते' तथा 'जाने' ये दोनों पद (वाच्य के उपकारक अनुभवैकगोचरत्व और उत्प्रेक्षाविषयीभूतत्व रूप) गुणीभूतव्यङ्ग्य के बोधक रूप हैं) इस प्रकार वाक्यार्थीभूत प्रवासहेतुक विप्रलम्भशृङ्गार के साथ 'विलाससुहृदाम्' और राधारहः साक्षिणाम्' पदों से द्योत्य अत्यन्ततिरस्कृवाच्यध्वनि के यहाँ गुणीभूत हो जाने से गुणीभूत व्यङ्ग्य की निरपेक्षतया स्थिति होने के कारण ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनों की संसृष्टि है।

लोचनम्

इत्यनेनोत्प्रेक्ष्यमाणानन्तधर्मव्यञ्जकेनापि वाच्यमेवोत्प्रेक्षणरूपं प्रधानीक्रियते। एवं गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपि चत्वारो भेदा उदाहृताः।

अधुनालंकारगतांस्तान्दर्शयति– *वाच्यालङ्कारेति।* व्यङ्ग्यत्वे त्वलंकाराणामुक्तभेदाष्टक एवान्तर्भाव इति वाच्यशब्दस्याशयः। *काव्य इति।* एवंविधमेव हि काव्यं भवति। *सुव्यवस्थितमिति।* 'विवक्षा तत्परत्वेन' इति द्वितीयोद्द्योतमूलोदाहरणेभ्यः संकरत्रयं संसृष्टिश्च लभ्यत एव। 'चलापाङ्गां

इस शब्द से उत्प्रेक्षणरूप वाच्य ही प्रधानीकृत होता है। इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य के भी चार भेद उदाहृत हुये।

अब उनकी अलङ्कारगतिता प्रदर्शित करते है– **वाच्यालङ्कारेति** वाच्य अलङ्कारों का। व्यङ्ग्य होने पर अलङ्कारों का उक्त आठों भेदों में ही अन्तर्भाव है यह वाच्य शब्द का आशय है। **काव्य इति** काव्य में। इस प्रकार का ही काव्य होता है। सुव्यवस्थित काव्य इति काव्य में। इस प्रकार का ही काव्य होता है। **सुव्यवस्थितमिति** सुनिश्चित। **विवक्षा तत्परत्वेनेति** इसे द्वितीय उद्योत के मूल के उदाहरणों से तीनों सङ्कर और संसृष्टि प्राप्त ही होते हैं। 'चलापाङ्गां दृष्टिम् यहाँ पहले

ध्वन्यालोकः

वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यापेक्षया रसवति सालङ्कारे काव्ये सर्वत्र सुव्यवस्थितम्। प्रभेदान्तराणामपि कदाचित्सङ्कीर्णत्वं भवत्येव। यथा ममैव–

रसध्वनियुक्त और रसवत् अलङ्कार (युक्त सभी काव्यों में असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य (रसादिव्यङ्ग्य की अपेक्षा के साथ) वाच्य अलङ्कारों का (व्यङ्ग्य अलङ्कार नहीं) अलङ्कार के व्यङ्ग्य होने पर तो यदि वह अलङ्कार प्रधान है तो अलङ्कार-ध्वनि का और अप्रधान होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य का सङ्कर हो जायगा। अतएव (वाच्य विशेषण रखा गया है) सङ्कर सुनिश्चत ही है। (रसादि ध्वनि से भिन्न वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि स्वरूप) अन्य प्रभेदों का भी कभी (वाच्य अलङ्कारों

लोचनम्

दृष्टिम्' इत्यत्र हि रूपकव्यतिरेकस्य प्राग्व्याख्यातस्य शृङ्गारानुग्राहकत्वं स्वभावोक्तेः शृङ्गारस्य चैकानुप्रवेशः। 'उप्पह जाया' इति गाथायां पामरस्वभावोक्तिर्वा ध्वनिर्वेति प्रकरणाद्यभावे एकतरग्राहकं प्रमाणं नास्ति।

यद्यप्यलङ्कारो रसमवश्यमनुगृह्णाति, तथापि 'नातिनिर्वहणैषिता' इति यदभिप्रायेणोक्तं तत्र सङ्करासम्भवात्संसृष्टिरेवालङ्कारेण रसध्वनेः। यथा– 'बाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढम्' इत्यत्र। *प्रभेदान्तराणामपीति।* रसादिध्वनिव्यतिरिक्तानाम्। *व्यापारवतीति।* निष्पादनप्राणो हि रस इत्युक्तम्। तत्र विभावादियोजनात्मिका वर्णना, ततः प्रभृति घटनापर्यन्ता क्रिया व्यापारः, तेन सततयुक्ता। *रसानिति।* रस्यमानतासारान् स्थायिभावान्

व्याख्यात रूपक और व्यतिरेक शृङ्गार रस के अनुग्राहक हैं। स्वमावोक्ति का और शृङ्गार का एकानुप्रवेश है। 'उप्पई जाया' इस गाथा में पामर की स्वभावोक्ति है अथवा ध्वनि है, प्रकरण आदि के अभाव में दोनों में से किसी एक पक्ष का ग्राहक प्रमाण नहीं है।

यद्यपि अलङ्कार रस को अवश्य अनुगृहीत करता है तथापि जिस अभिप्राय से 'नातिनिर्वहणैषिता' अर्थात् अलङ्कार का अत्यन्त निर्वाह करने की इच्छा न रखना कहाँ है। वहाँ संकर के संभव न होने से अलङ्कार के साथ रसध्वनि की संसृष्टि ही होती है।

जैसे 'बाहुलतिकापाशेन' बद्ध्वा दृढम्' यहाँ रूपक के साथ रस की संसृष्टि ही है। **प्रभेदान्तराणामिति** अन्य प्रभेदों का भी। रसादि ध्वनि से व्यतिरिक्त। **व्यापारवतीति** यह कह चुके हैं कि रस का प्राण निष्पादन है। वहाँ विभावादि की योजनारूप वर्णना होती है, उससे आरम्भ कर घटना तक क्रिया व्यापार है। उससे सतत युक्त **रसानिति**

ध्वन्यालोकः

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।

के साथ) सङ्कर हो ही जाता है जैसे मेरे ही निम्नलिखित श्लोक में 'या व्यापार-वतीति' हे समुद्रशायी भगवन्। रसों के आस्वाद के लिये शब्दयोजना में प्रयत्नशील कवियों की (प्रतिपलनवनवोन्मेषशालिनी) जितनी अपूर्व दृष्टि है और

लोचनम्

रसयितुं रस्यमानतापत्तियोग्यान् कर्तुम्। *काचिदिति* लोकवार्तापतितबोधा-वस्थात्यागेनोन्मीलन्ती। अत एव ते कवयः वर्णनायोगात् तेषाम्। *नवेति।* क्षणे क्षणे नूतनैर्नूतनैर्वैचित्र्यैर्जगन्त्यासूत्रयन्ती। *दृष्टिरिति।* प्रतिभारूपा, तत्र दृष्टिश्चाक्षुषं ज्ञानं षाडवादि रसयतीति। विरोधालङ्कारोऽत एव नवा। तदनुगृहीतश्च ध्वनिः, तथा हि चाक्षुषं ज्ञानं नाविवक्षितमत्यन्त-मसम्भवाभावात्। न चान्यपरम्; अपि त्वर्थान्तरे ऐन्द्रियकविज्ञानाभ्या-सोल्लसिते प्रतिभानलक्षणेऽर्थे संक्रान्तम्। संक्रमणे च विरोधोऽनुग्राहक एव। तद्वक्ष्यति-'विरोधालङ्कारेण' इत्यादिना। या चैवंविधा दृष्टिः परिनिष्ठितोऽचलः अर्थविषये निश्चेतव्ये विषये उन्मेषो यस्याः। तथा परिनिष्ठिते लोकप्रसिद्धेऽर्थे न तु कविवदपूर्वस्मिन्नर्थे उन्मेषो यस्याः सा।

रसों को। रस्यमानतासार स्थायीभावों के आस्वाद कराने अर्थात् रस्यमानता की प्राप्ति के योग्य करने। **काचिदिति** कोई। लोकवार्त्ता में प्राप्त बोधावस्था के त्याग से उन्मीलित होती हुई। इसीलिये वे 'कवि' हैं क्योंकि उनमें वर्णना का योग होता है। **नवेति** नवीन। क्षण-क्षण में नये नये वैचित्र्यों से संसार को प्रासूत्रित (प्रकाशित) करती हुई। दृष्टि। प्रतिभा रूप वहाँ दृष्टि अर्थात् चाक्षुष ज्ञान, पेय द्रव्यों का आस्वाद कराती हैं, यह विरोध अलङ्कार है इसीलिये नई और उससे अनुगृहीत ध्वनि है जैसा कि चाक्षुष ज्ञान अत्यन्त अविवक्षित (अर्थात् अत्यन्ततिरस्कृत) नहीं है क्योंकि अत्यन्त असंभव नहीं है और अन्य पर अर्थात् विवक्षित भी नहीं है, बल्कि ऐन्द्रियक विज्ञान के अभ्यास से उल्लसित प्रतिमान रूप अर्थ में सङ्क्रान्त है और सङ्क्रमण में विरोध अनुग्राहक ही है उसे आगे कहेंगे- 'विरोध अलङ्कार से इत्यादि द्वारा) जो इस प्रकार की दृष्टि है वह परिनिष्ठित अर्थात् अचल है अर्थ के विषय में अर्थात् निश्चेतव्य विषय में उन्मेष जिसका। उस प्रकार परिनिष्ठित अर्थात् लोकप्रसिद्ध अर्थ में न कि कवि की भाँति अपूर्व अर्थ में उन्मेष है जिसका वह। विपश्चित्। (विद्वान् लोगों की यह **वैपश्चितीति अवलम्ब्येति** उन्हें अवलम्बन कर। **कवीनामिति वैपश्चितीति** कवियों की विद्वानों की

ध्वन्यालोकः

ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्॥

प्रमाणसिद्ध अर्थों को प्रकाशित करने वाली जो विद्वानों की वैपश्चिती दृष्टि हैं उन दोनों के द्वारा इस विश्व को देखते-देखते हम थक गये परन्तु आप की भक्ति के समान सुख कहीं अन्यत्र प्राप्त नहीं हुआ।

लोचनम्

विपश्चितामियं वैपश्चिती। *ते अवलम्ब्येति।* कवीनामिति वैपश्चितीति वचनेन नाहं कविर्न पण्डित इत्यात्मनोऽनौद्धत्यं ध्वन्यते। अनात्मीयमपि दरिद्रगृह इवोपकरणतयान्यत आहृतमेतन्मया दृष्टिद्वयमित्यर्थः। *ते द्वे अपीति।* न ह्येकया दृष्ट्या सम्यङ्निर्वर्णनं निर्वहति। *विश्वमित्यशेषम्। अनिशमिति।* पुनः पुनरनवरतम्। निर्वर्णयन्तो वर्णनया, तथा निश्चितार्थं वर्णयन्तः इदमित्थमिति परामर्शानुमानादिना निर्भज्य निर्वर्णनं किमत्र सारं स्यादिति तिलशस्तिलशो विचयनम्। यच्च निर्वर्ण्यते तत्खलु मध्ये व्यापार्यमाणया मध्ये चार्थविशेषेषु निश्चितोन्मेषया निश्चलया दृष्ट्या सम्यङ्निर्वर्णितं भवति। *वयमिति।* मिथ्या तत्त्वदृष्ट्याहरणव्यसनिन इत्यर्थः। *श्रान्ता इति।* न केवलं सारं न लब्धं यावत्प्रत्युत खेदः प्राप्त इति भावः। चशब्दस्तु-शब्दस्यार्थे। *अब्धिशयनेति।* योगनिद्रया त्वमत एव सारस्वरूपवेदी स्वरूपावस्थित इत्यर्थः। श्रान्तस्य शयनस्थितं प्रति बहुमानो भवति।

इस कथन से मैं कवि नहीं हूँ, पण्डित भी नहीं हूँ इससे अपना अनौद्धत्य ध्वनित करते हैं। अर्थात् दरिद्र के घर की भाँति अपने घर न होने पर भी मैंने उपकरण के रूप में अन्य के यहाँ से इन दोनों दृष्टियों को प्राप्त की है। **ते द्वे अपीति**– उन दोनों दृष्टियों को। क्योंकि केवल एक दृष्टि से सम्यक् निर्वर्णन नहीं पूर्ण हो सकता। **विश्वमिति** अर्थात् अशेष। **अनिशमिति** निरन्तर। बार-बार अनवरत। निर्वर्णन करते हुये वर्णना द्वारा उस प्रकार निश्चितार्थ रूप में वर्णन करते हुये यह इस प्रकार है, इस परामर्श आदि से विभाग करके निर्वर्णन अर्थात् यहाँ सार क्या होगा? यह तिल-तिल विचयन करके। जो निर्वर्णित होता है वह मध्य में व्यापार्यमाण और मध्य में अर्थविशेषों में निश्चित उन्मेष वाली निश्चल दृष्टि से सम्यक् निर्वर्णित होता है। **वयमिति** हम। अर्थात् मिथ्यादृष्टि और तत्त्वदृष्टि के आहरण में व्यसन (शौक) रखने वाले। **श्रान्ता** इति थक गये। भाव यह कि सार पाना तो दूर रहा खेद ही प्राप्त हुआ। **चेति** श्लोक में च शब्द तु शब्द के अर्थ में है। अब्धिशयनेति समुद्र में शयन करने वाले। अर्थात् योगनिद्रा

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र विरोधालङ्कारेणार्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदस्य सङ्कीर्णत्वम्।

यहाँ विरोधालङ्कार के साथ अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिभेद का सङ्कर है।

लोचनम्

त्वद्भक्तीति। त्वमेव परमात्मस्वरूपो विश्वसारस्तस्य भक्तिः श्रद्धादिपूर्वक उपासनाक्रमजस्तदावेशस्तेन तुल्यमपि न लब्धमास्तां तावत्तज्जातीयम्।

एवं प्रथममेव परमेश्वरभक्तिभाजः कुतूहलमात्रावलम्बितकविप्रामाणिकोभयवृत्तेः पुनरपि परमेश्वरभक्तिविश्रान्तिरेव युक्तेति मन्वानस्येयमुक्तिः। सकलप्रमाणपरिनिश्चितदृष्टादृष्टविषयविशेषजं यत्सुखं, यदपि वा लोकोत्तरं रसचर्वणात्मकं तत उभयतोऽपि परमेश्वरविश्रान्त्यानन्दः प्रकृष्यते तदानन्दविप्रुण्मात्रावभासो हि रसास्वाद इत्युक्तं प्रागस्माभिः। लौकिकं तु सुखं ततोऽपि निकृष्टप्रायं बहुतरदुःखानुषङ्गादिति तात्पर्यम्। तत्रैव दृष्टिशब्दापेक्षयैकपदानुप्रवेशः। दृष्टिमवलम्ब्य निर्वर्णनमिति विरोधालङ्कारो वाश्रीयताम्, अन्धपदन्यासेन दृष्टिशब्दोऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो वास्तु

के द्वारा तुम इसीलिये सार स्वरूप को जानने वाले स्वरूप में अवस्थित हो। थके हुये आदमी को सोये हुये के प्रति गौरव होता है। **त्वद्‌भक्तीति** तुम्हारी भक्ति। तुम्हीं परमात्म स्वरूप विश्व के सार हो, उस विश्वसार की भक्ति अर्थात् श्रद्धादिपूर्वक उपासनाक्रम से उत्पन्न तद्विषयक आवेश (प्रेमातिशय), उसके तुल्य भी सुख नहीं पाया तज़्जातीय सुख की बात तो दूर है।

इस प्रकार परमेश्वर के प्रति भक्ति रखने वाले का यह मानना कि कुतूहलमात्र से कवि और प्रामाणिक (विपश्चित) दोनों के व्यवहारों को अवलम्बन करने की अपेक्षा परमेश्वर की भक्ति में ही विश्रान्ति है उचित (ठीक) ही है। सकल प्रमाणों से परिनिश्चत दृष्टादृष्ट विषय-विशेष से उत्पन्न जो सुख है अथवा जो लोकोत्तर चर्वणा रूप सुख है उन दोनों से भी परमेश्वर में विश्रान्ति का आनन्द प्रकृष्ट है। हम पहले कह चुके हैं कि रसास्वाद उस आनन्द के बिन्दुमात्र का अवभास है। तात्पर्य यह कि बहुत दुःखों के सम्मिश्रण से यह लोकिक सुख उस रसास्वाद से भी निकृष्टप्राय है। **तत्रैवेति** वहाँ पर। दृष्टि शब्द की अपेक्षा से एक पदानुप्रवेश है। अथवा दृष्टि का अवलम्बन कर निर्वर्णन यह विरोध अलङ्कार आश्रयण किया जाय, अथवा अन्ध पद के न्यास की भाँति 'दृष्टि' शब्द अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य हो, इनमें से एक के निश्चय में प्रमाण नहीं

ध्वन्यालोकः

वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्वं च पदापेक्षयैव। यत्र हि कानिचित्पदानि वाच्यालङ्कारभाञ्जि कानिचिच्च ध्वनिप्रभेदयुक्तानि। यथा–

वाच्येति वाच्य अलङ्कारों की ध्वनि के साथ संसृष्टि (निरपेक्षतया स्थिति) पदों की दृष्टि से ही होती है (वाक्य से प्रकाशित समासोक्ति आदि अलङ्कार) तो ध्वनि रूप प्रधान व्यङ्ग्य के परिपोषक ही होते हैं निरपेक्ष नहीं। अतएव उनका सङ्कर ही बन सकता हैं (संसृष्टि नहीं) जहाँ कुछ पद वाच्य अलङ्कार से युक्त हों और कुछ ध्वनि के प्रभेद से युक्त हों (वहीं ध्वनि और वाच्यालङ्कार की संसृष्टि होती है। जैसे दीर्घीकुर्वन्निति।

लोचनम्

इत्येकतरनिश्चये नास्ति प्रमाणम्, प्रकारद्वयेनापि हृद्यत्वात्। न च पूर्वत्राप्येवं वाच्यम्। नवाशब्देन शब्दशक्त्यनुरणनतया विरोधस्य सर्वथावलम्बनात्।

एवं सङ्करं त्रिविधमुदाहृत्य संसृष्टिमुदाहरति-*वाच्येति।* सकलवाक्ये हि यद्यलङ्कारोऽपि व्यङ्ग्यार्थोऽपि प्रधानं तदानुग्राह्यानुग्राहकत्वसङ्करस्तदभावे त्वसङ्गतिरित्यलङ्कारेण वा ध्वनिना वा पर्यायेण द्वाभ्यामपि वा युगपत्पदविश्रान्तिाभ्यां भाव्यमिति त्रयो भेदाः। एतद्गर्भीकृत्य सावधारणमाह–*पदापेक्षयैवेति।* यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावं प्रत्याशङ्कापि नावतरति तं तृतीयमेव प्रकारमुदाहर्तुमुपक्रमते–*यत्र हीति।* यस्माद्यत्र कानिचिदलङ्कारभाञ्जि कानिचिद्ध्वनियुक्तानि, यथा दीर्घीकुर्वन्नित्यत्रेति। तथाविधपदापेक्षयैव वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्वमित्यावृत्त्या पूर्वग्रन्थेन सम्बन्धः

है क्योंकि हृद्यता दोनों प्रकार से है। पहले में ही यह प्रकार है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नव शब्द से शब्दशक्त्यनुरणन रूप से विरोध का सर्वथा अवलम्बन है।

इस प्रकार त्रिविध सङ्कर को उदाहृत कर संसृष्टि को उदाहृत करते हैं– **वाच्येति** यदि संपूर्ण वाक्य में अलङ्कार भी व्यङ्ग्य अर्थ भी प्रधान हो तब अनुग्राह्यानुग्राहकरूप सङ्कर होगा। उसके अभाव में तो असङ्गति होगी। इस प्रकार अलङ्कार को अथवा ध्वनि को अथवा क्रम से दोनों को एक ही पद में विश्रान्त होना चाहिये। इस प्रकार तीन भेद हैं। इसे मन में रख कर अवधारणपूर्वक कहते हैं– **पदापेक्षयैवेति**– पद की अपेक्षा से ही। जहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव के प्रति आशङ्का भी नहीं होती उस तृतीय प्रकार को उदाहृत करने के लिये उपक्रम करते हैं– **यत्र हीति** क्योंकि जहाँ कुछ अलङ्कार वाले और कुछ ध्वनि वाले पद जैसे 'दीर्घीकुर्वन्नित्यत्र' यहाँ उस प्रकार के पद की

ध्वन्यालोकः

दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥

(यह कालिदास के मेघदूत का श्लोक है)। विशाला (उज्जयिनी) नगरी का वर्णन करते हुये यक्ष मेघ से कहता है– जिस विशाला (उज्जयिनी) नगरी में प्रातः काल सारसों के रमणीय और मद के कारण अत्यन्त मुधर शब्दों को फैलाने वाला, विकसित कमलों की सुगन्धि की मैत्री से कषाय और अङ्गों के अनुकूल लगने वाला सिप्रा नदी का वायु (नवनिधुवन की) प्रार्थना में चाटुकार (खुशामद करने वाले) प्रियतम के समान स्त्रियों की सुरतजन्य श्रान्ति को हरण करता है।

लोचनम्

कर्तव्यः। *अत्र हीति।* अत्रत्यो हि शब्दो मैत्रीपदमित्यस्यानन्तरं योज्य इति ग्रन्थसङ्गतिः।

***दीर्घीकुर्वन्निति।* सिप्रावातेन हि दूरमप्यसौ शब्दो नीयते, तथा सुकुमारपवनस्पर्शजातहर्षाः चिरं कूजन्ति, तत्कूजितं च वातान्दोलितसिप्रातरङ्गजमधुरशब्दमिश्रं भवतीति दीर्घत्वम्। *पट्विति।* तथासौ सुकुमारो वायुर्येन तज्जः शब्दः सारसकूजितमपि नाभिभवति प्रत्युत तत्सब्रह्मचारी तदेव दीपयति। न च दीपनं तदीयमनुपयोगि यतस्तन्मदेन कलं मधुरमाकर्णनीयम्। *प्रत्यूषेष्विति।* प्रभातस्य तथाविधसेवावसरत्वम्।**

अपेक्षा से ही वाच्य अलङ्कार की संसृष्टि है इस आवृत्ति के द्वारा पूर्वग्रन्थ से सम्बन्ध लगा लेना चाहिये। **अत्र हीति** (वृत्तिग्रन्थ में) यहाँ का 'हि' शब्द मैत्री पद के बाद जोड़ना चाहिये इस प्रकार ग्रन्थ की सङ्गति है–

दीर्घीकुर्वन्निति– सिप्रा का वायु उस सारस के शब्द को दूर ले जाता है, उस प्रकार सुकुमार पवन स्पर्श से प्रसन्न होकर सारस देर तक कूजन करते हैं, और वह कूजित वातान्दोलित सिप्रा के तरङ्गों से उत्पन्न मधुर शब्दों से मिल जाता है अतः दीर्घ हो जाता है। पटु– उस प्रकार वह वायु सुकुमार है जिससे कि उससे उत्पन्न शब्द सारसों के मधुर कूजित को भी अभिभूत नहीं करता प्रत्युत उसका सब्रह्मचारी (साथी) होकर उसे ही बढ़ाता है।

उसका बढ़ाना अनुपयोगी नहीं है, क्योंकि वह मद से कल अर्थात् मधुर आकर्णनीय है। **प्रत्यूषेष्विति**– प्रभात उस प्रकार की सेवा का अवसर है। यहाँ बहुवचन

ध्वन्यालोकः

अत्र हि मैत्रीपदमविवक्षितवाच्यो ध्वनिः। पदान्तरेष्व-लंकारान्तराणि।

यहाँ मैत्री पद में अविवक्षित वाच्य ध्वनि और अन्य पदों में (पटु दीर्घीकुर्वन् में गम्योत्प्रेक्षा, प्रत्यूषेषु में स्वभावोक्ति, प्रियतम इव में उपमा आदि) अलङ्कार है अतः ध्वनि की वाच्यालङ्कारों के साथ संसृष्टि है।

लोचनम्

बहुवचनं सदैव तत्रैषा हृद्यतेति तानि नयनहारीणि यानि कमलानि तेषां य आमोदस्तेन या मैत्री अभ्यासाङ्गावियोगपरस्परानुकूल्यलाभस्तेन कषाय उपरक्तो मकरन्देन च कषायवर्णीकृतः। स्त्रीणामिति। सर्वस्य तथाविधस्य त्रैलोक्यसारभूतस्य य एवं करोति सुरतकृतां ग्लानिं तान्तिं हरति, अथ च तद्विषयां ग्लानिं पुनः सम्भोगाभिलाषोद्दीपनेन हरति।

न च प्रसह्यप्रभूततयापि त्वङ्गानुकूलो ह्यद्यस्पर्शः हृदयान्तर्भूतश्च। प्रियतमे तद्विषयो प्रार्थनार्थं चाटूनि कारयति। प्रियतमोऽपि तत्पवनस्पर्श-प्रबुद्धसम्भोगाभिलाषः। प्रार्थनार्थं चाटूनि करोतीति तेन तथा कार्यत इति परस्परानुरागप्राणश्रृङ्गारसर्वस्वभूतोऽसौ पवनः। युक्तं चैतत्तस्य यतः सिप्रापरिचितोऽसौ वात इति नागरिको न त्वविदग्धो ग्राम्यप्राय इत्यर्थः। प्रियतमोऽपि रतान्तेऽङ्गानुकूलः संवाहनादिना प्रार्थनार्थं चाटुकार एवमेव

'यह हृद्यता उसमें सदैव बनी रहती है' यह निरूपण करता है। भीतर वर्त्तमान मकरन्द भार से खिले। उस प्रकार स्फुटित अर्थात् विकसित नयनहारी जो कमल है उनकी जो गन्ध उससे जो मैत्री अर्थात् अविच्छिन्न आलिङ्गन से परस्पर आनुकूल्य का लाभ उससे कषाय अर्थात् उपरक्त और उस मकरन्द से कषाय वर्ण का बना दिया गया। **स्त्रीणामिति** स्त्रियों का। उस प्रकार के त्रैलोक्यसारभूत जो वायु वह इस प्रकार सभी स्त्रियों की सुरतकृत ग्लानि (तान्ति) को हरण करता है अर्थात् तद्विषयक ग्लानि को बार-बार संभोग के अभिलाष के उद्दीपन द्वारा हरण करता है।

न कि प्रभूत होने के कारण हठात् हरण करता है, बल्कि अङ्गानुकूल अर्थात् हृद्यस्पर्श वाला जो हृदय के अन्तर्भूत है। जो स्त्रियों के प्रियतम में अर्थात् उसके विषय में प्रार्थना के लिये उससे चाटु करवाता है। प्रियतम भी उस पवन के स्पर्श से प्रबुद्ध संभोग की अभिलाषा वाला हैं **प्रार्थनाचाटुकारः** प्रार्थनार्थ चाटु करता है, उसके द्वारा उस प्रकार कराया जाता है। इस प्रकार परस्परानुरागप्राण श्रृङ्गार का सर्वस्वभूत वह पवन हैं और उसके लिये यह ठीक भी है क्योंकि वह वात सिप्रा से परिचित है अतः नागरिक है न कि अविदग्ध ग्राम्यप्राय है। प्रियतम भी रतान्त में अङ्गानुकूल होकर

ध्वन्यालोकः

संसृष्टालंकारान्तरसंकीर्णो ध्वनिर्यथा–

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे।

संसृष्ट अलङ्कार के साथ संकीर्ण ध्वनि का उदाहरण जैसे– दन्तेति अत्यधिक भूख के कारण अपने ही बच्चे को खा जाने के लिये समुद्यत किसी

लोचनम्

सुरतग्लानिं हरति। कूजितुं चानङ्गीकरणवचनादि मधुरध्वनितं दीर्घीकरोति। चाटुकरणावसरे च स्फुटितं विकसितं यत्कमलकान्तिधारिवदनं तस्य यामोदमैत्री सहजसौरभपरिचयस्तेन कषाय उपरक्तो भवति। अङ्गेषु चातुष्षष्टिकप्रयोगेष्वनुकूलः एवं शब्दरूपगन्धस्पर्शा यत्र हृद्या यत्र च पवनोऽपि तथा नागरिकः स तवाऽवश्यमभिगन्तव्यो देश इति मेघदूते मेघं प्रति कामिन इयमुक्तिः। उदाहरणे लक्षणं योजयति– *मैत्रीपदमिति।* हिशभ्दोऽनन्तरं पठितव्य इत्युक्तमेव। *अलङ्कारान्तराणीति।* उत्प्रेक्षा-स्वभावोक्तिरूपकोपमाः क्रमेणेत्यर्थः। एवमियता।

सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सहप्रभेदैः स्वैः।
सङ्करसंसृष्टिभ्याम्।

इत्येतदन्तं व्याख्यायोदाहरणानि च निरूप्य 'पुनरपि' इति

संवाहन अदि द्वारा प्रार्थनार्थ चाटुकार होकर इसी प्रकार सुरतग्लानि को हरण करता है और कूजित अर्थात् अस्वीकार के वचनों के अर्थात् माधुर्ययुक्त शब्दों को बढ़ा देता हैं और चाटु करने के अवसर में स्फुटित अर्थात् विकसित जो कमल की कान्ति धारण करने वाला वदन उसकी जो आमोद मैत्री अर्थात् सहज सौरभ का परिचय उससे कषाय अर्थात् उपरक्त हो जाता हैं। अङ्गों में अर्थात् चातुःषष्टिक प्रयोगों में अनुकूल होता है, इस प्रकार शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्श जहाँ हृद्य हैं और जहाँ पवन भी उस प्रकार का नागरिक है वह देश अवश्य तुम्हारे जाने योग्य है, मेघदूत में मेघ के प्रति उस कामी यक्ष की यह उक्ति है। अब उदाहरण में लक्षण को घटाते हैं– **अत्र हि मैत्रीपदमिति** यहाँ 'हि' शब्द को बाद में पढ़ना चाहिये। यह कह ही चुके हैं।

अलङ्कारान्तराणीति अर्थात् क्रम से उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, रूपक, उपमा। इस प्रकार वह ध्वनि गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ और अलङ्कारों के साथ और अपने प्रभेदों के साथ संकर और संसृष्टि द्वारा यहाँ तक व्याख्यान कर और उनके उदाहरणों को निरूपण कर 'फिर और भी' इस कारिकाभाग में जो दो पद हैं उनका अर्थ उदाहरण

ध्वन्यालोकः

दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ।

सिंहिनी को देख कर उस बच्चे को बचाने के लिये सिंहिनी को भक्षण के लिये अपना शरीर दे देने वाले बोधिसत्त्व की प्रशंसा करते हुये कोई कहता है- (कारुण्यवश दूसरे पक्ष में शृङ्गारवश) सघन रोमाञ्चयुक्त आप के शरीर पर रक्तपान की इच्छा वाली शृङ्गारपक्ष में अनुरक्त मन वाली (मृगराजवधू सिंहिनी पक्षान्तर में राजवधू) ने जो दन्तक्षत और नरवक्षत किये उन्हें मुनियों ने भी सतृष्ण (दूसरों की प्राणरक्षा के लिये अपने शरीर का उपहार दे देने का यह सौभाग्य कदाचित् मुझे भी प्राप्त होता, इस भावना से और शृङ्गारपक्ष में अनुरक्त मन वाली राजवधू के दन्तक्षत और नरवक्षत प्राप्त करने की इच्छा से युक्त) होकर देखा।

लोचनम्

यत्कारिकाभागे पदद्वयं तस्यार्थं प्रकाशयत्युदाहरणद्वारेणैव–*संसृष्टेत्यादि।* पुनःशब्दस्यायमर्थः– न केवलं ध्वनेः स्वप्रभेदादिभिः संसृष्टिसंकरौ विवक्षितौ यावत्तेषामन्योन्यमपि स्वप्रभेदानां स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येन वा सङ्कीर्णानां संसृष्टानां च ध्वनीनां सङ्कीर्णत्वं संसृष्टत्वं च दुर्लक्षमिति विस्पष्टोदाहरणं न भवतीत्यभिप्रायेणालङ्कारस्यालंकारेण संसृष्टस्य संकीर्णस्य वा ध्वनौ संकरसंसर्गौ प्रदर्शनीयौ।

तदस्मिन् भेदचतुष्टये प्रथमं भेदमुदाहरति–*दन्तक्षतानीति।* बोधिसत्त्वस्य स्वकिशोरभक्षणप्रवृत्तां सिंहीं प्रति निजशरीरं वितीर्णवतः केनचिच्चाटुकं क्रियते। प्रोद्भूतः सान्द्रः पुलकः परार्थसम्पत्तिजेनानन्दभरेण यत्र। रक्ते रुधिरे मनोऽभिलाषो यस्याः, अनुरक्तं च मनो यस्याः।

द्वारा प्रकाशित करते हैं 'संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा'- यहाँ पुनः शब्द का यह अर्थ है- न केवल ध्वनि के अपने प्रभेदादि के साथ संसृष्टि और सङ्कर विवक्षित हैं, बल्कि उनका परस्पर भी अपने प्रभेदों का अपने प्रभेदों से अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य से संकीर्ण और संसृष्ट ध्वनियों का संकीर्णत्व और संसृष्टत्व दुर्लक्ष है, इस प्रकार स्पष्ट उदाहरण नहीं होता, इस अभिप्राय से अलङ्कार का अलङ्कार से संसृष्ट के अथवा सङ्कीर्ण की ध्वनि में सङ्कर और संसर्ग दिखाने चाहिये।

अब इन चारों भेदों में से प्रथम भेद को उदाहृत करते हैं- **दन्तक्षतानीति** अपने बच्चे को खाने के लिये उद्यत बुभुक्षित सिंही को अपना शरीर दे देने वाले बोधिसत्त्व का किसी ने चाटुकारी किया है। **प्रोद्भिन्नेति**- उत्पन्न सघनपुलक परार्थ सम्पत्ति से उत्पन्न आनन्द भर (पूर्णता से युक्त) से है जहाँ। **रक्तमनसेति** रुधिर में अभिलाष है जिसका

ध्वन्यालोकः

अत्र हि समासोक्तिसंसृष्टेन विरोधालंकारेण संकीर्णस्यालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकाशनम्। दयावीरस्य परमार्थतो वाक्यार्थीभूतत्वात्।

संसृष्टालङ्कारसंसृष्टत्वं च ध्वनेर्यथा–

यहाँ (सिंहिनी में राजपत्नी के व्यवहार का समारोप होने से) समासोक्ति से संसृष्ट (मुनिभिरपि सस्पृहैः से सूचित) विरोध अलङ्कार के साथ सङ्कीर्ण (रोमाञ्चादि अनुभाव द्वारा परिपोषित बोधिसत्त्व के दयावीर रस का स्थायीभाव दयोत्हास रूप अभिव्यज्यमान) असंलक्ष्यक्रमध्वनि का प्रकाशन होता है। यहाँ वास्तव में दयावीर रस ही (मुख्य) वाक्यार्थीभूत है।

संसृष्टि अलङ्कार के साथ ध्वनि की संसृष्टि का उदाहरण जैसे (यह

लोचनम्

मुनयश्चोद्बोधितमदनावेशाश्चेति विरोधः। जातस्पृहैरिति च वयमपि कदाचिदेवं कारुणिकपदवीमधिरोक्ष्यामस्तदा सत्यतो मुनयो भविष्याम इति मनोराज्ययुक्तैः;। समासोक्तिश्च नायिकावृत्तान्तप्रतीतेः। *दयावीरस्येति।* **दयाप्रयुक्तत्वादत्र धर्मस्य धर्मवीर एव दयावीरशब्देनोक्तः। वीरश्चात्र रसः, उत्साहस्यैव स्थायित्वादिति भावः। दयावीरशब्देन वा शान्तं व्यपदिशति। सोऽत्र रसः संसृष्टालङ्कारेणानुगृह्यते। समासोक्तिमहिम्ना ह्ययमर्थः सम्पद्यते– यथा कश्चिन्मनोरथशतप्रार्थितप्रेयसीसम्भोगावसरे जातपुलकस्तथा त्वं परार्थसम्पादनाय स्वशरीरदान इति करुणातिशयोऽनुभावसम्पदोद्दीपितः।**

पक्षान्तर में 'रक्तं मनो यस्याः' अर्थात् अनुरक्त है मन जिसका। **मुनिभिरिति** उद्बोधित मदनावेश वाले हैं फिर भी मुनि हैं यह विरोध हैं **जातस्पृहैरिति** उत्पन्न स्पृहा वाले कि हम भी कदाचित् इस प्रकार कारुणिक की पदवी पर पहुँच जावें तब सत्य रूप से मुनि हो जावेंगे, इस प्रकार मनोराज्य से युक्त। इसमें नायिकावृत्तान्त की प्रतीति हो जाने से समासोक्ति है। **दयावीरस्येति** धर्म का यहाँ दयाप्रयुक्त वीर होने से धर्मवीर ही दयावीर शब्द से कहा गया है। भाव यह कि यहाँ वीर रस है क्योंकि इसका स्थायीभाव उत्साह है। अथवा दयावीर शब्द से शान्त का व्यपदेश करते हैं, वह रस यहाँ संसृष्ट अलङ्कार द्वारा अनुगृहीत होता है। अतः समासोक्ति की महिमा है यह अर्थ सम्पन्न होता है। जैसे कोई सैकड़ों मनोरथ से प्राप्त प्रियतमा के संभोग के अवसर में रोमाञ्चित हो जाता है वैसे ही तू परार्थ-संपादन के लिये अपने शरीर के दान में इस प्रकार अतिशय करुणा को अनुभाव और विभाव की संपदा से उद्दीप्त किया है।

ध्वन्यालोकः

अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु ।
सोहइ पसारिअगिआणं णच्चिअं मोरवन्दाणम् ॥

अत्र ह्युपमारूपकाभ्यां शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः संसृष्टत्वम्।

गाथासप्तशती का पद्य है) अभिनव मेघों का गर्जन जिनमें हो रहा है और पथिक रूप सामाजिकों से युक्त अथवा पथिकों को श्यामता से मालूम हुये वर्षा के दिनों में गर्दन फैला कर अथवा गान करते हुये मोरों का नृत्य बहुत सुन्दर प्रतीत हो रहा है।

यहाँ उपमा और रूपक की संसृष्टि के साथ शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्य-

लोचनम्

द्वितीयं भेदमुदाहरति–*संसृष्टेति।* अभिनवं हृद्यं पयोदानां मेघानां रसितं येषु दिवसेषु। तथा पथिकान् प्रति श्यामायितेषु मोहजनकत्वाद्रात्रिरूपतामाचरितवस्तु। यदि वा पथिकानां श्यामायितं दुःखवशेन श्यामिका येभ्यः। शोभते प्रसारितग्रीवाणां मयूरवृन्दानां नृत्तम्। अभिनय-प्रयोगरसिकेषु पथिकसामाजिकेषु सत्सु मयूरवृन्दानां प्रसारितगीतानां प्रकृष्टसारणानुसारिगीतानां तथा ग्रीवारेचकाय प्रसारितग्रीवाणां नृत्तं शीभते। पथिकान् प्रति श्यामा इवाचरन्तीति क्यङ्। प्रत्ययेन लुप्तोपमा निर्दिष्टा। पथिकसामाजिकेष्विति कर्मधारयस्य स्पष्टत्वाद्रूपकम्। ताभ्यां ध्वनेः संसर्ग इति ग्रन्थकारस्याशयः। अत्रैवोदाहरणेऽन्यद्भेदद्वयमुदाहर्तुं शक्यमित्या-

द्वितीय भेद को उदाहृत करते हैं– **संसृष्टेति**। अभिनव अर्थात् हृद्य पयोद अर्थात् मेघों का रसित हैं जिन दिनों में, तथा पथिकों के प्रति श्यामायित अर्थात् मोहजनक होने के कारण रात्रिरूपता का आचरण करते हुये, अथवा पथिकजनों के दुःख के कारण श्यामिका पड़ गई है जिनके कारण ऐसे दिनों में गर्दन पसारे हुये मोरों का नाच शोभा देता है। अभिनय प्रयोगों में रसिक पथिकरूप सामाजिकों के होने पर प्रसारित गीत अर्थात् प्रकृष्ट सारण के अनुसारी गीत वाले तथा ग्रीवारेचक के लिये फैलाई हुई ग्रीवा वाले मोरों का नृत्य शोभा देता है। पथिकों के प्रति श्यामा की भाँति आचरण करने वाले (श्यामा इव आचरति इति श्यामायते **कर्तुः क्यङ् सलोपश्च** से क्यङ् प्रत्यय हुआ है) यहाँ क्यङ् प्रत्यय से लुप्तोपमा का निर्देश है, पथिक रूप सामाजिक यहाँ कर्मधारय होने से स्पष्ट ही रूपक है उसमें ध्वनि का संसर्ग है। यह ग्रन्थकार का आशय है, इसी उदाहरण में अन्य दोनों भेद भी उदाहृत हो सकते हैं। इस आशय

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते ।
संख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥४४॥

अनन्ता हि ध्वनेः प्रकाराः सहृदयानां व्युत्पत्तये तेषां दिङ्मात्रं कथितम्।

क्रमव्यङ्ग्य वस्तुध्वनि की संसृष्टि है॥

एवमिति– इस प्रकार ध्वनि के प्रभेद और उन प्रभेदों के अवान्तर भेदों की गणना कौन कर सकता है? हमने इनका दिङ्मात्र प्रदर्शन किया है।

ध्वनि के अनन्त प्रकार हैं। सहृदयों के ज्ञान के लिये उनमें से थोड़े दिङ्मात्र ही (निर्देशमात्र के लिये) हमने कहा है।

लोचनम्

शयेनोदाहरणान्तरं न दत्तम्। तथाहि– व्याघ्रादेराकृतिगणत्वे पथिकसामाजिकेष्वित्युपमारूपकाभ्यां सन्देहास्पदत्वेन सङ्कीर्णाभ्यामभिनवप्रयोगे, अभिनवप्रयोगे च रसिकेष्विति प्रसारितगीतानामिति यः शब्दशक्त्युद्भवस्तस्य संसर्गमात्रमनुग्राह्यत्वाभावात्। 'पहिअसामाइएसु' इत्यत्र तु पदे सङ्कीर्णाभ्यां ताभ्यामुपमारूपकाभ्यां शब्दशक्तिमूलस्य ध्वनेः सङ्कीर्णत्वमेकव्यञ्जकानुप्रवेशादिति सङ्कीर्णालङ्कारसंसृष्टः। सङ्कीर्णालङ्कारसङ्कीर्णश्चेत्यपि भेदद्वयं मन्तव्यम्॥४३॥

एतदुपसंहरति–*एवमिति।* स्पष्टम् ॥४४॥

अथ 'सहृदयमनःप्रीतये' इति यत्सूचितं तदिदानीं न शब्दमात्रमपि तु

से अन्य उदाहरण नहीं दिया गया है। जैसा कि व्याघ्रादि के आकृतिगण होने पर 'पथिक सामाजिक' यहाँ सन्देहास्पद होने के कारण सङ्कीर्ण उपमा और रूपक से इन अभिनव प्रयोगों में रसिक प्रसारित गीत वाले इस प्रकार का शब्द शब्दशक्त्युद्भव है उसका संसर्गमात्र है। अनुग्राह्यता नहीं है। 'पहिअसमाइएसु' इस पद में सङ्कीर्ण उस उपमा और रूपक से शब्दशक्तिमूलध्वनि का सङ्कर एक व्यञ्जकानुप्रवेश से है। इस प्रकार सङ्कीर्ण अलङ्कार संसृष्ट और संकीर्ण से संकीर्ण है। इस प्रकार इन दोनों भेदों को मान लेना चाहिये॥

एवमिति– इस प्रकार इसका उपसंहार करते हैं (स्पष्ट है) इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदों और उन प्रभेदों के भेदों की गणना कौन कर सकता है? हमने उसकी दिङ्मात्र कहा है।

'सहृदयों के मन को प्रसन्न करने के लिये' यह जो सूचित किया है वह अब

ध्वन्यालोकः

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ॥४५॥

उक्तस्वरूपध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति।

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥४६॥

एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सदशक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौडी पाञ्चाली चेति रीतयः प्रवर्तिताः। रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया

उत्तम काव्य बनाने तथा समझने के लिये प्रस्तुत सज्जनों को इस प्रकार जिस प्रकार लक्षण किया गया है उसका प्रयत्नपूर्वक विवेचन करना चाहिये।

उक्त स्वरूप ध्वनि के निरूपण में निपुण सत्कवि और सहृदय निश्चय ही काव्य के विषय में अत्यन्त उत्कृष्ट पदवी प्राप्त करते हैं यह प्रकर्षलाभ ही ध्वनि-विवेचना का फल है॥४६॥

अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस पूर्वोक्त काव्यतत्त्व की व्याख्या कर सकने में असमर्थ वामन आदि ने रीतियाँ प्रचलित की। इस ध्वनि के प्रतिपादन से अब स्पष्ट रूप से निर्णीत परन्तु रीतिप्रवर्तक वामन आदि के समय में अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस ध्वनिरूप काव्यतत्त्व का प्रतिपादन करने में असमर्थ वामन आदि आचार्यों ने वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली आदि रीतियाँ प्रचलित की। उन रीतिकारों को यह ध्वनिरूप काव्यतत्त्व थोड़ा-थोड़ा भासता अवश्य था, ऐसा प्रतीत होता है। अब हमने उस ध्वनि तत्त्व का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन कर दिया इसलिये अब ध्वनि से भिन्न अन्य रीतिलक्षणों की कोई आवश्यकता नहीं॥४७॥

लोचनम्

निर्व्यूढमित्याशयेनाह—*इत्युक्तेति।* यः प्रयत्नतो विवेच्यः अस्माभिश्चोक्तलक्षणो ध्वनिरेतदेव काव्यतत्त्वं यथोदितेन प्रपञ्चनिरूपणादिना व्याकर्तुमशक्नुवद्भिरलङ्कारैः रीतयः प्रवर्तिता इत्युत्तरकारिकया

शब्दमात्र नहीं अपितु उसका निर्वाह भी कर दिया गया है। इस आशय से कहते हैं- **इत्युक्तेति** जो प्रयत्न से विवेचनीय और हमारे द्वारा उक्तस्वरूप ध्वनि है इसी काव्य-तत्त्व को यथोचित प्रपञ्च-निरूपण आदि द्वारा व्याख्या करने में असमर्थ आलङ्कारिकों ने

ध्वन्यालोकः

मनाक्स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित्।

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥४७॥

अस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविवेचनमये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित्प्रसिद्धा उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्त्वसम्बद्धाः कैशिक्यादयस्ताः सम्यग्रीतिपदवीमवतरन्ति।

इस ध्वनि रूप काव्य स्वरूप के जान लेने पर कुछ शब्दत्त्व में आश्रित (भट्टोद्भटादि को अभिमत उपनागरिकादि) और दूसरे अर्थतत्त्व पर आश्रित (भरताभिमत कैशिकी आदि) जो कोई वृत्तियाँ हैं वे भी रीतियों के समान व्यापक रूप ध्वनि के अन्तर्गत प्रकाशित हो जाती हैं। कारिका के उत्तरार्ध में कुछ अध्याहार किये बिना वाक्य अपूर्ण रह जाता है। वृत्तिकार ने भी उसकी व्याख्या में तो सम्यग् रीतिपदवीमवतरन्ति लिखकर उसकी व्याख्या की है अर्थात् वे रीतियाँ भी रीतियों के समान ध्वनि में अन्तर्भूत हो जाती हैं॥४८॥

इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के विवेचनामय काव्यलक्षण के विदित हो जाने पर जो प्रसिद्ध उपनागरिकादि शब्दतत्त्वाश्रित वृत्तियाँ और जो अर्थतत्त्व से प्रसिद्ध

लोचनम्

सम्बन्धः। अन्ये तु यच्छब्दस्थाने 'अयं' इति पठन्ति *प्रकर्षपदवीमिति।* निर्माणे बोधे चेति भावः। व्याकर्तुमशक्नुद्भिरित्यत्र हेतुः–अस्फुटं कृत्वा स्फुरितमिति। *लक्ष्यत इति।* रीतिर्हि गुणेष्वेव पर्यवसिता। यदाह–विशेषो गुणात्मा गुणाश्च रसपर्यवसायिन एवेति ह्युक्तं प्राग्गुणनिरूपणे 'शृङ्गार एव मधुरः' इत्यत्रेति॥४५-४६॥

(रीतियों को चलाया है। इस उत्तरग्रन्थ में इसका सम्बन्ध है; अन्य लोग 'यो' के स्थान पर 'अयम्' इस 'पाठ' को मानते हैं। **प्रकर्षपदवीमिति** भाव यह कि निर्माण और बोध में। व्याख्या करने में असमर्थ यह हेतु है अस्फुट स्फुरितम् अस्फुट को स्फुटित (प्रकाशित)। लक्ष्यते इति प्रतीत होता है। रीतियाँ गुणों में ही पर्यवसित हैं जैसा कहा है **विशेष इति** विशेष गुणरूप है और गुण रस में पर्यवसायी ही होते हैं, यह पहले गुण के निरूपण के प्रसङ्ग में कह चुके हैं। यहाँ शृङ्गार ही मधुर होता है।॥४५॥

प्रकाशन्त इति– प्रकाशित होते हैं। अर्थात् काव्य के जीवित रूप में प्रकाशित होते हैं। अर्थात् काव्य के जीवित रूप में अनुभवगिद्ध हैं। **रीतिपदवीमिति**– रीति की

ध्वन्यालोकः

अन्यथा तु तासामदृष्टार्थानामिव वृत्तीनामश्रद्धेयत्वमेव स्यान्नानुभवसिद्धत्वम्। एवं स्फुटतयैव लक्षणीयं स्वरूपमस्य ध्वनेः। यत्र शब्दानामर्थानां च केषाञ्चित्प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यं जात्यत्वमिव रत्नविशेषाणां चारुत्वमनाख्येयमवभासते काव्ये तत्र ध्वनिव्यवहार

कैशिकी आदि वृत्तियाँ हैं वे पूर्णरूप से रीतिमार्ग का अवलम्बन करती हैं। जैसे व्यापक रूप ध्वनि में रीतियों का अन्तर्भाव हो जाता है उसी प्रकार शब्दाश्रित उपनागरिकादि तथा अर्थाश्रित कैशिकी आदि दोनों प्रकार की वृत्तियों का अन्तर्भाव भी व्यापक ध्वनि में हो जाता है, उनके अलग-अलग लक्षण आदि को

लोचनम्

***प्रकाशन्त इति।* अनुभवसिद्धतां काव्यजीवितत्वे प्रयान्तीत्यर्थः। *रीतिपदवीमिति।* तद्वदेव रसपर्यवसायित्वात्। प्रतीतिपदवीमिति वा पाठः। नागरिकया ह्युपमितेत्यनुप्रासवृत्तिः शृङ्गारादौ विश्राम्यति। परुषेति दीप्तेषु रौद्रादिषु। कोमलेति हास्यादौ। तथा–'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टाविशेषो वृत्तिः। यदाह–**

'कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या शृङ्गाररससम्भवा' इत्यादि।

इयता 'तस्याभावं जगदुरपरे' इत्यादावभावविकल्पेषु 'वृत्तयो रीतयश्च गताः श्रवणगोचरं, तदतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरि'ति। तत्र कथञ्चिदभ्युपगमः कृतः कथञ्चिच्च दूषणं दत्तमस्फुटस्फुरितमिति वचनेन। इदानीं 'वाचां स्थितमविषये' इति यदूचे तत्तु प्रथमोद्द्योते दूषितमपि दूषयति सर्वप्रपञ्चकथने हि असम्भाव्यमेवानाख्येयत्वमित्यभिप्रायेण। *अक्लिष्टत्व*

स्थिति में जिस प्रकार रीति का पर्यवसान गुण में ही हो जाता है उसी प्रकार वे गुण रीति के समान रस में पर्यवसित हो जाते हैं। अथवा **प्रतीतिपदवीम्** यह पाठ है। प्रतीति की पदवी प्राप्त कर लेती है) जैसे नागरिका से 'उपमिता' यह अनुप्रास वृत्ति शृङ्गार आदि में विश्रान्त होती है। 'परुषा' दीप्त रौद्र आदि में। कोमला हास्य आदि में। वृत्तियाँ काव्य की मातायें है यह जो मुनि ने कहा है उसमें रसोचित चेष्टा ही विशेष वृत्ति है। जैसा कि कहा है– **कैशिकीति** श्लक्ष्णनेपथ्यवाली कैशिकी शृङ्गार रस में संभव होती है' इत्यादि। कुछ लोगों ने 'तस्याभावो जगदुरपरे' इस ध्वनि के अभाववाद-प्रसङ्ग में 'वृत्तयो रीतयश्च गताः श्रवणगोचरं तदतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति' वृत्तियाँ और रीतियाँ सुनी जाती हैं। उसके अतिरिक्त यह ध्वनि नामक पदार्थ क्या है? ऐसा कह कर वृत्तियों और रीतियों को स्वीकार किया है। उसे अस्फुट स्फुरित कह कर ग्रन्थकार ने दोष से दूषित कर दिया।

ध्वन्यालोकः

इति यल्लक्षणं ध्वनेरुच्यते केनचित्तदयुक्तमिति नाभिधेयतामर्हति। यतः शब्दानां स्वरूपाश्रयस्तावदक्लिष्टत्वे सत्यप्रयुक्तप्रयोगः। वाचकाश्रयस्तु प्रसादो व्यञ्जकत्वं चेति विशेषः। अर्थानां च स्फुटत्वेनावभासनं व्यङ्ग्यपरत्वं व्यङ्ग्यांशविशिष्टत्वं चेति विशेषः।

आरश्यकता नहीं रही अन्यथा यदि चमत्कार विशेष जनक ध्वनि के साथ वृत्तियों का तादात्म्य (अभेद) न मानें तो सहृदयानुभवगोचर चमत्कार विशेषजनकत्व के अतिरिक्त वृत्तियों का और कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं रहता है, इसलिये अदृष्ट पदार्थों के समान वृत्तियाँ अश्रद्धेय हो जावेंगी। अनुभवसिद्ध नहीं रहेगी।

जहाँ किन्हीं शब्दों और अर्थों का चारुत्व विशेष रत्नों के जात्यत्व (उत्कृष्ट जातीयत्व) के समान विशेषज्ञसंवेद्य और अवर्णनीय रूप में प्रतीत होता है उस काव्य में ध्वनि व्यवहार होता है; किसी ने यह जो ध्वनि का लक्षण किया है वह अयुक्त और इसलिये कहने योग्य नहीं है, क्योंकि वाचकत्व (बोधकत्व) गत विशेष प्रसादगुण तथा व्यञ्जकत्व ये दो शब्द के विशेष धर्म हो सकते हैं। इसी प्रकार अर्थों की स्पष्ट प्रतीति व्यङ्ग्यपरता तथा व्यङ्ग्य विशिष्टतायें विशेष धर्म हो सकते हैं। ये दोनों शब्दगत तथा अर्थगत विशेष धर्म व्याख्या करने योग्य हैं और हमने उनकी अनेक प्रकार से व्याख्या की भी है।।

लोचनम्

इति। **श्रुतिकष्टाद्यभाव इत्यर्थः। अप्रयुक्तस्य प्रयोग इत्यपौनरुक्त्यम्। ताविति शब्दगतोऽर्थगतश्च। विवेकस्यावसादो यत्र तस्य भावो निर्विवेकत्वम्। सामान्यस्पर्शी यो विक्लपस्ततो यः शब्दः दृष्टान्तेऽपि अनाख्येयत्वं नास्तीति दर्शयति–*रत्नविशेषाणां चेति।* ननु सर्वेण तन्न संवेद्यत इत्याशङ्क्याभ्युपगमेनैवोत्तरयति–*उभयेषामिति।* रत्नानां काव्यानां च।**

अब जो 'वाचां स्थितमविषये' अर्थात् जो वाणी के अविषय में स्थित है, इसे यद्यपि प्रथम उद्योत में दोष देकर दूषित कर दिया है तब भी दूषित करते हैं। सारे प्रपञ्च कहे जाने पर (वाणी के विषय न होने पर) उनका अनाख्येतत्व असंभाव्य ही है इस अभिप्राय से।

अक्लिष्टत्व इति– श्रुतिदुष्टादि के अभाव होने पर। 'अप्रयुक्त का प्रयोग' यह पौनरुक्त्य नहीं है। **ताविति** वे दोनों। शब्दगत और अर्थगत। विवेक का अभाव (अवसाद) है जहाँ उसका भाव निर्विवेकत्व। सामान्य का स्पर्श करने वाला जो विकल्प उससे उत्पन्न जो शब्द। दृष्टान्त में भी अनाख्येयत्व नहीं है, इसे प्रदर्शित करते हैं–

ध्वन्यालोक:

तौ च विशेषौ व्याख्यातुं शक्येते व्याख्यातौ च बहुप्रकारम्। तद्व्यतिरिक्तानाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादभावमूलैव। यस्मादनाख्येयत्वं सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित्सम्भवति। अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात्। सामान्यसंस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरत्वे सति, प्रकाशमानत्वं तु यदनाख्येयत्वमुच्यते क्वचित् तदपि काव्यविशेषाणां रत्नविशेषाणामिव न सम्भवति। तेषां लक्षणकारैर्व्याकृतरूपत्वात्। रत्नविशेषाणां च सामान्यसम्भावनयैव मूल्यस्थितिपरकिल्पनादर्शनाच्च। उभयेषामपि तेषां प्रतिपत्तृ-

इन (शब्द और अर्थनिष्ठ विशेष चारुत्व हेतुओं) के अतिरिक्त किसी अवर्णनीय विशेष की संभावना (कल्पना) विवेक के अत्यन्ताभाव से (मूर्खतावश) ही हो सकती हैं, क्योंकि अनाख्येयत्व (अवर्णनीयत्व) का अर्थ समस्त शब्दों का अविषयत्व ही है और वह सर्वशब्द गोचरत्व रूप अनाख्येयत्व किसी भी पदार्थ का संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई नाम तो होगा ही। उसी नाम से वह आख्येय होगा और दुर्जनतोषन्याय से ऐसा कोई संज्ञारहित पदार्थ मान भी लें तो भी अन्तत: 'अनाख्येय' इस शब्द से तो उसका अभिधान संभव होगा ही इसलिये किसी पदार्थ को अनाख्येय नहीं कहा जा सकता। अत: ध्वनि को अनाख्येय कहना उचित नहीं है।

सामान्य (जात्यादि) को ग्रहण करने वाला जो विकल्प शब्द (सविकल्पक ज्ञान नामजात्यादि योजनासहिते सविकल्पकम्) उसका विषय न होकर (निर्विकल्पक ज्ञान रूप में) प्रकाश्यमानता रूप जो अनाख्येयत्व का जो लक्षण कहीं बताया गया है वह भी रत्नविशेषों के समान कार्यविशेष में संभव नहीं है। क्योंकि लक्षणकारों ने उसकी व्याख्या कर दी है। (अतएव रत्न और काव्य दोनों ही विकल्प ज्ञान के अविषय नहीं, अपितु विषय होने से अनाख्येय नहीं हो सकते हैं।

लोचनम्

ननु नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपीति, अनिर्देश्यस्य वेदकमित्यादौ कथमनाख्येयत्वं वस्तूनामुक्तमिति चेदत्राह–*यत्त्विति।* एवं हि

रत्न-विशेषाणां चेति– और उन रत्नविशेषों का। सब उसे नहीं जानेंगे, इस अभ्युपगम से उत्तर देते हैं– **उभयेषामिति** उन दोनों का रत्नों का और काव्यों का।

'अर्थ को शब्द स्पर्श नहीं करते' 'अनिर्देश्य के ज्ञापक (वेदक)' इत्यादि में

ध्वन्यालोकः

विशेषसंवेद्यत्वमस्त्येव। वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः।

यत्त्वनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणविषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत्तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्यामः। इह तु ग्रन्थान्तरश्रवणलवप्रकाशनं सहृदयवैमनस्यप्रदायीति न प्रक्रियते। बौद्धमतेन वा यथा

और रत्नों में तो सामान्य (रत्नत्व) संभावना से ही मूल्यस्थिति की कल्पना देखी जाती है। और वे दोनों रत्न और काव्य विशेषज्ञों द्वारा संवेद्य हैं, क्योंकि जौहरी रत्न के तत्त्वों को समझते हैं और सहृदय काव्यतत्त्व के रसज्ञ होते हैं, इसमें किसको मतभेद हो सकता है।

बौद्धों के मत में समस्त पदार्थों का जो अलक्षणीयत्व प्रसिद्ध है उसका विवेचन हम अपने दूसरे ग्रन्थ बौद्ध ग्रन्थ की धर्मोत्तमा नामक ग्रन्थ की विनिश्चय टीका की (विवृतिग्रन्थ) में उनके मत की परीक्षा के अवसर पर करेंगे। (जिनका सार यह होगा कि बौद्धों का क्षणभङ्गवाद का सिद्धान्त ही ठीक नहीं है। अतएव उसके आधार पर अलक्षणीयत्व का सिद्धान्त भी नहीं बन सकता है)।

यहाँ तो उस अत्यन्त शुष्क और कठिन दूसरे ग्रन्थ के विषय का रञ्चमात्र चर्चा भी सहृदयों के लिये वैमनस्यदायिनी होगी इसलिये हम उसको इस समय नहीं कर रहे हैं। फिर भी इतना कह देना तो उचित होगा कि बौद्ध लोग सभी वस्तुओं को क्षणिक और अलक्षणीय मानते हुये भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लक्षण करते हैं अतएव बौद्धों के मत में (क्षणिकत्व और अलक्षणीयत्व होते हुये भी) प्रत्यक्ष लक्षण के समान हमारा ध्वनि लक्षण भी हो सकता है।

लोचनम्

सर्वभाववृत्तान्ततुल्य एव ध्वनिरिति ध्वनिस्वरूपमनाख्येयमित्यतिव्यापकं लक्षणं स्यादिति भावः। *ग्रन्थान्तर इति।* विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तर्यां या विवृतिरमुना ग्रन्थकृता कृता तत्रैव तद्व्याख्यातम्। *उक्तमिति।* संग्रहार्थं मयैवेत्यर्थः। अनाख्येयांशस्याभासो विद्यते यस्मिन् काव्ये तस्य भावस्तत्र

वस्तुओं का अनाख्ययत्व कैसे कहा है इस शङ्का पर कहते हैं– **यत्त्विति**-भाव यह कि सभी भाव पदार्थ के वृत्तान्त के तुल्य ही ध्वनि है, इसलिये ध्वनि स्वरूप अनाख्येय है, इस प्रकार का लक्षण अतिव्यापक होगा। **ग्रन्थान्तर** इति धर्मोत्तरी नामक ग्रन्थ की 'विनिश्चय' ग्रन्थ की टीका में इस ग्रन्थकार ने जो विवृत्ति की है, वहीं पर उसका

ध्वन्यालोकः

प्रत्यक्षादिलक्षणं तथास्माकं ध्वनिलक्षणं भविष्यति। तस्माल्ल-क्षणान्तरस्याघटनादशब्दार्थत्वाच्च तस्योक्तमेव ध्वनिलक्षणं साधीयः। तददिमुक्तम्–

अनाख्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः ।
न लक्षणं, लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम् ।

इति *श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके तृतीय उद्योतः।।3।।*

इसलिये हमारे लक्षण के अतिरिक्त अन्य कोई लक्षण न किये जाने से और उस ध्वनि के वाच्य अर्थ न होने (अर्थात् अशब्दार्थ होने) से पूर्वोक्त हमारा किया हुआ ध्वनि लक्षण ही ठीक है।

इसी का संग्रह रूप इस प्रकार है– अनाख्येयेति। ध्वनि के निर्वचनीय अर्थ होने से अनाख्येयांशभासित्व उसका लक्षण नहीं है उसका ठीक लक्षण जैसा हमने कहा है वही है।।४८।।

श्री राजानकआनन्दवर्धनविरचित ध्वन्यालोक में तृतीय उद्योत समाप्त।।३।।

लोचनम्

लक्षणं ध्वनेरिति सम्बन्धः। अत्र हेतुः–*निर्वाच्यार्थतयेति।* निर्विभज्य वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः। अन्यस्तु 'निर्वाच्यार्थतया' इत्यत्र निरसो नञर्थत्वं परिकल्प्यानाख्येयांशभासित्वेऽयं हेतुरिति व्याचष्टे, तत्तु क्लिष्टम्। हेतुश्च साध्याविशिष्ट इत्युक्तव्याख्यानमेवेति शिवम्।

काव्यालोके प्रथां नीतान् ध्वनिभेदान् परामृशत् ।
इदानीं लोचनं लोकान् कृतार्थान् संविधास्यति ।।

व्याख्यान किया गया है। **उक्तमिति** कहा गया है। अर्थात् मैने ही अनारव्येय नाम का आभास है जिस काव्य में वह भाव वह ध्वनि का लक्षण नहीं है, यह सम्बन्ध है। यहाँ हेतु है निर्वाच्यार्थ होने के कारण– अर्थात् विभागपूर्वक कहे जा सकने के कारण। किन्तु अन्य ने निर्वाच्यर्थतया में 'निर' को नञर्थ समझकर अनाख्येयांशभासी होने में यह हेतु है ऐसा व्याख्यान किया है जो क्लिष्ट है। और हेतु साध्य से विशिष्ट है यह व्याख्यान उक्त है। शिवम्

काव्यालोक में विस्तृत ध्वनि-भेदों का परामर्श करता हुआ यह लोचन लोगों को कृतार्थ करेगा।

लोचनम्

आसूत्रितानां भेदानां स्फुटतापत्तिदायिनीम् ।
त्रिलोचनप्रियां वन्दे मध्यमां परमेश्वरीम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोकलोचने ध्वनिसङ्केते तृतीय उद्द्योतः॥

आसूत्रित भेदों को स्पष्ट रूप से ज्ञान कराने वाली भगवान् त्रिलोचन की प्रिया मध्यमा वाणी की मैं वन्दना करता हूँ।

महामाहेश्वर अभिनव गुप्त द्वारा उन्मीलित सहृदय लोकलोचन में तृतीय उद्योत समाप्त।।

●

चतुर्थ उद्द्योतः

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य तद्व्युत्पादने प्रयोजनान्तरमुच्यते–

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥१॥

य एष ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कविप्रतिभानन्त्यम् ।

इस प्रकार विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिये भेदोपभेदसहित ध्वनि का निरूपण कर उसके प्रतिपादन का दूसरा प्रयोजन बतलाते हैं।

गुणीभूतव्यङ्ग्यसहित ध्वनि का जो मार्ग प्रदर्शित किया गया है, उस मार्ग का अवलम्बन करने से कवियों की प्रतिभाशक्ति अनन्तता प्राप्त कर लेती है॥१॥

यह जो ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का पथ प्रदर्शित किया गया है उसका दूसरा फल कवि की प्रतिभा (काव्योत्कर्षजनक शक्ति) का आनन्त्य है। वह कैसे? इसका उत्तर देते हैं **अत इति**।

लोचनम्

कृत्यपञ्चकनिर्वाहयोगेऽपि परमेश्वरः ।
नान्योपकरणापेक्षो यया तां नौमि शाङ्करीम् ॥

उद्योतान्तरसङ्गतिं विरचयितुं वृत्तिकार आह–*एवमिति। प्रयोजनान्तरमिति।* यद्यपि 'सहृदयमनःप्रीतय' इत्यनेन प्रयोजनं प्रागेवोक्तं, तृतीयोद्योतावधौ च सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वेति तदेवेषत्स्फुटीकृतं, तथापि

जिन परमेश्वरी की मायाशक्ति के कारण परमेश्वर सृष्टि आदि पाँच प्रकार के कार्यों को पूरा करने में भी दूसरे उपकरणों की अपेक्षा नहीं रखते, उस शाङ्करी मायाशक्ति को मैं नमस्कार करता हूँ।

अन्य उद्योतों से सङ्गति बैठाने के लिये वृत्तिकार कहते हैं– **एवमिति** इस प्रकार। **प्रयोजनान्तरम्** दूसरा प्रयोजन। यद्यपि ध्वनि का प्रयोजन 'सहृदय मनःप्रीतये' यह पहले कह आये हैं। पुनः तृतीय उद्योत के अन्त में 'सत्काव्यं कर्त्तुं ज्ञातुं वा' इस शब्द से

ध्वन्यालोकः

कथमिति चेत्-
अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥२॥

अतो ध्वनेरुक्तप्रभेदमध्यादन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता सती

इन ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य में किसी एक से भी विभूषित कवि की वाणी (वाल्मीकि, व्यास आदि अन्य कवियों द्वारा प्रतिपादित अतएव) पुराने अर्थों (वाच्य-वाचक से संबद्ध) से युक्त होने पर भी नवीनता (अभिनव चारुत्व) को प्राप्त हो जाती है॥२॥

इस ध्वनि के उक्त भेदों (ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य) में से किसी एक भी भेद से युक्त पुरातन कविनिबद्ध अर्थों का वर्णन करने वाली वाणी भी नवीनता

लोचनम्

स्फुटतरीकर्तुमिदानीं यत्नः। यतस्सुस्पष्टरूपत्वेन विज्ञायते, अतोऽस्पष्टनिरूपितात्स्पष्टनिरूपणमन्यथैव प्रतिभातीति प्रयोजनान्तरमित्युक्तम्। अथवा पूर्वोक्तयोः प्रयोजनयोरन्तरं विशेषोऽभिधीयते; केन विशेषेण सत्काव्यकरणमस्य प्रयोजनं, केन च सत्काव्यबोध इति विशेषो निरूप्यते। तत्र सत्काव्यकरणे कथमस्य व्यापार इति पूर्वं वक्तव्यं निष्पादितस्य ज्ञेयत्वादिति तदुच्यते–*ध्वनेर्य इति*॥१॥

ननु ध्वनिभेदात् प्रतिभानामानन्त्यमिति व्यधिकरणमेतदित्यभिप्रायेणाशङ्कते–*कथमितीति*।

अत्रोत्तरम्–*अतो हीति*। आसतान्तावद् बहवः प्रकाराः, एकेनाप्येवं

उसे कुछ-कुछ स्फुट किया है तथापि उसे स्फुटतर करने के लिये अब प्रयत्नशील हैं इसलिये कि वह प्रयोजन अत्यन्त स्पष्ट रूप से जाना जा सके। अस्पष्टरूप से निरूपण किये गये प्रयोजन की अपेक्षा स्पष्टतर उसका निरूपण अन्यथा मालूम पड़ता है इसलिये प्रयोजनान्तरं (दूसरा प्रयोजन) ऐसा कहा। अथवा पहले कहे गये दोनों प्रयोजनों का अन्तर अर्थात् विशेष कहते हैं किन-किन विशेषताओं से सत्काव्य का निर्माण होता है यही इसका प्रयोजन है तथा किन-किन प्रयोजनों से सत्काव्य का बोध होता है यह भी प्रयोजन है अतः सत्काव्य में कारणभूत इन दोनों प्रयोजनों की विशेषता का निरूपण करते हैं, वहाँ सत्काव्य के निर्माण में कैसे इसका व्यापार होता है? यह पहले वक्तव्य है, क्योंकि जो निष्पादित होता है वही ज्ञान या ज्ञेय का विषय होता है अतः प्रथम उसे ही कहते हैं–**ध्वनेर्य इति** ध्वनि के भेद से प्रतिभा का आनन्त्य होता है जो व्यधिकरण (भिन्न-भिन्न अधिकरण में रहने वाला) है इस अभिप्राय से

ध्वन्यालोकः

वाणी पुरातनकविनिबद्धार्थसंस्पर्शवत्यपि नवत्वमायाति। तथा ह्यविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः प्रकारद्वयसमाश्रयणेन नवत्वं पूर्वार्थानुगमेऽपि यथा–

(अभिनव चारुत्व) को प्राप्त हो जाती है। पूर्ण कविवर्णित अर्थ का सम्बन्ध हो जाने पर भी लक्षणामूल अविवक्षितवाच्यध्वनि के दोनों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) प्रकारों के आश्रय से पुराने होने पर भी नवीनता का उदाहरण जैसे– **स्मितमिति।**

लोचनम्

भवतीत्यपिशब्दार्थः। एददुक्तं भवति–वर्णनीयवस्तुनिष्ठः प्रज्ञाविशेषः प्रतिभानं, तत्र वर्णनीयस्य पारिमित्यादाद्यकविनैव स्पृष्टत्वात् सर्वस्य तद्विषयं प्रतिभानं तज्जातीयमेव स्यात्। ततश्च काव्यमपि तज्जातीयमेवेति भ्रष्ट इदानीं कविप्रयोगः, उक्तवैचित्र्येण तु त एवार्था निरवधयो भवन्तीति तद्विषयाणां प्रतिभानामानन्त्यमुपपन्नमिति। ननु प्रतिभानन्त्यस्य किं फलमिति निर्णेतुं *वाणीनवत्वमायातीत्युक्तं,* तेन वाणीनां काव्यवाक्यानां तावन्नवत्वमायाति। तच्च प्रतिभानन्त्ये सत्युपपद्यते, तच्चार्थानन्त्ये, तच्च ध्वनिप्रभेदादिति।

आशङ्का करते हैं **कथमिति चेत्।** इसका उत्तर देते हैं– **अत इति** हों बहुत से प्रकार किन्तु एक प्रकार के प्रभेद से भी प्रतिभा का आनन्त्य हो जाता है यह 'अपि' शब्द का अर्थ है। इसका तात्पर्य इतना ही है– वर्णनीय वस्तु में रहने वाला कवि का प्रज्ञाविशेष प्रतिभान कहा जाता है, वहाँ वर्णनीयवस्तु के परिमित होने से पूर्वके कविद्वारा ही स्पर्श कर लिये जाने के कारण सबको उस वर्णनीय वस्तुविषय वस्तुजातीयक ही होगा। तब वाक्य भी तज्जातीयक ही होगा तब तो कविका सारा प्रयोग (प्रयत्न) भ्रष्ट (निष्फल) हो जायेगा किन्तु उस गुणीभूत व्यङ्ग्य ध्वनि के वैचित्र्य से वे ही वर्णनीय अर्थ अनन्त (निःसीम अवधिरहित) हो जाते हैं। यदि कहो कि प्रतिभा के आनन्त्य का क्या फल है तो इसका सीधा उत्तर (निर्णय) यह है कि वाणी नवत्व को प्राप्त करती है यह बात पहले भी कह चुके हैं जो कहा और वाणी (काव्य) में नवत्व तभी होता है जब प्रतिभा का आनन्त्य बनता है और वह प्रतिभा का आनन्त्य अर्थ वर्णनीय वस्तु के आनन्त्य होने पर ही संभव होता है। उस वर्णनीय वस्तु का आनन्त्य ध्वनि के अनन्त भेद-प्रभेदादि के ज्ञान से बनता है।

ध्वन्यालोकः

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्मिसरसः ।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः ॥

इत्यस्य,

नवयौवन का स्पर्श करने वाली वय: सन्धि में वर्तमान मृगनयनी के किञ्चिन्मात्र मधुर मुसुकान चञ्चल सुलक्षण मीठी दृष्टि का सौन्दर्य नवीन विलासपूर्ण उक्तियों से सरस वाणी का प्रयोग विविध हावभावों को विकसित करने वाली गतियों का उपक्रम किसलय पराग के समान मनोहर लीला इत्यादि में से उस मृगनयनी की कौन सी वस्तु मनोहर नहीं है अर्थात् तरुणाई की अवस्था में सभी अङ्ग, सभी चेष्टायें, सभी विलास मनोहर रमणीय है। यह श्लोक नवीन है इस श्लोक का प्राचीन स्वरूप इस प्रकार है—

लोचनम्

तत्र प्रथममत्यन्ततिरस्कृतवाच्यान्वयमाह–*स्मितमिति।*मुग्धमधुरविभवसरसकिसलयितपरिमलस्पर्शनान्यत्यन्ततिरस्कृतानि। तैरनाहृतसौन्दर्यसर्वजनवाल्लभ्याक्षीणप्रसरत्वसन्तापप्रशमनतर्षकत्वसौकुमार्यसार्वकालिकतत्संस्कारानुवृत्तित्वयत्नाभिलषणीयसङ्गतत्वानि ध्वन्यमानानि यानि, तैः स्मितादेः प्रसिद्धस्यार्थस्य स्थविरवेधीविहितधर्मव्यतिरेकेण धर्मान्तरपात्रता

यहाँ पहले अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का अन्वय कहते है– **स्मितं किञ्चिन्मुग्धमिति** स्मितं मुसुकुराना। मुग्ध मधुर। विभव ऐश्वर्य सरस रसीला। किसलयित किसलययुक्त परिमत पराग और स्पर्शन ये अत्यन्त तिरस्कृत कर दिये गये है। उनसे क्रमशः अनाहत (अकृत्रिम या स्वाभाविक) सौन्दर्य, सर्वजनप्रियत्व अक्षीणप्रसरत्व संताप प्रशमन, तर्षकत्व, सौकुमार्य, सर्वकालिकता तत्संस्कारानुवृत्तित्व यत्नाभिलषणीय और सङ्गतत्वादि ध्वन्यमान हैं, उन ध्वन्यमान अर्थों से स्मित आदि प्रसिद्ध अर्थ का बूढे ब्रह्मा द्वारा विहित धर्म के व्यतिरेक (त्याग) से अकृत्रिम सौन्दर्यादि दूसरे धर्मों की जब पात्रता कर देते हैं तब वे स्मित आदि नये बन जाते हैं ऐसा सर्वत्र मानना चाहिए। **अस्येति**–

इनका अपूर्वत्व ही भासित होता है इस प्रकार दूर से सम्बन्ध है सभी जगह इसका नवत्त्व (अपूर्वत्व) है यह संगति है। **यः प्रथम** इति इस श्लोक में दूसरा पहला शब्द अन्वित न होने के कारण किसी दूसरे अर्थमें है जिसकी प्रधानता अनिराकरणीय

ध्वन्यालोकः

सविभ्रमस्मितोद्‌भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः ।
नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः ॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि तिरस्कृतवाच्यध्वनिसमाश्रयेणापूर्वत्वमेव प्रतिभासते। तथा–

यः प्रथमः प्रथमः स तु तथाहि हतहस्तिबहलपललाशी ।
श्वापदगणेषु सिंहः सिंहः केनाधरीक्रियते ॥

इत्यस्य,

स्वतेजःक्रीतमहिमा केनान्येनातिशय्यते ।
महद्भिरपि मातङ्गैः सिंहः किमभिभूयते ॥

विभ्रम (शृङ्गारचेष्टाविशेष) से युक्त जिसकी मन्द-मन्द मुसुकान खिल रही है, वाणी लड़खड़ा रही है, नितम्बों के भार के कारण धीरे-धीरे चलने वाली जो कामिनियाँ हैं किसको प्रिय नहीं लगती। इत्यादि पूर्वकविविरचित श्लोकों के रहते हुये उसी भाव से लिखे गये 'स्मितं किञ्चिन्मुग्धम्' इत्यादि नवीन श्लोक में मुग्ध मधुर विभव परिस्पन्द सरस किसलयों परिमल आदि पदों में उन-उन शब्दों के मुख्यार्थ के अत्यन्त बाधित होने से लक्षणामूल अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य-ध्वनि के सम्बन्ध से अपूर्वत्व नवीन चारुत्व प्रतीत ही होता है। **यः प्रथम** इति। जो प्रथम है वह तो प्रथम ही है। जैसे हिंस प्राणियों में मारे गये हाथियों का मांस खाने वाला सिंह सिंह ही है उसे कौन तिरस्कृत कर सकता है। इसका पुराना रूप अपने प्रताप से गौरव प्राप्त करने वाले महापुरुष से बढ़कर कौन हो सकता है? क्या बड़े-बड़े विशालकाय हाथी सिंह को नीचा दिखा सकते

लोचनम्

यावत् क्रियते, तावत्तदपूर्वमेव सम्पद्यत इति सर्वत्रेति मन्तव्यम्। *अस्येति* अपूर्वत्वमेव भासत इति दूरेण सम्बन्धः। सर्वत्रैवास्य नवत्वमिति सङ्गतिः। द्वितीयः प्रथमशब्दोऽर्थान्तरेऽनपाकरणीयप्रदानत्वासाधारणत्वादिव्यंग्य-धर्मान्तरे सङ्क्रान्तं स्वार्थं व्यनक्ति। एवं सिंह शब्दोऽपि वीरत्वानपेक्षत्वविस्मयनीयत्वादौ व्यङ्ग्यधर्मान्तरे संक्रान्तं स्वार्थं ध्वनति।

है। वह अवधारणत्व आदि रूप व्यङ्ग्य धर्मान्तर में सङ्क्रान्त होकर अपने स्वार्थ को व्यञ्जित करता है। इसी प्रकार सिंह शब्द भी वीरत्व, अनपेक्षत्व, विस्मयनीयत्व आदि व्यङ्ग्य धर्मान्तर में सङ्क्रान्त होकर अपने स्वार्थको ध्वनित करता है।

ध्वन्यालोकः

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वप्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि-समाश्रयेण नवत्वम्। विवक्षितान्यपरवाच्यस्याप्युक्तप्रकारसमाश्रयेण नवत्वं यथा–

निद्राकैतविनः प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधू-
र्बोधत्रासनिरुद्धचुम्बनरसाप्याभोगलोलं स्थिता।
वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः
साकाङ्क्षप्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः॥

हैं इत्यादि। इन प्राचीन श्लोकों के रहते हुये भी 'यः प्रथमः' इत्यादि नवीन श्लोक में द्वितीय बार प्रयुक्त प्रथम तथा सिंह पदों में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि के आश्रय से नवीनता आ गई है।

विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूलध्वनि के भी पूर्वोक्त संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा असंलक्ष्यकमव्यङ्ग्य प्रकारों में से असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के समाश्रय से नवत्वप्राप्ति का उदाहरण जैसे– निद्राकैतविन इति।

नवपरिणीता वधू नींद का बहाना कर शय्या पर लेटे हुये अपने पति के मुख पर अपना मुख रखकर उसके जग जाने के भय से चुम्बन की इच्छा को रोक कर भी आभोग (चुम्बनेच्छा प्रतिक्षण बढ़ते रहने के कारण चञ्चल अथवा बार-बार निद्रा की परीक्षा करने के लिये चञ्चल) से चञ्चल खड़ी है। और मेरे

लोचनम्

एवं प्रथमस्य द्वौ भेदावुदाहृत्य द्वितीयस्याप्युदाहर्तुमासूत्रयति– *विवक्षितेति।* **निद्रायां** *कैतवी* **कृतकसुप्त इत्यर्थः।** *वदने विन्यस्य वक्त्रमिति।* **वदनस्पर्शजमेव तावद्दिव्यं सुखं त्यक्तुन्न पारयतीति। अतएव** *प्रियस्येति।* **वधूः नवोढा। बोधत्रासेन प्रियतमप्रबोधभयेन निरुद्धो हठात् प्रवर्तमानः प्रवर्तमानोऽपि कथञ्चित्कथञ्चित् क्षणमात्रन्धृतश्चुम्बनाभिलाषो यया।**

इस प्रकार प्रथम (अविवक्षितवाच्य) के दोनों भेदों का उदाहरण देकर विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भेदों को भी उदाहृत करने के लिये निर्देश करते हैं– **विवक्षितान्यपरवाच्यस्येति। निद्राकैतविनः निद्रायां कैतवी कृतकसुप्तस्तस्य** नीद का ढोंग बना कर सोया हुआ **प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रम्** प्रियतम के मुख पर अपना मुख रख कर। मुख का स्पर्श करने से उत्पन्न दिव्य सुख को ही नहीं छोड़ पाता। अतएव **प्रियस्येति** अतएव प्रियतम का **वधू** सद्यः परिणीता नई नवेली तरुणी।

ध्वन्यालोकः

इत्यादेः श्लोकस्य,

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

चुम्बन के कारण कहीं यह लजा कर अपना मुँह न फेर ले यह सोच कर अपने चुम्बन-व्यापार का आरम्भ न कर सकने वाले नायक का भी हृदय अपनी मनोरथ-पूर्त्ति न हो पाने से साकाङ्क्ष होने पर भी रति (रसास्वाद) के पार पहुँच गया। इसी श्लोक की **शून्यमिति** अपने शयन वाले कमरे को अन्यों एवं सखियों से शून्य देख कर धीरे से पलङ्ग पर से थोड़ा उठ कर नींद का बहाना कर सोये हुए अपने पति के मुख को बहुत देर तक कहीं जाग तो नहीं रहे हैं इस दृष्टि से देखने के बाद वास्तव में सो रहे हैं ऐसा निश्चय कर नायिका ने विश्वासपूर्वक पति के मुख का चुम्बन किया, किन्तु चुम्बन के कारण उसके कपोलों को रोमाञ्चयुक्त देख कर लज्जा से नम्रमुखी उस नवोढ़ा वधू का हँसते हुये पति ने

लोचनम्

अतएव आभोगेन पुनः पुनर्निद्राविचारनिर्वर्णनया विलोलं कृत्वा स्थिता, न तु सर्वथैव चुम्बनान्निवर्तितुं शक्नोतीत्यर्थः। एवंभूतैषा यदि मया परिचुम्ब्यते, तद्विलक्षा विमुखीभवेदिति *तस्यापि* प्रियस्य परिचुम्बनविषये निरारम्भस्य। *हृदयं साकांक्षप्रतिपत्तिनामेति।* साकांक्षा साभिलाषा प्रतिपत्तिः स्थितिर्यस्य तादृशं रुहरुहिकाकदर्थितं न तु मनोरथसम्पत्तिचरितार्थं, किन्तु रतेः परस्परजीवितसर्वस्वाभिमानरूपायाः परिनिर्वृतेः केन चिदप्यनुभवेना-लब्धावगाहनायाः पारङ्गतमिति परिपूर्णीभूत एव शृङ्गारः। द्वितीयश्लोके तु

बोधत्रास निरूद्धचुम्बनरसा प्रियतम के जग जाने के डर से अपने द्वारा की जाने वाली चुम्बन की अभिलाषा को रोकती हुई। **आभोगलोलं** स्थिता बारम्बार निद्रित देख कर चञ्चल होकर भी खड़ी ही रह गई। **वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति** मेरे द्वारा चुम्बन किये जाने पर यह विमुख (अपना मुंह फेर लेगी) हो जायगी इस भय से **तस्याप्यनारम्भिणः)** इस प्रकार अपने प्रिय होते हुये भी परिचुम्बनविषयक आरम्भ से शून्य हृदय वाले साकाक्ष प्रतिपाद्य किन्तु तद्विषयक साकाङ्क्ष स्थिति वाले। उसी प्रकार उत्सुकता से पीड़ित न कि मनोरथसंपत्ति से सर्वथा चरितार्थ **यातं तु पारं रतेः** अर्थात् परस्पर जीवन के सर्वस्व होने के अभिमान रूप परम निर्वृति (आनन्द) के

ध्वन्यालोकः

इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि नवत्वम्। यथा वा-'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादिश्लोकस्य 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रूः' इत्यादिश्लोकापेक्षया-न्यत्वम् ॥२॥

युक्त्याऽनयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः ।
मिथोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥३॥

बहुविस्तारोऽयं रसभावतदाभासतत्प्रशमनलक्षणो मार्गो यथास्वं

देर तक चुम्बन किया। इत्यादि श्लोकों के रहते हुये **'निद्राकैतविनः'** इत्यादि श्लोकों में नवीनता की प्रतीति होती है अथवा जैसे तरङ्गभ्रूभङ्गा श्लोक की 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रूः' इत्यादि प्राचीन श्लोक की अपेक्षा असंलक्ष्यक्रमध्वनि के प्रभाव से अपूर्णता (नवीनत्व) प्रतीत होती है—

युक्त्येति— इसी प्रकार अत्यन्त विस्तृत रसादि का अनुसरण करना चाहिये जिसके आश्रय से परिमित काव्यमार्ग भी अनन्तता को प्राप्त हो जाता है।।३।।

जैसा कि पहले कह चुके है कि रस, भाव, तदाभास और तत्प्रशम रूप

लोचनम्

परिचुम्बनं सम्पन्नं लज्जा स्वशब्देनोक्ता। तेनापि सा परिचुम्बितेति यद्यपि पोषित एव शृङ्गारः, तथापि प्रथमश्लोके परस्पराभिलाषप्रसरनिरोध-परम्परापर्यवसानासम्भवेन या रतिरुक्ता, सोभयोरप्येकस्वरूपचित्तवृत्त्यनु-प्रवेशमाचक्षाणा रतिं सुतरां पोषयति।।२।।

एवं मौलं भेदचतुष्टयमुदाहृत्यालक्ष्यक्रमभेदेष्वतिदेशमुखेन सर्वोपभेदविषयनिर्देशं करोति-*युक्त्यानयेति। अनुसर्तव्य इति।* उदाहर्तव्य इत्यर्थः। *यथोक्तमिति।*

जिसका किसी के द्वारा भी अनुभव से अवगाहन न हुआ हो उसके भी पार पहुँच गया, इस प्रकार शृङ्गार परिपूर्ण ही हो गया। परन्तु दूसरे श्लोक में परिचुम्बन कर लिया गया जिससे स्वयं लज्जानम्रमुखी शब्द के प्रयोग से अभिव्यक्ति कर दी गई है उसके द्वारा वह परिचुम्बित हुई इससे यद्यपि शृङ्गार पोषित ही हुआ तथापि पहले श्लोक में एक दूसरे के अभिलाषवेग के रुकने के क्रम में पर्यवसान होने से जो रति कही गई है वह दोनों प्रिय और प्रिया को एक स्वरूपवाली चित्तवृत्ति की स्थिति (अनुप्रवेश) को स्पष्ट करती हुई रति को पूर्णरूप से स्पष्ट करती है।।२।।

इस प्रकार मूल के चार भेदों का उदाहरण प्रस्तुत कर अलक्ष्यक्रमध्वनि के अतिदेश के प्रकार से समस्त उपभेदों के सम्बन्ध में निर्देश करते हैं- **युक्त्यानयेति**

ध्वन्यालोकः

विभावानुभावप्रभेदकलनया यथोक्तं प्राक्। स सर्व एवानया युक्त्यानुसर्तव्यः। यस्य रसादेराश्रयादयं काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसंख्यैरसंख्यैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति। रसभावादीनां हि प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिसमाश्रयादपरिमितत्वम्। तेषां चैकैकप्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्वृत्तमुप-

रसादि मार्ग अपने विभाव, अनुभाव आदि प्रभेदों की गणना से अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। उन सबका उसी प्रकार अनुसरण करना चाहिये जिस रसादि के आश्रय से सहस्रों अथवा असंख्य कवियों द्वारा नाना प्रकार से क्षुण्ण (आलोडित) होने के कारण परिमित काव्यमार्ग भी अनन्तता को प्राप्त हो जाता है।

रस भावादि में से प्रत्येक (अपने-अपने) विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव के आश्रय से अपरिमित हो जाता है। उनमें से एक-एक भेद की दृष्टि से भी सुकवियों द्वारा वर्णित जगद्वृत्तान्त वस्तुतः अन्य रूप में स्थित होते हुए भी उन कवियों की इच्छानुसार अन्य रूप से प्रतीत होता है। यह बात चित्रकाव्य के

लोचनम्

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदाः स्वगताश्च ये।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पना ॥

इत्यत्र। *प्रतिपादितं चैतदिति।* चशब्दोऽपिशब्दार्थे भिन्नक्रमः। एतदपि प्रतिपादितं 'भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवदि'त्यत्र। *अतथास्थितानपि बहिस्तथासंस्थितानिवेति।* इवशब्देन एकतरत्र विश्रान्तियोगाभावादेव सुतरां विचित्ररूपानित्यर्थः। *हृदय इति।* प्रधानतमे समस्तभावकनकनिकषस्थान इत्यर्थः। *निवेशयति* यस्य यस्य हृदयमस्ति,

इसी युक्ति से उदाहृत कर लेना चाहिये जैसा कि कहा है **तस्याङ्गानामिति** उस ध्वनि के जितने प्रभेद हैं और स्वगत भी जितने प्रभेद हैं उनका आनन्त्य परस्पर सम्बन्ध की परिकल्पना है– **प्रतिपादितं चैतदिति** इसमें च शब्द अपि शब्दार्थक है, जो भिन्नक्रम से कहा गया है इसे प्रतिपादन किया है– 'भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवादित्यत्र' अचेतन भावों को भी चेतन की भाँति और चेतन भावों को भी अचेतन की भाँति इस स्थल में। इस प्रकार न स्थित रहने वाले भी बाहर उस प्रकार पूर्ण रूप से स्थित जैसे। यहाँ जैसे शब्द से एक स्थान पर विश्राम न मिलने के कारण ही पूर्णरूपेण विचित्ररूप वाले यह अर्थ है **हृदये** इति हृदय में सन्निविष्ट कर देती है प्रधानतम अर्थात् संपूर्ण भाव (वर्णनीयवस्तु) रूपी सोने की कसौटी रूप हृदय में निवेश

ध्वन्यालोकः

निबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावशादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते। प्रतिपादितं चैतच्चित्रविचारावसरे। गाथा चात्र कृतैव महाकविना–

अतहट्ठिए वि तहसण्ठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ।
अत्थविसेसे सा जअइ विकडकइगोअरा वाणी॥

(अतथास्थितानपि तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयति।
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी॥ इति छाया।)

तदित्थं रसभावाद्याश्रयेण काव्यार्थानामानन्त्यं सुप्रतिपादितम्। एतदेवोपपादयितुमुच्यते–

विचार के अवसर पर तृतीय उद्योत की ४२वीं कारिका में 'भावानचेतनान् चेतनवद्' इत्यादि परिकर श्लोक के प्रसङ्ग में कह चुके हैं— इस विषय में किसी महाकवि ने गाथा भी बनाई है–**अतथास्थितानपीति** जो उस प्रकार रमणीयरूप में वस्तुतः स्थित न होने वाले मुख आदि पदार्थ-विशेषों को भी उस लोकोत्तरमणीयरूप में स्थित सा हृदय में जमा देता है, महाकवियों की ऐसी वाणी सर्वोत्कृष्टता प्राप्त करती है। इस प्रकार रस, भाव आदि के आश्रय से काव्यार्थ अनन्त हो जाते हैं। इतनी बात भलीभाँति प्रतिपादित की गई।

लोचनम्

तस्य तस्य अचलतया तत्र स्थापयतीत्यर्थः। अतएव ते प्रसिद्धार्थेभ्योऽन्य एवेत्यर्थविशेषास्सम्पद्यन्ते। हृदयनिविष्टा एव च तथा भवन्ति नान्यथेत्यर्थः। *सा जयति* परिच्छिन्नशक्तिभ्यः प्रजापतिभ्योऽप्युत्कर्षेण वर्तते। तत्प्रसादादेव कविगोचरो वर्णनीयोऽर्थो विकटो निस्सीमा सम्पद्यते॥३॥

प्रतिभानां वाणीनाञ्चानन्त्यं ध्वनिकृतमिति यदनुद्भिन्नमुक्तं, तदेव कारिकया भङ्ग्या निरूप्यत इत्याह–*उपपादयितुमिति*। उपपत्त्या

कर देती है अर्थात् जिसका-जिसका हृदय है उस-उसका अचल रूप से वहाँ स्थापित कर देती है अतएव वे पदार्थ प्रसिद्ध अर्थों से अन्य ही हो जाते हैं अर्थात् हृदय में स्थान पाकर उस प्रकार हो जाते हैं अन्यथा नहीं। **सा जयति** सबसे बढ़कर है परिच्छिन्न शक्तियों वाले प्रजापतियों से बढ़ कर है। उसके प्रसाद से ही कवि की दृष्टि में आया हुआ वर्णनीय अर्थ विकट (सीमारहित) हो जाता है।

प्रतिभाओं और वाणियों का आनन्त्य ध्वनि द्वारा होता है इसे अस्पष्ट रूप से कहा है, उसे ही कारिका द्वारा भङ्गिमा से निरूपित करने के लिये कहते हैं–

ध्वन्यालोकः

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥४॥

तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूप-व्यङ्ग्यप्रकारसमाश्रयेण नवत्वम्। यथा–'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इत्यादेः।

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम्॥

इसी का उपपादन करने के लिए कहते हैं–**दृष्टपूर्वेति** वसन्त ऋतु में वृक्षों की भांति काव्य में रस प्राप्त कर पूर्व दृष्ट सारे पदार्थ भी नवीन जैसे प्रतीत होते हैं।

उदाहरण के लिये विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव स्वरूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद के आश्रय से नवीनता की प्रतीति का उदाहरण जैसे **धरणीधारणायेति** पृथ्वी के धारण करने के लिये अब तुम शेष हो इसकी व्याख्या देखें।

शेष इति शेषनाग, हिमालय और तुम महान् विपुल आकार वाले तथा (महत्त्वशाली) गुरु (भूभारसहनक्षम और प्रतिष्ठित) और स्थिर (अचल तथा दृढ़प्रतिज्ञ) ये तीन ही है जो स्वयं मर्यादा का अतिक्रमण न करते हुये चलायमान (कम्पायमान पृथ्वी और सामाजिक मर्यादा से च्युत परिच्युत वाली प्रजा) को धारण तथा पालन करते हैं। इत्यादि श्लोकों के होते हुये भी उसकी अपेक्षा 'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः इत्यादि उदाहरण में नूतनता प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनि के कारण अभिनव चारुत्व आ गया है। उसी

लोचनम्

निरूपयितुमित्यर्थः। यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्तः, तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति भावः। यदि वा उच्यते संग्रहश्लोकोऽयमिति भावः। अत एवास्य श्लोकस्य वृत्तिग्रन्थे व्याख्यानं न कृतम्।

उपपादयितुमिति उपपत्तियों द्वारा निरूपण करने के लिये– भाव यह कि यद्यपि अर्थ के आनन्त्य में हेतु को वृत्तिकार ने कहा है, तथापि कारिकाकार ने इसे नहीं कहा है अथवा यदि कहे भी हों तो यह संग्रहश्लोक है कारिका का नहीं यही भाव है, इसीलिये 'दृष्टपूर्वा', इस श्लोका वृत्तिग्रन्थ में व्याख्यान नहीं है। **दृष्टपूर्वा** इति पहले

ध्वन्यालोकः

इत्यादिषु सत्स्वपि। तस्यैवार्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य-समाश्रयेण नवत्वम्। यथा–'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि श्लोकस्य।

कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः॥

इत्यादिषु सत्सु अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविप्रौढोक्तिनिर्मितशरीरत्वेन नवत्वम्। यथा–'सज्जेइ सुरहिमासो' इत्यादेः।

सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः।
रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकारकलिकाभिः॥

इत्यादिषु सत्स्वप्यपूर्वत्वमेव।

विवक्षितान्यपरवाच्य के अर्थशक्त्युद्भव रूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद के आश्रय से नवीनता का उदाहरण जैसे–'एवं वादिनि देवर्षौ', इत्यादि। वर की चर्चा के अवसर पर लज्जा से मुख नीचा किये हुये कुमारियाँ अपने पुलकों के उद्गम से ही आन्तरिक इच्छा को अभिव्यक्त करती हैं, इत्यादि के रहने पर भी इस श्लोक में लज्जा और स्पृहा वाच्यरूप में कथित होने से उतनी चमत्कारजनक नहीं प्रतीत होती है। 'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादि श्लोक में वे ही अर्थशक्त्युद्भवध्वनिरूप व्यङ्ग्य के सम्बन्ध विशेष चमत्कारजनक होने से अपूर्व प्रतीत होती है। अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के कवि प्रौढोक्तिसिद्धभेद से नवीनता जैसे 'सज्जयति सुरभिमासो' इत्यादि।

वसन्त ऋतु के आने पर आम्रमञ्जरियों के साथ ही प्रणयीजनों की रम्य उत्कलिकायें (उत्कण्ठायें) सहसा आविर्भूत होने लगती हैं। इत्यादि के रहने पर

लोचनम्

दृष्टपूर्वा इति। बहिः प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः प्राक्तनैश्च कविभिरित्युभयथा नेयम्। काव्यं मधुमासस्थानीयम्, *स्पृहां* लज्जामिति, *रागवतामुत्कलिका* इति च। शब्दस्पृष्टेऽर्थे का हृद्यता।

एतानि चोदाहरणानि वितत्य पूर्वमेव व्याख्यातानीति किं पुनरुक्त्या

से देखे गये। बाहर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से और प्राचीन कवियों द्वारा दृष्ट होने से उभय प्रकारों से अर्थ नवीनता को प्राप्त करते हैं इसकी संगति लगानी चाहिये। काव्य मधुमास के स्थान पर है स्पृहा लज्जा और राग वालों की उत्कलिका (उत्कण्ठा) इस प्रकार शब्द द्वारा उत्पन्न अर्थों में कौन सी हृद्यता होगी? इन उदाहरणों की सविस्तर व्याख्या

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरत्वेन नवत्वम्। यथा–'वाणिअअ हत्थिदन्ता' इत्यादिगाथार्थस्य।

करिणीवेहव्वअरो मह पुत्तो एक्ककाण्डविणिवाइ।
हअसोन्हाएँ तह कहो जह कण्डकरण्डअं वहइ॥
(करिणीवैधव्यकरो मम पुत्र एककाण्डविनिपाती।
हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति।।इतिच्छाया)

एवमादिष्वर्थेषु सत्स्वप्यनालीढतैव।

यथा व्यङ्ग्यभेदसमाश्रयेण ध्वनेः काव्यार्थानां नवत्वमुत्पद्यते, तथा व्यञ्जकभेदसमाश्रयेणापि। तत्तु ग्रन्थविस्तरभयान्न लिख्यते, स्वयमेव सहृदयैरभ्यूह्यम्। अत्र च पुनः पुनरुक्तमपि सारतयेदमुच्यते–

भी अपूर्वत्व ही होता है, यहाँ कविप्रौढिक्तिसिद्ध वस्तु से मदन-विजृम्मण रूप वस्तु व्यङ्ग्य होने के कारण नवीन चारुता आ जाती है। अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्धिरूप होने पर अभिनवत्व (चारुता प्रतीतित्व) का उदाहरण जैसे वाणिजक हस्तिदन्ता इत्यादि उदाहृत गाथा के अर्थ को केवल एक ही बाण के प्रयोग से मदमत्त हाथियों को मार कर हथिनियों को विधवा बनाने में समर्थ मेरे उस पुत्र को इस अभागिनी पुत्रवधू ने निरन्तर संभोग द्वारा ऐसा क्षीणवीर्य कर दिया है कि अब वह अपने कन्धे पर सारा तूणीर लादे घूमता है इत्यादि अर्थो वाले समानार्थक श्लोकों के रहते हुये 'वाणिजक हस्तिदन्ताः' इत्यादि श्लोक में कविनिबद्ध वक्तृप्रौढिक्तिसिद्धव्यङ्ग्य के प्रभाव से नूतनता ही है। जैसे ध्वनि के व्यङ्ग्यभेद के आश्रय से काव्यार्थों में नूतनता आ जाती है, उसी प्रकार व्यञ्जकभेद के आश्रय से भी हो सकती है ग्रन्थविस्तार

लोचनम्

सत्यपि प्राक्तनकविस्पृष्टत्वे नूतनत्वं भवत्येवैतत्प्रकारानुग्रहादित्येतावति तात्पर्यं हि ग्रन्थस्याधिकन्नान्यत्। करिणीवैधव्यकरो मम पुत्रःएकेन काण्डेन

पहले की जा चुकी है पुनः कथन से कोई लाभ नहीं। प्राचीन कवियों द्वारा संस्पृष्ट होने पर भी इस प्रकार के अनुग्रह से नूतनता होती ही है। बस इतना ही इस ग्रन्थ

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥५॥

अस्मिन्नर्थानन्त्यहेतौ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे विचित्रे शब्दानां सम्भवत्यपि कविरपूर्वार्थलाभार्थी रसादिमय एकस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे यत्नादवदधीत। रसभावतदाभासरूपे हि व्यङ्ग्ये तद्व्यञ्जकेषु च यथा निर्दिष्टेषु वर्णपदवाक्यरचना-प्रबन्धेष्ववहितमनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते। तथा च रामायणमहाभारतादिषु सङ्ग्रामादयः पुनःपुनरभिहिता अपि नवनवाः प्रकाशन्ते। प्रबन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति। कस्मिन्निवेति चेत्– यथा रामायणे यथा वा महाभारते। रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः 'शोकः

के भय से हम उसे यहाँ नहीं लिख रहे हैं— सहृदय पाठक स्वयं ही इसे समझ लें। इस विषय में बारम्बार कहे जाने पर भी यहाँ केवल साररूप से इतना ही कहते हैं कि इस व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव के नाना प्रकार संभव होने पर भी कविजन केवल रसादिमय भेद में ही ध्यान देवें॥५॥

अस्मिन्निति अर्थ के आनन्त्य के हेतु व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव के विचित्र होने पर भी अपूर्व अर्थ के लाभ की अभिलषा रखने वाला कवि रसादिमय एक व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव में यत्नपूर्वक ध्यान दे, क्योंकि रस, भाव, रसाभास, भावाभास रूप व्यङ्ग्य और व्यञ्जक में पूर्वोक्त निर्देश के अनुसार वर्ण, पद, वाक्यरचना और

लोचनम्

विनिपातनसमर्थः हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहतीत्युत्तान एवायमर्थः, गाथार्थस्यानालीढतैवेति सम्बन्धः॥४॥

***अत्यन्तग्रहणेन* निरपेक्षभावतया विप्रलम्भाशङ्कां परिहरति। वृष्णीनां**

का तात्पर्य है दूसरा नहीं। हथिनी को विधवा बना देने वाला मेरा पुत्र एक बाण में ही हाथी को गिरा देने में समर्थ हैं, किन्तु इस अभागिनी मेरी पुत्रवधू ने उसे ऐसा बना डाला कि अब वह बाणों का करण्डक (तरकस) लिये रहता है, यह सीधा सीधा अर्थ है, इस प्रकार के अर्थों के होने पर भी यहाँ अनालीढत्व (अस्पृष्टत्व) है।

विप्रलम्भ शृङ्गार की आशङ्का का परिहार किया गया है। वृष्णियों का आपस

ध्वन्यालोकः

श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता। महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया

प्रबन्धों में अवधान देने वाले कविका पूरा काव्य अपूर्व बन जाता है। नवनवायमान हो जाता है जैसा कि रामायणमहाभारतादि काव्यों में संग्रामादि बारम्बार कहे जाने पर भी वे उन-उन स्थानों पर नये-नये होकर प्रकाशित होते हैं, उस काव्य में एक ही अङ्गी रस उपनिबद्धमान होकर एक ही अर्थ-विशेष के लाभ को तथा शोभातिशय को बढ़ाता है। यदि पूछो कि किस प्रबन्ध में एक रस अङ्गी होकर अर्थविशेष की सिद्धि तो इसका उत्तर है– जैसे रामायण और महाभारत में एक ही रस अङ्गी है। रामायण में करुण रस अङ्गी है इसे आदिकवि ने स्वयं ही 'शोकः श्लोकत्वमागतः' से सूचित कर दिया है और उन्होंने स्वयं ही सीता के अत्यन्त वियोग तक अपने प्रबन्ध की रचना करते हुये उस करुण रस का निर्वाह भी किया है।

लोचनम्

परस्परक्षयः, पाण्डवानामपि महापथक्लेशेनानुचिता विपत्तिः, कृष्णस्यापि व्याधाद्विध्वंस इति सर्वस्यापि विरसमेवावसानमिति। ***मुख्यतयेति।*** **यद्यपि 'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे चे'त्युक्तं, तथापि चत्वारश्चकारा एवमाहुः– यद्यपि धर्मार्थकामानां सर्वस्वं तादृङ्नास्ति यदन्यत्र न विद्यते, तथापि पर्यन्तविरसत्वमत्रैवावलोक्यताम्। मोक्षे तु यद्रूपं तस्य सारतात्रैव विचार्यतामिति।**

यथा यथेति। **लोकैस्तन्त्र्यमाणं यत्नेन सम्पाद्यमानन्धर्मार्थ-**

में ही लड़कर विनष्ट हो जाना, पाण्डवों की भी महापथ के क्लेश के कारण अनुचित विपत्ति, कृष्ण का व्याध द्वारा विनाश इस प्रकार सभी का रसहीन अवसान ही कहा गया है। **मुख्यतयेति** यद्यपि .वहाँ 'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च' यह कहा है तथापि चार बार प्रयुक्त चकार इस प्रकार कहते हैं। यद्यपि धर्म, अर्थ और काम का स्वरूप (सर्वस्व) उस प्रकार का नहीं है जो अन्यत्र न हो तथापि परिणाम में विरसत्व को .यहाँ देखिये केवल मोक्ष में जो स्थिति है उसकी सारता (महत्त्व) यहाँ विचारणीय है। **यथा यथेति**— जैसे-जैसे लागों द्वारा तन्त्र्यमाण प्रयत्नपूर्वक संपाद्यमान धर्म, अर्थ,

ध्वन्यालोकः

विवक्षाविषयत्वेन सूचितः। एतच्चांशेन विवृतमेवान्यैर्व्याख्या-विधायिभिः। स्वयमेव चैतदुद्गीर्णं तेनोदीर्णमहामोहमग्रमुज्जिहीर्षता लोकमतिविमलज्ञानालोकदायिना लोकनाथेन-

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥

इत्यादि बहुशःकथयता। ततश्च शान्तो रसो रसान्तरैर्मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैरस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षा-

शास्त्र और काव्यरूप छाया (कान्ति-सौन्दर्य) से युक्त महाभारत में भी यादवों और पाण्डवों के विरस विनाश के कारण वैमनस्यजनक समाप्ति की रचना कर महामुनि व्यास ने अपने काव्य के वैराग्योत्पादन रूप तात्पर्य को ही मुख्यतया प्रदर्शित करते हुये मोक्ष रूप पुरुषार्थ तथा मुख्य रूप से शान्त रस ही महाभारत की विवक्षा का विषय है, यही सूचित किया है। अन्य व्याख्याकारों ने भी किसी अंश में यही सही व्याख्या भी की है और घनघोर उमड़ते हुये अज्ञानान्धकार में निमग्न संसार का उद्धार करने की इच्छा से उज्ज्वल ज्ञानरूप प्रकाश पैदा करने वाले विश्व के नाथ (स्वामी) भगवान् व्यासदेव ने स्वयं भी **यथा यथेति**– जैसे-जैसे इस विश्वप्रपञ्च की असारता और मिथ्यारूपता की प्रतीति होती जाती है वैसे-वैसे सांसारिक प्रपञ्चों एवं विषयों से वैराग्य बढ़ता जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं। अनेक स्थानों पर ऐसा कह कर वैराग्य को ही प्रगट किया है। इसलिये गुणीभूत अन्य रसों से अनुगत मोक्षरूप पुरुषार्थ ही मुख्यतया वर्णनीय है। यह

लोचनम्

कामतत्साधनलक्षणं वस्तुभूततयाभिमतमपि। येन येनार्जनरक्षणक्षयादिना प्रकारेण। असारवत्तुच्छेन्द्रजालादिवत्। *विपर्येति।* प्रत्युत विपरीतं सम्पद्यते। आस्तान्तस्य स्वरूपचिन्तेत्यर्थः। तेन तेन प्रकारेण *अत्र* लोकतन्त्रे। *विरागो जायत* इत्यनेन तत्वज्ञानोत्थितं निर्वेदं शान्तरसस्थायिनं सूचयता तस्यैव च सर्वेतरासारत्वप्रतिपादनेन प्राधान्यमुक्तम्।

काम और उनके साधनरूप वस्तुरूप में अभिमत भी जिस-जिस अर्जन, रक्षण और क्षय आदि प्रकारों से असार अर्थात् तुच्छ इन्द्रजाल की भाँति। **विपर्येति** विपरीत रूप में हो जाता है। इस शब्द से तत्त्वज्ञान से उत्पन्न शान्तरस के स्थायीभाव को सूचित करते हुए और उसी का ही अन्यों की असारता का प्रतिपादन करते हुये प्राधान्य कहा

ध्वन्यालोकः

विषय इति महाभारततात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते। अङ्गाङ्गिभावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादितमेव।

पारमार्थिकान्तस्तत्त्वानपेक्षया शरीरस्येवाङ्गभूतस्य रसस्य पुरुषार्थस्य च स्वप्राधान्येन चारुत्वमप्यविरुद्धम्। ननु महाभारते यावान्विवक्षाविषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत्तत्र दृश्यते, प्रत्युत सर्वपुरुषार्थप्रबोधहेतुत्वं सर्वरसगर्भत्वं च महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे स्वशब्दनिवेदितत्वेन प्रतीयते। अत्रोच्यते– सत्यं शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्वशब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्या दर्शितम्, दर्शितं तु व्यङ्ग्यत्वेन–

महाभारत का तात्पर्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। प्रधान रस के साथ अन्य रसों का अङ्गाङ्गीभाव जिस प्रकार से होता है उसका प्रतिपादन कर ही चुके हैं। वास्तविक आन्तरिक तत्त्व आत्मा की अपेक्षा न कर गौण शरीर के प्राधान्य के समान महाभारत में वास्तविक प्रधानभूत शान्तरस तथा मोक्षरूप पुरुषार्थ की उपेक्षा कर अन्य वीर रस आदि तथा धर्म आदि पुरुषार्थ रस तथा पुरुषार्थ के अपने प्राधान्य से भी चारुत्व प्रतीति मानने में कोई विरोध नहीं है परन्तु पारमार्थिक रूप में वह मूढ़ विचार के सदृश ही होगा। यहाँ प्रश्न होता है कि महाभारत में जितने प्रतिपाद्य विषय हैं वे सभी उसकी अनुक्रमणी में लिख दिये गये हैं परन्तु वहाँ न तो शान्तरस की प्रधानता का विवरण है न प्राधान्य रूप से पुरुषार्थभूत मोक्ष का वहाँ विवरण है। इसके विपरीत महाभारत को सभी पुरुषार्थो के ज्ञान का हेतुत्व और सर्वरसयुक्तत्व उस अनुक्रमणी में स्वयं उसी शब्द से सूचित किया गया है।

इसका समाधान करते हुये कहते हैं– इस विषय में हम भी कहतै हैं कि यह सत्य है महाभारत में शान्तरस का ही मुख्यत्व और अन्य सभी पुरुषार्थो

लोचनम्

ननु शृङ्गारवीरादिचमत्कारोऽपि तत्र भातीत्याशङ्क्याह–*पारमार्थिकेति।* भोगाभिनिवेशिनां लोकवासनाविष्टानामङ्गभूतेऽपि रसे तथाभिमानः, तथा

है। अब आशङ्का करते है कि महाभारत में तो शृङ्गार, वीर आदि रसों का चमत्कार भी तो प्रतीत होता है इस पर कहते हैं– **पारमार्थकान्तस्तत्त्वानपेक्षयेति** भोग में

ध्वन्यालोकः

'भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः' इत्यस्मिन् वाक्ये। अनेन ह्ययमर्थो व्यङ्ग्यत्वेन विवक्षितो यदत्र महाभारते पाण्डवादिचरितं यत्कीर्त्यते तत्सर्वमवसानविरसम-विद्याप्रपञ्चरूपञ्च, परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते। तस्मात्तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावितचेतसो, मा भूत विभूतिषु निःसारासु रागिणो गुणेषु वा नयविनय-पराक्रमादिष्वमीषु केवलेषु केषुचित्सर्वात्मना प्रतिनिविष्टधियः। तथा चाग्रे—पश्यत निःसारतां संसारस्येत्यमुमेवार्थं द्योतयन् स्फुटमेवाव-

की अपेक्षा मोक्ष का प्राधान्य इन दोनों को अनुक्रमणी में अपने-अपने वाचक शब्दों से नहीं दिखलाया गया है। परन्तु व्यङ्ग्य रूप से स्पष्ट ही दिखाया गया है जैसा कि 'भगवान् वासुदेव इति इस महाभारत में नित्य भगवान् वासुदेव की कीर्त्ति गाई गई है' इस वाक्य से।

इस वाक्य से यह अर्थ व्यङ्ग्य रूप से विवक्षित है कि इस महाभारत में पाण्डव आदि के चरित्रों का जो वर्णन किया गया है वह सब विरसावसान और अविद्याप्रपञ्च रूप है। परमार्थतः सत्यस्वरूप भगवान् वासुदेव की ही यहाँ कीर्त्ति गाई गई है, इसलिये उस परमैश्वर्यशाली भगवान् में ही अपना मन लगाओ। असार विभूतियों में अनुरक्त मत हो। इतना ही नहीं नीति, विनय, पराक्रम आदि केवल किन्हीं गुणों में पूर्णरूप से अपने मन को मत लगाओ अपने आगे संसार की असारता को देखते हुए विचार करो, सोचो। इसी अर्थ को व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-शक्ति से युक्त शब्द अभिव्यक्त करते हुये प्रतीत होते हैं इस प्रकार उसके

लोचनम्

शरीरे प्रमातृत्वाभिमानः प्रमातुर्भोगायतनमात्रेऽपि। *केवलेष्विति।* विभूतिषु रागिणो गुणेषु च परमेश्वरभक्त्युपकरणेषु तु न दोष इत्यर्थः। *अग्र इति।* अनुक्रमण्यनन्तरं यो भारतग्रन्थः निविष्टधियो मा भूतेति सम्बन्धः।

अभिनिवेश रखने वालों एवं सांसारिक वासनाओं में आविष्ट लोगों का अङ्ग रूप भी उस रस में उस प्रकार का अभिमान (मान्यता) होता है, जैसे भोग के आयतन मात्र शरीर में प्रमाता का प्रमातृत्व अभिमान होता है। **केवलेष्विति** परमेश्वर की भक्ति के उपकरणों में तो दोष नहीं है। किन्तु विभूतियों में रागयुक्त और गुणों में अभिनिवेश बुद्धि वाले मत बनो, इस प्रकार का सम्बन्ध है। **तथा चाग्रे इति** अर्थात् अनुक्रमणी

ध्वन्यालोकः

भासते व्यञ्जकशक्त्यनुगृहीतश्च शब्दः। एवंविधमेवार्थं गर्भीकृतं सन्दर्शयन्तोऽनन्तरश्लोका लक्ष्यन्ते- 'स हि सत्यम्' इत्यादय।

अयं च निगूढरमणीयोऽर्थो महाभारतावसाने हरिवंशवर्णनेन समाप्तिं विदधता तेनैव कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन सम्यक्स्फुटीकृतः। अनेन चार्थेन संसारातीते तत्त्वान्तरे भक्त्यतिशयं प्रवर्तयता सकल एव सांसारिको व्यवहार; पूर्वपक्षीकृतो न्यक्षेण प्रकाशते। देवतातीर्थतपःप्रभृतीनां च प्रभावातिशयवर्णनं तस्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन तद्विभूतित्वेनैव देवताविशेषाषाणामन्येषां च। पाण्डवादिचरितवर्णनस्यापि वैराग्यजननतात्पर्याद्वैराग्यस्य च मोक्षमूलत्वान्मोक्षस्य च भगवत्प्राप्त्युपायत्वेन मुख्यतया गीतादिषु प्रदर्शितत्वात्परब्रह्मप्राप्त्युपायत्वमेव परम्परया। वासुदेवादिसञ्ज्ञा-

अन्तर्निहित अर्थ को प्रकट करने वाले 'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः। स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च' इत्यादि श्लोक दिखलाये गये हैं।

यह निगूढ और रमणीय अर्थ महाभारत के अन्त में हरिवंशवर्णन से समाप्ति करते हुये उन्हीं कविवेधा कृष्णद्वैपायन व्यास ने सम्यक् प्रकार से स्पष्ट कर दिया है। इस अर्थ से अलौकिक तत्त्वान्तर में अधिकाधिक भक्ति को प्रदत्त करते हुये वेदव्यास ने यह समस्त सांसारिक व्यवहार को पूर्वपक्षरूप विषय बना दिया है यह बात प्रत्यक्ष भी प्रतीत होती है। देवता, तीर्थ, तप आदि के अतिशय प्रभाव का वर्णन उसी पर ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने से और उसकी विभूति होने से अन्य देवताविशेषों का भी वर्णन महाभारत में किया गया है। पाण्डव आदि के चरित्रो के वर्णन का भी वैराग्योत्पादन में तात्पर्य होने से और वैराग्य के मोक्ष हेतु होने से तथा मोक्ष को परब्रह्म की प्राप्ति का उपायरूप होने से गीतादि में प्रतिपादन होने से परम्परया पाण्डवादिचरित्रवर्णन भी परब्रह्मप्राप्ति के उपाय रूप में ही हैं, ऐसा समझना चाहिये। वासुदेव आदि संज्ञाओं का वाच्यार्थ

लोचनम्

तत्रेत्यर्थः। ननु वसुदेवापत्यं वासुदेव इत्युच्यते, न परमेश्वरः परमात्मा महादेव इत्याशङ्क्याह–*वासुदेवादिसंज्ञाभिधेयत्वेनेति।*

के बाद जो भारत ग्रन्थ है वसुदेवापत्य वासुदेव (अर्थात् वसुदेव के लड़के) ऐसा कहा गया है, परमेश्वर को नहीं? इस आशङ्का पर कहते हैं– **वासुदेवादिसंज्ञाभिधेयत्वेनेति**

ध्वन्यालोकः

भिधेयत्वेन चापरिमितशक्त्यास्पदं परं ब्रह्म गीतादिप्रदेशान्तरेषु तदभिधानत्वेन लब्धप्रसिद्धिं माथुरप्रादुर्भावानुकृतसकलस्वरूपं विवक्षितं न तु माथुरप्रादुर्भावांश एव, सनातनशब्दविशेषितत्वात्। रामायणादिषु चानया सञ्ज्ञया भगवन्मूर्त्यन्तरे व्यवहारदर्शनात्। निर्णीतश्चायमर्थः शब्दतत्त्वविद्भिरेव।

तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टे वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणः सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः

गीतादि अन्य स्थलों में इस नाम से प्रसिद्ध अपरिमित शक्ति से युक्त मथुरा में कृष्ण रूप से अवतार लेने वाले रामादि समस्त रूपों वाले परब्रह्म ही अभिप्रेत हैं, केवल प्रादुर्भूत वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण नहीं। क्योंकि उनके साथ 'सनातन' यह विशेषण भी दिया हुआ है और रामायण आदि में वासुदेव नाम से भगवान् के अन्य स्वरूपों का भी व्यवहार दिखाई देता है। शब्दतत्त्व के विशेषज्ञों (वैयाकरणों) ने इस विषय का निर्णय भी कर दिया है।

इस प्रकार भगवान् को छोड़ कर अन्य सभी वस्तुओं की अनित्यता प्रकाशित करने वाले अनुक्रमणिकानिर्दिष्ट वाक्य से तथा शास्त्रदृष्टि से भी मोक्ष

लोचनम्

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वम्....।

इत्यादौ अंशिरूपमेतत्संज्ञाभिधेयमिति निर्णीतं तात्पर्यम्। *निर्णीतश्चेति।* शब्दा हि नित्या एव सन्तोऽनन्तरं काकतालीयवशात्तथा सङ्केतिता इत्युक्तम्– 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्चे'त्यत्र।

शास्त्रनय इति। तत्रास्वादयोगाभावे पुरुषेणार्थ्यत इत्ययमेव व्यपदेशः

वासुदेवादि संज्ञाओं द्वारा अभिधेय होने के कारण **बहूनामिति** अनेक जन्मों के बाद ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है। वासुदेव ही सब कुछ है (गीता) इत्यादि में वासुदेव शब्द से अंशीरूप (परब्रह्मस्वरूप) ही इस संज्ञा का अभिधेय है, ऐसा गीता में वासुदेव शब्द का ऐसा तात्पर्य निर्णय किया गया है। 'निर्णीतश्चेति ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च'। इस पाणिनिसूत्र पर काशिकाकार ने निर्णय किया है कि शब्द नित्य ही होते हैं बाद में काकतालीयन्याय से संकेतित होते हैं।

शास्त्रनय इति शास्त्रदृष्टि से भी। भाव यह कि यहाँ आस्वाद के सम्बन्ध के

ध्वन्यालोकः

शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्। अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेनैव दर्शितो न तु वाच्यत्वेन। सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन।

रूप परम पुरुषार्थ (महाभारत में मुख्य पुरुषार्थ) और काव्यदृष्टि से तृष्णाक्षय से उत्पन्न सन्तोष रूप परमसुख का परिपोषक शान्तरस ही महाभारत का प्रधान रस अभिप्रेत है, यह भली-भाँति प्रतिपादन कर दिया गया।

अत्यन्त साररूप होने से यह अर्थ (महाभारत में शान्तरस एवं मोक्षरूप पुरुषार्थ का प्राधान्य) व्यङ्ग्य ध्वनि रूप से प्रदर्शित किया है। वाच्य रूप से नहीं। जब सारभूत अर्थ अपने वाचक शब्द से वाच्य रूप में उपस्थित न होकर व्यङ्ग्य रूप से प्रकाशित होता है, तब वह अत्यन्त शोभा प्राप्त करता है विदग्ध विद्वानों की मण्डली में यह प्रसिद्ध ही है कि अधिक अभिमत वस्तु व्यङ्ग्य रूप से ही

लोचनम्

सादरः, चमत्कारयोगे तु रसव्यपदेश इति भावः। एतच्च ग्रन्थकारेण तत्त्वालोके वितत्योक्तमिह त्वस्य न मुख्योऽवसर इति नास्माभिस्तद्दर्शितम्। *सुतरामेवेति।* यदुक्तं तत्र हेतुमाह–*प्रसिद्धिश्चेति।* चशब्दो यस्मादर्थे। यत इयं लौकिकी प्रसिद्धिरनादिस्ततो भगवद्व्यासप्रभृतीनामप्ययमेवा-स्यशब्दाभिधाने आशयः, अन्यथा हि क्रियाकारकसम्बन्धादौ 'नारायणं नमस्कृत्ये'त्यादिशब्दार्थनिरूपणे च तथाविध एव तस्य भगवत आशय इत्यत्र किं प्रमाणमिति भावः। विदग्धविद्वद्ग्रहणेन काव्यनये शास्त्रनय इति

अभाव में पुरुष द्वारा अर्थित होता है, यही व्यपदेश आदरास्पद होता है चमत्कार के सम्बन्ध में तो रस का व्यपदेश है इस बात को ग्रन्थकार ने स्वयं तत्त्वालोक में विस्तार के साथ कहा है, यहाँ तो उसका मुख्य अवसर भी नहीं है। हमने मात्र दिखा दिया है। इस आशय से कहते हैं– **सुतरामेवेति** अब हेतु कहते हैं– **प्रसिद्धिश्चेति** जिस कारण यह लौकिक प्रसिद्धि अनादि है उस कारण भगवान् वेदव्यास प्रभृतियों का यही अपने शब्द से न कथन में आशय है। अन्यथा क्रिया-कारक– सम्बन्ध के आदि में 'नारायणं नमस्कृत्य' इत्यादि शब्द के निरूपण में उस प्रकार का ही उन भगवान् का आशय

ध्वन्यालोकः

तस्मात्स्थितमेतत्– अङ्गिभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवार्थलाभो भवति बन्धच्छाया च महती सम्पद्यत इति। अत एव च रसानुगुणार्थविशेषोपनिबन्धमलङ्कारान्तरविरहेऽपि छायातिशययोगि लक्ष्ये दृश्यते। यथा–

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुलके दृष्टौ तौ दिव्यौ मत्स्यकच्छपौ॥

प्रकाशित की जाती है साक्षात् वाच्य रूप से नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रधानभूत रसादि के आश्रय से काव्य की रचना करने पर नवीन अर्थ की प्रतीति होती है और रचना का सौन्दर्य भी अधिक बढ़ जाता है।

इसलिये अन्य अलङ्कारों के अभाव में भी रसके अनुरूप अर्थ-विशेष की रचना काव्यों में सौन्दर्यशालिनी हो जाती है जैसे **मुनिरिति** योगिराट् महात्मा अगस्त्यमुनि की जय हो, जिन्होंने एक ही चुल्लू में उन दिव्य मत्स्य और कच्छप अवतारों का दर्शन कर लिया। इत्यादि में। यहाँ किसी अलङ्कार के न होने पर

लोचनम्

चानुसृतम्। रसादिमय एतस्मिन् कविः स्यादवधानवानिति यदुक्तं, तदेव प्रसङ्गागतभारतसम्बन्धनिरूपणानन्तरमुपसंहरति–*तस्मात्स्थितमिति।* अत इति। यत एवं स्थितमत एवेदमपि यल्लक्ष्ये दृश्यते, तदुपपन्नमन्यथा तदनुपपन्नमेव, न च तदनुपपन्नम्; चारुत्वेन प्रतीतेः। तस्याश्चैतदेव कारणं रसानुगुणार्थत्वमेवेत्याशयः। *अलङ्कारान्तरेति।* अनन्तरशब्दो विशेषवाची। यदि वा दित्सिते उदाहरणे रसवदलङ्कारस्य विद्यमानत्वात्तदपेक्षयालङ्कारान्तरशब्दः।

है यहाँ क्या प्रमाण है? यह भाव है **विदग्धविद्वदिति** यहाँ विदग्ध और विद्वान् के ग्रहण से काव्यदृष्टि से शास्त्रदृष्टि से इसका अनुसरण किया है। इस रसादिमय में कवि सावधान रहे, यह जो पहले कह आये हैं उसी को यहाँ प्रसङ्गतः प्राप्त भारत के सम्बन्ध में निरूपण के बाद उपसंहार करते हैं– **तस्यात्थितमेतदिति अतएव च** जिस कारण यह स्थित हुआ इस कारण यह भी लक्ष्य में देखा जाता है, यह संगत उपपन्न है, अन्यथा अनुपपन्न ही है किन्तु वह अनुपपन्न नहीं हो सकता जिसकी चारुरूप से प्रतीति हो।

अलङ्कारान्तर विरहेऽपीति यहाँ अन्तर शब्द विशेष वाचक है अथवा उदाहरण में रसवदलङ्कार के विद्यमान होने के कारण तदपेक्षया अलङ्कारान्तर शब्द कहा गया

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ। अत्र ह्यद्भुतरसानुगुणमेकचुलके मत्स्यकच्छपदर्शनं छायातिशयं पुष्णाति। तत्र ह्येकचुलके सकलजलधिसन्निधानादपि दिव्यमत्स्यकच्छपदर्शनमक्षुण्णत्वादद्भुतरसानुगुणतरम्। क्षुण्णं हि वस्तु लोकप्रसिद्ध्याद्भुतमपि नाश्चर्यकारि भवति। न चाक्षुण्णं वस्तूपनिबध्यमानमद्भुतरसस्यैवानुगुणं यावद्रसान्तरस्यापि। तद्यथा–

भी अद्भुत रस के अनुकूल एक चुल्लू में मत्स्य और कच्छप का दर्शन अद्भुतरस के अनुकूल सौन्दर्य को बढ़ाता है। एक चुल्लू में संपूर्ण समुद्र के समा जाने से भी अधिक दिव्य मत्स्य और कच्छप का दर्शन सर्वथा अपूर्व होने से अद्भुत रस के अधिक अनुकूल है। लोक-प्रसिद्धि से अत्यन्त अद्भुत होने पर भी अनेक बार की देखी हुई वस्तु आश्चर्योत्पादक नहीं होती। अपूर्व वस्तु का वर्णन न केवल अद्भुतरस के अपितु अन्य रसों के भी अनुकूल होता है जैसे **स्विद्यतीति।**

लोचनम्

ननु मत्स्यकच्छपदर्शनात्प्रतीयमानं यदेकचुलके जलनिधिसन्निधानं ततो मुनेर्माहात्म्यप्रतिपत्तिरिति न रसानुगुणेनार्थेन च्छायापोषितेत्याशङ्क्याह– *अत्र हीति।* नन्वेवं प्रतीयमानं जलनिधिदर्शनमेवाद्भुतानुगुणं भवत्विति रसानुगुणोऽत्र वाच्योऽर्थ इत्यस्मिन्नंशे कथमिदमुदाहरणमित्याशङ्क्याह–*तत्रेति। क्षुण्णं हीति।* पुनः पुनर्वर्णननिरूपणादिना यत्पिष्टपिष्टत्वादतिनिर्भिन्नस्वरूपमित्यर्थः। बहुतरलक्ष्यव्यापकञ्चैतदिति दर्शयति–*न चेत्यादिना।* रथ्यायान्तुलाग्रेण काकतालीयेन प्रतिलग्नस्साम्मुख्येन स पार्श्वोऽद्यापि सुभग तस्या येनास्यतिक्रान्तः।

है। **मत्स्यकच्छपाविति** मत्स्य और कच्छप के दर्शन से प्रतीयमान जो एक चुल्लू में ज़लराशि का सन्निधान है उससे मुनि के माहात्म्य का ज्ञान होता है न कि रस के अनकूल शोभा पोषित है, इस आशङ्का पर कहते हैं– **अत्र हीति।** इस प्रकार प्रतीयमान जलराशि का दर्शन ही अद्भुत रस के अनुकूल हो रस के अनुकूल यहाँ वाच्य अर्थ है इस अंश में यह उदाहरण किस प्रकार घटित होता है इस आशङ्का पर कहते हैं– **तत्रेति। क्षुण्ण हीति** पुनःपनः वर्णन से पुनः पुनः निरूपण से जो बारम्बार पिष्टपेषण हो चुका है उससे विभिन्न स्वरूप है और यह बहुत लक्ष्यों में व्यापक भी है, इसे दिखाते हैं– **न चेत्यादि रथ्यायां** गली में **तुलाग्रेण** (काकतालीयन्याय से) **प्रतिलग्नः** आमने-सामने होने से छू गया। वह **पार्श्व तस्या** उस नायिका के। **येन** जिस गली से

ध्वन्यालोकः

सिञ्जइ रोमञ्चिञ्जइ वेवइ रत्थातुलग्गपडिलग्गो ।
सोपासो अञ्ज वि सुहअ जेणासि वोलीणो ॥

एतद्गाथार्थाद्भाव्यमानाद्या रसप्रतीतिर्भवति, सा त्वां स्पृष्ट्वा स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते इत्येवंविधादर्थात्प्रतीयमानान्मनागपि न जायते।

तदेवं ध्वनिप्रभेदसमाश्रयेण यथा काव्यार्थानां नवत्वं जायते तथा प्रतिपादितम्। गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि त्रिभेदव्यङ्ग्यापेक्षया ये

हे सुभग! उस संकरी गली में काकतालीयन्याय से अकस्मात् मेरी सखी के जिस पार्श्व से लग कर तुम निकल गये थे उस मेरी सखी का वह पार्श्व अब भी स्वेदयुक्त, रोमाञ्चित और कम्पित हो रहा है।

इस गाथा के अर्थ की भावना करने से जो रस की प्रतीति होती है, वह यह कि तुमको देख कर ही यह नायिका स्वेदयुक्त, पुलकित और कम्पित हो रही है वह रस-प्रतीति प्रतीयमान अर्थ से बिल्कुल ही नहीं होती। जब कि 'त्वां दृष्ट्वा स्विद्यति' इत्यादि अर्थ चिरपरिचित हैं। और उसके व्यङ्ग्य होने पर भी उतना चमत्कार नहीं प्रतीत होता जितना कि ऊपर के श्लोक में वर्णित नवीन कल्पनायुक्त अर्थ के व्यङ्ग्य होने पर प्रतीत होता है।

इस प्रकार ध्वनिभेदों के आश्रय से जिस प्रकार काव्यार्थों में नवीनता आ जाती है यह प्रतिपादन कर दिया। तीन प्रकार के व्यङ्ग्य (रसादि) वस्तु और

लोचनम्

रसप्रतीतिरिति। परस्परहेतुकशृङ्गारप्रतीतिः। अस्यार्थस्य रसानुगुणत्वं व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति–*सा त्वामित्यादिना।*

'ध्वनेर्यस्सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शित'

इत्युद्योतारम्भे यः श्लोकः तत्र ध्वनेरध्वना कवीनां प्रतिभागुणोऽनन्तो भवतीत्येष भागो व्याख्यात इत्युपसंहरति–*तदेवमित्यादिना।*

तुम चले गये थे। **रसप्रतीतिरिति** परस्पर हेतु वाले शृङ्गार की प्रतीति इसी अर्थ को रसानुकूलत्व व्यतिरेक द्वारा दृढ़ करते है– **सा त्वामित्यादिना।**

ध्वनेरिति गुणीभूत व्यङ्ग्य के सहित ध्वनि का जो मार्ग दिखाया गया है यह उद्योत के आरम्भ का श्लोक हैं (द्र. ४.१) उसमें व्याख्यान किया गया है कि ध्वनि के मार्ग से कवियों का प्रतिभा गुण अनन्त हो जाता है इस भाग का व्याख्यान किया।

ध्वन्यालोकः

प्रकारास्तत्समाश्रयेणापि काव्यवस्तूनां नवत्वं भवत्येव। तत्त्वतिविस्तारकारीति नोदाहृतं सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयम्॥५॥

अलङ्कार) की दृष्टि से गुणीभूत व्यङ्ग्य के भी जो भेद होते हैं उनके आश्रय से भी काव्यवस्तुओं में नवीनता आ जाती है। उदाहरण दिये जाने पर उसका विस्तार अधिक हो जायगा, इसलिये इसका उदाहरण नहीं दिया जा रहा है, सहृदय जनों को स्वयं समझ लेना चाहिये॥५॥

लोचनम्

सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्येत्यमुं भागं व्याचष्टे–*गुणीभूतेत्यादिना।* त्रिप्रभेदो वस्त्वलङ्काररसात्मना यो व्यङ्ग्यः तस्य यापेक्षा वाच्ये गुणीभावः तयेत्यर्थः। तत्र सर्वे ये ध्वनिभेदास्तेषां गुणीभावादानन्त्यमिति तदाह–*अतिविस्तरेति। स्वयमिति।* तत्र वस्तुना व्यंग्येन गुणीभूतेन नवत्वं सत्यपि पुराणार्थंस्पर्शे यथा ममैव–

भअविहलरखखणेककमल्लसरणागआणअथ्थाण ।
खणमत्तं विण दिण्णा विस्सामकहेत्ति जुत्तमिणम् ॥

अत्र त्वमनवरतमर्थांस्त्यजसीति औदार्यलक्षणं वस्तु ध्वन्यमानं वाच्यस्योपस्कारकं नवत्वन्ददाति, सत्यपि पुराणकविस्पृष्टेऽर्थे। तथाहि पुराणी गाथा–

चाइअणकरपरम्परसञ्चारणखे अणिस्सहससरीरा ।
अथ्था किवणधरंथ्था सथ्नापथ्थास्ववंतीव ॥

अब इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—**गुणीभूतेत्यादिना** अब गुणीभूतव्यङ्ग्य के सहित इस भाग का व्याख्यान करते हैं अर्थात् तीन प्रभेदों वाला वस्तु, अलङ्कार और रस के रूप में जो व्यङ्ग्य है उसकी जो उपेक्षा अर्थात् वाच्य में जो गुणीभाव उससे। इन ध्वनियों के भेदों से गुणीभाव होने पर प्रतिभागुण अनन्त हो जाता है उस पर कहते हैं– **अतिविस्तरेति। स्वयमुत्प्रेक्षणीयमिति।** वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य वस्तु से नवत्व पुराने अर्थ के स्पर्श होने पर भी शोभित होता है जैसे मेरा ही भय से व्याकुल रक्षा के लिये शरण में आये हुये जनों के लिये जो तुमने अपने घनों को क्षणमात्र भी विश्राम नहीं दिया वह ठीक किया। यहाँ तुम निरन्तर अर्थों का त्याग करते हो, यह औदार्य रूप ध्वन्यमान वस्तु वाच्य का उपस्कारक होकर नवत्व प्रदर्शित करता है। पुराने कवि द्वारा इस अर्थ के स्पृष्ट होने पर भी जैसी कि पुरानी गाथा है–

त्यागी जनों के हाथों की परम्परा में निरन्तर सञ्चार करते रहने के कारण थके-मादे शरीर वाला यह धन अब कृपण के घर स्थित होने से स्वस्थ होकर शयन कर रहा है।

ध्वन्यालोकः

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥६॥

ध्वनेरित्थमिति यदि कवि में प्रतिभागुण हो तो इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के आश्रय से काव्य के (वर्णनीय रमणीय) अर्थों की कभी समाप्ति हो नहीं हो सकती है॥६॥

लोचनम्

अलङ्कारेण व्यङ्ग्येन वाच्योपस्कारे नवत्वं यथा ममैव–

वसन्तमत्तालिपरम्परोपमाः कचास्तवासन् किल रागवृद्धये।
श्मशानभूभागपरागभासुराः कथन्तदेतेन मनाग्विरक्तये ॥

अत्र ह्याक्षेपेण विभावनया च ध्वन्यमानाभ्यां वाच्यमुपस्कृतमिति नवत्वं सत्यपि पुराणार्थयोगित्वे। तथापि पुराणश्लोकः–

क्षुत्तृष्णाकाममात्सर्यं मरणाच्च महद्भयम्।
पञ्चैतानि विवर्धन्ते वार्धके विदुषामपि ।इति॥

व्यङ्ग्येन रसेन गुणीभूतेन वाच्योपस्कारेण नवत्वं यथा ममैव–

जरा नेयं मूर्ध्नि ध्रुवमयमसौ कालभुजगः
क्रुधान्धः फूत्कारैः स्फुटगरलफेनान् प्रकिरति ॥
तदेनं संपश्यत्यथ च सुखितम्मन्यहृदयः
शिवोपायन्नेच्छन् बत बत सुधीरः खलु जनः ॥

व्यङ्ग्य अलङ्कार द्वारा वाच्य का उपस्कारक होने पर नवत्व जैसे मेरा ही पहले वसन्त के मतवाले भौरों के समूह के समान तेरे बाल राग की वृद्धि के लिये थे किन्तु अब श्मशान के भू-भाग की धूलि के समान चमकने वाले ये तेरे बाल थोड़ी देर के लिये भी विरक्ति के कारण क्यों नहीं होते हैं। यहाँ ध्वनित होते हुये आक्षेप और विभावना अलङ्कारों से वाच्य उपस्कृत हुआ है, यह नवत्व है। जो पुराने अर्थ से सम्बन्धित हैं पुराना श्लोक जैसे **क्षुदिति** भूख, तृष्णा, काम, मात्सर्य और मरने का बहुत बड़ा भय ये ५ दोष विद्वानों के भी बूढ़े होने पर बढ़ते हैं।

व्यङ्ग्य एवं गुणीभूत रस द्वारा वाच्य के उपस्कार से नवत्व जैसे मेरा ही सिर पर यह बुढापा नहीं है, निश्चय ही यह कालरूपी सर्प बैठा है जो क्रोध से अन्धा होकर फू-फू रूप फुत्कार से विष के फेनों को उगल रहा है, उसे आदमी नित्य देखता है, फिर भी हृदय से सुख मान कर निष्क्रिय बैठा हुआ है, ओह। कितने खेद की बात है कि इतने पर भी अपने कल्याण की इच्छा नहीं करता और धैर्य धारण कर चुपचाप बैठा हुआ है।

ध्वन्यालोकः

सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः, तस्मिंस्त्वसति न किञ्चिदेव कवेर्वस्त्वस्ति। बन्धच्छायाप्यर्थ-द्वयानुरूपशब्दसन्निवेशोऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते। अनपेक्षिता-

प्राचीन कवियों के प्रबन्धों में रहते हुये भी यदि कवि में प्रतिभागुण है तो नवीन वर्णनीय तत्त्वों की कभी समाप्ति नहीं हो सकती। और उस प्रतिभा के न होने पर कवि के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिससे वह अपूर्व चमत्कार-युक्त काव्य का निर्माण कर सके। ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य इन दोनों अर्थों के अनुरूप शब्दों के सन्निवेशरूप रचना का सौन्दर्य भी आवश्यक अर्थ की प्रतिभा के अभाव में कैसे आ सकता है? ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा के बिना ही अक्षरों की रचना मात्र से रचना का सौन्दर्य है यह बात सहृदयों

लोचनम्

अत्राद्भुतेन व्यङ्ग्येन वाच्यमुपस्कृतं शान्तरसप्रतिपत्त्यङ्गत्वाच्चारु भवतीति नवत्वं सत्यप्यस्मिन् पुराणश्लोके–

जराजीर्णशरीरस्य वैराग्यं यत्र जायते ।
तन्नूनं हृदये मृत्युर्दृढन्नास्तीति निश्चयः ॥५॥

***सत्स्वपीत्यादि* कारिकाया उपस्कारः। त्रीन् पादान् स्पष्टान्मत्वा तुर्यं पादं व्याख्यातुं पठति–*यदीति।* विद्यमानो ह्यसौ प्रतिभागुण उक्तरीत्या भूयान् भवति, न त्वत्यन्तासन्नेवेत्यर्थः। *तस्मिन्निति।* अनन्तीभूते प्रतिभागुणे। *न किञ्चिदेवेति।* सर्वं हि पुराणकविवर्णितं किमिदानीं वर्ण्यं, यत्र कवेर्वर्णनाव्यापारस्स्यात्। ननु यद्यपि वर्ण्यमपूर्वन्नास्ति, तथाप्युक्तिपरिपाक-**

यहाँ अद्भुतरस के व्यङ्ग्य से वाच्य उपस्कृत है जो शान्तरस के बोध का अङ्ग होने के कारण चारु हो जाता है यह नवत्व है; जबकि इससे पुराना श्लोक इस प्रकार है– बुढापे में शरीर के जर्जर होने पर भी जो वैराग्य उत्पन्न नहीं होता उससे ज्ञात होता है कि निश्चय ही उसके हृदय में मृत्युजन्य भय की दृढता नहीं है यह बात निश्चित है॥५॥

सत्स्वपीति होने पर भी। यह कारिका का उपस्कार (उपकारक) है। इस कारिका के तीन पदों का अर्थ स्पष्ट मान कर चौथे पाद की व्याख्या करने के लिये पढते हैं– **यदि स्यादिति** अर्थात् विद्यमान वह प्रतिभारूप गुण उक्त रीति से अनन्त हो जाता है, अत्यन्त अविद्यमान होने से नहीं। **तस्मिन्निति** अनन्त प्रतिभारूप गुण के। **न**

ध्वन्यालोकः

र्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्। एवं हि सत्यर्थानपेक्षचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत। शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे कथं तथाविधे विषये काव्यव्यवस्थेति चेत्परोपनिबद्धार्थविरचने यथा तत्काव्यत्वव्यवहारस्तथा तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणाम्॥६॥

के समीप नहीं पहुँच सकती। ऐसा होने पर ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य के बिना भी अक्षर-रचना मात्र से रचना में सौन्दर्य मानने से तो अर्थहीन समासादि रूप से संघटित मधुर अक्षरों से परिपूर्ण रचना में भी काव्य व्यवहार होने लगेगा। जबकि शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव होने पर ही काव्यत्व होता है। इसलिये उस प्रकार के (अर्थहीन चतुर मधुर रचना)। विषय में काव्यत्व की व्यवस्था कैसे होगी? अर्थात् उस रचना में काव्य का व्यवहार प्राप्त नहीं होगा– इस पर उत्तर देते हैं कि दूसरे के मत में उपनिबद्ध शब्द निरपेक्ष उत्कृष्ट ध्वनि रूप अर्थ से युक्त रचना में जैसे केवल अर्थ से वह काव्य व्यवहार करता है उसी प्रकार इस तरह के अर्थनिरपेक्ष शब्दरचना काव्य संदर्भों में भी काव्य व्यवहार होने लगेगा। अतएव अर्थनिरपेक्ष अक्षर रचना मात्र काव्य रचना सौन्दर्य का हेतु नहीं है॥६॥

लोचनम्

गुम्फघटनाद्यपरपर्यायबन्धच्छाया नवनवा भविष्यति। यन्निवेशने काव्यान्तराणां संरम्भ इत्याशङ्क्याह–*बन्धच्छायापीति।* अर्थद्वयं गुणीभूत-व्यंग्यं प्रधानभूतं व्यंग्यं च। *नेदीय इति।* निकटतरं हृदयानुप्रवेशि न भवतीत्यर्थः। अत्र हेतुमाह–*एवं हि सतीति।* चतुरत्वं समाससङ्घटना। मधुरत्वमपारुष्यम्। *तथाविधानामिति।* अपूर्वबन्धच्छायायुक्तानामपि परोपनिबद्धार्थनिबन्धने परकृतकाव्यत्वव्यवहार एव स्यादित्यर्थस्या-पूर्वत्वमाश्रयणीयम्। *तथाविधानामिति।* अपूर्वबन्धच्छायायुक्तानामपि

किञ्चिदेवेति कवि का अपना कोई वस्तु नहीं रह जाता जब सब पुराने कवियों ने स्पर्श कर लिया तो वर्णनीय क्या है? जहाँ कवि का वर्णना व्यापार हो? यद्यपि वर्णनीय अपूर्ण नहीं है तथापि उक्ति के परिपाक से गूँथने की घटना जिसका अपर पर्याय छाया है नई-नई हो जायगी। जिसके निवेशन में दूसरे काव्यों का उपक्रम है; इस आशङ्का पर समाधान करते हैं– **बन्धच्छायापि** गुणीभूतव्यङ्ग्य और प्रधानभूत व्यङ्ग्य। **नेदीयः** निकटतर हृदय में प्रवेश करने वाले नहीं होते हैं। इसमें हेतु कहते हैं– **एवं हि सतीति** ऐसा होने पर **चुतर मधुरवचनरचनेति** चतुर वचन रचना, समास संघटना मधुरवचन

ध्वन्यालोकः

न चार्थानन्त्यं व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव यावद्वाच्यार्थापेक्षयापीति प्रतिपादयितुमुच्यते–

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते ।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥७॥

शुद्धस्यानपेक्षितव्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभावतः। स्वभावो ह्ययं वाच्यानां चेतनानामचेतनानां च

केवल व्यङ्ग्यार्थ के कारण ही अनन्तता नहीं आती अपितु वाच्य अर्थ विशेष की अपेक्षा से भी अर्थ की अनन्तता नूतनता हो सकती है, इसी का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं– **अवस्थेति** व्यङ्ग्य निरपेक्ष शुद्ध वाच्य अर्थ की भी अवस्था देश, काल आदि के वैशिष्ट्य से स्वभावतः अन्तता हो ही जाती है।।७।।

शुद्ध अर्थात् व्यङ्ग्य निरपेक्ष वाच्य अर्थ का भी स्वभावतः आनन्त्य हो ही जाता है। चेतन और अचेतन वाच्य अर्थों का स्वभाव है कि वे अवस्थाभेद

लोचनम्

परोपनिबद्धार्थनिबन्धने परकृतकाव्यत्वव्यवहार एव स्यादित्यर्थस्यापूर्वत्वमाश्रयणीयम्। कवनीयं काव्यं तस्य भावः काव्यत्वं, न त्वयं भावप्रत्ययान्ताद् भावप्रत्यय इति शङ्कितव्यम्।

प्रतिपादयितुमिति। प्रसङ्गादिति शेषः। यदि वा वाच्यन्तावद्द्विविधव्यंग्योपयोगि तदेव चेदनन्तं तद्बलादेव व्यंग्यानन्त्यं भवतीत्यभिप्रायेणेदं प्रकृतमेवोच्यते। *शुद्धस्येति।* व्यंग्यविषयो यो व्यापारः

रचना पारुष्य को अभाव वाली। **तथाविधानामपि अपूर्व** (जो पहले न हो) बन्धच्छाया से युक्त काव्यसंदर्भों में भी। **परोपनिबद्धार्थ विरचने** दूसरे कवियों द्वारा उपनिबद्ध अर्थ के निबन्धन में दूसरे द्वारा बनाया गया काव्य का ही व्यवहार होगा अतः अर्थ के अपूर्वत्व का आश्रयण करना चाहिये। कवनीय (वर्णनीय) उसका भाव काव्यत्व न कि कवनं वर्णनं काव्यम् यह भावप्रत्ययान्त है ऐसी आशङ्का करनी चाहिये।

प्रतिपादयितुमिति– प्रतिपादन करने के लिए यहाँ प्रसङ्गात् इतना शेष है। वाच्य दोनों प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों में उपयोगी है। जब वही अनन्त है तब उसके फल से व्यङ्ग्य भी उत्पन्न हो जाता है इस अभिप्राय से यह प्रकृत कहा गया है। **शुद्धस्येति** भाव यह कि व्यङ्ग्यविषयक जो व्यापार है उसके स्पर्श के बिना भी उस वाच्यार्थ का स्वरूप

ध्वन्यालोकः

यदवस्थाभेदाद्देशभेदात्कालभेदात्स्वालक्षण्यभेदाच्चानन्तता भवति। तैश्च तथाव्यवस्थितैः सद्भिः प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिबध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते। तथा ह्यवस्थाभेदान्नवत्वं यथा–भगवती पार्वती कुमारसम्भवे 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादिभिरुक्तिभिः प्रथममेव परिसमापितरूपवर्णनापि पुनर्भगवतः शम्भोर्लोचनगोचरमायान्ती 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' मन्मथोपकरणभूतेन भङ्ग्यन्तरेणोपवर्णिता। सैव च पुनर्नवोद्वाहसमये प्रसाध्यमाना 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य

देशभेद, कालभेद और स्वरूपभेद से अनन्त हो जाते है। उन वाच्यार्थो के उस प्रकार अवस्थादि भेद से नये-नये अर्थो के व्यवस्थित होने पर प्रसिद्ध अनेक स्वभावों के अनुसरण (वर्णन) रूप से तथा स्वभावोक्ति से भी वाच्यार्थो की रचना करने पर काव्यार्थ अनन्त रूप हो जाता है इनमें से अवस्थाभेद से नवीनता जैसे कुमारसंभव में 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादि उक्तियों से पहले एकबार भगवती पार्वती के रूप का वर्णन समाप्त हो जाने पर फिर शङ्कर भगवान् के सामने आती हुई भगवती के 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' इत्यादि से कामदेव के साधन रूप में प्रकारान्तर से दुबारा वर्णन किया गया हैं। इसके बाद पुनः नवीन विवाह के समय (पूर्वजन्म में सती-विवाह के बाद पुनः दूसरे जन्म में पार्वती रूप में

लोचनम्

तत्स्पर्शं विनाप्यानन्त्यं स्वरूपमात्रेणैव पश्चात्तु तथा स्वरूपेणानन्तं सद्व्यङ्ग्यं व्यनक्तीति भावः। न तु सर्वथा तत्र व्यंग्यं नास्तीति मन्तव्यमात्मभूततद्रूपाभावे काव्यव्यवहारहानेः; तथा चोदाहरणेषु रसध्वनेस्सद्भावोऽस्त्येव। आदिग्रहणं व्याचष्टे*स्वालक्षण्येति।* स्वरूपेत्यर्थः। यथा रूपस्पर्शयोस्तीव्रेकावस्थयोरेकद्रव्यनिष्ठयोरेक कालयोश्च।

मात्र से ही आनन्त्य है। इसके बाद स्वरूप से अनन्त हुआ वह व्यङ्ग्य को व्यञ्जित करता है, वहाँ सर्वथा व्यङ्ग्य है ही नहीं ऐसी बात नहीं। क्योंकि आत्मरूप उस व्यङ्ग्य के अभाव में काव्य के व्यवहार की हानि होगी, जैसा कि दिये गये उन-उन उदाहरणों में रसध्वनि विद्यमान ही है। **आदि शब्दमिति** आदि शब्द का व्याख्यान करते हैं– **स्वालक्षण्येति** स्वरूप यह अर्थ है जैसे तीव्र रूप एक अवस्था वाले एक द्रव्य में रहने वाले और एक काल में उत्पन्न रूप और स्पर्श का। **न चेति** यहाँ दो चकारों

ध्वन्यालोकः

तन्वीम्' इत्याद्युक्तिभिर्नवेनैव प्रकारेण निरूपितरूपसौष्ठवा। न च ते तस्य कवेरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णनप्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वा नवनवार्थनिर्भरत्वेन वा प्रतिभासन्ते। दर्शितमेव चैतद्विषमबाण-लीलायाम्–

ण अ ताण घडइ ओही ण अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता।
जे विब्भमा पिआणं अत्था वा सुकइवाणीणम् ॥

अयमपरश्चावस्थाभेदप्रकारो यदचेतनानां सर्वेषां चेतनं द्वितीयं रूपमभिमानित्वप्रसिद्धं हिमवद्गङ्गादीनाम्। तच्चोचितचेतन-

शिवजी के साथ जो विवाह हुआ उसे नवीन विवाह शब्द से अभिप्रेत है) अलङ्कृत की जाती हुई पार्वती के सौन्दर्य का 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्यादि उक्तियों से फिर तीसरी बार नवीन ढंग से उनके सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। अवस्थाभेद से किये गये ये सभी वर्णन नवीन होने से सुन्दर प्रतीत होते हैं।

परन्तु कवि के द्वारा एक ही स्थान पर बारम्बार किये गये एक ही प्रकार के वर्णन पुनरुक्त तो होते ही हैं नवीनता या नवनवार्थपूर्ण भी नहीं कहे जा सकते। कवि को सदैव इसका ध्यान रखना चाहिये। यह बात हम विषमवाण-लीला में दिखला ही चुके हैं। जैसा कि अपने प्रियजनों के हाव-भाव की और सुकवियों की वाणी में रहने वाले अर्थों की कोई सीमा ही नहीं बन सकती और न वे किसी भी दशा में पुनरुक्त ही प्रतीत होते हैं।

अवस्थाभेद का यह दूसरा प्रकार भी है कि कुमारसंभव में हिमालय, गङ्गा आदि सभी अचेतन पदार्थों का पुनः देवताभिमानी रूप में दूसरे चेतन रूप भी

लोचनम्

न च तेषां घटतेऽवधिः, न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम् ॥

चकाराभ्यामतिविस्मयस्सूच्यते। ***कथमपीति।*** **प्रयत्नेनापि विचार्यमाणं पौनरुक्त्यं न लभ्यमिति यावत्।** ***प्रियाणामिति।*** **बहुवल्लभो हि सुभगो राधावल्लभप्रायस्तास्ताः कामिनीः परिभोगसुभगमुपभुञ्जानोऽपि न विभ्रमपौनरुक्त्यं पश्यति तदा। एतदेव प्रियात्वमुच्यते, तदाह–**

के प्रयोग से अत्यन्त विस्मय सूचित होता है। **कथमपीति** प्रयत्नपूर्वक विचार किया जाय तो भी पौनरुक्य नहीं मिलेगा। **प्रियाणामिति** बहुत वल्लभाओं वाला सुन्दर नायक राधा के प्रिय कृष्ण के सदृश उन-उन कामिनियों का सुभग प्रकार से उपभोग करता हुआ भी विभ्रम के पौनरुक्त्य को तब भी नहीं देखता यही प्रियात्व कहा जाता है

ध्वन्यालोकः

विषयस्वरूपयोजनयोपनिबध्यमानमन्यदेव सम्पद्यते। यथा कुमारसम्भव एव पर्वतस्वरूपस्य हिमवतो वर्णनं, पुनः सप्तर्षिप्रियोक्तिषु चेतनतत्स्वरूपापेक्षया प्रदर्शितं तदपूर्वमेव प्रतिभाति। प्रसिद्धश्चायं सत्कवीनां मार्गः। इदं च प्रस्थानं कविव्युत्पत्तये विषमबाणलीलायां सप्रपञ्चं दर्शितम्। चेतनानां च बाल्याद्यवस्थाभिरन्यत्वं सत्कवीनां प्रसिद्धमेव। चेतनानामवस्था-भेदेऽप्यवान्तरावस्थाभेदान्नानात्वम्। यथा कुमारीणां कुसुमशरभिन्न-हृदयानामन्यासां च। तत्रापि विनीतानामविनीतानां च। अचेतनानां च

प्रसिद्ध है। और वह उचित चेतन के विषय में स्वरूप योजना से उपनिबद्ध (ग्रथित) होकर अचेतनरूप से भिन्न होकर कुछ और ही हो जाता है। जैसे कुमार-संभव में ही आरम्भ में पर्वत रूप से हिमालय का वर्णन हैं फिर सप्तर्षियों के द्वारा कहे जाने वाले प्रिय वचन के समय उसी हिमालय के चेतन चेतन स्वरूपकी दृष्टि से प्रदर्शित किया गया है। इसमें हिमालय का दुबारा किया गया यह वर्णन अपूर्व सा प्रतीत होता है। और सत्कवियों में अचेतनों के चेतनवद् वर्णन का यह मार्ग प्रसिद्ध भी है। कवियों के अधिकाधिक व्युत्पत्ति के लिये हमने विषमबाणलीला में इस मार्ग को विस्तारपूर्वक प्रदर्शित किया है। चेतनों का बाल्यादि अवस्थाभेद से भेद सत्कवियों में प्रसिद्ध ही है। चेतनों के अवसथाभेद के वर्णन में अवान्तर अवस्थाभेद से भी भेद हो सकता है। जैसे काम के बाण से विद्ध हृदय वाली तथा अन्य स्वस्थ कुमारियों का अवस्थाभेद से भेद होता

लोचनम्

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया इति ।

प्रियाणामिति चासंसारं प्रवहद्रूपो योऽयं कान्तानां विभ्रमविशेषः स नवनव एव दृश्यते। न ह्यसावग्निचयनादिवदन्यतश्शिक्षितः, येन तत्सादृश्यात्पुनरुक्ततां गच्छेत्। अपि तु निसर्गोद्भिद्यमानमदनाङ्कुर-

जो कहा है जो-जो क्षण-क्षण में नवत्व प्राप्त करता है वही रमणीयता का रूप है। **प्रियाणामिति** संसार के आरम्भ से लेकर प्रवाहित होता हुआ जो कान्ताओं का विभ्रम विशेष वह नित्य नया-नया ही दिखाई पड़ता है। वह अग्निचयनादि यज्ञक्रियाओं से जितना जैसा सीखा जाता है मात्र उतना ही उस प्रकार। जिस कारण तत्सादृश्य होने से वह पुनरुक्त कहा जाता है अपितु वह स्वभावतः अङ्कुरित होने वाले मदनाङ्कुर का

ध्वन्यालोकः

भावानामारम्भाद्यवस्थाभेदभिन्नानामेकैकशः स्वरूपमुपनिबद्ध्यमानमानन्त्यमेवोपयाति। यथा–

हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजता-
मन्यः कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनो
निर्याताः कमलाकरेषु विसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः॥

देशभेदान्नानात्वमचेतनानां तावत्। यथा वायूनां नानादिग्देशचारिणामन्येषामपि सलिलकुसुमादीनां प्रसिद्धमेव। चेतनानामपि मानुषपशुपक्षिप्रभृतीनां ग्रामारण्यसलिलादिसमेधितानां परस्परं महान्विशेषः समुपलक्ष्यत एव। स च विविच्य

है उनमें भी विनीत और उच्छृङ्खल कन्याओं का अवस्था आदि के भेद से नानात्व हो जाता है। आरम्भ आदि अवस्थाभेद से भिन्न अचेतन पदार्थों का स्वरूप अलग-अलग वर्णन से अनन्तता को प्राप्त हो जाता है जैसे **हंसानामिति**। जिनके खाने से कूजन करने वाले हंसों के निनादों में मधुर कण्ठों के संयोग से घर्घर ध्वनि-युक्त कुछ नया ही विभ्रम उत्पन्न हो जाता है, करिणी के नये कोमल दन्ताङ्कुरों से स्पर्धा करने वाली मृणाल की वे नवीन ग्रन्थियाँ इस समय तालाबों से बाहर निकल आयी हैं। मृणाल की नवीन ग्रन्थियों के आरम्भ का वर्णन अवस्थाभेद-मूलक चमत्कार प्रतीत होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी इस मार्ग का अनुसरण किया जाना चाहिये। देशभेद से पहले अचेतनों का भेद जैसे विभिन्न दिशाओं वाले स्थानों में संचरणशील पवनों, अन्य जलों तथा पुष्पादि का भी भेद प्रसिद्ध ही है। चेतनों में ग्राम, अरण्य, जल में पले हुये मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृति में परस्पर भेद दिखलाई ही देता है, वह भी विचारपूर्वक ठीक ढंग से वर्णित होने

लोचनम्

विकासमात्रन्तदिति नवनवत्वम्। तद्वत्परकीयशिक्षानपेक्षनिजप्रतिभागुण-निष्यन्दभूतः काव्यार्थ इति भावः।

***तावदिति।* उत्तरकालन्तु व्यंग्यस्पर्शनेन विचित्रतां परां भजतान्नाम,**

विकासमात्र है। यही नव नवत्व है भाव यह कि उस प्रकार दूसरों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा की अपेक्षा न कर के अपनी प्रतिभा के गुण का निष्यन्द काव्यार्थ है। **तावदिति** शुद्धवाच्य के बाद व्यङ्ग्य के स्पर्श से उत्कृष्टता विचित्रता भले प्राप्त कर ले किन्तु

ध्वन्यालोकः

यथायथमुपनिबध्यमानस्तथैवानन्त्यमायाति। तथा हि– मानुषाणामेव तावद्दिग्देशादिभिन्नानां ये व्यवहारव्यापारादिषु विचित्रा विशेषास्तेषां केनान्तः शक्यते गन्तुम्, विशेषतो योषिताम्। उपनिबध्यते च तत्सर्वमेव सुकविभिर्यथाप्रतिभम्।

कालभेदाच्च नानात्वम्। यथर्तुभेदाद्दिग्व्योमसलिलादीनामचेतनानाम्। चेतनानां चौत्सुक्यादयः कालविशेषाश्रयिणः प्रसिद्धा एव। स्वालक्षण्यप्रभेदाच्च सकलजगद्गतानां वस्तूनां विनिबन्धनं प्रसिद्धमेव। तच्च यथावस्थितमपि तावदुपनिबध्यमानमनन्ततामेव काव्यार्थस्यापादयति।

अत्र केचिदाचक्षीरन्– यथा सामान्यात्मना वस्तूनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते न विशेषात्मना; तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादीनां

पर उसी प्रकार अनन्त हो जाता है। नाना दिग्-देश में उत्पन्न होने वाले भिन्न-भिन्न मनुष्यों के व्यवहार और व्यापारादि में नाना प्रकार की भिन्नता देखी ही जाती है उन सबका पार कौन पा सकता है? विशेष कर स्त्रियों के विषय में पार पाना तो सर्वथा असंभव ही है। सुकवि लोग अपनी प्रतिभा के अनुसार उनका वर्णन करते ही हैं। कालभेद से भी भेद होता है जैसे ऋतुओं के भेद से दिशा, आकाश, जल आदि अचेतनों का भेद होता है और कालविशेष के आश्रय से चेतनों में औत्सुक्य आदि प्रसिद्ध ही है। समस्त संसार की वस्तुओं में अपने स्वरूप के भेद से काव्य में वर्णन प्रसिद्ध ही है। वह स्वरूप जैसा कुछ है उसी रूप में उपनिबद्ध होकर भी काव्य के विषय की अनन्तता को उत्पन्न करता है। यहाँ स्वालक्षण्यकृत भेद के विषय में कुछ लोग कह सकते हैं– वस्तुयें सामान्य रूप से वाच्य ही होती हैं विशेष रूप से नहीं। कवि लोग उन स्वयं अनुभूत सुखादि वस्तुओं और उन सुखादि साधनों (जैसे स्रक्, चन्दन, वनिता आदि) के स्वरूप

लोचनम्

तावति तु स्वभावेनैव सा विचित्रेति तावच्छब्दस्याभिप्रायः। *तन्निमित्तानाञ्चेति।* ऋतुमाल्यादीनाम्। *स्वेति।* स्वानुभूतपरानुभूतानां

तब तक तो उसमें वह विचित्रता स्वभाव से ही होती है। यह तब तक शब्द का अभिप्राय है। **तन्निमित्तानां चेति** उनके निमित्तों का ऋतुमाल्यादि का। अपने अनुभूतों तथा दूसरों

ध्वन्यालोक:

तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्यत्रारोपयद्भिः स्वपरानुभूतरूपसामान्य-मात्राश्रयेणोपनिबध्यन्ते कविभिः। न हि तैरतीतमनागतं वर्तमानञ्च परिचितादिस्वलक्षणं योगिभिरिव प्रत्यक्षीक्रियते; तच्चानुभाव्यानु-भवसामान्यं सर्वप्रतिपत्तृसाधारणं परिमितत्वात्पुरातनानामेव गोचरीभूतम्, तस्याविषयत्वानुपपत्तेः। अतएव स प्रकारविशेषो यैरद्यतनैरभिनवत्वेन प्रतीयते तेषामभिमानमात्रमेव भणितिकृतं वैचित्र्यमात्रमत्रास्तीति।

तत्रोच्यते–यत्तूक्तं सामान्यमात्राश्रयेण काव्यप्रवृत्तिस्तस्य च परिमितत्वेन प्रागेव गोचरीकृतत्वान्नास्ति नवत्वं काव्यवस्तूनामिति,

को अन्यत्र वनितादि में आरोप करके अपने और दूसरों से अनुभूत सामान्य मात्र के आश्रय से उन (नायकादि के सुखादि और उसके साधनों) का वर्णन करते हैं ये कवि लोग योगियो के समान अतीत, अनागत और वर्त्तमान दूसरों के चित्त (में रहने वाले सुख-दु:ख) आदि का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं और समस्त देखने वालों को एक क्रम से प्रतीत होने वाले वे अनुभाव्यसुखादि तथा अनुभावक सुखादि के साधनभूत स्त्रक्-चन्दन वनितादि सामान्य परिमित होने से प्राचीनों को ही ज्ञात हो चुके हैं अन्यथा वे ज्ञान के विषय ही नहीं हो सकते थे। इसलिये उस (स्वालक्षपथ) प्रकार-विशेष को, जिसको आजकल लोग अभिनव रूप में अनुभव करते हैं, यह तो उनका अभिमान मात्र है या केवल उक्ति-वैचित्र्य ही है वस्तुत: वस्तु में कोई नवीनता है ही नहीं। उक्ति-वैचित्र्य के कारण नवीनता का भ्रम या अभिमान होने लगा है; यह पूर्वपक्ष का आशय है। इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि इस विषय में हमारा कहना है कि आपने जो यह कहा है कि केवल सामान्य मात्र के आश्रय से काव्य रचना होती है और उस सामान्य

लोचनम्

यत्सामान्यं तदेव विशेषान्तररहितन्तन्मात्रं तस्याश्रयेण। *न हि तैरिति* कविभिः। एतच्चात्यन्तासंभावनार्थमुक्तम्। प्रत्यक्षदर्शनेऽपि हि–

के अनुभूतियों का जो विशेषान्तर से रहित है वही सामान्य तन्मात्र है, उस तन्मात्र के आश्रय से न कि उन कवियों से। इसे अत्यन्त असंभावन के लिये कहा गया है प्रत्यक्ष दर्शन में भी कहा है– शब्द संकेतित अर्थ को कहते हैं वह व्यवहार के लिये माना गया है उस समय स्वरूप लक्षण नहीं होता, उस स्वलक्षण से ही वहाँ हमें

ध्वन्यालोकः

तदयुक्तम्; यतो यदि सामान्यमात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते किङ्कृतस्तर्हि महाकविनिबध्यमानानां काव्यर्थानामतिशयः। वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य कविव्यपदेश एव वा सामान्यस्य चादिकविनैव प्रदर्शितत्वात्। उक्तिवैचित्र्यान्नैष दोष इति चेत्– किमिदमुक्तिवैचित्र्यम्? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादिवचनम्।

विषय का ज्ञान पहले ही कवियों को हो चुका है अतएव काव्यवस्तु में कोई नवीनता नहीं हो सकती है? आप का यह कहना उचित नहीं है क्योंकि यदि सामान्यमात्र से काव्य-रचना होती है तब महाकवियों द्वारा वर्णित काव्यपदार्थों में विशेष तारतम्य किस कारण से होता है।

अथवा वाल्मीकि को छोड़कर अन्य किसी को कवि किस आधार पर कहा जा सकता है, क्योंकि आप के मत में सामान्य के अतिरिक्त और कोई काव्य का वर्ण्य विषय हो ही नहीं सकता। और उस सामान्य का प्रदर्शन आदि कवि वाल्मीकि ही कर चुके हैं इसलिये अन्य किसी के पास नवीन वर्ण्य विषय न होने से अन्य कोई न कवि हो सकता है और न वाल्मीकि से भिन्न उसकी रचना में कोई नवीनता ही आ सकती है। इतना सिद्धान्तपक्ष की ओर से पूर्वपक्ष पर प्रश्न है। पूर्वपक्षी उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर इसका उत्तर देता है– उक्ति-वैचित्र्य के कारण यह दोष नहीं आ सकता। इतना ही नहीं कथन-शैली के वैचित्र्य से महाकवियों की रचनाओं में तारतम्य होता है और इसी उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर अन्य कवियों को भी कवि कहा जा सकता है।

आगे सिद्धान्तपक्ष की ओर से इसी को अपने नवीनता के पक्ष का साधक बनाया गया है। यदि ऐसा कहते हो तो यह उक्ति-वैचित्र्य कौन सा पदार्थ है?

लोचनम्

शब्दास्संकेतितं प्राहुर्व्यवहाराय स स्मृतः।
तदा स्वलक्षणं नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र नः॥

इत्यादियुक्तिभिस्सामान्यमेव स्पृश्यते। *किमिति।* **असंवेद्यमानमर्थ-पौनरुक्त्यं कथं प्राकरणिकैरङ्गीकार्यमिति भावः। तमेव प्रकटयति–न**

संकेत प्राप्त होता है, इत्यादि युक्तियों से सामान्य ही स्पष्ट होता है **किमिति** नहीं जाना जाता हुआ असंवेद्यमान अर्थ का पौनरुत्त्य कैसे प्राकरणिकों द्वारा स्वीकार्य होगा यह भाव है, इसी को प्रकट करते हैं– **उक्तिर्हीति** यदि पर्यायमात्रता ही उक्तिविशेष

ध्वन्यालोकः

तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्यवैचित्र्यम्। वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः। वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशषाभेदेनैव प्रतीयते। तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्यवैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम्। तदयमत्र सङ्क्षेपः–

वाच्य विशेष का प्रतिपादन करने वाले वचन का नाम उक्ति है। उस वचन में वैचित्र्य मानने पर उसके वाच्यार्थ में वैचित्र्य क्यों नहीं होगा? वाच्य और वाचक की तो अविनाभाव से प्रवृत्ति होती ही हैं इसलिये वाचक उक्ति में वैचित्र्य होने से वाच्यार्थ में भी वैचित्र्य होना आवश्यक है। काव्य में प्रतीत होने वाले वाच्यों का जो स्वरूप है वह कवि के स्वयं अनुभूत ग्राह्य विशेष प्रत्यक्षप्रमाण से स्वयं कवि द्वारा स्वयं सुखादि तथा उसके साधनादि से अभिन्न रूप में ही प्रतीत होता है इसलिये केवल सामान्य भाव के आश्रय से ही नहीं अपितु स्वयं अनुभूत विशेष के आश्रय से काव्य रचना होती है। अतएव उसमें अनन्तता का होना अनिवार्य है इसलिये उक्ति-वैचित्र्य मानने वालों को अनिच्छया भी वाच्य-वैचित्र्य अवश्य ही मानना होगा।

लोचनम्

चेदिति। उक्तिर्हीति। **पर्यायमात्रतैव यद्युक्तिविशेषस्तत्पर्यायान्तरैरविकलं तदर्थोपनिबन्धे अपौनरुक्त्याभिमानो न भवति। तस्माद्विशिष्टवाच्यप्रतिपादकेनैवोक्तेर्विशेष इति भावः।** ***ग्राह्यविशेषेति।*** **ग्राह्यः प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यो विशेषः तस्य यः अभेदः।**

तेनायमर्थः– पदानान्तावत्सामान्ये वा तद्वति वाऽपोहे वा यत्र कुत्रापि वस्तुनि समयः, किमनेन वादान्तरेण? वाक्यात्तद्विशेषः प्रतीयत इति कस्यात्र वादिनो विमतिः। अन्विताभिधानतद्विपर्ययसंसर्गभेदादिवाक्यार्थपक्षेषु सर्वत्र

मानते हैं तब तो दूसरे पर्याय शब्दों के द्वारा अविकल रूप से अर्थ के उपनिबद्ध होने पर अपौनरुक्त्य का अभिमान नहीं होगा। भाव यह कि इसलिये विशिष्ट वाच्य के प्रतिपादक से ही उक्तिविशेष संभव है, **ग्राह्यविशेष** प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो विशेष उसका जो अभेद।

उससे यह अर्थ निकला कि सामान्य (जाति में) (मीमांसक मतानुसार) अथवा तद्वान् (न्यायमतानुसार) में अथवा अपोह (बौद्धमतानुसार) मत में जहाँ कहीं भी वस्तु में समय (सङ्केत) है इस अन्य वाद के उपस्थित करने से क्या लाभ? वाक्य से उस वस्तु का विशेष प्रतीत होता है इस विषय में किस वादी को वैमनस्य है? क्योंकि अन्विताभिधान और उसके विपर्यय अभिहितान्वयवाद में संसर्गभेद आदि के वाक्यार्थ

ध्वन्यालोकः

वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित्।
इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम्॥

किञ्च, उक्तिवैचित्र्यं यत्काव्यनवत्वे निबन्धनमुच्यते तदस्मत्पक्षानुगुणमेव। यतो यावानयं काव्यार्थानन्त्यभेदहेतुः प्रकारः प्राग्दर्शितः स सर्व एव पुनरुक्तिवैचित्र्याद्द्विगुणतामापद्यते। यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारवर्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमानः

इसलिये इसका संक्षेप इस प्रकार है– यदि वाल्मीकि के अतिरिक्त किसी एक भी कवि के पदार्थों में प्रतिभा का सम्बन्ध मानना अभीष्ट है तो वह सर्वत्र आनन्त्य अक्षय है।

और उक्ति-वैचित्र्य को जो काव्य में नवीनता लाने का हेतु कहते हैं वह तो हमारे पक्ष के अनुकूल है। क्योंकि काव्यार्थ के आनन्त्य के हेतुरूप (अवस्था, काल, देशादि) जितने भी प्रकार प्रदर्शित किये गये हैं वे सभी उक्तिवैचित्र्य से द्विगुणित (आनन्त्य) हो जाते हैं और जो उपमा, श्लेष आदि वाच्य अलङ्कार

लोचनम्

विशेषस्याप्रत्याख्येयत्वात्। उक्तिवैचित्र्यञ्च न पर्यायमात्रकृतमित्युक्तम्। अन्यत्तु यत्तत्प्रत्युतास्माकं पक्षसाधकमित्याह–*किञ्चेति। पुनरिति।* भूय इत्यर्थः। उपमा हि निभ, प्रतिम, च्छल, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाय, तुल्य, सदृशाभासादिभिर्विचित्राभिरुक्तिभिर्विचित्रीभवत्येव। वस्तुत एतासामुक्तीनामर्थवैचित्र्यस्य विद्यमानत्वात्। नियमेन भानयोगाद्धि निभशब्दः, तदनुकारतया तु प्रतिमशब्द इत्येवं सर्वत्र वाच्यं केवलं बालोपयोगि काव्यटीकापरिशीलनदौरात्म्यादेषु पर्यायत्वभ्रम इति भावः।

पक्षों में सर्वत्र विशेष का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। पहले यह कह चुके हैं कि उक्तिवैचित्र्य पर्याय मात्र से नहीं होता है और अन्य जो भी वाद है वे विरुद्ध नहीं प्रत्युत हमारे ही पक्ष के साधक हैं, इसी बात को कहते हैं– **किञ्चेति। पुनरिति** भूयः फिर से। उपमा निभ, प्रतिम, छल, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाय, तुल्य, सदृश, आभास आदि शब्दवैचित्र्य से विचित्र हो जाती है। क्योंकि वस्तुतः इन-इन उक्तियों में अर्थवैचित्र्य विद्यमान ही रहता है। भाव यह कि नियमतः भान के योग से निभ शब्द कहा जाता है उसके अनुकरण रूप अर्थ में प्रतिम शब्द का प्रयोग किया जाता है, इस प्रकार यह सर्वत्र कहा जा सकता है केवल बालोपयोगी काव्य की टीका के परिशीलन की

ध्वन्यालोकः

स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम्। भणितिश्च स्वभाषाभेदेन व्यवस्थिता सती प्रतिनियतभाषागोचरार्थवैचित्र्यनिबन्धनं पुनरपरं काव्यार्थानामानन्त्यमापादयति। यथा ममैव–

महमह इत्ति भणन्तउ वज्जदि कालो जणस्स ।
तोइ ण देउ जणद्दण गोअरी भोदि मणसो ॥७॥

इत्थं यथा यथा निरूप्यते तथा तथा न लभ्यतेऽन्तः काव्यार्थानाम्। इदं तूच्यते–

भी प्रसिद्ध है वे स्वयं ही अपरिमित होने पर भी उक्तिवैचित्र्य से उपनिबद्ध होकर फिर सैकड़ों शाखाओं से युक्त हो जाते हैं और अपनी भाषाओं के भेद से भणितियाँ भी व्यवस्थित होती हुई विशेष भाषाविषयक अर्थों के वैचित्र्य के कारण वाच्यार्थ में फिर और भी आनन्त्य उत्पन्न कर देती हैं जैसे मेरा ही **महमहेति** यह मेरा यह मेरा ऐसा कहते-कहते मनुष्यों के जीवन का सारा समय निकल

लोचनम्

एवमर्थानन्त्यमलङ्कारानन्त्यञ्च भणितिवैचित्र्याद्भवति। अन्यथापि च तत्ततो भवतीति दर्शयति–*भणितिश्चेति।* प्रतिनियताया भाषाया गोचरो वाच्यो योऽर्थस्तत्कृतं यद्वैचित्र्यं तन्निबन्धनं निमित्तं यस्य, अलङ्काराणां काव्यार्थानाञ्चानन्त्यस्य। तत्कर्मभूतं भणितिवैचित्र्यं कर्तृभूतमापादयतीति सम्बन्धः। कर्मणो विशेषणच्छलेन हेतुर्दशितः

मम मम इति भणतो व्रजति कालो जनस्य ।
तथापि न देवो जनार्दनो गोचरो भवति मनसः ॥

मधुमथन इति यः अनवरतं भणति, तस्य कथन्न देवो मनोगोचरो भवतीतिविरोधालङ्कारच्छाया'। सैन्धवभाषया महमह इत्यनया भणित्या समुन्मेषिता॥७॥

दुष्टता से पर्यायत्व का भ्रम हो गया है। इस प्रकार भणिति के वैचित्र्य से अर्थों का आनन्त्य और अलङ्कारों का आनन्त्य हो जाता है।

अन्यथा भी वह उन-उन कारणों से आनन्त्य हो जाता है उसे प्रदर्शित करते हैं– **भणितिश्चेति** प्रतिनियत भाषा का गोचर वाच्य जो अर्थ है तत्कृत जो वैचित्र्य वह निबन्धन अर्थात् निमित्त है जिसका अर्थात् अलङ्कारों और काव्यार्थों का। वह कर्मभूत भणितिवैचित्र्य कर्तृभूत होकर उत्पन्न करता हैं यह सम्बन्ध है। यहाँ कर्म के विशेषण

ध्वन्यालोकः

अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
यत्प्रदर्शितं प्राक्
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये-
न तच्छक्यमपोहितुम्।
तत्तु भाति रसाश्रयात्॥८॥

तदिदमत्र सङ्क्षेपेणाभिधीयते सत्कवीनामुपदेशाय-

रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी॥९॥

जाता है परन्तु मन में जनार्दन भगवान् का साक्षात्कार नहीं हो पाता। इस प्रकार इस पर जितना विचार करते हैं उतना-उतना ही काव्यार्थ में अनन्तता प्रतीत होती है।।७।।

अवस्था आदि के भेद से वाक्यार्थों की रचना जो पहले कही जा चुकी है और जो लक्ष्यों (काव्यों) में अधिकाधिक रूप से दिखाई देती है उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। वह रस के आश्रय से शोभित होती है।।८।।

इसलिये सत्कवि बनने की इच्छा रखने वाले नवीन कवियों के उपदेश के लिए इस विषय में संक्षेपतः कहना है कि **रसभावादिति** यदि औचित्य के अनुसार रस, भाव आदि से सम्बद्ध और देश, काल आदि के भेद से युक्त वस्तु-रचना का (सत्कवियों द्वारा) अनुसरण किया जाता है तो परिमित शक्ति वाले अन्य साधारण कवियों की बात ही क्या?।।९।।

लोचनम्

अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात्॥

इति कारिका। अन्यस्तु ग्रन्थो मध्योपस्कारः॥८॥

अत्र तु पादत्रयस्यार्थमनूद्य चतुर्थपादार्थोऽपूर्वतयाभिधीयते।

के व्याज से हेतु दिखा दिया है। **मम मम** इति जो निरन्तर मधुमथन मधुमथन। इस प्रकार कहता रहता है वे देव क्यों नहीं उसके मनोगोचर होते हैं यह विरोध अलङ्कार की छाया है जो यह इस सैन्धव भाषा की उक्ति से समुन्मेषित हुई है।।७।।

कारिका में अतिरिक्त ग्रन्थ मध्य का उपस्कार है।।८।।

यहाँ तीन पादों का अनुवाद कर चतुर्थ पाद 'तत्तु भाति रसाश्रयात्' का अर्थ अपूर्व रूप से अभिहित किया गया है। **तत्का गणना** यहाँ तक का ग्रन्थ दोनों कारिकाओं

ध्वन्यालोकः

तत्का गणना कवीनामन्येषां परिमितशक्तीनाम् ।
वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥१०॥

यथा हि जगत्प्रकृतिरतीतकल्पपरम्पराविर्भूतविचित्रवस्तुप्रपञ्चा सती पुनरिदानीं परिक्षीणा परपदार्थनिर्माणशक्तिरिति न शक्यतेऽभिधातुम्। तद्वदेवेयं काव्यस्थितिरनन्ताभिः कविमतिभिरुपभुक्तापि नेदानीं परिहीयते, प्रत्युत नवनवाभिर्व्युत्पत्तिभिः परिवर्धते। इत्थं स्थितेऽपि–

संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम् ।
स्थितं ह्येतत् संवादिन्य एव मेधाविनां बुद्धयः। किन्तु
नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥११॥

वाचस्पति जैसे सहस्रों के सहस्र (अर्थात् लाखों बृहस्पति) मिल कर यत्नपूर्वक सावधानी से यदि उसका वर्णन करें तो भी जगत् की प्रकृति की भाँति उसकी समाप्ति नहीं हो सकती है॥१०॥

जैसे विगत कल्प-कल्पान्तरों में विविध वस्तुमय प्रपञ्चों की रचना करने वाली जगत् की प्रकृति मूल कारण होने पर भी अन्य पदार्थों के निर्माण में शक्तिहीन हो गई है ऐसा नहीं कह सकते। इसीप्रकार यह काव्यस्थिति असंख्य कवियों की बुद्धि से उपभुक्त (वर्णित) होने पर भी इस समय भी शक्तिहीन नहीं हुई है अपितु उन-उन कवियों के वर्णनों से नयी-नयी व्युत्पत्ति प्राप्त करने से वह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही है॥१०॥

इस प्रकार देश, काल, अवस्था आदि भेदसे अनन्त होने पर भी **संवादा** इति प्रतिभाशालियों में संवाद (समान उक्तियाँ) तो अधिकांशतः प्राप्त होती ही हैं अर्थात् मेधावी कवियों की सद्बुद्धियाँ (सदुक्तियाँ) एक दूसरे से मिलती रहती हैं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष उन-उन संवादों को एक रूप से न समझें॥११॥

लोचनम्

तदित्यादि शक्तीनामित्यन्तं **कारिकयोर्मध्योपस्कारः। द्वितीयकारिकायास्तुर्य पादं व्याचष्टे–*यथाहीति*॥९–१०॥**

(९.१०) के बीच का उपस्कार है। अब १०वीं कारिका के चतुर्थ पाद 'प्रकृति-र्जगतामिव' की व्याख्या करते हैं **यथा हीति।** ॥९+१०॥

ध्वन्यालोकः

कथमिति चेत्–

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिन्बवत्।
आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥१२॥

संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्यवस्तुना सादृश्यम्। तत्पुनः शरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च त्रिधाव्यवस्थितम्। किञ्चिद्धि काव्यवस्तु वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्बकल्पम्, अन्यदालेख्यप्रख्यम्, अन्यत्तुल्येन शरीरिणा सदृशम्।

क्यों? एक रूप न समझे इसका उत्तर देते हैं– **संवाद इति** अन्य के साथ सादृश्य को ही संवाद कहते हैं और वह सादृश्य प्राणियों में प्रतिबिम्ब के समान, चित्र के आकार के समान और दूसरे देहधारी प्राणी के समान तीन प्रकार का होता है॥१२॥

दूसरी काव्यवस्तु के साथ काव्यार्थ का सादृश्य ही संवाद कहा जाता है। फिर वह सादृश्य प्राणियों के प्रतिबिम्ब के समान अथवा चित्रगत आकार के समान अथवा तुल्यदेही के समान तीन प्रकार का होता है। कोई काव्यवस्तु अन्य शरीर के काव्यवस्तु के प्रतिबिम्ब के समान होती है, दूसरी चित्र के समान और तीसरी तुल्य देही (दूसरी काव्यवस्तु) के समान होती है।

लोचनम्

संवादा इति कारिकाया अर्धं, *नैकरूपतयेति* द्वितीयम्॥११॥ किमियं राजाज्ञेत्यभिप्रायेणाशङ्कते–*कथमिति* चेदिति। अत्रोत्तरम्–

संवादो ह्यन्यसादृश्यन्तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥

इत्यनया कारिकया। एषा खण्डीकृत्य वृत्तौ व्याख्याता। शरीरिणामित्ययञ्चशब्दः प्रतिवाक्यं द्रष्टव्य इति दर्शितम्। *शरीरिण इति।* पूर्वमेव प्रतिलब्धस्वरूपतया प्रधानभूतस्येत्यर्थः॥१२॥

संवादस्तु सुमेघसाम्। यहाँ तब कारिका का आधा भाग है **नैकरूपतया** यहाँ से द्वितीय भाग है। बुद्धिमान् लोगों को उन संवादों को एक समान नहीं समझना चाहिये इस पर प्रंश्न करते हैं क्या यह राजाज्ञा है। इस अभिप्राय से आशङ्का करते हैं– **कथमिति चेदिति** कैसे। इसका उत्तर ११वीं कारिका से है। **संवाद** इति वृत्ति में इस कारिका को खण्ड-खण्ड करके व्याख्या किया गया है **'शरीरिणाम्'** इस पद को प्रत्येक वाक्य में संवद्ध कर लगाना चाहिये। **शरीरिण** इति। यह पहले ही स्वरूप प्राप्त करने के कारण प्रधानभूत होने से कहा गया है अर्थात् उस शरीर का।

ध्वन्यालोकः

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः ॥१३॥

तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बकल्पं काव्यवस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना। यतस्तदनन्यात्म तात्त्विकशरीरशून्यम्। तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम्। तृतीयं तु विभिन्नकमनीयशरीरसद्भावे सति ससंवादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं

तत्रेति उनमें पहला (प्रतिबिम्बकल्पसादृश्य पूर्ववर्णित स्वरूप से भिन्न) अपने अलग-अलग स्वरूप से रहित होने के कारण त्याज्य है। उसके बाद का दूसरा चित्राकारतुल्य सादृश्यतुच्छ स्वरूप होने से वह भी परित्याज्य है और तीसरा तुल्य देहिवत् तो प्रसिद्ध स्वरूप है अतः अन्य वस्तु के साथ इस तृतीय प्रकार के साम्य का कविजन त्याग न करें। बुद्धिमान् को उनमें से पहले प्रतिबिम्ब रूप काव्यवस्तु को छोड़ देना चाहिये। क्योंकि वह अनन्यात्म अर्थात् तात्त्विक रूप से रहित है, उसके बाद चित्रतुल्य साम्य शरीरान्तर स्वरूपान्तर से युक्त होने पर भी तुच्छ रूप होने से परित्याज्य ही है। सदृश होने पर भी और सुन्दर शरीर से युक्त तीसरे प्रकार की काव्यवस्तु अन्य से मिलती हुई होने पर भी कवि को

लोचनम्

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयन्तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यन्त्यजेत्कविः ॥

इति कारिका। अनन्यः पूर्वोपनिबन्धकाव्यादात्मा स्वभावो यस्य तदनन्यात्म येन रूपेण भाति तत्प्राक्कविपृष्टमेव, यथा येन रूपेण प्रतिबिम्बं भाति, तेन रूपेण बिम्बमेवैतत्। स्वयन्तु तत्कीदृशमित्यत्राह–*तात्त्विकशरीरशून्यमिति।* न हि तेन किञ्चिदपूर्वमुत्प्रेक्षितं प्रतिबिम्बमप्येवमेव। एवं प्रकारं व्याख्याय द्वितीयं व्याचष्टे–*तदनन्तरन्त्विति।* द्वितीयमित्यर्थः।

तत्रेति– अनन्य इति पूर्वोपनिबद्ध काव्य के आत्मा रूप स्वभाव से जो अन्य न हो अर्थात् जिस रूप में वह प्रतीत हो रहा है वह बिम्ब ही है किन्तु वह स्वयं कैसा है इस पर कहा गया– तात्त्विक शरीर से शून्य। उस नये कवि ने अन्य कोई नवीन उत्प्रेक्षा नहीं की। प्रतिबिम्ब भी इसी प्रकार का होता है। इस प्रकार प्रथम प्रकार का व्याख्यान कर दूसरे का व्याख्यान करते है– उसके बाद का अर्थात् दूसरा। अन्य के साथ साम्य जिसका है वह उस प्रकार। तुच्छात्म। भाव यह कि चित्रपुस्त आदि

ध्वन्यालोकः

कविना। न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम्॥१३॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥१४॥

तत्त्वस्य सारभूतस्यात्मनः सद्भावेऽन्यस्य पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि

नहीं छोड़नी चाहिये। क्योंकि एक देहधारी दूसरे देहधारी के समान होने पर वह अभिन्न ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी का उपपादन करने के लिये कहते हैं **आत्मन** इति।

प्रसिद्ध वाच्यादि से विलक्षण व्यङ्ग्य रसादिरूप अन्य आत्मा के होने पर पूर्वस्थिति (प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित पदार्थों का) का अनुसरण करने वाली वस्तु भी चन्द्रमा की आभा से युक्त कामिनी के मुख मण्डल के समान अधिक शोभा पाती है।

(रसादि रूप व्यङ्ग्य) आत्मभूत अन्य तत्त्व के रहने पर भी पूर्वस्थिति का

लोचनम्

अन्येन साम्यं यस्य तत्तथा। *तुच्छात्मेति।* अनुकारे ह्यनुकार्यबुद्धिरेव चित्रपुस्तादाविव न तु सिन्दूरादिबुद्धिः स्फुरति, सापि च न चारुत्वायेति भावः॥१३॥

एतदेवेति तृतीयस्य रूपस्यात्याज्यत्वम्।

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।
वस्तु भातितरान्तन्व्याश्शशिच्छायमिवाननम् ॥

इति कारिका खण्डीकृत्य वृत्तौ पठिता। केषुचित्पुस्तकेषु कारिका अखण्डीकृता एव दृश्यन्ते। आत्मन इत्यस्य शब्दस्य पूर्वपठिताभ्यामेव तत्त्वस्य सारभूतस्येति च पदाभ्यामर्थो निरूपितः॥१४॥

की भाँति अनुकार में अनुकार्य की बुद्धि ही स्फुरित होती है न कि सिन्दूर आदि की बुद्धि और वह भी चारुत्व के लिये नहीं होती॥१३॥

इसी से तृतीय रूप का ही अत्याज्यत्व है। १४वीं कारिका वृत्ति में खण्ड-खण्ड करके पढ़ी गई है, किन्हीं-किन्हीं पुस्तकों में यह कारिका अखण्डित ही देखी जाती है। 'आत्मा' इस शब्द से पहले ही पठित 'तत्त्व' और सारभूत इन पदों से अर्थ-

ध्वन्यालोकः

वस्तु भातितराम्। पुराणरमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परां शोभां पुष्यति। न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते। तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्।

एवं तावत्ससंवादानां समुदायरूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सीमानः। पदार्थरूपाणां च वस्त्वन्तरसदृशानां काव्यवस्तूनां नास्त्येव दोष इति प्रतिपादयितुमुच्यते–

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥१५॥

अनुसरण करने वाली (प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित) वस्तु भी अधिक शोभित होती है। पुरातन रमणीय छाया से युक्त (अन्य कवियों द्वारा पूर्ववर्णित वस्तुतुल्य) शरीर के समान अत्यन्त शोभा को प्राप्त होती है। जैसे शशी के पुरातन छाया से युक्त कामिनी का मुख-मण्डल पुनरुक्त सा प्रतीत न होकर सुन्दर लगता है। इस प्रकार इसका भाव समझना चाहिए।

इस प्रकार अब तक समुदायरूप वाक्यार्थों द्वारा प्रतिपादित सादृश्ययुक्त काव्यार्थों की सीमा का विभाग किया गया। इसके आगे अन्य पुरानी वस्तुओं से मिलती हुई पदार्थ रूप काव्य वस्तुओं की रचनाओं में कोई दोष है ही नहीं, इसका प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं– **अक्षरादिति।**

लोचनम्

ससंवादानामिति पाठः। संवादानामिति तु पाठे वाक्यार्थरूपाणां समुदायानां ये संवादाः तेषामिति वैयधिकरण्येन संगतिः। वस्तुशब्देन एको वा द्वौ वा त्रयो वा चतुरादयो वा पदानामर्थाः। ***तानि त्विति।*** **अक्षराणि च पदानि च।** ***तान्येवेति।*** **तेनैव रूपेण युक्तानि मनागप्यन्यरूपतामनागतानीत्यर्थः। एवमक्षरादिरचनैवेति दृष्टान्तभागं व्याख्याय दार्ष्टान्तिके**

निरूपण किया गया है। **संवादानामिति** वृत्ति में ससंवादानाम्' यह पाठ है। 'संवादानाम्' इस पाठ में तो वाक्यार्थ रूप समुदायों के जो संवाद है उनकी। इस प्रकार वैयधिकरण्य से संगति होगी। वस्तु शब्द से एक अथवा दो अथवा तीन अथवा चार आदि पदार्थ विवक्षित है– **तानि त्विति** वे ही अक्षर और उसी प्रकार वे ही पाद। **तान्येवेति** उसी रूप में युक्त किञ्चिन्मात्र में भी अन्यरूपता को न प्राप्त होते हुये। इस प्रकार अक्षर आदि की रचना की भाँति इस दृष्टान्तभाग की व्याख्या कर दार्ष्टान्तिक में लगाते हैं

ध्वन्यालोकः

न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते। तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति। तथैव पदार्थरूपाणि श्लेषादिमयान्यर्थतत्त्वानि। तस्मात्

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्-
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।

जिस काव्य में नवीन स्फुरित होने वाले काव्यार्थ (काव्यवस्तु) में पुरानी (प्राचीन कवि निबद्ध कोई) वस्तु रचना उनके अक्षर-पद का ग्रहण कर पुरानी रचना के समान निबद्ध की जाती है, वह निश्चित रूप से दूषित नहीं होती यह स्पष्ट ही है।

स्वयं वाचस्पति भी नवीन अक्षरों तथा पदों की रचना नहीं कर सकते। और काव्य आदि में बार-बार उन्हीं-उन्हीं अक्षरों- पदों को उपनिबद्ध करने पर भी वे नवीनता के विरुद्ध नहीं होते। इसी प्रकार पदार्थ रूप या श्लेषादिमय अर्थतत्त्व भी नवीन नहीं बनाये जा सकते और अक्षरादि योजना के समान उनको उपनिबद्ध करने से नवीनता का विरोध नहीं होता प्रत्युत उनमें नवीनता आ जाती है॥१५॥

लोचनम्

योजयति–*तथैवेति।* श्लेषादिमयानीति। श्लेषादिस्वभावानीत्यर्थः। सद्वृत्ततेजस्विगुणद्विजादयो हि शब्दाः पूर्वपूर्वैरपि कविसहस्रैः श्लेषच्छायया निबध्यन्ते, निबद्धाश्चन्द्रादयश्चोपमानत्वेन। तथैव पदार्थरूपाणीत्यत्र नापूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते इत्यादि विरुध्यन्तीत्येवमन्तं प्राक्तनं वाक्यमभिसन्धानीयम्॥१५॥

'लोकस्ये'ति व्याचष्टे–*सहृदयानामिति।* चमत्कृतिरिति। आस्वादप्रधाना बुद्धिरित्यार्थः। 'अभ्युज्जिहीत' इति व्याचष्टे–*उत्पद्यत इति।* उदेतीत्यर्थः। बुद्धेरेवाकारं दर्शयति–*स्फुरणेयं काचिदिति।*

तथैवेति। श्लेषादिमयानिति श्लेषादिस्वभाव वाले। सद्वृत्त तेजस्वी गुण द्विज आदि शब्दों को पहले के हजारों कवियों ने श्लेष की छाया में प्रयोग किया है। इसी प्रकार चन्द्रादि को उपमान के रूप में निबन्धित किया है उसी प्रकार पदार्थ रूप इसमें कोई अपूर्व घटना नहीं की जा सकती। 'न विरुध्यन्ति'। 'विरोध नहीं करते'

इत्यादि पूर्ववाक्यों से इसका सम्बन्ध लगा लेना चाहिये। **लोकस्येति** व्याचष्टे लोगों का इसकी व्याख्या करते हैं **सहृदयानामिति** सहृदयों के। **चमत्कृतिरिति** चमत्कार। अर्थात् आस्वादप्रधाना बुद्धि। **अभ्युज्जिहीते** इसकी व्याख्या करते हैं उत्पन्न

ध्वन्यालोकः

स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते।

अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्।

सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ॥१६॥

तदनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक् तादृक्षं सुकविर्विवक्षित-व्यङ्ग्यवाच्यार्थसमर्पणसमर्थशब्दरचनारूपया बन्धच्छाययोपनिबध्न-न्निन्द्यतां नैव याति। तदित्थं स्थितम्–

प्रतायन्तां वाचो निर्मितविविधार्थामृतरसा
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।

इस कारण से जिस वस्तु के विषय में सहृदय लोगों को यह कोई नई सूझ हैं इस प्रकार की स्फुरणा (नवीन अनुभूति) होती है वह चाहे नई हो अथवा पुरानी हो वही वस्तु रम्य कही जाती है जिसके विषय में यह कोई नई सूझ है या कोई नई स्फुरणा है इस प्रकार की चमत्कृति सहृदयों को उत्पन्न करती है॥१५॥

पूर्वकवियों के वर्णन की छाया से युक्त होने पर भी उस प्रकार का वर्णन करने वाला कवि निन्दनीयता को नहीं प्राप्त होता॥१६॥

पूर्वकवियों के वर्णन की छाया से युक्त होने पर भी उस प्रकार की वस्तु को जिसमें व्यङ्ग्य विवक्षित हो ऐसे वाच्यार्थ के समर्पण में समर्थ शब्द रचना रूप सन्निवेश सौष्ठव से उपनिबद्ध करने वाला कवि कभी किसी प्रकार की निन्दा

लोचनम्

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्।
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते॥
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति॥

इति कारिका खण्डीकृत्य पठिता॥१६॥

स्वविषय इति। स्वयत्नात्कालिकत्वेनास्फुरित इत्यर्थः। *परस्वादानेच्छेत्यादिद्वितीयं* श्लोकार्धं पूर्वोपस्कारेण सह पठति–

होता है। अर्थात् उदित होता है बुद्धि का आकार दिखाते हैं कोई अपूर्व स्फुरणा। १६वीं कारिका को खण्ड करके पढ़ा गया है। **स्वविषय** इति अपने विषय के प्रति। अर्थात् स्वयं तात्कालिक रूप से स्फुरित न हुये। **परस्वादानेच्छा** इत्यादि द्वितीय श्लोकार्थ

ध्वन्यालोकः

सन्ति नवाः काव्यार्थाः परोपनिबद्धार्थविरचने न कश्चित्कवेर्गुण इति भावयित्रा।

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥१७॥

परस्वादानेच्छाविरतमनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु। येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थपरिग्रहनिःस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति।

को प्राप्त नहीं होता इस प्रकार यह निर्णय हुआ कि कविगण विविध अर्थों के अमृत रस से परिपूर्ण वाणियों का प्रसार करें। कल्पनाप्रसूत विषयों में कविजनों को किसी प्रकार का संकोच या प्रमाद नहीं करना चाहिये।

नवीन काव्यार्थ बहुत है। दूसरों द्वारा वर्णित अर्थों की रचना में कवि को कोई प्रशंसा का लाभ नहीं होता ऐसा सोचकर **परस्वादेति** दूसरों के अर्थग्रहण करने की इच्छा से विरत सुकवि के लिये सरस्वती देवी स्वयं ही यथेष्ट वस्तु उपस्थित कर देती है।

दूसरे कवियों के अर्थग्रहण करने की इच्छा से विरत मन वाले सुकवि के लिये यह भगवती सरस्वती यथेष्ट वस्तु घटित कर देती है। पूर्वजन्मों के पुण्य और अभ्यास के परिपाकवश जिन सुकवियों की काव्यनिर्माण में प्रवृत्ति होती है दूसरों के अर्थग्रहण में निःस्पृह उन कवियों को काव्यनिर्माण में अपने द्वारा

लोचनम्

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेरिति **तृतीयः पादः। कुतः खल्वपूर्वमानयामीत्याशयेन निरुद्योगः परोपनिबद्धवस्तूपजीवको वा स्यादित्याशङ्क्याह–*सरस्वत्येवेति।* कारिकायां सुकवेरिति जातावेकवचनमित्यभिप्रायेण व्याचष्टे–*सुकवीनामिति।* एतदेव स्पष्टयति–**

के पहले उपस्कार के साथ पढ़ते हैं– 'परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः' यह तृतीय पाद है अपूर्ववस्तु को कहाँ से लाऊँ? इस आशय से निरुद्योग होकर दूसरों द्वारा उपनिबद्ध वस्तु का उपजीवक होगा इस आशङ्का पर कहते हैं **सरस्वती।** कारिका में सुकवि यह जाति में एक वचन है इस अभिप्राय से व्याख्या करते हैं **सुकवीनामिति** सुकवियों की। इसे और स्पष्ट करते हैं।

ध्वन्यालोकः

एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनामित्योम्।

इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो
यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥

प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। वही भगवती सरस्वती अभिवाञ्छित अर्थ को स्वयं ही प्रकट कर देती है। यही महाकवियों के महाकवित्व का महत्त्व है।

इस प्रकार सुन्दर (अक्लिष्ट) और रस के आश्रय से उचित गुण तथा अलङ्कारों की शोभा से युक्त जिस ध्वनि रूप कल्पवृक्ष से सौभाग्यशाली कविजन अपनी मनोवाञ्छित सारी वस्तुयें प्राप्त कर लेते हैं ऐसी सर्वानन्दपूरित विद्वज्जनों के काव्य नामक उद्यान में कल्पवृक्ष के समान महिमा वाला यह ध्वनि हमने प्रकाशित किया। यह सौभाग्यशाली उन सहृदयों के लिये आनन्ददायक हो।

लोचनम्

प्राक्तनेत्यादि न तेषामित्यन्तेन। आविर्भावयतीति। नूतनमेव सृजतीत्यर्थः॥१७॥

***इतीति।* कारिकातद्वृत्तिनिरूपणप्रकारेणेत्यर्थः। अक्लिष्टा रसाश्रयेण उचिता ये गुणालङ्कारास्ततो या शोभा तां बिभर्ति काव्यम्। उद्यानमप्यक्लिष्टः कालोचितो यो रसः सेकादिकृतः तदाश्रयस्तत्कृतो यो गुणानां सौकुमार्यच्छायावत्त्वसौगन्ध्यप्रभृतीनामलङ्कारः पर्याप्तताकारणं तेन च या शोभा तां बिभर्ति। *यस्मादिति* काव्याख्यादुद्यानात्। सर्वं *समीहितमिति।* व्युत्पत्तिकीर्तिप्रीतिलक्षणमित्यर्थः। ततश्च सर्वं पूर्वमेव**

'प्राक्तनम् तेषां' पर्यन्त शब्दों से **आविर्भावयतीति** आविर्भूत करता है अर्थात् सृजन करता है॥१७॥

इस प्रकार अर्थात् कारिका और उसकी वृत्ति के निरूपण के प्रकार से। अक्लिष्ट रस के आश्रय से उचित जो गुण, अलङ्कार उससे जो शोभा। उसे जो धारण करता है वह काव्य उद्यान भी अक्लिष्ट कालोचित सेकादिकृत जो रस उसका आश्रय अर्थात् तत्कृत जो सौकुमार्य, छायावत्त्व, सौगन्ध्य प्रभृति गुणों का जो अलङ्कार पर्याप्तता का कारण उससे जो शोभा उसे धारण करता है। **यस्मादिति** जिससे अर्थात् काव्य नामक

ध्वन्यालोकः

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।

उत्तम काव्य रचना का तत्त्व और नीति का जो मार्ग परिपक्व बुद्धि वाले सहृदय विद्वानों के मनो में चिरकाल से प्रसुप्त के समान अव्यक्त रूप में स्थित

लोचनम्

वितत्योक्तमिति श्लोकार्थमात्रं व्याख्यातम्। *सुकृतिभिरिति।* ये कष्टोपदेशेनापि विना तथाविधफलभाजः तैरित्यर्थः। *अखिलसौख्यधाम्नीति।* अखिलं दुःखलेशेनाप्यननुविद्धं यत्सौख्यं तस्य धाम्नि एकायतन इत्यर्थः। सर्वथा प्रियं सर्वथा च हितं दुर्लभं जगतीति भावः। विबुधोद्यानं नन्दनम्। सुकृतीनां कृतज्योतिष्टोमादीनामेव समीहितासादननिर्मित्तम्। विबुधाश्च काव्यतत्त्वविदः। *दर्शित इति।* स्थित एव सन् प्रकाशितः, अप्रकाशितस्य हि कथं भोग्यत्वम्। कल्पतरुणा उपमानं यस्य तादृङ्महिमा यस्येति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः। सर्वसमीहितप्राप्तिर्हि काव्ये तदेकायत्ता। एतच्चोक्तं विस्तरतः॥

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्म चिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।

उद्यान से। सर्व **समीहितमिति** समस्त समीहित। अर्थात् व्युत्पत्ति, कीर्त्ति, प्रीतिरूप। यह सब पहले भी विस्तारपूर्वक कह चुके हैं। इसलिये श्लोक के अर्थमात्र का व्याख्यान किया है। **सुकृतिभिरिति** सुकृतीलोग। अर्थात् जो कष्ट कर उपदेश के बिना भी उस प्रकार के फल प्राप्त कर चुके हैं। **अखिल सौख्यधाम्नीति** अखिल सौख्य के धाम। अर्थात् अखिल दुःखलेश से भी जो अननुविद्ध सौख्य है उसका धाम अर्थात् एक आयतन। भाव यह कि जगत् में सर्वथा प्रिय और सर्वथा हित दुर्लभ है। विबुधोद्यान अर्थात् नन्दनवन। सुकृती अर्थात् ज्योतिष्टोम आदि किये हुये लोगों का ही समीहित के आसादन का निमित्त। विबुध अर्थात् काव्यतत्त्वविद् लोग। **दर्शित** इति दिखाया गया है। स्थित होता हुआ ही प्रकाशित है, क्योंकि अप्रकाशित भोग्य किस प्रकार हो सकता है? कल्पतरु से उपमान है जिसका उस प्रकार की महिमा है जिसकी यह बहुव्रीहिगर्भ बहुव्रीहि है। काव्य में सभी समीहितों की प्राप्ति एकमात्र उस ध्वनि के अधीन है। इसे पहले विस्तारपूर्वक कह चुके हैं।

सत्काव्येति इस अन्तिम श्लोक के तीन पादों में (ध्वनिस्वरूप और इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव) सम्बन्ध अभिधेय (ध्वनिस्वरूप) और प्रयोजन (ध्वनि

ध्वन्यालोकः

तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतो-
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके
चतुर्थ उद्द्योतः॥

था सहृदयों की अभिवृद्धि और लाभ के लिये आनन्दवर्धन इस नाम से प्रसिद्ध मैंने उसको प्रकाशित किया॥

श्रीराजानक आनन्दवर्धनाचार्यरचित ध्वन्यालोक में चतुर्थ उद्योत समाप्त

लोचनम्

तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोः

इति सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनोपसंहारः। इह बाहुल्येन लोको लोकप्रसिद्ध्या सम्भावनाप्रत्ययबलेन प्रवर्तते। स च सम्भावनाप्रत्ययो नामश्रवणवशात्प्रसिद्धान्यतदीयसमाचारकवित्वविद्वत्तादिसमनुस्मरणेन भवति। तथाहि–भर्तृहिरिणेदं कृतम्– यस्यायमौदार्यमहिमा यस्यास्मिञ्छास्त्रे एवंविधस्सारो दृश्यते तस्यायं श्लोकप्रबन्धस्तस्मादादरणीयमेतदिति लोकः प्रवर्तमानो दृश्यते। लोकश्चावस्यं प्रवर्तनीयः तच्छास्त्रोदितप्रयोजनसम्पत्तये। तदनुग्राह्यश्रोतृजनप्रवर्तनाङ्गत्वाद् ग्रन्थकाराः स्वनामनिबन्धनं कुर्वन्ति, तदभिप्रायेणाह–*आनन्दवर्धन इति*। प्रथितशब्देनैतदेव प्रथितं यत्तु तदेव नामश्रवणं केषाञ्चिन्निवृत्तिं करोति तन्मात्सर्यविजृम्भितं नात्र गणनीयम्,

स्वरूप के ज्ञान से प्रीति) का उपसंहार है। यहाँ लोग बहुलतया लोकप्रसिद्धि द्वारा संभावनाप्रत्यय के बल से (अर्थात् लोगों में ख्याति देख कर गौरव की भावना के बल से) प्रवृत्त होते हैं और संभावनाप्रत्यय नाम सुनने के कारण उसके अन्य प्रसिद्ध समाचार, कवित्व और विद्वत्ता आदि के सम्यक् अनुस्मरण से होता है। जैसा कि- भर्तृहरि ने इसे रचा है, जिनकी यह औदार्य महिमा है, जिनके इस शास्त्र में इस प्रकार का सार देखा जाता है उनका यह श्लोकप्रबन्ध हैं इसलिये यह आदरणीय है इस प्रकार लोग प्रवृत्त होते हुये देखे जाते हैं। अतः लोगों को उस शास्त्र में उक्त प्रयोजन की संप्राप्ति के लिये अवश्य प्रवृत्त करना चाहिये, इसलिये अनुग्राह्य श्रोताजनों के प्रवर्त्तन के अङ्ग होने के कारण ग्रन्थकार अन्त में अपने नाम का निबन्धन करते हैं, इस अभिप्राय से कहते हैं- **आनन्दवर्धन** इति। प्रथित शब्द से यही प्रकाशित किया है कि जो कि वही नामश्रवण कुछ जनों को प्रवृत्त करने के बजाय निवृत्त करता है, वह मात्सर्य से विजृम्भित होने के कारण आदरणीय नहीं है, क्योंकि यदि कोई रागान्ध

लोचनम्

निश्रेयसप्रयोजनादेव हि श्रुतात्कोऽपि रागान्धो यदि निवर्तते किमेतावता प्रयोजनमप्रयोजनमप्यवश्यं वक्तव्यमेव स्यात्। तस्मादर्थिनां प्रवृत्त्यङ्गन्नाम प्रसिद्धम्।

स्फुटीकृतार्थवैचित्र्यबहिःप्रसरदायिनीम् ॥
तुर्यां शक्तिमहं वन्दे प्रत्यक्षार्थनिदर्शिनीम् ॥

आनन्दवर्धनविवेकविकासिकाव्या-
लोकार्थतत्त्वघटनादनुमेयसारम्।
यत्प्रोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशि-
व्यापार्यताभिनवगुप्तविलोचनं तत् ॥

श्रीसिद्धिचेलचरणाब्जपरागपूत-
भट्टेन्दुराजमतिसंस्कृतबुद्धिलेशः ।
वाक्यप्रमाणपदवेदिगुरुः प्रबन्ध-
सेवारसो व्यरचयद्ध्वनिवस्तुवृत्तिम् ॥

व्यक्ति निःश्रेयस रूप प्रयोजन को सुन कर ही उससे निवृत्त हो जाता है तो इससे क्या? प्रयोजन और अप्रयोजन अवश्य ही कहना चाहिये। इसलिये नाम अर्थिजनों की प्रवृत्ति का अङ्ग है।

स्पष्ट किये हुए वैचित्र्य को प्रसार देने वाली, प्रत्यक्ष अर्थ का निदर्शन करने वाली तुर्या (वैखरी) शक्ति की मैं वन्दना करता हूँ।

आनन्दवर्धन के विवेक से प्रकाशित काव्यालोक के अर्थतत्त्वों को लगाने से अनुमेय रूप सार वाला जो सहृदयों के हृदय में प्रकाशमान सारे सद्विषयों को प्रकाशित करने वाला है, अभिनवगुप्त का वह विशिष्ट लोचन परिपूर्ण हुआ।

श्रीसिद्धिचेल नामक गुरु के चरणकमल के पराग से पवित्र भट्ट इन्दुराज की मति से सुसंस्कृत बुद्धिलेश वाले वाक्य (मीमांसा), प्रमाण (न्याय) और पद (व्याकरण) को जानने वालों में श्रेष्ठ प्रबन्ध-सेवा में रस लेने वाले अभिनवगुप्त ने ध्वनि के मार्ग में लोचनरूप वस्तुवृत्ति की रचना की।

लोचनम्

सज्जनान् कविरसौ न याचते ह्लादनाय शशभृत्किमर्थितः ।
नैव निन्दति खलान्मुहुर्मुहुर्धिक्कृतोऽपि न हि शीतलोऽनलः ॥
वस्तुतश्शिवमये हृदि स्फुटं सर्वतश्शिवमयं विराजते ।
नाशिवं क्वचन कस्यचिद्वचस्तेन वश्शिवमयी दशा भवेत् ॥

इति महामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचिते काव्यालोकलोचने
चतुर्थं उद्योतः।

यह कवि अपने ग्रन्थ के अवलोकनार्थ सज्जनों से प्रार्थना नहीं करता, क्या प्रसन्न करने के लिये चन्द्रमा से प्रार्थना की जाती है? और यह कवि खलों की बार-बार निन्दा भी नहीं करता, क्योंकि खलजनों के तिरस्कार का पात्र बन कर भी अग्नि शीतल नहीं होता।

वास्तव में शिवमय हृदय से सर्वत्र स्पष्ट रूप से शिवमय तत्त्व विराजमान है। कहीं किसी का वचन अशिव नहीं है इसलिये आप लोगों की स्थिति शिवमयी हो।

महामाहेश्वर अभिनवगुप्त द्वारा विरचित काव्यालोक लोचन में
चतुर्थ उद्योत समाप्त।।

●

'ध्वन्यालोक' की कारिकार्द्ध सूची

●

ध्वन्यालोक वृत्ति की उदाहरणादि सूची

'ध्वन्यालोक' में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

'लोचन' व्याख्यान में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

आनन्दवर्धनाचार्यकृत

ध्वन्यालोक

आचार्य अभिनवगुप्तकृत '**लोचन**' संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार : **डा. गङ्गासागर राय**

संस्कृत साहित्य के काव्यशास्त्र के इतिहास और विकास में आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक ऐसा प्रकाशपुञ्ज समन्वित आकर ग्रन्थ है जिसकी ज्योति संपूर्ण काव्य या साहित्यशास्त्र को आलोकित किये हुये है। यह ग्रन्थ ध्वनि संप्रदाय का प्रवर्तक ग्रन्थ है जिस पर आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने '**लोचन**' व्याख्यान लिखकर इसकी महिमा को परितः देदीप्यमान किया है। आनन्दवर्धन के द्वारा प्रवर्तित ध्वनि संप्रदाय एक ऐसी अलौकिक घटना है जिसके उद्भव से साहित्य के पूर्ववर्ती सभी संप्रदायों की ज्योति मलिन हो गयी और परवर्ती सभी आचार्यों ने इसकी महत्ता और सत्ता को अङ्गीकार कर लिया। वामन और पण्डितराज जगन्नाथ जैसे प्रकृष्ट आचार्यों से अनुमोदित और स्वीकृत ध्वनि संप्रदाय काव्य के चरमतत्त्व के रूप में अङ्गीकृत हुआ। इस महनीय ग्रन्थ की अनेक टीकाओं और अनुवाद की कड़ी में संस्कृत के विश्रुत और अनुभवी विद्वान् डा. गङ्गासागर राय कृत यह प्रामाणिक व्याख्या इस ग्रन्थ के गूढार्थ को हृदयंगम करने में अत्यन्त उपयोगी है।

चौ.सं.भ.ग्र. : ४२

ISBN 81-86937-71-4

चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी